हिन्दी समिति ग्रन्थमाला-२१४

धर्मशास्त्र का इतिहास

पंचम भाग (अध्याय २६ से ३७)

मूल लेखक

भारतरत्न, महामहोपाध्याय, डॉ० पाण्डुरङ्ग वामन काणे

अनुवादक

अर्जुन चौबे काश्यप, एम० ए०

उत्तर प्रदेश शासन
राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन
हिन्दी भवन
महात्मा गान्धी मार्ग, लखनऊ

हिन्दी समिति ग्रन्थमाला—२१४

धर्मशास्त्र का इतिहास

पंचम भाग (अध्याय २६ से ३७)

(विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रकाश में धर्मशास्त्र-रचना का विवेचन)

मूल लेखक

भारतरत्न, महामहोपाध्याय, डॉ० पाण्डुरङ्ग वामन काणे

●

अनुवादक

अर्जुन चौबे काश्यप, एम० ए०

उत्तर प्रदेश शासन

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी भवन

महात्मा गान्धी मार्ग, लखनऊ

● ● ●

धर्मशास्त्र का इतिहास

भाग ५

प्रथम संस्करण

१९७३

इस भाग का मूल्य

अठारह रुपये

प्रकाशक

हिन्दी समिति, उत्तर प्रदेश शासन, लखनऊ

मुद्रक

लीडर प्रेस, इलाहाबाद

प्रकाशक की ओर से

• • •

धर्म एक ऐसा व्यापक शब्द है जो सामने आते ही किसी जाति या समाज का इतिहास और उसके जीवन की भूमिका प्रस्तुत करने में समर्थ होता है। 'धर्म' शब्द में जाति विशेष की सभ्यता, संस्कृति, आचार-विचार, रहन-सहन, रीति-रिवाज तथा जीवन प्रणाली की प्रक्रिया और निदर्शन प्रस्तुत होता है। धर्म की परिभाषा भी हमारे दार्शनिकों, चिन्तकों और मनीषियों ने अपने-अपने समय के विचार और चिन्तन के परिणाम स्वरूप भिन्न-भिन्न रूपों में प्रस्तुत की है। 'धारणाद् धर्म इत्याहुः' के अनुसार धर्म जीवन का मूलाधार है। इसी से मनुष्य को प्रेरणा और प्रकाश उपलब्ध होता है। यही धर्म जीवन की गतिविधि और प्रगति में सहायक होता है। कहने का अर्थ यह है कि धर्म वस्तुतः संकुचित नहीं, अपितु विशद, महान् और उदात्त भावना से प्रकाशमान होता है। संसार में जितने भी धर्म हैं, उनका अपना महत्त्व और स्वत्व तो है ही किन्तु हिन्दू धर्म और हिन्दू जाति की अपनी विशेष महत्ता और सत्ता रही है। हिन्दू धर्म अन्य सभी धर्मों और जातियों का समादर और सम्मान करने में सदैव अग्रणी रहा है।

इसी हिन्दू धर्म की विभिन्न विशेषताओं तथा इसके अन्तर्गत उपलब्ध विभिन्न शाखाओं और क्षेत्रों का विशद परिचय एवं सैद्धान्तिक विवरण प्रस्तुत ग्रंथ 'धर्मशास्त्र का इतिहास' में अंकित करने की चेष्टा हुई है। इसके सम्मान्य और विद्वान् रचनाकार भारत-रत्न पांडुरंग वामन काणे अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के लेखक तथा प्राच्य इतिहास और साहित्य के मनीषी रहे हैं। उन्होंने संस्कृत और संस्कृति के साहित्य का प्रगाढ़ अध्ययन तो किया ही, साथ ही उनकी सबसे महत्त्वपूर्ण साधना और सेवा यह है कि हमें इस प्रकार के अनमोल और महत्त्वपूर्ण ग्रंथ उपलब्ध हुए। श्री काणे जैसे महाराष्ट्रीय विद्वानों के विद्या-व्यसन और निष्ठा की प्रशंसा करनी ही पड़ती है। ऐसे विद्वानों और मनीषियों के प्रति हम कृतज्ञ हैं। उनकी इन कृतियों से जिज्ञासुओं और आनेवाली पीढ़ी को प्रेरणा और प्रकाश मिलेगा, हमारा यह निश्चित मत है। हमें यह कहने में संकोच नहीं कि 'धर्मशास्त्र का इतिहास' हमारे भारतीय जीवन का इतिहास है और इसमें हम

अपने अतीत की गौरवमयी गाथा और नियामक सूत्रों का निर्देश और सन्देश प्राप्त करते हैं। विद्वान् लेखक ने बड़े मनोयोग और श्रम से इस ग्रन्थ का प्रणयन किया है। इसे एक तरह से हिन्दू जाति का विश्वकोश कहें तो अन्यथा न होगा। इसमें लेखक ने धर्म, धर्मशास्त्र, जाति, वर्ण, उनके कर्तव्य, अधिकार, संस्कार, आचार-विचार, यज्ञ, दान, प्रतिष्ठा, व्यवहार, तीर्थ, व्रत, काल, मुहूर्त, धार्मिक परम्पराओं की विभिन्न दार्शनिक पृष्ठभूमिओं, वर्तमान वैधानिक परिस्थिति आदि का विवेचन करते हुए सामाजिक परम्परा तथा उसकी उपलब्धियों का विस्तृत और आवश्यक विवरण प्रस्तुत किया है। वेद, उपनिषद्, स्मृति, पुराण, रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थों से संकेत-सूत्र और सन्दर्भ एकत्र करना कितना कठिन है, इसकी कल्पना की जा सकती है।

विद्वान् लेखक ने इस महान् ग्रन्थ को पाँच खण्डों में सम्पूर्ण किया है। प्रस्तुत पुस्तक इसी 'धर्मशास्त्र का इतिहास' के पाँचवें खण्ड का उत्तरार्ध है। मूल ग्रन्थ के सात वाल्यूम हैं तथा इस हिन्दी संस्करण के पाँच भाग। इन सभी भागों की एक संयुक्त अनुक्रमणिका भी हम अलग पुस्तिका के रूप में प्रस्तुत करेंगे। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कागज की महर्घता और मुद्रण, वेष्टन आदि की दरों में पर्याप्त वृद्धि हो जाने पर भी हमने इसका मूल्य पहले मुद्रित भागों के लगभग समान ही रखने की चेष्टा की है। हमें विश्वास है कि प्रचार और प्रसार की दृष्टि से हमारे इस आयास का स्वागत और समादर किया जायगा। हमारी यह भी सतत चेष्टा होगी कि भविष्य में भी हम इस प्रकार के महनीय ग्रन्थ उचित मूल्य पर ही अपने पाठकों को सुलभ कर सकें।

हम एक बार पुनः हिन्दी के छात्रों, पाठकों, अध्यापकों, जिज्ञासुओं और विद्वानों से, विशेषतःउन लोगों से, जिन्हें भारत और भारतीयता के प्रति विशेष ममत्व और अपनत्व है, यह अनुरोध करना चाहेंगे कि वे इस ग्रन्थ का अवश्य ही अध्ययन करें। इससे उन्हें बहुत कुछ प्राप्त होगा। इससे अधिक कुछ कहा नहीं जा सकता। हमारी अभिलाषा है, यह ग्रन्थ प्रत्येक परिवार में सुलभ और समादृत हो!

काशीनाथ उपाध्याय 'भ्रमर'
सचिव,
हिन्दी समिति, उत्तर प्रदेश शासन

निर्जला एकादशी, सं० २०३० (१९७३ ई०)
राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी भवन
महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ

प्राक्कथन

'व्यवहारमयूख' के संस्करण के लिए सामग्री संकलित करते समय मेरे ध्यान में आया कि जिस प्रकार मैंने 'साहित्यदर्पण' के संस्करण में प्राक्कथन के रूप में "अलंकार साहित्य का इतिहास" नामक एक प्रकरण लिखा है, उसी पद्धति पर 'व्यवहारमयूख' में भी एक प्रकरण संलग्न कर दूँ, जो निश्चय ही धर्मशास्त्र के भारतीय छात्रों के लिए पूर्ण लाभप्रद होगा। इस दृष्टि से मैं जैसे-जैसे धर्मशास्त्र का अध्ययन करता गया, मुझे ऐसा दीख पड़ा कि सामग्री अत्यन्त विस्तृत एवं विशिष्ट है, उसे एक संक्षिप्त परिचय में आबद्ध करने से उसका उचित निरूपण न हो सकेगा। साथ ही उसकी प्रचुरता के समुचित परिज्ञान, सामाजिक मान्यताओं के अध्ययन, तुलनात्मक विधिशास्त्र तथा अन्य विविध शास्त्रों के लिए उसकी जो महत्ता है, उसका भी अपेक्षित प्रतिपादन न हो सकेगा। निदान, मैंने यह निश्चय किया कि स्वतन्त्र रूप से धर्मशास्त्र का एक इतिहास ही लिपिबद्ध करूँ। सर्वप्रथम, मैंने यह सोचा, एक जिल्द में आदि काल से अब तक के धर्मशास्त्र के कालक्रम तथा विभिन्न प्रकरणों से युक्त ऐतिहासिक विकास के निरूपण से यह विषय पूर्ण हो जायगा। किन्तु धर्मशास्त्र में आने वाले विविध विषयों के निरूपण के बिना यह ग्रन्थ सांगोपांग नहीं माना जा सकता। इस विचार से इसमें वैदिक काल से लेकर आज तक के विधि-विधानों का वर्णन आवश्यक हो गया। भारतीय सामाजिक संस्थानों में और सामान्यतः भारतीय इतिहास में जो क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं तथा भारतीय जनजीवन पर उनके जो प्रभाव पड़े हैं, वे बड़े गम्भीर हैं।

यद्यपि, उच्च कोटि के विश्वविद्यालय के विद्वानों ने धर्मशास्त्र के विशिष्ट विषयों पर विवेचन का प्रशस्त कार्य किया है, फिर भी, जहाँ तक मैं जानता हूँ, किसी लेखक ने धर्मशास्त्र में आये हुए समग्र विषयों के विवेचन का प्रयास नहीं किया। इस दृष्टि से अपने ढंग का यह पहला प्रयास माना जायगा। अतः इस महत्त्वपूर्ण कार्य से यह आशा की जाती है कि इससे पूर्व के प्रकाशनों की न्यूनताओं का ज्ञान भी सम्भव हो सकेगा। इस पुस्तक में जो त्रुटि, दुरूहता और अदक्षता प्रतीत होती हैं, उनके लिए लेखन-काल की परिस्थिति एवं अन्य कारण अधिक उत्तरदायी हैं। इन बातों की ओर ध्यान दिलाना इसलिए आवश्यक है कि इस स्वीकारोक्ति से मित्रों को मेरी कठिनाइयों का ज्ञान हो जाने से उनका भ्रम दूर होगा और वे इस कार्य की प्रतिकूल एवं कटु आलोचना नहीं करेंगे। अन्यथा, आलोचकों का यह सहज अधिकार है कि प्रतिपाद्य विषय में की गयी अशुद्धियों और संकीर्णताओं की कटु से कटु आलोचना करें।

आद्योपान्त इस पुस्तक के लिखते समय एक बड़ा प्रलोभन यह था कि धर्मशास्त्र में व्याख्यात प्राचीन एवं मध्य कालीन भारतीय रीति, परम्परा एवं विश्वासों की अन्य जन-समुदायों और देशों की रीति, परम्परा तथा विश्वासों से तुलना की जाय। किन्तु मैंने यथासंभव इस प्रकार की तुलना से दूर रहने का प्रयास किया है। फिर भी, कभी-कभी कतिपय कारणों से मुझे ऐसी तुलनाओं में प्रवृत्त होना पड़ा है। अधिकांश लेखक (भारतीय तथा यूरोपीय) इस प्रवृत्ति के हैं कि वे आज का भारत जिन कुप्रथाओं से आक्रान्त है, उनका पूरा उत्तरदायित्व जातिप्रथा एवं धर्मशास्त्र में निर्दिष्ट जीवन-पद्धति पर डाल देते हैं, किन्तु इस विचार से सर्वथा सहमत होना बड़ा कठिन है। अतः मैंने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि विश्व के पूरे जन-

समुदाय का स्वभाव साधारणतः एक जैसा है और उसमें निहित सुप्रवृत्तियाँ एवं दुष्प्रवृत्तियाँ सभी देशों में एक सी रही हैं। किसी भी स्थान-विशेष में आरम्भकालिक आचार पूर्ण लाभप्रद रहते हैं, फिर आगे चल कर सम्प्रदायों में उनके दुरुपयोग एवं विकृतियाँ समान रूप में स्थान ग्रहण कर लेती हैं। चाहे कोई देश विशेष हो या समाज, वे किसी न किसी रूप में जातिप्रथा या उससे भिन्न प्रथा से आबद्ध रहते आये हैं।

संस्कृत ग्रन्थों से लिये गये उद्धरणों के सम्बन्ध में दो शब्द कह देना आवश्यक है। जो लोग अंग्रेजी नहीं जानते, उनके लिए ये उद्धरण इस पुस्तक में दिये गये तर्कों की भावनाओं को समझने में एक सीमा तक सहायक होंगे। इसके अतिरिक्त भारतवर्ष में इन उद्धरणों के लिए अपेक्षित पुस्तकों को सुलभ करने वाले पुस्तकालयों या साधनों का भी अभाव है। उपर्युक्त कारणों से सहस्रों उद्धरण पादटिप्पणियों में उल्लिखित हुए हैं। अधिकांश उद्धरण प्रकाशित पुस्तकों से लिये गये हैं एवं बहुत थोड़े से अवतरण पाण्डुलिपियों और ताम्रलेखों से उद्धृत हैं। शिलालेखों तथा ताम्रपत्रों के अभिलेखों के अवतरणों के सम्बन्ध में भी उसी प्रकार का संकेत अभिप्रेत है। इन तथ्यों से एक बात और प्रमाणित होती है कि धर्मशास्त्र में विहित विधियों से, जो कई हजार वर्षों से जनसमुदाय द्वारा आचरित हुई हैं तथा शासकों द्वारा विधि के रूप में स्वीकृत हुई हैं, यह निश्चित होता है कि ऐसे नियम पंडितम्मन्य विद्वानों या कल्पनाशास्त्रियों द्वारा संकलित काल्पनिक नियम मात्र नहीं रहे हैं। वे व्यवहार्य रहे हैं।

जिन पुस्तकों के उद्धरण मुझे लगातार देने पड़े हैं और जिनसे मैं पर्याप्त लाभान्वित हुआ हूँ, उनमें से कुछ ग्रन्थों का उल्लेख आवश्यक है। यथा—ब्लूमफील्ड की 'वैदिक अनुक्रमणिका', प्रोफेसर मैकडानल और कीथ की 'वैदिक अनुक्रमणिकाएँ', मैक्समूलर द्वारा सम्पादित 'प्राच्य धर्म पुस्तकें।'

इसके अतिरिक्त मैं असाधारण विद्वान् डा० जाली को स्मरण करता हूँ जिनकी पुस्तक को मैंने अपने सामने आदर्श के रूप में रखा है। मैंने निम्नलिखित प्रमुख पंडितों की कृतियों से भी बहुमूल्य सहायता प्राप्त की है, जो इस क्षेत्र में मुझसे पहले कार्य कर चुके हैं, जैसे डा० बुलर, राव साहब बी० एन० मंडलीक, प्रोफेसर हापकिन्स्, श्री एम० एम० चक्रवर्ती तथा श्री के० पी० जायसवाल। मैं 'वाई' के परमहंस केवलानन्द स्वामी के सतत साहाय्य और निर्देश (विशेषतः श्रौत भाग) के लिए, पूना के श्री चिन्तामणि दातार द्वारा दर्श-पौर्णमास के परामर्श और श्रौत भाग के अन्य अध्यायों के प्रति सतर्क करने लिए, श्री केशव लक्ष्मण ओगले द्वारा अनुक्रमणिका भाग पर कार्य करने के लिए और तर्कतीर्थ रघुनाथ शास्त्री कोकजे द्वारा सम्पूर्ण पुस्तक को पढ़कर सुझाव और संशोधन देने के लिए असाधारण आभार मानता हूँ। मैं 'इंडिया आफिस पुस्तकालय' (लंदन) के अधिकारियों का और डा० एस० के० वेल्वेल्कर, महामहोपाध्याय प्रोफेसर कुप्पुस्वामी शास्त्री, प्रोफेसर रंगस्वामी आयंगर, प्रोफेसर पी० पी० एन० शास्त्री, डा० भवतोष भट्टाचार्य, डा० आल्सडोर्फ, प्रोफेसर एच० डी० वेलणकर, विल्सन कालेज बम्बई, का बहुत ही कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने मुझे अपने अधिकार में सुरक्षित संस्कृत की पाण्डुलिपियों के बहुमूल्य संकलनों के अवलोकन की हर संभव सुविधाएँ प्रदान कीं। विभिन्न प्रकार के निर्देशन में सहायता के लिए मैं अपने मित्र समुदाय तथा डा० बी० जी० परांजपे, डा० एस० के० दे, श्री पी० के० गोड़े और श्री जी० एन० वैद्य का आभार मानता हूँ। हर प्रकार की सहायता के बावजूद इस पुस्तक में होनेवाली न्यूनताओं, च्युतियों और उपेक्षाओं से मैं पूर्ण परिचित हूँ। अतः इन सब कमियों के प्रति कृपालु होने के लिए मैं विद्वानों से प्रार्थना करता हूँ।*

—पाण्डुरंग वामन काणे

* मूल ग्रन्थ के प्रथम तथा द्वितीय खण्ड के प्राक्कथनों से संकलित।

विषय-सूची

(पञ्चम खण्ड, अध्याय २६ से ३७ तक)

उद्धरण-संकेत

अग्नि०=अग्निपुराण
अ० वे० या अथर्व०=अथर्ववेद
अनु० या अनुशासन०=अनुशासन पर्व
अन्त्येष्टि०=नारायण की अन्त्येष्टिपद्धति
अ० क० दी०=अन्त्यकर्मदीपक
अर्थशास्त्र, कौटिल्य०=कौटिलीय अर्थशास्त्र
आ० गृ० सू० या आपस्तम्बगृ०=आपस्तम्बगृह्यसूत्र
आ० ध० सू० या आपस्तम्बधर्म०=आपस्तम्बधर्मसूत्र
आप० म० पा० या आपस्तम्बम०=आपस्तम्बमन्त्रपाठ
आ० श्रौ० सू० या आपस्तम्बश्रौ०=आपस्तम्बश्रौतसूत्र
आश्व० गृ० सू० या आश्वलायनगृ०=आश्वलायनगृह्यसूत्र
आश्व० गृ० प० या आश्वलायन गृ० प०=आश्वलायन-गृह्यपरिशिष्ट
ऋ० या ऋग्०=ऋग्वेद, ऋग्वेदसंहिता
ऐ० आ० या ऐतरेय आ०=ऐतरेयारण्यक
ऐ० ब्रा० या ऐतरेय ब्रा०=ऐतरेय ब्राह्मण
क० उ० या कठोप०=कठोपनिषद्
कलिवर्ज्य०=कलिवर्ज्यविनिर्णय
कल्प० या कल्पतरु, कृ० क०=लक्ष्मीधर का कृत्यकल्पतरु
कात्या० स्मृ० सा०=कात्यायनस्मृतिसारोद्धार
का० श्रौ० सू० या कात्यायनश्रौ०=कात्यायनश्रौतसूत्र
काम० या कामन्दक=कामन्दकीय नीतिसार
कौ० या कौटिल्य० या कौटिलीय०=कौटिलीय अर्थशास्त्र
कौ०=कौटिल्य का अर्थशास्त्र (डॉ० शाम शास्त्री का संस्करण)
कौ० ब्रा० उप० या कौषीतकिब्रा०=कौषीतकिब्राह्मण उपनिषद्
गं० भ० या गंगाभ० या गंगाभक्ति०=गंगाभक्तितरंगिणी
गंगा वा० या गंगावाक्या०=गंगावाक्यावली
गरुड़०=गरुड़पुराण
गृ० र० या गृहस्थ०=गृहस्थरत्नाकर
गौ० या गौ० ध० सू० या गौतमधर्म०=गौतमधर्मसूत्र
गौ० पि० सू० या गौतमपि०=गौतमपितृमेधसूत्र
चतुर्वर्ग०=हेमाद्रि की चतुर्वर्गचिन्तामणि या केवल हेमाद्रि
छा० उप० या छान्दोग्य उप०=छान्दोग्योपनिषद्
जीमूत०=जीमूतवाहन
जै० या जैमिनि०=जैमिनिपूर्वमीमांसासूत्र
जै० उप०=जैमिनीयोपनिषद्
जै० न्या० मा०=जैमिनीयन्यायमालाविस्तर
ताण्ड्य०=ताण्ड्यमहाब्राह्मण
ती० क० या ती० कल्प०=तीर्थकल्पतरु
तीर्थ प्र० या ती० प्र०=तीर्थप्रकाश
ती० चि० या तीर्थचि०=वाचस्पति की तीर्थचिन्तामणि
तै० आ० या तैत्तिरीया०=तैत्तिरीयारण्यक
तै० उ० या तैत्तिरीयोप०=तैत्तिरीयोपनिषद्
त० ब्रा०=तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै० सं०=तैत्तिरीय संहिता
त्रिस्थली०या त्रि० से०=भट्टोजि का त्रिस्थली सेतु सारसंग्रह
त्रिस्थली०=नारायण भट्ट का त्रिस्थलीसेतु
नारद० या ना० स्मृ०=नारदस्मृति
नारदीय० या नारद०=नारदीयपुराण
नीति वा० या नीतिवाक्या०=नीतिवाक्यामृत
निर्णय० या नि० सि०=निर्णयसिन्धु
पद्म०=पद्मपुराण
परा० मा०=पराशरमाधवीय
पाणिनि या पा०=पाणिनि की अष्टाध्यायी
पार० गृ० या पारस्कर गृ०—पारस्करगृह्यसूत्र
पू० मी० सू० या पूर्व मी०=पूर्वमीमांसासूत्र
प्रा० त० या प्राय० तत्व०=प्रायश्चित्ततत्त्व

प्रा० प्र० प्राय० प्र० या प्रायश्चित्तप्र०=प्रायश्चित्तप्रकरण
प्राय० प्रका० या प्रा० प्रकाश=प्रायश्चित्तप्रकाश
प्राय० वि०, प्रा० वि० या प्रायश्चित्तवि०=प्रायश्चित्त-विवेक
प्रा० म० या प्राय० म०=प्रायश्चित्तमयूख
प्रा० सा० या प्राय० सा०=प्रायश्चित्तसार
बु० भू०=बुधभूषण
बृ० या बृहस्पति०=बृहस्पतिस्मृति
बृ० उ० या बृह० उप०=बृहदारण्यकोपनिषद्
बृ० सं० या बृहत्सं०=बृहत्संहिता
बौ० गृ० सू० या बौधायनगृ०=बौधायनगृह्यसूत्र
बौ० ध० सू० या बौधा० ध० या बौधायनधर्म०=बौधायनधर्मसूत्र
बौ० श्रौ० सू० या बौधा० श्रौ० सू०=बौधायनश्रौतसूत्र
ब्र०, ब्रह्म० या ब्रह्मपु०=ब्रह्मपुराण
ब्रह्माण्ड०=ब्रह्माण्डपुराण
भवि० पु० या भविष्य०=भविष्यपुराण
मत्स्य०=मत्स्यपुराण
म० पा० या मद० पा०=मदनपारिजात
मनु या मनु०=मनुस्मृति
मानव० या मानवगृह्य०=मानवगृह्यसूत्र
मिता०=मिताक्षरा (विज्ञानेश्वरकृत याज्ञवल्क्य-स्मृति की टीका)
मी० कौ० या मीमांसाकौ०=मीमांसाकौस्तुभ (खण्डदेव)
मेधा० या मेधातिथि=मनुस्मृति पर मेधातिथि की टीका या मनुस्मृति के टीकाकार मेधातिथि
मैत्री-उप०=मैत्र्युपनिषद्
मै० सं० या मैत्रायणी०=मैत्रायणी संहिता
य० ध० सं० या यतिधर्म०=यतिधर्मसंग्रह
या०, याज्ञ या याज्ञ०=याज्ञवल्क्यस्मृति
राज०=कल्हण की राजतरंगिणी
रा० ध० कौ० या राज० कौ०=राजधर्मकौस्तुभ
रा० नी० प्र० या राजनी० प्र०=मित्र मिश्र का राज-नीति-प्रकाश
राज० र० या राजनीतिर०=चण्डेश्वर का राजनीति-रत्नाकर
वाज० सं० या वाजसनेयी सं०=वाजसनेयी संहिता
वायु०=वायुपुराण
वि० चि० या विवादचि०=वाचस्पति मिश्र की विवाद-चिन्तामणि
वि० र० या विवादर०=विवादरत्नाकर
विश्व० या विश्वरूप=याज्ञवल्क्यस्मृति की विश्वरूप कृत टीका
विष्णु०=विष्णुपुराण
विष्णु या वि० ध० सू०=विष्णुधर्मसूत्र
वी० मि०=वीरमित्रोदय
वै० स्मा० या वैखानस०=वैखानसस्मार्तसूत्र
व्यव० त० या व्यवहार०=रघुनन्दन का व्यवहारतत्त्व
व्य० नि० या व्यवहारनि०=व्यवहारनिर्णय
व्य० प्र० या व्यवहार प्र०=मित्र मिश्र का व्यवहारप्रकाश
व्य० म० या व्यवहारम०=नीलकण्ठ का व्यवहारमयूख
व्य० मा० या व्यवहारमा०=जीमूतवाहन की व्यवहार-मातृका
व्यव० सा०=व्यवहारसार
श० ब्रा० या शतपथ ब्रा०=शतपथब्राह्मण
शातातप=शातातपस्मृति
शां० गृ० या शांखायनगृ०=शांखायनगृह्यसूत्र
शां० ब्रा० या शांखायनब्रा०=शांखायनब्राह्मण
शां० श्रौ० सू० या शांखायनश्रौत०=शांखायनश्रौतसूत्र
शान्ति०=शान्तिपर्व
शुक्र० या शुक्रनीति०=शुक्रनीतिसार
शु० कौ० या शुद्धिकौ०=शुद्धिकौमुदी
शु० क० या शुद्धिकल्प०=शुद्धिकल्पतरु (शुद्धि पर)
शु० प्र० या शुद्धिप्र०=शुद्धिप्रकाश
शूद्रकम०=शूद्रकमलाकर
श्रा० क० ल० या श्राद्धकल्प०=श्राद्धकल्पलता
श्रा० क्रि० कौ० या श्राद्धक्रिया०=श्राद्धक्रिया-कौमुदी

श्रा० प्र० या श्राद्धप्र०=श्राद्धप्रकाश
श्रा० वि० या श्राद्धवि०=श्राद्धविवेक
स० श्रौ० सू० या सत्या० श्रौ०=सत्याषाढश्रौतसूत्र
स० वि० या सरस्वतीवि०=सरस्वतीविलास
सा० ब्रा० या साम० ब्रा०=सामविधान ब्राह्मण
स्कन्द या स्कन्दपु०=स्कन्दपुराण
स्मृ० च० या स्मृतिच०=स्मृतिचन्द्रिका
स्मृ० मु० या स्मृतिमु०=स्मृतिमुक्ताफल
सं० कौ० या संस्कारकौ०=संस्कारकौस्तुभ
सं० प्र०=संस्कारप्रकाश
सं० र० मा० या संस्काररं०=संस्काररत्नमाला
हि० गृ० या हिरण्य० गृ०=हिरण्यकेशिगृह्यसूत्र

अंग्रेजी नामों के संकेत

A. G. =ए० जि० (एंश्येण्ट जियॉग्रफी आव इण्डिया)
Ain. A. =आइने अकबरी (अबुल फजल कृत)
A. I. R. =आल इण्डिया रिपोर्टर
A. S. R. =आर्क्यालॉजिकल सर्वे रिपोर्ट्स
A. S. W. I. =आर्क्यालॉजिकल सर्वे आव वेस्टर्न इण्डिया
B. B. R. A. S. =बाम्बे ब्रांच, रॉयल एशियाटिक सोसाइटी
B. O. R. I. =भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना
C. I. I. =कार्पस इंस्क्रिप्शंस इण्डिकेरम्
E. I. =एपिग्रैफिया इण्डिका (एपि० इण्डि०)
I. A. =इण्डियन एण्टिक्वेरी (इण्डि० ऐण्टि०)
I. H. Q. =इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली
J. A. O. S. =जर्नल आव दि अमेरिकन ओरिएण्टल सोसाइटी
J. A. S. B. =जर्नल आव दि एशियाटिक सोसाइटी आव बेंगाल
J. B. O. R. S. =जर्नल आव दि बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी
J. R. A. S. =जर्नल आव दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी (लन्दन)
S. B. E. =सैक्रेड बुक आव दि ईस्ट (मैक्समूलर द्वारा संपादित)

प्रसिद्ध एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों तथा लेखकों का काल-निर्धारण

[इनमें से बहुतों का काल सम्भावित, कल्पनात्मक एवं विचाराधीन है।
[ई० पू०=ईसा के पूर्व; ई० उ०=ईसा के उपरान्त]

४०००—१००० (ई० पू०)	: यह वैदिक संहिताओं, ब्राह्मणों एवं उपनिषदों का काल है। ऋग्वेद, अथर्ववेद एवं तैत्तिरीय संहिता तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण की कुछ ऋचाएँ ४००० ई० पू० के बहुत पहले की भी हो सकती हैं, और कुछ उपनिषद् (जिनमें कुछ वे भी हैं जिन्हें विद्वान् लोग अत्यन्त प्राचीन मानते हैं) १०००ई० पू०के पश्चात्कालीन भी हो सकती हैं। (कुछ विद्वान् प्रस्तुत लेखक की इस मान्यता को कि वैदिक संहिताएँ ४००० ई० पू० प्राचीन हैं, नहीं स्वीकार करते।)
८००—५०० (ई० पू०)	: यास्क की रचना, निरुक्त।
८००—४०० (ई० पू०)	: प्रमुख श्रौतसूत्र (यथा आपस्तम्ब, आश्वलायन, बौधायन, कात्यायन, सत्याषाढ़ आदि) एवं कुछ गृह्यसूत्र (यथा आपस्तम्ब एवं आश्वलायन)।
६००—३०० (ई० पू०)	: गौतम, आपस्तम्ब, बौधायन, वसिष्ठ के धर्मसूत्र एवं पारस्कर तथा कुछ अन्य लोगों के गृह्यसूत्र।
६००—३०० (ई० पू०)	: पाणिनि।
५००—२०० (ई० पू०)	: जैमिनि का पूर्वमीमांसासूत्र।
५००—२०० (ई० पू०)	: भगवद्गीता।
३०० (ई० पू०)	: पाणिनि के सूत्रों पर वार्तिक लिखने वाले वररुचि कात्यायन।
३०० (ई० पू०) १०० (ई० उ०)	: कौटिल्य का अर्थशास्त्र (अपेक्षाकृत पहली सीमा के आसपास)।
१५० (ई० पू०) १०० (ई० उ०)	: पतञ्जलि का महाभाष्य (सम्भवतः अपेक्षाकृत प्रथम सीमा के आसपास)।

२०० (ई० पू०) १०० (ई० उ०)	: मनुस्मृति।
१००—३०० (ई० उ०)	: याज्ञवल्क्यस्मृति।
१००—३०० (ई० उ०)	: विष्णुधर्मसूत्र।
१००—४०० (ई० उ०)	नारदस्मृति।
२००—५०० (ई० उ०)	. वैखानसस्मार्तसूत्र।
२००—५०० (ई० उ०)	: जैमिनि के पूर्वमीमांसासूत्र के भाष्यकार शबर (अपेक्षाकृत पूर्व समय के : आसपास)।
३००–५०० (ई० उ०)	: व्यवहार आदि पर बृहस्पतिस्मृति (अभी तक इसकी प्रति नहीं मिल सकी है।) एस० बी० ई० (जिल्द ३३) में व्यवहार के अंश अनूदित हैं और प्रो० रंगस्वामी आयंगर ने धर्म के बहुत से विषय संगृहीत किये हैं, जो गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज द्वारा प्रकाशित हैं।
३००—६०० (ई० उ०)	: कुछ विद्यमान पुराण, यथा—वायु०; विष्णु०, मार्कण्डेय०, मत्स्य०, कूर्म०।
४००—६०० (ई० उ०)	: कात्यायनस्मृति (अभी तक प्राप्त नहीं हो सकी है)।
५००—५५० (ई० उ०)	: वराहमिहिर; पंचसिद्धान्तिका, बृहत्संहिता, बृहज्जातक आदि के लेखक।
६००—६५० (ई० उ०)	: कादम्बरी एवं हर्षचरित के लेखक बाण।
६५०—६६५ (ई० उ०)	: पाणिनि की अष्टाध्यायी पर 'काशिका'-व्याख्याकार वामन—जयादित्य।
६५०—७०० (ई० उ०)	: कुमारिल का तन्त्रवार्तिक।
६००—९०० (ई० उ०)	: अधिकांश स्मृतियाँ, यथा—पराशर, शंख, देवल तथा कुछ पुराण, यथा—अग्नि०, गरुड़०।
७८८—८२० (ई० उ०)	: महान् अद्वैतवादी दार्शनिक शंकराचार्य।
८००—८५० (ई० उ०)	: याज्ञवल्क्यस्मृति के टीकाकार विश्वरूप।
८०५—९०० (ई० उ०)	: मनुस्मृति के टीकाकार मेधातिथि।
९६६ (ई० उ०)	: वराहमिहिर के बृहज्जातक के टीकाकार उत्पल।
१०००—१०५० (ई० उ०)	: बहुत से ग्रन्थों के लेखक धारेश्वर भोज।
१०८०—११०० (ई० उ०)	: याज्ञवल्क्यस्मृति की टीका मिताक्षरा के लेखक विज्ञानेश्वर।
१०८०—११०० (ई० उ०)	. मनुस्मृति के टीकाकार गोविन्दराज।
११००—११३० (ई० उ०)	: कल्पतरु या कृत्यकल्पतरु नामक विशाल धर्मशास्त्र-विषयक निबन्ध के लेखक लक्ष्मीधर।
११००—११५० (ई० उ०)	: दायभाग, कालविवेक एवं व्यवहारमातृका के लेखक जीमूतवाहन।
११००—११५० (ई० उ०)	: प्रायश्चित्तप्रकरण एवं अन्य ग्रन्थों के रचयिता भवदेव भट्ट।
११००—११३० (ई० उ०)	. अपरार्क, शिलाहार राजा ने याज्ञवल्क्यस्मृति पर एक टीका लिखी।
१११४—११८३ (ई० उ०)	: भास्कराचार्य, जो सिद्धान्तशिरोमणि के, जिसका लीलावती एक अंश है, : प्रणेता हैं।
११२७—११३८ (ई० उ०)	: सोमेश्वरदेव का मानसोल्लास या अभिलषितार्थचिन्तामणि।
११५०—११६० (ई० उ०)	: कल्हण की राजतरंगिणी।

११५०—११८० (ई० उ०)	हारलता एवं पितृदयिता के प्रणेता अनिरुद्ध भट्ट।
११५०—१२०० (ई० उ०)	श्रीधर का स्मृत्यर्थसार।
११५०—१३०० (ई० उ०)	मनुस्मृति के टीकाकार कुल्लूक।
११५०—१३०० (ई० उ०)	गौतम एवं आपस्तम्बधर्मसूत्रों तथा कुछ गृह्यसूत्रों के टीकाकार हरदत्त।
१२००—१२२५ (ई० उ०)	देवण्ण भट्ट की स्मृतिचन्द्रिका।
११७५—१२०० (ई० उ०)	धनञ्जय के पुत्र ,एवं ब्राह्मणसर्वस्व के प्रणेता हलायुध।
१२६०—१२७० (ई० उ०)	हेमाद्रि की चतुर्वर्गचिन्तामणि।
१२००—१३०० (ई० उ०)	वरदराज का व्यवहारनिर्णय।
१२७५—१३१० (ई० उ०)	पितृभक्ति, समयप्रदीप एवं अन्य ग्रन्थों के प्रणेता श्रीदत्त।
१३००—१३७० (ई० उ०)	गृहस्थरत्नाकर, विवादरत्नाकर, क्रियारत्नाकर आदि के रचयिता चण्डेश्वर।
१३००—१३८० (ई० उ०)	वैदिक संहिताओं एवं ब्राह्मणों के भाष्यों के संग्रहकर्ता सायण।
१३००—१३८० (ई० उ०)	पराशरस्मृति की टीका पराशरमाधवीय तथा अन्य ग्रन्थों के रचयिता एवं सायण के भाई माधवाचार्य।
१३६०—१३९० (ई० उ०)	मदनपाल एवं उसके पुत्र के संरक्षण में मदनपारिजात एवं महार्णवप्रकाश संगृहीत किये गये।
१३६०—१४४८ (ई० उ०)	गंगावाक्यावली आदि ग्रन्थों के प्रणेता विद्यापति के जन्म एवं मरण की तिथियाँ। देखिये, इण्डियन ऐण्टीक्वेरी (जिल्द १४, पृ० १९०–१९१), जहाँ देवसिंह के पुत्र शिवसिंह द्वारा विद्यापति को प्रदत्त विसपी नामक ग्राम-दान के शिलालेख में चार तिथियों का विवरण उपस्थित किया गया है (यथा शक १३२१, संवत् १४५५, ल० स० २८३ एवं सन् ८०७)।
१३७५—१४४० (ई० उ०)	याज्ञवल्क्य की टीका दीपकलिका, प्रायश्चित्तविवेक, दुर्गोत्सवविवेक एवं अन्य ग्रन्थों के लेखक शूलपाणि।
१३७५—१५०० (ई० उ०)	विशाल निबन्ध धर्मतत्त्वकलानिधि (श्राद्ध, व्यवहार आदि के प्रकाशों में विभाजित) के लेखक एवं नागमल्ल के पुत्र पृथ्वीचन्द्र।
१४००—१५०० (ई० उ०)	तन्त्रवार्तिक के टीकाकार सोमेश्वर की न्यायसुधा।
१४००—१४५० (ई० उ०)	मिसरू मिश्र का विवादचन्द्र।
१४२५—१४५० (ई० उ०)	नसिंह देव मदराजा द्वारा संगृहीत विशाल निबन्ध मदनरत्न।
१४२५—१४६० (ई० उ०)	शुद्धिविवेक, श्राद्धविवेक आदि के लेखक रुद्रधर।
१४२५—१४९० (ई० उ०)	शुद्धिचिन्तामणि, तीर्थचिन्तामणि आदि के रचयिता वाचस्पति।
१४५०—१५०० (ई० उ०)	दण्डविवेक, गंगाकृत्यविवेक आदि के रचयिता वर्धमान।
१४९०—१५१२ (ई० उ०)	दलपति का व्यवहारसार जो नृसिंहप्रसाद का एक भाग है।
१४९०—१५१५ (ई० उ०)	दलपति का नृसिंहप्रसाद, जिसके भाग हैं—श्राद्धसार, तीर्थसार, प्रायश्चित्तसार आदि।

१५००—१५२५ (ई० उ०)	. प्रतापरुद्रदेव राजा के संरक्षण में संगृहीत सरस्वतीविलास।
१५००—१५४० (ई० उ०)	: शुद्धिकौमुदी, श्राद्धक्रियाकौमुदी आदि के प्रणेता गोविन्दानन्द।
१५१३—१५८० (ई० उ०)	: प्रयोगरत्न, अन्त्येष्टिपद्धति, त्रिस्थलीसेतु के लेखक नारायण भट्ट।
१५२०—१५७५ (ई० उ०)	: श्राद्धतत्त्व, तीर्थतत्त्व, शुद्धितत्त्व, प्रायश्चित्ततत्त्व आदि तत्त्वों के लेखक रघुनन्दन।
१५२०—१५८६ (ई० उ०)	: टोडरमल के संरक्षण में टोडरानन्द ने कई सौख्यों में शुद्धि, तीर्थ, प्रायश्चित्त, कर्मविपाक एवं अन्य १५ विषयों पर ग्रन्थ लिखे।
१५६०—१६२० (ई० उ०)	द्वैतनिर्णय या धर्मद्वैतनिर्णय के लेखक शंकर भट्ट।
१५६०—१६३० (ई० उ०)	: वैजयन्ती (विष्णुधर्मसूत्र की टीका), श्राद्धकल्पलता, शुद्धिचन्द्रिका एवं दत्तकमीमांसा के लेखक नन्द पण्डित।
१६१०—१६४० (ई० उ०)	: निर्णयसिन्धु तथा विवादताण्डव, शूद्रकमलाकर आदि २० ग्रन्थों के लेखक कमलाकर भट्ट।
१६१०—१६४० (ई० उ०)	: मित्र मिश्र का वीरमित्रोदय, जिसके भाग हैं, तीर्थप्रकाश, प्रायश्चित्तप्रकाश, श्राद्धप्रकाश आदि।
१६१०—१६४५ (ई० उ०)	: प्रायश्चित्त, शुद्धि, श्राद्ध आदि विषयों पर १२ मयूखों में (यथा-नीतिमयूख, व्यवहारमयूख आदि) रचित भगवन्तभास्कर के लेखक नीलकण्ठ।
१६५०—१६८० (ई० उ०)	: राजधर्मकौस्तुभ के प्रणेता अनन्तदेव।
१७००—१७४० (ई० उ०)	: वैद्यनाथ का स्मृतिमुक्ताफल।
१७००—१७५० (ई० उ०)	: तीर्थेन्दुशेखर, प्रायश्चित्तेन्दुशेखर, श्राद्धेन्दुशेखर आदि लगभग ५० ग्रन्थों के लेखक नागेश भट्ट या नागोजिभट्ट।
१७९० (ई० उ०)	: धर्मसिन्धु के लेखक काशीनाथ उपाध्याय।
१७३०—१८२० (ई० उ०)	: मिताक्षरा पर 'बालम्भट्टी' नामक टीका के लेखक बालम्भट्ट।

धर्मशास्त्र का इतिहास

खण्ड ५ (उत्तरार्ध)

• • •

अध्याय २६

तान्त्रिक सिद्धान्त एवं धर्मशास्त्र

जब हम इस ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड में दुर्गा-पूजा के विषय में पढ़ रहे थे तो ऐसा कहा गया था कि यह पूजा, जिसे शाक्त पूजा (दुर्गा को शक्ति के रूप में भी पूजा जाता है) भी कहा जाता है, सारे भारतवर्ष में महत्त्वपूर्ण रही है, और यह भी कहा गया था कि आगे के किसी खण्ड में हम शक्तिवाद की चर्चा करेंगे। अब हम शाक्तों एवं तन्त्रों की सविस्तार चर्चा करेंगे। क्योंकि इन्होंने पुराणों पर कुछ प्रभाव डाला और प्रत्यक्ष रूप से तथा पुराणों के द्वारा मध्यकाल की भारतीय धार्मिक रीतियों एवं व्यवहारों (आचारों) को प्रभावित किया है।

तन्त्र विषय पर एक विशद साहित्य है, कुछ ग्रन्थ प्रकाशित एवं कुछ अप्रकाशित हैं। तीनों प्रकार के तन्त्र हैं; बौद्ध, हिन्दू एवं जैन। कुछ तन्त्रों का दार्शनिक या आध्यात्मिक पहलू भी है, जिस पर आर्थर अवालोन, बी० भट्टाचार्य एवं कुछ अन्य लोगों के अध्ययनों के अतिरिक्त कोई विशेष अध्ययन नहीं उपस्थित हो सका है। सामान्यतः लोग तन्त्रों से तात्पर्य लगाते हैं शक्ति (काली देवी) की पूजा, मुद्राएँ, मन्त्र, मण्डल, पञ्च मकार, दक्षिण मार्ग, वाम मार्ग एवं ऐन्द्रजालिक क्रियाएँ, जिनके द्वारा अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त की जाती हैं। यहाँ हम बहुत ही संक्षेप में शक्तिवाद एवं तन्त्र के उद्गम के विषय में जानकारी प्राप्त करेंगे और देखेंगे कि किस प्रकार प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से पुराणों के द्वारा तन्त्र हिन्दू धार्मिक रीतियों में प्रविष्ट होते रहे हैं।

अमरकोश के अनुसार तन्त्र का अर्थ है 'प्रमुख विषय या मार्ग', 'सिद्धान्त' (अर्थात् मत, तत्त्व, वाद या शास्त्र), करघा (कपड़ा बुनने का एक यन्त्र) या सामग्री या उपकरण। किन्तु इससे यह नहीं पता चलता कि तन्त्र कार्यों का कोई विलक्षण वर्ग है। अतः ऐसा अनुमान निकालना दोषपूर्ण नहीं कहा जा सकता कि अमरकोश के काल में तो तन्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थों का प्रणयन नहीं हुआ था, या हुआ भी रहा होगा तो वे ग्रन्थ अभी जन सामान्य की बुद्धि में बैठ नहीं सके थे। ऋ० (१०।७१।९) में 'तन्त्र' शब्द आया है, किन्तु वह करघा के अर्थ में ही प्रयुक्त है, ऐसा लगता है[1]—'ये अबोध व्यक्ति नीचे (इस विश्व में) नहीं चलते (घूमते) और न उच्च लोक में ही (घूमते), न तो ये विद्वान् ब्राह्मण हैं और न सोम निकालने वाले पुरोहित हैं; ये (दुष्ट प्रकार की बोली) बोलते हैं और उस दुष्ट (या पापमय) बोली के साथ हलों एवं तन्त्रों को चलाते हैं।' अथर्ववेद (१०।७।४२: 'तन्त्रमेके युवती विरूपे अभ्याक्रामं वयतः षण्मयूखम्') एवं तैत्तिरीय ब्राह्मण (२।५।५।३) ने इसी अर्थ में 'तन्त्र' शब्द का प्रयोग किया है। पाणिनि (५।२।७०) ने 'तन्त्रक' (वह वस्त्र जो अभी-अभी करघे से उतारा गया हो) शब्द 'तन्त्र'

१. इमे ये ऽ र्वाङ् न पराश्चरन्ति न ब्राह्मणासो न सुतेकरासः। त एते वाचमभिपद्य पापया सिरीस्तन्त्रं तन्वते अप्रजज्ञयः। ऋ० १०।७१।९। सायण ने व्याख्या की है—सिरी सीरिणो भूत्वा तन्त्रं कृषिलक्षणं तन्वते विस्तारयन्ति कुर्वन्तीत्यर्थः।

से निष्पन्न माना है। आप० श्रौ० सूत्र (१।१५।१) ने तन्त्र शब्द 'कई भागों वाली विधि' के अर्थ में प्रयुक्त किया है[२]। शांखायन श्रौ० (१।१६।६) में आया है कि वही तन्त्र है जो एक बार हो जाने पर (किये जाने पर) बहुत-से अन्य कर्मों का उपयोग सिद्ध करता है। महाभाष्य ने पाणिनि (४।२।६०) एवं वार्तिक 'सर्वसादेर्द्विगोश्च लः' पर 'सर्वतन्त्रः' एवं 'द्वितन्त्रः' को उदाहरणों के रूप में लिया है, जिनका तात्पर्य है वह, 'जिसने सभी तन्त्रों को पढ़ लिया है' या 'जिसने दो तन्त्रों का अध्ययन किया है'; यहाँ पर 'तन्त्र' का सम्भवतः अर्थ है सिद्धान्त। याज्ञ० १।२२८: 'तन्त्रं वार्वैश्वदेविकम्' में प्रयुक्त 'तन्त्र' शब्द उसी अर्थ में है जिसमें शांखायनश्रौतसूत्र ने प्रयुक्त किया है। कौटिल्य-अर्थशास्त्र के १५वें अधिकरण का नाम है 'तन्त्रयुक्ति' (देखिए जे० ओ० आर०, मद्रास, जिल्द ४, १९३०, पृ० ८२) जिसका अर्थ है किसी शास्त्र की व्याख्या के मुख्य नियम, विधियाँ या सिद्धान्त। चरक (सिद्धि-स्थान, अध्याय १२।४०-४५) ने भी '३६ तन्त्रस्य युक्तयः', एवं सुश्रुत (उत्तरतन्त्र, अध्याय ६५) ने ३२ तन्त्र-युक्तियों का उल्लेख किया है। बृहस्पति, कात्यायन एवं भागवत में 'तन्त्र' का प्रयोग 'सिद्धान्त' या 'शास्त्र' के अर्थ में हुआ है। शबर ने जैमिनि (११।१।१) के भाष्य में कहा है कि जब कोई कार्य या पदार्थ एक बार हो जाता है तो वह बहुत-सी अन्य बातों या विषयों में उपयोगी होता है और इसे तन्त्र कहा जाता है[३]। शंकराचार्य ने वेदान्त सूत्र के भाष्य में कई स्थानों पर 'सांख्य सिद्धान्त को सांख्य तन्त्र तथा पूर्वमीमांसा को प्रथम तन्त्र' कहा है (वे० सू० २।२।१, २।१।१ एवं २।४।९; वे० सू० ३।३।५३ में पूर्वमीमांसा-सूत्र को प्रथम तन्त्र कहा है)। कालिका-पुराण (८७।१३०) में उशना एवं बृहस्पति के राजनीति विषयक ग्रन्थों को तन्त्र कहा गया है और विष्णुधर्मोत्तर पुराण को तन्त्र की संज्ञा दी गयी है (९२।२)। इन सभी उपर्युक्त उदाहरणों में कहीं भी 'तन्त्र' शब्द का मध्य-कालीन विलक्षण अर्थ नहीं पाया जाता।

तन्त्र साहित्य के अर्थ में प्रयुक्त 'तन्त्र' शब्द का प्रयोग कब प्रचलित हुआ, यह कहना कठिन है और यह भी निश्चित करना सम्भव नहीं है कि किन लोगों ने सर्वप्रथम तन्त्र-सिद्धान्तों एवं प्रयोगों (व्यवहारों) को आरम्भ किया और न यही जानना सरल है कि यह सब सर्वप्रथम कहाँ हुआ। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री इस बात को मानने को सन्नद्ध थे कि तन्त्र के सिद्धान्त एवं व्यवहार भारत में बाहर से आये और वे कुब्जि का मत तन्त्र के एक श्लोक[४] पर विशेष निर्भर रहे हैं, जिसका अर्थ यह है—'सभी स्थानों पर अधिकार करने के लिए भारत-

२. उदित आदित्ये पौर्णमास्यास्तन्त्रं प्रक्रमयति प्रागुदयादमावास्यायाः। आप० श्रौ० १।१५।१, जिस पर, टीकाकार की टीका है 'अंगसमुदायस्तन्त्रम्। तत्प्रक्रमयति यजमानोऽध्वर्युणा।' 'तन्त्रलक्षणं तत्।' शांखायनश्रौतसूत्र (१।१६।६), जिस प्रकार कि यह टीका है—'यत्सकृत्कृतं बहूनामुपकरोति तत्तन्त्रमित्युच्यते।'

३. आम्नोय स्मृतितन्त्रे च लोकाचारे च सूरिभिः। शरीरार्धं स्मृता जाया पुण्यापुण्यफले समा॥ बृहस्पति, अपरार्क (पृ० ७४०), दायभाग ११।१।२ (पृ० १४९), कुल्लूक (मनु ९।१८७) द्वारा उद्धृत। 'आत्मतन्त्रे तु यन्नोक्तं तत्कुर्यात्पारतन्त्रिकम्।' कात्यायन से स्मृतिचन्द्रिका (पृ० ५) द्वारा उद्धृत। तन्त्रं सात्वतमाचष्ट नैष्कर्म्यं कर्मणो यतः। भागवत १।३।८। यहाँ पर 'पञ्चरात्र' को सात्वततन्त्र कहा गया है। 'यत्सकृत्कृतं बहूनामुपकरोति तत्तन्त्रमि-त्युच्यते यथा बहूनां ब्राह्मणानां मध्ये कृतः प्रदीपः।' शबर का भाष्य (जैमिनि ११।४।१)।

४. इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली (जिल्द ९, पृ० ३५८) —'गच्छ त्वं भारते वर्षे अधिकाराय सर्वतः। पीठोपपीठक्षेत्रेषु कुरु सृष्टिमनेकधा॥' देखिए हरप्रसाद शास्त्री का कैटलॉग, ताड़पत्र पाण्डुलिपि, नेपाल दरबार लाइब्रेरी (कलकत्ता, १९०५), भूमिका पृ० ८९; यह पाण्डुलिपि पश्चात्कालीन गुप्तलिपि में है, अर्थात् ७वीं शती

वर्ष में जाओ और पीठों, उपपीठों एवं क्षेत्रों में अनेक प्रकार से इसकी सृष्टि करो।' सम्मान के साथ हम उस विद्वान् की बात का विरोध करते और कहते हैं कि इस श्लोक से यह नहीं स्पष्ट होता कि भारत में तन्त्र-सिद्धान्तों का प्रचलन इस श्लोक के उपरान्त ही हुआ। तन्त्र सिद्धान्तों के रहने पर भी उस वचन का उच्चारण सम्भव था और पीठों एवं क्षेत्रों की ओर जो निर्देश है (श्लोक में) वह इस बात की पुष्टि-सी करता है कि उनमें तन्त्र-सिद्धान्त प्रचलित थे। पुराणों में हमें भविष्यवाणी के रूप में वही प्राप्त होता है जो बीत चुका रहता है। यह सम्भव है कि **कुलाचार** एवं **वामाचार** ऐसे कुछ रहस्यवादी प्रयोग बाह्य तत्त्वों से प्रभावित रहे हों या वे मौलिक रूप से बाहरी रहे हों। किन्तु उस श्लोक पर महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने जो निर्भरता प्रदर्शित की है, वह इसे सिद्ध करने को कदापि उपयुक्त नहीं है। रुद्रयामल (जीवानन्द द्वारा सम्पादित, १८९२) में अथर्ववेद (१७वाँ पटल, चौथा श्लोक) की प्रशस्ति आयी है कि उसमें सभी देवों, सभी प्राणियों (स्थलचर, जलचर एवं नभचर), सभी ऋषियों, कामविद्या एवं महाविद्या का निवास है; श्लोक १०—१७ में रहस्यमयी कुण्डलिनी का वर्णन है, ३१ श्लोकों में यौगिक प्रयोगों का, ६ श्लोकों में शरीर के चक्रों का उल्लेख है, ५१ से ५३ तक के श्लोकों में कामरूप, जालन्धर, पूर्णगिरि, उड्डियान एवं कालिका पीठों आदि का वर्णन है। बागची ('स्टडीज़ इन तन्त्र', पृ० ४५-५५) तान्त्रिक सिद्धान्तों में बाह्य तत्त्वों के समावेश के विषय में कुछ प्रमाण उपस्थित करते हैं। रुद्रयामल (१७वाँ पटल, श्लोक ११९-१२५) में आया है कि महाविद्या वसिष्ठ ऋषि के समक्ष प्रकट हुई और उनसे चीन देश एवं बुद्ध के यहाँ जाने को कहा, बुद्ध ने सिद्धि प्राप्त करने के लिए वसिष्ठ को कौल मार्ग एवं योग के प्रयोगों में शिक्षित किया और उन्हें पूर्ण योगी होने की साधना के लिए पंच-मकारों के उपयोग का निर्देश किया[5]। इससे प्रकट है कि जब रुद्रयामल का प्रणयन हुआ था तब भारत में

की है। डा० बी० भट्टाचार्य ने भी यही सम्मति दी है।' (देखिए 'बुद्धिस्ट इसोटेरिज्म' में उनकी भूमिका, पृ० ४३)। आर्थर अवालोन ने महानिर्वाणतन्त्र (तृतीय संस्करण, १९५३, पृ० ५६०) में लिखा है कि तन्त्र भारत में चाल्डीआ या शकद्वीप से आया। माडर्न रिव्यू (१९३४, पृ० १५०-१५६) में प्रो० एन० एन० चौधरी ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि भारतीय तन्त्रवाद का मूल तिब्बत के बॉन धर्म में पाया जाता है। वे इस विषय में इस तिब्बती परम्परा में विश्वास करते हैं कि असंग ने भारत में तन्त्रवाद चलाया। किन्तु यह परम्परा केवल तारानाथ के बौद्धधर्म के इतिहास पर निर्भर रहती है। लामा तारानाथ का जन्म सन् १५७३ ई० (कुछ लोगों के मत से १५७५ ई०) में हुआ था और उन्होंने अपना इतिहास सन् १६०८ में पूरा किया, अर्थात् उन्होंने असंग के लगभग १२०० वर्षों के उपरान्त लिखा। प्रो० चौधरी ने आगे एकजटासाधन (साधनमाला, संख्या १२७, आर्य-नागार्जुनपादैर्भोटेषु उद्धृतमिति) के अन्त में लिखित बात पर निर्भर किया है। किन्तु यह वाक्य उन आठ पाण्डुलिपियों में, जिनपर यह संस्करण आधारित है, तीन पाण्डुलिपियों में नहीं पाया जाता। प्रो० चौधरी ने यह भी कहा है कि तन्त्र में गुरु की स्थिति न तो वैदिक है और न पौराणिक। यहाँ वे त्रुटिपूर्ण हैं। निरुक्त (२।४) में विद्यासूक्त एवं श्वेताश्वतरोपनिषद् (६।१८) के वचन से गुरु की स्थिति स्पष्ट है। गुरु की पौराणिक स्थिति के विषय में देखिए लिंगपुराण एवं देवीभागवत (११।१।४९), श्वेताश्व० ६।२३ एवं अग्नि पुराण (३९२।६)।

५. यः कुलार्थी सिद्धमन्त्री भवेदाचारनिर्मलः। प्राप्नोति साधनं पुण्यं वेदानामप्यगोचरम्॥ बौद्धदेशेऽथर्ववेदे महाचीने सदा व्रज॥.... मत्कुलज्ञो महर्षे त्वं महासिद्धो भविष्यसि।... ततो मुनिवरः श्रुत्वा महाविद्यासरस्वतीम्। जगाम चीनभूमौ च यत्र बुद्धः प्रतिष्ठति॥ ...बुद्ध उवाच। वसिष्ठ शृणु वक्ष्यामि कुलमार्गमनुत्तमम्। येन विज्ञान(न ?)

पीठ थे, चीन या तिब्बत में तान्त्रिक प्रयोगों का प्रचलन था और ऐसा कहा जाता है कि बुद्ध ने ही ऐसे प्रयोगों की शिक्षा दी है, जो कि बुद्ध की उदात्त शिक्षा के प्रति एक कृत्रिम लेख एवं दुष्ट उपहास-सा लगता है।

ऐन्द्रजालिक (मायावी) मन्त्र अथर्ववेद में बहुत संख्या में पाये जाते हैं और ऋग्वेद में कुछ रहस्य-वादी शब्द या वचन प्रयुक्त हुए हैं; यथा—'वषट्' (ऋ० ७।६६।७, ७।१००।७ आदि) एवं 'स्वाहा' शब्द (ऋ० १।१३।१२, ५।५।११, ७।२।११)[६]। नींद लाने वाला मन्त्र ऋग्वेद (७।५५।५-८) में आया है[७]; ये मन्त्र अथर्ववेद (४।५।६,५, १, ३) में भी आये हैं, और सम्भवतः यह मन्त्र पुरोहित द्वारा उस भद्र व्यक्ति के लिए कहा जाता है जो अनिद्रा से रुग्ण रहता है। कुछ पाश्चात्य विद्वानों का कथन है कि यह मन्त्र प्रेमी द्वारा अपनी प्रेमिका को गुप्त प्रेम के लिए अथवा चोरिकामेंट के लिए प्रयुक्त होता है, किन्तु इसमें कहीं भी प्रेम शब्द की गन्ध नहीं मिलती है। हम पाश्चात्य विद्वानों की बात स्वीकार नहीं कर सकते। ऋ० (१०।१४५) का उपयोग सौत के विरोध में हुआ है, जिसका प्रथम मन्त्र यों है—'मैं इस ओषधि को खोदता हूँ, यह अत्यन्त शक्तिशाली लता है, जिसके द्वारा एक स्त्री अपनी सौत को पीड़ित करती है, और जिसके द्वारा वह अपने पति को (केवल अपने लिए) प्राप्त करती है।

ऋग्वेद में बहुधा ऐसे जादूगरों का उल्लेख मिलता है जो अधिकांश में अनार्य कहे गये हैं और उन्हें अदेव, अनृतदेव (झूठे देवों की पूजा करने वाले), शिश्नदेव (लम्पट, ऋ० ७।२१।५, १०।९९।३) की संज्ञाएँ प्राप्त हैं। स्थानाभाव के कारण हम विस्तार में यहाँ नहीं जा सकेंगे। तान्त्रिक ग्रन्थों में छह क्रूर कर्मों का वर्णन है, जिनका उल्लेख आगे किया जायगा। वैदिक काल में ऐसी कल्पना थी कि कुछ दुष्ट लोग, माया, मन्त्र आदि से लोगों एवं पशुओं को मार सकते हैं या उन्हें बीमार कर सकते हैं। दो सूक्त (७।१०४ एवं १०।८७, दोनों में २५ मन्त्र हैं) इस बात को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं कि ऋग्वेदीय लोग अभिचार से डरते थे। दोनों प्रकार के सूक्तों में 'यातुधान' (जो अभिचार करता है) एवं 'रक्षस्' (दुष्ट आत्मा) शब्द आये हैं, 'यातु' शब्द 'जादू' (या जादू) ही है जो भारतीय भाषाओं में प्रयुक्त होता है। पिशाचियाँ (पिशा-चिनियाँ) भी होती थीं (ऋ० १।१३३।५ : हे इन्द्र, रक्तिम एवं शक्तिशाली पिशाची को नष्ट कर दो और सभी दुष्ट आत्माओं को मार डालो।) यहाँ ऋग्वेद से कुछ मन्त्र अनुवादित हो रहे हैं—'मैं (वसिष्ठ) आज ही मर जाऊँ यदि मैं अभिचार प्रयोग करने वाला होऊँ या यदि मैंने किसी व्यक्ति के जीवन को जला डाला

मात्रेण रुद्ररूपी भवेत्क्षणात् ॥...अतः कुलं समाश्रित्य सर्वसिद्धीश्वरो भव। मासेनाकर्षणं सिद्धिर्द्विमासे वाक्पतिर्भवेत्। ... शक्तिं विना शिवोऽशक्तः किमन्ये जडबुद्धयः। इत्युक्त्वा बुद्धरूपी च कारयामास साधनम् ॥ कुरु विप्र महाशक्ति-सेवनं मद्यसाधनम्।...मदिरासाधनं कर्तुं जगाम कुलमण्डले। मद्यं मांसं तथा मत्स्यं मुद्रा मैथुनमेव च ॥ पुनः पुनः साधयित्वा पूर्णयोगी बभूव सः ॥ रुद्रयामल, १७ वाँ पटल, श्लोक १२१-१२३, १२५, १३५, १५२-१५३, १५७-१५८, १६०-१६१।

६. तन्त्रों में 'स्वाहा' शब्द (मन्त्रों में) अग्नि की पत्नी के अर्थ में भी आया है। देखिए तान्त्रिक टेक्ट्स, जिल्द ७, जहाँ स्वाहा को वह्निजाया, ज्वलनवल्लभा एवं द्विठ कहा गया है। और देखिए शारदातिलक (६।६२-६३)।

७. सस्तु माता सस्तु पिता सस्तु श्वा सस्तु विश्पतिः। ससन्तु सर्वे ज्ञातयः सस्त्वयमभितो जनः ॥ य आस्ते यश्च चरति यश्च पश्यति नो जनः। तेषां सं हन्मो अक्षाणि यथेदं हर्म्यं तथा।...प्रोष्ठेशया वह्येशया नारीर्यास्तल्प-शीवरीः। स्त्रियो याः पुण्यगन्धास्ताः सर्वाः स्वापयामसि ॥ ऋ० (७।५५।५-८)।

हो; वह व्यक्ति, जिसने मुझे झूठमूठ अभिचार करने वाला कहा हो, अपने दस पुत्रों से रहित हो जाये; जिसने मुझे यातुधान कहा हो उसे इन्द्र भयंकर शस्त्र से मार डाले, यद्यपि मैं वैसा नहीं हूँ और वह, जो स्वयं 'रक्षस्' है, अपने को पवित्र घोषित करता है; जो अत्यन्त दुष्ट है, वह सभी प्राणियों से निम्न (हीन या नीच) हो जाय (ऋ० ७।१०४।१५-१६); हे मरुतगणो, तुम लोगों के मध्य विभिन्न स्थानों में फैल जाओ और दुष्टों को पकड़ लो और इन राक्षसों को, जो पक्षियों का रूप धारण करके रात्रि में विचरण करते हैं और यज्ञ के समय भयंकर विघ्न उपस्थित करते हैं, चूर्ण-चूर्ण कर दो (वही, मन्त्र १८); हे इन्द्र, उन पुरुषों को-जो जादू-टोना करते हैं, और उन नारियों को (जादूगरनियों को), जो माया से नाश करती हैं, मार डालो; जो मूर्ख देवों के पूजक हैं, वे गर्दन कटा कर मर जायँ, वे सूर्य का उदय न देख सकें (ऋ० ७।१०४।२४); हे अग्नि, यातुधान के चर्म के टुकड़े कर दो, तुम्हारा नाशकारी वज्र उष्णता से उसे मार डाले; हे जातवेदा, उसकी गाँठों को छिन्न-भिन्न कर दो, इस छिन्न-भिन्न (यातुधान) को मांस की इच्छा करने वाले मांसाहारी पशु खा डालें; हे अग्नि, तुम यातुधानों को अपनी उष्णता से तथा रक्षसों को अपनी ज्वाल से चूर-चूर कर दो और मूरदेवों (मूर्ख देवों) के पूजकों का नाश कर दो, और उनकी ओर, जो असुतृप (मनुष्य को खाने वाले) हैं, चमकते हुए उन्हें चूर-चूर कर दो' (ऋ० १०।८७।५ एवं १४)।

आप० गृह्य सूत्र (३।९।५-८) में ऐसा उल्लिखित है कि सौत द्वारा प्रयुक्त पौधा पाठा कहलाता है और पति पर शासन करने एवं सौत को हानि पहुँचाने के लिए ऋ० (१०।१४५) को प्रयुक्त किया जाता है। ऋ० (१।१९१) बहुत से विषयों का विरोधी (निवारक) एक मोहनमन्त्र है। अथर्ववेद में बहुत से सूक्त 'शत्रुनाशन' के शीर्षक वाले हैं, यथा—२।१२-२४, ३।६, ४।३ एवं ४० ५।८, ६।८, ६५-६७ एवं १३४। अथर्व० (२।११) को 'कृत्या-दूषण' (अभिचार के प्रभाव को दूर करने वाला) कहा गया है। कुछ मन्त्र यहाँ दिये जा रहे हैं[८]। 'उसके विरोध में, जो हमें घृणा की दृष्टि से देखता है या जिसे हम घृणा की दृष्टि से देखते हैं, जादू करो; जो श्रेष्ठ है उस पर शासन करो और जो समान है उससे श्रेष्ठ हो जाओ'; 'हे सोम, तुम उसे अपने वज्र से मुख में मारो, जो हम लोगों की, जो केवल अच्छा ही बोलते हैं, बुराई करता है, और वह पिट कर भाग जाये।' शुक्रनीतिसार (४।३।३९) में ऐसा आया है कि तन्त्र अथर्ववेद के उपवेद हैं (जी० ऑपर्ट द्वारा सम्पादित, १८८२)। अथर्ववेद (३।२५ एवं ६।१३०) में ऐसे सूक्त हैं जो क्रम से एक पुरुष एवं नारी द्वारा अपनी प्रेमिका एवं प्रेमी को वश में करने के लिए प्रयुक्त होते हैं। अथर्व० (२।३० एवं ३१) में ऐसे मन्त्र हैं जिनके द्वारा रोग उत्पन्न करने वाले कीड़े नष्ट किये जाते हैं तथा ५।३६ पिशाचों को नष्ट करने के लिए है। 'फट्' शब्द वाजसनेयी संहिता में पाया जाता है।[९] आप०

८. प्रति तमभि चर योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः। आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्रम॥ अथर्ववेद (२।११।३); यो नः सोम सुशंसिनो दुःशंस आदिदेशति। वज्रेणास्य मुखे जहि स संपिष्टो अपायति॥ अथर्व० (६।६।२); विविधोपास्य मन्त्राणां प्रयोगाः सुविभेदतः। कथिताः सोपसंहारास्तद्धर्मनियमैश्च षट्। अथर्वणां चोपवेदस्तन्त्ररूपः स एव हि॥ शुक्रनीतिसार (४।३।३९)।

९. उपरि प्रुता भंगेन हतोऽसौ फट् प्राणाय त्वा व्यानाय त्वा। वाज० सं० (७।३) जिस पर महीधर की टीका यों है—'उपरि आगतेन भंगेन आमर्दन असाविति देवदत्तादिनामनिर्देशः। असौ द्वेषो हतो निहतः सन् फट् विशीर्णो भवतु।... स्वाहाकारस्थाने फडिति अभिचारे प्रयुज्यते।

श्रौ० सू० में 'फट्' का प्रयोग **अभिचार** (दुष्ट उद्देश्य को लेकर मन्त्रों के प्रयोग) के लिए सोम-डण्ठलों की आहुति के सिलसिले में किया गया है। तन्त्र ग्रन्थों में देवी-पूजा में 'फट्' का बहुधा प्रयोग हुआ है।

किन्तु अथर्ववेद से तन्त्रों के मध्य में किसी प्रत्यक्ष साहचर्य को बताना कठिन है। शान्तरक्षित (७०५-७६२ ई०) के तत्त्वसंग्रह ने बुद्ध को भी जादू के प्रयोगों से सम्बन्धित माना है। इसमें आया है—'सभी विचक्षण लोगों द्वारा यह घोषित है कि यह धर्म है जिससे लौकिक समृद्धि एवं परमोच्च तत्त्व अर्थात् मुक्ति प्राप्त होती है। प्रत्यक्ष परिणाम, यथा—बुद्धि, स्वास्थ्य, विभुता (ऐश्वर्य) आदि बुद्ध द्वारा उद्घोषित मन्त्रों, योग आदि के पालन से उत्पन्न होते हैं[१०]। किन्तु घटना या निर्देशित व्यक्ति के एक सहस्र वर्ष से अधिक काल पूर्व किये गये संदिग्ध कथन पर निर्विवाद विश्वास नहीं किया जा सकता। हाँ, यह बात है कि हम पालि के पवित्र ग्रन्थों में बुद्ध के शिष्यों के बीच जादू की शक्तियों की उत्पत्ति के विषय में कहानियाँ सुनते हैं, यथा—उस भारद्वाज की गाथा जो एक अति सुगन्धित चन्दन के बने पात्र के लिए हवा में उठ गये।[११] महावग्ग (६।३४।१, सें० बु० ई०, जिल्द १७, पृ० १२१) में आया है कि एक उपासक जिसका नाम मेण्डक था, अलौकिक शक्तियाँ रखता था, उसकी पत्नी, पुत्र एवं पतोहू सबमें ऐसी शक्तियाँ थीं। यहाँ पर भी हमें यह स्मरण रखना होगा कि त्रिपिटक या किसी अन्य आरम्भिक बौद्ध लिखित प्रमाण में ऐसा नहीं है जिसके आधार पर हम ऐसा सिद्ध करें कि बुद्ध या उनके प्रथम शिष्यों का सम्बन्ध मुद्राओं, मन्त्रों एवं मण्डलों से था और न युवाँच्वाँग (ह्वेनसाँग) या इत्सिंग ने तन्त्रों की कोई चर्चा ही की है, जब कि उन्होंने बौद्ध संस्कृति के रूप में मठों का उल्लेख किया है। (देखिए डा० डे, न्यू इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, जिल्द १, पृ० १)। साधनमाला (जिल्द २, ६८) की भूमिका में डा० भट्टाचार्य साधनमाला के पृ० ३३४-३३५ पर आये हुए 'सुगतोपदिष्टम्' एवं 'सुगतैः' पर निर्भर रहते हैं और कहते हैं कि स्वयं बुद्ध ने कुछ मन्त्रों को प्रवर्तित अवश्य किया होगा। इस पर दो महत्त्वपूर्ण विरोध उपस्थित किये जा सकते हैं, यथा—प्रथमतः, 'सुगतैः' का अर्थ सदैव बुद्ध नहीं होता, इसका अर्थ 'बुद्ध के अनुयायी गण' भी हो सकता है और द्वितीयतः, जिस प्रकार हिन्दू तन्त्रों में अधिकांश शिव एवं पार्वती के बीच कथनोपकथन हैं, उसी प्रकार

१०. यतोऽभ्युदयनिष्पत्तिर्यतो निःश्रेयसस्य च। स धर्म उच्यते तादृक् सर्वैरेव विचक्षणैः॥ तदुक्तमन्त्रयोगादिनियमाद्विधिवत्कृतात्। प्रज्ञारोग्यविभुत्वादि दृष्टधर्मोपि जायते॥ तत्त्वसंग्रह (पृ० ९०५); कमलशील (शान्तरक्षित के शिष्य) ने टीका की है—'तेन भगवतोक्तश्चासौ मन्त्रयोगादिनियमश्चेति विग्रहः। योगः समाधिः। आदिशब्देन मुद्रामण्डलादिपरिग्रहः।' प्रथम श्लोक वैशेषिक सूत्र (१।१।१-२) पर आधृत सा लगता है, जो यों है—'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः। यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।' अभ्युदय शब्द कणाद के सूत्र के टीकाकारों द्वारा कई प्रकार से व्याख्यायित हुआ है, किन्तु सामान्यतः अभ्युदय का तात्पर्य है 'सांसारिक सुख या समृद्धि', मिलाइए भरत का नाट्यशास्त्र—'विवाहप्रसवावाहप्रमोदाभ्युदयादिषु। विनोदकरणं चैव नृत्तमेतत्प्रकीर्तितम्॥' अध्याय ४।२६३ (गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज)। कुछ लोग इसका अर्थ स्वर्ग लगाते हैं, क्योंकि निःश्रेयस का अर्थ मोक्ष या अमृतत्व होता है।

११. चुल्लवग्ग (सें० बु० ई०, जिल्द २०, पृ० ७८) में पुण्डोल भारद्वाज की गाथा आयी है। बुद्ध के शिष्य भारद्वाज ने हवा में उड़कर, हाथ में पात्र लेकर राजगृह नगर में तीन बार प्रदक्षिणा की। ऐसा आया है कि बुद्ध ने अपने शिष्य को घुड़की दी और पात्र को तोड़कर चूर-चूर कर देने की आज्ञा दी।

पश्चात्कालीन लेखकों ने इतना सरलतापूर्वक कह दिया होगा कि वे बुद्ध को उद्धृत कर रहे हैं। ये विरोध डा० भट्टाचार्य द्वारा उद्धृत कमलशील के वक्तव्यों के विषय में भी उपस्थित किये जा सकते हैं, क्योंकि कमलशील एवं उनके गुरु बुद्ध के १२०० वर्ष उपरान्त हुए हैं।

पहले हिन्दू तन्त्रों का उद्भव हुआ कि बौद्ध तन्त्रों का? इसका उत्तर देना कठिन है। ऐसा लगता है कि दोनों का उद्भव एक ही काल में हुआ। देखिए ई० ए० पेयने कृत 'दि शाक्तज़' (पृ० ७०-७४) जहाँ पर मतों पर विवेचन उपस्थित किया गया है। साधनमाला (यह एक वज्रयानी कृति है जिसमें छोटे-छोटे ३१२ ग्रंथ हैं जो डा० भट्टाचार्य के मत से तीसरी शती से लेकर १२वीं शती तक प्रणीत होते रहे हैं) में वज्रयान के चार पीठ (प्रमुख केन्द्र) कहे गये हैं, यथा—कामाख्या, सिरिहट्ट (या श्रीहट्ट), पूर्णगिरि एवं उड्डियान।[१२] इनमें प्रथम दो क्रम से कामाख्या या कामरूप (गौहाटी से तीन मील दूर) एवं सिलहट हैं। अन्य दो स्थानों के विषय में मतैक्य नहीं है। म० म० ह० प्र० शास्त्री ने उड्डियान को (जो अधिकतर एक पीठ के रूप में वर्णित है) उड़ीसा कहा है। उनके पुत्र डा० बी० भट्टाचार्य के विचार से यह अत्यन्त सम्भव है कि वज्रयान तन्त्रवाद उड्डियान (बुद्धिस्ट इसोटेरिज्म), भूमिका पृ० ४६) से ही प्रादुर्भूत हुआ। डा० बागची (स्टडीज इन दि तन्त्रज, पृ० ३७-४०) ने अच्छे तर्कों के आधार पर ऐसा कहा है कि उड्डियान स्वात घाटी (भारत के पश्चिमोत्तर भाग में) के पास था। यही बात ग्रोस्सेट ('इन दि फूटस्टेप्स आव बुद्ध', पृ० १०६-११०) ने भी कही है। बार्हस्पत्यसूत्र (एफ० डब्लू० टॉमस द्वारा सम्पादित) ने आठ शाक्त क्षेत्रों के नाम लिये हैं (३।१२३-१२४)। साधनमाला (जिल्द २, पृ० ७८) की भूमिका में डा० भट्टाचार्य ने ऐसा मत व्यक्त किया है कि हिन्दू तन्त्रों का मूल बौद्ध तन्त्रों में पाया जाता है। किन्तु विन्तरनित्ज़ (हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर, अंग्रेजी अनुवाद, जिल्द २, पृ० ४०१) का कथन है कि डा० भट्टाचार्य का यह मत तथ्यों के विरोध में पड़ता है। प्रस्तुत लेखक विन्तरनित्ज़ के इस मत का समर्थन करता है।

यद्यपि डा० भट्टाचार्य ने यह स्वीकार किया है कि बौद्ध धर्म एवं जैन धर्म ने आरम्भिक काल में हिन्दू देवों का सहारा लिया, तब भी उन्होंने (बुद्धिस्ट इसोटेरिज्म की भूमिका, पृ० १४७) कहा है—"बिना विरोधाभास के भय के ऐसी घोषणा करना सम्भव है कि बौद्धों ने ही, सर्वप्रथम अपने धर्म में तन्त्रवाद का श्रीगणेश किया और हिन्दुओं ने उनसे आगे चलकर उसे उधार लिया।" प्राचीन भारतीयों को मारण-मोहन

१२. ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ तन्त्र ग्रन्थों में पाँच पीठ उल्लिखित हैं (हरप्रसाद शास्त्री के मतानुसार, नेपाल ताड़पत्र एवं कागद की चुनी हुई कागद की पाण्डुलिपियों का कैटलॉग, नेपाल दरबार लाइब्रेरी, कलकत्ता, १६०५, १६०५, पृ० ८०), यथा—ओडियान (उड़ीसा में, हरप्रसाद शास्त्री के मत से), जाल (जलन्दर या जालन्धर में), पूर्ण, मतंग (श्रीशैल में) एवं कामाख्या (आसाम में)। ये पाँच पीठ शिव द्वारा प्रेषित ग्रन्थ में उल्लिखित हैं, अतः यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि उस ग्रन्थ के पूर्व तन्त्रवाद सम्पूर्ण देश में फैल चुका था। साधनमाला (जिल्द १, पृ० ४५३ एवं ४५५) में उड्डियान, पूर्णगिरि, कामाख्या एवं सिरिहट्ट का उल्लेख है। कुलचूडामणितन्त्र (तान्त्रिक टेक्ट्स, जिल्द ४) ने छठे पटल श्लोक ३-७ में पाँच पीठों का उल्लेख किया है, यथा—उड्डियान, कामरूप, कामाख्या, जालन्धर एवं पूर्णगिरि (देखिए तीसरा पटल भी, ५६-६१)। इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली (जिल्द ११, पृ० १४२-१४४) में तर्क दिया गया है कि उड्डियान एवं शाहोर बंगाल में हैं। देवीभागवत (७।३०।५५-८०) ने एक सौ से अधिक देवियों के क्षेत्रों का उल्लेख किया है।

आदि के उद्भावकों के रूप में मानना कोई सम्मान की बात नहीं है। किन्तु विद्वानों को सम्मान या असम्मान की भावना से दूर रह कर सत्य की खोज करनी होती है। श्री बैल्ली पोशिन (इंसाइक्लोपीडिया आव रेलिजिन एण्ड एथिक्स, जिल्द १२, पृ० १९३), विन्तरनित्ज़ एवं पेयने (शाक्तज़, पृ० ७३) ने डा० भट्टाचार्य के मत के विरुद्ध पुष्ट प्रमाण दिये हैं, जिन्हें प्रस्तुत लेखक स्वीकार करता है। स्पष्ट है कि संस्कृत से सैकड़ों ग्रन्थ तिब्बती एवं चीनी भाषाओं में अनूदित हुए। भारत से ही तिब्बतियों एवं चीनियों ने ऋण लिया है। देखिए प्रो० लियाँग ची चाओ का निबन्ध 'चाइनाज़ डेट टु इण्डिया' (विश्वभारती क्वार्टरली, जिल्द २, १९२४-२५, पृ० २५१-२६१) जहाँ ऐसा कहा गया है कि सन् ६७ से ७८९ ई० तक २४ हिन्दू विद्वान् चीन आये। इसके अतिरिक्त कश्मीर से १३ विद्वान् आये और सन् २६५ से ७९० ई० तक जितने चीनी पढ़ने के लिए भारत गये उनकी संख्या १८७ थी, जिनमें १०५ के नामों का पता चल गया है। इस विषय में हमें कोई प्रमाण नहीं मिलता कि तिब्बती या चीनी ग्रन्थों का अनुवाद संस्कृत में हुआ हो। इसके अतिरिक्त तीन महान् चीनी यात्रियों ने भारत में बौद्ध तन्त्रों के अध्ययन की कोई चर्चा नहीं की है। वाटर्स (युवाँच्वाँग्स ट्रैवेल्स इन इण्डिया, जिल्द १, पृ० ३६०) ने यात्री के जीवन की एक कथा कही है कि जब वह अयोध्या से आगे नौका से पूर्व की ओर गंगा में जा रहा था, ठगों ने उसे लूट लिया और उसकी बलि देवी दुर्गा को देनी चाही, किन्तु चीनी यात्री एक अन्धड़ से बच गया और ठगों ने डर कर उसे छोड़ दिया और उसका मान-सम्मान किया। और देखिए रेने ग्रौउस्सेट कृत 'इन दि फ़ुटस्टेप्स आव बुद्ध' (पृ० १३३-१३५); जहाँ इस घटना का उल्लेख है। इससे प्रकट है कि ७वीं शती के पूर्व भारत में तन्त्र एवं शाक्त पूजा प्रचलित थी। ६५० ई० के पूर्व के किसी बौद्ध तान्त्रिक ग्रन्थ का उल्लेख नहीं मिलता; गुह्यसमाजतन्त्र एवं मञ्जुश्री-मूलकल्प ऐसे ग्रन्थ हैं, किंतु उनमें पश्चात्कालीन तत्त्व पाये जाते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कल्पना एवं काल दोनों यह बताते हैं कि हिन्दू धर्म पर बौद्ध, तिब्बती या चीनी तान्त्रिक ग्रन्थों का कोई ऋण नहीं है। देखिए सर चार्ल्सबेल (१९२४) कृत 'तिब्बत पास्ट एण्ड प्रज़ेण्ट' (पृ० २३, २५, २९), सरदार के० एम० पणिक्कर कृत 'इण्डिया एण्ड चाइना' (१९५७) पृ० ७०, म० म० डा० सतीशचन्द्र कृत 'इण्ट्रोडक्शन आव दि अल्फाबेट इन तिब्बत'। अन्तिम ग्रन्थ में ऐसा विचार प्रकट किया गया है कि तिब्बत में मगध से सातवीं शती में अक्षर आये, जिससे सिद्ध होता है कि कश्मीर में प्रचलित भारतीय अक्षरों पर आधारित लिपि तिब्बत में सर्वप्रथम ६४० ई० में प्रविष्ट हुई, और यह भी सिद्ध होता है कि तान्त्रिक बौद्ध पद्मसम्भव को तिब्बती राजा ति-सोन-दे-त्सोन (७४९-७८६) ने शान्तरक्षित बोधिसत्त्व के कहने पर उड्डियान से बुलाया और तिब्बत में रहने को प्रेरित किया। बुंजियू नञ्जियो के 'कैटालॉग आव त्रिपिटक' (आक्स-फोर्ड, १८८३), ऐपेण्डिक्स २, पृ० ४४५ सं० १५५ से पता चलता है कि अमोघवज्र ने ७४६ एवं ७७१ ई० के बीच में बहुत-से ग्रन्थ अनुवादित किये और वे ७७४ ई० में मर गये और उन्हीं के प्रभाव से चीन देश में तन्त्र सिद्धान्त का प्रचलन हुआ। बाण के ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि भारत में ६०० ई० के पूर्व मद्य एवं मांस के साथ चण्डिका की पूजा प्रचलित थी, श्रीपर्वत तान्त्रिक सिद्धियों के लिए प्रसिद्ध था, शिव-संहिताएँ विद्यमान थीं, श्मशान में एक करोड़ बार मन्त्र-जप से सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती थीं तथा कृष्ण पक्ष की अमावस्या जप एवं जादू-टोने के लिए उचित तिथि थी। अतः यह अत्यन्त सम्भव है कि शाक्त या तान्त्रिक सिद्धान्त तिब्बत एवं चीन में भारत से ही गये, न कि भारत में उन दोनों देशों से आये। प्रो० पी० वी० बापट ('बौद्ध मत के २५०० वर्ष', पृ० ३६०-३७६) ने डा० बी० भट्टाचार्य का अनुसरण किया है और यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि तिब्बती तन्त्रवाद हिन्दू तन्त्रवाद से प्राचीन है, किन्तु

उनके तर्क डा० भट्टाचार्य के तर्कों के समान ही कोई पुष्ट आधार नहीं रखते। डा० ए० एस० अल्तेकर ने अपने निबन्ध 'संस्कृत लिटरेचर इन तिब्बत' (ए० बी० ओ० आर० आई, जिल्द ३५, पृ० ५४-६६) में व्यक्त किया है कि किस प्रकार बौद्ध धर्म स्ट्रांग-त्सान-गैम्पो (६३७-६९३ ई०) के शासन काल में तिब्बत में प्रविष्ट हुआ। किस प्रकार लगभग ७५० ई० में उड़ीसा से पद्मसम्भव एवं कश्मीर से वैरोचन तिब्बत गये तथा किस प्रकार लगभग ४५०० पुस्तकें तिब्बती भाषा में अनुवादित हुईं।

डा० बी० भट्टाचार्य ने इतना स्वीकार किया है कि बौद्ध तन्त्र बाह्य रूप में हिन्दू तन्त्र से बहुत कुछ मिलता-जुलता है (बुद्धिस्ट इसोटेरिज्म, भूमिका, पृ० ४७), किन्तु उन्होंने यह व्यक्त किया है कि विषय-वस्तु, दार्शनिक सिद्धान्तों एवं धार्मिक दृष्टिकोणों में दोनों में कोई समानता नहीं है। बौद्ध धर्म हिन्दू देवों में विश्वास नहीं करता था अतः वह शक्ति या शक्तिवाद की चर्चा नहीं करता। जिस प्रकार हिन्दू तन्त्रों में पुरुषतत्त्व एवं स्त्रीतत्त्व क्रम से **शिव** एवं **देवी** हैं, उसी प्रकार बौद्धों ने **प्रज्ञा** (जो स्त्री है) एवं **उपाय** (पुरुष) दो तत्त्व रखे हैं, किन्तु यहाँ स्वरूप उलटा है। उन्हें **शून्यता** की धारणा पर शिव एवं देवी या शक्ति की धारणाओं से सम्बन्धित विचार जमाने थे ही। लक्ष्य एवं साधन (योग आदि) से सम्बन्धित विषय-वस्तु एक-सी है, मन्त्र, गुरु, मण्डल आदि की पद्धति भी एक ही है। बौद्ध तन्त्र-सम्प्रदाय के अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण एवं आरम्भिक ग्रन्थ हैं प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि एवं ज्ञानसिद्धि, जो ८वीं शती से जब कि शक्तिवाद एवं तन्त्रवाद भारत में भली भाँति सुदृढ हो चुके थे, पहले के नहीं हैं।

'शाक्त' शब्द का अर्थ है शक्ति (जगत्-शक्ति) का भक्त या पूजक। ऐसा लगता है कि आठवीं शती के बहुत पहले से भारत के सभी भागों में, विशेषतः बंगाल एवं आसाम में शाक्त सम्प्रदाय फैल चुका था। विभिन्न नामों (यथा—त्रिपुरा, लोहिता, षोडशिका, कामेश्वरी) वाली शक्ति इस विश्व की सम्पूर्ण क्रिया के आदि तत्त्व (बीज तत्त्व) के रूप में धारित हुई और सामान्यतः देवी के रूप में पूजित होती है। 'देवीमाहात्म्य' शाक्तों के प्रमुख ग्रन्थों में एक है। शाक्त सम्प्रदाय की प्रमुख विशेषताएँ ये हैं—देव या इष्ट एक है और वह माँ के रूप में एवं संहार करने वाली शक्ति के रूप में होती है[१३] और पूजा-सम्बन्धी क्रियाएँ कुछ ऐसी हैं जो कभी-कभी बड़ा घृणित रूप धारण कर लेती हैं। देवी की प्रशस्तियाँ अन्य पुराणों में भी हैं, यथा वामन (१८-१९), देवीभागवत (३।२७), ब्रह्माण्ड (जिसमें ४४ अध्यायों में ललितामाहात्म्य है), मत्स्य (१३।२४-५४), जहाँ देवी के १०८ नाम एवं उसकी पूजा के १०८ स्थान उल्लिखित हैं), कूर्म (१।१२)। कूर्म (१।१२) में देवी को महामहिषमर्दिनी (९८), अनाहता, कुण्डलिनी (१२८) दुर्गा, कात्यायनी, चण्डी, भद्रकाली (१४३ एवं १४८) कहा गया है और ऐसा व्यक्त किया गया है कि वेद एवं स्मृति-विरोधी शास्त्र, जो लोगों में प्रसिद्ध हुए हैं, यथा—कापाल, भैरव, यामल, वाम, आर्हत, देवी द्वारा लोक को भ्रम में डालने के लिए प्रवर्तित हैं और वे केवल मोह एवं अज्ञान पर आधारित हैं। और देखिए ब्रह्मपुराण (१८१।४८-५२) जहाँ देवी के नाम आये हैं और ऐसा कहा गया है कि जब देवी की पूजा मद्य, मांस एवं अन्य भोज्य पदार्थों से की जाती है तो वे प्रसन्न होती हैं और मनुष्य की मनोकामनाएँ पूर्ण करती हैं। भद्र-काली अपेक्षाकृत प्राचीन नाम है (देखिए शांखायन गृह्यसूत्र (सँ० बु० ई०, जिल्द २९, पृ० ८६)।

१३. काली के रूप में देवी के ध्यानों में एक यों है—'शवारूढां महाभीमां घोरदंष्ट्रीं हसन्मुखीम्। चतुर्भुजां खड्गमुण्डवराभयकरां शिवाम्। मुण्डमालाधरां देवीं ललज्जिह्वां दिगम्बराम्। एवं सचिन्तयेत्कालीं श्मशानालय-वासिनीम्॥ शाक्तप्रमोद में कालीतन्त्र (वेंकटेश्वर प्रेस संस्करण)।

तन्त्रों एवं शाक्त ग्रन्थों में बहुत-सी बातें समान हैं, प्रमुख अन्तर यह है कि शाक्त सम्प्रदाय में देवी (या शक्ति) को परमोच्च शक्ति मान कर पूजा जाता है, किन्तु तन्त्रों (इनमें बौद्ध एवं जैन दोनों प्रकार के ग्रन्थ सम्मिलित हैं) में केवल देवी या शक्ति की पूजा तक ही सीमा नहीं रखी गयी है, प्रत्युत वह पूजा बिना ईश्वर-सम्बन्धी धारणा के या वेदान्तवादी या सांख्यवादी भी हो सकती है। डॉ० बी० भट्टाचार्य (गुह्यसमाजतन्त्र, पृ० ३४, साधनमाला, जिल्द २, पृ० १६) का कथन है कि वास्तविक तन्त्र ग्रन्थ के लिए शक्ति के तत्त्व का होना परमावश्यक है। किन्तु यह कथन केवल अतिकथन है। वायुपुराण (१०४।१६) ने शाक्त को छह दर्शनों के अन्तर्गत रखा है[१४]।

ऋग्वेद में भी महान् देवों की शक्तियों का उल्लेख है। किन्तु शक्ति या शक्तियाँ परमात्मा की ही हैं, वह एक पृथक् सृष्टि करने वाले तत्त्व के रूप में नहीं है; कभी-कभी तो शक्ति को कवि, पुरोहित या यजमान के अंश रूप में व्यक्त किया गया है (यथा ऋ० १।१३।१८, १।८३।३, ४।२२।८, १०।२५।५)। शक्ति शब्द ऋग्वेद में एक दर्जन बार एकवचन एवं बहुवचन में ५ बार इन्द्र के साथ (३।२१।१४, ५।३१।६, ७।२०।१०, १०।८८।१०), एक बार अश्विनों के साथ (ऋ० २।२६।७), दो बार पितरों के साथ (१।१०६।३, ६।७५।६) एवं एक बार सामान्यतः देवों के साथ (१०।८८।१०, जिन्होंने अपनी शक्ति से अग्नि उत्पन्न की है) आया है। कहीं-कहीं 'शक्ति' के स्थान पर 'माया' शब्द प्रयुक्त हुआ है (ऋ० ६।४७।१८)। 'शची' शब्द कई बार आया है ('शचीभिः' ३६ बार एवं 'शच्या' १२ बार)। 'शचीपति' ऋग्वेद में १६ बार आया है जिनमें एक बार अश्विनीकुमारों के लिए आया है (ऋ० ७।६७।५)। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि ऋग्वेद में 'शची' इन्द्र की पत्नी का द्योतक है (जैसा आगे चलकर ऐसा व्यक्त हो गया है), क्योंकि शची अधिक बार बहुवचन में है और अश्विनों को भी एक बार 'शचीपति' कहा गया है। इसी प्रकार 'शचीवः' ११ बार आया है, जिनमें ६ बार यह इन्द्र के लिए सम्बोधित है, किन्तु यह एक बार अग्नि के लिए (ऋ० ३।२१।४) प्रयुक्त है और एक बार सोम के लिए (ऋ० ६।८७।६)। 'शक्ति' एवं 'शची' के साथ जो विचार लगे हैं वे हैं—सृष्टि, रक्षा, वीरता एवं औदार्य (उदारता) से सम्बन्धित। ऋ० (१।५६।४) में इन्द्र की शक्ति को 'देवी तविषी' कहा गया है, किन्तु 'शची' शब्द उस पद्य में नहीं आया है।

वाक् (वाणी) की शक्ति के विषय में एक उदात्त एवं उत्कृष्ट स्तोत्र (ऋ० १०।१२५ नामक सूक्त) है, जहाँ पर वाक् को रुद्रों, आदित्यों, वसुओं एवं विश्वेदेवों से सम्बन्धित होने को कहा गया है और मित्र एवं वरुण, इन्द्र एवं अग्नि, अश्विनों, सोम, त्वष्टा, पूषा एवं भग को आश्रय देने के लिए उद्घोषित है। वाक् को रुद्र के लिए धनुष तानने को कहा गया है, जिससे कि ब्रह्म (स्तुति या ब्रह्मा नामक देव) का नाशकारी शत्रु मारा जा सके। वाक् सभी लोकों में विराजमान है, उसका शरीर स्वर्ग को छूता है, वह पृथिवी एवं स्वर्ग से अतीत है और वह अपनी महत्ता से अति विशद या विशाल है। वाक् (वाणी) सारी शक्ति का मूल तत्त्व हो जाती है। निघण्टु (१।११) के अनुसार 'मेना', 'ग्ना' एवं 'शची' नामक तीन शब्द उन ५७ शब्दों में परिगणित हैं जिनका अर्थ वाक् होता है। तै० सं० (५।१।७।२) में मात्राएँ 'ग्ना' कही जाती हैं। ऋ० (१।१६४।४१) में वाक् का प्रहेलिका-मय विवरण है जो निरुक्त (११।४०) में विश्लेषित है। यह द्रष्टव्य है कि, जिस प्रकार 'देवी' या 'शक्ति' पश्चात्कालीन साहित्य में शिव से सम्बन्धित है, उसी प्रकार इन्द्राणी, वरुणानी, अग्नायी, रोदसी क्रम से इन्द्र,

१४. ब्राह्मं शैवं वैष्णवं च सौरं शाक्तं तथार्हतम्। षड् दर्शनानि चोक्तानि स्वभावनियतानि च।(१०४।१६)॥

वरुण, अग्नि एवं मरुतों से उनकी पत्नियों के रूप में सम्बन्धित हैं। 'मैं इन्द्राणी, वरुणानी एवं अग्नायी को अपने कल्याण एवं सोम पीने के लिए बुलाता हूँ' (ऋ० १।२२।१२); 'देवों की पत्नियाँ आहुति को ग्रहण करें, यथा—इन्द्राणी, अग्नायी, अश्विनों की ज्योति (पत्नी), रोदसी; वरुणानी (हमारी स्तुति) सुनें; देवियाँ स्त्रियों के उचित काल पर आहुति ग्रहण करें'[१५]। किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि ये देवियाँ ऋग्वेद में बहुत गौण महत्त्व रखती हैं, अर्थात् उनका कार्य अप्रधान ही है। पश्चात्कालीन देवी या शक्ति से इन वैदिक देवियों का कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। इन्द्राणी का आह्वान रक्षा के लिए किया गया है (ऋ० १।२२।१२, २।३२।८, ५।४६।८, १०।८६।११–१२)। ऋ० (५।४६।८) में इन्द्राणी एवं अन्य तीन को 'देवपत्नी' एवं 'ग्ना' कहा गया है। ऋ० (१।६१।८) में ऐसा आया है कि जब इन्द्र ने राक्षस अहि को मारा तो देव-पत्नियों, ग्नाओं ने पूजा का गान बुना (बनाया)। 'ग्ना' शब्द ऋ० में २० बार आया है, वह संज्ञा, कर्म, करण एवं अधिकरण कारकों में आया है, और पत्नी के लिए भारोपीय शब्द है। देखिए निरुक्त (३।२१) जहाँ 'मेना' एवं 'ग्ना' शब्द आये हैं।

केनोपनिषद् में उमा हैमवती (हिमवान् की पुत्री) अग्नि, वायु एवं इन्द्र से ब्रह्म के विषय में कहती है (३।१२)। श्वेताश्वतरोपनिषद् में ऐसा आया है कि उन्होंने (ब्राह्मणों ने) ध्यान एवं योग से संपृक्त होकर शक्ति को देखा, जो परमात्मा से पृथक् नहीं थी तथा अपने गुणों (सत्त्व, रज एवं तम) से निगूढ़ (अव्यक्त, छिपी) थी। इसी उपनिषद् (६।८) में में ब्रह्म को परमोच्च शक्ति वाला कहा गया है[१६] और शंकराचार्य ने वेदान्तसूत्र (२।१।२४) में इस वचन को उद्धृत किया है। वे० सू० (२।१।३०) के भाष्य एवं सूत्र में ब्रह्म सर्वशक्तिसम्पन्न कहा गया है। और देखिए श्वेताश्व० (४।१)। नारायणोपनिषद् (२।१) में दुर्गा-देवी का आह्वान है—'मैं जलती हुई, अग्नि के समान वर्णवाली, तप से चमकती हुई एवं धर्म-कर्म फल देने वाली देवी दुर्गा की शरण में हूँ; हे अत्यन्त शक्तिवाली देवी, मैं तुम्हारी शक्ति को प्रणाम करता हूँ। राघवभट्ट ने दृढ़तापूर्वक कहा है कि तन्त्र सम्प्रदाय श्रुति पर आधृत है, जैसा कि रामपूर्वोत्तरतापनी

१५. इन्द्राणीमुप ह्वये वरुणानीं स्वस्तये। अग्नायीं सोमपीतये। ऋ० १।२२।१२; उत ग्ना व्यन्तु देव-पत्नीरिन्द्राण्यग्नाय्यश्विनी राट्। आ रोदसी वरुणानी शृणोतु व्यन्तु देवीर्य ऋतुर्जनीनाम् ॥ ऋ० (५।४६।८)। सूर्या, अश्विनों की पत्नी कही गयी है (ऋ० १०।८५।८-९); यास्क ने ऋ० (५।४६।८) की व्याख्या निरुक्त (१२।४६) में की है और रोदसी को रुद्र की पत्नी कहा है; ऋ० (५।५६।८) में आया है कि मरुतों के रथ पर रोदसी है; ऋ० (५।६१।४) में ऐसा उल्लेख है कि मरुतों की एक सुन्दर स्त्री है; ऋ० (६।५०।५) में रोदसी को देवी कहा गया है और वह मरुतों से मिश्रित मानी गयी है। ऋ० (१।१६७।४ एवं ६।६६।६) रोदसी मरुतों से सम्बन्धित है।

१६. ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्। श्वेताश्व० १।३; परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥ श्वेताश्व० ६।८; सर्वोपेता च तद्दर्शनात्। वेदान्तसूत्र २।१।३०, जिस पर शंकर की टीका है—'एकस्यापि ब्रह्मणो विचित्रशक्तियोगादुपपद्यते विचित्रो विकारप्रपञ्च इति।' किन्तु पश्चात्कालीन शाक्त सिद्धान्त से यह सर्वथा भिन्न है। यहाँ पर ब्रह्म विभिन्न शक्तियों वाला कहा गया है, किन्तु शाक्तों में शक्ति स्त्री तत्त्व है और वह परमतत्त्व है। यह सम्भव है कि शक्ति के इस वेदान्तसिद्धान्त ने पश्चात्कालीन एक तत्त्व वाली तथा सर्वत्र छायी रहने वाली शक्ति की उद्भावना की हो।

एवं नृसिंहपूर्वोत्तरतापनी नामक उपनिषदों से व्यक्त होता है (वामकेश्वर तन्त्र पर सेतुबन्ध ; पृ० ४) । इसी प्रकार भास्कराचार्य ने वामकेश्वरतन्त्र पर अपनी सेतुबन्ध नामक टीका में कई उपनिषदों का उल्लेख किया है जो महात्रिपुरसुन्दरी की भक्ति पर विस्तार के साथ उल्लेख करती है। उन्होंने ऋ० (५।४७।४) में आये हुए 'चत्वारि ईम्' अंश में 'कादिविद्या' का संकेत देखा है । किन्तु ये उपनिषदें, ऐसा लगता है, तन्त्रों को आलम्बन देने के लिए (क्योंकि वे अनादृत हो चले थे) प्रणीत हुई और उनका उल्लेख राघवभट्ट एवं भास्कराचार्य जैसे मध्यकालीन लेखकों ने ही किया है। महाभारत में दुर्गा को सम्बोधित दो स्तोत्र हैं, यथा—विराटपर्व (अध्याय ६) में युधिष्ठिर द्वारा तथा दूसरा भीष्म पर्व (अध्याय २३) में अर्जुन द्वारा, किन्तु इन दोनों स्तोत्रों को लोग क्षेपक मानते हैं।[१७] विश्ववर्मा के गंगाधर शिलालेख (मालव सं० ४८०–४२४ ई०) में माताओं एवं तन्त्र का उल्लेख है ।[१८] बृहत्संहिता (५७।५६) ने माताओं के दलों का उल्लेख किया है । वृद्धहारीतस्मृति (११।१४३) में आया है कि गृहस्थ को शैव, बौद्ध स्कान्द एवं शाक्त सम्प्रदायों के स्थलों में प्रवेश नहीं करना चाहिए। विष्णुपुराण (जो प्राचीन विद्यमान पुराणों में एक है) ने सम्पूर्ण विश्व को विष्णु का विश्व कहा है और विष्णु को परम ब्रह्म एवं शक्ति से समन्वित माना है । इस पुराण ने दुर्गा के कुछ नाम गिनाये हैं, यथा—आर्या, वेदगर्भा, अम्बिका, भद्रा, भद्रकाली, क्षेमदा, भाग्यदा और अन्त में कहा है कि जब दुर्गा की पूजा मद्य, मांस, विभिन्न प्रकार के भोजन आदि से की जाती है तो वह

१७. जे० आर० ए० एस्० (१९०६, पृ० ३५५-३६२) में बी० सी० मजूमदार ने यह प्रदर्शित करने का प्रयास किया है कि दुर्गा के ये दो स्तोत्र महाभारत में क्षेपक मात्र हैं और सम्भवतः सम्भलपुर के पास रहने वाले ओड़िया भाषा बोलने वाले अनार्य शूद्रों के आचारों पर आधारित हैं। किन्तु वे भूल जाते हैं कि अन्य आधारों के अतिरिक्त कालिदास (४०० ई० के पश्चात् के नहीं) ने पार्वती को अपने कतिपय ग्रन्थों में उमा, अपर्णा, दुर्गा, गौरी, भवानी एवं चण्डी कहा है और शिव के अर्धनारीश्वर रूप का उल्लेख किया है । शाकुन्तल के अन्तिम श्लोक में कालिदास ने शिव को 'परिगतशक्तिः' कहा है, जिससे यह प्रकट होता है कि उनके काल में पश्चात्कालीन शक्ति-पूजा के बीज उपस्थित थे। अतः दुर्गा-पूजा अपने कतिपय रूपों में ३०० ई० से कम-से-कम सौ वर्ष पुरानी है ।

१८. मातॄणां च प्रमुदितघनात्यर्थनिर्ह्रादिनीनां तन्त्रोद्भूतप्रबलपवनोद्वर्तिताम्भोनिधीनाम् । गुप्तशिलालेख, संख्या १७, पृ० ७२ । बृहत्संहिता (५७।५६) में माताओं की प्रतिमाओं के विषय में नियमों की व्यवस्था है—'मातृगणः कर्तव्यः स्वनामदेवानुरूपकृतचिह्नः ।' विष्णुधर्मोत्तरपुराण (१।२२६) में बहुत-सी माताओं का उल्लेख है जिनमें काली एवं महाकाली भी हैं (कुल मिलाकर १८० माताएँ हैं)। देखिए हाल का ग्रन्थ, ई० ओ० जेम्स (लन्दन, १९५९) लिखित 'कल्ट आव दि मदर गॉडेसेज' जिसके ९९-१२४ तक के पृष्ठ भारत से सम्बन्धित हैं। देखिए डा० करमबेल्कर का निबन्ध 'मत्स्येन्द्रनाथ एण्ड हिज योगिनी कल्ट' (इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली, जिल्द ३१, पृ० ३६२-३७४, सन् १९३५), जिसमें यह व्यक्त है कि आदिनाथ (स्वयं शिव) मत्स्येन्द्रनाथ के गुरु थे और स्वयं मत्स्येन्द्रनाथ गोरक्षनाथ के गुरु थे । मत्स्येन्द्रनाथ को तिब्बत में लुइपा कहा जाता है और वे ८४ सिद्धों में एक हैं। देखिए कनिंघम की आर्क्यालॉजिकल सर्वे रिपोर्ट, ९, जिसमें भेड़ाघाट के ६४ योगिनियों के मन्दिर का उल्लेख है। और देखिए बी० पी० देसाई का निबन्ध 'तान्त्रिक कल्ट इन एपिग्राफ्स' (जे० ओ० आर०, मद्रास, जिल्द १९, पृ० २८५-२८८) ।

प्रसन्न होकर मनुष्यों की सभी कामनाएँ पूर्ण करती हैं ।[१९] बाणभट्ट की कादम्बरी में उज्जयिनी से कुछ दिनों के मार्ग पर अवस्थित चण्डिका के मन्दिर का एक लम्बा वर्णन है, जहाँ पर एक बूढ़ा, द्रविड़ भक्त रहता था । इस वर्णन की कुछ बातें यों हैं 'पशुओं के मुण्डों की आहुतियाँ, वाहन के रूप में सिंह, महिषासुर की बलि, पाशुपतों के सिद्धान्त जो ताड़पत्र पर लिखे छोटे-छोटे ग्रन्थों के रूप में थे, जिनमें तन्त्र, मन्त्र, जादू लिखित थे, दुर्गा-स्तोत्र (एक वस्त्र-खण्ड पर लिखित), माताओं के जीर्ण-शीर्ण मन्दिर, द्रविड़ भक्त का वर्णन जो श्रीपर्वत के विषय में सहस्रों कथाएँ जानता था ।' बाण ने पुत्र की इच्छा रखने वाली रानी विलासवती की धार्मिक क्रियाओं का उल्लेख किया है, यथा–चण्डिका के मन्दिर में शयन करना, जहाँ लगातार गुग्गुल जल रहा था, राहों पर अमावस्या की रात्रि में स्नान करना, जहाँ जादूगरों द्वारा ऐन्द्रजालिक वृत्त खिंचे हुए थे, माताओं के मन्दिरों में जाना, रक्षाकरंड धारण करना जिसके भीतर भूर्ज पत्रों पर पीले रंग से मन्त्र लिखे हुए थे; और जब प्रसव का समय सन्निकट आ गया तो बिस्तर को भाँति-भाँति की जड़ी-बूटियों एवं यन्त्रों (चित्र या अंक) से शुद्ध किया गया। हर्षचरित (३) में जादू के वृत्तान्तों एवं मानव-बलियों की चर्चा हुई है। शैव साधु भैरवाचार्य को शिव-संहिताएँ स्मरण थीं, उसने महाकालहृदय नामक महामन्त्र का जप एक श्मशान में एक करोड़ बार किया था। वह उस मन्त्र में पूर्णता प्राप्त करने के लिए पुष्यभूति (सम्राट् हर्ष के एक पूर्व पुरुष) की सहायता चाहता था और वेताल को हराना चाहता था। अन्त में वह विद्याधर की स्थिति को प्राप्त हो गया और नक्षत्रमण्डल में ज्योतिर्मान् हो गया । हर्षचरित की भूमिका के अन्तिम श्लोक में हर्ष को श्लेषात्मक ढंग से श्रीपर्वत कहा गया है, जो शरणागतों की इच्छाओं के अनुसार सभी सिद्धियों को देने वाला है। बाण के ग्रन्थों के ये विवरण प्रकट करते हैं कि किस प्रकार ७वीं शती के बहुत पहले से मांस के साथ चण्डी की पूजा , मन्त्रों के शाक्त या तान्त्रिक उपकरण, सिद्धियाँ, मण्डल एवं यन्त्रों ने धनी एवं दरिद्र तथा बड़े एवं छोटे सभी प्रकार के भारतीय लोगों के मनों को अभिभूत कर रखा रखा था । मालती-माधव (अंक ५) में हम चामुण्डा के लिए मानव-बलि का दारुण चित्र पाते हैं। उसी नाटक में सौदामिनी का उल्लेख हुआ है जिसने श्रीपर्वत पर एक कापालिक के व्रतों (नियमों) का पालन किया है और मन्त्रों के बल से अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त की हैं। वनपर्व (८५।१९–२०) में श्रीपर्वत को शिव एवं देवी का पवित्र स्थल कहा गया है। सुबन्धु की वासवदत्ता में श्री पर्वत को 'सन्निहित–मल्लिकार्जुनः' कहा गया है। आगे चलकर संस्कृत एवं पालि साहित्य से उद्धरण देकर यह प्रदर्शित किया जायेगा कि किस प्रकार तान्त्रिक प्रयोगों से धर्म का नाम कलंकित किया गया और घोर अनैतिकता को बढ़ावा मिला।

तन्त्रों का साहित्य बहुत विशद् है (देखिए 'प्रिंसिपुल्स आव तन्त्र' ए० एवालोन द्वारा सम्पादित, भाग १, पृ० ३९०–३९८ जहाँ तन्त्रों की एक लम्बी सूची दी हुई है) । हिन्दू एवं बौद्ध लेखकों ने तन्त्र पर बहुत से ग्रन्थ लिखे और उन ग्रन्थों में बहुत से विषय सम्मिलित हो गये । कुछ रूपों में हिन्दू एवं बौद्ध तन्त्र समान हैं, किन्तु विषयों के विवरण, दार्शनिक सिद्धान्तों एवं धार्मिक तत्वों तथा प्रयोगों में दोनों एक-दूसरे से

१९. एतत्सर्वमिदं विश्वं जगदेतच्चराचरम् । परं ब्रह्मस्वरूपस्य विष्णोः शक्तिसमन्वितम् ।। विष्णुपु० (५। ७।६०); सुरामांसोपहारैश्च भक्ष्यभोज्यैश्च पूजिता । नृणामशेषकामांस्त्वं प्रसन्ना सम्प्रदास्यसि ।। विष्णु पु० (५। १।८६) । यह श्लोक ब्रह्मपुराण (१८१।५२) में भी आया है और पीछे के तीनों श्लोकों जिनमें दुर्गा के नाम आये हैं दोनों में पाये जाते हैं ।

भिन्न हैं। तन्त्र ग्रन्थ तिब्बत, मंगोलिया, चीन, जापान, एवं दक्षिण-पूर्व एशिया में प्रचारित हुए। बहुत से संस्कृत तान्त्रिक ग्रन्थों के मूल रूप आज उपलब्ध नहीं हैं, किन्तु उनके कुछ तिब्बती अनुवाद उपलब्ध हो सके हैं[२०]। ऐसा कहा जाता है कि यदि उचित खोज की जाय तो तन्त्र पर ३०० ग्रन्थ प्राप्त हो सकते हैं (देखिए डा० बी० भट्टाचार्य, श्री रामवर्मा इंस्टीच्यूट आव रिसर्च, कोचीन, जिल्द १०, पृ० ८१)।

तन्त्रों की सामान्य परिभाषा देना कठिन है। 'तन्त्र', शब्द बहुधा 'तन्' (फैलाना, तानना) एवं 'त्रै' (बचाना) धातुओं से निष्पन्न माना जाता है। यह बहुत-से विषयों को, जिनमें तत्त्व एवं मन्त्र भी सम्मिलित हैं, विस्तारित करता है और रक्षण देता है; अतः इसे 'तन्त्र' कहा जाता है[२१]। सभी तन्त्रों में एक विषय समान रूप से पाया जाता है, यथा **पाँच मकार**। बहुधा उनमें धर्म, दर्शन, अन्धविश्वासमय सिद्धान्त, क्रियाओं, रीतियों, ज्योतिष, फलित ज्योतिष, औषधि एवं शकुनों (निमित्तों) का समावेश पाया जाता है। बहुत सी बातों में वे पुराणों से मिलते-जुलते हैं। बौद्धों ने बौद्धधर्म के बहुत-से व्यक्तियों का देवकरण किया और कालान्तर में गणेश एवं सरस्वती जैसे कुछ हिन्दू देव-देवियों को भी ले लिया। अपेक्षाकृत पश्चात्कालीन ग्रन्थों में तन्त्रों को तीन दलों में बाँटा गया है—**विष्णुक्रान्त, रथक्रान्त** एवं **अश्वक्रान्त** और प्रत्येक में ६४ तन्त्र सम्मिलित हैं (देखिए तान्त्रिक टेक्ट्स, जिल्द १, आर्थर एवालोन द्वारा सम्पादित, भूमिका, पृ० २–४)। किन्तु ये संख्याएँ कल्पनात्मक सी लगती हैं। कुछ ग्रन्थों में एक ही तन्त्र दो वर्गों में रखा हुआ है। कुलार्णव-तन्त्र (३।६–७) ने ५ आम्नायों (पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर एवं ऊर्ध्व) की चर्चा की है जो मोक्ष के मार्ग हैं। यही बात परशुरामकल्पसूत्र (१–२) में भी पायी जाती है[२२]। इसके अतिरिक्त तान्त्रिक पूजक भी तीन वर्गों में विभाजित हैं, यथा शैव, शाक्त एवं वैष्णव। बागची (स्टडीज इन तन्त्रज, पृ० ३) का कथन है कि तान्त्रिक साहित्य **स्तोत्रो** (जो तीन हैं), **पीठ** एवं **आम्नाय** में विभक्त हैं। सौन्दर्यलहरी ने, जो कुछ लोगों के मत से शंकराचार्यकृत है, ६४ तन्त्रों की चर्चा की है (३१ वें श्लोक में आया है—'चतुष्षष्टया तन्त्रैः'), जो

२०. शाक्त सिद्धान्तों एवं प्रयोगों के विषय में कुछ जानकारी देने के लिए निम्नोक्त ग्रन्थ अवलोकनीय हैं: आर० जी० भण्डारकर कृत 'वैष्णविज्म, शैविज्म आदि' (संगृहीत ग्रन्थ, जिल्द ४, पृ० २०३-२१०); सर जॉन वुड्रौफ कृत 'शक्ति एवं शाक्त' (१९२०); आर्थर एवालोन (सर जॉन वुड्रौफ) कृत 'सर्पेण्ट पावर'; ई० ए० पेयने कृत 'दि शाक्तज' (आक्सफोर्ड यूनि० प्रेस, १९३३); डा० सुधेन्दु कुमार दास कृत 'शक्ति और डिवाइन पावर' (कलकत्ता यूनि० १९४५); डा० पी० सी० चक्रवर्ती कृत 'डाक्ट्रिन आव शक्ति इन इण्डियन लिटरेचर' (१९४०)। देखिये प्रो० बागची का 'स्टडीज इन तन्त्रज' पृ० १-३ (कम्बुज या कम्बोडिया में लगभग ८०० ई० के चार तान्त्रिक बातों का प्रवेश, यथा——शिरश्छेद, विनाशिख, सम्मोह एवं नयोत्तर) तथा डा० आर० सी० मजूमदार कृत 'इंस्क्रिप्शंस फ्राम कम्बुज' (कलकत्ता, १९५३), पृ० ३६२-३७३-३७४ एवं जे० आर० ए० एस० (१९५०), पृ० १६३-६५, जहाँ मुस्लिम मलाया में शक्तिवाद के अवशेषों का उल्लेख है।

२१. तनोति विपुलानर्थान् तत्त्वमन्त्रसमन्वितान्। त्राणं च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते॥

२२. भगवान् परमशिवभट्टारक .... भगवत्या भैरव्या स्वात्माभिन्नया पृष्टः पञ्चभिर्मुखैः पञ्चाम्नायान परमार्थसारभूतान् प्रणिनाय। परशुरामकल्पसूत्र (१।२)। **कुछ ऐसे भी ग्रन्थ हैं जो पाँचों आम्नायों के मन्त्रों एवं ध्यानों की चर्चा करते हैं, यथा—डकन कालेज पाण्डुलिपि, सं० ३९४ (१८८२-८३)।**

संसार को विमोहित करने के लिए शंकर द्वारा घोषित किये गये हैं [23] । बहुत-से हिन्दू एवं बौद्ध तन्त्रों का प्रकाशन हो चुका है अतः अब हमें यह ज्ञात हो गया है कि तन्त्रों का क्या स्वरूप है। कुछ हिन्दू तन्त्र ये हैं—

कुलार्णव, तन्त्रसार, नित्योत्सव, परशुराम कल्पसूत्र, पारानन्दसूत्र, प्रपञ्चसार, मन्त्रमहोदधि (महीधर कृत), महानिर्वाण तन्त्र, रुद्रयामल, वामकेश्वरतन्त्र, शारदातिलक (लगभग ११ वीं शती) । इसके अतिरिक्त कश्मीरी तन्त्रवाद के अभिनवगुप्त के तन्त्रालोक एवं मालिनी विजयवार्तिक ऐसे तन्त्र ग्रन्थ भी हैं, जो उपर्युक्त ग्रन्थों से कुछ भिन्न हैं। कुछ प्रकाशित बौद्ध ग्रन्थ ये हैं—अद्वयवज्रसंग्रह, आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प, गुह्यसमाजतन्त्र (सम्भवतः ६ ठीं शती), इन्द्रभूति (७१७ ई०) की ज्ञानसिद्धि, अभयाकर गुप्त की निष्पन्नयोगावलि (११वीं शती के अन्तिम चरण एवं १२वीं शती के प्रथम चरण में प्रणीत) अनंगवज्र, (७०५ ई०) की प्रज्ञोपाय विनिश्चयसिद्धि, षट्चक्रनिरूपण (१५७७ ई०), साधनमाला (जिसमें तीसरी शती से १२वीं शती तक के छोटे-छोटे ३१२ ग्रन्थों का संग्रह है) । डा० बी० भट्टाचार्य (गुह्यसमाजतन्त्र की भूमिका पृ० ३८) के मत से बौद्ध तन्त्रों में आर्यमंजुश्रीमूलकल्प एवं गुह्यसमाजतन्त्र सबसे प्राचीन है (२४) । ऊपर के बहुत - से ग्रन्थ आर्थर एवालोन (सर जॉन वुड्रौफ) द्वारा एवं गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज़ द्वारा प्रकाशित हैं । कुछ

२३. सौन्दर्यलहरी को शंकराचार्यकृत कहने के लिए जो साक्ष्य उपस्थित किया जाता है, वह ठीक नहीं जँचता और न उसमें कोई बल ही है। हरप्रसाद शास्त्री के ताड़पत्र-पाण्डुलिपि (नेपाल दरबार लाइब्रेरी, पृ० ६२) के कैटलॉग में ताराहस्यवृत्तिका नामक एक तन्त्र-संग्रह है जो गौड़देश के शंकराचार्य द्वारा तैयार किया गया है। इससे यह बात जाननी चाहिए कि उस अद्वैतगुरु शंकराचार्य के नाम पर किसी पुस्तक को थोपने के पूर्व हमें सावधानी बरतनी चाहिए। देखिए डी० एन० बोस कृत 'तन्त्रज, देयर फिलॉसॉफी एण्ड ऐकल्ट सीक्रेट्स' (पृ० २९-३०), जहाँ वाराहीतन्त्र में उल्लिखित ६४ तन्त्रों के नाम दिये गये हैं। देखिये सौन्दर्यलहरी जिसमें ६४ तन्त्रों के नाम आये हैं। और देखिये बागची (स्टडीज इन दि तन्त्रज, पृष्ठ ५) जिन्होंने ८वीं शती में तथा उसके पूर्व के प्रामाणिक तन्त्रों के नाम दिये हैं। अभिनवगुप्त के तन्त्रालोक में आया है कि १०,१८ एवं ६४ के दलों में शैवतन्त्र है 'दशाष्टादशवस्वष्टभिन्नं यच्छासनं विभोः। तत्सारं त्रिकशास्त्रं हि तत्सारं मालिनीमतम् ॥ १।१८ (काश्मीर संस्कृत सीरीज, जिल्द २२, पृ० ३५)। नित्याषोडशिकार्णव (वामकेश्वरतन्त्र का एक भाग) ने प्रथम विश्राम के १३ से २२ तक श्लोकों में ६४ तन्त्रों के नाम दिये हैं, किन्तु इसने तन्त्रों में ८ यामलों को भी परिगणित कर लिया है, किन्तु डा० भट्टाचार्य (बुद्धिस्ट इसोटेरिज्म, भूमिका पृ० ५२) ने आगमों एवं यामलों में अन्तर बताने का प्रयत्न किया है और यही कार्य उन्होंने साधनमाला (जिल्द २, पृ० २१-२२) की भूमिका में भी किया है। ज्ञानानन्दगिरि (तान्त्रिक टेक्ट्स, जिल्द १४) के कौलावलीनिर्णय ने बहुत से तन्त्रों के नाम दिये हैं जिनमें यामलों का भी उल्लेख है। (१।२-१४) और आठ गुरुओं के नाम भी दिये हैं (१।९२-९३)।

२४. डा० बी० भट्टाचार्य, (गुह्यसमाजतन्त्र, भूमिका, ३४) ने यह मत प्रकाशित किया है कि सम्भवतः गुह्यसमाजतन्त्र का लेखक असंग है, अतः वह तीसरी या चौथी शती में लिखा गया होगा। किन्तु यह बात ठीक नहीं जँचती। सिलवैन लेवी द्वारा सम्पादित असंगकृत महायानसूत्रालंकार की परिमार्जित संस्कृत से गुह्यसमाज की अशुद्ध संस्कृत से तुलना करने पर पता चलता है कि गुह्यसमाज असंग की कृति नहीं है। गुह्यसमाज तीसरी या चौथी सती का ग्रन्थ है, ऐसा कोई प्रमाण नहीं है, हाँ, वह दो या अधिक शतियों के उपरान्त का हो सकता है । बागची (स्टडीज इन तन्त्रज, पृ० ४१) ने साधना सं० १५९ के लेखक असंग को योगाचार के महान् गुरु के रूप में नहीं माना है।

हिन्दू तन्त्रों में उपनिषदों एवं गीता या सांख्य एवं योग के दार्शनिक सिद्धान्तों की चर्चा भी की गयी है और उनके अनुसार सबके लिए अन्तिम लक्ष्य मुक्ति (जन्मों एवं मरणों के चक्रों से छुटकारा) ही है, किन्तु उसकी प्राप्ति तन्त्रों द्वारा व्यवस्थित मार्ग से ही सम्भव है। प्रकाशित हिन्दू तन्त्रों की संख्या अधिक है, अतः कुछ ही तन्त्रों, यथा—कुलार्णव, परानन्दसूत्र, प्रपंचसार, महानिर्वाणतन्त्र, वामकेश्वरतन्त्र, (आनन्दाश्रम संस्करण), शक्तिसंगमतन्त्र, शारदातिलक, की ओर निर्देश किया जायगा। बौद्ध तन्त्रों में आर्यमंजुश्रीमूलकल्प, गुह्यसमाजतन्त्र, प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि, ज्ञानसिद्धि, साधनमाला, सेकोद्देशटीका की ओर संकेत किया जायगा।

बौद्ध तन्त्रों में अधिकांश का उद्देश्य है बुद्धत्व-प्राप्ति के लिए योग-क्रियाओं द्वारा सरल मार्ग का अनुसरण करना तथा सिद्धियों (अलौकिक शक्तियों) की प्राप्ति करना। धर्मशास्त्र के इतिहास में बौद्ध तन्त्रों के विषय में विशेष चर्चा की आवश्यकता नहीं है। हाँ, तुलना के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण बातों की जानकारी आवश्यक है। हम यहाँ हिन्दू तन्त्रों पर ही विशेष ध्यान देंगे। तान्त्रिक संस्कृति के दार्शनिक पहलुओं का अध्ययन परशुरामकल्पसूत्र, वामकेश्वरतन्त्र, तन्त्रराज, काश्मीरी शैवागम के ग्रन्थों, भास्कराचार्य के ग्रन्थों एवं भावनोपनिषद् में किया जा सकता है। यह अन्तिम ग्रन्थ पश्चात्कालीन है और इसे उपनिषद् होने का सम्मान दिया गया है, क्योंकि इसने **भावना** पर प्रकाश डाला है और तन्त्रराजतन्त्र के वासनापटल का निष्कर्ष उपस्थित किया है। गौतमीयतन्त्र (डकन कालेज पाण्डुलिपि, सं० ११२०, १८८६–१८९२) एवं केशव (जो निम्बार्क के परवर्ती थे) की क्रमदीपिका, जिसके साथ गोविन्द विद्याविनोद, (चौखम्बा सं० सीरीज़) की टीका भी है, आदि **वैष्णव तन्त्र** हैं, जिनके विषय में यहाँ स्थानाभाव से संकेत नहीं किया जायगा। देखिए अग्निपुराण (३९। १–७) जहाँ २५ वैष्णव तन्त्रों का उल्लेख है, विष्णु-प्रतिमा के प्रतिष्ठापन की चर्चा है तथा माहेश्वरतन्त्र आदि का उल्लेख है (२९।१६–२०)।

हिन्दू तन्त्र, जिनमें शिव एवं पार्वती या स्कन्द या भैरव के कथनोपकथन हैं (यथा दत्तात्रेयतन्त्र, डकन कालेज पाण्डुलिपि, सं० ९६२, १८८७–९१) यह प्रदर्शित करने का प्रयास करते हैं, कि वे वेदों, आगमों, स्मृतियों एवं पुराणों पर आधारित हैं। वे यह भी कहते हैं कि मोक्ष की प्राप्ति के लिए सरलतर एवं क्षिप्रसाध्य मार्ग भी है और वे बहुधा वैदिक वाक्य भी उद्धृत करते हैं। उदाहरणार्थ, कुलार्णव में शिव देवी से कहते हैं 'मैंने (सत्य) ज्ञान की मथानी से वेदों एवं आगमों के महासागर को मथा है। मैं इनके सारतत्त्व को जानता था और मैंने कुलधर्म को बाहर निकाला है, कौलशास्त्र, वेदवचनों के समान प्रामाणिक है और तर्क द्वारा इसे समाप्त नहीं करना चाहिए [२५]।' इस तन्त्र में आगे ऐसा आया है—'जिसने चारों वेद पढ़ लिये हैं, किन्तु

२५. मथित्वा ज्ञानदण्डेन वेदागममहार्णवम्। सारज्ञेन मया देवि कुलधर्मः समुद्धृतः॥ कुलार्णव (२।१०); परानन्दसूत्र (३।६४) में भी सर्वथा यही आया है: 'मथित्वा ज्ञानमन्थेन वेदागममहार्णवम्। परानन्दमतं शुद्धं रसज्ञेन मयोद्धृतम॥ इति' (पृ० ७); 'कुलशास्त्राणि सर्वाणि मयैवोक्तानि पार्वति। प्रमाणानि न सन्देहो न हन्तव्यानि हेतुभिः॥ देवताभ्यः पितृभ्यश्च मधुवाता ऋतायते। स्वादिष्ठया मदिष्ठया क्षीरं सर्पिर्मधूदकम्। हिरण्यपावाः खादिश्च अबध्नं पुरुषं पशुम्। दीक्षामुपेयादित्याद्याः प्रमाणं श्रुतयः प्रिये॥ कुलार्णव (२।१३९-१४१)। देवताभ्यः पितृभ्यश्च' वायु पु० (७४।१५) है; 'मधुवाता ऋतायते' ऋ० (१।९०।६) है; 'स्वादि. . ष्ठया' ऋ० (९।१।१) है; क्षीर. . दकम्' ऋ० (९।६७।३२) है; 'हिरण्यपावाः' ऋ० (९।८६।४३) है। बहुत-से वैदिक संकेत इतनी चालाकी से चुने हुए हैं कि उनसे मद्य एवं मांस की मधुरता प्राप्त हो।

कुल धर्मों से अनभिज्ञ है, वह चाण्डाल से भी अधम है, किन्तु वह चाण्डाल, जो कुलधर्मों को जानता है, ब्राह्मण से उच्च है। यदि सभी धर्मों, यथा—यज्ञों, तीर्थयात्राओं, एवं व्रतों को एक ओर रखा जाय तथा कुलधर्म को दूसरी ओर, तो कौल (धर्म) अर्थात् कुलधर्म भारी (उत्तम) पड़ेगा' (कुलार्णवतन्त्र २।११ एवं ६७, और देखिए महानिर्वाणतन्त्र ४।५२, जहाँ सर्वथा ऐसे ही शब्द आये हैं)। अतः यह आवश्यक है कि हम कुल अथवा कौलधर्म के अर्थ को जान लें। गुह्य समाज तन्त्र (१८ वाँ पटल, पृ० १५२) में उल्लिखित है कि 'गुह्य' का अर्थ है तीन —काया, वाक् (वाणी) एवं चित्त (मन) तथा 'समाज' का अर्थ है 'मीलन' अर्थात् 'मिलन्' (एक साथ आना); कुल के त्रिकुल, पंचकुल या १०१ भेद हैं और गुह्य का अर्थ है त्रिकुल। देवशंकर ने पाँच तत्व घोषित किये हैं—मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा (हाथ एवं अंगुलियों की मुद्रा या योगी की नारी सहायिका) एवं मैथुन, ये ऐसे कर्म हैं जो वीर के आसन की प्राप्ति के साधन हैं और शक्ति का मन्त्र तब तक पूर्णता नहीं प्रदान करता, जब तक कुल के प्रयोगों का अनुसरण नहीं किया जाता। अतः व्यक्ति को चाहिए कि वह कुलाचारों में रत हो, जिसके द्वारा वह शक्तिसाधना प्राप्त करता है। मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा एवं मैथुन—ये शक्ति-पूजा विधि के पाँच तत्व कहे गये हैं[२६]। एक अन्य स्थान पर महानिर्वाणतन्त्र में आया है कि जीव, प्रकृति, दिक्, काल, आकाश, क्षिति (पृथिवी), जल, तेज (अग्नि) एवं वायु—ये कुल कहे जाते हैं, और जब व्यक्ति इन सभी के प्रति ब्रह्मबुद्धि से आचरण करता है तो वह कुलाचार कहलाता है, इससे चार पुरुषार्थों, धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की प्राप्ति होती है[२७]। शक्तिसंगमतन्त्र में आया है कि कुल का तात्पर्य काली के उपासकों (पूजा करने वालों) से है। कुलार्णव में उल्लिखित है—'कुल का अर्थ है गोत्र और वह शक्ति एवं शिव से उदित होता है; वह व्यक्ति **कौलिक** है, जो यह जानता है कि मोक्ष की प्राप्ति उससे (अर्थात् शक्ति एवं शिव से) होगी। शिव **अकुल** कहलाता है, और शक्ति को **कुल** कहते हैं; जो लोग कुल एवं अकुल का ध्यान

२६. वीरसाधनकर्माणि पञ्चतत्त्वोदितानि च। मद्यं मांसं तथा मत्स्यं मुद्रा मैथुनमेव च। एतानि पञ्च तत्त्वानि त्वया प्रोक्तानि शंकर। महानिर्वाण (१।५७)। साधक के तीन प्रकार हैं। पशु, वीर एवं दिव्य। देखिये शक्तिसंगमतन्त्र, कालीखण्ड (६।२१), महानिर्वाण (१।५१ एवं ५५, ४।१८-१९), कौलावलीनिर्णय (७।१८६)। कुलाचारं विना देवि शक्तिमन्त्रो न सिद्धिदः। तस्मात्कुलाचारतः साधयेच्छक्तिसाधनम्॥ मद्यं मांसं तथा मत्स्यं मुद्रा मैथुनमेव। शक्तिपूजाविधावाद्ये पञ्चतत्त्वं प्रकीर्तितम॥ महानिर्वाण (५।२१-२२)। 'आद्ये' 'आद्या' का सम्बोधन है जो शिव की पत्नी शक्ति के लिए प्रयुक्त है। कौलावलीनिर्णय में आया है 'चण्डिकां पूजयेद्यस्तु बिना पञ्चमकारकैः। चत्वारि तस्य नश्यन्ति आयुर्विद्यायशो धनम्॥ मद्यं मांसं. . .मैथुनमेव च। . . .मकारपंचकं देवि देवताप्रीतिदायकम्॥ . . .बिनापंचोपचारं हि देवीपूजां करोति यः। योगिनीनां भवेद्भक्ष्यः पापं चैव पदे पदे॥ (४।२४-२८); इसके अतिरिक्त कौलावलीनिर्णय के २।१०१-१०५ पद अत्यन्त प्रभावशाली हैं: 'संस्थाप्य वामभागे तु शक्तिं स्वामिपरायणाम्। . . .बिना शक्त्या तु या पूजा विफला नात्र संशयः। तस्माच्छक्तियुक्तो वीरो भवेच्च यत्नपूर्वकम्। या शक्तिः सा महादेवी हररूपस्तु साधकः। अन्योन्यचिन्तनाच्चैव देवत्वमुपजायते। . . शक्तिं विनापि पूजायां नाधिकारी भवेत्सदा।

२७. जीवः प्रकृतितत्त्वं च दिक्कालाकाशमेव च क्षित्यप्तेजोवायवश्च कुलमित्यभिधीयते। ब्रह्मबुद्ध्या निर्विकल्पमेतेष्वाचरणं च यत्। कुलाचारः स एवाद्ये धर्मकामार्थमोक्षदः॥ महानिर्वाण (७।९७-९८) ७।१०९-११० में इस तन्त्र ने मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा एवं मैथुन नामक पाँच तत्वों को तेज (अग्नि), पवन, जल, पृथिवी एवं वियत् (आकाश) के समान कहा है।

करते हैं वे विज्ञ **कौलिक** कहे जाते हैं[२८]। गुह्यसमाज (प्रथम पटल, पृ० ६), शक्ति संगम (भूमिका, पृ० ८), ताराखंड में बहुत-सी परिभाषाएँ दी हुई हैं। किन्तु उसी तन्त्र में द्व्यर्थवाक्य आये हैं और उद्घोषणा हुई है—"शक्ति कुल के नाम से विख्यात है, उसकी पूजा आदि वर्णित है; उसे कुलाचार कहना चाहिए जो देवों के लिए भी दुर्लभ है। केवल मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा एवं मैथुन से की गयी पूजा को ही कुलाचार कहा जाता है"। पारानन्दसूत्र में आया है कि **परमात्मा** एक है, **ईश्वर** सात हैं, यथा—ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सूर्य, गणेश, शक्ति एवं भैरव; **जीव** असंख्य हैं; **मार्ग** तीन हैं, यथा—**दक्षिण, वाम** एवं **उत्तर,** जिनमें प्रत्येक अपने पूर्व वाले से उत्तम है, दक्षिण मार्ग वह है जो वेद, स्मृतियों एवं पुराणों में घोषित है; वाम मार्ग वेदों एवं आगमों द्वारा घोषित है, और तीसरा मार्ग (उत्तर) वह होता है जिसे वेद के वचन एवं गुरु घोषित करते हैं; गुरुवाक्य, अपने उस गुरु का होता है, जो स्वयं **जीवनमुक्त** होता है और मन्त्रों की शिक्षा देता है। सूत्र में आगे आया है कि **वामाचार** दो प्रकार का होता है, यथा **मध्यम एवं उत्तम**; उत्तम वह है जिसका सम्बन्ध मद्य, मैथुन एवं मुद्राओं से है, और मध्यम वह जिसमें पाँचों, अर्थात् मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा एवं मैथुन पाये जाते हैं[२९]। यह द्रष्टव्य है कि स्वयं तन्त्रों ने पूजा में पंचमकारों के प्रयोग को **वामाचार** कहा है, न कि उनके कट्टर योग पक्ष-पातियों ने, जैसा कि हीनरिच जिम्मर महोदय ने कहा है (दि आर्ट आव इण्डियन एशिया, जिल्द १, पृष्ठ १३०)।

पारानन्दसूत्र (पृ० ५, सूत्र १२–१६) का कथन है कि शिष्य को किसी 'गुणवान् गुरु से दीक्षा लेनी पड़ती है, जो उसे मन्त्र सिखाता है, जो अपने मुख में पानी भरकर शिष्य के मुख में डालता है और जिसे शिष्य पीता हुआ मन्त्र को स्वीकार करता है। यह विधि तब प्रयोग में लायी जाती है जब कि गुरु ब्राह्मण होता है। किन्तु जब गुरु क्षत्रिय होता है तो वह कान में मन्त्र सुनाता है। तन्त्रराजतन्त्र में आया है कि गुरु को १,२,३,४ या ५ वर्षों तक क्रम से चारों वर्णों एवं मिश्रित जाति वालों के गुणों एवं भक्ति की परीक्षा लेनी चाहिए और तब मन्त्र देना चाहिए, नहीं तो गुरु एवं शिष्य दोनों कष्ट में पड़ेंगे (तान्त्रिक टेक्ट्स, जिल्द ८, २।३७–३८)। अधिकांश तन्त्रों का कथन है कि गुरु एवं पंचमकारों द्वारा की गयी पूजा द्वारा प्राप्त ज्ञान गुप्त रखना

२८. **श्रीकाल्युपासका ये च तत्कुलं परिकीर्तितम् । तेषां समूहो देवेशि कुलं संकीर्तितं मया । शक्तिसंगम, कालीखण्ड (३।३२); मद्यं मांसं तथा मत्स्यं मुद्रा मैथुनमेव च । ऐभिरेव कृता पूजा कुलाचारः प्रकीर्तितः ॥ शक्ति संगम, ताराखण्ड, ३६ वाँ पटल, १८-२० श्लोक; कुलं गोत्रं समाख्यात तच्च शक्तिशिवोद्भवम् । येन मोक्ष इति ज्ञानं कौलिकः सोभिधीयते ॥ अकुलं शिव इत्युक्तं कुलं शक्तिः प्रकीर्तिता । कुलाकुलानिसन्धानाभिपुणाः कौलिकाः प्रिये । कुलार्णव (१७।२६-२७) । पञ्चमकार शोधनविधि (डकन कालेज पाण्डुलिपि सं० ९९४, १८९१-९५) में आया है "मद्य. . .मैथुनमेव च । भाग्यहीना (नैः ?) न लभ्यन्ते मकाराः पञ्च दुर्लभा ।"**

२९. **एकः परमात्मा । ईश्वरा सप्त । असंख्या जीवाः । ब्रह्माविष्णुशिवसूर्यगणेशशक्तिभैरवाश्चेश्वराः । पारानन्दे मते त्रयो मार्गाः । दक्षिणः । वामः । उत्तरः । तथैव गाथामुदाहरन्ति । दक्षिणादुत्तम वामं वामादुत्तरमुत्तमम् । उत्तरा-दुत्तमं किंचिन्नैव ब्रह्माण्डमण्डले । वामाचारो मुद्रामैथुनैर्युक्तो मध्यमः । पारानन्द सूत्र (गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज पृ० १-३, १३) । मिलाइये कुलार्णवतन्त्र (२।७-८) 'वैष्णवादुत्तमं शैवं शैवा द दक्षिणमुत्तमम् । दक्षिणादुत्तमं वामं वामात् सिद्धान्तमुत्तमम् । सिद्धान्तादुत्तमं कौलं कौलात्परतरं नहिं ॥ 'वामाचार' शब्द सम्भवतः इसीलिये प्रयुक्त है कि इसमें वामा अर्थात् नारी महत्वपूर्ण योगदान देती है अथवा क्योंकि यह गुप्त रूप से (जो कि वाम गति कहा जायेगा) प्रयोगित होता था । अतः इसे वामाचार कहा गया ।**

चाहिए, यदि उसका रहस्य अन्य लोगों को ज्ञात हो जाय तो नरक प्राप्त होता है। देखिए परशुरामकल्पसूत्र (१।१२) एवं शक्तिसंगमतन्त्र (तारा० ३६।२४-२५)। दीक्षा एवं मन्त्र की प्राप्ति के उपरान्त शिष्य को गुरु के आदेशों का पालन तब तक करते जाना चाहिए जब तक उसे इष्ट का दर्शन न हो जाय। गुरु सभी अन्य लोगों से श्रेष्ठ है, मन्त्र गुरु से श्रेष्ठ है, देवता मन्त्र से श्रेष्ठ है तथा परमात्मा देवता से श्रेष्ठ है। सिद्धियों की प्राप्ति के लिए शिष्य द्वारा सभी प्रकार से गुरु की सेवा की जानी चाहिए। भोग, स्वर्ग एवं अपवर्ग (मोक्ष) की प्राप्ति के लिए केवल भक्ति ही एक मार्ग है, ऐसा श्रुति का कथन है (देखिए पारानन्द०, पृ० ६-७, सूत्र ३५, ३८ एवं ५९)। 'जीवन्मुक्ति' का अर्थ है अपने उपास्य के दर्शन की प्राप्ति (स्वोपास्य दर्शनं जीवन्मुक्तिः) एवं 'वह, जो जीवित रहते हुए मुक्त है, अपने कर्मों से लिप्त नहीं होता, चाहे वे कर्म पुण्य वाले हों, अथवा पाप वाले'[३०]। ये सिद्धान्त कुछ उपनिषदों में कहे गये उन शब्दों से मिलते हैं जो ब्रह्मज्ञानी के लिए प्रयुक्त हैं। जो ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर लेता है, वह पुण्य एवं पाप से रहित हो जाता है और शरीर को छोड़कर ब्रह्मलोक में पहुँच जाता है। वह लौट कर नहीं आता है, अर्थात् वह आवागमन से मुक्त हो जाता है। इस स्थिति के लिए प्रयास करना चाहिए। अतः जिसे सत्य ज्ञान प्राप्त हो गया है उसे भक्त हो जाना चाहिए। जो आर्त है, जिज्ञासु है, अर्थार्थी (किसी कामना वाला) है तथा ज्ञानी है, वह भद्र है, किन्तु जो परमात्मा को जानता है और भक्त हो जाता है वह परमात्मा के लोक को पाता है, जैसा कि वैदिक शब्दों में आया है--'ब्रह्मज्ञानी परम को प्राप्त होता है'।

इस उच्च दर्शन की पृष्ठभूमि में पारानन्दसूत्र ने स्वच्छन्द रूप से व्यवस्था दी है कि गुरु को पुष्पाञ्जलि से पूजन करके तथा अग्नि में कुछ भोज्यान्न डालकर मकारों को एकत्र करना चाहिए, पुनः देवता के पूजा-स्थल में आना चाहिए और अग्नि में हवि डालनी चाहिए तथा नवशिष्य को मद्य पीने के लिए पात्र, मुद्रा, व्यञ्जनों के साथ भोजन एवं एक वेश्या समर्पित करनी चाहिए। इसके उपरान्त नवशिष्य जब तीन मकारों (मद्य, मुद्रा एवं मैथुन) को ग्रहण कर चुके तो उसे कौलधर्म में प्रशिक्षित करना चाहिए। देखिए पारानन्द० (पृ० १५-१६, सूत्र ५६-६३)। इसके उपरान्त पारानन्दसूत्र नवशिष्य को सिखाये जाने वाले कौलधर्मों को दो पृष्ठों (१६-१७) में उल्लिखित करता है, जहाँ की कुछ महत्त्वपूर्ण बातें इस प्रकार हैं--"नवयुवती वेश्या (स्वेच्छा ऋतुमती) स्वयं शक्ति का अवतार है, ब्रह्म है; स्त्रियाँ देवता हैं, प्राण हैं, और (विश्व के) अलंकार हैं; स्त्रियों की निन्दा नहीं करनी चाहिए और न उन पर क्रोध करना चाहिए"। 'इस प्रकार वेदों एवं तन्त्रों में दिये हुए नियमों के अनुसार देवों एवं गुरु की पूजा करने के उपरान्त जब व्यक्ति देवों को स्मरण करता हुआ मद्य पीता है या वेश्या के साथ मैथुन करता है तो वह पाप कर्म नहीं करता। जो केवल अपने को आनन्द देने के लिए मद्य पीता है तथा अन्य मकार

३०. स्वोपास्यदर्शनं जीवन्मुक्तिः जीवन्मुक्तो न कर्मभिर्लिप्यते पुण्यैः पापैर्वा। न स पुनरावर्तते। न स भूयः संसारंसम्पद्यते। तस्मात्तद्दर्शने यतितव्यम्। ज्ञानी भक्तो भवेत्। आर्तजिज्ञास्वर्थार्थिज्ञानिन उदारास्तत्रेशस्य ज्ञानी भक्त एवं परमात्मलोकं प्राप्नोति ब्रह्मविदाप्नोति परमिति शब्दात्। पारानन्द (पृ० ९, सूत्र ३-८) 'न च पुनरावर्तते' छा० उप० (८।१५) के अन्त में आया है तथा 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' तै० उप० (ब्रह्मानन्दवल्ली) के प्रारम्भ में ही आया है। 'आर्त. . .ज्ञानी भक्त एवं' गीता (७।१६-१७) से उद्धृत है। 'चतुर्विधा भजन्ते. . .उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।" मिलाइये मुण्डकोपनिषद् (३।१।३) : 'तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरंजनः परमंसाम्यमुपैति)' छा० उप० (८।१३), महानिर्वाणतन्त्र (४।२२) : 'ब्रह्मज्ञाने समुत्पन्ने मेध्यामेध्य न विद्यते' एवं ७।९४ : ' ब्रह्म. . .ने कृत्याकृत्यं न विद्यते ॥'

का सेवन करता है वह भयंकर नरक में गिरता है। जो शस्त्रानुमोदित नियमों के विरोध में जाकर मनोनुकूल कर्म करता है वह सिद्धि नहीं प्राप्त करता और न स्वर्ग पाता और न परम लक्ष्य (मोक्ष) का अधिकारी होता है। साधक को मद्य का सेवन उतना ही करना चाहिए कि उसकी आँखें नाचने न लगें और उसका मन अस्थिर न हो जाये; इससे अधिक पीना पशुवत् व्यवहार है[31]।' परानन्दसूत्र (पृ० ७०-७१) ने तान्त्रिकों के उत्सव की विधि का भी वर्णन किया है। मन्त्र यह है "ईश्वरात्मन्, तव दासोहम्", जो किसी चाण्डाल को भी दिया जा सकता है या चाण्डाल से प्राप्त भी किया जा सकता है। आगे भी ऐसी व्यवस्था है कि वाम मार्ग के अनुयायीगण सर्वोच्च तीन मकारों के विषय में निम्नोक्त मन्त्रों का प्रयोग कर सकते हैं—'मैं यह पवित्र अमृत ले रहा हूँ, जो संसार के लिए औषध है, जो एक ऐसा साधन है जिससे वह पाश कटता है जिससे पशु (मनुष्य में पाया जाने वाला भाव) बँधा हुआ है और जो भैरव द्वारा घोषित है' (ऐसा मद्य लेते समय कहा जाता है); 'मैं इस मुद्रा को ग्रहण कर रहा हूँ, जो परमात्मा की उच्छिष्ट है (अर्थात् जो सर्वप्रथम परमात्मा को अर्पित हुई थी), जो हृदय की पीड़ाओं को नष्ट करती है, जो आनन्द उत्पन्न करती है, और जो अन्य भोज्य पदार्थों से विवृद्ध होती है' (ऐसा मुद्रा के समय कहा जाता है); 'मैं इस दिव्य नवयुवती को, जिसने मद्य पी लिया है, ग्रहण करता हूँ, जो हृदय को सदा आनन्दित करती है और जो मेरी साधना को पूर्ण करती है (यह तब कहा जाता है जबकि लायी गयी कई नारियों में एक को ग्रहण किया जाता है)। यहाँ पर 'मुद्रा' का अर्थ 'हाथ एवं अँगुलियों की मुद्राएँ' नहीं है यहाँ वह अर्थ है जिसका उल्लेख आगे किया जायेगा।

हिन्दू तन्त्र ग्रन्थ दो स्वरूप प्रकट करते हैं—एक है दार्शनिक एवं आध्यात्मिक, और दूसरा है प्रचलित, व्यावहारिक तथा अधिक या कम ऐन्द्रजालिक, जो मन्त्रों, मुद्राओं, मण्डलों, न्यासों, चक्रों एवं यन्त्रों पर निर्भर रहता है, जो मात्र भौतिक साधन हैं जिनके द्वारा ध्यान लगा कर परम शक्ति से तादात्म्य स्थापित किया जाता है और जो भक्त को अलौकिक शक्तियाँ प्रदान करते हैं। इसका निदर्शन दो आदर्शभूत तन्त्रों, यथा शारदातिलक एवं महानिर्वाणतन्त्र से किया जा सकता है। यद्यपि महानिर्वाणतन्त्र ने पंच मकारों को उपासना के साधन के रूप में ग्रहण किया है, और उसने यह भी कहा है कि यदि महान् तन्त्र को लोग समझ लें तो वेदों, पुराणों एवं शास्त्रों

३१. स्वेच्छात्रृतुमती शक्तिः साक्षाद् ब्रह्म न संशयः। तस्मात्तां पूजयेद्भक्त्या वस्त्रालंकारभोजनैरिति ॥ स्त्रियो देवाः स्त्रियः प्राणा स्त्रिय एवं हिभषणम्। स्त्रीणां निन्दा न कर्तव्या न च ताः क्रोधयेदपि ॥ इति। देवान् गुरुन्समभ्यर्च्य वेदतन्त्रोक्तवर्त्मना। देवं स्मरन् पिबन् मद्यं वेश्यां गच्छन्न दोषभाक् ॥ इति। सेवेदात्मसुखार्थं यो मद्यादिकमशास्त्रतः। स याति नरकं घोरं नात्र कार्या विचारणा ॥ यः शास्त्रविधि. . .परां गतिम् ॥ इति। यावन्न चलते दृष्टिर्यावन्न चलते मनः। तावत्पानं प्रकुर्वीत पशुपानमितः परम् ॥ इति। जीवन्मुक्तः पिबेदेवमन्यथा पतितो भवेत ॥ इति। परानन्द (पृ० १६-१७, सूत्र ६४, ६५, ७४-७६, ८०-८१) बहुत-से तन्त्रों में स्त्रियों की प्रशंसा में अत्युक्ति की गयी है, यथा—'शक्तिसंगमतन्त्र, कालीखण्ड (३।१४२-१४४) एवं ताराखण्ड (१३।४३-५०); कौलावलीनिर्णय (१०।८८)। 'स्त्रियो . . .भूषणम्' की अर्धाली शक्तिसंगमतन्त्र, ताराखण्ड (२३।१०) में आया है। 'यः शास्त्र. . .' वाला श्लोक भगवद्गीता (१६।२३) है। 'यावन्न. . .परम्' को मिलाइये, कुलार्णवतन्त्र (७।९७-९८)। कुलार्णव में आया है कि प्रयेत्क नारी महान् माता के कुल में जन्म लेती है, अतः नारी को एक पुष्प से भी कभी नहीं पीटना चाहिए। भले ही उसने सैकड़ों दुष्कर्म कर डाले हों, नारियों के अपराधों एवं दोषों की परवाह नहीं करनी चाहिए, उनके सद्गुणों को ही प्रसिद्धि देनी चाहिए (११।६४-६५) और देखिये कौलावलीनिर्णय (१०।६६-६९)।

की उपयोगिता कुछ भी नहीं रह जाती, तब भी उसने ४।३४–३७ में महत्वपूर्ण धारणा उपस्थित की है कि परमेश्वर एक है और उसे **सत् चित् एवं आनन्द** कहना चाहिए, वह अद्वितीय है, गुणातीत है और उसका परिज्ञान वेदान्त वचनों से ही प्राप्त हो सकता है। इसमें पुनः आया है कि सर्वोत्तम मन्त्र है—'ओम् सच्चिदेकं ब्रह्म' (३।१४)। जो परम ब्रह्म की उपासना करता है उसे अन्य साधना की आवश्यकता नहीं है, इस मन्त्र पर आरूढ़ होकर व्यक्ति ब्रह्म हो जाता है। किन्तु चौथे अध्याय में महानिर्वाण तन्त्र यह कहकर आरम्भ करता है कि दुर्गा परमात्मा की परम प्रकृति है, उसके अनेक नाम हैं। यथा—काली, भुवनेश्वरी, बगला, भैरवी, छिन्नमस्तका; वह सरस्वती, लक्ष्मी एवं शक्ति है, वह अपने भक्तों की कामना पूर्ति तथा राक्षसों के नाश के लिए विभिन्न रूप धारण करती है। कलियुग में बिना कुलाचारों के अनुसरण किये पूर्णता नहीं प्राप्त की जा सकती, क्योंकि कुल के आचारों (व्यवहारों) से ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है और ब्रह्मज्ञानी जीवन्मुक्त होता है। इसके उपरान्त देवी की महान् स्तुति की गयी है (४।१०), उसे आदि परम शक्ति (आद्यापरमा शक्ति) कहा गया है और उससे सभी देव (यहाँ तक कि शिव भी) अपनी शक्तियाँ ग्रहण करते हैं (क्योंकि वह परम शक्ति है)। इस तन्त्र में एक विलक्षण उक्ति भी दी हुई है—,सत्य, त्रेता एवं द्वापर युगों में मद्यसेवन चलता था, कलियुग में भी वैसा ही करना चाहिए, किन्तु कुल के आचार के साथ। जो व्यक्ति सत्यवादी योगी को कुल के मार्ग (ढंग) से शोधित पंच तत्त्वों (मद्य, मांस, आदि) अर्पित करता है वह कलि से बाँधा नहीं जाता, अर्थात् कलियुग से उसे कष्ट नहीं मिलता[32]। इसके उपरान्त दस अक्षरों वाला मन्त्र उद्घोषित हुआ है—' ह्रीं श्रीं क्रीं परमेश्वरी स्वाहा'[33], जिसके केवल श्रवण मात्र से व्यक्ति जीवन्मुक्त हो जाता है। इसके उपरान्त रहस्यपूर्ण बीजाक्षरों के विभिन्न मिलापों से तथा परमेश्वरी एवं कालिका के साथ संयोजन से १२ मन्त्र उपस्थित किये गये हैं (५।१८)। किन्तु इन मन्त्रों से तब तक सिद्धि नहीं प्राप्त हो पाती जब तक कुलाचार का ढंग न अपनाया जाय (अर्थात् मद्य, मांस आदि पंच तत्त्वों का प्रयोग परमावश्यक है)। इसके उपरान्त एक गायत्री मन्त्र कहा गया है (५।६२–६३) 'आद्यायै विद्महे परमेश्वर्यै धीमहि तन्नः काली प्रचोदयात्'। जिसे प्रतिदिन तीन बार कहना होता था। प्रकृति, महत्, अहंकार आदि सांख्य तत्त्वों को शक्ति-पूजा में समन्वित कर दिया गया है और 'हंसः शुचिषद्' (ऋ० ४।४०।५) नामक वैदिक मन्त्र को तान्त्रिक बीज 'ह्रीं' (५।१९७) के साथ रखा गया है।

मांस के पवित्रीकरण के लिए यह तन्त्र निर्देश करता है (५।२०६-२०८) और वहाँ ऋ० (१।२२।२०) के 'तद्विष्णोः परमं पदम्०' का प्रयोग होता है। **मत्स्य** के पवित्रीकरण में ऋ० (८।५९।१२) के 'त्र्यम्बकम्०' का प्रयोग

३२. सत्यत्रेताद्वापरेषु, यथा मद्यादिसेवनम्। कलावपि तथा कुर्यात् कुलवर्त्मानुसारतः॥ . . . कुलमार्गेण तत्त्वानि शोधितानि च योगिने। ये दधुः सत्यवचसे न हि तान् बाधते कलिः। महानिर्वाण तन्त्र ४।५६ एवं ६०।

३३. तन्त्र ग्रन्थों में मन्त्रों के बीजों के अक्षर घुमा-फिरा कर रहस्यवादी ढंग से रखे हुए हैं। 'ह्रीं' के प्राथमिक बीज के विषय में एक उदाहरण यहाँ उपस्थित किया जा रहा है। प्राणेशस्तैजसारूढो भेरुण्डा व्योमबिन्दुमान्। (महानिर्वाण ५।१०); यहाँ पर 'ह' प्राणेश है, 'र' तेजस है, 'ई' भेरुण्डा है, अनुस्वार व्योमबिन्दु है और इस प्रकार बीज 'ह्रीं' प्राप्त होता है। इसी प्रकार नित्याषोडशिका० (१।१६२-६४) में ह्रीं एवं क्रीं की व्याख्या हुई है। ह्रीं एवं श्रीं क्रम से माया (या भुवनेश्वरी) एवं लक्ष्मी के बीज हैं। देखिये मातृकानिघण्टु (तान्त्रिक टेक्ट्स, जिल्द १, ५-२२, जहाँ २६-३४ पृष्ठों में बीजनिघण्टु है, ३५-४५ पृष्ठों में मातृकानिघण्टु है, अर्थात् 'ओम्' एवं 'अ' से लेकर 'क्ष' के अक्षरों के लिए)। प्रत्येक बीज मन्त्र में अनुस्वार बिन्दु अवश्य रहेगा, यथा ह्रीं, श्रीं, क्रीं आदि।

होता है (५।२०६-२१०)। **मुद्रा** के लिए 'तद्विष्णो परमं०' एवं 'तद्विप्रासो०' (ऋ० १।२२।२०-२१) का प्रयोग होता है और वह देवी को अर्पित होती है। महानिर्वाणतंन्त्र (१८ वीं शती) का प्रणयन तब हुआ था जब शक्तिवाद का उपहास होता था और उसकी घोर निन्दा की जाती थी और तभी वह मर्यादा के भीतर है। इसमें आया है कि कुलीन स्त्रियों को मद्य की केवल **मद्य** लेनी चाहिए न कि पीना चाहिए, गृहस्थ साधक को केवल पाँच पात्र मद्य ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि अधिक पीने से कुलीन लोगों की सिद्धि की हानि होती है और उतना ही पीना चाहिए कि आँखें घूमने न लगें और मन अस्थिर न हो जाय[३४]। **मैथुन** के विषय में लिखा हुआ है कि साधक को केवल उसी नारी तक अपने को सीमित रखना चाहिए जिसका उसने शक्ति के रूप में वरण कर लिया है (६।१४), यदि उसकी पत्नी जीवित है तो उसे किसी अन्य का स्पर्श गन्दी भावना से नहीं करना चाहिए, नहीं तो वह नरक में पड़ेगा[३५]। तान्त्रिक आचारों के साथ-साथ पृथक् सम्मान की भावना से उत्प्रेरित हो कर महानिर्वाणतन्त्र ने आठवें अध्याय में वर्णाश्रमधर्मों, राजा के कर्तव्यों, सामान्य भृत्यों के कर्तव्यों के विषय में भी लिखा है और व्यवस्था दी है[३६] कि सभी वर्णों को अपने वर्ण के भीतर विवाह एवं भोजन करना चाहिए, किन्तु **भैरवीचक्र** एवं **तत्त्वचक्र** के सम्पादन में ऐसा नहीं है (८।१५०), क्योंकि उस समय सभी वर्णों के लोग उत्तम ब्राह्मणों के समान हैं और जाति-पंक्ति का भेदभाव एवं उच्छिष्ट (अर्थात् जूठा भोजन) आदि का अलगाव नहीं रहता। इसमें ऐसी व्यवस्था है कि जब तक साधक ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त न कर ले उसे तत्त्वचक्र के सम्पादन में संलग्न नहीं होना चाहिए। उस चक्र में तत्त्वों (मद्य, मांस आदि) का संग्रह करके देवी के समक्ष रखना चाहिए, ऋ० (४।४०।५) का 'हंसः' मन्त्र तत्त्वों पर पढ़ा जाना चाहिए, और तत्त्वों का परमात्मा के समक्ष समर्पण 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः०' (भगवद्गीता ४।२४=महानिर्वाण० ८।२१४) के साथ होना चाहिए और सभी साधकों को खाने-पीने में संलग्न होना चाहिए[३७]।

३४. अलिपानं कुलस्त्रीणां गन्धस्वीकारलक्षम्। साधकानां गृहस्थानां पञ्चपात्रं प्रकीर्तितम्। अतिपानात्कुलीनानां सिद्धिहानि प्रजायते। यावन्न चालयेद् दृष्टिं यावन्न चालयेन्मनः। तावत्पानं प्रकुर्वीत पशुपानमतः परम्॥ महानिर्वाण० (६।१६४)। पात्र सोना या चाँदी या शीशा या नारियल का हो सकता है किन्तु उसमें पाँच तोलकों (तोलों) से न अधिक और न तीन तोलकों से कम अटना चाहिये : 'पानपात्रं अकुर्वीत न पञ्चतोलकाधिकम्। तोलकत्रितयान्न्यून स्वार्णं राजतमेव च। अथवा काचजनितं नारिकेलोद्भवं च वा। महानिर्वाण० (६-१८७-१८८)। मिलाइये कौलावलीनिर्णय (८।५५-५६)।

३५. स्थितेषु स्वीयदारेषु स्त्रियमन्यां न संस्पृशेत्। दुष्टेन् चेतसा विद्वानन्यथा नारकी भवेत। महानिर्वाण तन्त्र (८।४०)।

३६. संप्राप्ते भैरवीचक्रे सर्वे वर्णा द्विजोत्तमाः। निवृत्ते भैरवीचक्रे सर्वे वर्णाः पृथक् पृथक्॥ नामजातिविचारोस्ति नोच्छिष्टादिविवेचनम्। चक्रमध्ये गता वीरा मम रूपा नाराख्यया॥ चक्राद्विनिसृता सर्वे स्वस्ववर्णाश्रमोदितान्। लोकयात्राप्रसिद्धयर्थं कुर्युः कर्म पृथक् पृथक्॥ महानिर्वाण (८।१७६-१८०, १९७) 'प्रवृत्ते भैरवीचक्रे... पृथक्' कौलावलीनिर्णय (८।४८-४६) में आया है। भैरवीचक्र एवं तत्त्वचक्र क्रम से महानिर्वाण० के (८।१५४-१७६) में एवं (८।२०८-२१६) में आये हैं।

३७. ततो ब्राह्मेण मनुना समर्प्य परमात्मने। ब्रह्मज्ञैः साधकैः सार्धं विदध्यात्पानभोजनम्॥ महानिर्वाण० (८।२१६) 'मनु' अधिकतर 'मन्त्र' के 'अर्थ' में प्रयुक्त हुआ है, देखिये कुलार्णव (१२।१८), वृद्धहारीतस्मृति (६।१६१, १६३) 'मन्त्र' एवं 'मनु' दोनों एक ही धातु 'मन्' (सोचना-विचारना) से निकले हैं। ब्राह्म-मनु है 'ओं सच्चिदेकं ब्रह्म'।

९ वें अध्याय में गर्भाधान से लेकर विवाह तक के दस संस्कारों का तीन वर्णों के लिए उल्लेख है और ९ संस्कार (उपनयन को छोड़कर) शूद्रों के लिए व्यवस्थित हैं; इन सभी में धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों की भाँति वैदिक मन्त्रों का विधान किया गया है। एक मनोरंजक बात यह है कि यहाँ **शैव विवाह** का उल्लेख है। **शैव विवाह** के दो प्रकार हैं, एक में चक्र के नियमों के अनुसार विवाह होता है और दूसरे में जीवन भर का विवाह होता है। शैव विवाह में वर्ण एवं अवस्था की बात नहीं उठती; और यदि किसी के पास ब्राह्म विवाह वाली पत्नी से उत्पन्न पुत्र हों और शैव विवाह से भी पुत्र हों तो पहले वाले ही उत्तराधिकार प्राप्त करते हैं और दूसरे वाले केवल भोजन-वस्त्र के अधिकारी होते हैं (९।२६१--२६४)। महानिर्वाणतन्त्र के अध्याय १०, ११ एवं १२ में श्राद्धों, प्रायश्चित्तों एवं व्यवहार (कानून) की चर्चा है।

अब हम ११ वीं शती के तन्त्र-ग्रन्थ शारदातिलक का उल्लेख करेंगे। इसमें २५ पटल एवं ४५०० श्लोक हैं। इसके आरम्भ में कुछ दुर्बोध एवं आच्छन्न दर्शन है। इसमें आया है कि शिव **निर्गुण** एवं **सगुण** दोनों हैं, जिनमें प्रथम प्रकृति से भिन्न और दूसरा प्रकृति से सम्बन्धित है। इसके उपरान्त इसमें सृष्टि के विकास एवं अभिव्यक्ति का निदर्शन है। **सगुण परमेश्वर** से, जो 'सच्चिदानन्दविभव' कहा जाता है, **शक्ति** का उद्भव होता है[३८]; शक्ति से **नाद** (पर) की उत्पत्ति होती है, नाद से **बिन्दु** (पर) का उद्भव होता है, बिन्दु तीन भागों में विभक्त है यथा—बिन्दु (अपर), नाद (अपर) एवं बीज; प्रथम का शिव से तादात्म्य है, बीज शक्ति है और नाद दोनों अर्थात् शिव एवं शक्ति का सम्मिलन है। शक्ति लोकों की सृष्टि करती है, वह शब्द-ब्रह्म है (१।५६) और पराशक्ति (१।५२) एवं परदेवता (१।५७) कही जाती है। वह **आधारचक्र**[३९] में बिजली के समान चमकती है।

३८. शारदातिलक के विद्वान् टीकाकार राघवभट्ट ने, जिन्होंने अपनी टीका बनारस (आधुनिक वाराणसी) में विक्रम संवत् १५५० (१४९४ ई०) में लिखी, व्याख्या की है कि सांख्य पद्धति से शक्ति को प्रकृति वेदान्त में माया एवं शिवतन्त्रों में शक्ति कहा गया है।

३९. देखिये षट्चक्रनिरूपण (तान्त्रिक टेक्ट्स, जिल्द २, आर्थर एवालोन द्वारा सम्पादित) श्लोक ४-४९, दक्षिणामूर्तिसंहिता (७।११-१६) जहाँ चक्रों का उल्लेख है। और देखिये 'सर्पेण्ट पावर' (ए० एवालोन द्वारा सम्पादित, १९५३) जिसमें षट्चक्र निरूपण का अंग्रेजी अनुवाद है, जिसमें प्लेट १ में ६ चक्रों की स्थितियाँ प्रदर्शित हैं, वे पद्म भी कहे जाते हैं। प्लेट सं० २ से ७ तक (पृ० ३५६, ३६५, ३७०, ३८२, ३९२, ४१४) मूलाधार से आज्ञा के चक्रों को उनके रंगों, दलों, अक्षरों एवं देवताओं की संख्या, आदि के साथ प्रदर्शित करते हैं। ये ऐसे चित्र हैं जो योगियों द्वारा प्रयोग में लाये जाते हैं। पृष्ठ ४३० पर आठवाँ प्लेट 'सहस्रार' प्रदर्शित करता है। देखिये सी० डब्ल्यू० लेडबीटर का ग्रन्थ 'दि चक्रज' (आधार, १९२७) जिसमें लेखक का ऐसा कहना है कि ये चक्र वैसे ही हैं जैसा कि वे देखने वाले को दीख पड़ते हैं और पृष्ठ ५६ में लेखक ने कमल के दलों के रंगों की सूची प्रदर्शित की है जिसे लेडबीटर एवं उनके मित्रों ने निरीक्षित कर रखा है और जो षटचक्रनिरूपण, शिवसंहिता एवं गरुड़पुराण में उल्लिखित है। रुद्रयामल (१७ वाँ पटल, श्लोक १०) ने कुण्डली का उल्लेख 'अथर्ववेदचक्रस्था कुण्डली परदेवता' के समान किया है। श्लोक २१-२४ में आया है कि कुण्डलिनी मूलाधार चक्र को पार करती हुई मस्तक में पहुँचती है जहाँ सहस्रदल होते हैं और जब शिव से एकाकार हो जाता है तो साधक वहाँ अमृत पान करता है। रुद्रयामल (२७।५८-७०) ने छह चक्रों, दलों के साथ सहस्रार और प्रत्येक के अक्षरों का वर्णन विस्तार के साथ किया है। यहाँ पर एक सख्त सावधानी अवश्य दी जानी चाहिए जिससे कि कोई केवल पुस्तकों को पढ़कर

शक्ति मानव शरीर में **कुण्डलिनी** का रूप धारण करती है। शम्भु से **बिन्दु** के रूप में क्रम से सदाशिव, ईश, रुद्र, विष्णु, ब्रह्मा उदित होते हैं; अव्यक्त **बिन्दु** से क्रम से सांख्य पद्धति में उल्लिखित महत्-तत्त्व, अहंकार तथा अन्य तत्त्व उद्भूत होते हैं। शक्ति विभु (सभी स्थानों में रहने वाली) है, तब भी अत्यन्त सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है, वह सर्प की कुण्डली या कुण्डलिनी के समान है और संस्कृत वर्णमाला के ५० (अ से क्ष तक) अक्षरों के रूप में अभिव्यक्त होती है।

आगे कुछ कहने के पूर्व अब हम ६ चक्रों के विषय में विवरण उपस्थित करेंगे, क्योंकि कतिपय तन्त्रों में यह एक महत्त्वपूर्ण भाग है। मानव शरीर में, ऐसा कहा गया है, ६ चक्र होते हैं, यथा—**आधार** या **मूलाधार** (सुषुम्ना के आधार पर), **स्वाधिष्ठान** (जननेन्द्रिय के पास), **मणिपुर** (नाभि के पास), **अनाहत** (हृदय के पास), **विशुद्ध** (गले के पास) एवं **आज्ञा** (भौंहों के बीच में)। इनके अतिरिक्त, मस्तक के (ललाट के) भीतर सहस्रदल के बीज-कोश के रूप में **ब्रह्मरन्ध्र** है। चक्रों को बहुधा लोग आधुनिक शरीर-विज्ञान द्वारा प्रदर्शित स्नायुओं के गुच्छों के समान मानते हैं, किन्तु बात वास्तव में ऐसी है नहीं। संस्कृत ग्रन्थों में जिस कुण्डलिनी एवं चक्रों का वर्णन है वे स्थूल देह से सम्बन्धित नहीं हैं, प्रत्युत वे सूक्ष्म देह में अवस्थित होते हैं। धारणा यह है कि कुण्डलिनी शक्ति ('कुण्डलिनी' का अर्थ संस्कृत में सर्प होता है) मूलाधार-चक्र में सर्प के समान कुण्डली मारकर सोयी रहती है, उसे योग के साधनों एवं गम्भीर ध्यान से जगाना होता है[४०]। शारदातिलक ने साधक से कुण्डलिनी पर ध्यान करने को

चक्रों पर प्रयोग करना आरम्भ न कर दे और न कुण्डलिनी ही जगाना आरम्भ कर दे। यह सब योग के ज्ञाता के निर्देशों के अनुसार ही किया जा सकता है, नहीं तो भयंकर परिणाम भुगतने पड़ सकते हैं। प्राणायाम, धारणा की त्रुटिमय विधियों के विषय में वायुपुराण (११।३७-६०) में आया है कि अज्ञानी द्वारा योगसाधना करने पर भयंकर परिणाम उत्पन्न हो सकते हैं, यथा—बुद्धि-क्षीणता, बहरापन, गूंगापन, अन्धापन, स्मृतिक्षीणता, पहले से बुढ़ौती का आगमन एवं रोग। इन दोषों को दूर करने के लिए इस पुराण ने औषधियाँ भी बतायी हैं।

४०. देवीभागवत (११।१।४३) में आया है: 'आधारे लिंगनाभिप्रकटितहृदये तालुमूले ललाटे द्वे पत्रे षोडशारे द्विदशदशदलद्वादशार्धे चतुष्के। नासान्ते बालमध्ये डफकठसहिते कण्ठदेशे स्वराणां हं क्षं तत्त्वार्थयुक्तं सकलदलगतं वर्णरूपं नमामि ॥' जब कुण्डलिनी सहस्रार में पहुँचती है तो उसमें अमृत बहने लगता है, यह ४७ वें श्लोक में आया है: 'प्रकाशमानां प्रथमे प्रयाणे प्रतिप्रयाणेप्यमृतायमानाम्।अन्तः पदव्यामनुसञ्चरन्तीमानन्दरूपामबलां प्रपद्ये॥' मूलोन्निद्रभुजंगराजमहिषीं यान्तीं सुषम्नान्तरं। भित्त्वाधारसमूहमाशु विलसत्सौदामिनीसन्निभाम् ॥ व्योमाम्भोजगतेन्दुमण्डलगलद् दिव्यामृतौघप्लुतां सम्भाव्य स्वगृहं गतां पुनरिमां सञ्चिन्तयेत्कुण्डलीम् ॥ शारदा० २५।६५; देखिये वही, २५।७८ जहाँ पर ६ चक्रों के रंगों का उल्लेख है। श्लोक ६५ में मूल एवं स्वगृह का अर्थ है मूलाधारचक्र और भुजंगराजमहिषी का अर्थ है कुण्डलिनी। देखिये षट्चक्रनिरूपण, श्लोक ५३ जहाँ सहस्रारपद्म में कुण्डलिनी पर अमृत-धार बहने का उल्लेख है। और देखिये मन्त्रमहोदधि (४।१६-२५), ज्ञानार्णवतन्त्र (२४।४५-५४), महानिर्वाणतन्त्र (५।११३-११५) जहाँ चक्रों में दलों की संख्या, उनके रंगों, प्रत्येक के अक्षरों का उल्लेख है, और जहाँ चक्रों का पाँचों तत्त्वों एवं मन से तादात्म्य प्रदर्शित है। सौन्दर्यलहरी (श्लोक ९) में भी आया है: 'महीं मूलाधारे... सहस्रारे पद्मे सह रहसि पत्या विरहसे।' इसमें भी ६ चक्रों को ५ तत्त्वों एवं मन के समान कहा गया है। पंडित गोपीनाथ कविराज ने 'सरस्वतीभवन स्टडीज' (जिल्द २, पृ० ८३-९२) में गोरक्षनाथ के मतानुसार चक्र पद्धति का उल्लेख किया है। रुद्रयामल (३६।६-१६८) ने कुण्डलिनी के १००८ नामों का उल्लेख किया है जिनमें प्रत्येक 'क' अक्षर से आरम्भित है।

कहा है, जो जग जाने पर सुषुम्ना नाड़ी (जो रीढ़ की हड्डी के केन्द्र में होती है) द्वारा मूलाधार-चक्र को पार करती हुई, ६ चक्रों से होकर सहस्रार चक्र में शिव से मिल जाती है और पुनः मूलाधार में आ जाती है। ६ चक्रों में प्रत्येक के दलों की कुछ निश्चित संख्या होती है, यथा ४, ६, १०, १२, १६ एवं २ (कुल ५० दल) जो क्रम से मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध एवं आज्ञा के लिए व्यवस्थित हैं (देखिए रुद्रयामल, १७ वाँ पटल, श्लोक ५५–५६)। वर्णमाला के अक्षर भी ५० हैं (अ से क्ष तक) और वे ६ चक्रों के दलों में निर्धारित हैं, यथा––'ह' एवं 'क्ष' **आज्ञा** के लिए, १६ स्वर गले में **विशुद्ध** के लिए, 'क' से 'ठ' तक (कुल १२) **अनाहत** के लिए, 'ड' से 'फ' तक (कुल १०) **मणिपुर** के लिए, 'ब' से 'ल' तक (कुल ६) **स्वाधिष्ठान** के लिए तथा 'व' से 'स' तक (कुल ४) **मूलाधार** के लिए निर्धारित हैं। कुछ तन्त्रों में ६ चक्रों के रंगों का भी उल्लेख है और वे ५ तत्त्वों एवं मन के सदृश कहे गये हैं। योग एवं तन्त्र की ये परिकल्पनाएँ प्राचीन उपनिषद्सम्बन्धी सिद्धान्तों के विकास मात्र हैं[४१]।

अक्षरों से शब्द बनते हैं, शब्द मन्त्रों का निर्माण करते हैं और मन्त्र **शक्ति** के अवतार होते हैं। इसके उपरान्त शारदातिलक ने आसन, मण्डप, कुण्ड, मण्डल, पीठों (जिन पर देवों की प्रतिमाएँ रखी जाती हैं), दीक्षा, प्राणप्रतिष्ठा (मूर्तियों में प्राण डालना), यज्ञिय अग्नि की उत्पत्ति का उल्लेख किया है। शारदातिलक (१।१०६ एवं ५।८१-६१), वरिवस्यारहस्य (२।८०), परशुरामकल्पसूत्र (१।४, 'षट्-त्रिंशत् तत्त्वानि विश्वम्') तथा अन्य तान्त्रिक एवं आगमिक ग्रन्थों ने ३६ तत्त्वों (जिनमें सांख्य के तत्त्व भी सम्मिलित हैं) का उल्लेख किया है। ७ वें अध्याय से २३ वें अध्याय तक विभिन्न देवों के मन्त्रों, उनके निर्माण, प्रयोग एवं परिणामों, अभिषेकों एवं मुद्राओं की चर्चा है। २४ वें अध्याय में मन्त्रों एवं २५ वें में योग का वर्णन है। शारदातिलक की विशेषता यह है कि इसमें केवल मन्त्रों एवं मुद्राओं का ही उल्लेख है, कदाचित् ही कहीं अन्य मकारों की चर्चा है। गोविन्दचन्द्र, रघुनन्दन, कमलाकर, नीलकण्ठ, मित्रमिश्र आदि मध्यकाल के धर्मशास्त्रकारों ने शारदातिलक को प्रामाणिक तन्त्र के रूप में उद्धृत किया है। महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज ने एक विद्वत्तापूर्ण निबन्ध (जर्नल आव् दि गंगानाथ झा

४१. उपनिषदों के काल से ही हृदय की उपमा कमल से दी जाती रही है और ऐसा आया है : "हृदय की १०१ नाड़ियाँ हैं, इनमें एक ललाट में प्रविष्ट होती है; इसके द्वारा व्यक्ति (जो मुक्त हो चुका है) ऊपर उठता हुआ अमरत्व को प्राप्त करता है"। देखिये, 'अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति। छा० उप० (८।१।१); तदेष श्लोकः। शतं चैका हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति। छा० उप० (८।६।६)। कठोप० (६।१६) में भी 'शतं चैका' वाला श्लोक आया है। मिलाइये प्रश्नोप० (३।६) जहाँ ऐसा ही वक्तव्य किया गया है। और मिलाइये वे० सू० (३।२।७) 'तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च' एवं ४।२।१७; शंकराचार्य ने वे० सू० (४।२।७) के भाष्य में 'शतं चैका' को उद्धृत किया है। मिताक्षरा (याज्ञ० ३।१०८–१०६) ने इडा, पिंगला, सुषुम्ना एवं ब्रह्मरन्ध्र का उल्लेख किया है और रुद्रयामल (६।४६) ने दस नाड़ियों का उल्लेख कर इड़ा आदि को सोम, सूर्य एवं अग्नि कहा है। मैत्र्युपनिषद् (६।२१) में आया है: 'अथान्यत्राप्युक्तम्। ऊर्ध्वगा नाडी सुषुम्नाख्या प्राणसंचारिणी ताल्वन्तर्विच्छिन्ना। कभी-कभी 'सुषुम्णा' भी लिखा जाता है। बृह० उप० (२।१।१६) ने ७२००० नाडियों का उल्लेख किया है जो हृदय से उभरकर पुरीतत् की ओर जाती हैं। और देखिये याज्ञ० (३।१०८), जहाँ यही बात कही गयी है।

४

रिसर्च इंस्टीच्यूट, इलाहाबाद, जिल्द ३, पृ० ८७–१०८) **नाद, बिन्दु** एवं **कला** पर लिखा है और बड़ी तत्परता के साथ इनका तात्पर्य समझाया है और आशा की है कि उनका विश्लेषण इन शब्दों के अर्थ को स्पष्ट कर देगा (पृ० १०३)। फिर भी सम्भवतः उनका विश्लेषण इतना स्पष्ट नहीं हो पाया है कि शब्दों की व्याख्या स्पष्ट हो सके।

बहुत-से तन्त्र पंच मकारों को देवी की पूजा का साधन मानते हैं, जिनके द्वारा मनुष्य अलौकिक शक्तियाँ पाता है और अन्त में मुक्ति का अधिकारी होता है। कुलार्णव में आया है—'महात्मा भैरव ने व्यवस्था दी है कि कौलदर्शन में सिद्धि (पूर्णता) इन्हीं द्रव्यों से प्राप्त होती है, जिनके करने से सामान्यजन पाप के भागी होते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि कौल दर्शन विष को विष से मारता है, जैसा आधुनिक होमियोपैथी में पाया जाता है[४२]।

तन्त्रों को यह बात ज्ञात थी कि मुक्ति के लिए पंच मकारों की व्यवस्था करते हुए वे अग्नि से खिलवाड़ कर रहे हैं। स्वयं कुलार्णव में आया है (२।११७–११९ एवं १२२)—'यदि मद्य पीने मात्र से सिद्धि प्राप्त हो जाती है तो सभी दुष्ट मद्यपों को सिद्धि प्राप्त हो जानी चाहिए। यदि मांस खा लेने से ही पवित्र लक्ष्य की प्राप्ति हो जाय तो सभी मांसाहारी व्यक्ति इस विश्व में पवित्र हो जायें। यदि केवल नारी (शक्ति) के साथ संभोग करने से ही मोक्ष प्राप्त होता हो तो संसार में सभी लोग मुक्ति पा जायें। कुलमार्ग का अनुसरण करना बड़ा कठिन है, यह तलवार की धार पर चलने से, व्याघ्र की गर्दन पर बैठने से तथा हाथ से साँप को पकड़ लेने से अधिक भयंकर है'। उपर्युक्त बातों के प्राक्कथन के रूप में कुलार्णव में आया है—'बहुत-से लोग, जो परम्परागत ज्ञान से शून्य हैं और त्रुटिपूर्ण विचारों से शास्त्र का अतिक्रमण करते हैं (उसे अपवित्र करते हैं), वे अपने खोखले ज्ञान का सहारा लेकर ऐसी कल्पना करते हैं कि कौलिक सिद्धान्त ऐसा है, वैसा है' (२।११६)।

देवीभागवत (११।१।२५) में आया है कि तन्त्र का वह भाग जो वेद के विरोध में नहीं पड़ता, प्रामाणिक है, (वेदाविरोधिचेत् तन्त्रं तत् प्रमाणं न संशयः) इसमें कोई संशय नहीं है। किन्तु जो अंश वेदविरोधी है, वह अप्रामाणिक है।

हिन्दू तन्त्रों एवं बौद्ध तन्त्रों में साधकों को लेकर महान् विरोध रहा है। शक्तिसंगमतन्त्र में, जो अत्यन्त प्रचलित एवं विशाल तन्त्रों में एक है, ऐसा आया है कि बौद्धों व अन्य पाषण्डियों के नाश, विभिन्न सम्प्रदायों के विरोधी मिश्रण को दूर करने, सच्चे सिद्धान्त की स्थापना, ब्राह्मणों की रक्षा तथा मन्त्रशास्त्र की सिद्धि के लिए देवी आविर्भूत होती हैं। इसी प्रकार बौद्ध तन्त्रों ने भी प्रत्युत्तर दिया है।

४२. यैरेव पतनं द्रव्यैः सिद्धिस्तैरेव चोदिता। श्रीकौलदर्शने चापि भैरवेण महात्मना।। कुलार्णव० (५।४८); देखिये ज्ञानसिद्धि (बौद्ध तन्त्र, १।१५): 'कर्मणा येन वै सत्त्वाः कल्पकोटि-शतान्यपि। पच्यन्ते नरके घोरे तेन योगी विमुच्यते।।' और मिलाइये प्रज्ञोपाय० (बौद्ध, ५, पृ० २३, श्लोक २४–२५): 'जनयित्रीं स्वसारं च स्वपुत्रीं भागिनेयिकाम्। कामयन् तत्त्वयोगेन लघु सिध्येत साधकः।।' (दोनों ग्रन्थ, 'टू वज्रयान टेक्ट्स, गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज़)। बागची (स्टडीज इन तन्त्रज, पृ० ३६–३७) ने प्रदर्शित किया है कि कुछ तान्त्रिक ग्रन्थों के मतानुसार 'जनयित्री', 'स्वसृ' एवं 'भागिनेयी' शब्द गूढ़ार्थात्मक हैं, उनका कोई सामान्य अर्थ नहीं है। किन्तु दो वज्रयान ग्रन्थों में ये जिस संदर्भ में प्रयुक्त हुए हैं, उससे यह मानना कठिन है कि वे किसी गूढ़ या अलौकिक या प्रतीक रूप में प्रयुक्त हैं।

संक्षेप में बौद्ध तन्त्रों, विशेषतः वज्रयान के विषय में कुछ शब्द लिख देना अनावश्यक न होगा। यह हमने बहुत पहले (गत अध्याय–२४ में) देख लिया है कि हीनयान या महायान दोनों प्रकार के बौद्धों के लिए कुछ कठोर नियमों एवं रीतियों का पालन आवश्यक था, यथा पंचशीलों का पालन, बुद्ध, धर्म एवं संघ की शरण जाना तथा (भिक्षुओं के लिए) दशशीलों का पालन। निर्वाण की प्राप्ति (विशेषतः महायान, सिद्धान्त के अन्तर्गत) लम्बी अवधि या कतिपय जन्मों के उपरान्त होती है। मद्य, मांस, मत्स्य एवं स्त्रियाँ वर्जित थीं, सामान्य लोग, सम्भवतः भिक्षु भी कठोर नियमों एवं लक्ष्य की लम्बी अवधि को जोहते-जोहते थक गये थे। बौद्ध तन्त्रों ने, विशेषतः गुह्यसमाज० (वज्रयान सम्प्रदाय का तन्त्र ग्रन्थ) ने एक सरल विधि निकाली, जिसके द्वारा थोड़े समय में निर्वाण, यहाँ तक कि बुद्धत्व भी,[४३] केवल एक ही जीवन में प्राप्त हो सकता था, और यह भी दृढ़तापूर्वक घोषित किया कि बोधिसत्त्वों एवं बौद्धों ने धर्म का आसन सर्वकामों के उपसेवन से ही प्राप्त किया[४४]। 'वज्र' शब्द के दो अर्थ होते हैं—'हीरक' (हीरा) एवं 'मेघगर्जन' (मेघध्वनि)। गुह्यसमाज में प्रथम अर्थ मुख्य रूप से लिया गया है, किन्तु दूसरा अर्थ भी थोड़ा-बहुत लिया गया है। वज्र उस वस्तु का द्योतक है जो हीरा के समान कठोर हो। गुह्यसमाज-तन्त्र में 'वज्र' शब्द अकेले या सामासिक रूप में सैकड़ों बार आया है। 'काय' (शरीर), 'वाक्' (वाणी) एवं 'चित्त' (मन) 'त्रिवज्र' कहे गये हैं (गुह्य० पृ० ३१, ३५, ३६, ४३)। कतिपय अन्य पदार्थ[४५] भी वज्र कहे गये हैं, यथा—**शून्य** (माध्यमिक सम्प्रदाय का परम तत्त्व), **विज्ञान** (चेतना), जो योगाचार सम्प्रदाय के अनुसार परम तत्त्व है तथा **महासुख** जिसे शाक्तों ने जोड़ दिया है। शाक्तों की रहस्यवादी भाषा में यह पुरुषेन्द्रिय भी कहा गया है। यद्यपि आरम्भिक बौद्ध नियम अहिंसा पर बल देते थे, किन्तु गुह्यसमाज० ने कई प्रकार के मांसों के

४३. तदिहैव जन्मनि गुह्यसमाजाभिरतो बोधिसत्त्वः सर्वतथागतां बुद्ध इति संख्यां गच्छति। गुह्यस० (पृ० १४४); देखिये ज्ञानसिद्धि (१।४) : 'ये तु सत्त्वाः समारूढाः सर्वसंकल्पवर्जिताः। ते स्पृशन्ति परां बोधिं जन्मनीहैव साधकाः॥ और देखिये प्रज्ञोपाय० (५।१६)।

४४. सर्वकामोपभोगैश्च सेव्यमानैर्यथेच्छतः। अनेन खलु योगेन लघु बुद्धत्वमाप्नुयात्॥ दुष्करैर्नियमैस्तीव्रैः सेव्यमानो न सिध्यति॥ ... बुद्धाश्च बोधिसत्त्वाश्च मन्त्रचर्याप्रचारिणः। प्राप्ता धर्मासनं श्रेष्ठं सर्वकामोपसेवनैः॥ गुह्यस० (७ वाँ पटल, पृ० २७)।

४५. देखिये विन्तरनित्ज का ग्रन्थ 'हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर' (जिल्द १, पृ० ३८८) जहाँ 'वज्र' शब्द के कई अर्थ प्रकट किये गये हैं। यह द्रष्टव्य है कि ज्ञानसिद्धि (२।११, बौद्ध ग्रन्थ) में आया है—'स्त्रीन्द्रियं च यथा पद्मं वज्रं पुंसेन्द्रियं तथा॥' शून्यता वज्र कहलाती है क्योंकि यह 'दृढसारमसौ (सं?) शौर्यमच्छेद्याभेद्यलक्षणम्। अदाहि अविनाशि च शून्यता वज्रमुच्यते॥' अद्वयवज्रसंग्रह (गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज, पृ० २३, ३७)। यह कुछ-कुछ ब्रह्म एवं आत्मा के सिद्धान्त के समान है, जो भगवद्गीता (२।२३–२५) में पाया जाता है (नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, आदि)। ज्ञानसिद्धि (पृ० ७६) ने व्याख्या की है—'सर्वसत्त्वेषु महाकरुणा प्रमाणानुगतं बोधिचित्तं वज्र इत्यर्थः' अर्थात् 'वज्र' एवं 'बोधिचित्त' (सम्बुद्धता या सम्बोधि) समानार्थक हैं। न द्वयं नाद्वयं शान्तं शिवं सर्वत्र संस्थितम्। प्रत्यात्मवेद्यमचलं प्रज्ञोपायमनाकुलम्॥ प्रज्ञोपाय० (१।२०); प्रज्ञापारमिता सेव्या सर्वथा मुक्तिकांक्षिभिः।... ललनारूपमास्थाय सर्वत्रैव व्यवस्थिता। अतोऽर्थं वज्रनाथेन प्रोक्ता बाह्यार्थसम्भवा॥ प्रज्ञोपाय० (५।२२–२३)।

प्रयोग की अनुमति दे रखी है, यथा—हाथी, घोड़ा, कुत्ते का मांस, यहाँ तक कि मानव मांस भी[४६]। आरम्भिक बौद्ध धर्म ने सत्यता एवं ब्रह्मचर्य पर बल दिया; वज्रयान ने, जो एक नये ढंग का विरोध-प्रकार था, पशुओं की हत्या, असत्य भाषण, स्त्रियों के साथ संभोग (यहाँ तक कि माता, बहन एवं पुत्री के साथ भी) तथा परद्रव्यग्रहण की अनुमति दे दी[४७]। यह था वज्रमार्ग, जो सभी बौद्धों के लिए सिद्धान्त-सा घोषित था।

वज्रयान-पद्धति द्वारा प्राप्त स्थिति का उल्लेख 'प्रज्ञोपाय०' (१।२०) में हुआ है—'यह न तो द्वयता है और न अद्वयता, यह शान्त (शान्ति से भरपूर) है, शिव (कल्याणमय) है, सर्वत्र पाया जाने वाला है, अपनी आत्मा से ही जाना जाने वाला है, अचल है, आकुलतारहित है, प्रज्ञा (ज्ञान) एवं उपाय (करुणा के साथ कर्म) से परिपूर्ण है'। इसमें पुनः आया है (५।२२-२३)—'उनके द्वारा, जो मुक्ति की कांक्षा रखते हैं तथा ज्ञान की पूर्णता चाहते हैं, यह सेवित होने योग्य है। यह ज्ञान की सिद्धि ललना (स्त्री) के रूप में सभी स्थानों में अवस्थित है। प्रज्ञा का सम्बन्ध महासुख से है (प्रज्ञोपाय०, १।२७)—'अनन्त सुख देने के कारण यह महासुख कही जाती है, यह सभी प्रकार से हितकर है और अत्यन्त श्रेष्ठ है, इससे पूर्ण सम्बोधि प्राप्त होती है'। 'यह बुद्ध ज्ञान, जो अपनी अन्तरात्मा द्वारा ही जाना जा सकता है, महासुख कहलाता है, क्योंकि यह सभी आनन्दों से उत्कृष्ट है (ज्ञानसिद्धि ७।३)। 'प्रज्ञा' शब्द स्त्रीलिंग है अतः कुछ वज्रयान-लेखकों ने इसे स्त्री से संयोजित माना है; कामुक प्रतीकवाद एवं असुगम समानताओं द्वारा स्त्री-सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव किया गया।

डा० एच० वी० गुयेन्थर ने 'युगनद्ध' नामक एक ग्रन्थ प्रकाशित किया है, जिसमें तान्त्रिक दृष्टिकोण पर आधारित जीवन की उद्घोषणा की गयी है। डा० गुयेन्थर ने उस ग्रन्थ (१६० पृष्ठों) में यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि बौद्ध तान्त्रिक लोग जीवन को सम्पूर्णता में लाना चाहते हैं, जो कि न तो विषयों के प्रति आसक्ति है और न अनासक्ति और न पलायन; प्रत्युत है जीवन के कठोर सत्यों के प्रति पूर्ण समझौता। तन्त्रों का काम-सम्बन्धी स्वरूप केवल दर्शन (शास्त्र) के ज्ञानवाद एवं बुद्धिवाद (तर्क-विवेकवाद) के एकपक्षीय स्वरूप का संशोधन मात्र है, क्योंकि दर्शन प्रतिदिन के जीवन की समस्याओं का समाधान करने में समर्थ नहीं है और युगनद्ध का प्रतीक पुंसत्व एवं स्त्रीत्व स्थूल सत्य एवं प्रतीकात्मक सत्य तथा ज्ञान एवं मानवता की पूर्ण व्याख्या

४६. मांसाहारादिकृत्यार्थं महामांसं प्रकल्पयेत्। ...हस्तिमांसं हयमांसं श्वानमांसं तथोत्तमम्। भक्षेदाहारकृत्यार्थं न चान्यत्तु विभक्षयेत्। प्रियो भवति बुद्धानां बोधिसत्त्वश्च धीमताम्। अनेन खलु योगेन लघु बुद्धत्वमाप्नुयात्। गुह्यसमाज० (छठा पटल, पृ० २६); देखिये इन्द्रभूति द्वारा लिखित ज्ञानसिद्धि (१।१२-१४), जहाँ ऐसे ही पद आये हैं—प्राणिनश्च त्वयाघात्या वक्तव्यं च मृषा वचः। अदत्तं च त्वया ग्राह्यं सेवनं योषितामपि॥

४७. अनेन वज्रमार्गेण वज्र सत्त्वान् प्रचोदयेत्। एषोहि सर्वबुद्धानां समयः परम शाश्वतः॥ गुह्यस० (१६ वाँ पटल, पृ० १२०); ये पर द्रव्याभिरता नित्यं कामरताश्च ये।...मातृभगिनी पुत्रीश्च कामयेद्यस्तु साधकः। स सिद्धिं विपुलां गच्छेत् महायानाग्रधर्मताम्। गुह्यस० (५ वाँ पटल, पृ० २०); 'सर्वाङ्गकुत्सितायां वा न कुर्यादवमाननाम्। स्त्रियं सर्वकुलोत्पन्नां पूजयेद् वज्र धारिणीम्॥ चाण्डाल कुल सम्भूतां डोम्बिकां वा विशेषतः। जुगुप्सितकुलोत्पन्नां सेवयन् सिद्धिमाप्नुयात्। ज्ञानसिद्धि (१।८० एवं ८२)। और देखिये डा० गुयेन्थर (युगनद्ध, पृ० १०६-१०६), जिन्होंने इसकी तथा इसके समान प्रज्ञोपाय० (५।२५) के वचन की व्याख्या की है। देखिये डा० एस० बी० दास-गुप्त का ग्रन्थ 'इण्ट्रोडक्शन टु तान्त्रिक बुद्धिज्म', पृ० ११४।

कर लेता है और उनकी विलक्षण समरसता का द्योतन करता है। यहाँ पर इस ग्रन्थ का निष्कर्ष उपस्थित करना एवं उसकी आलोचना करना सम्भव नहीं है। वज्रयान तन्त्रों के सिद्धान्त का मूल यहाँ पाद-टिप्पणियों (संख्या ४३, ४४, ४६ एवं ४७) में उद्धृत है। तर्क यह है—इन तन्त्रों के अनुसार पूर्णता का प्रत्यक्षीकरण सभी मानवीय अनुभूतियों में अत्यन्त आनन्ददायक अनुभूति है, और मनुष्य की अनुभूति तब तक पूर्ण नहीं हो सकती और केवल एकपक्षीय रहेगी जब तक कि उसे स्त्रीत्व की अनुभूति न हो जाय अर्थात् स्त्री के सभी कुछ की अनुभूति न हो जाय। वह अपने कुल के सभी स्त्री-सदस्यों से स्त्रीत्व की अनुभूति प्राप्त कर सकता है। अतः, जैसा कि डा० गुयेन्थर का कथन है, इस पर आश्चर्य नहीं प्रकट करना चाहिए कि 'इस अनुभूति में अगम्यगामी रूप पाया जाता है'। इसके उपरान्त डा० गुयेन्थर ने (पृ० १०६-११२) बड़े विस्तार के साथ अपने मन्तव्य की व्याख्या की है, जो प्रस्तुत लेखक की बुद्धि एवं सामर्थ्य के परे की बात है। डा० गुयेन्थर आज के मनोवैज्ञानिकों, विशेषतः डा० सिगमण्ड फ्राएड की अत्याधुनिक विचारधाराओं से प्रभावित हैं और यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि आठवीं शती के बौद्ध लेखक, यथा अनंगवज्र एवं इन्द्रभूति, आज के चित्त-विश्लेषकों की भाँति मानसिक जीवन की गहराइयों में डूब चुके थे और मानव-मन के रहस्यों को जान सके थे। थोड़ी देर के लिए यदि हम डा० गुयेन्थर की कुछ बातें मान भी लें, यथा—द्विलिंगता का सिद्धान्त (पुरुष एवं स्त्री जाति का एक व्यक्ति में होना), दोनों (पुरुष एवं स्त्री) के अत्यन्त प्रगाढ़ सम्बन्ध के लिए मैथुन-सदस्यता सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति है, पुरुष के लिए स्त्री एक भौतिक द्रव्य एवं देवी है, तब भी एक प्रश्न अनुत्तरित एवं अव्याख्यायित-सा रह जाता है, जो यह है—बौद्ध तान्त्रिकों ने साधक को इस बात के लिए क्यों नहीं प्रेरित किया कि वे अपनी माता, बहन, पत्नी, पुत्री या सामान्य नारी के रूप में एक स्त्री के संवेगों, दृष्टिकोणों एवं मूल्य को समझें ? या उन तान्त्रिकों ने लक्ष्य की प्राप्ति में शीघ्रता के लिए बहुधा और कोलाहलपूर्ण ढंग से मैथुन को ही, और वह भी अगम्यगामी ढंग वाले मैथुन (यथा माता, बहन, पुत्री आदि के साथ) को, क्यों उचित माना है ?

गुह्यसमाजतन्त्र ने योग की क्रियाओं द्वारा बुद्धत्व एवं सिद्धि की प्राप्ति के लिए लघु एवं क्षिप्रकारी विधि बतायी है। **सिद्धियाँ** दो प्रकार की होती हैं—**सामान्य** (यथा अदृश्य हो जाना)[४८], एवं **उत्तम** (यथा बुद्धत्व की प्राप्ति)। सामान्य सिद्धियों की प्राप्ति के लिए चार साधन उल्लिखित हैं जो **वज्र-चतुष्क** कहे गये हैं। यह व्यवस्थित है कि उत्तम सिद्धि की प्राप्ति योग के छह अंगों (प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, अनुस्मृति एवं समाधि) से प्राप्त ज्ञान के अमृत-पान से ही हो सकती है[४९]। यह अवलोकनीय है कि योगसूत्र में उल्लिखित प्रथम तीन अंगों,

४८. अन्तर्धानादयः सिद्धाः (सिद्धयः) सामान्या इति कीर्तिताः। सिद्धिरुत्तममित्याहुर्बुद्ध्वा बुद्धत्व-साधनम्॥ चतुर्विधमुपायं तु बोधि वज्रेण वर्णितम्।... सेवाविधानं प्रथमं द्वितीयमुपसाधनम्। साधनं तु तृतीयं वै महासाधनं चतुर्थकम्॥ सामान्योत्तमभेदेन सेवा तु द्विविधा भवेत्। वज्रं चतुष्केण सामान्यमुत्तमं ज्ञानामृतेन च। गुह्यसमाज० १६वाँ पटल, (पृ० १६२)।

४९. उत्तमे ज्ञानामृते चैव कार्यं योग षडङ्गतः। सेवा षडङ्गयोगेन कृत्वा साधनमुत्तमम्। साधये-दन्यथा नैव जायते सिद्धिरुत्तमा। प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्राणायामोऽथ धारणा। अनुस्मृतिः समाधिश्च षडङ्गोयोग उच्यते। गुह्यसमाज० (पृ० १६३)। ये छह अंग पृ० १६३—१६४ में व्याख्यायित हुए हैं। अनुस्मृति की व्याख्या यों है—'स्थिरं तु वज्रमार्गेण स्फारयीत स्वधातुषु। विभाव्य यदनुस्मृत्या तदाकारं तु संस्मरेत्। अनु-स्मृतिरिति ज्ञेया प्रतिभासोऽत्र जायते॥' गुह्यसमाज० (पृ० १६४)।

यथा **यम, नियम**[५०] एवं **आसन** को छोड़ दिया गया है और एक नवीन अंग **'अनुस्मृति'** जोड़ दिया गया है। **यम** किसी प्रकार ग्राह्य नहीं था क्योंकि गुह्यसमाज० की दृष्टि में साधक द्वारा मांसभक्षण, मैथुन, असत्य भाषण आदि का प्रयोग अनुचित नहीं था और योगसूत्र में यम हैं–अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह (भेंट स्वीकार न करना)। **नियम** भी अग्राह्य थे, क्योंकि पाँच नियमों (शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान) में स्वाध्याय (वेदाध्ययन) एवं ईश्वरप्रणिधान (ईश्वर के प्रति भक्ति या ईश्वर का चिन्तन) भी सम्मिलित हैं जो बौद्धधर्म में अग्राह्य है। बहुत-से बौद्ध वेद की भर्त्सना करते थे और परमात्मा को नहीं मानते थे। गुह्यसमाज० ने बुद्धत्व शीघ्र प्राप्त करने के लिए योग की क्रियाओं का समावेश किया है। मांस एवं मैथुन की अनुमति के पीछे धारणा यह थी कि योगी को, जब तक वह बुद्धत्व के लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर लेता तथा अपने मानसिक जीवन का विकास नहीं कर लेता, तब तक, अपने कार्य-कलापों के प्रति उदासीन रहना चाहिए और उसे सारे सामाजिक नियमों एवं परम्पराओं की उपेक्षा कर देनी चाहिए[५१]। वज्रयान की दूसरी नवीन प्रक्रिया थी मुक्ति के लिए योग द्वारा शक्ति की **उपासना** का उपयोग। गुह्यसमाज० में आया है कि यदि छह मासों तक प्रयत्न करने के उपरान्त भी ज्ञान न प्राप्त हो तो साधक को यह प्रयत्न तीन बार और करना चाहिए, यदि ऐसा करने पर भी सम्बोधि न प्राप्त हो तो उसे हठयोग करना चाहिए और तब वह योग द्वारा सत्य ज्ञान की प्राप्ति करेगा। एक अन्य नवीन प्रयोग था पाँच ध्यानी-बुद्धों का सिद्धान्त[५२]। ये ध्यानी-बुद्ध, बुद्ध भगवान् से प्रकट हुए। ये उन पाँच स्कन्धों या मौलिक तत्त्वों के परिचायक हैं, जिनसे यह सृष्टि बनी हुई है और इनमें से प्रत्येक एक शक्ति से सम्बन्धित है। गुह्यसमाज० की शिक्षा यह है कि यदि मानसिक शक्ति एवं अलौकिक सिद्धियाँ विकसित करनी हैं तो जो लोग अपने लक्ष्यों की पूर्ति के लिए यौगिक क्रियाएँ करते हैं उनसे स्त्रियों का सम्बन्ध अवश्य होना चाहिए। इस प्रकार बुद्ध की वह भविष्यवाणी पूर्ण हो गयी, जो उन्होंने अपने प्रिय शिष्य आनन्द से कही थी कि यदि संघ में स्त्रियों का आगमन हो गया तो उनकी पद्धति केवल ५०० वर्षों तक ही चलेगी, नहीं तो वह एक सहस्र वर्षों तक चलेगी (चुल्लवग्गा, १०।१।६, विनय टेक्ट्स जिल्द ३, सै० बु० ई०, २०, पृ० ३२५)।

५०. अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः। शौच-सन्तोष-तपः-स्वाध्याय-ईश्वर प्राणिधानानि नियमाः। योगसूत्र (२।३०-३१)॥ योग के आठ अंग ये हैं–यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान–समाधयोऽष्टावङ्गानि। योगसूत्र (२।२९)।

५१. भक्ष्याभक्ष्यविनिर्मुक्तः पेयापेयविवर्जितः। गम्यागम्य विनिर्मुक्तो भवेद्योगी समाहितः॥ ज्ञान-सिद्धि (१।१८); गम्यागम्यादिसंकल्पं नात्र कुर्यात् कदाचन। मायोपमादियोगेन भोक्तव्यं सर्वमेव हि॥ वज्रोपाय० (पृ० २३, श्लोक २९)।

५२. देखिये डा० भट्टाचार्य की गुह्यसमाजतन्त्र पर भूमिका (पृ० १९), एवं 'बुद्धिस्ट इसोटेरिज्म' की भूमिका (पृ० ३२-३३, ७०, ८०-८१, १२१, १२८-१३०) जहाँ ध्यानि-बुद्धों, उनकी शक्तियों, कुलों, कुल के अर्थ आदि का उल्लेख है। बुद्धिस्ट इसोटेरिज्म के पृ० ३२ पर डा० भट्टाचार्य ने लिखा है–'हमने यह पहले उल्लिखित कर रखा है कि बौद्धधर्म पहले के ब्राह्मणधर्म के विरोध में एक अभिग्रह अथवा चुनौती था। अब यह तान्त्रिक बौद्धधर्म की चुनौती थी, बुद्ध और आरम्भिक बौद्धधर्म के विरोध में। बुद्ध द्वारा सभी प्रकार के सांसारिक सुख-भोग, यथा–मद्य, मांस, मत्स्य, मैथुन एवं तामसिक भोजन वर्जित थे। पश्चात्कालीन तान्त्रिकों ने इन सभी का समावेश अपने धर्म में किया और उन्होंने और आगे बढ़ कर ऐसी उद्घोषणा कर दी कि बिना इनके मुक्ति असम्भव है'।

यदि हम ई० पू० ४८३ को बुद्ध के परिनिर्वाण की तिथि मान लें (जैसा बहुत-से विद्वान् मानते हैं) या ई० पू० ४७७ (जैसा ए० फाउचर मानते हैं) को मानें, तो उससे ५०० वर्ष उपरान्त होगी ईसा के उपरान्त की प्रथम शती, और यह प्रकट है कि उससे एक या दो शती उपरान्त बुद्ध की शिक्षा का बहुत कुछ अंश महायान एवं वज्रयान तन्त्रों के सिद्धान्तों से नष्ट हो चुका था। ऐसा दुर्भाग्य रहा कि बुद्ध का 'धर्म-चक्र-प्रवर्तन' उनके वज्रयानी अनुयायियों द्वारा 'अधर्म-चक्र-प्रवर्तन' में परिवर्तित कर दिया गया। महापरिनिब्बानसुत्त (५।२३, सै० बु० ई०, जिल्द ११, पृ० ९१) में बुद्ध ने अपनी कठोर बात कही थी और भिक्षुओं को भिक्षुणियों से दूर रहने के लिए सावधान कर दिया था। उन्होंने कहा था—'उनकी ओर न देखो, यदि ऐसा करना सम्भव न हो तो उनसे बातें न करो और यदि कोई भिक्षुणी बात कर रही हो तो बहुत सावधान रहो'। बुद्ध ने अपने एक शिष्य को इसलिए घुड़क दिया कि उसने अलौकिक शक्तियाँ प्रदर्शित कर दी थीं (चुल्लवग्ग, सै० बु० ई०, जिल्द २०, पृ० ७८)। किन्तु गुह्समाज० एवं अन्य बौद्ध तन्त्रों ने ऐसी व्यवस्था कर दी कि साधक लोग अलौकिक शक्तियाँ (सिद्धियाँ) रखने लगे, यथा—अनावृष्टि पर वृष्टि कराना, शत्रु की प्रतिमा पर जादू की क्रिया करके उसे मारना (गुह्यसमाज०, पृ०, ८४, ९६)। इसके अतिरिक्त गुह्यसमाज० को अति भयंकर एवं क्रूर छह कर्म (षट्कर्माणि) ज्ञात थे, यथा—**शांति** (रोग एवं जादू को दूर करने की क्रिया), **वशीकरण** (स्त्रियों, पुरुषों यहाँ तक कि देवों को वश में करना), **स्तम्भन** (दूसरे की गतियों एवं क्रियाओं को रोकना), **विद्वेषण** (दो मित्रों या दो ऐसे व्यक्तियों में, जो एक-दूसरे को प्यार करते हैं, शत्रुता उत्पन्न कर देना), **उच्चाटन** (किसी व्यक्ति या शत्रु को देश या नगर या गाँव से भगाना) एवं **मारण** (प्राणियों को मारना या न मिटने वाला धाव कर देना)। गुह्यसमाज० ने इन छह कर्मों (विद्वेषण के स्थान पर आकर्षण रखा है) का उल्लेख क्रम से पृ० १६८, १६५, ९६, ८७ (आकर्षण), ८१ एवं १३० में किया है। देखिए साधनमाला (पृ० ३६८-३६९) जहाँ इनके तथा इनके मण्डलों एवं कालों का उल्लेख किया गया है। शारदातिलकतन्त्र ऐसे मर्यादित ग्रन्थ ने भी इन छह कर्मों का उल्लेख किया है (२३।१२२), उनकी परिभाषा दी है (२३।१२३-१२५) और लिखा है कि रति, वाणी, रमा, ज्येष्ठा, दुर्गा एवं काली क्रम से इन कर्मों के देवता हैं, कर्मों के आरम्भ में उनकी पूजा होनी चाहिए। प्रातः से दस घटिकाओं की छह अवधियाँ इन छह कर्मों के लिए उचित हैं तथा इसी प्रकार कुछ ऋतुएँ भी हैं (२३।१२६-१३९)। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि प्रपञ्चसार (२३।५) ने, जो अद्वैत के महान् आचार्य शंकर द्वारा प्रणीत समझा जाता है, त्रैलोक्यमोहन नामक मन्त्र का विस्तार के साथ उल्लेख किया है, जो उपर्युक्त छह क्रूर कर्मों के लिए व्यवस्थित है।

हिन्दू एवं बौद्ध दोनों तन्त्र गुरु की महत्ता एवं अर्हताओं पर प्रभूत बल देते हैं[५३]। बौद्ध तन्त्रों में गुरु के प्रति अत्यन्त आदर का भाव है। ज्ञानसिद्धि (१३।९—१२) ने अर्हताओं का उल्लेख किया है तथा प्रज्ञोपायविनिश्चय-सिद्धि (३।९।१६) में गुरु के प्रति उत्कृष्ट प्रशस्ति है, वे बुद्ध के सदृश कहे गये हैं, विभु आदि पदवियाँ दी गयी हैं। लक्ष्मीङ्कराकृत अद्वयसिद्धि (लगभग ७२९ ई०) में ऐसा आया है कि तीन लोकों में आचार्य से बढ़कर कोई अन्य नहीं है। लक्ष्मीङ्करा ने एक विलक्षण सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि अपने शरीर की पूजा करनी चाहिए, क्योंकि उसमें सभी देवों का निवास रहता है। भासरानन्दनाथ (अर्थात् भास्करराय, दीक्षा के पूर्व का नाम)

५३. आचार्यात्परतरं नास्ति त्रैलोक्ये सचराचरे। यस्य प्रसादात्प्राप्यन्ते सिद्धयोऽनेकधा बुधैः। साधनमाला (जिल्द २, भूमिका पृ० ६४—६५)।

के शिष्य उमानन्दनाथ के नित्योत्सव में गुरु भास्करराय की प्रशंसा निम्नोक्त 'अतिशयोक्तिपूर्ण ढंग से हुई है[५४] 'उन्हें इस पृथिवी (भूमण्डल) का कोई भी अंश (योग दृष्टि के कारण) अदृष्ट नहीं था, कोई भी राजा ऐसा नहीं था जो उनका दास न रहा हो, उन्हें कोई भी शास्त्र अज्ञात नहीं था, अधिक क्यों कहा जाय, उनका स्वरूप स्वयं पराशक्ति थी'। किन्तु ज्ञानसिद्धि एवं कुलार्णव (१३।१२८) ने ऐसे गुरुओं से सावधान किया है जो धनलोभ से लोगों को धर्म-शिक्षा देते हैं और सत्य जानने का बहाना करते हैं। कुलार्णव (उल्लास १२ एवं १३) ने गुरु की अर्हताओं एवं महत्ता का उल्लेख किया है। और देखिए शारदातिलक (२।१४२–१४४ एवं ३।१४५–१५२), जहाँ तान्त्रिक गुरु एवं शिष्य की अर्हताओं की चर्चा है[५५]। गुरु को सभी आगमों, शास्त्रों के तत्त्वों एवं अर्थ को जानना चाहिए, उसका वचन अमोघ (जो सत्य हो) होना चाहिए, उसे शान्त मनवाला होना चाहिए, उसे वेद एवं वेदार्थ में पारंगत होना चाहिए, उसे योगमार्गानुगामी होना चाहिए और उसे देवता के समान कल्याणकारी होना चाहिए। शिष्य को चाहिए कि वह मन्त्रों, पूजा एवं रहस्यों को गोपनीय रखे[५६]। शिष्य अपने गुरु के चरणों को अपने सिर पर रखता है, अपना शरीर, धन एवं जीवन गुरु को समर्पित कर देता है। उपनिषदों ने भी गूढ़ दर्शन की प्राप्ति के लिए गुरु की आवश्यकता पर बल दिया है। उदाहरणार्थ, कठोपनिषद्[५७] में आया है—'यह ज्ञान तर्क से नहीं प्राप्त किया जा सकता, यह भलीभाँति तभी समझा जा सकता है जब कि किसी अन्य द्वारा इसकी व्याख्या की जाय'। और देखिए छा० उप० (४।६।३)। लिंगपुराण[५८] आदि का कथन है कि गुरु शिव के समान है और शिवभक्ति एवं

५४. यस्यादृष्टो नैं भूमण्डलांशो यस्यादासो विद्यते न क्षितीशः। यस्याज्ञातं नैव शास्त्रं किमन्यैःयस्याकारः सा परा शक्तिरेव॥ नित्योत्सव का आरम्भिक श्लोक ४। डा० बी० भट्टाचार्य ने गुह्यसमाज० (पृ० १३) में जो लिखा है उससे पता चलता है कि उन्होंने इस श्लोक को सर्वथा गलत समझा है क्योंकि उन्होंने अनुवाद यों किया है—'पराशक्ति वह है जिसको इस विस्तृत विश्व का कोई अंश बिना देखा हुआ नहीं है...' आदि।

५५. सर्वागमानां सारज्ञः सर्वशास्त्रार्थतत्त्ववित्। ...अमोघवचनः शान्तो वेदवेदार्थपारगः। योगमार्गानुसन्धायी देवताहृदयङ्गमः। शारदा० २।१४२–१४४।

५६. मन्त्रपूजा रहस्यानि यो गोपयति सर्वदा। शारदा० (२।१५१)।

५७. नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ। कठ० (२।९)।

५८. यो गुरुः स शिवः प्रोक्तो यः शिवः स गुरुः स्मृतः। यथा शिवस्तथा विद्या यथा विद्या तथा गुरुः॥ शिव विद्यागुरोस्तस्माद् भक्त्या च सदृशं फलम्। सर्वदेवमयो देवि सर्वशक्तिमयो हि सः। लिंगपुराण (१।८५), १६४–१६५); गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः। गुरुरेव परमं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवेनमः॥ देवीभागवत (११।१।४६); ब्रह्माण्डपुराण के ललितोपाख्यान में ऐसा आया है—'मनुष्यचर्मणा बद्धः साक्षात्परशिवः स्वयम्। सच्छिष्यानुग्रहार्थाय गूढं पर्यटति क्षितौ॥ अत्रिनेत्रः शिवः साक्षाद्चतुर्बाहुरच्युतः। अचतुर्वदनो ब्रह्मा श्रीगुरुः कथितः प्रिये॥' (४३।६८–७०)। ये श्लोक कुलार्णव में भी पाये जाते हैं और दोनों में बहुत-से श्लोक एक-से हैं। किसने किससे उद्धृत किया है, यह कहना कठिन है। शारदातिलक (५।११३–११४) में आया है—गुरुविद्यादेवतानामैक्यं सम्भावयन् धिया। प्रणमेद् दण्डवद्भूमौ गुरुं तं देवतात्मकम्॥ तस्य पादाम्बुजद्वंद्वं निजे मूर्धनि योजयेत्। शरीरमर्थं प्राणं च सर्वं तस्मै निवेदयेत्॥ प्रपञ्चसार (६।१२२) में आया है—'गुरुणा समनुगृहीतं मन्त्रं सद्यो जपेच्छतावृत्या। गुरुदेवतामनूनामैक्यं सम्भावयन् धिया शिष्यः॥

गुरुभक्ति के फल समान होते हैं। कुलार्णव (११।४६) में आया है कि गुरुओं, आगमों, आम्नाय, मन्त्र एवं प्रयोगों का क्रम जब गुरु के अधरों द्वारा सुना जाता है तो हितकर होता है, अन्यथा नहीं। प्रपञ्चसार में आया है—'शिष्य को यह मन में विचारना चाहिए कि गुरु, देवता एवं मन्त्र एक ही है, और उसे गुरु से प्राप्त मन्त्र को एक सौ बार जपना चाहिए।

वेदान्त पद्धति को समझने के लिए उच्च ज्ञान एवं नैतिक उपलब्धियों की आवश्यकता होती है और यह बहुत ही थोड़े प्रतिभाशाली व्यक्तियों द्वारा समझा भी जा सकता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि तन्त्र ऐसी विधि उपस्थित करते हैं जिसके द्वारा सामान्य ज्ञान के व्यक्ति भी लाभ उठा लेते हैं, जिसके द्वारा चाक्षुष एवं शारीरिक गतियों से आध्यात्मिक अनुभूति प्राप्त हो सकती है तथा मन्त्रों के पाठ, मुद्राओं, न्यास, मण्डलों, चक्रों एवं यन्त्रों से मुक्ति-प्राप्ति में शीघ्रता हो सकती है। तान्त्रिक लेखकों ने गुरु की प्रशंसा एवं आदर-भक्ति में बड़ी अतिशयोक्ति की है और इस भावना की अभिव्यक्ति में ऐसी बातें कह डाली हैं जो घृणास्पद हैं। इस विषय में ताराभक्ति-सुधार्णव (४, पृ० ११६) का उद्धरण उल्लेखनीय है[५६]।

पञ्च मकारों के विषय में तान्त्रिक ग्रन्थों की शिक्षा ने सभी वर्णों एवं जातियों के लोगों, विशेषतः समाज के निम्नवर्गीय लोगों में अस्वास्थ्यकर एवं अनैतिक प्रवृत्तियाँ उत्पन्न कर दी होंगी। ७वीं शती से १२वीं तक के लम्बे काल में हिन्दू एवं बौद्ध तान्त्रिकों का दौर-दौरा था। वज्रयान के एक सम्प्रदाय में गुरु लोग नीले रंग का वस्त्र धारण करते थे। सम्मितिय शाखा के एक गुरु के विषय में एक गाथा है। गुरु महोदय नील पट धारण करके एक वेश्या के यहाँ गये। वे रात्रि में मठ को लौट कर नहीं आये। जब प्रातःकाल उनके शिष्यों ने नीलपट धारण करने का कारण जानना चाहा तो गुरु महाराज ने नीलपट के आध्यात्मिक महत्त्व को समझाया। तभी से उनके अनुयायियों ने नीलपट धारण करना आरम्भ कर दिया। उनकी पुस्तक 'नीलपटदर्शन' में ऐसा उल्लिखित है—'कामदेव' एक रत्न हैं, वेश्या एक रत्न है, मदिरा एक रत्न है, मैं इन तीन रत्नों को नमस्कार करता हूँ; अन्य तथाकथित तीन रत्न शीशे की मनियाँ मात्र हैं'। यह जानना चाहिए कि भक्त बौद्धों के लिए बुद्ध, धर्म एवं संघ तीन रत्न कहे गये हैं। नीलपटदर्शन के अनुयायीगण इन तीन रत्नों को व्यर्थ मानते हैं, उन्हें केवल शीशे की गुटिकाएँ मात्र मानते हैं। देखिए भिक्षु राहुल सांकृत्यायन का निबन्ध 'ऑन वज्रयान और मन्त्रयान' (जे० ए०, जिल्द २२५, १९३४, पृ० २१६), जहाँ यह गाथा दी हुई है। झूठे गुरुओं ने लोगों को मद्य, मांस एवं नारियों के साहचर्य की सरल विधि द्वारा निर्वाण प्राप्ति की हरी बाटिका दिखा कर उनको भ्रमित कर दिया। इस लम्बे काल में भारतीय साहित्य मद्य, मांस एवं मैथुन से संचालित तान्त्रिक पूजा की भर्त्सना एवं उपहासात्मक आलोचनाओं से परिपूर्ण है। दो-एक उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं। राजशेखर (लगभग ९०० ई०) द्वारा प्रणीत प्राकृत नाटक 'कर्पूरमञ्जरी' का एक पात्र भैरवानन्द है, जो अलौकिक शक्ति वाला कहा जाता है। उसने (मदवश या मतवाला होने का नाट्य करते हुए) कहा है—'गुरु के प्रसाद से हम लोग मन्त्रों या तन्त्रों या ध्यान के विषय में कुछ भी नहीं जानते। हम मद्य पीते हैं, महिलाओं के साथ रमण करते हैं तब भी कुलमार्ग में संलग्न रहने के कारण मोक्ष पाते हैं। एक उग्र गणिका दीक्षित की जाती है और नियमानुकूल पत्नी बनायी जाती है, मद्य पिया जाता है, मांस खाया जाता है, भोजन भिक्षा से प्राप्त होता है, हम लोगों की शैया चर्म-खण्ड की है। यह कौलधर्म किसको आकर्षक नहीं लगता?

५६. भगिनीं वासुतां भार्यां यो दद्यात्कुलयोगिने। मधुमत्ताय देवेशि तस्य पुण्यं न गण्यते। ताराभक्ति सुधार्णव (४, पृ० ११६) द्वारा उद्धृत।

विष्णु एवं ब्रह्मा के नेतृत्व में देवता लोग भी घोषित करते हैं कि मोक्ष ध्यान, वेदपाठ एवं वैदिक यज्ञों से प्राप्त होता है, केवल उमा के पति ने इसे देखा (जाना) कि मोक्ष की प्राप्ति सुरारसपान एवं नारियों के साथ संभोग करने से हो सकती है'[६०]। यशस्तिलकचम्पू (सन् ६५६ ई०) ने शैवागम के दक्षिण एवं वाम मार्गों की ओर निर्देश करने के उपरान्त महाकवि भास का एक श्लोक उद्धृत किया है—'व्यक्ति को सुरा पीनी चाहिए, प्रियतमा के मुख को देखना चाहिए, स्वभाव से सुन्दर और जो अविकृत न हो वैसा वेष धारण करना चाहिए, वह पिनाकपाणि (शिव) दीर्घायु हों, जिन्होंने मोक्ष का ऐसा मार्ग (सर्वप्रथम) ढूंढ़ निकाला'[६१]। क्षेमेन्द्र (११ वीं शती के तीसरे चरण में) के दशावतारचरित में एक श्लोक है जो तान्त्रिक गुरुओं एवं उनके अनुयायियों के कर्म पर प्रकाश डालता है[६२]—'गुरुओं की घोषणा है कि एक ही पात्र से भाँति-भाँति के शिल्पियों, यथा धोबियों, जुलाहों, चर्मकारों, कापालिकों द्वारा मद्य पीने से, चक्रपूजा से, बिना किसी विकल्प के स्त्रियों के साथ संभोग करने से तथा उत्सवों से

६०. मौलिक श्लोक (१।२२-२४) प्राकृत में हैं। उनके संस्कृत रूप यों हैं: मन्त्राणां तन्त्राणां न किमपि जाने ध्यानं च नो किमपि गुरुं प्रसारात्। मद्यं पिबामो महिलां रमामो मोक्षं च यामो कुलमार्गलग्नाः॥ रण्डा चण्डा दीक्षिता धर्मदारा मद्यं मांसं पीयते खाद्यते च। भिक्षा भोज्यं चर्मखण्डं च शय्या कौलो धर्मो कस्य नाभाति रम्यः॥ भुक्ति भणन्ति हरिब्रह्म मुखा आप देवा ध्यानेन वेदयपठनेन क्रतुक्रियाभिः एकेन केवल मुमादयितेन दृष्टो मोक्षः समं सुरतकेलि सुरारसैः॥ यह संभव है कि भैरवानन्द द्वयर्थक हो। पारानन्दसूत्र ने बहुत-से तान्त्रिक गुरुओं का उल्लेख किया है जिनके नाम आनन्द से अन्त होते हैं, यथा अमृतानन्द (पृ० ५४, ७३), उन्मादानन्द (पृ० ५४, ७२, ७६), ज्ञानानन्द (पृ० ५४, ७३, ८१), देवानन्द (पृ० ४४), परानन्द (पृ० ७२, ८१७, जो पारानन्द सूत्र के लेखक हैं), मुक्तानन्द (पृ० ५४), सुरानन्द (पृ० ५४, ७०, ७२)। बहुत-से गुरुओं के नाम में 'भैरव' भी आया है और ऐसे नाम पारानन्दसूत्र में पर्याप्त आये हैं, यथा—आकाशभैरव (९ बार), उन्मत्त भैरव (१७ बार), काल भैरव (११ बार)। पृ० ६६ में भैरव नाम एक लेखक का भी आया है। राजशेखर ने इन तान्त्रिक गुरुओं का, जिन्होंने मकारों का समर्थन किया है, बड़ा उपहास किया है। पारानन्द सूत्र सम्भवतः ९०० एवं १२०० ई० के बीच में कभी प्रणीत हुआ होगा (भूमिका, पृ. १२)। परशुरामकल्पसूत्र (१।४०) में ऐसी व्यवस्था है कि दीक्षा के उपरान्त गुरु शिष्य को ऐसा नाम देते हैं जिसका अन्त आनन्दनाथ से हो। यही बात महानिर्वाण० (१०।१८२) में भी पायी गयी है।

६१. इममेव च मार्गमाश्रित्याभाषि भासेन महाकविना। पेया सुरा प्रियतमा मुखमीक्ष्यणीयं ग्राह्यः स्वभावललितोऽविकृतश्च वेषः। येनेदमीदृशमदृश्यत मोक्ष वर्त्म दीर्घायुरस्तु भगवान् स पिनाकपाणिः। यशस्तिलकचम्पू (पृ० १५१)। यह पल्लव राजा महेन्द्रविक्रमवर्मन के मत्तविलास प्रहसन का सातवाँ श्लोक है जो कपाली के मुख से कहलाया गया है। इससे एक पहेली उत्पन्न हो जाती है। या तो यशस्तिलक के लेखक ने लेखक का नाम ठीक से नहीं बताया या यह श्लोक भास के किसी ऐसे नाटक का है जो अभी उपलब्ध नहीं हो सका है और उसे मत्तविलास प्रहसन ने ज्यों-का-त्यों उठा लिया है, जो मात्र प्रहसन होने के कारण कोई गम्भीर बात नहीं थी। प्रस्तुत लेखक दूसरे मत को अंगीकार करता है।

६२. चक्रस्थितौ रजक-वायक-चर्मकार-कापालिक प्रमुख शिल्पिभिरेक पात्रे। पानेन मुक्तिमविकल्परतोत्सवेन वृत्तेन श्रोतसवता गुरवो वरन्ति॥ दशावतारचरित(पृ० १६२)। चक्रपूजा के विषय में आगे लिखा जायगा।

परिपूर्ण जीवन से मुक्ति प्राप्त होती है'। राजतरंगिणी (१२ वीं शती) में भी तान्त्रिकों एवं उनके कर्मों की ओर संकेत मिलता है। ५।६६ में कल्हण का कथन है[६३] कि कश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा के शासन-काल में भट् कल्लट ऐसे सिद्ध लोगों ने (जो अलौकिक शक्तियाँ रखते थे, यथा अणिमा) संसार के कल्याण के लिए जन्म लिया था। कल्हण ने एक अच्छे राजा यशस्कर (६३९–६४८ ई०) के शासन का वर्णन करते हुए लिखा है[६४] कि उसके राज्य में गृहिणियाँ गुरुदीक्षा के कृत्य में देवताओं के रूप में नहीं दीख पड़ती थीं, और न अपने पतियों की शीलश्री (अच्छे चरित्र) से दूर रहने के लिए अपने सिर को हिलाती ही थीं। कश्मीर का राजा कलश (१०६३–१०८९ ई०) अमरकण्ठ के पुत्र प्रमदकण्ठ का शिष्य हो गया था। प्रमदकण्ठ अच्छा ब्राह्मण था, किन्तु कलश, जो स्वभाव से दुष्ट था, अपने गुरु द्वारा बुरे आचरणों में लिप्त करा दिया गया, और वह (राजा कलश) अच्छी या बुरी स्त्रियों में भेद नहीं करता था। इस विषय में कल्हण ने लिखा है—'मैं इस (कलश के) गुरु की गत विकल्पता का क्या वर्णन करूँ, जब कि अन्य विकल्पों का त्याग करके उसने अपनी पुत्री के साथ व्यभिचार किया?'[६५]। इससे स्पष्ट है कि कश्मीर में ११ वीं शती में कुछ ऐसे तान्त्रिक गुरु थे, जो गुह्यसमाजतन्त्र द्वारा बौद्ध योगियों के लिए व्यवस्थित आचरणों का अक्षरशः, पालन करते थे। कुमारपाल के उत्तराधिकारी अजयदेव के शासन-काल में यशपाल नामक

६३. अनुग्रहाय लोकानां भट्ट श्री कल्लटादयः। अवन्ति वर्मणः काले सिद्धा भुवमवातरन्॥ राजत० (५। ६६)। अवन्तिवर्मा ने सन् ८५५ से ८८३ ई० तक राज्य किया। काश्मीरी शैववाद में कल्लट एक महान् नाम से विख्यात हैं। यह द्रष्टव्य है कि बौद्धधर्म की वज्रयान-शाखा में ८४ सिद्ध पुरुषों का उल्लेख है जो ७ वीं से ६ वीं तक हुए थे। देखिये बुद्धिस्ट इसोटेरिज्म (पृ० ३४) एवं भिक्षु राहुल सांकृत्यायन का निबन्ध 'दि ओरीजिन आव वज्रयान एण्ड दि ८४ सिद्धज' (जे० ए०, जिल्द २२५, १६३४, पृ० २०६–२३०) जहाँ पृ० २२०–२२५ में ८४ सिद्धों की एक लम्बी सूची है जिसमें लूइपा से भलिपा के नाम, उनकी जातियों, स्थितियों, उत्पत्ति-स्थान, उनमें से ८वीं शती के आगे के कुछ के समकालीनों के नाम के साथ दिये गये हैं। मत्स्येन्द्रनाथ को लूइपा कहा गया है। देखिये इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली (जिल्द ३१, पृ० ३६२–३७५) जहाँ डा० करमबेल्कर का 'मत्स्येन्द्रनाथ एण्ड हिज योगिनी कल्ट' नामक लेख है।

६४. नादृश्यन्त च गेहिन्यो गुरुदीक्षोत्थदेवताः। कुर्वाणा भर्तृशील श्री निषेधं मूर्धधूननैः॥ राजत० (६।१२)। इससे प्रकट होता है कि तान्त्रिकों में लिंग के विषय में समान भावना के कारण स्त्रियाँ तान्त्रिक कृत्यों में गुरु बनायी जाती थीं। देखिये प्राणतोषिणी (पृ० १७६), जहाँ पर स्त्री गुरु की अर्हताएँ दी हुई हैं, और देखिए पृ० ५४०, जहाँ गुरु की पत्नी की पूजा तथा अपने अधिकार से गुरु के रूप में पूजित होने वाली स्त्री का उल्लेख है। गुरु एवं उसके पूर्वजों की पूजा शिष्यों द्वारा इस प्रकार होती थी मानो वे (शिष्य) यजमान हों। जब यजमान (शिष्य) लोग गुरुओं के रूप में पूजित स्त्रियों के पतियों की प्रशंसा करते थे तो वे असहमति में अपना सिर हिलाती थीं, जिसका तात्पर्य यह था कि वे स्पष्ट रूप से अपने पतियों के चरित्र की आलोचना करती थीं। कल्हण का कथन है कि यशस्कर के शासन-काल में ऐसा नहीं होता था। यशस्कर ने तान्त्रिकों के आचारों को अवश्य बन्द करा दिया होगा और स्त्रियों को गुरु बनने का अवसर ही नहीं मिलता रहा होगा।

६५. गुरोर्गतविकल्पत्वं तस्यान्यत्किमिवोच्यताम्। त्यक्तशङ्कः प्रववृते स्वसुता सुरतेपि यः॥ राजत० (७।२७८)।

नाटककार की रचना मोहराजपराजय में पात्र 'कौल' है जो अपने इस सिद्धान्त की घोषणा करता है कि वह बिना किसी मनस्ताप के प्रतिदिन मांस खाता है, मद्य पीता है और मन को पूरी छूट दिये रहता है[६६]। अपरार्क ने एक श्लोक उद्धृत किया है, जिससे स्पष्ट है कि बहुत-से सम्प्रदायों के बीच में एक संगति में रहना कठिन है—'कोई व्यक्ति हृदय से कौल हो सकता है, बाह्य रूप से वह शैव-सा प्रतीत हो सकता है और वह, अपने वास्तविक आचरण में वैदिक कृत्यों का अनुसरण कर सकता है। व्यक्ति को सार ग्रहण करके नारिकेलफल की भाँति रहना चाहिए'[६७]। लगता है कि उच्च विद्वान् एवं कवि तान्त्रिक पूजा के प्रति कुछ अनिश्चित भावना रखते थे। मिथिला के महान् कवि विद्यापति अपने भक्तिपरक गीतों से जहाँ वैष्णव हैं, वहीं उन्होंने शैवसर्वस्वसार नामक ग्रन्थ भी लिखा है (अतः वे शैव कहे जा सकते हैं), दुर्गाभक्तितरंगिणी भी लिखी है (जो उन्हें शाक्त भी सिद्ध करती है) और लिखा है एक तान्त्रिक ग्रन्थ[६८]। विद्यापति की 'पुरुषपरीक्षा' का प्रथम श्लोक 'आदिशक्ति' का आह्वान करता है। बंगाल एवं आसाम में शाक्त सिद्धान्तों का बड़ा प्राबल्य रहा है और अब भी वहाँ काली-पूजा प्रचलित है, किन्तु बल्लालसेन नामक विख्यात बंगाली राजा ने अपने दान-सम्बन्धी महान् ग्रन्थ 'दानसागर' में देवीपुराण को कुत्सित समझ कर छोड़ दिया है[६९]।

यह सम्भव है कि पञ्च मकारों के प्रवर्त्तक तान्त्रिक या शाक्त सम्प्रदाय ने भगवान् या परमात्मा के उस भयंकर स्वरूप की अवमानना की जो मानवों एवं पदार्थों के भाग्यों पर शासन करता है, जो कभी-कभी सच्चरित्र लोगों को भी भीषण दुखों में पलने देता है; सम्भवतः इसी से इस सम्प्रदाय ने परम्परागत नैतिक भावना एवं सामाजिक सदाचरणों की अवज्ञा कर दी और ऐसी आशा की कि यौगिक आचारों से उच्च मानसिक शक्तियाँ एवं आनन्द की प्राप्ति हो जायगी। देखिए डा० बी० भट्टाचार्य की भूमिका (गुह्यसमाज०, पृ० २२), जहाँ ऐसी ही

६६. मोहराजपराजय (गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज, बड़ौदा) पृ० १०० में कौल कहता है : 'खाद्यते मांसमनुदिनं पीयते मद्यं च मुक्त संकल्पम्। अनिवारित मनः प्रसर एष धर्मो मया दृष्टः॥ (प्राकृत श्लोक का यह संस्कृत रूप है)। यह नाटक ११७२–११७५ ई० में लिखा गया था।

६७. अन्तः कौलं बहिः शैवं लोकाचारे तु वैदिकम्। सारमादाय तिष्ठेत्तु नारिकेल फलं यथा। अपरार्क (पृ० १०)। नारिकेल फल के तीन स्वरूप हैं : पहला बाहरी कठोर कोश, दूसरा वह अंश जो कोश के भीतर कोमल एवं स्वादयुक्त होता है और तीसरा वह अंश जो जल होता है। कुलार्णवतन्त्र में आया है : 'अन्तःकौलो बहिः शैवो जनमध्ये तु वैष्णवः। कौलं सुगोपयेद्देवि नारिकेल फलाम्बुवत्॥ (११।८३)। शैवों एवं शाक्तों दोनों का साम्प्रदायिक चिह्न है त्रिपुण्ड (पवित्र विभूति, अथवा भस्म की तीन समानान्तर रेखाएँ, जो मस्तक पर एक आँख से दूसरी आँख तक अँगूठे एवं कनिष्ठिका को छोड़ अन्य तीन अंगुलियों से खींची जाती हैं। देखिये बृहज्जाबालोपनिषद् (४।१०–११), देवी भागवत (११।१५।१७–२३)।

६८. देखिये डी० सी० भट्टाचार्यकृत निबन्ध (जर्नल आव गंगानाथ झा रीसर्च इंस्टीच्यूट, जिल्द ६, पृ० २४१–२४७) 'विद्यापतिस वर्क ऑन तन्त्र'। पुरुष परीक्षा का प्रथम श्लोक (दरभंगा संस्करण, १८८८) यह है—'ब्रह्मापि यां नौति नुतः सराणां (सुराणां ?) यामर्चितोऽप्यर्चयन्तीन्दुमौलिः॥ यां ध्यायतिध्यानगतोपि विष्णुस्तामादिशक्तिं शिरसा प्रपद्ये॥'

६९. नानावेश धराः कौलाः कुलाचारेषु निश्चलाः। सेवन्ते त्वां कुलाचारैर्महि तास् बाधते कलिः॥ महानिर्वाणतन्त्र (४।६३)।

भावना व्यक्त है। सम्भवतः एक अन्य प्रवृत्ति भी रही होगी। सामान्य जन बौद्ध धर्म की ओर आकृष्ट होते चले जा रहे थे। हिन्दू तान्त्रिक सम्प्रदायों के प्रवर्त्तकों ने उन्हें हिन्दू-सीमा के अन्तर्गत ही रहने देना चाहा। सामान्य जन मांस-मदिरा का प्रयोग करते हैं, उन्हें बताया गया कि यदि वे तान्त्रिक गुरुओं एवं आचारों का अनुसरण करेंगे तो मांस एवं मद्य में चूर रहने पर भी उच्चतर आध्यात्मिक स्तर प्राप्त करेंगे। इसके मूल में धारणा यह थी कि शक्ति ही सब कुछ है और सब के लिए है; भोग का परित्याग आवश्यक नहीं है, क्योंकि मनुष्य देवी या शिव का अंश है। भोग का ऊर्ध्वायन होना चाहिए, बस इतना ही कौलशास्त्र में पर्याप्त है। तान्त्रिकों ने संयम एवं तप के योग के स्थान पर भोग का योग स्थापित करना चाहा। वाममार्ग के आचारों में प्रवृत्त साधक से यही आशा की जाती है कि वह आत्मा के अहंकारमय तत्त्वों का नाश कर देगा[७०]।

महानिर्वाणतन्त्र तथा कुछ अन्य तन्त्रों ने कामुक अनैतिकता एवं संकुलता के ज्वार को बाँधने का भी प्रयास किया है। उदाहरणार्थ, परशुरामकल्पसूत्र के टीकाकार रामेश्वर का कथन है कि जो जितेन्द्रिय नहीं है उसे कौल-मार्ग का अधिकार नहीं है (पृ० १५३)। यह महानिर्वाणतन्त्र के इस कथन के प्रत्यक्ष विरोध में पड़ता है कि ब्राह्मणों से लेकर अस्पृश्य तक सभी लोग कौल आचारों के अधिकारी हैं[७१]। आजकल के कुछ ऐसे लोग, जो तन्त्रवाद का छद्म रूप से समर्थन करते हैं, कहते हैं कि गुह्यसमाज में जो निर्देश दिये हुए हैं, तथा वज्रयान के अनुयायियों द्वारा पालित होने वाले जो नियम हैं, वे केवल उन योगियों के लिए हैं जिन्होंने यौगिक पूर्णता का कुछ अंश प्राप्त कर लिया है। किन्तु स्पष्ट उत्तर यह है—'किन्तु केवल उस व्यक्ति को छोड़कर (जो साधनारत है) कौन बता सकता है कि उसने थोड़ी-बहुत आध्यात्मिकता प्राप्त कर ली है ? और यदि यह मान भी लिया जाय कि सारे निर्देश योगियों के लिए ही हैं तो यही भारी-भरकम ढंग एवं भाषा में कहने की क्या आवश्यकता पड़ी थी कि एक वज्र-यानी योगी वैसा ही आचरण करे जिसे साधारण लोग कदाचार कहते हैं ?' प्राचीन एवं मध्यकालीन तन्त्रों के समर्थकों की बातों का उत्तर देने के लिए यह उचित स्थान नहीं है। किन्तु दो-एक बातों का उत्तर दे देना आवश्यक है, क्योंकि यदि उनकी आलोचना नहीं की गयी तो लोगों में भ्रामक धारणा उत्पन्न हो सकती है।

सर जॉन वुड्रौफ ने 'प्रिंसिपुल्स आव तन्त्र' (भाग २, पृ० ६) में कहा है कि मांस, मत्स्य एवं मदिरा का प्रयोग वैदिक काल में सर्वसाधारण था तथा महाभारत एवं पुराणों में (यथा कालिका, मार्कण्डेय, कर्म आदि) मद्य, मांस एवं मत्स्य के सेवन की ओर संकेत हैं। यह कथन एक विशेष समर्थन है और गुमराह (पथभ्रष्ट) करने वाला है। प्रश्न है : क्या वह सुरा जो प्रतिदिन के या आवधिक यज्ञों में देवों को अर्पित की जाती थी, ऋग्वेद या किसी अन्य वेद में आहुति कही गयी थी ? वैदिक युग में मद्य का ज्ञान था या उसका सेवन होता भी रहा हो, किन्तु बात वास्तव में यह जानने की है कि उन दिनों सोम एवं सुरा में अन्तर किया जाता था। देखिए शतपथ ब्राह्मण (५।१।५।२८ : सत्यं वै श्रीज्योतिः सोमोऽनृतं पाप्मा तमः सुरा।) : 'सोम सत्य; श्री (समृद्धि), ज्योति (प्रकाश) है तथा सुरा असत्य, कष्ट एवं अंधकार है। सोम का उल्लेख ऋग्वेद में सैकड़ों बार हुआ है और नवाँ मण्डल इसकी प्रशस्ति के लिए ही सुरक्षित-सा है, और सोम देवों

७०. यत्रास्ति भोगो न च तत्र मोक्षो यत्रास्ति मोक्षो न च तत्र भोगः। श्री सुन्दरी सेवन तत्पराणां भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव ॥ कौलरहस्य से हंसविलास (पृ० १०४) द्वारा उद्धृत।

७१. विप्राद्यन्त्यजपर्यन्ता द्विपदा येऽत्र भूतले। ते सर्वेऽस्मिन्कुलाचारे भवेयुरधिकारिणः। महानिर्वाण-तन्त्र (१४।१८४)।

को दिया जाता था, किन्तु ऋग्वेद में सुरा का उल्लेख केवल छह बार हुआ है और यह कहीं भी स्पष्ट रूप से नहीं उल्लिखित है कि यह देवों को धार्मिक रूप में अर्पित की जाती है; बल्कि वरुण के एक स्तोत्र में, सुरा को पापमय कहा गया है और उसे क्रोध एवं जुए के समकक्ष में रख दिया गया है (ऋ० ७।८६।६ : न स स्वो दक्षो वरुण ध्रुतिः सा सुरा मन्युर्विभीदको अचित्तिः)। तन्त्रवाद के समर्थन के उत्साह में आर्थर एवालोन (सर जॉन वुड्रौफ्) ने कुछ सरल शब्दों की भ्रामक व्याख्या में विवेकशून्यता प्रदर्शित की है। 'प्रिंसिपुल्स आव तन्त्र' की भूमिका (पृ० ७) में उन्होंने ऋ० (१।१६६।७) को उद्धृत किया है—'अर्चन्त्यर्कं मदिरस्य पीत ये' और उसका अनुवाद यों किया है—'मदिरा (मद्य) पीने से पहले सूर्य की पूजा करते हैं।' यहाँ **मदिर** (मदिरा नहीं) शब्द आया है, यह विशेषण है और इसका अर्थ है 'आनन्दप्रद' या 'आह्लादक'। 'मदिरा' शब्द ऋग्वेद में कहीं भी नहीं आया है, किन्तु विशेषण के रूप में 'मदिर' शब्द १६ बार आया है और सामान्य रूप (बहुत कम स्पष्ट व्यंजना के रूप) से यह सोम, इन्दु, अंशु, रस या मधु की विशेषता बताता है। उपर्युक्त मन्त्रभाग में 'पहले' के अर्थ में कोई शब्द नहीं आया है। इस अंश का अर्थ है—वे (पूजा करने वाले या मरुत लोग) उस (इन्द्र) की पूजा करते हैं जो स्तुति के योग्य है (और मरुतों का एक मित्र है)। जिससे कि वह आह्लादमय (सोम) को पीने के लिए आये। 'मदिरा' शब्द (मद्य के अर्थ में) वैदिक काल के किसी भी शुद्ध ग्रन्थ में नहीं आया है। यह सर्वप्रथम महाभारत में प्रयुक्त हुआ है। कुछ तन्त्र-समर्थक लोग इन्द्र के सम्मान में की जाने वाली **सौत्रामणी** दृष्टि में सुरा के प्रयोग की चर्चा करते हैं किंतु परिस्थितियाँ विलक्षण हैं। सौत्रामणी बहुत से यज्ञों में एक है और इसके सम्पादन के अवसर विरल होते थे; इसका सम्पादन **राजसूय** के अन्त में होता था और **अग्निचयन** के अन्त में भी होता था जबकि पुरोहित अधिक सोम पी लेने के कारण वमन कर देता था। अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सौत्रामणि में हवन की गयी सुरा का अवशेष यज्ञ में रत पुरोहित द्वारा नहीं ग्रहण किया जाता था, प्रत्युत एक ब्राह्मण को इसे पीने के लिए शुल्क देकर बुलाया जाता था और यदि कोई ब्राह्मण नहीं मिलता था तो उसे चींटियों के ढूह पर गिरा दिया जाता था। इस विषय में हमने इस ग्रन्थ के खण्ड (जिल्द २) में पढ़ लिया है। काठकसंहिता में एक मनोरंजक वक्तव्य आया है[७२]—"अतः एक अपेक्षाकृत बूढ़ा (ज्येष्ठ) व्यक्ति एवं एक कम अवस्था वाला व्यक्ति, पतोहू, श्वसुर सुरा पीते हैं और आपस में आलाप करते रहते हैं; विचारहीनता पाप है; अतः एक ब्राह्मण इस विचार से सुरा नहीं पीता कि 'अन्यथा (यदि मैं इसे पीऊँ), मैं पापी हो जाऊँगा'; अतः यह क्षत्रिय के लिए है; ब्राह्मण से ऐसा कहना चाहिए कि सुरा, यदि क्षत्रिय द्वारा पी जाय, तो उसे हानि नहीं पहुँचाती।"

उपर्युक्त वक्तव्यों से प्रकट होता है कि न केवल पुरोहित लोग ही सौत्रामणि में भी सुरा पीने को मिलते थे, प्रत्युत काठकसंहिता के काल तक उसे पीने के लिए शुल्क पर भी ब्राह्मण का मिलना कठिन था। वाजसनेयीसंहिता (१६।५) ने भी सौत्रामणी की ओर ही संकेत किया है, अन्य यज्ञों की बात नहीं उठायी है। मन्त्र यह है—'ब्रह्म क्षत्रं पवते तेज इन्द्रियं सुरया सोमः सुत आसुतो मदाय', जिसका अर्थ है—'सोम जब सुरा से मिश्रित हो जाता है तो कड़ा पेय हो जाता है और उससे नशा (मद) हो जाता है'। छान्दो-

७२. तस्माज्ज्यायांश्च कनीयांश्च स्नुषा श्वसुरश्च सुरां पीत्वा सह लालपत आसते। पाप्मा वै माल्व्यं तस्माद् ब्राह्मणः सुरां न पिबति पाप्मना नेत्संसृज्या इति तदेतत् क्षत्रियाय ब्राह्मणं ब्रूयान्नैनं सुरा पीता हिनस्ति। काठकसंहिता (१२।१२)।

ग्योपनिषद् (५।१०।९) ने सुरापान करने वाले को पंच महापापियों में गिना है[७३]। अतः सौत्रामणी के सुरा-दान (हवि) तथा देवी को मद्य देने के उपदेश में (जिसकी व्यवस्था तन्त्रों में है) कोई साम्य नहीं है। इस प्रकार अथर्ववेद में जादू के कृत्यों से सम्बन्धित संकेत से भी कोई सहायता नहीं प्राप्त हो सकती। उस काल से समाज बहुत आगे आ चुका था और मनु (११।६३) ने **अभिचार** (अर्थात् किसी को मारने के लिए श्येनयाग के समान जादू की क्रिया) एवं **मूलकर्म** (जड़ी-बूटियों तथा मन्त्रों से किसी व्यक्ति या स्त्री को अपने वश में करना) को उपपातक ठहरा दिया था। महाभारत (उद्योगपर्व, ५६।५) से सम्बन्धित संकेत भी भ्रामक हैं। महाभारत-काल में मद्यसेवन होता था किन्तु तन्त्रों के समान धार्मिक कृत्य के अंश के रूप में नहीं। इसी प्रकार तन्त्रों में मद्यसेवन के पक्ष में मार्कण्डेय तथा अन्य पुराणों का जो हवाला दिया गया है वह भी व्यर्थ ही है, क्योंकि पुराणों के वे अंश तब लिखे गये थे या क्षेपक रूप में तब जोड़े गये जब हिन्दू समाज के कुछ अंशों पर तान्त्रिक क्रियाओं का प्रभाव प्रगाढ़ रूप में पड़ चुका था। महाव्रत [७४] में मैथुन की ओर जो संकेत किया गया है वह अत्यन्त भ्रामक एवं अविवेकपूर्ण है। कुलार्णव एवं गुह्यसमाज ऐसे तन्त्रों में केवल साधक को अलौकिक शक्तियों एवं उच्च आध्यात्मिक उपलब्धियों के लिए मैथुन का आचरण करना पड़ता था किन्तु महाव्रत में मैथुन का कर्म अभ्यागतों द्वारा निर्देशित है (न कि यजमान या किसी पुरोहित द्वारा) और वह भी केवल प्रतीकात्मक है न कि देवी को प्रसन्न करने के लिए धार्मिक कृत्य के रूप में स्वयं साधक द्वारा किये जाने वाले मैथुन के अनुरूप है। यहाँ तक कि पश्चात्कालीन सुधारवादी तन्त्र ग्रन्थ महानिर्वाणतन्त्र ८।१७४-१७५) ने स्पष्ट रूप से कहा है कि उन पंच तत्त्वों पर, जिन्हें साधक एकत्र करता है (यथा—मद्य, मांस आदि) सौ बार 'आं, ह्रीं, क्रों, स्वाहा' नामक मन्त्र का पाठ होना चाहिए, साधक को यह विचार करना चाहिए कि प्रत्येक वस्तु ब्रह्म से उत्पन्न है, उसे आँखें बन्द करनी चाहिए और उन तत्त्वों को काली को समर्पित करना चाहिए, और फिर स्वयं खाना-पीना चाहिए।

अलौकिक शक्तियों एवं मुक्ति की प्राप्ति के लिए मकारों की व्यवस्थाओं से जनता संक्षुब्ध हो चुकी थी और तन्त्रों की अवमानना आरम्भ हो गयी थी, अतः शक्तिसंगमतन्त्र (१५५५-१६०७ ई०) ऐसे पश्चात्कालीन हिन्दू तन्त्र ग्रन्थों ने प्रतीकात्मक व्याख्याएँ करनी आरम्भ कर दीं। उनका कथन है कि मद्य, मुद्रा, मैथुन आदि शब्द सामान्य अर्थ में नहीं प्रयुक्त हैं, प्रत्युत वे विशिष्ट गूढ़ अर्थ में प्रयुक्त हैं[७५]। उदाहरणार्थ, मुद्रा के

७३. तदेष श्लोकः। स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबंश्च गुरोस्तल्पमावसन्ब्रह्महा चैते पतन्ति चत्वारः पंचमश्चाचरंस्तैरिति। छा० उप० (५।१०।९)।

७४. सत्र के एक दिन पूर्व महाव्रत होता है। देखिये इस महाग्रन्थ का खण्ड (जिल्द) २।

७५. गुडार्द्रकरसो देवि मुद्रा तु प्रथमा मता। पिण्याकं लवणं देवि द्वितीया परिकीर्तिता। लशुनं **तित्तिड़ी चैव तृतीया परिकीर्त्तिता। गोधूममाषसम्भूता सुन्दरी च चतुर्थिका। शक्त्यालापः पंचमी स्यात्पंचमुद्राः प्रकीर्तिताः॥** शक्तिसङ्गम, ताराखण्ड, ३२, १३—१५; देखिये महानिर्वाणतन्त्र (६।९—१०) जहाँ चावल, **जौ, या गेहूँ का घी के साथ बना व्यंजन या भूना हुआ अन्न मुद्रा कहा गया है। न मद्यं माधवीमद्यं मद्यं शक्तिरसोद्भवम्। सुषुम्ना शंखिनी मुद्रा उन्मन्यनुत्तमं रसः॥' सामरस्यामृतोल्लासं मैथुनं च सदाशिवम्। महा-कुण्डलिनी शक्तिस्तद्योगार्थं महेश्वरि।...संयोगामृतयोगेन कुण्डल्युत्थानकारणात्। शक्तिसंगम०-ताराखण्ड ३२, २५-२७, ३२। देखिये 'शक्ति एण्ड शाक्त' (पृ० ३३९-३४०) जहाँ पर मद्य, मांस, मत्स्य एवं मैथुन का योगिनी-**

कई अर्थ हैं, यथा—गुड़ एवं सिरका का मिश्रण, या नमक एवं खली का मिश्रण या लहसुन एवं इमली का मिश्रण या गेहूं एवं उर्द का मिश्रण; इसी प्रकार **मद्य** वह नहीं है जो माधवी (महुआ) से बनता है, प्रत्युत यह है कुण्डलिनी के जगाने के प्रयत्न में शक्ति की आह्लादमय अनुभूति (या रस)। यह मान लिया जा सकता है कि कुछ तान्त्रिक ग्रन्थ एवं लेखक मनुष्यों को तीन वर्गों में बाँटते हैं, यथा—पशु, वीर (वे जिन्होंने आध्यात्मिक अनुशासन के मार्ग में बड़ी उन्नति कर ली है) एवं **दिव्य** (जो देवों के समान हैं) इन तीन वर्गों के लिए तन्त्र के समर्थक लोग पाँच मकारों की विभिन्न व्याख्याएँ करते हैं। डी० एन० बोस ने अपने ग्रन्थ 'तन्त्रज' देयर फिलॉसफी एण्ड ऑकल्ट सीक्रेट्स' (पृ० ११०-१११) में बलपूर्वक कहा है कि पंच मकारों के वास्तविक महत्त्व को दुष्ट प्रकृति के लोगों ने जानबूझ कर गन्दा कर डाला है; **मद्य** वह अमृतमय धारा है जो मस्तिष्क के उस कोश से फूटती है, जहाँ आत्मा का निवास है, **मत्स्य** का अर्थ है प्राणोच्छ्वासों का अवदमन, **मांस** का तात्पर्य हैं 'मौन व्रत' तथा **मैथुन** का अर्थ है 'सृष्टि एवं नाश के कर्मों पर ध्यान'।

तान्त्रिक लोग अपने प्रयोगों को अतिशयोक्तिपूर्ण उच्च अर्थ वाले शब्दों में बाँधने के अभ्यासी रहे हैं। पंचमकारों को पञ्च तत्त्व, कुलद्रव्य या कुलतत्त्व कहा गया है। मैथुन को सामान्यतः पंचमतत्त्व कहा जाता है, और वह नारी, जिसके साथ सम्भोग किया जाता है या जो तन्त्रपूजा में पुरुष से सम्बन्धित होती है, **शक्ति** (देखिये कुलार्णव ७।३६-४३ एवं महानिर्वाण०, ६।१८-२०) या **प्रकृति** या **लता** कहलाती है और यह विशिष्ट **कृत्य** 'लतासाधन' (महानिर्वाण १।५२) कहा जाता है। **मद्य** को **तीर्थवारि** या **कारण** (८।१६८ एवं ६।१७) कहा जाता है। महानिर्वाणतन्त्र ने, जो एक सुधारवादी ग्रन्थ है और कुछ बातों में राजा से मद्यपियों को दण्डित करने को कहता है (११।११३-१२१) सुरा की प्रशंसा में कलम तोड़ दी है और उसे द्रवमयी-तारा, जीवनिस्तारकारिणी, भोग एवं मोक्ष की माता तथा विपत्ति एवं रोग को नाश करने वाली कहा है (११।१०५)। शक्ति-पूजा के लिए पंच तत्त्व अनिवार्य हैं (महानिर्वाणतन्त्र ५।२१-२४ एवं कुलार्णव०५। ६६ एवं ७६) [७६]। कुछ तन्त्रों में ऐसा आया है कि तत्त्वों के अर्थ में तब अन्तर पड़ जाता है जब सम्बन्धित व्यक्ति **तामसिक** (पशु प्रकार का साधक) होता है या **राजसिक** (**वीर** प्रकार का साधक) होता है या **सात्त्विक**

तन्त्र (अध्याय ६) एवं आगमसार के अनुसार दिव्यभाव के रूप में अलौकिक अर्थ दिया हुआ है। योगिनीतन्त्र का एक श्लोक यह है: 'सहस्रारोपरि बिन्दौ कुण्डल्या मलेनं शिवे। मैथुनं परमं द्रव्यं यतीनां परिकीर्तितम् ॥ पशु वर्ग के लोगों के लिए, जो शक्ति-पूजकों की निम्न श्रेणी में परिगणित हैं, तत्त्वों के प्रतिनिधि विभिन्न प्रकार के हैं। कौलावलीनिर्णय (५।११३-१२३) ने कई एक प्रतिनिधियों का उल्लेख किया है, यथा—एक ब्राह्मण मद्य के स्थान पर ताम्रपात्र में मधु, पीतल के पात्र में गाय का दूध या नारियल का पानी रख सकता है, मांस के अभाव में लहसुन एवं सिरका का प्रयोग हो सकता है, मत्स्य के स्थान पर भैंस या भेंड़ का दूध प्रयोग में लाया जा सकता है तथा मैथुन के स्थान पर भूने हुए फल एवं जड़-मूल प्रयोग में लाये जा सकते हैं। ये व्याख्याएँ ठीक नहीं जँचतीं और इनकी सत्यता पर सन्देह उत्पन्न होना स्वाभाविक है।

७६. कुलद्रव्यैर्विना कुर्याज्जपयज्ञतपोव्रतम्। निष्फलं तद्भवेद्देवि भस्मनीव यथा हुतम् ॥; मन्त्रपूतं कुलद्रव्यं गुरुदेवार्पितं प्रिये। ये पिबन्ति जनास्तेषां स्तन्यपानं न विद्यते।। कुलार्णव० (५।६६ एवं ७६)। 'स्तन्यपान न विद्यते' का अर्थ है कि वह पुनः नहीं जन्म लेता। कुलार्णव० (५।७६-८०) में आदेश है: 'सुरा शक्तिः शिवो मांसं—तद्भोक्ता भैरव स्वयम्। तयोरैक्यसमुत्पन्न आनन्दो मोक्ष उच्यते ॥ आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तच्च देहे व्यवस्थितम्। तस्याभिव्यञ्जकं मद्यं योगिभिस्तेन पीयते ॥'

(शिष्य, व्यक्ति जो श्वेता के समान होता है)। बहुत-से तन्त्र-ग्रन्थों के अनुसार **मद्य** का अर्थ सुरा एवं उसका प्रतिनिधि, यथा नारियल का जल या कोई पेय पदार्थ; इसका अर्थ वह मत्त करने वाला ज्ञान भी है जो योग-क्रियाओं के उपरान्त प्राप्त होता है। जिसके द्वारा साधक बाह्य संसार के लिए एक प्रकार से संज्ञा शून्य हो जाता है। **मांस** वह कर्म है जिसके द्वारा साधक अपने एवं अपने कर्म को भगवान् शिव को समर्पित कर देता है। **मत्स्य** (जिसके प्रथम भाग 'मत' का अर्थ होता है 'मेरा') वह मानस-स्थिति है जिसके द्वारा साधक प्राणियों के सुख एवं दुःख से सहानुभूति रखता है। **मैथुन** मूलाधारचक्र में शक्ति कुण्डलिनी (मनुष्य की देह में स्थित नारी) में तथा सहस्रारचक्र में परम शिव का मस्तिष्क के सर्वोच्च केन्द्र में सम्मिलन है और वह सहस्रार से चूने वाले मधुर-रस की धार है। कुछ लोगों के मत से **विजया** या भंग ही मद्य है। महानिर्वाण० (८।१७० एवं १७३) का कथन है कि मधु के लिए 'मधुर-त्रय' एवं मैथुन के लिए देवी की प्रतिमा के चरणों का ध्यान एवं वांछित मन्त्र का जप रखा जा सकता है। कौलावलीनिर्णय (३।३) ने निर्भय होकर कहा है कि यदि व्यक्ति विजया (भंग) छान (पी) कर ध्यान में लगता है तो वह ध्यानमन्त्र में वर्णित देवी के आकार का साक्षात् दर्शन करता है। कौलज्ञाननिर्णय एवं भास्करराय (ललितासहस्रनाम की टीका में) ऐसे तन्त्रों का कथन है कि जब कुण्डलिनी योगी द्वारा जगा ली जाती है और वह सहस्रार चक्र में प्रविष्ट हो जाती है तो वहाँ से (जहाँ बीजकोश में चन्द्र का निवास है) अमृत चूने लगता है, जो आलंकारिक रूप से मद्य कहलाता है। कुलार्णव ने सर्वप्रथम उद्घोष किया है (१।१०५-१०७)—'मुक्ति का उदय न तो वेदाध्ययन से होता और न शास्त्रों के अध्ययन से; इसका उदय केवल ठीक ज्ञान से होता है, आश्रम मोक्ष के साधन नहीं और न दर्शन ही ऐसे हैं और न शास्त्र ही; यह ज्ञान ही कारण है; गुरु द्वारा दिया गया ज्ञान ही मुक्ति प्रदान करता है, अन्य विद्याएँ मात्र हास्यास्पद हैं'। इसके उपरान्त वेदान्ती ढंग से ऐसा कहा गया है (१।१११-११२)—'दो शब्द (क्रम से) बन्धन या मुक्ति की ओर ले जाते हैं, यथा—(यह) मेरा (है) या 'मेरा कुछ भी नहीं है'। व्यक्ति यह सोचकर कि 'यह मेरा है' बन्धन में पड़ता है और जब उसे इसका ज्ञान हो जाता है कि 'मेरा कुछ भी नहीं है' तो वह मुक्त हो जाता है। वही उचित कर्म है जिससे व्यक्ति बन्धन में नहीं पड़ता, वही वास्तविक ज्ञान है जो मुक्ति प्रदान करता है।' इन उच्च विचारों के उपरान्त वही तन्त्र (२।२२-२३ एवं २६) कौल सिद्धान्त पर आ जाता है। 'वह व्यक्ति जो योगी है, (सामान्यतः) जीवन का उपभोग नहीं करता, और जो योग नहीं जानता जीवन का उपभोग करता है; किन्तु कौल सिद्धान्त में योग एवं भोग दोनों हैं, अतः यह सभी (सिद्धान्तों) में श्रेष्ठ है; कौल सिद्धान्त में भोग सीधे ढंग से योग हो जाता है, जो (अन्य साधारण लोगों की दृष्टि में) पाप है, वही पुण्य हो जाता है, संसार मोक्ष में परिवर्तित हो जाता है। जिसका मन शिव-पूजा, दुर्गा-पूजा आदि के मन्त्रों से पवित्र हो चुका है उसे कौल ज्ञान प्रकाशित करता है।'

कुलार्णव साधारण लोगों को दो मनों वाला लगता है। जहाँ एक साँस में वह मद्य पीने, मांस खाने की बात कौल सिद्धान्त के अनुयायियों से कह डालता है, उसी ढंग से दूसरे अवसर पर वह मकारों का गूढार्थ उपस्थित करने लगता है (५।१०७-११२)—मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचने पर कुण्डलिनी—शक्ति एवं बुद्धि (चित्, शिव) के रूप में चन्द्र के सम्मिलन का आनन्द उभरता है; मस्तक के कमल से स्रवित होने वाले अमृत के स्वाद पर ध्यान देने वाला व्यक्ति सुधा (अमृत, मद्य) पीता है; अन्य व्यक्ति मात्र

मद्य पीते हैं। जब योग का अभ्यासी [७७] ज्ञान की तलवार से अच्छा या बुरा कर्म करने वाले पशु (अहं) को काटता हुआ अपने मन को परम (तत्त्व) में लगा देता है तो वह पल (सर्वोच्च, मांस) का खाने वाला कहा जाता है। योगी, जो अपने मन से अपनी कतिपय इन्द्रियों को संयमित करता हुआ, उन्हें आत्मा में केन्द्रित कर देता है, 'मत्स्याशी' हो जाता है[७८], अन्य सब केवल प्राणियों के हन्ता कहे जाते हैं। पशु (वर्ग के) व्यक्ति की शक्ति (साधक से सम्बन्धित नारी) अप्रबुद्ध होती है; किन्तु कौलिक की शक्ति प्रबुद्ध होती है; जो ऐसी शक्ति को सम्मानित करता है वह वास्तविक रूप में शक्तिपूजक है। जब व्यक्ति पराशक्ति (सर्वोच्च शक्ति) एवं आत्मा (शिव) के सम्मिलन से उत्पन्न आनन्द से परिपूर्ण हो जाता है तो वही मैथुन कहलाता है; अन्य व्यक्ति मात्र स्त्रीनिषेवक हैं।

लोकमर्यादाविरुद्ध तान्त्रिक आचारों के समर्थक अपेक्षाकृत अधिक या कम कुलार्णव की भाँति ही पंचमकारों के विषय में व्याख्याएँ एवं तर्क उपस्थित करते हैं। उदाहरणार्थ, अपने ग्रन्थ 'प्रिंसिपुल्स ऑव तन्त्र' (भाग २) की भूमिका में आर्थर एवालोन (सर जॉन वुड्रौफ) ने पारानन्दसूत्र (पृ० १७) में प्रयुक्त 'पीने' की अलौकिक अर्थ (गुप्त या गूढ़ अर्थ) में व्याख्या की है—'बार-बार पीने पर, पृथिवी पर गिर जाने पर पुनः उठ कर पी लेने पर पुनर्जन्म नहीं होता'[७९]। उन्होंने व्याख्या की है—'इस प्रकार जग जाने पर कुण्डलिनी मुक्ति के बृहद् मार्ग में प्रवेश करती है, वह मार्ग सुषुम्ना स्नायु है और सभी केन्द्रों को एक के उपरान्त एक बेधती सहस्रार में पहुँच जाती है और पुनः उसी मार्ग से मूलाधार चक्र को लौट आती है। इस प्रकार के सम्मिलन से अमृत धार का प्रवाह होता है। साधक उसे पीता है और परम सुख प्राप्त करता है। यही कुलामृत नामक मद्य है जिसे आध्यात्मिक स्तर वाला साधक पीता है...।' आध्यात्मिक वर्ग के साधक के विषय में तन्त्र का कथन है—'पीत्वा पीत्वा... विद्यते'। षट्-चक्र-साधना की प्रथम अवस्था में साधक बहुत देर तक अपनी साँस रोक कर शक्ति के प्रत्येक केन्द्र में धारणा एवं ध्यान का अभ्यास नहीं कर पाता। वह कुण्डलिनी को सुषुम्ना में अपने कुम्भक की शक्ति से अधिक देर तक नहीं रख सकता। अतः परिणामतः उसे स्वर्गिक अमृत का पान करने के उपरान्त पृथिवी पर अर्थात् उस मूलाधार पर उतर

७७. आमूलाधारमाब्रह्मरन्ध्रं गत्वा पुनः पुनः। चिच्चन्द्र कुण्डली शक्तिसामरस्य सुखोदयः॥ व्योमपंकजनिस्यन्दसुधापानरतोनरः। सुधापानमिदं प्रोक्तमितरे मद्यपायिनः॥ पुण्यापुण्य-पशुं हत्वा ज्ञानखड्गेन योगवित्। परेलयं नयेच्चित्तं पलाशी स निगद्यते॥ मनसा चेन्द्रियगणं संयम्यात्मनि योजयेत्। मत्स्याशी स भवेद्देवि शेषाः स्युः प्राणिहिंसकाः॥ अप्रबुद्धा पशोः शक्तिः प्रबुद्धा कौलिकस्य च। शक्तिं तां सेवयेद्यस्तु स भवेच्छक्ति सेवकः॥ पराशक्त्यात्ममिथुनसंयोगानन्दनिर्भरः। य आस्ते मैथुनं तत् स्यादपरे स्त्रीनिषेवकाः॥ कुलार्णव० (५।१०७-११२)। चौथा तत्त्व मुद्रा है, किन्तु यह शब्द बहुधा साधक से सम्बन्धित शक्ति के लिए प्रयुक्त होता है।

७८. पलाशी का अर्थ है 'पल को खाने वाला' या 'पल का आनन्द लेने वाला'। पल अर्थ है 'मांस'। 'पल' 'पर' (सर्वोच्च) के लिए भी प्रयुक्त होता है क्योंकि 'र' एवं 'ल' उच्चारण-स्थान से एक ही हैं और 'अश्' धातु का अर्थ 'पहुँचना' एवं 'खाना' दोनों होता है। 'मत्स्याशी' का शाब्दिक अर्थ है 'मत्स्य' को खाने वाला', किन्तु अलौकिक व्याख्या में 'मत्स्य' 'मनस्' (मन) + 'स्य' के लिए है जो 'संयम' का प्रतिनिधित्व करता है।

७९. जीवन्मुक्तः पिबेरेवमन्यथा पतितो भवेदिति। पुनः पीत्वा पुनः पीत्वा पतित्वा धरणी तले। उत्थाय च पुनः पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते।। पारानन्दसूत्र (पृ० १७, सूत्र ८१-८२)।

पड़ना होता है जो कि पृथिवी तत्व का केन्द्र है। साधक को इसका अभ्यास बार-बार करना होता है और लगातार अभ्यास से ही पुनर्जन्म का कारण अर्थात् **वासना** (इच्छा) दूर होती है।" यह व्याख्या अति गम्भीर एवं उत्कृष्ट रूप से मानसिक है। किन्तु किसी प्रकार भी प्रतीति में बैठने वाली नहीं है।

प्रस्तुत लेखक यह जानना चाहता है कि कितने तन्त्र-लेखकों एवं कितने तान्त्रिकों ने ऊर्ध्वायन के सिद्धान्त को, जो 'तन्त्रज़ ऐज़ ए वे ऑव रीयलिजेशन' (आत्मज्ञान के लिए तन्त्र-विधि, कल्चरल हेरिटेज ऑव इण्डिया, जिल्द ४, पृ० २३३-२३५) में उल्लिखित है, पंचमकारों के आलम्बन की व्याख्या करके अनुभव किया है। प्रथम प्रश्न यह है—'एक अति गम्भीर एवं उच्च आनन्द की अवस्था के वर्णन के लिए अश्लील भाषा का प्रयोग क्यों आवश्यक था? मान लिया जाय कि वुड्रौफ ने मद्य की जो व्याख्या की है वह ठीक है, तो मत्स्य एवं मांस की क्या व्याख्या होगी? समर्थकों ने जो गूढ़ार्थ 'मत्स्याशी' एवं 'मांसाशी' के विषय में दिया है वह भूलभूलैया मात्र है, उससे कुछ अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाता। कुलार्णव०, पारानन्द-सूत्र तथा कतिपय अन्य ग्रन्थों ने सदैव साधारण अर्थ में ही मद्य, मांस एवं मत्स्य ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है। कुलार्णव० (२।१२६) ने मनु (९।९३ : सुरा वै मलमन्नानां आदि) को उद्धृत किया है। तीन प्रकार की सुरा बनाने की विधि बतायी है (५।१५-२१) और कहता है कि मदों में सुरा १२वाँ प्रकार है और अन्य ११ प्रकार के मद (मद्य) पनस, अंगूर, खजूर, गन्ना आदि से बनते हैं (५।२६)। कुलार्णव ने कौल आचार में मद्य पीने के ढंग पर प्रकाश डाला है (११।२२-३५)। इसने मांस के तीन प्रकार बताये हैं—नभचर जीवों (पक्षियों) के, जलचर के एवं स्थलचर के। स्वच्छन्दतन्त्र (कश्मीरी शैवागम पर एक महान् प्रामाणिक ग्रन्थ) में आया है कि भाँति-भाँति की मछलियाँ एवं मांस तथा ऐसे भोजन जो चूसे जाते हैं एवं पिये जाते हैं, शिव की प्रतिमा पर चढ़ाये जाने चाहिए और इस विषय में कंजूसी नहीं की जानी चाहिए। पारानन्दसूत्र के उद्धरण यह भली भाँति प्रकट करते हैं कि मद्य, मांस एवं मैथुन साधारण अर्थ में ही प्रयुक्त हुये हैं। पारानन्दसूत्र (पृ० ८०-८३) ने साधक द्वारा किये जाने वाले मैथुन का ऐसा अश्लील वर्णन किया है कि यहाँ उसका उद्घाटन करना असम्भव है। देवी-पूजा सविस्तार होती थी, सोलह उपचार किये जाते थे। तो ऐसी स्थिति में मद्य, मांस एवं मैथुन को देवी-पूजा के लिए अनिवार्य क्यों माना गया? कुलार्णव एवं अन्य तन्त्रों ने वेद की प्रशंसा की है, वैदिक मन्त्रों का प्रयोग किया है तथा उपनिषदों एवं गीता के वचन उद्धृत किये हैं। तब भी दुःख की बात है कि उन्होंने इस बात का ध्यान नहीं रखा कि सामान्य जनता पर उनके कथनों एवं आचारों का क्या प्रभाव पड़ सकता है। मध्यकाल के कुछ ऐसे कौल-सम्प्रदाय-सम्बन्धी ग्रन्थ हैं, जो मद्य पीने मांस खाने एवं मैथुन करने का वर्णन अश्लील ढंग से करते हैं और देवी-पूजा के लिए आवश्यक मानते हैं और बलपूर्वक कहते हैं कि इससे मुक्ति मिलती है। कौलरहस्य (जिसमें १०० श्लोक हैं) के दो श्लोकों से पता चल जायेगा कि सामान्य लोग पंच मकारों के विषय में क्या धारणा रखते थे[८०]।

८०. निधाय धारां वदने सुधायाः श्रीचक्रमभ्यर्च्य कुलक्रमेण। आस्वाद्य मद्यं पिशितं मृगाक्षीमालिंग्य मोक्षं सुधियो लभन्ते।। आस्वादयन्तः पिशितस्य खण्डम कण्ठपूर्णं च सुधां पिबन्तः। मृगेक्षणासङ्गमाचरन्तो भुक्तिं च मुक्तिं च वयं व्रजामः।। कौलरहस्य (श्लोक ४ एवं ७; डकन कालेज पाण्डुलिपि, संख्या ९५९, १८८४-८७; संवत् १७९०=१७३४ ई० में प्रतिलिपि बनी)। यह नीलपटदर्शन के सिद्धान्त से मिलाया जा सकता है। देखिये पाद-टिप्पणी संख्या ६०। भण्डारकर ओरिएण्टल रीसर्च इंस्टीच्यूट (पूना) में एक पाण्डुलिपि (डकन कालेज, संख्या

प्रो० इनिरिख जिम्मर ने अपनी पुस्तक 'आर्ट आव इण्डियन एशिया' (जिल्द १, पृ० १२९-१३०) में कुछ वक्तव्य दिये हैं जो विचारणीय हैं। उन्होंने जो कुछ कहा है वह कला-विशेषज्ञ एवं भारतीयकला के इतिहासकार के रूप में कहा है। उनकी धारणाएँ उड़ीसा के पुरी एवं अन्य मन्दिरों तथा भारत के अन्य स्थानों में पाये जाने वाले मन्दिरों पर तक्षित तन्त्र सम्बन्धी प्रतिमाओं पर आधारित हैं। उनका कहना है कि भारतीय कला के पीछे भारतीय धार्मिक एवं दार्शनिक जीवन है। भारतीय कलाकारों ने भौतिक जीवन की स्थूल आवश्यकताओं पर भी ध्यान दिया है। भारतीयों ने न केवल योग पर ध्यान दिया है, प्रत्युत उन्होंने भोग एवं प्रेम की पूर्ण अनुभूति को भी स्थान दिया है। हिन्दू एवं बौद्ध परम्पराओं में जो प्रतीक प्राप्त होते हैं उनसे यह व्यक्त होता है कि योग एवं भोग में कोई मौलिक आन्तरिक विरोध नहीं है। योग के कठोर अनुशासनों में आध्यात्मिक शिक्षक एवं पथ प्रदर्शक के रूप में गुरु का जो कर्म था वह भक्तों एवं कामुक सहकर्मियों द्वारा भोग के उपक्रमों में ग्रहण कर लिया गया। दीक्षित एवं अभिमन्त्रित नारी शक्ति के रूप में प्रकट होती है और दीक्षित एवं अभिमन्त्रित पुरुष शिव के रूप में, और दोनों देवी एवं देव के **एकशरीर** या **एकमूर्ति** के रूप में अपने भीतर परम महत्ता की अनुभूति ग्रहण करते हैं। हमने यह पहले ही कह दिया है कि प्रो० जिम्मर की यह धारणा त्रुटिपूर्ण है कि तान्त्रिक कृत्यों को योग के भारतीय साम्प्रदायिकों ने वाममार्ग के रूप में विधिवत् अवमानना (अवज्ञा) दी। प्रो० जिम्मर, यह कहते हुए भी त्रुटिपूर्ण हैं कि प्रथम शती भर तान्त्रिक कृत्य भारतीय सहज अनुभूति के आधार थे। इस कथन की पुष्टि के लिए कोई प्रमाण नहीं है। स्वयं तान्त्रिकों ने पूजा में पंचमकारों का प्रयोग **वामाचार** कहा है।

अब हम तान्त्रिकों की दो-एक विलक्षण धारणाओं एवं आचारों का उल्लेख करेंगे। 'आं, ह्रीं, क्रों' नामक तीन बीजों के पाठ तथा 'ओं आनन्द भैरवाय नमः' एवं 'ओं आनन्द भैरव्यै नमः' के जप से मद्य, मांस एवं मुद्रा के द्रव्य की **शुद्धि** की जाती थी [८१]। महानिर्वाण० एवं तन्त्रराजतन्त्र में आया है कि बिना शुद्धि[८२]

९९४, १८९१-१८९५) है जिसका नाम है पंचमकारशोधनविधि, जिसमें वैदिक मन्त्रों से महानिर्वाणतन्त्र की भाँति ही पंचमकारों की शुद्धि का उल्लेख है।

८१. शुद्धिं बिना मद्यपानं केवलं विषभक्षणम्। चिररोगी भवेन्मन्त्री स्वल्पायुर्म्रियतेऽचिरात्।। महानिर्वाण० (६।१३)। सर जॉन वुड्रौफ एक विचित्र व्याख्या उपस्थित करते हैं कि बिना भोजन के मद्य अधिक हानि या कष्ट उत्पन्न करता है तथा मन्त्र-जप एवं अन्य कृत्यों का सम्पादन, साधकों के विश्वास के अनुसार, मद्य से उत्पन्न शाप को दूर करता है और साधक देवी एवं शिव के सम्मिलन का ध्यान मद्य में करता है, क्योंकि मद्य स्वयं एक देवता है। सत्यत्रेताद्वापरेषु यथा मद्यादिसेवनम्। कलावपि तथा कुर्यात् कुलवर्त्मानुसारतः।। कुलमार्गेण तत्त्वानि शोधितानि च योगिने। ये दद्युः सत्यवचसे नहि तान् बाधते कलिः। महानिर्वाण० (४।५६-६०)।

८२. कुलार्णव० (१७।२५) ने 'वीर' की परिभाषा यों की है: 'वीतरागमदक्लेशकोपमात्सर्यमोहतः। रजस्तमोविदूरत्वाद्वीर इत्यभिधीयते।।' इन उत्कृष्ट गुणों की आवश्यक के रहते हुए भी रुद्रयामल (२८।३१-३६) में आया है कि वीर को दूसरे की सुन्दर पत्नी (या अपनी) का सम्मान करना चाहिए, जो आभूषणयुक्त हो, जिसकी देह कामुक रागों से व्याप्त हो और जो मद्य से उत्फुल्ल हो उठी हो—'अथ वीरो यजेत्कान्तां परकीयामथापि वा।... मदनानलतप्ताङ्गीमासवानन्दविग्रहाम्।।' आदि। महानिर्वाण० (१।५७) ने साधकों की तीन श्रेणियाँ बतायी हैं—पशु, वीर एवं दिव्य, अन्तिम की परिभाषा यों है—'दिव्यश्च देवताप्रायः शुद्धान्तःकरण सदा। द्वन्द्वा-

के मद्य-सेवन, विष-सेवन के सदृश है, जो व्यक्ति ऐसा करता है वह बहुत दिनों तक रुग्ण रहेगा और आयु के पूर्व ही शीघ्र मर जायेगा । मद्य-सेवन वह भी कर सकता है जिसे कुछ पूर्णता प्राप्त हो चुकी है और वह देवी के ध्यान में डूबकर अलौकिक आनन्द की अनुभूति कर लेता है, जब वह उस स्थिति के ऊपर अधिक पीता है तो वह पापी हो जाता है (और देखिए कुलार्णव० ७। ९७-९८, जहाँ पर अन्तिम बात की ओर संकेत है)।

आडम्बरहीन लोगों के दृष्टिकोण से एक अत्यन्त विद्रोहपूर्ण कृत्य है चक्र-पूजा (घेरे में होने वाली पूजा)। बराबर संख्या में पुरुष एवं नारी, बिना जाति-भेद के, यहाँ तक कि सन्निकट रक्त सम्बन्धी जन भी गुप्त रूप से रात्रि में मिलते हैं और एक वृत्त में बैठते हैं (देखिए कुलावलीनिर्णय, ८।७६)। एक यन्त्र (चित्र) के रूप में देवी चित्रित होती हैं। चक्र का एक नेता होता है। नियम ऐसे थे कि केवल वीर स्थिति में कुशल व्यक्ति ही सम्मिलित किये जाते थे [८३] और पशु भाव वाले (साधारण जन लोग जो अपने पशुत्व पर विजय नहीं पा सके हैं) सर्वथा त्याज्य थे। यह कैसे विश्वास किया जा सकता था कि 'चक्र' के नेता में वे उत्तम गुण विद्यमान हैं जो ऊपर उल्लिखित हैं और वह नेता उन गुणों से युक्त लोगों को ही सम्मिलित करेगा? उपस्थित स्त्रियों में सभी अपनी-अपनी कंचुकी को एक पात्र (या आधार या स्थान) में रख देती थीं और उपस्थित पुरुषों में प्रत्येक उनमें से किसी एक को उस रात्रि के लिए चुन लेता था (अर्थात् पात्र में से कंचुकी को उठाकर उसकी मालकिन को चुन लेता था)। इस चक्र के आचार ने तान्त्रिकों को अवश्य भर्त्सना एवं निन्दा का पात्र बनाया होगा। इसी से कुलार्णव० [८४] ने अपनी सम्मति दी है कि चक्रपूजा गुप्त रीति से होनी चाहिए। 'श्री चक्र में जो कुछ भला या बुरा होता है, उसे जनता में कभी

तीतो वीतरागः सर्वभूतसमः क्षमी।। (वही १।५५)। इन तीन भावों के विषय में तन्त्र विभिन्न मत रखते हैं। कालीविलासतन्त्र में आया है कि दिव्य प्रकार के लोग केवल सत्ययुग एवं त्रेतायुग में होते थे, वीर प्रकार के लोग केवल त्रेतायुग एवं द्वापर युग में पाये जाते थे, ये दोनों कलियुग में नहीं होते हैं, केवल पशु-भाव कलियुग में बचा रह गया है (६।१० एवं २१)।

८३. देखिए 'शक्ति एवं शाक्त' (पृ० ३५४); फर्कुहर का ग्रन्थ 'आउटलाइंस आव दि रिलिजियस लिटरेचर आव इण्डिया (पृ० २०३); महानिर्वाणतन्त्र ८।२०४-२१९। श्रीचक्र वृत्तान्तं शुभं वा यदि वाशुभम्। कदाचिन्नैव वक्तव्यमित्याज्ञा परमेश्वरि।। कुलधर्मादिकं सर्वं सर्वावस्थासु सर्वदा। गोपयेच्च प्रयत्नेन जननीजारगर्भवत्। वेदशास्त्रपुराणानि स्पष्टानि गणिका इव। इयं तु शाम्भवी विद्या गुप्ता कुलवधूरिव।। कुलार्णव० (११।७९, ८४, ८५)। किन्तु महानिर्वाण० (४।७९-८०) में शिव द्वारा कहलाया गया है कि कौलिक साधना खुले रूप में होनी चाहिए और उन्होंने अन्य तन्त्रों में जो यह कहा है कि कौलिक धर्म को गोपनीय रखना दोषयुक्त नहीं है, वह अब, जब कि कलियुग प्रबल हो गया है, ठीक नहीं है।

८४. शेषतत्त्वं महेशानि निर्वीर्यं प्रबले कलौ। स्वकीया केवला ज्ञेया सर्वदोषविवर्जिता।। अथवात्र स्वयम्भ्वादि कुसुमं प्राणवल्लभे। कथितं तत्प्रतिनिधौ कुसीदं परिकीर्तितम्।। महानिर्वाण० (६।१४-१५) 'अत्र' का अर्थ है 'शेष तत्व के निवेदन अर्थात् हव्य में', शेषतत्त्व का अर्थ है पाँचवाँ तत्त्व अर्थात् मैथुन। टीकाकार ने व्याख्या दी है 'कुसीदं रक्तचन्दनम्'। शक्ति होने वाली स्त्रियाँ तीन वर्गों में विभाजित हैं, यथा—स्वीया (अपनी पत्नी), परकीया (दूसरे की पत्नी) एवं साधारणी (वह स्त्री जो वेश्या हो)।

नहीं कहना चाहिए; यह (परमात्मा का) अनुशासन है; चक्र-पूजा की घटना का उल्लेख कभी भी नहीं होना चाहिए।' १८ वीं शती में लिखित सुधारवादी महानिर्वाणतन्त्र का कथन है कि कलियुग (जिसमें लोग सामर्थ्य-हीन होते हैं और पापमय युग का प्रभाव अधिक होता है) में पाँचवें तत्त्व (मैथुन) के लिए अपनी पत्नी ही शक्ति हो सकती है, क्योंकि उस स्थिति में कोई अपराध नहीं हो सकता, या उसके स्थान पर लालचन्दन लेप का प्रयोग हो सकता है। श्री अच्युतराय मोदक कृत 'अवैदिकधिक्कृति' (अवैदिक प्रयोगों एवं आचारों की भर्त्सना) में पंचमकारों के सम्प्रदाय की कटु आलोचना की गयी है। देखिए तारापोरेवाला कमेमोरेशन, वाल्यूम (डकन कालेज रिसर्च इंस्टीच्यूट, पृ० २१४–२२०) जहाँ अच्युतराय मोदक पर निबन्ध है। उनका ग्रन्थ १८१५ ई० में प्रणीत हुआ था।

स्वभावत: सामान्य लोगों ने, जो शक्ति, नाद, बिन्दु आदि के गहन एवं सूक्ष्म दर्शन को न तो पसन्द करते थे और न समझ सकते थे, कौतूहल एवं अतिस्पृहा के साथ तन्त्रों द्वारा व्याख्यायित पंचमकारों एवं मन्त्रों, बीजों, चक्रों आदि द्वारा की जाने वाली शक्ति-पूजा के सरल मार्ग को अपना लिया, और कुछ लोग गुरुओं, शाक्तों एवं तान्त्रिकों का रूप धारण करके कालान्तर में अति गर्हित हो गये।

तन्त्रों का मार्ग, अपने उच्चतर स्तर पर, **उपासना** या **भक्ति** का था, किन्तु यह बहुधा जादूगरी एवं अनैतिकता के गर्त्त में गिर जाया करता था। पूजित होने वाली देवी, परमेश्वरी, **उपासक** के लिए तीन रूपों वाली थी, यथा—**स्थूल, सूक्ष्म** एवं **परा**। प्रथम रूप में देवी हाथों-पैरों आदिवाली होती थी और भक्त लोग उसकी पूजा हाथों एवं आँखों से करते थे; दूसरे रूप में अच्छे गुरु से प्राप्त मन्त्र होते थे जो श्रवण एवं वाणी की इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये जाते थे; तीसरे (परा) रूप में देवी को साधक मन द्वारा समझता था और वह विभु चेतना आदि के रूप में वर्णित होती थी (देखिए नित्याषोडशिका, ६।४६–५०)।

कुछ आधुनिक लेखकों ने सम्पूर्ण तान्त्रिक साहित्य के प्रति अन्याय किया है और उसे अभिचार आदि का जादू या अश्लीलतापूर्ण कहा है। प्रस्तुत लेखक उन लोगों के समान नहीं है जो किसी बात को न समझ पाने पर उसे त्रुटिपूर्ण, असत्य या व्यर्थ समझते हैं। प्रस्तुत लेखक इस बात में विश्वास करता है कि कुछ उच्चतर मन:स्थिति वाले तान्त्रिकों तथा कुछ तन्त्र-ग्रन्थों का उद्देश्य था योग-क्रियाओं द्वारा आध्यात्मिक शक्तियों की प्राप्ति करना, परम तत्त्व का ज्ञान प्राप्त करना (जिसे ब्रह्मा, विष्णु, शिव या देवी के नाम से पुकारा जाता है) तथा मोक्ष की प्राप्ति करना। प्रस्तुत लेखक यह जानता है कि उपर्युक्त बहुत-सी बातों का आधार तथा कुछ तन्त्र-ग्रन्थों में उल्लिखित जादू-टोना का आरम्भ या स्रोत, बहुत कम मात्रा में ही, ऋग्वेद, अथर्ववेद, साम-विधान ब्राह्मण एवं अन्य वैदिक ग्रन्थों में पाया जाता है। भले ही प्रस्तुत लेखक को, जिसने बहुत-से तन्त्रों एवं पतंजलि के योगसूत्र को भाष्य एवं टीकाओं के साथ गम्भीरता एवं सावधानी के साथ पढ़ा है, कोई रहस्य-वादी अनुभूति नहीं हुई है, किन्तु यह लेखक यह मानने को सन्नद्ध नहीं है कि पैगम्बरों, सन्तों, कवियों आदि को रहस्यवादी दर्शन एवं अनुभव नहीं प्राप्त हुए थे। मानव की मानस शक्तियाँ विशद् एवं अज्ञात हैं। यह बात ठीक है कि कुछ तान्त्रिक ग्रन्थों ने सामान्य सामाजिक जीवन के नियमों एवं परम्पराओं (समाजधर्म) में अन्तर प्रकट किया है, किन्तु तान्त्रिक पूजा के विचित्र स्वरूपों में, जिनमें जब तक वह चलती रहती है, जाति एवं लिंग का विभेद नहीं खड़ा किया जाता। यह बात भी ठीक है कि तन्त्र-ग्रन्थों ने स्त्रियों को पुरुषों के समान माना और उन्हें उच्च स्थिति प्रदान की; इतना ही नहीं, उन्होंने सभी के लिए देवी की पूजा को प्रतिष्ठित कर वैष्णवों, शैवों एवं अन्य लोगों को एक-दूसरे के विरोध में जाने एवं विवाद से बचाने के लिए एक ही मञ्च स्थापित किया। किन्तु इस विषय में अधिक सफलता नहीं प्राप्त हो सकी और वैष्णव

एवं शैव आपस में लड़ते-झगड़ते चले गये और स्वयं तान्त्रिक पाँच वर्गों में बँट गये, यथा—शैव, शाक्त, वैष्णव, सौर एवं गाणपत्य। आगे चलकर स्वयं तान्त्रिकों के बीच कादिमत, हादिमत आदि सिद्धान्त परस्पर विरोधी रूप पकड़ते गये।

जिन बातों में तान्त्रिक ग्रन्थ संस्कृत के अन्य धार्मिक ग्रन्थों से भिन्न हैं वे ये हैं :—अलौकिक अथवा अद्भुत शक्तियों की उपलब्धियों का प्रतिवचन [८५], तान्त्रिक साधना द्वारा बहुत ही शीघ्र परम तत्त्व की अनुभूति प्राप्त करना (देखिए प्रिंसिपुल्स आव तन्त्र, भूमिका, पृ० १४), वाञ्छित फलों की प्राप्ति के लिए पंचमकारों द्वारा देवी की पूजा पर बल देना (महानिर्वाण० ५।२४, 'पंचतत्त्व विहीनायां पूजायां न फलोद्भव' एवं मन्त्रों, बीजों (ऐसे अक्षर जिनका अर्थ सामान्य लोग नहीं समझते), न्यासों, मुद्राओं, चक्रों, यन्त्रों तथा अन्य ऐसी बातों को, लक्ष्य की प्राप्ति के लिए, महत्ता देना। तन्त्रवाद की भर्त्सना के मूल में है उसका मद्य, मांस, मैथुन आदि पर बल देना, जिनके द्वारा देवी की पूजा अति प्रभावशाली मानी जाती है; उसकी भर्त्सना का अन्य कारण है वह सिद्धान्त कि केवल मन्त्र या मन्त्रों के पाठ से मद्य, मांस तथा अन्य तत्त्व शुद्ध हो जाते हैं, देवी को समर्पित कर देने से तथा उन पर ध्यान करने से वे ग्रहण करने योग्य हो जाते हैं, जबकि उसी साँस में यह बात भी कही जाती है कि मद्य एवं मांस का ग्रहण बिना इस कृत्य के पापमय है। ये बातें उन लोगों को जो कौल नहीं हैं, विरोध में खड़ा करती हैं। बहुधा लोग यह समझते हैं कि तन्त्र की शिक्षा सामान्य लोगों को भ्रष्ट कर देने वाली है और उसमें कपट एवं छल की वास (गन्ध) आती है।

कुछ तन्त्रों ने ऐसी बातें कहीं हैं जो अतान्त्रिकों को उच्छृंखलतापूर्ण जँचती हैं। कौलावलिनिर्णय (४।१५) में आया है—'शाक्तों के हित में सुख एवं मोक्ष के लिए पाँचवें तत्त्व (मैथुन) से बढ़कर कोई अन्य तत्त्व नहीं है; केवल पाँचवें तत्त्व (के अभ्यास) से साधक सिद्ध हो जाता है। यदि वह केवल पहले (अर्थात् मद्य) का सेवन करता है तो वह **भैरव** होता है, यदि वह दूसरे (अर्थात् मांस) का सेवन करता है तो **ब्रह्मा** होता है, तीसरे (मत्स्य) से **महाभैरव** होता है, चौथे (मुद्रा) से वह **साधकों में श्रेष्ठ** होता है'। इसी तन्त्र ने, आगे पुनः कहा है—'सभी स्त्रियाँ (शाक्त) साधक के संभोग के योग्य होती हैं, केवल गुरु की पत्नी एवं उन शाक्तों की, जो वीर अवस्था को प्राप्त हो गये रहते हैं, पत्नियों को छोड़ कर;—किन्तु जो लोग

८५. सर जॉन वुड्रौफ (प्रिंसिपुल्स आव तन्त्र, भाग २, भूमिका, पृ० १२-१४) का कथन है कि तान्त्रिक ग्रन्थ अन्य धार्मिक ग्रन्थों से एक विषय में विभिन्न हैं और वह है इसके कृत्य के विभिन्न अंग, यथा—मन्त्र, बीज, मुद्राएँ, यन्त्र, भूतशुद्धि, और केवल इन्हीं बातों के कारण किसी ग्रन्थ को तान्त्रिक ग्रन्थ कहा गया। और देखिए ई० ए० पेयने कृत 'शाक्तज' (पृ० १३७) जहाँ ऐसा ही मत प्रकाशित किया गया है। सर जॉन वुड्रौफ ने पेयने के ग्रन्थ की समीक्षा (जे० आर० ए० एस०, १९३५, पृ० ३८७) करते हुए स्वयं माना है कि शाक्त कृत्य की विशेषता है इसका मन्त्र, इन्द्र-जाल सम्बन्धी इसके अंश और इसका वह भाग जो गुप्त रहता है; सामान्यतः जहाँ योग होता है वहाँ भोग नहीं होता, किन्तु शाक्त सिद्धान्त में व्यक्ति योग एवं भोग दोनों की उपलब्धि कर सकता है और यही उस सिद्धान्त की स्पष्ट एवं गहन विशेषता है। यहाँ तक कि बौद्ध वज्रयान तन्त्रों ने बोधि (देखिये गुह्यसमाज०, पृ० १५४, साधनमाला, १, पृ० २२५ एवं २, पृ० ४२१ एवं ज्ञानसिद्धि १।४ : ये तु सत्त्वाः समारूढाः सर्वसंकल्पवर्जिताः। ते स्पृशन्ति परां बोधिं जन्मनीहैव साधकाः ॥) की प्राप्ति को परम उद्देश्य माना है।

अद्वैतावस्था को पहुँचे रहते हैं उनके लिए कोई नियन्त्रण नहीं है और न कोई व्यवस्था है। पवित्र के लिए सभी कुछ पवित्र है। केवल वासना ही दूषण के योग्य है [८६]। इसी संदर्भ में उस ग्रन्थ ने नियम विरुद्ध एवं कदाचारमय संभोग के विषय में कुछ ऐसे तुच्छ एवं अश्लील तर्क उपस्थित किये हैं जिन्हें हम यहाँ नहीं लिख सकते। इस प्रकार के वक्तव्यों के लिए अन्य तन्त्र भी कुख्यात हैं। उदाहरणार्थ, कालीविलासतन्त्र (१०।२०–२१) ने शाक्त भक्त को परनारी के साथ संभोग की अनुमति दी है, किन्तु ऐसी व्यवस्था दी है कि वीर्यपात न होने पाये; उसने दृढ़ता के साथ यह कहा है कि यदि साधक ऐसा कर पाता है तो वह सर्वसिद्धीश्वर हो जाता है। बड़े आश्चर्य की बात तो यह है कि इस ग्रन्थ के लेखक ने ऐसी लज्जास्पद बात शंकर द्वारा पार्वती से कहलायी है। मद्य के विषय में उस ग्रन्थ में आया है—'जिस प्रकार वैदिक यज्ञों में ब्राह्मणों के लिए सोमपान का विधान है, उसी प्रकार, (कौल धर्म के आचार के अनुसार) उचित कालों में मद्य सेवन करना चाहिए। क्योंकि इससे भोग एवं मोक्ष दोनों प्राप्त होते हैं; केवल उनके लिए मद्य-सेवन निषिद्ध है जो फलार्थी एवं अहंकारी हैं, किन्तु जो अहंकार रहित हैं उनके लिए न तो निषेध और न विधि। जो लोग भरेपाश निर्मुक्त (अन्तर करने के पाश से रहित) हैं उन्हें मन्त्रार्थ के स्मरण एवं मन को स्थिर रखने के लिए मद्यपान करना चाहिए, किन्तु जो व्यक्ति केवल सुख के लिए मद्य तथा अन्य तत्त्वों का सेवन करता है वह पातकी है'। इस प्रकार के वक्तव्यों से समाज अवश्य दूषित हो गया होगा और यदि तन्त्रों के विरोध में बातें कही जाती रही हैं तो वे ठीक ही थीं। यदि कभी किसी एक व्यक्ति ने अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त भी कर लीं और आध्यात्मिक रूप से पर्याप्त ऊपर उठ गया तो सैकड़ों ऐसे पथभ्रष्ट, छली, कपटी, कदाचारी एवं व्यभिचारी, व्यक्ति रहे होंगे जिन्होंने अबोध लोगों, विशेषतः नारियों को पथभ्रष्ट कर दिया होगा।

बहुत थोड़े-से पुराणों, यथा—देवीपुराण, कालिका, देवीमहात्म्य (मार्कण्डेयपुराण में) ने ही देवी-पूजा में मद्य, मांस एवं मत्स्य ऐसे कुत्सित मकारों के प्रयोग की चर्चा की है। छठी एवं सातवीं शती के उपरान्त पुराणों ने शाक्तों एवं तान्त्रिकों की विशिष्ट कृत्य-संस्कार-सम्बन्धी विशेषताओं का समावेश करना आरम्भ कर दिया। अपरार्क ने देवीपुराण [८७] से उद्धरण देकर **स्थापक** (जो देवी प्रतिष्ठा सम्पादन करता है)

८६. अथातः संप्रवक्ष्यामि पञ्चतत्त्वविनिर्णयम्। पञ्चमात्तु परं नास्ति शाक्तानां सुखमोक्षयोः। केवलैः पञ्चमैरेव सिद्धो भवति साधकः। केवलेनाद्ययोगेन साधको भैरवो भवेत्। आदि-आदि, कौलावलीनिर्णय ४।१५-१६; गुरुवीरवधूस्त्यक्त्वा रम्याः सर्वाश्च योषितः। एता वर्ज्याः प्रयत्नेन सन्दिग्धानां च सर्वदा ॥ अद्वैतानां च कुत्रापि निषेधो नैव विद्यते।... अत एव यदा यस्य वासना कुत्सिता भवेत्। तदा दोषाय भवति नान्यथा दूषणं क्वचित्।। कौलावलीनिर्णय ८।२२१-२२२, २२६; पवित्रं सकलं चैव वासना कुत्सिता भवेत्। वही, (१७।१७०)। दीक्षितः परनारीषु यदि मैथुनमाचरेत्। न बिन्दोः पातनं कार्यं कृते च ब्रह्महा भवेत्। यदि न प्रपतेद् बिन्दुः परनारीषु पार्वति। सर्वसिद्धीश्वरो भूत्वा विहरेद् भूमिमण्डले।। कालीविलासतन्त्र (१०।२०-२१)।

८७. यदपि देवीपुराणे—वामदक्षिणवेत्ता यो मातृवेदार्थपारगः। स भवेत्स्थापकः श्रेष्ठो देवीनां-मातरा (तृका?) सु च। पञ्चरात्रार्थकुशलो मातृतन्त्रविशारदः। आदि—अपरार्क० (पृ० १६); इसके उपरान्त पुनः मत्स्य (२६५।१-५) से स्थापक के गुणों के विषय में उद्धरण आया है जिसमें वाम, दक्षिण एवं तन्त्र की ओर कोई संकेत नहीं है। यह सब भागवत से लिये गये अन्य उद्धरण यह बताते हैं कि मत्स्य का प्रणयन देवीपुराण एवं भागवतपुराण से कई शतियों पूर्व हो चुका था।

की अर्हताओं का उल्लेख किया है, यथा--उसे देवी एवं माताओं की प्रतिमाओं का सर्वश्रेष्ठ स्थापक होना चाहिए, उसे पूजा के **वाम** (विरोधी) एवं **दक्षिणमार्गों** का ज्ञान होना चाहिए, उसे मातृसम्बन्धी वेद का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए, उसे पंचरात्रार्थों में प्रवीण होना चाहिए और मातृ-तन्त्रों का विशारद होना चाहिए। कालिकापुराण के कई अध्यायों (५४) में मन्त्रों, कवचों, मुद्राओं, न्यासों आदि का उल्लेख है। भागवतपुराण एवं अग्नि० (३७२।३४) [८८] में स्पष्टतः आया है कि देवताओं एवं विष्णु की पूजा तीन प्रकार की होती है—**वैदिकी तान्त्रिकी** एवं **मिश्र,** जिनमें प्रथम एवं तृतीय तीन उच्च वर्णों के लिए एवं द्वितीय शूद्रों के लिए है। भागवत-पुराण (११।३।४७ एवं ४८) ने तन्त्रों में उल्लिखित केशव-पूजा को उसके लिए व्यवस्थित माना है जो हृदय की ग्रन्थि (गाँठ या क्लेश) दूर कर देना चाहता है [८९]। इसने भी वैदिकी एवं तान्त्रिकी दीक्षा (११।११।३७) का उल्लेख किया है और तान्त्रिक विधियों यथा—विष्णु के अंगों, उपांगों, आयुधों एवं अलंकरणों की ओर निर्देश किया है [९०]। कुछ पुराणों एवं मध्यकालीन निबन्धों ने तान्त्रिकों के मंत्रों, जप, न्यास, मण्डल, चक्र, यन्त्र तथा अन्य समान बातों का उपयोग किया है। उदाहरणों द्वारा इसे हम आगे उल्लिखित करेंगे। १६ उपचारों ऐसे सरल एवं सामान्य विषय में वर्षक्रियाकौमुदी (पृ० १५६) एवं एकादशीतत्त्व ने प्रपंचसारतन्त्र (६।४१–४२) से उद्धरण लिया है।

पुराणों एवं कुछ स्मृतियों ने सभी उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ५, ६, ८, १२, १३ एवं अधिक अक्षरों के मन्त्रों की व्यवस्था की है। कुछ मन्त्र नीचे पादटिप्पणी में दिये जा रहे हैं [९१]। मेधातिथि या

८८. वैदिकस्तान्त्रिको मिश्रो विष्णोर्वै त्रिविधो मखः। त्रयाणामीप्सितेनैकविधिना हरिमर्चयेत्। अग्नि० (३७२।३४)।

८९. य आशु हृदयग्रन्थिं निर्जिहीर्षुः परात्मनः। विधिनोपचरेद् देवं तन्त्रोक्तेन च केशवम्।। लब्धानुग्रह आचार्यात्तेन सन्दर्शितागमः। पिण्डं विशोध्य संन्यासकृतरक्षोर्चयेद्धरिम्।। भागवत (११।३।४७ एवं ४८)। यहाँ पर 'पिण्डशोधन' महानिर्वाणतन्त्र (५।९३-१०५) ऐसे तन्त्रों में व्यवस्थित 'भूतशुद्धि' की ओर निर्देश करता है जो पूजाप्रकाश (पृ० १२९-१३३) ऐसे पश्चात्कालीन मध्यकालीन में भी आ गया है। न्यास भी दुष्टता से रक्षा करने के लिए उल्लिखित है।

९०. तान्त्रिकाः परिचर्यायां केवलस्य श्रियः पतेः। अंगोपांगायुधाकल्पं कल्पयन्ति यथैव हि। भागवत (१२।११।२)।

९१. देखिये शारदातिलक (१।७३) जहाँ ५ या इससे अधिक अक्षरों के मन्त्रों का उल्लेख है। एक पञ्चाक्षर मन्त्र है 'नमः शिवाय' (लिंगपुराण १।८५); यही छह अक्षरों वाला मन्त्र हो जाता है जब 'ओम्' पहले लगा दिया है। छह अक्षरों वाले अन्य मन्त्र हैं 'ओं नमो विष्णवे (वृद्धहारीतस्मृति ६।२।३), ओं नमो हराय (हेमाद्रि, व्रत, भाग १, पृ० २२७), श्रीरामरामरामेति। 'खखोल्काय नमः' आदित्य का मन्त्र है (हेमाद्रि द्वारा भविष्यपुराण से उद्धृत, देखिये व्रत, २, पृ० ५२१)। कल्पतरु (व्रत, ९ एवं १९९) ने भी इसको उद्धृत किया है और पृ० १९९ पर निम्बसप्तमी में इसे मूलमन्त्र कहा है, जिसका वर्णन भविष्य, ब्राह्मपर्व (अध्याय २१५ एवं २१६) से लिया गया है। आठ अक्षरों वाले मन्त्र ये हैं—ओं नमो नारायणाय (नारदपुराण १।१६।३८-३९, ब्रह्मपुराण ६०।२४, वराहपु० १२०।७), ओं नमो वासुदेवाय (वैखानसस्मार्तसूत्र ४।१२, नरसिंहपु० ६३।६, अपरार्क द्वारा उद्धृत, मत्स्य पु० १०२।४, स्मृतिचन्द्रिका द्वारा मूलमन्त्र के रूप में उद्धृत, १, पृ० १८२); १२ अक्षरों वाला एक मन्त्र

मनु का कथन है कि 'मन्त्र' शब्द का प्रमुख अर्थ है ऋग्वेद, यजुर्वेद एवं सामवेद का कोई अंश, जिसे वे लोग, जिन्होंने वेदाध्ययन कर लिया है, वैसा मानते हैं और 'अग्नये स्वाहा' ऐसी अभिव्यक्तियाँ, जो 'वैश्वदेव' आदि कृत्य में होती हैं, केवल गौण अर्थ में, मन्त्र के रूप में, स्तुति के लिए प्रयुक्त होती हैं (मेधातिथि, मनु ३।१२१)। वैदिक धारणा ऐसी रही है कि मन्त्र में महान् शक्ति होती है और उसका पाठ वांछित फल के लिए शुद्ध रूप में ही होना चाहिए। जब मन्त्र का पाठ अशुद्ध होता है अर्थात् जब उच्चारण एवं अक्षर अशुद्ध होता है या उसका उपयोग अयुक्त होता है तो वह शब्द के रूप में वज्र हो जाता है और यजमान को नष्ट कर देता है (तै० सं० २।४।१२।१ एवं शतपथब्रा० १।६।३।८-१६)। वैदिक मन्त्र चार प्रकार के हैं, यथा **ऋक्** (जो मात्रिक होता है), **यजुष्** (जो मात्रिक नहीं भी हो सकता है, किन्तु वाक्य अवश्य होता है), **साम** (जो गाया जाता है) एवं **निगद** (अर्थात् प्रैष जिसका अर्थ है ऐसे शब्द जो एक व्यक्ति द्वारा दूसरे को कोई कर्म करने के लिए सम्बोधित होते हैं, यथा 'स्रुचः सम्मृड्ढि, प्रोक्षणीरासादय')। निगद स्वरूप में यजुः ही होते हैं। किन्तु उनमें मूल यजुः से अन्तर यह होता है कि वे उच्च स्वर से पढ़े जाते हैं, किन्तु यजुः सामान्यतः धीमे स्वर से कहे जाते हैं। सबसे अधिक पवित्र मन्त्र है गायत्री (ऋ० ३।६२।१०)। अथर्ववेद ने इसे वेदमाता (१९।७१।१) कहा है। बृहदारण्यकोपनिषद् (५।१४) में गायत्री की बड़ी सुन्दर प्रशस्ति गायी गयी है। 'ओं' पवित्र अक्षर है, ब्रह्म का प्रतीक है और तन्त्र भाषा में बीज कहा जा सकता है। 'ओं', 'फट्' एवं 'वषट्' ऐसे थोड़े-से वैदिक अक्षर हैं जिनका कोई अर्थ नहीं है किन्तु वे तन्त्र-भाषा में बीज-मन्त्र हैं। एक बीज निघण्टु (बीज मन्त्रों का कोश) है, जो 'तान्त्रिक टेक्स्ट्स' (जिल्द १, पृ० २८-२९) में मुद्रित है, और जिसमें 'ह्रीं, श्रीं, क्रीं, हुं, फट्' ऐसे बीज दिये हुए हैं और उनके प्रतीकों का उल्लेख है। ऐतरेयब्राह्मण (३।५)) में यह लगभग बारह बार कहा गया है, यथा—"जब यह **रूपसमृद्ध** (रूप में परिपूर्ण) होता है तो यज्ञ की पूर्णता है अर्थात् जब सम्पादित होते हुए यज्ञ की ओर ऋक् मन्त्र सीधे ढंग से संकेत करता है (एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत्कर्म क्रियमाणं मृगभिवदति)। निरुक्त (१।१५-१६) ने कौत्स के इस मत पर कि मन्त्रों का कोई अर्थ नहीं है (अर्थात् वे उद्देश्यहीन हैं, उनका कोई उपयोग नहीं है), एक लम्बा निरूपण उपस्थित किया है। इसी प्रकार का एक लम्बा विवाद पूर्वमीमांसासूत्र (१। २।३१) में भी है। जैमिनी का कथन है कि वेद में प्रयुक्त शब्दों के अर्थ एवं लोगों द्वारा प्रयुक्त शब्दों के अर्थ में कोई अन्तर नहीं है और शबर ने अपने भाष्य (पू० मी० सू० १।२।३२) में इतना जोड़ दिया है कि मन्त्रों का यज्ञों में प्रयोग केवल अर्थ को प्रकट करने के लिए ही होता है। वैदिक मन्त्र क्या हैं, यह बताना कठिन है, और जैसा कि शबर ने कहा है, यह सामान्यतः समझा जाता है कि वे श्लोक या वचन मन्त्र हैं जिन्हें विद्वान् लोग वैसा मानते हैं। सम्पूर्ण वेद पाँच वर्गों में विभक्त है—**विधि** (आज्ञा देने वाले वचन, यथा—'अग्निहोत्रं जुहुयात्'), **मन्त्र**, **नामधेय** (नाम, यथा—'उद्भिदा यजते' में 'उद्भिद्' एवं 'विश्वजिता यजते' में 'विश्वजित्' ऐसे नाम), **निषेध** (यथा—'नानृतं वदेत्' अर्थात् झूठ नहीं बोलना चाहिए) एवं **अर्थवाद** (व्याख्यात्मक या प्रशंसात्मक वचन, यथा—वायु एक देवता हैं, जो सबसे अधिक तेज चलते हैं)। निरुक्त (१।२०) में प्राचीन मत का उल्लेख है कि ऋषियों

यह है—**ओं नमो भगवते वासुदेवाय** (नारदपु० १।१६।३८-३९, नरसिंहपु० ७।४३); तेरह अक्षरों का एक मन्त्र यह है—**'श्रीरामजयरामजयजयरामेति'**, १६ अक्षरों का एक मन्त्र ये है—**'गोपीजनवल्लभचरणं शरणं प्रपद्ये'** (नारद पु०२।५९।४४) एवं **'ह्रीं गौरि रुद्रदयिते योगेश्वरि हुं फट् स्वाहा'** (शारदातिलक ९।९९)।

को धर्म का प्रज्ञात्मक प्रत्यक्षीकरण था और उन लोगों ने अपने पश्चात् आने वालों को जिन्हें धर्म की प्रज्ञात्मक अनुभूति नहीं थी उन मन्त्रों का प्रेषण मौखिक शिक्षा द्वारा किया। ऋग्वेदीय काल में भी ऐसा समझा जाता था कि मन्त्रों एवं स्तोत्रों से आहूत होकर देवता यज्ञों में आयेंगे और मन्त्रों एवं स्तोत्रों के पाठकों को रक्षा, वीरपुत्र, पशु, धन-सम्पत्ति, विजय एवं सभी प्रकार की वस्तुएँ प्रदान करेंगे (देखिए ऋ० १।१०२।१–५, २।२४–१५–१६, २।२५।२, ३।३१।१४, ६।२०।७, ६।७२।६, १०।७८।८, १०।१०५।१)। हमने यह बात बहुत पहले देख ली है कि पुराणों ने बहुत-से धार्मिक कृत्यों के लिए स्वयं अपने मन्त्र प्रणीत किये थे जो महत्त्व-पूर्ण हैं और निरर्थक नहीं हैं।

मन्त्र तन्त्रशास्त्र के हृदय एवं अन्तर्भाग कहे जाते हैं, इसी से कभी-कभी तन्त्रशास्त्र को मन्त्रशास्त्र भी कहा जाता है। प्रपंचसार एवं शारदातिलक ऐसे तान्त्रिक ग्रन्थों में जो सिद्धान्त है, उसे संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है:——मानव शरीर में दस **नाड़ियाँ** हैं, जिनमें प्रमुख तीन हैं, यथा—**इडा** (बायीं ओर, बायें अण्डकोष से लेकर बायीं नासिका तक), **सुषुम्ना** (शरीर के मध्य में रीढ़ की नाड़ी में) एवं **पिंगला** (दाहिनी ओर, दाहिने अण्डकोष से लेकर दाहिनी नासिका तक)। कुण्डलिनी सर्प की भाँति कुण्डली मार कर **मूलाधार-चक्र** में सोती रहती है। यह शब्दब्रह्म का रूप है। देवी (शक्ति) कुण्डलिनी का रूप धारण करती है, सभी देवता देवी में निवास करते हैं और सभी मन्त्र उसके रूप हैं (शारदातिलक १।५५–५७)। यह हमने देख लिया है कि ज्योति के सम्पर्क में आ जाने पर किस प्रकार शक्ति चेतन हो उठती है और उसमें सृष्टि या रचना करने की इच्छा उत्पन्न होती है और तब वह घनीभूत हो जाती है और बिन्दु के रूप में प्रकट होती है। काल के कारणत्व के द्वारा बिन्दु तीन भाग में बँट जाता है, यथा—**बीज, सूक्ष्म** (अर्थात् नाद, जो बीज बिन्दु है) एवं **पर** (अर्थात् वह बिन्दु जो क्रिया बिन्दु है)। यह अन्तिम, अव्यक्त स्वर के स्वभाव वाला है और ऋषियों द्वारा **शब्दब्रह्म** कहा जाता है (शारदातिलक १।११–१२, प्रपंचसार १।४१)। शब्दब्रह्म सभी पदार्थों में चेतना के रूप में विद्यमान रहता है; यह कुण्डलिनी के रूप में सभी जीवित मानवों की देह में स्थित रहता है और तब गद्य-पद्य आदि के अक्षरों के रूप में प्रकट होता है और वायु द्वारा कण्ठ, तालु, दन्तों आदि में पहुँचता है। इस प्रकार से उत्पन्न स्वर **अक्षर** कहे जाते हैं और जब वे लिखे जाते हैं तो **वर्ण** (वर्णमाला के अक्षर, मातृका, जो अ से लेकर क्ष तक ५० हैं) कहे जाते हैं। मूलाधारचक्र से उठते हुए स्वर की उत्पत्ति की उत्तेजना '**परा**' (वाक्) कही जाती है, और जब यह स्वाधिष्ठानचक्र में पहुँचती है तो **पश्यन्ती**, हृदय में पहुँचती है तो **मध्यमा** तथा मुख में पहुँचती है तो **वैखरी** कही जाती है। अक्षर एवं वर्ण दोनों कुण्डलिनी ही हैं जो क्रम से वाणी में स्फुट एवं लिखावट में दृश्य या चक्षुग्राह्य होते हैं। सभी मन्त्र (कुछ लोगों के मत से वे ६ करोड़ हैं) वर्णमाला के वर्णों से विकसित हुए हैं और तान्त्रिक लोग वर्णों को जीवित (चेतन) स्वर-शक्तियाँ मानते हैं। ह्रीं, श्रीं, क्रीं के समान बीजमन्त्र ही देवता के रूप को दृश्य बनाते हैं (महानिर्वाणतन्त्र ५।१८–१९)। मन्त्रों को मात्र अक्षर या शब्द या भाषा समझना अनुचित है। वे विभिन्न रूप धारण करते हैं, यथा——बीजमन्त्र, कवच, हृदय आदि। ह्रीं (त्रिभुवनेश्वरी या माया का प्रतिनिधित्व करने वाला)। श्रीं (लक्ष्मी का प्रतिनिधित्व करने वाला), क्रीं (काली का प्रतिनिधित्व करने वाला) के समान बीजमन्त्र सम्भवतः भाषा नहीं कहे जा सकते, क्योंकि उनसे लोगों के समक्ष कोई अर्थ नहीं प्रकट हो पाता। ये देवता (साधक या पूजक के इष्टदेवता) हैं, जो गुणी गुरु द्वारा दीक्षा के समय साधक को दिये जाते हैं। केवल पुस्तकों से उन्हें पढ़ लेने से कोई लाभ नहीं होता। तन्त्र-ग्रन्थों के अनुसार मन्त्र-शक्ति की स्वर-देह है जो मन्त्र के मूल तान्त्रिक द्रष्टा की व्यक्तिता से निःसृत स्वर-स्फुरणों से विद्ध होती है और तान्त्रिक

ऋषि द्वारा प्रदत्त-शक्ति के अमोघ भण्डार से युक्त होती है। शिष्य में उस शक्ति को जगाने एवं मन्त्र के पूर्ण प्रभाव की प्राप्ति के लिए गुरु का स्पर्श एवं साधक (शिष्य) की कल्पना और उसकी इच्छा-शक्ति की संलग्नता आवश्यक है। अक्षरों द्वारा उत्पन्न स्वर शिवशक्ति अर्थात् शब्दब्रह्म के रूप हैं। इसी अन्तिम से सम्पूर्ण विश्व स्वरों (शब्द) एवं पदार्थों (अर्थ) के रूप में, जिसे स्वर या शब्द बोधित करते हैं, अग्रसर होता है। देवता, मन्त्र एवं गुरु साधना के लिए (वह विधि, जो सिद्धि की ओर ले जाती है, जैसा कि तान्त्रिक ग्रन्थों में उल्लिखित हैं) आवश्यक हैं; साधक (शिष्य) को अपने मन में यही विचारते रहना होता है कि ये तीनों अभिन्न हैं। मन्त्र स्तुति या प्रार्थना नहीं है। प्रार्थना में व्यक्ति किन्हीं शब्दों का प्रयोग कर सकता है, किन्तु मन्त्र में निश्चित अक्षरों का विधान होता है, इन्हीं अक्षरों द्वारा शक्ति साधक के समक्ष अपनी अभिव्यक्ति करती है। मन्त्र ऐसे शब्दों के रूप में हो सकता है जिनका स्पष्ट अर्थ होता है या ऐसे अक्षरों से बना हो सकता है जो एक क्रम में व्यवस्थित होते हैं और अदीक्षित व्यक्ति के समक्ष कुछ भी अर्थ नहीं रखते। इस शास्त्र के कुछ ग्रन्थों में यह स्वीकार किया गया है कि विचार में सर्जना शक्ति है और प्रत्येक व्यक्ति शिव है और अपने को वह जितना ही शिव के अनुरूप पाता जाता है उतना ही वह उच्चतर स्तरों में पहुँचता जाता है। विचार वास्तविक हैं, उदार विचार अपना कल्याण करेंगे और उनका भी भला करेंगे जो हमारे चतुर्दिक् रहते हैं, अन्य लोगों के दुष्ट विचार एवं कांक्षाएँ हमें क्लेश में डाल सकती हैं।

तान्त्रिक ग्रन्थों के अपने मन्त्र हैं और वे वैदिक मन्त्रों का भी प्रयोग करते हैं। उदाहरणार्थ, 'जातवेदसे सुनवाम' (ऋ० १।९९।१) जो अग्नि को सम्बोधित है, दुर्गा के आह्वान के लिए प्रयुक्त हुआ है; 'त्रियम्बकं यजामहे' (ऋ० ७।५९।१२) जो रुद्र को सम्बोधित है, तन्त्र-ग्रन्थों में मृत्युंजयमन्त्र या मृत-संजीविनीमन्त्र है और मन को शुद्ध करने के लिए महानिर्वाण० (८।२४३) में व्यवस्थित है। इसी प्रकार गायत्री मन्त्र (ऋ० ३।६२।१०) को तान्त्रिकों ने अपना लिया है। देखिए शारदातिलक (२१।१–८ एवं १६), प्रपञ्चसार (जिसका ३० वाँ अध्याय 'ओं', 'व्याहृतियों' तथा गायत्री एवं गायत्री-साधन के शब्दों की व्याख्या से ही भरा पड़ा है)। महानिर्वाण ने व्यवस्था दी है कि वैदिकी सन्ध्या के सम्पादन के उपरान्त तान्त्रिकी सन्ध्या की जानी चाहिए। तान्त्रिकी गायत्री यह है—'आद्यानीविद्महे, परमेश्वर्यै धीमहि, तन्नः काली प्रचोदयात्। (महानिर्वाण ५।६२–६३)। शूद्र तान्त्रिक भी इसे प्रयोग में ला सकते थे, किन्तु वैदिक गायत्री का प्रयोग क्रम से 'ओं' 'श्रीं' एवं 'ऐं' के साथ तीनों वर्णों के लोग करते थे। गुरु, मन्त्र एवं देवता की महत्ता यों उल्लिखित है—'जो गुरु को केवल मनुष्य मानता है, मन्त्र को मात्र अक्षर समझता है तथा प्रतिमा को केवल पत्थर समझता है वह नरक में पड़ता है[९२]। रुद्रयामल में आया है—'यदि शिव क्रुद्ध हो जाते हैं तो, गुरु (शिष्य की) रक्षा करता है, किन्तु जब गुरु क्रुद्ध हो जाता है, कोई नहीं (शिष्य को) बचाता।'

परशुरामकल्पसूत्र, ज्ञानार्णवतन्त्र, शारदातिलक तथा अधिकांशतः सभी तन्त्र-ग्रन्थों का कथन है कि मन्त्रों में आश्चर्यजनक एवं अलौकिक शक्तियाँ होती हैं। तन्त्रानुयायी अपने गुरु की शाखा के परम्परागत आचारों को विश्वास के साथ मानता है तो उसे सभी शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। मन्त्रों के द्वारा वाञ्छित फलों की प्राप्ति हो जाती है। तन्त्रशास्त्र की प्रामाणिकता प्रमुखतया शास्त्रानुयायियों के विश्वास पर निर्भर रहती है। साधक को ऐसा अनुभव

९२. गुरौमनुष्य बुद्धिं च मन्त्रे चाक्षरबुद्धिकम्। प्रतिमासु शिलाबुद्धिं कुर्वाणो नरकं व्रजते।। कुलार्णव० (१२।४५), कौलावलीनिर्णय (१०।१२-१३); रुद्रयामल (२।६५) में आया है—'गुरुः पिता गुरुर्माता गुरुर्देवो गुरुर्गतिः। शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन।।' और देखिये कुलार्णव० (१२।४६, यहाँ 'गुरुर्देवो महेश्वरः' पाठ आया है)।

करना चाहिए कि गुरु, मन्त्र, देवता, उसकी आत्मा, मन एवं प्राणोच्छ्वास सभी एक हैं, तभी वह परमात्मा का ज्ञान प्राप्त कर सकेगा। कुछ तान्त्रिक ग्रन्थों में मन्त्रों की प्रशंसा अतिशयोक्तिपूर्ण ढंग से की गयी है, विशेषतः श्रीविद्यामन्त्र की प्रभूत महत्ता गायी गयी है, यथा, ज्ञानार्णव का कथन है—'करोड़ों वाजपेय एवं सहस्रों अश्वमेध' फल में श्रीविद्या के उच्चारण मात्र के बराबर नहीं हो सकते, इसी प्रकार करोड़ों कपिला गायों का दान भी श्रीविद्या के एक उच्चारण के समान नहीं है (२४ वाँ पटल, श्लोक ७४–७६)। देखिए अग्नि-पुराण (१२५।५१-५५) जहाँ शत्रु को मारने के लिए मन्त्रों के प्रयोग की बात है, अध्याय १३४ एवं १३५में त्रैलोक्यविजयविद्या एवं संग्रामविजयविद्या का उल्लेख है।

तन्त्रों में असंख्य मन्त्रों का उल्लेख है जो एक मन्त्र के विभिन्न रूपों को विभिन्न ढंगों से व्यवस्थित करके बनाये गये हैं। देखिए महानिर्वाण० (५।१०-१३), जहाँ 'ह्रीं श्रीं क्रीं परमेश्वरि स्वाहा' नामक १० अक्षरों के मन्त्र को कुछ शब्दों के मेल तथा 'कालिके' लगा कर १२ मन्त्रों के रूप में रख दिया गया है। इस ग्रन्थ में ऐसा उल्लेख हुआ है कि करोड़ों मन्त्र हैं और तन्त्रों में जितने मन्त्र हैं वे सभी महादेवी के मन्त्र हैं (महानिर्वाण० ५।१८-१९)।

'मन्त्र' शब्द 'मन्' (सोचना) एवं 'त्रै' या 'त्रा' से निष्पन्न हुआ है। यास्क के निरुक्त (७।१२) में यह केवल 'मन्' से निकला कहा गया है। कुलार्णव का कथन है कि मन्त्र इसीलिए पुकारा जाता है क्योंकि यह सभी प्रकार के भयों से बचाता है, साधक इसके द्वारा अपरिमित ज्योति वाले एवं एक मात्र तत्त्व परमात्मा पर ध्यान लगा पाता है (१७।५४)। इसी प्रकार की व्युत्पत्ति रामपूर्वतापनीयोपनिषद (१।१२), प्रपञ्चसार (५।२) एवं अन्य तन्त्रों में दी हुई है। तान्त्रिक ग्रन्थों में मन्त्रों के विभिन्न प्रकार, यथा—कवच, हृदय, उपहृदय, नेत्र, अस्त्र, रक्षा आदि दिये हुए हैं। स्थानाभाव के कारण हम इनके उदाहरण यहाँ नहीं दे सकेंगे। देखिए ब्रह्माण्डपुराण (३।३३), महानिर्वाणतन्त्र (७।५६–६५), नारदपु० (२।५६, ४८–५०)।

शारदातिलक ने मन्त्रों को पुरुष, स्त्री एवं नपुंसक रूप में बाँट दिया है। पुरुषवाची मन्त्रों का अन्त 'हुं' एवं 'फट्' से होता है, स्त्रीवाची मन्त्रों का 'स्वाहा' से तथा नपुंसक का 'नमः' से। 'ऋ', 'ॠ', 'ऌ' 'ॡ' नामक स्वर नपुंसक हैं, शेष स्वर नपुंसक नहीं हैं बल्कि लघु एवं गुरु हैं (शारदातिलक, ६।३ एवं राघवभट्ट की टीका)। शारदा तिलक ने १७ अध्यायों (अध्याय ७ से २३ तक) में सरस्वती, लक्ष्मी, भुवनेश्वरी, त्वरिता एवं अन्य—दुर्गा, त्रिपुरा, गणपति, चन्द्रमा के मन्त्रों का उल्लेख किया है। बहुत-से मन्त्रों का पाठ सहस्रों या लाखों बार किया जाता था, जिससे कि पूर्ण फल की प्राप्ति हो (शारदातिलक १०।१०५-१०७)। यद्यपि शारदातिलक गम्भीर ग्रन्थ है और इसमें वाममार्गी संभोग आदि का उल्लेख नहीं है तथापि इसमें कुछ मन्त्र जादूगरी के एवं स्त्रियों को वश में करने के हैं (९।१०३-१०४, १०।७६), यहाँ तक कि मन्त्रों द्वारा शत्रु-मृत्यु का भी उल्लेख है (११।६०–१२४, २१।९५, २२।१)।

मन्त्रों की शक्ति के विषय में बौद्धतन्त्र हिन्दूतन्त्र से पीछे नहीं थे। साधनमाला (पृ० ५७५) में ऐसा आया है कि उचित विधि अपनायी जाय तो मन्त्र द्वारा सभी कुछ सम्पन्न हो सकता है[९३]। उदाहरणार्थ, इसमें

९३. किमस्त्यसाध्यं मन्त्राणां योजितानां यथाविधि। साधनमाला (पृ० ५७५): ओं आः ह्रीं हुं हें हः अयं मन्त्रराजो बुद्धत्वं ददाति किं पुनरन्याः सिद्धयः। वही (पृ० २७०); यातु किं बहु वचनीयं परमति दुर्लभं बुद्धत्वमपि तेषां पाणितलावलीनबदरकफलमिवावतिष्ठति। वही (पृ० ६२)। ओम् चलचल चिलिचिलि चुलुचुलु कुलुकुलु मुलुमुलु हुंहुंहुंहुं फट्फट्फट्फट् पद्महस्ते स्वाहा दिने दिने पञ्चवारान् त्रिसन्ध्यमुच्चारयेत्। गर्दभोपि ग्रन्थशतत्रयं गृह्णाति। वही (पृ० ८७)। सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र (अध्याय २१, बिब्लियोथेका इण्डिका सीरीज, डा० नलि-

आया है कि एक मन्त्र, जो मन्त्रों का राजा है, बुद्धत्व देता है, अन्य सिद्धियों के विषय में कहने की आवश्यकता ही क्या है? दूसरे मन्त्र से अति दुर्लभ बुद्धत्व हाथ के तल में पड़े बदरीफल के समान है, एक अन्य मन्त्र (जो निरर्थक शब्दों वाला है) यदि पाँच बार कहा जाय और दिन में तीन बार (प्रातः, दोपहर एवं सन्ध्या) तो एक गदहा अर्थात् मूर्ख भी तीन सौ ग्रन्थों का जानकार हो जाय। बौद्धतन्त्र भी मन्त्रों के लाख बार के पाठ की व्यवस्था करते हैं (साधनमाला, जिल्द १, संख्या १६५, पृ० ३२६ एवं संख्या १०८, पृ० २२१)[९४]। कुछ मन्त्रों में महायान के सिद्धान्त 'ओं, फट्, स्वाहा' के साथ पाये जाते हैं, यथा--ओं शून्यता ज्ञानवज्रस्वभावात्मकोऽहम्' (साधनमाला, जिल्द १, पृ० ६२)। प्रपञ्चसार में, जो अद्वैती गुरु शंकराचार्य द्वारा लिखित कहा जाता है, जिसपर पद्मपाद की

नाक्ष दत्त द्वारा सम्पादित, १९५२) में भी बहुत-सी धारणियाँ हैं (तिलस्मी वाक्य, कवच या रक्षा-सम्बन्धी तिलस्म), जिनमें एक यह है (पृ० २६७)—'अथ खलु बोधिसत्त्वो... इमानि धारणीमन्त्रपदानि भाषते स्म। तद्यथा। ज्वले महाज्वले उक्के तुक्के मुक्के अडे अडाविति नृत्ये...इट्टिनि विट्टिनि...नृत्यावलि स्वाहा'।

९४. ओं मणितारे हुं। लक्षजापेनार्या अग्रत उपतिष्ठति। यदिच्छति तत्सर्वं ददाति। विना मण्डलकस्नानोपवासेन केवलं जापमात्रेण सिध्यति सर्वं कार्यं च साधयति। साधनमाला (जिल्द १, पृ० २२१)। यहाँ आर्या का अर्थ है देवी तारा। बौद्धों में अत्यन्त प्रसिद्ध मन्त्र है 'ओं मणिपद्मे हुं', जहाँ पर 'मणिपद्मे' सम्बोधन में है और सम्भवतः तारा देवी की ओर, जिसके पास कमल रत्न है, संकेत है। देखिये डा० एफ० डब्ल्यू० टॉमस (जे० आर० ए० एस०, १९०६, पृ० ४६४)। कभी-कभी इसका अर्थ यों लगाया जाता है 'हे मणिपद्म (जिसके पास कमल रत्न हो) आप को मनस्कार'। जब ये पृष्ठ प्रेस में मुद्रित हो रहे थे तो लेखक को एक ग्रन्थ प्राप्त हुआ, जो लामा अंगारिक गोविन्द द्वारा लिखित है और जिसका नाम है 'फाउण्डेशंस आव तिबेटन मिस्टिसिज्म' (राइडर एण्ड कम्पनी, लण्डन, १९५९)। यह ग्रन्थ 'ओं मणिपद्मे हुं' नामक महान् मन्त्र की गूढ (गुप्त या अलौकिक) शिक्षा पर आधारित है। इस पाद-टिप्पणी में इस ग्रन्थ की समीक्षा सम्भव नहीं है। लेखक का कथन है कि मन्त्र 'ओं मणिपद्मे हुं' अवलोकितेश्वर को समर्पित है (मुखपृष्ठ पर अवलोकितेश्वर का एक चित्र भी है)। मन्त्र की जो व्याख्या इस ग्रन्थ में दी हुई है उसे केवल तिब्बती बौद्ध विद्वान् या साधु ही स्वीकार कर सकता है। पृ० २७ पर लिखा हुआ है कि तिब्बत में मन्त्र 'ओं मणि पेमे हुं' कहा जाता है, और पूरा मन्त्र यों है—'ओं...हुं, ह्रीः' (पृ० २३०)। लेखक इस बात का उपहास करता है कि तन्त्रवाद हिन्दूवादी प्रतिक्रिया है, जिसे आगे चल कर बौद्ध सम्प्रदायों ने ग्रहण किया। लेखक महोदय मन्त्र के शब्दों का अलौकिक अर्थ बताते हैं। पृ० १३० पर वे लिखते हैं —'ओं सार्वभौमिकता की ओर समुत्थान है, हुं सार्वभौमिकता (अभिव्यापित्व)की स्थितियों का मानव के हृदय की गहराई में अवरोह (उतार) है'। पृ० १३१ पर आया है--'ओं अनन्त है, किन्तु हुं अन्त में अनन्त है (नियत में अनियत है), क्षणिक में नित्य (शाश्वत) है' आदि-आदि। पृ० २३० में आया है—'ओं में हम धर्मकाय एवं सर्वगत (सार्वलौकिक) देह के रहस्य की अनुभूति पाते हैं, मणि में सम्भोगकाय की, पद्म में निर्माणकाय की अनुभूति पाते हैं, हुं में हम तीन रहस्यों के अत्युत्तम देह के संयोग के रूप में वज्रकाय की अनुभूति करते हैं। ह्रीः में हम अपने परिवर्तित व्यक्तित्व की सम्पूर्णता को अमिताभ (बुद्ध) की सेवा में समर्पित कर देते हैं'। पृ० २५६ में आया है—'इस प्रकार ओं...हुँ अपने में मुक्ति, प्रेम (सबके प्रति) एवं अन्तिम आत्मज्ञान की सुन्दर वार्ताएँ समाहित रखता है'। प्रस्तुत लेखक को बलात् कहना ही पड़ता है कि इस प्रकार की व्याख्याओं से किसी, भी मन्त्र के शब्दों से हम समान अर्थ निकाल सकते हैं।

तथोक्त टीका है, त्रैलोक्यमोहन नामक एक मन्त्र है[९५], जिसके द्वारा ६ क्रूर ऐन्द्रजालिक कर्म किये जाते हैं और उसमें एक यन्त्र है जिसकी पूजा द्वारा साधक किसी नारी को अपनी ओर खींच ला सकता है। इस ग्रन्थ में व्याकरण-सम्बन्धी कुछ दोष भी हैं जिससे गम्भीर सन्देह उत्पन्न होता है कि यह कदाचित् ही महान् विद्वान् शंकराचार्य द्वारा प्रणीत हुआ हो। इसमें सन्देह नहीं कि विद्वान् राघवभट्ट ने शारदातिलक की टीका में महान् आचार्य शंकर को ही प्रपंचसार का लेखक माना है, जैसा कि कुछ अन्य पश्चात्कालीन लेखकों ने किया है। किन्तु यह जानना चाहिए कि लगभग ४०० ग्रन्थ अद्वैत आचार्य द्वारा प्रणीत कहे गये हैं और राघवभट्ट आचार्य से ७ शतियों के उपरान्त हुए, अत: उनका कथन बिना अधिक भारी साक्ष्य के पूर्ण विश्वास के साथ ग्रहण नहीं किया जा सकता।

तान्त्रिक प्रकार के मन्त्रों की शक्ति के सिद्धान्त से कतिपय पुराण भी प्रभावित हुए हैं। गरुडपुराण (१।७, एवं १०) ने कुछ एकाक्षरात्मक एवं निरर्थक मन्त्रों का प्रयोग किया है, यथा—ह्रां, क्षौम्, ह्रीं, हुं, हुः, श्रीं, ह्रीं और उसमें (१।२३) आया है कि 'ओं खखोल्काय सूर्यमूर्तये नमः'। सूर्य का मूलमन्त्र है और यह एक आरम्भिक निबन्ध, यथा—कृत्यकल्पतरु (व्रत पृ० ९) में सूर्य-पूजा के लिए प्रयुक्त हुआ है। और देखिए इसी बात के लिए, 'भविष्यपुराण' (ब्राह्मपर्व २१५।४)। भविष्य (ब्राह्म० २९।९—१५) में आया है कि 'गं स्वाहा' गणपति-पूजन का मूलमन्त्र है, उसमें हृदय, शिखा, कवच आदि के लिए मन्त्रों की व्यवस्था है और गणपति की गायत्री भी है। गरुडपु० (१।३८) में चामुण्डा के लिए एक लम्बा गद्य-मन्त्र है। और देखिए अग्निपु० (१२१।१५—१७), अध्याय १३३—१३५ एवं ३०७[९६]।

महाश्वेता नामक एक मन्त्र का उल्लेख भविष्यपुराण में हुआ है जिसका वर्णन कृत्यकल्पतरु (व्रत, पृ० ९) एवं एकादशीतत्त्व (पृ० ४०) में है और वह मन्त्र यह है—'ह्रां ह्रीं सः' जिसका जप यदि उपवास के साथ रविवार को किया जाय तो वाञ्छित फल की प्राप्ति होती है।

पश्चात्कालीन निबन्धों ने शारदातिलक (२३।७१-७६) में दिये हुए प्राणप्रतिष्ठा-मन्त्र का प्रयोग किया है। देवप्रतिष्ठातत्त्व (पृ० ५०६-५०७), दिव्यतत्त्व (पृ० ६०९-६१०), व्यवहारमयूख, (पृ० ८६), निर्णयसिन्धु (पृ० ३४९-३५०) आदि ने शारदातिलक से उद्धरण लिया है। शारदातिलक ने सम्भवतः अपने पूर्व के ग्रन्थों, यथा जयाख्यसंहिता (पटल २०) एवं प्रपंचसारतन्त्र (३५।१-९) का अनुसरण किया है[९७]।

९५. मारणोच्चाटनद्वेषस्तम्भाकेषणकांक्षिणः। भजेयुः सर्वमैवैनं मन्त्रं त्रैलोक्यमोहनम् ॥ प्रपंचसार (२३।५)। देखिये शक्तिसंगमतन्त्र (८।१०२-१०५) एवं जयाख्यसंहिता (२६ वाँ पटल, श्लोक २४), अग्निपु० (अध्याय १३८) में भी ६ क्रूर कर्मों का उल्लेख है।

९६. गं स्वाहा मूलमन्त्रोयं प्रणवेन समन्वितः। गां नमो हृदयं सेयं गीं शिरः परिकीर्तितम्। शिखां च गूं नमो गेयं गैं नमः कवचं स्मृतम्। गौं नमो नेत्रमुद्दिष्टं गः फट् कामास्त्रमुच्यते। भविष्य (ब्राह्म २९।९)। गायत्री यह है—'महाकर्णाय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि। तन्नो दन्तिः प्रचोदयात्॥ वही (२९।१५)। पार्थिवे चाष्टह्रींकारं मध्ये नाम च विक्षु च। ह्रीं पुटं पार्थिवे दिक्षु ह्रीं दिक्षु लिखेद्वसून्। गोरोचना-कुंकुमेन भूर्जे वस्त्रे गले धृतम्॥ शत्रवो वशमायान्ति, मन्त्रेणानेन निश्चितम्। अग्निपु० (१२१।१५-१७)।

९७. तेनायं मन्त्रः। आं ह्रीं क्रों यं रं लं शं षं सं हों हंसः अमुष्य प्राणा इह प्राणाः। अमुष्य जीव इह स्थितः। अमुष्य सर्वेन्द्रियाणि। अमुष्य वाङमनश्चक्षुः श्रोत्रघ्राणप्राणा इहागत्य सुखं चिरं तिष्ठन्तु स्वाहा। देवप्रतिष्ठातत्त्व (पृ० ५०६-५०७)। 'अमुष्य' प्रतिमा वाले देवता के लिए आया है (यदि किसी देवी की प्रतिमा बैठायी जाती है तो

मध्यकाल के निबन्धों द्वारा तान्त्रिक मन्त्रों के प्रयोग के विषय में यहाँ अब स्थानाभाव के कारण अधिक नहीं लिखा जा सकता। वैदिक मन्त्रों एवं तान्त्रिक मन्त्रों की अन्तर सम्बन्धी एक बात यहाँ दी जा रही है। जैमिनि (१।२।३२) के मत से वैदिक मन्त्र महत्त्वपूर्ण होता है, किन्तु तन्त्रों ने ऐसे मन्त्रों के जप की बात चलायी है जो निरर्थक होते हैं, इतना ही नहीं वे उलटे भी पढ़े जा सकते हैं, यथा 'ओं दुर्गे' को 'गेंदु ओं' पढ़ा जा सकता है। उदाहरणार्थ, कालीवलीतन्त्र (२२।२१) में आया है: 'गेंदु ओं त्र्यक्षरं मन्त्रं सर्वकामफलप्रदम्'। महायान बौद्धधर्म के ग्रन्थ सद्धर्म पुण्डरीक (कर्न एवं बुन्यीम् नेत्रीम्, १६१२, सै० बु० ई०, जिल्द २१, पृ० ३७०–३७५) में धारणीपदानि नामक मन्त्र हैं। ऐसा नहीं समझना चाहिए कि मन्त्र केवल हिन्दुओं एवं बौद्धों की ही विशेषता है। प्राचीन काल में बहुत-से लोग ऐसा विश्वास करते थे कि शब्दों एवं अक्षरों में ऐन्द्रजालिक शक्ति होती है और इस विश्वास ने आगे बढ़कर ऐसा विश्वास उत्पन्न किया कि निरर्थक शब्दों एवं अक्षरों में भी वही बात पायी जा सकती है। प्राचीन अंग्रेजों, जर्मनों एवं केल्टवासियों में भी ऐसी बात पायी जाती थी (ई० जे० थॉमस, हिस्ट्री आव् बुद्धिस्ट थॉट, १६५३, पृ० १८६)।

वैदिक एवं तान्त्रिक मन्त्रों का जप पुरश्चरण कहलाता है। पुरश्चरण का शाब्दिक अर्थ है पहले से सम्पादन[९८]। महानिर्वाणतन्त्र (७।७६–८५) में पुरश्चरण (संक्षिप्त या विस्तृत) के कई ढंग प्रदर्शित हैं। एक ढंग के अनुसार कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी या मंगल या शनि को पाँचों तत्त्वों को एकत्र करना होता है, इसके उपरान्त देवी की पूजा होती है और महानिशा (अर्धरात्रि) में एकाग्र होकर १० सहस्र बार मन्त्र का पाठ करना होता है। इसके उपरान्त पूजा करने वाले को ब्रह्मभक्तों के लिए भोजन की व्यवस्था करनी होती है और तब वह पुरश्चरण का सम्पादक कहा जाता है। दूसरा ढंग यह है कि व्यक्ति को मंगल से आरम्भ कर प्रतिदिन मन्त्र को एक सहस्र बार जपना पड़ता है और यह क्रम उसे आगामी मंगलवार तक चलाना होता है और इस प्रकार उसे आठ सहस्र बार मन्त्र-जप करने पर पुरश्चरण का सम्पादक कहा जाता है। कभी-कभी ऐसी व्यवस्था की जाती है कि 'शिवाय नमः' या 'ओं शिवाय नमः' ऐसे मन्त्र २४ लाख बार कहे जाने चाहिए और साधक को अग्नि में पायस की २४ सहस्र आहुतियाँ देनी होती हैं, तभी मन्त्र पूर्ण होता है और साधक की अभीप्सित देता है। गायत्री का जप प्रतिदिन १००८ या १०८ या १० बार करना होता है। यह पुराण एवं धर्मशास्त्र-ग्रन्थों के अनुसार ही है। नारदपुराण (२।५७।५४) में आया है कि मन्त्र का जप ८, २८ या १०८ बार होना चाहिए। और देखिए एकादशी तत्त्व (पृ०५६)।

राघवभट्ट ने शारदातिलक (१६।५६) के भाष्य में सभी मन्त्रों में प्रयुक्त होने वाले पुरश्चरण का उल्लेख किया है। वायवीय संहिता के अनुसार मूलमन्त्र की विधि को ठीक करने को पुरश्चरण कहा जाता है। कुलार्णव में आया है कि पुरश्चरण के पाँच तत्त्व हैं—इष्ट देवता की तीन बार पूजा, जप, तर्पण, होम एवं ब्रह्मभोज। राघवभट्ट ने भी (शारदा०३१६।५६) इसकी विधि का उल्लेख किया है। कौलावली निर्णय (१४ वाँ

'अमुष्याः' या 'अस्यै' शब्द रख दिये जाते हैं। तन्त्रराजतन्त्र (१३।६२-६८) ने प्राणप्रतिष्ठाविद्या के लिए अमुष्य से स्वाहा तक ४० अक्षरों का मन्त्र बनाया है जो तान्त्रिक ग्रन्थों की भाषा के अनुरूप ही है।

९८. मन्त्र के पुरश्चरण के कई अंग होते हैं, यथा—ध्यान (देवता की प्रतिमा या आकार का ध्यान करना), पूजा, मन्त्र-जप, होम, तर्पण, अभिषेक एवं ब्रह्मभोज। संक्षिप्त पुरश्चरण में प्रथम तीन का सम्पादन होता है। तर्पण का अर्थ है देवता एवं पितरों को जल से तृप्त करना।

पटल, श्लोक–७५–२६०) में एक भयंकर साधना का वर्णन है, जिसके द्वारा एक ही रात्रि में साधक को मन्त्र-सिद्धि प्राप्त हो जाती है। रात्रि में एक पहर के उपरान्त श्मशान या एकान्त स्थान में जाय, एक चाण्डाल का शव प्राप्त करे या उसका जो किसी व्यक्ति द्वारा तलवार से मारा गया हो, या साँप द्वारा काट लिया गया हो या रणक्षेत्र में कोई नवयुवक मार डाला गया हो, उसका शव प्राप्त करे। उसे स्वच्छ करे, उसकी पूजा करे, दुर्गा की पूजा करे तथा 'ओं दुर्गे दुर्गे रक्षिणी स्वाहा' का पाठ करे। यदि साधक भयंकर दृश्यों को देख कर डर न जाय और एक लम्बी पद्धति का अनुसरण करे, तो वह मन्त्रसिद्धि प्राप्त कर लेता है। ताराभक्तिसुधार्णव (तरंग ६, पृ० ३४५) ने शवसाधनविधि का वर्णन किया है। और देखिए कुलचूड़ामणितन्त्र (तान्त्रिक टेक्ट्स, जिल्द ४,६।१६–२८)।

राघवभट्ट ने एक वचन उद्धृत करके कहा है कि यदि साधक देवतारूपी अपने गुरु को सन्तुष्ट कर देता है तो उसे बिना पुरश्चरण के भी मन्त्र की सिद्धि प्राप्त हो सकती है, पुरश्चरण मन्त्रों का प्रधान बीज है। जहाँ जप की संख्या न दी हुई हो, वहाँ मन्त्र को ८००० बार कहना चाहिए। राघवभट्ट ने यह भी उद्धृत किया है कि जिस प्रकार रोगग्रस्त व्यक्ति सभी कर्मों को नहीं कर पाता है उसी प्रकार पुरश्चरण से हीन मन्त्र की बात है।

अग्निपुराण, कुलार्णव० एवं शारदातिलक ने मन्त्र के पुरश्चरण के स्थानों के विषय में नियमों की व्यवस्था की है। मन्त्रसिद्धि करने वालों के लिए निम्न स्थान, व्यवस्थित हैं—पुण्यक्षेत्र, नदीतीर, गुहा (गुफा), पर्वत-मस्तक, तीर्थस्थान के पास का स्थल, नदियों का संगम, पावन बन एवं उद्यान, बेलवृक्ष के तल में, पर्वत की ढाल, देवतायन (मन्दिर), समुद्र-तट, अपना घर, या ऐसा स्थान जहाँ मन प्रसन्न हो जाय। देखिए कुलार्णव० (१५।२०–२४), शारदातिलक (२।१३८–१४०) एवं अहिर्बुध्न्य संहिता (२०।५२–५३)। पुरश्चरण के दिनों में भोजन के विषय में भी नियम बने हैं, यथा—(ब्रह्मचारी एवं यति के लिए) भिक्षा माँग कर, (व्रतों के लिए) हविष्य भोजन, विहित शाक, फल, दूध, कन्दमूल, यव का सत्तू है। मन्त्रमहोदधि (२५।६६–७१) में शान्ति के समय तथा अन्य क्रूर क्रिया–संस्कारों के समय के हविष्य भोजन के विषय में नियम दिये हुए हैं। राघवभट्ट (१६।५६) ने अन्य ग्रन्थों से पुरश्चरण करने वाले साधक के लिए कुछ और नियम भी संगृहीत किये हैं, यथा मैथुन, मांस, मद्य से दूर रहना, नारियों एवं शूद्रों से न बोलना, असत्य न बोलना, इन्द्रियों को वासना से दूर रखना, प्रातः से दोपहर तक बिना किसी रुकावट के मन्त्र-जाप को करते जाना और प्रतिदिन ऐसा ही करते जाना।

जयाख्यसंहिता (१६वाँ पटल, श्लोक १३–३३) का कथन है कि पुरश्चरण करने में तीन वर्षों तक साधक के समक्ष, भाँति-भाँति की विघ्न-बाधाएँ आती हैं, किन्तु यदि उसके मन एवं कर्म पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता तो चौथे वर्ष से उसके पास लोग शिष्य बन कर आते हैं। उसकी सेवा करने लगते हैं और अपना सब कुछ समर्पित कर देते हैं, सात वर्षों के उपरान्त उसके पास घमण्डी राजा भी अनुग्रह एवं प्रसाद के लिए पहुँचता है, नौ वर्षों के उपरान्त वह अलौकिक अनुभव प्राप्त करने लगता है, यथा—आह्लाद, गम्भीर स्वप्न, मधुर संगीत एवं गन्ध[९९] तथा वैदिक पाठ का अनुभव होने लगता है, वह कम खाता है, कम सोता है किन्तु दुर्बल नहीं

९९. योगसूत्र (३।३६) एवं उसके भाष्य में आया है कि शक्तियों के विकसित हो जाने पर योगी दैवी संगीत सुनने लगता है और सुगंधों की अनुभूतियाँ करने लगता है। एफ० यीट्स—ब्राउन (लण्डन, १६३०) ने

होता। ये सब मन्त्रसिद्धि की अवस्था के लक्षण हैं। उसी ग्रन्थ में ऐसा आया है कि साधक को इन लक्षणों का वर्णन गुरु के अतिरिक्त अन्य लोगों से नहीं करना चाहिए, यदि वह अन्य लोगों से सारी बातें कह देता है तो सिद्धियाँ समाप्त हो जाती हैं (१६।३४-३७)। इसी संहिता (१५।१८६-१८८) में ऐसा आया है कि स्वाहा, स्वधा, फट्, हुं एवं नमः का प्रयोग क्रम से होम, पिण्डदान, नाशकारी कार्यों, मित्रों में विद्वेष उत्पन्न करने एवं मोक्ष प्राप्ति के लिए लिए होता है। सभी तन्त्र-ग्रन्थ इस बात पर बल देकर कहते हैं कि का मन्त्र का ग्रहण गुणी एवं योग्य गुरु से होना चाहिए और मन्त्र की साधना गुरु के निर्देशन में तब तक होनी चाहिए जब तक कि शिष्य सिद्ध न हो जाय। हमने ऊपर देख लिया है कि ऐसा विश्वास किया जाता था कि मन्त्र आध्यात्मिक एवं अलौकिक शक्तियाँ प्रदान करते हैं और साधक के पास सभी वांछित पदार्थ एवं मोक्ष लाते हैं। कुलार्णव० (१४।३-४) में आया है—यह शिवसाधन (शिव द्वारा बताये गये सिद्धान्त) में उद्घोषित है कि बिना दीक्षा के मोक्ष नहीं प्राप्त हो सकता, बिना आचार्य के दीक्षा नहीं प्राप्त हो सकती तथा मन्त्र तब तक फल नहीं दे सकते जब तक गुरु उनके विषय में शिक्षा न दे दें[१००]। कुलार्णव० में पुनः आया है कि दीक्षाविहीन को न तो सिद्धि मिलती है और न सद्गति। अतः व्यक्ति सभी प्रकार के प्रयत्नों से गुरु द्वारा दीक्षित होना चाहिए। दीक्षा संस्कार हो जाने पर जाति सम्बन्धी अन्तर मिट जाता है, जब शूद्र एवं विप्र दीक्षित हो जाते हैं तो शूद्रता एवं विप्रता की समाप्ति हो जाती है। ऐसा कहा गया है कि कोई पुस्तक में लिखित मन्त्र का जप करना आरम्भ कर दे तो उसे सिद्धि नहीं प्राप्त हो सकती और प्रत्येक पद पर हानि मिलेगी[१०१]।

महानिर्वाण० (२।१४-१५एवं २०) में ऐसा आया है कि सत्य एवं अन्य युगों में वैदिक मन्त्रों से वांछित फलों की प्राप्ति होती थी, किन्तु कलियुग में वे विषविहीन सर्प या मृत सर्प के समान हैं, कलियुग में तन्त्रों में घोषित मन्त्र शीघ्र ही फल देते हैं और जप एवं यज्ञों ऐसे सभी कर्मों में उनका प्रयोग विहित है। तन्त्रों में जो मार्ग बताया गया है वह कहीं और नहीं पाया जाता, केवल उसी से मोक्ष प्राप्त होता है या इहलोक या परलोक में सुख मिलता है। महानिर्वाण० (३।१४) का कथन है कि 'ओं सच्चिदेकं ब्रह्म' सर्वश्रेष्ठ मन्त्र है, जो परम ब्रह्म की

'बंगाल लांसर' नामक ग्रन्थ (पृ० २४६-२४७) में वर्णन किया है कि किस प्रकार वह कक्ष, जिसमें वे और उनके अमेरिकी मित्र बैठे हुए थे एक योगी द्वारा, जो केवल एक धोती पहने हुये था, कमल के इत्र की महक से परिपूर्ण हो गया, पुनः गुलाब, कस्तूरी, चन्दन-गन्ध से परिपूर्ण हो गया, यह सब केवल एक छोटे से रुई-गुच्छ से निकला जिस पर योगी ने एक आकार बढ़ा देने वाला शीशा रख दिया था। श्वेताश्व० उप० (२।१३) ने योग-क्रिया की प्रभावशीलता के प्रथम लक्षणों पर विस्तार के साथ प्रकाश डाला है—'लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादः स्वरसौष्ठवं च। गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति।'

१००. बिना दीक्षां न मोक्षः स्यात्तदुक्तं शिवसाधने। सा च न स्याद्विनाचार्यमित्याचार्यपरम्परा॥... अन्तरेणोपदेष्टारं मन्त्राः स्युर्निष्फला यतः। कुलार्णव० (१४।३-४)। देविदीक्षाविहीनस्य न सिद्धिर्न च सद्गतिः। तस्मात्सर्वप्रयत्नेन गुरुणा दीक्षितो भवेत्॥ गतं शूद्रस्य शूद्रत्वं विप्रस्यापि च विप्रता। दीक्षासंस्कारसम्पन्ने जातिभेदो न विद्यते॥ कुलार्णव० (१४।९७ एवं ९९)

१०१. पुस्तकाल्लिखितो मन्त्रो येन सुन्दरि जप्यते। न तस्य जायते सिद्धिर्हानिरेव पदे पदे। राघवभट्ट (शारदातिलक ४।१) द्वारा उद्धृत।

उपासना करते हैं उन्हें किसी अन्य साधना की आवश्यकता नहीं है, केवल इसी मन्त्र की सिद्धि से आत्मा ब्रह्म में समाहित हो सकता है[१०२]। स्पष्ट है---मोक्ष कई लक्ष्यों में एक लक्ष्य था। दूसरा लक्ष्य था अलौकिक या रहस्यवादी शक्तियों की प्राप्ति। प्रपञ्चसार ने आठ सिद्धियों की चर्चा की है और कहा है कि आठ सिद्धियों वाला व्यक्ति मुक्त कहा जाता है और उसे योगी की संज्ञा मिली है[१०३]। सिद्धियों का सिद्धान्त प्राचीन है और उसका उल्लेख आपस्तम्ब-धर्म-सूत्र (२।९।२३।६-७) में हुआ है । योगसूत्रभाष्य में आठ सिद्धियों के नाम आये हैं और उनकी व्याख्या हुई है [१०४]। **अणिमा** (एक अणु के समान हो जाना), **लघिमा** (हलका होकर ऊपर उठ जाना), **महिमा** (पर्वत के समान विशाल या आकाश के समान हो जाना), **प्राप्ति** (सभी पदार्थों का सन्निकट हो जाना, यथा अंगुली से चन्द्रमा को छू देना), **प्राकाम्य** (कामना का अवरोध न होना, यथा पृथिवी में समा जाना और बाहर निकल कर ऐसा प्रकट होना मानो जल में प्रवेश हुआ था), **वशित्व** (पंच तत्त्वों पर स्वामित्व), **ईशित्व** (तत्त्वों के निर्माण, समाहित होने या संगठन पर प्रभुत्व) एवं **यत्र-कामावसायित्व** (अपनी इच्छा के अनुसार वस्तुओं को बना देना, यथा---व्यक्ति यह कामना कर सकता है कि विष का प्रभाव अमृत हो, और वह वैसा हो जायगा) । जिसे ये आठ सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं, वह **सिद्ध** कहलाता है। गीता (१०।२६) में आया है कि कपिल सिद्धों में एक सिद्ध हैं (सिद्धानां कपिलो मुनिः)। योगसूत्र (४।१) में सिद्धियों के पाँच प्रकार कहे गये हैं---जन्म, ओषधियों, मन्त्रों, तपों एवं समाधि से उत्पन्न होने वाली (जन्मौषधि-मन्त्र-तपः--समाधिजाः सिद्धयः) । मन्त्रों से अन्य बातें भी प्राप्त की जाती थीं, यथा---षट् क्रूर कर्म तथा नारी को कामासक्त करना। इससे प्रकट है कि केवल तान्त्रिक ही नहीं, प्रत्युत वे लोग भी, जो योगाभ्यास में विश्वास करते थे, मन्त्रों में ऐसा विश्वास करते थे कि वे योगियों को अलौकिक शक्ति देते हैं। योगसूत्र में ऐसी व्यवस्था है कि कुछ सिद्धियाँ (यथा---३।३७ में) समाधि में अवरोध उत्पन्न करती हैं और ये सिद्धियाँ केवल उन लोगों के लिए हैं जो तन्मयावस्था से व्युत्थित रहते हैं । याज्ञवल्क्यस्मृति (३।२०२-२०३) में आया है कि अन्तर्धान हो जाने, दूसरे के शरीर में प्रवेश कर जाने, थोड़े काल के लिए अपना शरीर छोड़ देने, मनोनुकूल पदार्थ की उत्पत्ति कर देने की शक्ति तथा अन्य शक्तियाँ योग द्वारा सिद्धि-प्राप्ति की परिचायक हैं, जो लोग योग-सिद्धि कर लेते हैं अपने नाशवान् शरीर का त्याग कर ब्रह्म में अमर हो जाते हैं।

१०२. परब्रह्मोपासकानां किमन्यैः साधनान्तरैः। मन्त्रग्रहणमात्रेण देही ब्रह्ममयो भवेत् । महानिर्वाणतन्त्र (३।२३-२४)। मन्त्र यों है : 'ओं सच्चिदेकं ब्रह्म' जिसके पूर्व विद्या, माया या श्री के लिए क्रम से ऐं, ह्रीं या श्रीं लगता है (३।३५-३७) ।

१०३. अणिमा महिमा च तथा गरिमा लघिमेशिता वशित्वं च। प्राप्तिः प्राकाम्यं चेत्यष्टैश्वर्याणि योग-युक्तस्य ॥ अष्टैश्वर्यसमेतो जीवन्मुक्तः प्रवक्ष्यते योगी। प्रपञ्चसार (१९।६२-६३)। आधुनिक काल में हवा में हलका हो कर उठ जाने के व्यक्तिगत अनुभव के लिए देखिए डा० अलेक्जेण्डर कैनन कृत 'दि इनविजिबुल इंफ्लुएँस' (१५वाँ मुद्रण, १९३५), अध्याय २, पृ० ३९-४१। कल्पतरु (मोक्षकाण्ड, पृ० २१६-१७) ने प्राचीन लेखक देवल से एक लम्बा गद्यवचन उद्धृत किया है जिसमें ८ सिद्धियों या विभूतियों (गरिमा के स्थान पर यत्रकामावसायित्व आया है) का उल्लेख है ।

१०४. विभूतिर्भूतिरैश्वर्यमणिमादिकमष्टधा। अमरकोश; ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पद्धर्मानभिघातश्च। योगसूत्र (३।४५) ; जन्मौषधि-मन्त्र-तपः-समाधिजाः सिद्धयः। योगसूत्र (४।१)। भाष्य में आया है 'मन्त्रैराकाश-गमनाणिमादिसिद्धिः ।

प्रपञ्चसार (५), शारदातिलक (१३।१२१-१४५) शक्तिसंगमतन्त्र (कालीखण्ड, ८।१०२-१०६), मन्त्र-महोदधि (२५ वीं तरंग) आदि तन्त्र-ग्रन्थों में ६ कठोर क्रियाओं का विशद् उल्लेख है। शारदातिलक (२३।१३७-१४१) ने मन्त्रों के ६ ढंगों या संगठनों का शत्रु के नाम के साथ उल्लेख किया है, यथा—**ग्रन्थन, विदर्भ, सम्पुट, रोधन, योग एवं पल्लव**। हम इनका उल्लेख नहीं करेंगे। किन्तु ऐसा प्रकट होता है कि आरम्भिक पुराण भी जादू-टोना से प्रभावित थे। उदाहरणार्थ, मत्स्यपुराण[१०५] में आया है—'**विद्वेषण** (मित्रों या ऐसे लोगों में जो एक-दूसरे से प्रेम करते हैं) एवं **अभिचार** में एक त्रिकोण की व्यवस्था होनी चाहिए, उसमें ऐसे पुरोहितों से होम कराना चाहिए जिन्होंने लाल पुष्प धारण किया हो, लाल चन्दन लगाया हो, जनेऊ को निवीत ढंग से धारण किया हो, लाल पगड़ी एवं लाल वस्त्र धारण किया हो, तीन पात्रों में एकत्र किये हुए कौओं के ताजे रक्त से सनी समिधा होनी चाहिए, जिसे श्येन (बाज) की अस्थि (हड्डी) पकड़े हुए बायें हाथ से (कुण्ड में) डालना चाहिए। पुरोहितों को सिर पर बाल खुले रखने चाहिए और रिपु (शत्रु) पर विपत्ति गिरने का ध्यान करना चाहिए, उन्हें 'दुर्मित्रि-यास्तस्मै सन्तु' नामक यन्त्र तथा 'ह्रीं' एवं 'फट्' का जप करना चाहिए तथा श्येनयाग में प्रयुक्त मन्त्र को छुरे पर पढ़कर उससे शत्रु की प्रतिमूर्ति को टुकड़े-टुकड़े कर देना चाहिए और अग्नि में फेंक देना चाहिए। यह क्रिया केवल इस लोक में फलप्रद होती है, दूसरे लोक में इससे कोई लाभ नहीं होता, अतः जो लोग इसे करें उन्हें शान्ति कर लेनी चाहिए।' मत्स्य० (९३।१३९-१४८) में नारी को वश में करने एवं उच्चाटन के नियम में भी उल्लेख है। यह सम्भव है कि तान्त्रिकों एवं मत्स्य० दोनों ने ६ प्रकार के जादू की क्रियाओं को ब्राह्मण-ग्रन्थों एवं श्रौत-सूत्रों में उल्लिखित श्येनयाग से ग्रहण किया हो। और देखिए अग्नि पु० (अध्याय १३८)। अहिर्बुध्न्यसंहिता में भी, जो प्रमुखतः पाञ्चरात्र-विषयक ग्रन्थ है, मन्त्रों की भरमार है। देखिए इसके अध्याय ५२ के श्लोक २-५८। इसने मन्त्रों को स्थूल, सूक्ष्म एवं परम माना है (अध्याय ५१)।

यह द्रष्टव्य है कि बौद्ध तन्त्रों ने भी कतिपय उपलब्धियों के लिए मार्ग-दर्शन किया है। प्रेम में सफलता-प्राप्ति से लेकर निर्वाण तक के लिए मन्त्रों के प्रयोग की चर्चा है। बौद्ध तन्त्र-लेखकों ने, विशेषतः वज्रयानियों ने ८४ सिद्धों की बात चलायी है, जिनके नाम नेपाल एवं तिब्बत में आज भी सम्मान के साथ लिये जाते हैं[१०६]। बौद्धों

१०५. विद्वेषणेऽभिचारे च त्रिकोणं कुण्डमिष्यते। ...होमं कुर्युस्ततो विप्रा रक्तमाल्यानुलेपनाः। निवीत-लोहितोष्णीषा लोहिताम्बरधारिणः। नववायसरक्ताढ्य पात्रत्रयसमन्विताः। समिधो वामहस्तेन श्येनास्थिबलसंयुताः। होतव्या मुक्तकेशैस्तु ध्यायद्भिरशिवं रिपौ। दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु तथा हुं फडितीति च। श्येनाभिचारमन्त्रेण क्षुरं समभिमन्त्र्य च। प्रतिरूपं रिपोःकृत्वा क्षुरेण परिकर्तयेत्। रिपुरूपस्य शकलान्यथैवाग्नौ विनिक्षिपेत्। ... इहैव फलदं पुंसामेतन्नामुत्र शोभनम्। तस्माच्छान्तिकमेवात्र कर्तव्यं भूतिमिच्छता॥ मत्स्य० ९३।१४९-१५५। तै० सं० (१।४।४५) एवं तै० ब्रा० (२।६।६।३) में एक मन्त्र है—'सुमित्रा न आप ओषधयः दुर्मित्रास्तस्मै भूयासुर्यो-ऽस्मान् द्वेष्टियं च वयं द्विष्मः।' श्येन एक अभिचार (जादू) क्रिया का नाम है (देखिए जैमिनि १।४।५ एवं उस पर शबर), और सोमयाग का एक परिष्कृत रूप है और श्येन के विषय में (यथा—श्येनेनाभिचरन् यजेत) ये शब्द आये हैं: 'लोहितोष्णीषा लोहितवसना निवीता ऋत्विजः प्रचरन्ति' (आप० श्रौ० २२।४।१३ एवं २३) जो शबर द्वारा जैमिनि (१०।४१) में उद्धृत है। देखिए षड्विंश-ब्राह्मण (३।८।२ एवं २२) जहाँ ऐसे ही वचन आये हैं।

१०६. देखिए डा० बी० भट्टाचार्य कृत 'इण्ट्रोडक्शन टु बुद्धिस्ट इसोटेरिज्म' (पृ० ८४, ९६ एवं १२६), जहाँ ८४ सिद्धपुरुषों की ओर संकेत है तथा 'कल्चरल हेरिटेज आव इण्डिया' (जिल्द ४, पृ० २७३-२७९), जहाँ

ने भी आठ सिद्धियों की चर्चा की है, किन्तु वे योगसूत्र से भिन्न हैं। साधनमाला (संख्या १७२, पृ० ३५०) में ये नाम हैं—**खड्ग** (वह तलवार जिसपर मन्त्र फूँका गया हो, जिसे धारण कर योद्धा लड़ाई में विजय प्राप्त करता है), **अंजन** (वह अंजन जिसके प्रयोग से व्यक्ति गुप्त धन देख लेता है), **पादलेप** (वह लेप जिसे लगने पर व्यक्ति अदृश्य रूप से विचरण कर सकता है), **अन्तर्धान** (देखते-देखते अदृश्य हो जाना), **रसरसायन** (साधारण धातु को सोना बना देना या अमरता के लिए रसायन या तेजोवर्धन प्राप्त करना), **खेचर** (आकाश में उड़ना), **भूचर** (पृथिवी पर कहीं शीघ्रता से चला जाना) तथा **पातालसिद्धि** (पृथिवी के भीतर डूबना)। बौद्धों के पास धन नहीं होना चाहिए अतः उनके पास धन के पीछे एक लालसा रहा करती थी, अतः कुछ मन्त्रों द्वारा उन्होंने कल्पना की कि कुबेर उन्हें अक्षय सम्पत्ति दे देंगे। उन्होंने ऐसी दुराशा भी की कि मन्त्रों के द्वारा हिन्दू देवता उनके चाकर हो जायेंगे । यथा अप्सराएँ उन्हें घेरे रहेंगी, इन्द्र उनके छत्रवाहक होंगे, ब्रह्मा मन्त्री बनेंगे और हरि प्रतिहारी। बौद्ध, शास्त्रार्थ में लोगों को हराना चाहते थे और मन्त्रों द्वारा बिना पढ़े शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करना चाहते थे (साधन०, संख्या १५१, १५५, २५६)। वे रोगों को अच्छा एवं दूर करना तथा विष का मार्जन करना चाहते थे । उन्होंने ऐसी कल्पना कर रखी थी कि वे मन्त्रों के बल से सर्वज्ञता एवं बुद्धत्व प्राप्त कर लेंगे ।

यह हमने देख लिया है कि दीक्षा के उपरान्त गुरु से मन्त्र ग्रहण किया जाता था। अतः दीक्षा के विषय में दो-एक शब्द आवश्यक हैं। दीक्षा के विषय में तान्त्रिकों ने कोई नयी बात नहीं प्रचलित की। प्राचीन वैदिक समय से ही उपनयन से आध्यात्मिक जन्म का आरम्भ माना जाता रहा है और किसी यज्ञ के आरम्भ करने के पूर्व यजमान को पवित्रीकरण की क्रिया करनी पड़ती थी, किन्तु ये दोनों क्रियाएँ उतनी विशद नहीं थीं जितनी कि तान्त्रिक ग्रन्थों वाली दीक्षा। तै० सं० (६।१।१-३ एवं ७।४।८) में दीक्षा का उल्लेख है तथा ऐत० ब्रा० (१।३) ने वैदिक दीक्षा की मुख्य बातें यों दी हैं—पवित्र जल से जयमान का स्नान, मक्खन से मुख एवं शरीर के अन्य अंगों का लेप, आँखों में अञ्जन, अध्वर्यु द्वारा सात दर्भों वाले तीन गुच्छों से दो बार यजमान के शरीर को नाभि के ऊपर पवित्र करना और तब नाभि के नीचे मन्त्रों से पवित्र करना, उसके उपरान्त विशिष्ट रूप से निर्मित मण्डप में प्रवेश, जिस प्रकार भ्रूण घिरा रहता है उसी प्रकार वस्त्र से शरीर को ढँकना तथा काले मृग-चर्म से ऊपरी अंग को ढँकना। शतपथब्राह्मण (३।२।१।१६ एवं २२) में दीक्षा का विशद उल्लेख है, उसमें यह भी आया है कि यजमान तब तक के लिए एक देवता हो जाता है, मानो दीक्षा यजमान के एक नये जीवन का द्योतक है (३।१।२।-१०-२१, ३।१।३-२८)। अथर्ववेद (७।१।१) में आया है—'महान् सत्य, उग्र ऋत, दीक्षा, तप, ब्रह्म, प्रार्थना एवं यज्ञ पृथिवी को धारण करते हैं'[१०७]।

प्रो० पी० सी० बागची ने 'कल्ट आव दि बुद्धिस्ट सिद्धाचार्यज' (पृ० २७४) नामक लेख में तिब्बती परम्रा के आधार पर ८४ सिद्धों के नाम दिये हैं। सिद्धों की परम्परा आधुनिक काल तक चली आयी हुई है। देखिए ए० बी० ओ० आर० ई० (जिल्द १६, पृ० ४६-६०) जहाँ पर रत्नगिरि जिले के श्रृंगारपुर के शिवयोगी नामक ब्राह्मण का वर्णन है जो कोंकण से बंगाल के राधा नामक सिद्ध के पास गया था। बड़ी भक्ति से बहुत दिनों तक उसकी सेवा की और स्वयं सिद्ध बन गया। अपनी जन्मभूमि को लौट आया और एक मठ का निर्माण किया। हठयोगप्रदीपिका (१।५-८) में आदिनाथ (शिव), मत्स्येन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ, अल्लमप्रभु आदि से लेकर लगभग ३० महासिद्धों का उल्लेख है ।

१०७. सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति। अथर्व० (१२।१।१) ।

कुछ तन्त्रों में, यथा प्रपंचसार (५ एवं ६), कुलार्णव (१४।३६), शारदातिलक (चौथा पटल), नित्योत्सव (पृ० ४-१०), ज्ञानार्णव (२४ वाँ पटल), विष्णुसंहिता (१०), महानिर्वाण० (१०।११२-११६) एवं लिंगपुराण (२।२१) में दीक्षा का विशद उल्लेख है। निर्णयसागर प्रेस ने सत्यानन्दनाथ के शिष्य विष्णुभट्ट के ग्रन्थ दीक्षा-प्रकाशिका का प्रकाशन सन् १६३५ में किया जो शक संवत् १७१६ (=१७६७ ई०) में प्रणीत हुआ था। उपर्युक्त सभी ग्रन्थों में 'दीक्षा' को 'दा' (देना) धातु एवं 'क्षि' (नाश करना) से निष्पन्न माना है। कुलार्णव० (१७।५१) में आया है—'सज्जन लोग इसे दीक्षा कहते हैं क्योंकि यह दिव्य भाव प्रदान करती है, सभी पापों का क्षय करती है और इस प्रकार संसार के बंधन से मुक्ति देती है'। शारदातिलक (४।२) में आया है—'क्योंकि यह दिव्यज्ञान देती है और पापों का नाश करती है, अतः तान्त्रिक गुरुओं द्वारा यह दीक्षा कहलाती है'।

शक्तिसंगमतन्त्र (१७।३६-३८) में आया है कि दीक्षा का सर्वोत्तम काल है चन्द्र एवं सूर्य का ग्रहण-काल, किन्तु चन्द्र-ग्रहण-काल सर्वोत्तम है। जब मन्त्र-दीक्षा ग्रहण में दी जाती है तो वार, तिथि, नक्षत्र, मास या योग या करण का विचार नहीं होता। कालीविलासतन्त्र में ऐसा कहा गया है कि यदि भाग्य से फाल्गुन के कृष्ण पक्ष की पंचमी को स्वाती नक्षत्र एवं शुक्रवार मिल जाय तो उस दिन की दीक्षा से जो फल प्राप्त होता है वह एक करोड़ सामान्य दीक्षाओं से नहीं प्राप्त होता (६।३-४)। और देखिए निर्णयसिन्धु (पृ० ६७) जिसने ज्ञानार्णव को उद्धृत कर यह कहा है कि मन्त्र-दीक्षा चन्द्र-ग्रहण या उससे सात दिन के भीतर हो जानी चाहिए और मुख्य काल सूर्य-ग्रहण है। उसने कालोत्तर को उद्धृत कर यह कहा है कि यदि दीक्षा के लिए सूर्य-ग्रहण मिल जाय तो मास, तिथि, वार आदि का विचार नहीं करना चाहिए। निर्णयसिन्धु ने योगिनीतन्त्र को उद्धृत कर चन्द्र-ग्रहण में दीक्षा की भर्त्सना की है। देखिए अन्य बातों के लिए विट्ठलकृत मुहूर्तकल्पद्रुम (पृ० ६४, श्लोक ६)।

अग्निपुराण (अध्याय २७, ८१-८६ एवं ३०४) में भी दीक्षा, तान्त्रिक मन्त्रों एवं क्रियाओं के विषय में उल्लेख है, किन्तु स्थानाभाव से हम उसे यहाँ नहीं दे सकेंगे। ज्ञानार्णव० (२४।४५-५३) में आया है कि दीक्षा के समय गुरु को अपने शिष्य को ६ चक्रों (मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध एवं आज्ञा) के साथ प्रत्येक के दलों की संख्या, रंग तथा प्रत्येक के अक्षरों का ज्ञान करा देना चाहिए।

पश्चात्कालीन धर्मशास्त्र-ग्रन्थों ने मन्त्र-दीक्षा के लिए तन्त्र-ग्रन्थों का सहारा लिया है। **दीक्षा एवं उपदेश** में अन्तर है, क्योंकि उपदेश में मन्त्र-ज्ञान सूर्य-चन्द्र-ग्रहण में, तीर्थस्थान में, सिद्धक्षेत्र या शिवालय में दिया जाता है। देखिए धर्मसिन्धु (पृ० ३२), रघुनन्दन (दीक्षातत्त्व, जिल्द २, पृ० ६४५-६५६)।

महानिर्वाण० (१०।२०१-२०२) में आया है कि जब शिष्य शाक्त, शव, वैष्णव, सौर या गाणपत्य हो तो गुरु को उसी सम्प्रदाय का होना चाहिए, किन्तु कौल सभी के लिए अच्छा गुरु है। इस ग्रन्थ (१०।११३) में यह भी आया है कि केवल मद्य पीने से ही कोई कौल नहीं हो जाता, प्रत्युत वह **अभिषेक** के उपरान्त वैसा होता है। श्लोक ११३-१६३ में अभिषेक का विशद उल्लेख है जो ईसाइयों के बपतिस्मा के समान लगता है। सर्वप्रथम अभिषेक के एक दिन पूर्व गणेश-पूजा की जाती है, इसके उपरान्त आठ शक्तियों (ब्राह्मी आदि), लोकपालों एवं उनके हथियारों की पूजा होती है। इसके उपरान्त दूसरे दिन (अर्थात् अभिषेक के दिन) स्नान के उपरान्त नवशिष्य पाप दूर करने के लिए तिल एवं सोना का दान करता है और अभिषेक के सम्पादन के लिए प्रार्थना के साथ गुरु के पास जाता है। इसके उपरान्त गुरु वेदी पर सर्वतोभद्र मण्डल की रचना करता है, पाँचों तत्त्वों को शुद्ध करता है, एक शुभ घट रखता है और उसे मद्य से या पवित्र जल से भरता है। प्रमुख क्रिया है गुरु द्वारा शिष्य पर ब्रह्मा, विष्णु, शिव, मातृकाओं, विभिन्न शक्तियों, अवतारों, देवी के विभिन्न रूपों, दिग्पालों, नवग्रहों, नक्षत्रों, योगों, वारों, करणों, समुद्रों, पवित्र नदियों, नागों, पेड़ों आदि का आह्वान करके २१ मन्त्रों के साथ (१०।१६०-१८०) जल का छिड़-

काव। इसके उपरान्त गुरु शिष्य को एक नया नाम देता है जिसका आनन्दनाथ से अन्त होता है। शिष्य गुरु एवं अन्य उपस्थित कौलों का सम्मान करता है। यह उत्सव (कृत्य) ९, ७, ५, ३ रातों या एक रात तक चलता है। देखिए तन्त्रराजतन्त्र (२।५८-७२), ज्ञानसिद्धि (१७)। और देखिए 'सेकोद्देशटीका' की भूमिका (मैरियो ई० करेल्ली द्वारा सम्पादित एक बौद्ध तन्त्र-ग्रन्थ), जहाँ ईसाइयों के बपतिस्मा से मिलता-जुलता कृत्य वर्णित है। अहिर्बुध्न्यसंहिता (अध्याय ३९) में **महाभिषेक** की विधि वर्णित है। महाभिषेक से सभी रोग दूर हो जाते हैं, सभी शत्रु नष्ट हो जाते हैं और सभी कामनाओं की पूर्ति होती है।

दीक्षा के चार प्रकार हैं—क्रियावती, वर्णमयी, कलावती एवं वेधमयी। वास्तुयाग, मण्डप, कुण्डों एवं स्थण्डिल के निर्माण के विषय में विस्तृत नियम दिये हुए हैं, जिनका उल्लेख यहाँ नहीं किया जा रहा है।

अध्याय २७

न्यास, मुद्राएँ, यन्त्र, चक्र, मण्डल आदि

तान्त्रिक कृत्यों एवं पूजा के महत्त्वपूर्ण अंगों में एक है न्यास, जिसका तात्पर्य है 'शरीर के कुछ अंगों पर अवस्थित होने के लिए किसी देवता या देवताओं, मन्त्रों का मानसिक रूप से आह्वान करना, जिससे शरीर पवित्र हो जाय और पूजा एवं ध्यान करने के योग्य हो जाय।' कुछ ग्रन्थों, यथा—जयाख्यसंहिता (पटल ११), प्रपंचसार (६), कुलार्णव (४।१८) ने न्यास के कई प्रकारों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है; शारदातिलक (४।-२६-४१ एवं ५।५-७), महानिर्वाणतन्त्र (३।४१-४३ एवं ५।११३-११८) ने न्यास की कतिपय कोटियों का उल्लेख किया है। राघवभट्ट (शारदातिलक, ४।२६-४१) ने न्यास पर किसी विशाल साहित्य से बहुत-से उद्धरण दे डाले हैं। न्यास के कुछ प्रकार ये हैं[1]—हंसन्यास, प्रणवन्यास, मातृकान्यास, मन्त्रन्यास, करन्यास, अंगन्यास, पीठन्यास। प्रणवन्यास की व्याख्या यों हुई है—'ओं आं ब्रह्मणे नमः', 'ओं आं विष्णवे नमः'; इसी प्रकार अन्य नामों की भी व्याख्या दी गयी है (राघवभट्ट, शारदा० २५।५८)। अंगन्यास यों व्याख्यायित है—'ओं हृदयाय नमः, ओं शिरसे स्वाहा, ओं शिखायै वषट्, ओं कवचाय हुं, ओं नेत्रत्रयाय (या नेत्रद्वयाय) वाषट्, ओं अस्त्राय फट्'। कतिपय पुराणों में भी न्यास-सम्बन्धी व्यवस्थाएँ पायी जाती हैं। गरुडपुराण (१, अध्याय २६, ३१, ३२) ने अंगन्यास को पूजा, जप एवं होम का अंग माना है। नारदीयपुराण (२।५७।१३-१४), भागवत (६।८, लगभग ४० श्लोक), ब्रह्म० (६०।३५-४०) ने मन्त्रों के न्यास के लिए 'ओं नमो नारायणाय', एवं 'ओं विष्णवेनमः' की व्यवस्था दी है। कालिका-पुराण (अध्याय ७७) ने मातृकान्यास का उल्लेख किया है। स्मृतिमुक्ताफल (आह्निक, पृ० ३२६-३३१) ने कतिपय उद्धरण दिये हैं, जिनमें शरीर के विभिन्न अंगों पर गायत्री (ऋ० ३।६२।१०) के २४ अक्षरों के न्यास, २४ अक्षरों पर कुछ पुष्पों के रंगों, कुछ देवताओं एवं अवतारों से सम्बन्धित बातों तथा शरीर के अंगों पर गायत्रीपादों के न्यास का वर्णन है। ब्रह्मपुराण (६०।३५-३६) में 'ओं नमो नारायणाय' नामक मन्त्र के न्यास का उल्लेख है, जो अंगुलियों एवं शरीर के अन्य अंगों पर अवस्थित किया जाता है; उसमें करन्यास एवं अंगन्यास (२८।२६) का भी उल्लेख है। पद्म० (६।७६।१७-३०) ने शरीर में सिर से लेकर पाँव तक के अंगों पर विष्णु के नामों के न्यास का वर्णन किया है।[2] उसमें (८५।२६) 'ओं नमो भगवते वासुदेवाय' के मन्त्र के साथ अंगन्यास एवं करन्यास

१. राघवभट्ट ने हंसन्यास को यों समझाया है—'हं पुरुषात्मने नमः, सः प्रकृत्यात्मने नमः, हंसः प्रकृति-पुरुषात्मने नमः' (शारदा० ४।२६); आत्मनो देवताभावप्रदानाद्देवतेति च। पदं समस्ततन्त्रेषु विद्वद्भिः समुदीरितम्।। हृदयशिरसोः शिखायां कवचाक्ष्यस्त्रेषु सह चतुर्थीषु। नत्या हुत्या च वषड् हुं वौषट् फट्पदैः षडङ्ग विधि।। प्रपंच-सार (६।५-६)। मिलाइए शारदा० (४।३१-३५) एवं महानिर्वाण० (३।१४२), जहाँ इसी प्रकार की व्यवस्थाएँ दी हुई हैं।

२. पद्म (६।७६।१७-३०) का आरम्भ एवं अन्त निम्नोक्त ढंग से होता है : शिखायां श्रीधरं न्यस्यशिखाधः श्रीकरं तथा। हृषीकेशं तु केशेषु मूर्ध्नि नारायणं परम्।। एवं न्यासविधिं कृत्वा साक्षान्नारायणो भवेत्। यावन्न व्याहरे-त्किंचित् तावद्विष्णुमयः स्थितः।।

का उल्लेख है। और देखिए मत्स्यपुराण (२२६।२६) जहाँ 'ओं' के साथ न्यास में मन्त्रों के प्रयोग की बात पायी जाती है। करांगन्यास एवं करन्यास, जो गायत्री से सम्बन्धित है, देवीभागवत (११।१६-७६-६१) में वर्णित हैं और वहाँ स्पष्ट रूप से सन्ध्या-पूजा के अंग के रूप में न्यास का नाम आया है। और देखिए देवीभागवत (११।७।२६-३८) एवं कालिकापुराण (५३।३६)। देवीभागवत (७।४०।६-८) ने वक्षस्थल, भौंहों के मध्य के स्थल, सिर के समान शरीरांगों पर कुछ अक्षरों के न्यास का उल्लेख किया है। बृहद्योगियाज्ञवल्क्य (स्मृतिचन्द्रिका, १, पृ० १६८)[3] में दाहिने हाथ की अंगुलियों एवं हथेली पर क्रम से गोविन्द, महीधर, हृषीकेश, त्रिविक्रम, विष्णु, माधव के नामों के न्यास का उल्लेख है, जिसे स्मृतिचन्द्रिका ने योगि-याज्ञवल्क्य से उद्धृत किया है और जो आजकल सन्ध्या-पूजा में ज्यों-का-त्यों होता है। और देखिए स्मृतिच० (१, पृ० १४५), अपरार्क (पृ० १४०), शारदातिलक (५।५-८), राघवभट्ट (शारदा० ५।४) तथा महानिर्वाण० (५।१७६-१७८)।

उपर्युक्त वचनों से विदित होता है कि न्यास की बात तन्त्र-ग्रन्थों से पुराणों द्वारा योगियाज्ञवल्क्य, अपरार्क (१२ वीं शती का पूर्वार्ध) एवं स्मृतिचन्द्रिका के कई शतियों पूर्व ग्रहण की गयी थी। वर्षक्रियाकौमुदी (१६ वीं शती का पूर्वार्ध) से प्रकट है कि इसके बहुत पहले गरुड एवं कालिकापुराणों में न्यास की व्यवस्थाएँ थीं। रघुनन्दन के देवप्रतिष्ठातत्त्व (पृ० ५०५) ने मातृकान्यास एवं तत्त्वन्यास का उल्लेख किया है। वीरमित्रोदय के पूजाप्रकाश नामक विभाग में मातृकान्यास, अंगन्यास एवं गायत्रीन्यास का क्रम से पृ० १३०, १३१ एवं १३२ पर उल्लेख है। इसी ग्रन्थ के विभाग भक्तिप्रकाश (पृ० ८८-८६) में मातृकान्यास का वर्णन है। आजकल कुछ कट्टर लोग न्यास के दो प्रकारों का प्रयोग करते हैं, यथा—**अन्तर्मातृका**, जिसमें 'अ' से 'क्ष' तक के अक्षरों का न्यास हाथों की अंगुलियों, हाथों की हथेलियों एवं ऊपरी भागों तथा अन्य शरीरांगों, यथा—गला, जननेन्द्रियों, आधार-स्थल, भौंहों के मध्य स्थल (जहाँ ६ चक्रों के आसन हैं) पर किया जाता है, तथा **बहिर्मातृकान्यास** जिसमें सभी अक्षरों (अनुस्वार के साथ) का न्यास सिर से पाँव तक के शरीरांगों पर 'ओं नमः मूर्ध्नि' आदि के रूपों में होता है।

'न्यास' शब्द 'अस्' (स्थापित करना) एवं 'नि' से बना है जिसका अर्थ है किसी में या किसी पर रखना या स्थापित करना। कुलार्णव ने इसे यों समझाया है[4]—'न्यास इसलिए कहा जाता है कि वहाँ धर्मपूर्वक उपलब्ध धन रखा या स्थापित होता है और वह भी ऐसे लोगों के साथ जिनके द्वारा सुरक्षा प्राप्त होती है (अतः वक्षःस्थल तथा अन्य शरीरांगों का अंगुलियों के पोरों से तथा दाहिने हाथ की हथेली से मन्त्रों के साथ स्पर्श करने से साधक या पूजक दुष्ट लोगों के बीच में निर्भयतापूर्वक कार्यशील हो सकता है और देवता के समान हो जाता है)। देखिए जयाख्य संहिता (पटल ११, १-३)। सर जॉन वुड्रोफ ने न्यास की तुलना ईसाई धर्म में क्रॉस के चिह्न बनाने से की है (७१-७७)

तान्त्रिक क्रिया का एक अन्य विशिष्ट विषय है मुद्रा। मुद्रा शब्द के कई अर्थ होते हैं जिनमें चार का सम्बन्ध तान्त्रिक प्रयोगों से है। यह योग की क्रियाओं में एक आसन है, जिसमें सम्पूर्ण शरीर कार्यशील रहता है। यह धार्मिक पूजा के अंग के रूप में अंगुलियों एवं हाथों का प्रतीकात्मक या रहस्यवादी ढंग है जो एक-दूसरे से

३. अंगुष्ठे चैव गोविन्दं तर्जन्यां तु महीधरम्। मध्यमायां हृषीकेशमनामिक्यां त्रिविक्रमम्। कनिष्ठिक्यां न्यसेद्विष्णुं हस्तमध्ये च माधवम्। स्मृतिच० (१, पृ० १६८) ने इसे योगियाज्ञवल्क्य का माना है।

४. न्यायोपार्जितवित्तानामङ्गेषु विनिवेशनात्। सर्वरक्षाकराद् देवि न्यास इत्यभिधीयते॥ कुलार्णव० (१७।५६)

संयुक्त करने से प्रकट होता है। मुद्रा पंचमकारों में चौथा मकार है और उसका तात्पर्य है विभिन्न प्रकार के अन्न जो घृत से संयुक्त हों या ऐसे अन्न जो भुने हुए हों। मुद्रा का चौथा अर्थ है वह नारी जिससे तान्त्रिक योगी अपने को सम्बन्धित करता है (प्रज्ञोपाय० ५।२४ एवं सेकोद्देशटीका, पृ० ५६)। कुलार्णव ने इसे 'मुद' (मोद, प्रसन्नता) से एवं 'द्रावय' ('द्रु' का हेतुक) से निष्पन्न माना है और उसने ऐसा कहा है कि मुद्राओं का प्रदर्शन (पूजा में) होना चाहिए और वे इसीलिए प्रसिद्ध हैं कि उनसे देवता लोग प्रसन्न होते हैं और उनके मन द्रवीभूत हो जाते हैं (वे पूजकों पर कृपा करते हैं)। किन्तु शारदातिलक (२३।१०६) ने इसे 'मुद्' एवं 'रा' (देना) से व्युत्पन्न माना है और इसके मत से मुद्रा का अर्थ है 'जो देवों को आनन्द देती है'[५]। कुछ अन्य व्युत्पत्तियाँ भी हैं (देखिए जे० ओ० आर०, बड़ौदा, जिल्द ६, पृ० १३)। राघवभट्ट का कथन है कि अँगूठे से कनिष्ठिका तक की अँगुलियाँ पंच तत्त्व के समान हैं अर्थात् वे क्रम से आकाश, वायु, अग्नि, सलिल एवं पृथिवी हैं, उनके सम्मिलन से देवता प्रसन्न एवं अनुग्रहशील होते हैं, और वे उपस्थित होते हैं, विभिन्न उचित मुद्राओं का प्रयोग पूजा, जप एवं ध्यान में होना चाहिए; मुद्राओं का प्रयोग उन सभी कृत्यों में होना चाहिए जो किसी विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिए किये जाते हैं, क्योंकि उनसे देवता पूजक के पास उपस्थित होते हैं[६]। ऐसा समझा जाता था कि मुद्राओं से पूजा करने वाले का मनोयोग बढ़ जाता है। सातवीं शती में भी ऐसा विश्वास था कि विष के प्रभाव से मूच्छित व्यक्ति को मुद्राओं से पुनर्जीवित किया जा सकता है, जैसा कि कादम्बरी (उत्तर भाग) से प्रकट होता है। वर्षक्रियाकौमुदी में ऐसा आया है कि जब तक उचित मुद्राएँ न हों जप, प्राणायाम, देव-पूजा, योग, ध्यान एवं आसन फलप्रद नहीं होते।

'मुद्रा' शब्द अगस्त्य की पत्नी के नाम लोपामुद्रा में भी आया है, जो ऋग्वेद (१।१७९।४) में उल्लिखित है (लोपामुद्रा वृषणं नी रिणाति धीरमधीरा धयति श्वसन्तम् ॥)। 'मुद्रा' शब्द अमरकोश में नहीं आया है।

५. मुदं कुर्वन्ति देवानां मनांसि द्रावयन्ति च। तस्मान्मुद्रा इति ख्याता दर्शितव्याः कुलेश्वरि ॥ कुलार्णव० (१७।५७)। मुदं कुर्वन्ति देवानां राक्षसान्द्रावयन्ति च ॥ विष्णुसंहिता (७।४३); आवाहन्यादिका मुद्राः प्रवक्ष्यामि यथाक्रमम्। याभिर्विरचिताभिस्तु मादन्ते सर्वदेवताः। शारदा० (२३।१०६) जिस प्रकार राघवभट्ट की टीका है 'रा दाने'। मुदं राति ददातीति मुद्रेति निर्वचनम्।...अत एव तद्दर्शनेन देवताहर्षोत्पत्तिः। स्वाङ्गुल्यो हि पंचभूतात्मिका अंगुष्ठाद्या आकाशवाय्वग्निसलिलभूरूपास्तासां मिथः संयोगरूप संकेतात्कोऽपि देवताप्रगुणीभावपूर्वको मोदःसान्निध्यकरो भवति। तदुक्तम्। पृथिव्यादीनि भूतानि कनिष्ठाद्या क्रमान्मताः। तेषामन्योन्यसम्भेदप्रकारैस्तत्प्रपञ्चता।' योगिनीहृदय (१।५७) ने इस शब्द की व्युत्पत्ति कुलार्णव के समान की है।

६. अर्चने जपकाले तु ध्याने काम्ये च कर्मणि। तत्तन्मुद्रा प्रयोक्तव्या देवतासंनिधापकाः (पूजाप्रकाश द्वारा उद्धृत, पृ० १२३)। राघवभट्ट ने भी शारदा० (२३।३३६) पर उद्धृत किया है--स्नाने चावाहने चैव प्रातिष्ठायां च रक्षणे। नैवेद्ये च तथान्ये च तत्तत्कर्मप्रकाशवे। स्थाने मुद्राः प्रकर्तव्याः स्वलक्षणसंयुताः ॥ तान्त्रिक टेक्ट्स (जिल्द १, पृ० ४६, श्लोक १-३)। मुद्राबन्धाद्ध्यानाद्वा विषप्रसुप्तस्योत्थापने कीदृशी युक्तिः। कादम्बरी, उत्तरभाग (चन्द्रापीड की हृदयगति रुक जाने पर शुकनास द्वारा तारापीड को सान्त्वना देने वाली वक्तृता)। मिलाइए आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प (पृ० ३६९): 'निर्विषोपि भवेत्क्षिप्रं यो जन्तुर्विषमूच्छितः। चत्वारिंशति समाख्याता मु १ श्रेष्ठा महर्धिका ॥ वर्षक्रियाकौमुदी पृ० १५६ 'मुद्रा विना तु यज्जाप्यं प्राणायामः सुरार्चनम्। योगो ध्यानासने चापि निष्फलानि तु भैरव' ॥ यह श्लोक कालिकापुराण (७०।३५) का है। मेरुतन्त्र (१७।२२) में आया है: 'मुद्राभिरेवतुष्यन्ति न पुष्पादिक पूजनैः। महापूजा कृतातेन येन मुद्राष्टकं कृतम् ॥

बाली द्वीप वासी बौद्ध एवं शैव पुजारी लोगों द्वारा मुद्राओं के प्रयोग के विषय में मिस टीरा डि क्लीन का एक ग्रन्थ है, जिसकी ओर इस महाग्रन्थ के खण्ड–२ में लिखा जा चुका है (देखिए अंग्रेजी संस्करण, जिल्द २, पृ० ३२०-३२१)। यहाँ हम थोड़ा विस्तार के साथ उसका उल्लेख करेंगे।

तन्त्र, पुराण एवं योग के ग्रन्थों में मुद्राओं की संख्या, नामों एवं परिभाषाओं के विषय में बड़ा मतभेद है। कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं।

तान्त्रिक टेक्ट्स (जिल्द १, पृ० ४६-४७) में मुद्राओं के नामों एवं परिभाषाओं का एक निघण्टु (शब्दकोश या वर्णन) है जिसमें ऐसा कथित है कि ९ मुद्राएँ (आवाहनी आदि) अधिक प्रचलित हैं (जो किसी भी पूजा में प्रयुक्त की जाने योग्य हैं) और फिर विष्णु-पूजा सम्बन्धी मुद्राओं का उल्लेख है (कुल १९, यथा—शंख, चक्र, गदा, पद्म, वेणु, श्रीवत्स, कौस्तुभ, वनमाला, ज्ञान, विद्या, गरुड़, नारसिंही, वाराही, हयग्रीवी, धनुस्, बाण, परशु, जगन्मोहिनी, वाम)। शिव की, दस मुद्राएँ ये हैं—लिंग, योनि, त्रिशूल, अक्षमाला, अभीति अर्थात् अभय, मृग, असिका, खट्वांग (गदा जिसके सिर पर खोपड़ी हो), कपाल, डमरू। सूर्य की एक मुद्रा है—पद्म। गणेश के लिए मुद्राएँ हैं, यथा—दन्त, पाश, अंकुश, अविघ्न, पशु, लड्डुक, बीजपूर (जंभीर नीबू या चकोतरा)[७]।

शारदातिलक (२३।१०६-११४) ने केवल ९ मुद्राओं का उल्लेख किया है और उनकी परिभाषाएँ दी हैं, विष्णुसंहिता (७) के अनुसार मुद्राएँ अगणित हैं (श्लोक ४५) और उसने ३० के नामों एवं परिभाषाओं का उल्लेख किया है तथा ज्ञानार्णव० (४) ने कम-से-कम १९ मुद्राओं का उल्लेख किया है। जयाख्यसंहिता (८वाँ पटल) में ५८ मुद्राओं की चर्चा है। तान्त्रिक ग्रन्थों (विष्णुसंहिता, ७।४४-४५; महासंहिता, जिसे राघवभट्ट ने शारदा० के श्लोक २३-११४ की टीका में उद्धृत किया है; स्मृतिच०, १, पृ० १४८) में ऐसी व्यवस्था दी हुई है कि मुद्राओं का सम्पादन गुप्त रूप से (वस्त्र के) भीतर होना चाहिए न कि बहुत-से लोगों के समक्ष, उसका उल्लेख किसी और से नहीं करना चाहिए, नहीं तो वे निष्फल हो जाती हैं। पुण्यानन्दकृत कामकलाविलास ने स्पष्ट रूप से त्रिखण्डा-मुद्रा का नाम लिया है और ९ मुद्राओं का उल्लेख किया है। देखिए नित्याषोडशिकार्णव (तीसरा विश्राम) जहाँ १० मुद्राओं की चर्चा है, यथा—त्रिखण्डा, सर्वसंक्षोभकारिणी, सर्वविद्राविणी, आकर्षिणी, सर्वावेशकरी, उन्मादिनी, महांकुशा, खेचरी, बीजमुद्रा एवं योनिमुद्रा।

ज्ञानार्णवतन्त्र (४।३१-४७ एवं ५१-५६ तथा १५।४७-६८) ने ३० से अधिक मुद्राओं के नाम गिनाये हैं, जिनमें से कतिपय नित्याषोडशिकार्णव के नामोंवाली हैं, उनकी परिभाषाएँ भी उसी प्रकार हैं और भास्करराय ने नित्याषोडशिकार्णव की टीका में उन्हें उद्धृत भी किया है। हम यहाँ शारदातिलक (२३।१०७-११४) में दी हुई ९ मुद्राओं का उल्लेख कर रहे हैं[८]—(१) **आवाहनी**, जिसमें दोनों हाथ जोड़े जाते हैं, किन्तु बीच में खोखला

७. ये मुद्राएँ, मुद्रालक्षण ग्रन्थ में वर्णित हैं (डकन कालेज, पाण्डुलिपि संख्या २९१, १८८७-९१)। इनमें से कुछ मुद्राएँ, जो कुछ देवताओं के विषय में हैं, विष्णुसंहिता (७) एवं ज्ञानार्णव० (४) में हैं। मुद्रानिघण्टु ने शक्ति, अग्नि, त्रिपुरा एवं अन्य देवों की मुद्राओं के नाम एवं परिभाषाएँ दी हैं। विष्णु-पूजा में प्रयुक्त होने वाली मुद्राएँ, यथा—शंख, चक्र, गदा, पद्म, कौस्तुभ, श्रीवत्स, वनमाला, वेणु आदि नारदतन्त्र नामक ग्रन्थ में उल्लिखित हैं जिन्हें वर्षक्रियाकौमुदी ने उद्धृत किया है (पृ० १५४-१५६)।

(८) सम्यक् सम्पूरितः पुष्पं कराभ्यां कल्पितोऽञ्जलिः। आवाहनी समाख्याता मुद्रा देशिकसत्तमैः ।। अधोमुखी कृता सैव प्रोक्ता स्थापनकर्मणि। आश्लिष्टमुष्टियुगला प्रोन्नताङ्गुष्ठयुग्मका ।। सन्निधाने समुद्दिष्टा मुद्रेयं

होता है जिसमें पुष्प भरे रहते हैं; (२) स्थापनी, इसमें आवाहनी का ही रूप होता है, अन्तर यह होता है कि हाथ एक-दूसरे के ऊपर-नीचे रहते हैं; (३) सन्निधापनी मुद्रा में दोनों हाथ सटकर जुड़े रहते हैं, किन्तु अंगूठे उठे रहते हैं, (४) सन्निरोधिनी में ऊपरवाली स्थिति होती है, किन्तु दोनों अंगूठे मुष्टि के भीतर होते हैं; (५) सम्मुखीकरणी में दोनों बँधी मुष्टिकाएँ (मुट्ठियाँ) उत्तान (ऊपर की ओर) हों; (६) सकलीकृति में देवता की प्रतिमा के अंगों से अपने ६ अंगों के न्यास का नाट्य करना होता है; (७) अवगुण्ठनी में अंगुलियाँ सीधे बन्द करके हाथ को नीचा करके प्रतिमा के चारों ओर घुमाया जाता है; (८) धेनुमुद्रा (एक जटिल मुद्रा है) में दाहिने हाथ की कनिष्ठिका को दाहिनी अनामिका पर दाहिनी अनामिका में लपेट कर उसे बायीं अनामिका में लपेट देना, बायीं अनामिका को बायी मध्यमा एवं बायें अँगूठे के ऊपर रखना, पुनः दाहिनी मध्यमा से लपेट कर दाहिनी तर्जनी के पास लाना तथा दाहिनी तर्जनी को बायीं मध्यमा से मिलाना; (९) महामुद्रा में दोनों अंगूठों को लपेटा जाता है और अन्य अंगुलियाँ सीधी रहती हैं ।

योग सम्बन्धी कुछ ग्रन्थों में कतिपय मुद्राएँ वर्णित हैं, यथा हठयोगप्रदीपिका (३।६-२३) ने दस मुद्राओं एवं घेरण्डसंहिता (३।१-३) ने २५ मुद्राओं का उल्लेख किया है। शिवसंहिता (४।१५-३१) ने १० मुद्राओं को उत्तम कहा है। हठयोग में एक महत्त्वपूर्ण मुद्रा है खेचरीमुद्रा, जो देवीभागवत (११।६६।६२-६५), शिवसंहिता (४।३१-३३), घेरण्डसंहिता (३।२५-२७), हठयोगप्रदीपिका (३।३२-५३) में वर्णित है । किन्तु यह वर्णन ज्ञानार्णव० (१५।६१-६३) एवं नित्याषोडशिकार्णव (३।१५-२३) में उल्लिखित खेचरी के वर्णन से भिन्न है। वज्रोलीमुद्रा (हठयोगप्रदीपिका ३।८२-९९) का वर्णन यहाँ नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह अश्लील है, ऐसा कहा हुआ है कि संभोग सम्बन्धी क्रियाओं के होने पर भी योगी की आयु इस मुद्रा से बढ़ती है।

कुछ पुराणों में मुद्राओं का विशद वर्णन है । कालिकापुराण में ६६वें अध्याय में अंगन्यास, करन्यास एवं ७०।३६-५६ तथा ७८।३-६ में धेनुमुद्रा, योनिमुद्रा, महामुद्रा एवं खेचरी मुद्रा का उल्लेख है। देवीभागवत (११।१६।९८-१०२) ने गायत्री-जप के समय की २४ मुद्राओं का उल्लेख किया है। ब्रह्मपुराण (६१।५५) एवं नारदीयपुराण (२।५७।५५-५६) ने विष्णु-पूजा में आठ मुद्राओं की व्यवस्था दी है[९]। देखिए अग्निपुराण

तन्त्रवेदिभिः । अंगुष्ठगर्भिणी सैव सन्निरोधे समीहिता ।। उत्तानौ द्वौ कृतौ मुष्टी संमुखीकरणी स्मृता । देवताङ्गे षडङ्गानां न्यासः स्यात्सकलीकृतिः ।। सव्यहस्तकृता मुष्टिर्दीर्घाधोमुखतर्जनी । अवगुण्ठनमुद्रेयमभितो भ्रामिता सती ।। अन्योन्याभिमुखाश्लिष्टकनिष्ठानामिका पुनः । तथा च तर्जनीमध्या धेनुमुद्रा समीरिता ।। अमृतीकरणं कुर्यात्तया देशिकसत्तमः। अन्योन्यग्रथिताङ्गुष्ठा प्रसारित कराङ्गुली ।। महामुद्रेयमुदिता परमीकरणे बुधैः। प्रयोजयेदिमा मुद्रा देवतायागकर्माणि ।। शारदा० (२३।१०७-११४)

(९) पद्म शंखश्च श्रीवत्सो गदा गरुड एव च । चक्रंखड्गश्च शार्ङ्गंच अष्टौ मुद्राः प्रकीर्तिताः । ब्रह्म (६१।५५), नारदीय (२।५७।५५-५६) । यह अवलोकनीय है कि ये मुद्राएँ तान्त्रिक टेक्ट्स (जिल्द १) में वर्णित १९ विष्णुमुद्राओं में सम्मिलित हैं । श्रीवत्स को छोड़ कर ये सभी पूजाप्रकाश (पृ० १२४-१२५) में संज्ञापित एवं व्याख्यापित हैं । पूजाप्रकाश (पृ० १३६) में व्यवस्था दी हुई है कि विष्णु-पूजा में आवाहन 'सहस्रशीर्ष' (ऋ० १०।९०।१) नामक मन्त्र के साथ होना चाहिए और १४ मुद्राएँ प्रदर्शित होनी चाहिए, जो ये हैं : 'सहस्रशीर्षेतिमन्त्रेणावाहनं कुर्यात् । तत आवाहनादिचतुर्दशमुद्राः प्रदर्शयेत् । ताश्च आवाहनी स्थापनी संमुखकरणी सन्निरोधिनी प्रसादमुद्रा अवगुण्ठनमुद्रा शंखचक्रगदापद्ममुसलखड्गधनुर्बाणमुद्राः ।'

(अध्याय २६) जहाँ ७ श्लोकों में कुछ मुद्राओं की ओर संकेत हैं। कालिकापुराण (७०।३२) में कथित है कि कुल १०८ मुद्राएँ हैं, जिनमें ५५ सामान्य पूजा तथा ५३ विशिष्ट अवसरों, यथा सामग्रियों को एकत्र करने, नाटक,नाटन आदि में प्रयुक्त होती हैं।

ब्रह्माण्डपुराण (ललितोपाख्यान, अध्याय ४२) के बहुत-से श्लोक मुद्रानिघण्टु (पृ० ५५-५७, श्लोक ११०-११८) में भी पाये जाते हैं, किन्तु नृत्य की अधिकांश मुद्राएँ विष्णुधर्मोत्तर० में पायी जाती हैं। अध्याय ३२ में इसने गद्य में मुद्राहस्त नामक कतिपय रहस्य (गुप्त) मुद्राओं का उल्लेख किया है, अध्याय ३३ (१-१२४) में एक सौ सामान्य मुद्राओं से अधिक की चर्चा की है और अध्याय के अन्त में उन्हें नृत्तशास्त्र-मुद्राएँ (नाट्यशास्त्र सम्बन्धी मुद्राएँ) कहा गया है। इससे एक ऐसे विषय का उद्घाटन हो जाता है जिसकी चर्चा यहाँ नहीं हो सकती; यथा—क्या पूजा की रहस्यवादी हस्तमुद्राएँ भरत के नाट्यशास्त्र (अध्याय ४, ८ एवं ९) में उल्लिखित करणों, रेचकों एवं ३२ अंगहारों से निष्पन्न हुई हैं। यह द्रष्टव्य है कि नाट्यशास्त्र (४।१७१ एवं १७३) ने नृत्तहस्तों का उल्लेख किया है।[10] पाणिनि (४।३।११०-१११) को शिलाली एवं कृशाश्व के नटसूत्रों के बारे में ज्ञान था। भरत ने अभिनय (८।९-१०) के चार प्रकार बताये हैं : आंगिक, वाचिक, आहार्य एवं सात्त्विक। नवें अध्याय में हाथों एवं अंगुलियों के लपेट एवं सम्मिलन (संयोग) का उल्लेख है। मुष्टि की परिभाषा भी दी हुई है (९।५५) मुद्राएँ आंगिक अभिनय के अन्तर्गत आती हैं; अंगहार करणों पर निर्भर होते हैं तथा करण हाथों एवं पाँवों के विभिन्न संगठनों पर आधारित हैं। यह सम्भव है कि हिन्दू एवं बौद्ध तन्त्र-ग्रन्थों में पायी जाने वाली मुद्राएँ प्राचीन भारतीय नृत्य एवं नाटक में वर्णित मुद्राओं एवं शरीर-गतियों पर आधारित हों और उनके ही विकसित रूप हों। उनके अत्यन्त आरम्भिक स्वरूप नाट्य शास्त्र में पाये जाते हैं तथा नाट्य सम्बन्धी मध्यकालीन ग्रन्थों (ने यथा अभिनयदर्पण[11]) भी उन पर प्रकाश डाला है।

आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प (पृ० ३८०) ने १०८ मुद्राओं के नाम और अर्थ दिये हैं। पृ० ३७६ में ऐसा आया है कि मुद्राओं एवं मन्त्रों के संयोग से सभी कर्मों में सफलता मिलेगी और तिथि, नक्षत्र एवं उपवास की कोई आवश्यकता नहीं पड़ेगी। विष्णुधर्मोत्तरपुराण[12] में नृत्य-मुद्राओं की बड़ी प्रशंसा गायी गयी है, यथा—

१०. करणैरिह संयुक्ता अंगहाराः प्रकल्पिताः। एतेषामिह वक्ष्यामि हस्तपादविकल्पनम्। नाट्यशास्त्र (४) ३३-३४। नाट्यशास्त्र (४।३४-५५) में वर्णित १०८ अंगहारों के चित्र गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज द्वारा प्रकाशित नाट्यशास्त्र (जिल्द १) में हैं जो दक्षिण भारत के चिदाम्बरम् के नटराज मन्दिर के गोपुरों से लिये गये हैं।

११. देखिए अभिनयदर्पण (डा० मनमोहन घोष द्वारा सम्पादित, १९५७, पृ० ४७) जहाँ पर हाथों की कुछ मुद्राएँ शंख, चक्र, सम्पुट, पाश, कूर्म, मत्स्य, वराह, गरुड, सिंहमुख के नाम से पुकारी गयी हैं और मुद्रानिघण्टु (तान्त्रिक टेक्स्ट्स, एवालोन द्वारा सम्पादित, जिल्द १, पृ० ४६, श्लोक ५-७ एवं पृ० ४९-५०, श्लोक ३२) में भी वर्णित हैं, जो वैष्णव मुद्राओं की व्याख्या करता है जिनमें से कुछ, यथा गरुड, नाट्य-शास्त्र (९।२०१) में भी पायी जाती हैं।

१२. ईश्वराणां विलासं तु चार्तानां दुःखनाशनम्। मूढानामुपदेशं तत् स्त्रीणां सौभाग्यवर्धनम्। शान्तिकं पौष्टिकं काम्यं वासुदेवेन निर्मितम्। विष्णुधर्मोत्तर० (३।३४।३०-३१)।

वे धनिकों के विलास हैं, आर्त लोगों की चिन्ता की नाशक हैं, मूर्खों के लिए उपदेश हैं, स्त्रियों के सौभाग्य की वर्धक हैं, वे अपशकुनों को दूर करने, समृद्धि को बढ़ाने एवं वाञ्छित पदार्थों की उपलब्धि के लिए वासुदेव द्वारा निर्मित हैं ।

बौद्धों में भी मुद्राओं का प्रयोग था। महायान शाखा के प्रारम्भिक ग्रन्थों में आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प (३५ वाँ पटल, पृ० ३५५-३८१) में मुद्राओं का उल्लेख है। पृ० ३८० पर १०८ की संख्या दी हुई है। पृष्ठ ३७२ पर अभयमुद्रा एवं वरमुद्रा का उल्लेख है । एल० एच० वैड्डेल ने 'दि बुद्धिज्म आव तिब्बत और लामाइज्म' (लण्डन, १८६५) में लामाओं द्वारा तिब्बत में प्रयुक्त ६ मुद्राओं का उल्लेख किया है (पृ० ३३६-३३७) ।

इण्डियन एण्टीक्वेरी (जिल्द २६,१८९७, पृ० २४-२५) में बर्गेस ने ९ बौद्ध मुद्राओं का उल्लेख किया है ('जो वैड्डेल से भिन्न हैं), यथा—भूमिस्पृश् या भूमिस्पर्श मुद्रा, शाक्य बुद्ध की एक मुद्रा जो पृथिवी के साक्ष्य के रूप में उद्घोषित है; (२) धर्मचक्र मुद्रा (शिक्षा देने की मुद्रा); (३) अभयमुद्रा (आशीर्वाद देने की मुद्रा) जिसमें बायाँ हाथ पल्थी पर खुला रहता है, दायाँ हाथ वक्षस्थल के समक्ष उठा रहता है, अंगुलियाँ एवं अंगूठा आधे फैले रहते हैं और हथेली आगे की ओर रहती है; (४) ज्ञानमुद्रा (ध्यान मुद्रा ?) या पद्मासन-मुद्रा (ध्यान करने की मुद्रा); (५) वर या वरदमुद्रा, जिसमें दाहिना हाथ घुटने पर झुका रहता है, हथेली बाहर खुली रहती है मानो दान का प्रतीक हो; (६) ललितमुद्रा (ऐन्द्रजालिक या मोहक); (७) तर्कमुद्रा (दायाँ हाथ वक्षस्थल की ओर उठा हुआ और थोड़ा सा आकुंचित); (८) शरणमुद्रा (आश्रय या रक्षा की मुद्रा); (९) उत्तरबोधि मुद्रा (परम ज्ञान की मुद्रा, जो बहुधा धर्मचक्र मुद्रा की भ्रान्ति उत्पन्न करती है) ।

जैन लोग भी मुद्रा-प्रेमी थे। जे० ओ० आई० (बड़ोदा) के खण्ड ६, (सं० १, पृ० १-३५) में डा० प्रियबल शाह ने दो जैन ग्रन्थों पर एक सुन्दर निबन्ध लिखा है, जिनमें एक है मुद्राविचार, जिसने ७३ मुद्राओं का और दूसरा है मुद्राविधि, जिसने ११४ मुद्राओं का उल्लेख किया है ।

'रायल कांक्वेस्ट एण्ड कल्चरल माइग्रेशंस' कलकत्ता, १९५५ नामक पुस्तक में श्री सी० शिवराममूर्ति ने पृ० ४३ पर लिखा है कि चिदम्बरम के गोपुर में जो हस्तों एवं करणों के रूप मिलते हैं वे जावा में प्रम्बनन के शिव मन्दिर में भी पाये जाते हैं और वहाँ पताका, त्रिपताक, अर्धचन्द्र, शिखर, कर्तरीमुख, शुचि ऐसे करणों तथा अञ्जलि, पुष्पपुट ऐसे हस्तों का अंकन है । 'कण्ट्रीब्यूशंस टु दि हिस्ट्री आव दि इण्डियन ड्रामा' (कलकत्ता, १९५८) में डा० मनमोहन घोष ने ऐसा कहा है कि (बेयॉन अंगकोर थॉम) के उभरे हुए नक्षित (नकाशे हुए) चित्रों (आकृतियों) में जो नृत्य एवं नाटक के स्वरूप अभिव्यंजित होते हैं और जो आज भी कम्बोडिया के राजघराने में नृत्य के भाव आदि देखने को मिलते हैं, वे सभी भारत के नाट्यशास्त्र में वर्णित भाव-मुद्राओं से मिलते-जुलते हैं, यथा—अञ्जलि, पताका, अर्धचन्द्र , मुष्टि , चन्द्रकला एवं कपोत (पृ० ९३) ।

१३वीं शती के आगे के कुछ संस्कृत मध्यकालीन धर्मशास्त्र-ग्रन्थ मुद्राओं पर प्रकाश डालते हैं । हेमाद्रि (व्रत, भाग १, पृ० २४६-२४७) ने मुकुल, पंकज, निष्ठुर एवं व्योम नामक मुद्राओं का उल्लेख किया है। स्मृतिच० (१३वीं शती का पूर्वार्ध) ने २४ मुद्राओं के नाम एवं परिभाषाएँ दी हैं (१, पृ० १४६-१४७) । ये नाम देवीभागवत (११।१६।९८-१०२) में भी आये हैं। पूजाप्रकाश (वीरमित्रोदय का एक अंश) ने ३२ मुद्राओं की चर्चा की है जिनमें से आठ, यथा—आवाहनी, स्थापनी, सन्निधापनी, संरोधिनी, प्रसाद, अवगुण्ठन,

सम्मुख एवं प्रार्थना, सभी देवों की पूजा में प्रयुक्त होती हैं। कुछ केवल विष्णु-पूजा के लिए कुछ सूर्य, लक्ष्मी एवं दुर्गा की पूजा के लिए हैं और अन्तिम दो, यथा—अञ्जलि एवं संहार, सभी देवों के लिए प्रयुक्त होती हैं। आह्निकप्रकाश (वीरमित्रोदय का एक अंश) ने २४ मुद्राओं का उल्लेख किया है जो गायत्री-जप के समय प्रदर्शित होती हैं और वे देवीभागवत (११।१६।६८-१०२) में भी पायी जाती हैं, किन्तु वे ब्रह्म से उद्धृत मानी गयी हैं[13]। 'ब्रह्म' शब्द से किस ग्रन्थ की ओर संकेत है, कहना कठिन है। मुद्राओं का प्रचलन सार्वभौमिक नहीं था। धर्मसिन्धु एवं संस्कार-रत्नमाला से प्रकट होता है कि न्यास एवं मुद्रा कम-से-कम महाराष्ट्र में अवैदिक कहे जाते थे[14]।

तान्त्रिक पूजा का एक अंग था **मण्डल** जो मध्य एवं आधुनिक कालों में कट्टर हिन्दुओं द्वारा प्रयुक्त होता रहा है। किन्तु ऐसा नहीं कहा जा सकता कि संस्कृत-लेखकों ने इसे तान्त्रिकों से उधार लिया है। मण्डल शब्द वृत्त या चक्र के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। तै० सं० (५।३।६।२) में वृत्ताकार ईंटों (मण्डलेष्टका) का उल्लेख है; और देखिए शत० ब्रा० (४।१।१।२५) सूर्य का चक्र या मण्डल पहिया (चक्र) कहा गया है (ऋ० ४।२८।२, ५।२६।१०) बृह० उप० (५।५।२) में आया है—'यह आदित्य वह है जिसे सत्य कहा गया है, और सूर्य के मण्डल में पुरुष की ओर संकेत भी किया गया है (तद्यत्सत्यमसौ स आदित्यो य एव एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः)। और देखिए वही, (२।३।३)। आगे चलकर वही वेदी पर खींचा गया चित्र या आकार (सामान्यतः वृत्ताकार) बन गया। आपस्तम्ब एवं कात्यायन के शुल्बसूत्रों

१३. वरदाभयमुद्रे च वरदाभयवत् प्रिये। ज्ञानार्णवतन्त्र (४।३६); जयाख्यसंहिता (८।१०४-५) में वर एवं अभय की परिभाषा इस प्रकार दी हुई है: सुस्पष्टं दक्षिणं हस्तं स्वात्मनस्तु पराङ्मुखम्। पराङ्मुखं लम्बमानं वामपाणिं प्रकल्पयेत्। क्रमाद्वरा भयाख्यं तु इदं मुद्राद्वयं द्विज। विज्ञेयं लोकपालनामिन्द्रादीनां समासतः। देखिए भूमिस्पर्श मुद्रा के लिए ए० कुमारस्वामी कृत 'बुद्ध एण्ड दि गॉस्पेल आव बुद्ध' (लण्डन, १९१६, पृ० २६२) जहाँ १८वीं शती का चित्र है (यह चित्र लंका का है), और देखिए प्रो० ग्रुनवेडेल कृत 'बुद्धिस्ट आर्ट इन इण्डिया' श्री आग्नेस सी० गिब्बन द्वारा अनूदित, पृ० १७८, चित्र १२६। देखिए धर्मचक्र मुद्रा के लिए वही कुमारस्वामी का ग्रन्थ पृ० ३८ एवं ३३० जहाँ क्रम से गुप्तकाल एवं गन्धार (प्रथम या द्वितीय शती) के चित्र हैं। और देखिए डा० बी० भट्टाचार्य का ग्रन्थ 'बुद्धिस्ट आइकॉनॉग्राफी' (प्लेट ३८)। देखिए ए० एवालोन कृत 'सर्पेण्ट पावर' (५वाँ संस्करण, १९५३, पृ० ४८०, ४८८) जहाँ सिद्धासन में योगमुद्रा का तथा महामुद्रा का क्रम से अंकन है जो आज भी योगाभ्यासियों द्वारा प्रयुक्त होती हैं। और देखिये मेम्वायर्स आव आर्क्यालॉजिकल सर्वे आव इण्डिया सं० ६६, प्लेट १३ (अभयमुद्रा के लिए)। 'बुद्धिस्ट आर्ट इन इण्डिया (उपर्युक्त) पृ० १९२ (मैत्रेय की अभय मुद्रा के लिए जो स्वात से प्राप्त किया गया है) तथा वी० ए० स्मिथ लिखित 'हिस्ट्री आव फाइन आर्ट इन इण्डिया एण्ड सीलोन' (संस्करण १९३०), प्लेट ११३, जहाँ जावा से प्राप्त अभयमुद्रा का चित्र है। और देखिए एन० के० भट्टसलि कृत 'आइकॉनॉग्राफी आव बुद्धिस्ट एण्ड ब्राह्मनिकल स्कल्पचर्स इन दि ढाका म्यूजियम' (१९२९), प्लेट ८, जहाँ बुद्ध की भूमिस्पर्शमुद्रा का अंकन है, प्लेट २० एवं २१, जहाँ दाहिने हाथ को वरद मुद्राओं का चित्र है।

१४. संस्काररत्नमाला (जो अपेक्षाकृत एक आधुनिक ग्रन्थ है) में कथन है (पृ० २२९) कि न्यास अवैदिक है: '...एतमेके नेच्छन्ति स ह विधिरवैदिक इति।'

में मण्डल के वर्गाकार स्वरूप की ओर संकेत किया गया है[१५]। मत्स्यपुराण में कतिपय वक्तव्यों में मण्डलों की ओर संकेत है, जो पाँच रंगों के चूर्णों से बनते थे (यथा ५८।२२)। इसमें १२ या ८ दलों वाले कमल की ओर भी संकेत है जो पीले या लालचन्दनलेप या विभिन्न रंगों से खचित होते थे (७२।३०; ९२।१५; ९४।१२-१३; ७४।६-६ जहाँ आठ दलों वाले कमल का चित्र है और सूर्य-पूजा के लिए घेरेदार गड्ढे का उल्लेख है)। वाराहमिहिर ने बृहत्संहिता (अध्याय ४७) में पुष्पस्नान नामक एक पवित्र क्रिया का उल्लेख किया है जिसमें विभिन्न रंगों वाले चूर्णों से पवित्र भूमि पर मण्डल बनाने की ओर संकेत है, जिसमें देवताओं, ग्रहों, नक्षत्रों आदि के स्थान निर्धारित रहते थे[१६]। ब्रह्मपुराण (२८।२८) में कमल-चित्र पर सूर्य के आवाहन का उल्लेख है और एक अन्य स्थान (६१।१-३) पर कमल के रूप में मण्डल पर नारायण की पूजा की ओर संकेत हैं, जिसे रघुनन्दन ने पुरुषोत्तम-तत्त्व (पृ० ५६६) में उद्धृत किया है। हर्षचरित (७वीं शती का पूर्वार्ध) में कई रंगों से खचित एक बड़े मण्डल का उल्लेख है[१७] और देखिए वराहपुराण (६६।६-११) जहाँ मण्डल में लक्ष्मी एवं नारायण की प्रतिमाओं या चित्रालेखनों की पूजा की चर्चा है। अग्निपुराण (अध्याय ३२०) में आठ मण्डलों, सर्वतोभद्र आदि का उल्लेख है। शारदातिलक (३। ११३-११८, १३१-१३४, १३५-१३६, नवनाभ मण्डल), ज्ञानार्णव० (२६।१५-१७) आदि में कई मण्डलों का वर्णन है। अमरकोश (२, पुरवर्ग) के मतानुसार सर्वतोभद्र राजाओं एवं धनिकों के भवन का एक प्रकार है। शारदातिलक (३।१०६-१३०) में सर्वतोभद्र के निर्माण का वृहद् उल्लेख है और ऐसा कहा गया है कि यह सभी प्रकार की पूजा में प्रयुक्त होता है (मण्डलं सर्वतोभद्रमेतत्सधारणं स्मृतम्।)। इसमें (३।१२२-१२४) आया है कि मण्डल का आलेखन पाँच रंगों के चूर्णों से होना चाहिए, यथा—हल्दी के चूर्ण से पीला, चावल के चूर्ण से श्वेत, कुसुम्भ चूर्ण से लाल, अधभुने मोटे अन्नों के चूर्ण से काला, जिस पर दूध छिड़का गया हो, तथा बिल्व की पत्तियों के चूर्ण से हरा रंग। इसी प्रकार प्रपंचसार (५।६४-६५), अग्निपु० (३०।१६-२०) आदि में रंगों का विधान है। रघुनन्दन के वास्तुयागतत्त्व (पृ० ४१६) में शारदातिलक (३।१२३-१२४) का उद्धरण

१५. चतुरश्रं मण्डलं चिकीर्षन् मध्यात् कोट्यां निपातयेत्। पार्श्वतः परिकृष्यातिशयतृतीयेन सह मण्डलं परिलिखेत्। सा नित्या मण्डलम्। यावद्धीयते तावदागन्तु। मण्डलं चतुरस्रं चिकीर्षन् विष्कम्भं पंचदशभागान् कृत्वा द्वावद्धरेत्। त्रयोदशावशिष्यन्ते सा नित्या चतुरश्रम्। आपस्तम्बशुल्बसूत्र (३।२-३)। मिलाइए कात्यायन का शुल्बसूत्र जो राघवभट्ट द्वारा (शारदातिलक ३।५७) उद्धृत है। देखिए विभूतिभूषण दत्त (कलकत्ता, १९३२) लिखित 'दि साइंस आव दि शुल्ब' (आरम्भिक हिन्दू ज्यामेट्री का एक अध्ययन), पृ० १४०। वैदिक यज्ञों में तीन अग्नि-कुण्ड थे, यथा—गार्हपत्य, आहवनीय एवं दक्षिणाग्नि और वे क्रम से वृत्ताकार, वर्गाकार एवं अर्धवृत्ताकार होते थे। और वे सभी क्षेत्रफल में बराबर होते थे। आपस्तम्ब शुल्बसूत्र में क्षेत्रफल निकालने की विधि की ओर संकेत है, क्योंकि वह उन आकारों को बराबर (क्षेत्रफल में) कहता है।

१६. तस्मिन् मण्डलमालिख्य कल्पयेत्तत्र मेदिनीम्। नानारत्नाकरवतीं स्थानानि विविधानि च।...वर्णकैर्विविधैः कृत्वा हृद्यैर्गन्ध गुणान्वितैः। यथास्वं पूजयेद्विद्वान्गन्धमाल्यानुलेपनैः। बृहत्संहिता (४७।२४)। यहाँ 'तस्मिन' से तात्पर्य है 'भूप्रदेशे'।

१७. महामण्डलेमिवानेकवर्णरागमालिखन्तं ... शिवबलिमिव दिक्षु विक्षियन्तं (भैरवाचार्य...) ददर्श। हर्षचरित (३)।

है। ज्ञानार्णवतन्त्र (२४।८-१० एवं २६।१५-१७) में ऐसा आया है कि मण्डल एवं चक्र एक-दूसरे के समानार्थी हैं और मण्डल का आलेखन एक मण्डप में वेदी पर कुंकुम या सिन्दूर रंग के चूर्ण से ६ कोणों में होना चाहिए। और देखिए महानिर्वाणतन्त्र (१०।१३७-१३८)। मण्डल-क्रियाओं की चार विशेषताएँ हैं—मण्डल, मन्त्र, पूजा एवं मुद्रा।

बौद्ध तन्त्रों में भी मण्डलों का प्रभूत उल्लेख है। मञ्जुश्रीमूलकल्प में मण्डलों के आलेखन की विशिष्ट विधियों एवं रँगने की चर्चा की गयी है। गुह्यसमाजतन्त्र में बीच में चक्र वाले, १६ हाथ के एक मण्डल का उल्लेख है। देखिए प्रो० जी० टुस्सी का ग्रन्थ 'इण्डोतिब्बेतिका' (जिल्द ४, भाग १, रोम १९४१); जिसमें मण्डलों की तालिकाएँ दी हुई हैं; ए० गेट्टी कृत 'दि गॉड्स आव नार्दर्न बुद्धिज्म' (१९०८), प्लेट १६, जहाँ नौ तत्त्वों का एक मण्डल प्रदर्शित है; 'ऐक्टा ओरिऐण्टालिया आव दि ओरिऐण्टल सोसाइटीज़ आव डेनमार्क, नार्वे आदि' में एरिक हाई कृत 'कण्ट्रीब्यूशंस टु दि स्टडी आव मण्डल एण्ड मुद्रा' (पृ० ५७-९१, जिल्द २३, सं० १ एवं २, १९५८), जिसमें अन्त में लगभग १०० मुद्राओं के चित्र दिये गये हैं। बंगाल के राजा रामपाल (१०८४-११३० ई०) के समकालीन अभयंकर गुप्त के ग्रन्थ निष्पन्नयोगावलि (गायकवाड़ ओरिऐण्टल सीरीज़, बड़ोदा) में २६ अध्यायों में २६ मण्डलों का वर्णन है, जहाँ प्रत्येक मण्डल में एक केन्द्रीय देवता रहता है तथा बहुत-सी लघु बौद्ध दिव्यात्माओं का, जो कभी-कभी संख्या में एक सौ भी हो जाती हैं, आलेखन है।

निर्णयसागर प्रेस द्वारा प्रकाशित 'ऋग्वेदब्रह्मकर्मसमुच्चय' (छठा संस्करण, बम्बई, १९३६) में जो कृत्यों का एक संकलन है, आरम्भ में ही कतिपय मण्डलों का, यथा—सर्वतोभद्र, चतुर्लिंगतोभद्र, प्रासाद वास्तु-मण्डल, गृहवास्तुमण्डल, ग्रहदेवतामण्डल, हरिहरमण्डल, एकलिंगतोभद्र के चित्र हैं, जो रंगीन एवं सादे दोनों रूपों में अंकित हैं। स्मृतिकौस्तुभ ने द्वादशलिंगतोभद्र हरिहर-मण्डल का, जिसके भीतर सर्वतोभद्र भी है, उल्लेख किया है। हम इनका वर्णन यहाँ नहीं करेंगे। 'सर्वतोभद्र' का शाब्दिक अर्थ है 'सभी प्रकारों से शुभ'। यह शुभ चित्रकाव्य-शास्त्र के अन्तर्गत भी समाविष्ट हो गया। काव्यादर्श में दण्डी ने सर्वतोभद्र के रूप में एक श्लोक का उदाहरण दिया है, जो 'चित्र-बन्धों' के लिए प्रयुक्त हुआ है। दण्डी से लगभग एक शती पूर्व के किरातार्जुनीय (१५।२५) में सर्वतोभद्र का उदाहरण आया है।[१८]

'एक्टा ओरिऐण्टालिया' में दो तिब्बती पाण्डुलिपियों के विषयों की एक सुन्दर व्याख्या उपस्थित की गयी है। एक पाण्डुलिपि में चावल-मण्डल है जिसमें विभिन्न नामों में ३७ तत्त्व प्रकट किये गये हैं और दूसरी में मुद्राओं के १२३ चित्र प्रदर्शित हैं।

तन्त्र-पूजा का एक अन्य विशिष्ट विषय है **यन्त्र** (ज्यामितीय आकृति), जो कभी-कभी **चक्र** नाम से भी विख्यात होता है। यन्त्र का उल्लेख कुछ पुराणों में भी हुआ है और यत्र-तत्र आधुनिक प्रयोगों में भी इसकी चर्चा होती है। यह धातु, पत्थर, कागद या किसी अन्य वस्तु पर खोदा हुआ या तक्षित या खींचा हुआ या रँगा हुआ होता है। यह मण्डल से मिलता-जुलता है, अन्तर यह है कि मण्डल का उपयोग किसी देवता की पूजा

१८. प्राहुरर्धभ्रमं नाम श्लोकार्धभ्रमणं यदि। तदिष्टं सर्वतोभद्रं भ्रमणं यदि सर्वतः॥ काव्यादर्श ३। ८०। किरातार्जुनीय (सर्ग १५, श्लोक २५) में यों आया है: सर्वतोभद्रः—देवाकानिनिकावादे वाहिकास्वस्वकाहि वा। काकारेभभरे काका निस्वभव्यव्यभस्वनि॥

में होता है किन्तु यन्त्र का उपयोग किसी विशिष्ट देवता की पूजा या किसी विशिष्ट उद्देश्य के लिए होता है। कुलार्णवतन्त्र[19] में आया है---'यन्त्र का विकास मन्त्र से हुआ है, और इसे मन्त्ररूपी देवता कहा गया है, यन्त्र पर पूजित देवता सहसा प्रसन्न हो जाता है (और अनुग्रह करता है), प्रेम एवं क्रोध नामक दोषों से उत्पन्न क्लेशों को दूर करता है अतः इसे यन्त्र कहा जाता है। यदि यन्त्रों में परमात्मा पूजित हो तो वह प्रसन्न हो जाता है।' उसी तन्त्र में पुनः आया है कि 'यदि पूजा यन्त्र के बिना की जाय तो देवता प्रसन्न नहीं होता।' यहाँ पर 'यन्त्र' शब्द 'यन्त्र्' धातु से निकला कहा गया है। एक अन्य स्थान पर इसी तन्त्र में आया है कि 'यन्त्र इसलिए कहा जाता है कि यह सदैव पूजक को यम (मृत्यु के देवता) तथा अन्य भूतादि से बचाता है।' रामपूर्वतापनी उपनिषद्[20] में आया है---'यन्त्र की व्यवस्था (या निर्माण) देवता का शरीर है जो सुरक्षा प्रदान करता है।' कौलावलीनिर्णय में ऐसा कहा गया है कि बिना यन्त्र के देवता की पूजा, बिना मांस के तर्पण, बिना शक्ति (पत्नी या कोई अन्य नारी जो साधक से सम्बन्धित हो) के मद्यपान---ये सभी निष्फल होते हैं। कुछ ग्रन्थों ने यन्त्र-गायत्री की भी कल्पना कर डाली है।[21]

उपर्युक्त वचनों से यह व्यक्त होता है कि यन्त्र वह तत्त्व था जिसके द्वारा क्रोध, प्रेम आदि के कारण दोलायमान मन की गतियों पर नियन्त्रण किया जाता था और मन को उस चित्र या आकार पर लगाया जाता था जिसमें देवता को प्रतिष्ठापित किया गया रहता था। इससे मनोयोग होता था, और देवता की मानसिक प्रत्यभिज्ञा होती थी। देवता एवं यन्त्र का अन्तर वही है जो आत्मा एवं देह में होता है।

त्रिपुरातापनी उपनिषद् (२।३), प्रपञ्चसारतन्त्र (पटल २१ एवं ३४), शारदातिलक (७।५३-६३, २४), कामकलाविकास (श्लोक २२, २६, २६, ३० एवं ३३), नित्याषोडशिकार्णव (१।३१-४३), नित्योत्सव (पृ० ६, ६४-६५), तन्त्रराजतन्त्र (२।४४-५१, ८।३०, २३), अहिर्बुध्न्यसंहिता (अध्याय २३-२६), मन्त्र-महोदधि (२० वीं तरंग), कौलज्ञाननिर्णय (१०, जहाँ यन्त्रों को चक्र कहा गया है), कौलावलीनिर्णय (३।

१६. यन्त्रं मन्त्रमयं प्रोक्तं देवता मन्त्ररूपिणी। मन्त्रे सा पूजिता देवी सहसैव प्रसीदति। काम-क्रोधादि-दोषोत्थ सर्वदुःख नियन्त्रणात्। यन्त्रमित्याहुरेतस्मिन् देवः प्रीणाति पूजितः॥ कुलार्णव० (६।८५--८६), इसका प्रथम अर्ध श्लोक वर्षक्रियाकौमुदी (पृ० १४७) द्वारा अगस्त्यसंहिता से उद्धृत किया गया है: विना यन्त्रेण पूजा चेद् देवता न प्रसीदति (वही, १०।१०६)। यमभूतादि सर्वेभ्यो भयेभ्योपि कुलेश्वरि। त्रायते सततं चैव तस्माद्यन्त्रमितीरितम्। (वही, १७।६१)। 'यन्त्र' में 'य' यम तथा अन्य लोगों के लिए प्रयुक्त है, 'त्र' को 'त्रै' (या 'त्रा') से निष्पन्न माना गया है। विना यन्त्रेण या पूजा विना मांसेन तर्पणम्। विना शक्त्या तु यत्पानं तत्सर्वं निष्फलं भवेत्॥ कौलावलीनिर्णय (८।४१--४२)। साभयस्यास्य देवस्य विग्रहो यन्त्रकल्पना। विना यन्त्रेण चेत्पूजा देवता न प्रसीदति॥ रामपूर्वतापनीयोपनिषद् (१।१२)।

२०. यह अवलोकनीय है कि अन्तिम अर्धांश वही है जो अन्तिम अर्धांश कुलार्णव का है (१०।१०६)। देखिए हीन-राइख जिम्मर कृत ग्रन्थ 'मीथ्स एण्ड सिम्बल्स इन इण्डियन आर्ट एवं सिविलिजेशन' (पृ० १४०--१४८), जहाँ यन्त्र की चर्चा है। और देखिए अहिर्बुध्न्यसंहिता (अध्याय ३६), जहाँ पर सुदर्शनचक्र के निर्माण एवं पूजा का वर्णन है।

२१. यन्त्रगायत्री यह है---'यन्त्रराजाय विद्महे वरप्रदाय धीमहि। तन्नो यन्त्रं प्रचोदयात्॥ मेरुतन्त्र (३३।१३)।

१०५-१३५), मेरुतन्त्र (३३वाँ प्रकाश, ५६२वाँ श्लोक), मन्त्रमहार्णवतन्त्र (उत्तरखण्ड, ११वीं तरंग) आदि में यन्त्रों का उल्लेख है। इन तान्त्रिक ग्रन्थों में यन्त्र के विषय में जो कुछ कहा गया है उसका विवरण उपस्थित करना यहाँ सम्भव नहीं है। पद्मपुराण (पातालखण्ड, ७९।१) में आया है कि हरि (विष्णु) की पूजा शालग्राम-शिला पर या रत्न पर या यन्त्र, मण्डल पर या प्रतिमाओं में हो सकती है, केवल मन्दिरों में ही नहीं। अहिर्बुध्न्य० (३६, श्लोक ५-६६) ने सुदर्शन-यन्त्र की पूजा की विधि का वर्णन किया है जो राजा द्वारा या किसी अन्य व्यक्ति द्वारा समृद्धि के लिए की जाती है। हम यहाँ पर एक यन्त्र या चक्र का वर्णन कर रहे हैं। सबसे प्रमुख एवं प्रसिद्ध है श्रीचक्र जो दो श्लोकों (जो नीचे पाद-टिप्पणी में दिये हुए हैं) में वर्णित है और उसकी व्याख्या नित्याषोडशिकार्णव (१।३१-४६) की टीका सेतुबन्ध में हुई है।[२२] एक छोटे से त्रिभुज में एक बिन्दु के साथ चक्र खींचा जाता है। वह बिन्दु शक्ति या मूल प्रकृति का द्योतक है। तन्त्रों पर प्रकाशित ग्रन्थों में श्रीचक्र रंगों में खींचा गया है (सौन्दर्यलहरी, गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास, १९५७), किन्तु अन्य तन्त्रों में सादे ढंग से खींचा गया है (कामकलाविलास, ए० एवालोन द्वारा सम्पादित एवं गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास द्वारा प्रकाशित, १९५३)। कुछ ग्रन्थों में श्रीचक्र के चित्र में द्वार नहीं हैं (ए० एवालोन कृत 'प्रिंसिपुल्स आव तन्त्र' का मुखपृष्ठ) किन्तु कहीं-कहीं द्वार दिखाये गये हैं (सौन्दर्यलहरी)। कुल ९ त्रिभुज होते हैं, जिनमें पाँच के शीर्षकोण नीचे लटके रहते हैं और ये सभी शक्ति के द्योतक हैं, अन्य चार त्रिभुजों (शिव के द्योतक) के शीर्षकोण ऊपर होते हैं। सबसे छोटे त्रिभुज में, जो नीचे की ओर झुका रहता है, बिन्दु बना हुआ होता है। पुनः दस-दस त्रिभुजों के दो दल होते हैं (कुछ ग्रन्थों में नीले एवं लाल रंगों में प्रदर्शित हैं), फिर

२२. बिन्दु-त्रिकोण-वसुकोण-दशारयुग्म-मन्वस्रनागदलसंयुतषोडशारम्। वृत्तत्रयं च धरणीसदनत्रयं च श्रीचक्रराजमुदितं परदेवतायाः॥ आनन्दगिरि के शंकरविजय द्वारा उद्धृत (पृ० २५५)। नित्याषोडशिका० (१।३१) की टीका सेतुबन्ध एवं यामल (सम्भवतः रुद्रयामल, जो आद्य शंकराचार्य द्वारा प्रणीत कहा जाता है) एवं 'चतुर्भिः श्रीकण्ठैः शिवयुवतिभिः पञ्चभिरपि प्रभिन्नाभिः शम्भोर्नवभिरपि मूल प्रकृतिभिः। त्रयश्चत्वारिंशद्वसुदलकलाश्म - त्रिवलय-त्रिरेखाभिः सार्धं तव भवनकोणाः परिणताः॥ सौन्दर्यलहरी (श्लोक ११, गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास, १९५७, लक्ष्मीधरा नामक टीका के साथ) में कुछ लोग दूसरे श्लोक में चतुश्चत्वारिंशत् पढ़ते हैं। वसु का अर्थ है ८, मनु का १४, नाग का ८ एवं कला का १६। इसके वर्णन के दो रूप हैं—(१) बिन्दु से आगे (जिसे सृष्टि-क्रम कहा जाता है) या (२) बाहरी रेखाओं से बिन्दु की ओर (जिसे संहारक्रम कहा जाता है)। देखिए सर जॉन वुड्रौफ कृत 'शक्ति एण्ड शाक्त' (तीसरा संस्करण, १९२९, गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास द्वारा प्रकाशित), पृ० ३९९ पर श्रीचक्र के चित्र की व्याख्या दी हुई है। देवीरहस्य (डकन कालेज पाण्डुलिपि, सं० ४९०, १८९५-९८) नामक तान्त्रिक ग्रन्थ ने 'बिन्दुत्रिकोण... देवतायाः' को उद्धृत किया है, किन्तु इस चक्र का एक अन्य ढंग से वर्णन करने वाले एक दूसरे श्लोक को भी उद्धृत किया है। विभिन्न ग्रन्थों में चक्रों का वर्णन विभिन्न ढंगों से हुआ है। उदाहरणार्थ, डकन कालेज की पाण्डुलिपि सं० ९६२ (१८८४-१८८७) ने कौलागम के अनुसार दुर्गा-पूजा में प्रयुक्त चक्रभेद को पाँच चक्रों के रूप में माना है, यथा—राजचक्र, महाचक्र, देवचक्र, वीरचक्र एवं पशुचक्र; किन्तु पाण्डुलिपि सं० ९९४ (१८८७-९१) में कुछ अन्य चक्र भी दिये गये हैं, यथा—अकडमचक्र, ऋणधनशोधनचक्र, राशिचक्र, नक्षत्रचक्र (कैटॉलॉग, जिल्द १६, तन्त्र, पृ० २५१)।

८ दल वाले कमल (कभी-कभी लाल रँग में रँगे) होते हैं, १६ दल वाले कमल (नीले रँगों में) होते हैं, तब तीन वृत्त होते हैं, तब चार द्वारों वाली तीन सीमा-रेखाएँ होती हैं, जिनमें दो यन्त्र के बाहरी भागों की द्योतक होती हैं और ८ एवं १६ दलों के कमल यन्त्र के भीतरी भाग में होते हैं। कुल मिलाकर ४३ कोण (कुछ ग्रन्थों में ४४) होते हैं। सीमा-रेखाओं के भीतर का चक्र-भाग **भूपुर** कहलाता है। यन्त्र की पूजा **बहिर्याग** (शक्ति की बाहरी पूजा) कहलाती है। **अन्तर्याग** में मूलाधार से आज्ञाचक्र तक के चक्रों द्वारा जाग्रत कुण्डलिनी को ले जाना होता है और तब उसे सहस्रार-चक्र में शिव से मिलाना होता है। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध एवं आज्ञा नामक छह चक्रों को पाँच तत्त्वों एवं मन के अनुरूप माना गया है। यह सौन्दर्यलहरी (श्लोक ६) में वर्णित है। बहिर्याग विधि द्वारा शक्ति-पूजक शक्ति-पूजा में कितना आगे बढ़ गये हैं इसकी जानकारी लक्ष्मीधर की टीका के एक वक्तव्य से हो सकती है, क्योंकि लक्ष्मीधर सौन्दर्यलहरी के सबसे अन्तिम टीकाकार हैं और वे कौलिकों की विधियों से भयाक्रान्त थे।[२३]

नित्याषोडशिकार्णव की टीका सेतुबन्ध ने बड़े बल के साथ कहा है कि त्रिपुरसुन्दरी की पूजा उपासना के प्रकार की है न कि भक्ति के प्रकार की, और यह उपासना दो ढंग की है, एक में देवी के मन्त्र का जप होता है और दूसरे में यन्त्र की पूजा होती है (नित्या० १।१२५)। श्लोक १२६-२०४ में श्रीचक्र की पूजा के विभिन्न विषयों का उल्लेख है। नित्याषोडशिका० तथा अन्य तन्त्र ग्रन्थों का कहना है कि त्रिपुरसुन्दरी श्रीचक्र में निवास करती हैं।[२४] शाक्त साधक का महान् ध्येय होता है यन्त्र, मन्त्र, गुरु एवं त्रिपुरादेवी से तादात्म्य स्थापित करना। वर्षक्रियाकौमुदी (पृ० १४७) ने एक श्लोक उद्धृत कर कहा है कि मन्त्रों से यन्त्र-पूजा का सम्पादन होना चाहिए, और ऐसा करने पर साधक अभीष्ट की प्राप्ति कर लेता है।[२५]

शारदातिलक जैसे गम्भीर ग्रन्थ ने भी दुष्ट उद्देश्यों की पूर्ति के लिए यन्त्रों के आलेखन की अनुमति दी है। उदाहरणार्थ, ७।५८-५६ में आया है कि शत्रु-नाश के लिए श्मशान से चिता-वस्त्र लेकर उस पर आग्नेय यन्त्र बना कर शत्रु के घर के पास गाड़ देना चाहिए। और देखिए उसी ग्रन्थ में २४।१७-१८ एवं १६-२१, जहाँ शत्रु-नाश के लिए दो यन्त्रों का उल्लेख है। प्रपंचसार (३४।३३) में भी एक यन्त्र का उल्लेख है, जिसके प्रयोग से स्त्री साधक के पास पहुँच जाती है।

२३. तवाधारे मूले सह समयया लास्यपरया नवात्मानं मन्ये नवरसमहाताण्डव नटम्। उभाभ्यामेताभ्यामुदयविधिमुद्दिश्य दयया सनाथाभ्यां जज्ञे जनकजननीमज्जगदिदम्॥ सौन्दर्यलहरी, श्लोक ४१ (पृ० १८१, गणेश एण्ड कम्पनी का संस्करण, १६५१)। लक्ष्मीधर की टीका में इस प्रकार आया है: 'अत एव कौलास्त्रिकोणे बिन्दुं नित्यं समर्चयन्ति। ... श्रीचक्रस्थितनवयोनिमध्यगतयोनिं भूर्जहेमपट्टवस्त्रपीठादौ लिखितां पूर्वकौलाः पूजयन्ति। तरुण्याः प्रत्यक्षयोनिमुत्तरकौलाः पूजयन्ति। उभयं योनिद्वयं बाह्यमेव नान्तरम्। अतस्तेषामाधारचक्रमेव पूज्यम्।...अत्र बहु वक्तव्यमस्ति तत्तु अवैदिकमार्गत्वात् स्मरणार्हमपि न भवति।'

२४. संस्थितात्र महाचक्रे महात्रिपुरसुन्दरी। नित्याषोडशिका० (१।८२); ज्ञाता स्वात्मा भवेज्ज्ञानमर्घ्यं ज्ञेयं बहिः स्थितम्। श्रीचक्रपूजनं तेषामेकीकरणमीरितम्॥ तन्त्रराजतन्त्र (२३५।६); आसीना बिन्दुमये चक्रे सा त्रिपुरसुन्दरीदेवी। कामेश्वरांकनिलया कलया चन्द्रस्य कल्पितोत्तंसा॥ कामकलाविलास (श्लोक ३७)।

२५. सर्वेषामपि मन्त्राणां पूजा यन्त्रे प्रशस्यते। यन्त्रे मन्त्रं समाराध्य यदभीष्टं तदाप्नुयात्॥ व० क्रि० कौ० (पृ० १४०)।

तन्त्रराजतन्त्र (पटल ८, श्लोक ३०-३२) में आया है कि सभी वाञ्छित फलों को देने वाले यन्त्रों को सोने, चाँदी, ताम्र या वस्त्र या भूर्जपत्र पर चन्दनलेप, कपूर, कस्तूरी या कुंकुम आदि से खचित कर सिर पर या हाथों पर या गले, कमर या कलाई पर बाँध लेना चाहिए या कहीं रखकर उनकी पूजा करनी चाहिए। देखिए प्रपंचसारतन्त्र (११।४६) जहाँ ऐसी व्यवस्थाएँ दी हुई हैं।

तान्त्रिक सिद्धान्तों एवं आचारों से सम्बन्धित इस अध्याय के अन्त में एक विचित्र बात की चर्चा कर देना आवश्यक है। सायण-माधव भाइयों (१४ वीं शती) ने सर्वदर्शनसंग्रह नामक ग्रन्थ में १५ दर्शनों की चर्चा की है। किन्तु आश्चर्य की बात यह है कि इन लोगों ने तन्त्रों के विषय में एक शब्द भी नहीं लिखा है, जब कि उन्होंने चार्वाक-दर्शन एवं बौद्ध तथा जैन सिद्धान्तों पर पर्याप्त लिखा है। ऐसा मानना असम्भव है कि इन विद्वान् दो भाइयों को तन्त्र के विषय में ज्ञान नहीं था। यदि कल्पना का सहारा लिया जाय तो ऐसा कहा जा सकता है कि जिन कारणों से बंगाल के राजा बल्लालसेन ने अपने दानसागर में देवी-पुराण को छोड़ दिया था, उन्हीं कारणों से सम्भवतः इन विद्वान् भाइयों ने तन्त्रों की चर्चा नहीं की, इतना ही नहीं; तब तक तन्त्र-ग्रन्थ समाज में पर्याप्त रूप से अरुचिकर हो चुके थे और विद्वान् लोग उनका विरोध करने लग गये थे।

गत प्रकरण का परिशिष्ट

यहाँ कुछ ऐसे प्रकाशित ग्रन्थों का उल्लेख किया जा रहा है, जिन्हें प्रस्तुत लेखक ने तन्त्रों के विषय में लिखने के लिए पढ़ा है। संस्कृत ग्रन्थ संस्कृत वर्णमाला के अनुसार दिये जा रहे हैं। बहुत संक्षेप में लेखकों, तिथियों एवं संस्करणों का उल्लेख किया जा रहा है।

अद्वयवज्रसंग्रह : लेखक अद्वयवज्र (११ वीं शती); इसमें बौद्ध दर्शन सम्बन्धी छोटे-छोटे २१ ग्रन्थ हैं, एक मूल्यवान् भूमिका के साथ म० म० हरप्रसाद शास्त्री ने इसका सम्पादन किया है। गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज़।

आर्य-मंजुश्रीमूलकल्प : (त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सीरीज में तीन भागों में प्रकाशित); चौथी शती से नवीं शती के विभिन्न कालों का विवरण। यह बौद्ध ग्रंथ है और तिब्बती कंग्युर में सम्मिलित है। इसमें अब ५५ अध्याय हैं, किन्तु चीन के १० वीं शती के अनुवाद में केवल २८ अध्याय हैं। डा० बी० भट्टाचार्य ने इसे दूसरी शती का माना है, किन्तु विन्तरनित्ज ने असहमति प्रकट की है (इण्डियन हिस्टॉ० क्वार्टर्ली, जिल्द ६, पृ० १)। जायसवाल ने 'इम्पीरियल हिस्ट्री आव इण्डिया' में ५३ पटलविसर में १००३ श्लोकों का माना है, जिनमें ६–३४४ श्लोक बुद्ध के निर्वाण तक के जीवन पर प्रकाश डालते हैं और वास्तविक इतिहास ७८ ई० से आठवीं शती का है जो ३४५–६८० श्लोकों में है।

ईशानशिवगुरुदेवपद्धति : लेखक ईशानशिवगुरुदेव मिश्र, चार भाग, यथा—सामान्यपाद, मन्त्रपाद, क्रियापाद एवं योगपाद; इसमें लगभग १८००० श्लोक हैं और त्रिवेन्द्रम् सं० सी० द्वारा प्रकाशित है। इसमें गौतमीय तन्त्र, प्रपंचसार एवं भोजराज का उल्लेख है; लगभग ११०० ई० के आसपास या कुछ उपरान्त प्रणीत।

कामकलाविलास : लेखक पुण्यानन्दनाथ, नटनानन्दनाथ की चिद्वल्ली नामक टीका के साथ (काश्मीर संस्कृत सीरीज़); ५५ श्लोक, अनुवाद एवं टिप्पणी आर्थर एवालोन द्वारा (गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास द्वारा प्रकाशित, १९५३), सर्वप्रथम तान्त्रिक टेक्ट्स (जिल्द १०) में प्रकाशित।

कालचक्रतन्त्र : बौद्ध, देखिए जे० ए० एस० बी०, पत्र, जिल्द २८, १९५२, पृ० ७१–७६; जहाँ विश्वनाथ वन्द्योपाध्याय द्वारा इस ग्रन्थ का विवरण दिया हुआ है।

कालज्ञाननिर्णय : प्रो० पी० सी० बागची द्वारा सम्पादित (कलकत्ता सं० सी०, १९३४); हरप्रसाद शास्त्री ने पाण्डुलिपि को ९ वीं शती की माना है, किन्तु प्रो० बागची ने उसे ११ वीं शती के मध्य में माना है। इसके लेखक का नाम मत्स्येन्द्रपाद आया है, जिसे हठयोगप्रदीपिका (१।५-६) ने महासिद्धों में परिगणित किया है।

कालविलासतन्त्र : ३५ पटलों में आर्थर एवालोन द्वारा सम्पादित (तान्त्रिक टेक्ट्स, जिल्द ६, १९१७)। १०।२०-२१ में इसने पारदार्य (परभार्यालंघन) की अनुमति दी है बशर्ते कि मैथुनकर्म पूर्ण न हुआ हो। इसने (२०।१ में) कालिकापुराण का उल्लेख किया है तथा (१५।१२-१३ में) एक ऐसी भाषा में मन्त्र दिया है जो असमी एवं पूर्वी बंगाली से मिलती है।

कुलचूड़ामणितन्त्र : ७ पटलों एवं ४३० श्लोकों में; आर्थर एवालोन द्वारा (तान्त्रिक टेक्ट्स, जिल्द ४, १९१५) सम्पादित। १।४-१२ में ६४ तन्त्रों के नाम दिये गये हैं।

कुलार्णवतन्त्र : इसमें १७ उल्लास एवं २००० से अधिक श्लोक हैं। यह प्रसिद्ध ग्रन्थ है और इसके उद्धरण पर्याप्त संख्या में लिये गये हैं (तान्त्रिक टेक्ट्स, जिल्द ५, लन्दन, १९१७ में प्रकाशित)। यह प्राचीन तन्त्र है जो सम्भवतः १००० ई० में प्रणीत हुआ था। अन्त में ऐसा आया है कि यह ऊर्ध्वाम्नाय (५ आम्नायों में पाँचवाँ) तन्त्र है और १ लाख २५ सहस्र श्लोकों का एक अंश है। देखिए ए० बी० ओ० आर० आई०, जिल्द १३, पृ० २०६-२११, जहाँ इस ग्रन्थ, इसके विषय-विस्तार पर प्रो० चिन्ताहरण चक्रवर्ती ने एक निबन्ध दिया है।

कौलावलीनिर्णय : ज्ञानानन्द गिरि द्वारा लिखित; २१ उल्लासों में; ए० एवालोन द्वारा सम्पादित (तान्त्रिक टेक्ट्स, जिल्द १४); १।२-१४ में अनेक तन्त्रों का उल्लेख है जिनमें यामलों की भी चर्चा हुई है; १।९२-९३ में ९ पूर्ववर्ती गुरुओं के नाम दिये हुए हैं।

गणपतितत्त्व : प्राचीन जावा की पाण्डुलिपि, डा० (श्रीमती) सुदर्शना देवी सिंहल द्वारा आलोचित, सम्पादित, व्याख्यायित एवं अनूदित (इण्टरनेशनल एकेडेमी आव् साइंसेज, नयी दिल्ली, १९५८, द्वारा प्रकाशित); इसमें मूलाधार एवं अन्य चक्रों का उल्लेख है। चक्रों की स्थितियों, रंगों, योग के ६ अंगों का (**यम, नियम, आसन** को छोड़ दिया गया है और **तर्क** को सम्मिलित कर लिया गया है) विवेचन है। इसमें निष्कल से नाद की, नाद से बिन्दु की उत्पत्ति, मन्त्रों, बीजों आदि की चर्चा है।

गुह्यसमाजतन्त्र या तथागत-गुह्यक (बौद्ध) : यह गायकवाड़ सं० सी० में प्रकाशित है; डा० बी० भट्टाचार्य ने इसे चौथी शती का माना है (भूमिका, साधनमाला, जिल्द २, पृ० ९५)। किन्तु सम्भवतः यह ५वीं या छठी शती का है।

गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह : योग एवं तन्त्र का मिश्रण है। एस० बी० टेक्ट्स (१९२५) में प्रकाशित है।

चिद्गगनचन्द्रिका : कालिदास द्वारा लिखित माना गया है; त्रिविक्रम तीर्थ द्वारा सम्पादित (तान्त्रिक टेक्ट्स, जिल्द २०)।

जयाख्यसंहिता : गायकवाड़ सं० सी० में प्रकाशित। यह पाञ्चरात्र ग्रन्थ है। डा० बी० भट्टाचार्य ने इसे ४५० ई० का माना है। इसमें यक्षिणी-साधना, चक्रयन्त्रसाधना, स्तम्भन आदि तन्त्र विषय भी हैं।

ज्ञानसिद्धि : लेखक राजा इन्द्रभूति, जो अनंगवज्र के शिष्य एवं गुरु पद्मसम्भव के पिता थे; दो वज्रयान ग्रन्थ, गायकवाड़ सं० सी० में प्रकाशित; ७१७ ई० में प्रणीत; वज्रयान सिद्धान्तों का निष्कर्ष उपस्थित करता है।

ज्ञानार्णवतन्त्र : आनन्दाश्रम प्रेस (पूना) द्वारा प्रकाशित; इसमें २६ पटल एवं लगभग २३०० श्लोक हैं।

तन्त्रराजतन्त्र : तान्त्रिक टेक्ट्स (जिल्द ८ एवं १२) में सम्पादित (गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास, १९५४), सुभगानन्दनाथ द्वारा मनोरमा टीका; इसमें ३६ अध्याय हैं। इसमें कादि मत की चर्चा है।

तन्त्रसार : कृष्णानन्द द्वारा लिखित; चौखम्बा सं० सी० द्वारा प्रकाशित; १७ वीं शती में प्रणीत।

तन्त्रसार : अभिनवगुप्त द्वारा लिखित; तन्त्रालोक का एक निष्कर्ष (संक्षिप्त रूप); काश्मीर सं० सी० (१९१८) द्वारा प्रकाशित; लगभग ११वीं शती में प्रणीत।

तन्त्राभिधान : बीजनिघण्टु एवं मुद्रानिघण्टु के साथ; ए० एवालोन द्वारा तान्त्रिक टेक्ट्स (जिल्द १, १९१३) में सम्पादित।

तन्त्रालोक : अभिनवगुप्त द्वारा लिखित; जयरथ नामक टीका; कई खण्डों में काश्मीर सं० सी० में प्रकाशित; लगभग १००० ई० में प्रणीत।

तारातन्त्र : गिरीशचन्द्र द्वारा सम्पा० गौड़ ग्रन्थमाला (सं० १, १९१३) द्वारा प्रकाशित; ६ पटलों एवं १५० श्लोकों में; इसमें आया है कि बुद्ध एवं वसिष्ठ प्राचीन तान्त्रिक मुनि हैं। इसमें 'नाथ' से अन्त होने वाले ९ गुरुओं के नाम आये हैं; इसने महाचीनाख्यतन्त्र का उल्लेख किया है और पुरुष भक्तों से कहा है कि वे तारा को अपना रक्त दें।

ताराभक्तिसुधार्णव : लेखक नरसिंह ठक्कुर, जो काव्यप्रकाश की टीका प्रदीप के लेखक गोविन्द ठक्कुर की पीढ़ी में पाँचवें हैं। १६८० ई० में प्रणीत; पंचानन भट्टाचार्य द्वारा सम्पादित (तान्त्रिक टेक्ट्स, जिल्द २१, १९४०); ११ तरंगों एवं ४३५ पृष्ठों में तारा की पूजा पर एक विशाल ग्रन्थ; यहाँ तारा बौद्ध देवी 'तारा' नहीं है, प्रत्युत वह शक्ति से सम्बन्धित १० विद्याओं में एक है। ९वीं तरंग में शवसाधना कृत्य का भयंकर वर्णन है (पृ० ३४५–३५१)।

तारारहस्य : ब्रह्मानन्द द्वारा लिखित; जीवानन्द (१८९६) द्वारा प्रकाशित; इसमें महाचीन, नीलतन्त्र, योगिनीतन्त्र एवं रुद्रयामल का उल्लेख है।

त्रिपुरारहस्य : लेखक हारीतायन; श्रीनिवास की टीका तात्पर्यदीपिका के साथ; एस० बी० सीरीज में प्रकाशित; यह हारीतायन द्वारा नारद को दिया गया प्रवचन है। इसका ताराखण्ड वाला अंश दार्शनिक है।

त्रिपुरासारसमुच्चय : नागभट्ट द्वारा लिखित; गोविन्दाचार्य की टीका; जीवानन्द द्वारा प्रकाशित (१८९७)।

दक्षिणामूर्तिसंहिता : यह श्रीविद्योपासना पर है; ६५ पटल एवं १७०० श्लोक हैं; एस० बी० सीरीज में प्रकाशित।

नित्याषोडशिकार्णव : (वामकेश्वरतन्त्र का एक अंश); भास्करराय (१७००–१७५० ई०) की टीका; आनन्दाश्रम प्रेस द्वारा प्रकाशित (१९४४)।

नित्योत्सव : उमानन्दनाथ द्वारा लिखित; दीक्षा के पूर्व उमानन्दनाथ का नाम था जगन्नाथ, जो महाराष्ट्र ब्राह्मण थे और तञ्जौर के मराठा सरदार द्वारा माने-जाने जाते थे; यह परशुरामकल्पसूत्र का एक पूरक ग्रन्थ है; उमानन्दनाथ के गुरु थे भासुरानन्दनाथ (दीक्षा के पूर्व भास्करराय); यह ग्रन्थ कलि संवत् ४८४६ (रसार्णव-करि-वेदमितेषु) अर्थात् १७४५ ई० में प्रणीत हुआ। यह सम्भव है कि 'अर्णव' शब्द ४ के स्थान पर ७ के लिए प्रयुक्त हुआ हो (अर्थात् ४८७६=१७७५ हो सकता है); गायकवाड़ सं० सी० (१९२३) में प्रकाशित।

निष्पन्नयोगावली : बंगाल के राजा रामपाल (१०८४–११३० ई०) के समकालीन अभयाकरगुप्त द्वारा प्रणीत। यह बौद्ध ग्रन्थ है। इसका लेखक विहार के विक्रमशिला नामक विश्वविद्यालय में प्राध्यापक था; इसने २६ मण्डलों का उल्लेख किया है, प्रत्येक मण्डल में एक केन्द्रीय देवता रहता है और अन्य गौण देवताओं की संख्या अधिक होती है, कहीं कहीं तो १०० से अधिक। पश्चात्कालीन बौद्धधर्म का यह एक मूल्यवान् ग्रन्थ है, क्योंकि इसमें देवताओं एवं कृत्य-विधि का उल्लेख है। गायक० सं० सीरीज में प्रकाशित (१९४९ ई०)।

परशुरामकल्पसूत्र : रामेश्वर की टीका सौभाग्योदय के साथ; गायक० सं० सीरीज (१९२३) में प्रकाशित; १३०० ई० से पूर्व प्रणीत; महादेव के मुख्य शिष्य एवं जमदग्नि के पुत्र परशुराम द्वारा प्रणीत कहा गया है।

पादुकापञ्चक : आर्थर एवालोन द्वारा सम्पादित (तान्त्रिक टेक्ट्स, जिल्द २, १९१३)।

परानन्दसूत्र : गायक० सं० सीरीज (१९३१) द्वारा प्रकाशित ; जैसा कि डा० बी० भट्टाचार्य का कथन है, यह ९०० ई० के पूर्व का नहीं है।

प्रज्ञोपायविनिश्चय-सिद्धि : तिब्बत में प्रशंसित एवं पूज्य तथा ८४ सिद्धों में एक अनंगवज्र द्वारा प्रणीत। बौद्ध वज्रयान ग्रन्थ; गायक० सं० सी० (१९२९) द्वारा प्रकाशित ; डा० बी० भट्टाचार्य के मतानुसार लगभग ७५० ई० में प्रणीत।

प्रपञ्चसार : (शंकराचार्य द्वारा लिखित माना गया है) पद्मपाद की विवरण नामक टीका के साथ; तान्त्रिक टेक्ट्स (जिल्द ३) एवं नया संस्करण (जिल्द १८–१९) सन् १९३९ में। ३६ पटलों में।

प्राणतोषिणी : रामतोषण भट्टाचार्य द्वारा संगृहीत एवं जीवानन्द (कलकत्ता) द्वारा प्रकाशित; यह १०९७ पृष्ठों का एक बृहद् आधुनिक ग्रन्थ है।

ब्रह्मसंहिता : जीव गोस्वामी की टीका के साथ; वैष्णवों के लिए, तान्त्रिक टेक्ट्स (जिल्द १५) में प्रकाशित।

मन्त्रमहोदधि : महीधर द्वारा प्रणीत; लेखक की टीका; वि० सं० १६४५ (=१५८८–८९ ई०) में प्रणीत ; जीवानन्द एवं वेंकटेश्वर प्रेस द्वारा प्रकाशित।

महानिर्वाणतन्त्र : हरिहरानन्द भारती की टीका के साथ। यह एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, किन्तु पश्चात्कालीन है; इसका प्रकाशन कई बार हुआ है; ए० एवालोन द्वारा सम्पा० (तान्त्रिक टेक्ट्स, जिल्द १३, १४ उल्लासों में)। इस ग्रन्थ में गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास (१९२९) का संस्करण उपयोग में लाया गया है। १९५३ ई० का संस्करण कहीं-कहीं परिवर्तित है।

मातृकाचक्रविवेक : स्वतन्त्रानन्दनाथ द्वारा प्रणीत; शिवानन्द की टीका; एस० बी० सीरीज (१९३४) में प्रकाशित।

माहेश्वरतन्त्र : ५१ पटलों एवं ३०६० श्लोकों में (चौ० सं० सी०); इसमें ६४ तन्त्रों का उल्लेख है (१।१५ एवं २६।११), २५ वैष्णव तन्त्रों के नाम आये हैं (२६।१६–२०); इसमें ऐसा मत प्रकाशित है कि बौद्ध तन्त्र भ्रामक हैं और क्रूर कर्मों के लिए हैं (२६।२१–२२)।

मेरुतन्त्र : ३२ अध्यायों एवं ८२१ पृष्ठों में एक बृहद् ग्रन्थ (१६००० श्लोकों में); वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९०८ ई०।

योगिनीतन्त्र : जीवानन्द द्वारा प्रकाशित; एकादशीतत्त्व (पृ० ५८) में रघुनन्दन द्वारा उद्धृत।

योगिनीहृदय : नित्याषोडशिकार्णव के अन्तिम तीन अध्यायों (६–८) को इस नाम से पुकारा जाता है।

योगिनीहृदयदीपिका : पुण्यानन्दनाथ के शिष्य, अमृतानन्दनाथ द्वारा लिखित ; एस० बी० सीरीज (१९२३) में प्रकाशित; लगभग १०वीं या ११वीं शती में लिखित।

रुद्रयामलतन्त्र : जीवानन्द द्वारा प्रकाशित (द्वितीय संस्करण १८९२)। ६६ अध्यायों एवं ६००० से अधिक श्लोकों में एक बृहद् ग्रन्थ (अनुष्टुप छन्द में); भैरवी द्वारा भैरव (शिव) को सम्बोधित। सवा लाख श्लोकों से परिपूर्ण कहा गया है (डकन कालेज, पाण्डुलिपि सं० ६६७(!), १८९५–१९०२)। घनदापुरश्चरणविधि ने कहा है कि यह रुद्रयामल का एक अंश है (इति रुद्रयामल–सपादलक्षग्रन्थो ...किंकिणी-तन्त्रोक्त-घनदापुरश्चरणविधिः); बी० ओ० आर० आई० कैटॉलॉग (जिल्द १९, पृ० २४७)।

ललितासहस्रनाम : बीजापुर मुस्लिम राजा के मंत्री गम्भीरराय के पुत्र भास्करराय की टीका सौभाग्य-भास्कर के साथ; संवत् १७८५ (=१७२९ ई०) में लिखित; निर्णयसागर प्रेस में प्रकाशित (१९३५)।

११

वरिवस्यारहस्य : भास्करराय (दीक्षा के उपरान्त भासुरानन्दनाथ नाम वाले) द्वारा लिखित; स्वयं लेखक की टीका 'प्रकाश'। १७०० से १७५० ई० तक लेखक का काल है; अद्यार में प्रकाशित, १९३४।

विष्णुसंहिता : ३० पटलों में, त्रिवेन्द्रम् सं० सी० से प्रकाशित, १९२५।

शक्तिसंगमतन्त्र : चार भागों में, यथा—काली, तारा, सुन्दरी एवं छिन्नमस्ता; १५०५–१६०७ के मध्य प्रणीत। देखिए पूना ओरियण्टलिस्ट, जिल्द २१, पृ० ४७–४९, (१५३०–१७०० ई० के बीच)।

शक्तिसूत्र : सरस्वती भवन सीरीज़, जिल्द १० (पृ० १८२–१८७); ११३ सूत्र; १९ सूत्रों पर टीका; टीका ने लेखक का नाम अगस्त्य दिया है; सूत्र में जैमिनि एवं व्यास के नाम आये हैं।

शाक्तप्रमोद : (हाल का ग्रन्थ), शिवहर के प्रमुख (सरदार) श्री राजदेवनन्दन सिंह द्वारा संकलित; वेंकटेश्वर प्रेस द्वारा प्रकाशित, १९५१; इसमें १७ तन्त्र हैं, यथा—कालीतन्त्र, षोडशी, भुवनेश्वरी, छिन्नमस्ता, त्रिपुराभैरवी, धूमावती, बगलामुखी, मातंगी, कमलात्मिका, कुमारिका, बलिदानक्रम, दुर्गा, शिव, गणेश, सूर्य, विष्णु।

शारदातिलक : लक्ष्मण-देशिकेन्द्र (उत्पल के शिष्य); तन्त्र पर अत्यन्त प्रसिद्ध ग्रन्थों में एक। औफ्रेक्ट (पृ० ६४) ने कई टीकाओं के नाम दिये हैं, जिनमें सर्वोत्तम है राघवभट्टकृत पदार्थादर्श (सं० १५५० =१४९३–९४ ई० में प्रणीत)। राघवभट्ट महाराष्ट्री थे और गोदावरी के तट पर जनस्थान (पंचवटी) के निवासी थे। काशी सं० सी० एवं तान्त्रिक टेक्ट्स (जिल्द १६ एवं १७) द्वारा प्रकाशित। शारदातिलक का प्रणयन लगभग ११वीं शती में हुआ। रघुनन्दन ने स्पष्ट रूप से अपने ज्योतिस्तत्त्व (पृ० ५८०) में शारदातिलक के टीकाकार राघवभट्ट का नाम लिया है।

श्रीचक्रसम्भारतन्त्र : बौद्ध ग्रन्थ; तिब्बती पाण्डुलिपि, अंग्रेज़ी अनुवाद, लामा काज़ी दवा सन्दुप द्वारा; ए० एवालोन द्वारा तान्त्रिक टेक्ट्स (१९१९) में सम्पादित।

श्रीविद्यारत्नसूत्र : गौड़पाद द्वारा लिखित कहा गया है; १०१ सूत्रों में, विद्यारण्य के शिष्य शंकराचार्य की टीका; एस० बी० (सरस्वती भवन) टेक्ट्स सीरीज, बनारस (१९२४) में पं० गोपीनाथ कविराज द्वारा सम्पादित।

श्यामारहस्य : पूर्णानन्द द्वारा प्रणीत; १६ अध्यायों में; जीवानन्द संस्करण; १६ वीं शती।

षट्चक्रनिरूपण : पूर्णानन्द कृत; ८५ श्लोकों में; तान्त्रिक टेक्ट्स (जिल्द २); शक सं० १४९९ (=१५७७–७८ ई०) में प्रणीत।

सनत्कुमारतन्त्र : सनत्कुमार एवं पुलस्त्य के बीच संवाद; ११ पटलों एवं ३७५ श्लोकों में; ज्येष्ठाराम मुकुन्दजी (बंबई) द्वारा १९०५ ई० में प्रकाशित। इसमें योग एवं तान्त्रिक विधि का मिश्रण है और 'क्लीं, गौं' आदि तान्त्रिक बीजों में कृष्णपूजा का विवरण भी है।

साधनमाला : गायकवाड़ सं० सी० द्वारा दो खण्डों में प्रकाशित; डा० बी० भट्टाचार्य द्वारा भूमिका (खण्ड २); ३१२ साधनाएँ हैं, अधिकांश के प्रणेताओं के नाम अज्ञात हैं, वे सभी तिब्बती कंग्यूर हैं। डा० भट्टाचार्य का कथन है कि साधनाएँ तीसरी शती से १२ वीं शती तक की हैं। विन्तरनित्ज इस बात को नहीं मानते कि प्रज्ञापारमितासाधन असंग द्वारा प्रणीत है (इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली, जिल्द ९, पृ० ५–६)।

साम्राज्यलक्ष्मीपीठिका : आकाशभैरव-महातन्त्र का एक अंश कहा गया है, तंजोर सरस्वती महल सीरीज द्वारा प्रकाशित; १३९ अध्यायों में, ३० अध्यायों में मन्त्र, जप, होम का उल्लेख है, ३१ के आगे से अध्याय राज्य के विभागों, राज्याभिषेक, उत्सवों (नववर्ष, रामनवमी, नवरात्र आदि) पर प्रकाश डालते हैं।

सेकोद्देशटीका : श्री नडपाद कृत बौद्ध ग्रन्थ; गायकवाड सं० सी० में मेरियो ई० करेल्ली द्वारा सम्पादित एवं अंग्रेजी में अनूदित।

सौन्दर्यलहरी : शङ्कराचार्य द्वारा प्रणीत कही गयी है; बहुत-सी टीकाएँ हैं; सर जॉन वुड्रौफ द्वारा सम्पादित एवं अद्यार से प्रकाशित (१९३७); १९५७ का संस्करण गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास द्वारा तीन टीकाओं के साथ प्रकाशित। इसका एक संस्करण १०० श्लोकों में है (ग्रन्थ, अंग्रेजी अनुवाद, प्रो० नार्मन ब्राउन द्वारा, हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५८)।

हंसविलास : हंसमिट्ठु द्वारा प्रणीत; गायकवाड़ सं० सी० (१९३७) द्वारा प्रकाशित; लेखक गुजरात में विक्रम संवत् १७९४ (=१७३८ ई०) में फाल्गुन पूर्णिमा को उत्पन्न हुआ था। यह शुद्ध रूप से तांत्रिक ग्रन्थ नहीं है। तथापि कुलार्णव० (पृ० ६८–७६), कौलरहस्य (पृ० १०४), योगिनीतन्त्र (पृ० १०३), शारदातिलक (पृ० ८४–८५, १०५) जैसे तान्त्रिक ग्रन्थों का उद्धरण देता है। इसमें कई प्रकार के विषयों का उल्लेख है, यथा—अलंकार शास्त्र, काम शास्त्र सम्बन्धी बातें आदि।

हेवज्रतन्त्र : डा० डी० एल० स्नेलग्रोव द्वारा सम्पादित एवं अनूदित (आक्सफोर्ड यूनि० प्रेस, १९५९); दो भागों में। यह पुस्तक इस परिशिष्ट के छपते-छपते प्राप्त हुई है। यह एक मूल्यवान् तन्त्र-साहित्य है और इसका सम्पादन सुन्दर ढंग से हुआ है। भाग–१ (१९५९ में प्रका०) में भूमिका (पृ० १–४६), अंग्रेजी अनुवाद (पृ० ४७–११९), विषय (पृ० १२१–१२५), चित्र (पृ० १२६–१२९), शब्द-भाण्डार (पृ० १३१–१४१), अनुक्रमणिका (पृ० १४२–१६०); भाग–२ में संस्कृत मूल एवं तिब्बती मूल, जो नेपाली पाण्डुलिपि (प्रो० टुच्ची द्वारा प्रदत्त) पर आधृत है; पंडित कान्ह कृत योगरत्नमाला नामक टीका, जो एक प्राचीन बंगाली पाण्डुलिपि से ली गयी है। सम्पादक का कथन है कि हेवज्रतन्त्र ८वीं शती के अन्त में विद्यमान था और अद्वयवज्रसंग्रह एवं सेकोद्देशटीका ने इससे उद्धरण लिया है। साधनमाला सं० २२९ (आरम्भिक दो श्लोक) हेवज्र (२।८।६–७) ही हैं। हेवज्रतन्त्र में वज्र का आह्वान है (हे वज्र)। भाग–१ के पृ० ११ पर सम्पादक ने पूछा है कि योगी लोग अपने को बौद्ध कैसे कहते हैं जब कि वे योगिनी के आलिंगन में सम्बोधि की अनुभूति करते हैं? भाग–१ के पृ० ७० पर जालन्धर, ओड्डियान एवं पौर्णगिरि को पीठ कहा गया है और अन्य उपपीठों, उपक्षेत्रों का उल्लेख है। हेवज्र में 'शक्ति' का उल्लेख नहीं हुआ है, प्रत्युत उसके स्थान पर 'प्रज्ञा' है। भाग–२ (श्लोक ११–१५, पृ० ९८) में आया है कि किस प्रकार इस तन्त्र के अनुयायी 'मुद्रा' नामक नारियों से मैथुन करते थे और सिद्धि प्राप्त करते थे। भाग–१ के पृ० ५४ में एक कृत्य है, जिसके द्वारा किसी नवयुवती को वश में किया जाता है। भाग–२, पृ० २ में आया है—'हेकारेण महाकरुणा वज्रं प्रज्ञा च भण्यते। प्रज्ञोपायात्मकं तन्त्रं तन्मे निगदितं शृणु।'

तन्त्र सम्बन्धी कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ एवं निबन्ध

(१) महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री द्वारा उपस्थापित नेपाल की दरबार लाइब्रेरी में ताड़पत्र एवं कागद की पाण्डुलिपियों की नामावली (कैटॉलॉग), १९०५ ।

(२) तारानाथ की 'हिस्ट्री आव बुद्धिज्म इन इण्डिया'; ए० शीफनर द्वारा जर्मन में अनुवाद (सेण्ट पीटर्सबर्ग, १८६९)। इण्डियन ऐण्टिक्वेरी (जिल्द ४,१०१ एवं ३६१) में इसके कुछ अंश अंग्रेजी में हैं।

(३) एल० ए० वैड्डेल द्वारा 'लामाइज्म' (एलेन एण्ड कम्पनी, लन्दन, १८९५)।

(४) बुस्टोन कृत 'हिस्ट्री आव बुद्धिज्म इन इण्डिया एण्ड तिब्बत', डा० ई० ओवरमिलर द्वारा अनूदित।

(५) एशियाटिक सोसाइटी आव बंगाल की लाइब्रेरी में पाण्डुलिपियों की वर्णनात्मक नामावली, जिल्द ८, इसमें ८९२ पृष्ठों में ६४८ पाण्डुलिपियों का वर्णन है।

(६) भाण्डारकर कृत 'वैष्णविज्म, शैविज्म आदि' (कलेक्टेड वर्कस, जिल्द ४, पृ० २०२-२१०, शाक्तों पर)।

(७) आर्थर एवालोन द्वारा महानिर्वाणतन्त्र का अनुवाद, भूमिका एवं टीका, १९१३।

(८) तान्त्रिक टेक्ट्स, आर्थर एवालोन द्वारा संपादित, जिल्द १ से लेकर २२ तक, भूमिकाएँ, टिप्पणियाँ, विश्लेषण आदि।

(९) सर्पेण्ट पावर, ए० एवालोन कृत (१९१४); इसमें षट्-चक्र-निरूपण एवं पादुकापञ्चक के अनुवाद हैं; गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास द्वारा, पाँचवाँ संस्करण, १९५३।

(१०) 'प्रिंसिपुल्स आव तन्त्र', ए० एवालोन कृत; दो भागों में (१९१४ एवं १९१६); भाग—२ में लम्बी भूमिका।

(११) 'वेव आव ब्लिस', आनन्दलहरी (सौन्दर्यलहरी के ४१ श्लोक) का अनुवाद एवं टिप्पणियाँ, सर जॉन वुड्रौफ (आर्थर एवालोन का नया नाम) द्वारा।

(१२) 'वेव ऑव ब्यूटी', सौन्दर्यलहरी का अनुवाद (मूल एवं टीकाएँ), गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास, १९५७।

(१३) 'चक्रज' राइट रेवरेण्ड सी० डब्लू० लेडबीटर, अड्यार, १९२७, प्लेट भी हैं।

(१४) 'शिवसंहिता', श्रीशचन्द्र विद्यार्णव द्वारा अनुवाद।

(१५) 'थर्टी माइनर उपनिषद्स', के० नारायणस्वामी ऐय्यर द्वारा अनूदित।

(१६) 'मिस्टीरिअस कुण्डलिनी', डा० वी० जी० रेले (१९२७) द्वारा।

(१७) 'शक्ति ऑर डिवाइन पावर', डा० सुद्रेन्दु कुमार दास द्वारा (कलकत्ता यूनि०, १९३४)।

(१८) पी० सी० बागची की भूमिका, कुलार्णवनिर्णय (कलकत्ता सं० सीरीज, १९३४)।

(१९) 'तिब्बतन योग एण्ड सीक्रेट डाक्ट्रिस', डब्लू० वाई० इवांस-वेंट्ज़। आक्सफोर्ड यूनि० प्रेस (१९३५)।

(२०) 'स्टडीज इन तन्त्रज़', पी० सी० बागची कृत, कलकत्ता यूनि० (१९३९)।

(२१) डा० बी० भट्टाचार्य की भूमिका, साधनमाला, जिल्द २ (गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज), पृ० ११-७७; इसी विद्वान् की दो भूमिकाएँ: (१) गुह्यसमाजतन्त्र (गायकवाड़ ओरि० सी०) एवं 'बुद्धिस्ट इसोटेरिज्म' (आक्सफोर्ड यूनि० प्रेस, १९३२)।

(२२) 'फिलॉसफी आव त्रिपुरातन्त्र', म० म० गोपीनाथ कविराज, सरस्वती भवन स्टडीज, १९३४, जिल्द ९; पृ० ८५-९८ ।

(२३) 'सम आस्पेक्ट्स आव दि फिलॉसॅफी आव शाक्त तन्त्र', म० म० गोपीनाथ कविराज, सरस्वती भवन स्टडीज, १९३८, जिल्द १० पृ० २१-२७ ।

(२४) 'बुद्धिस्ट तन्त्र लिटरेचर', प्रो० एस० के० दे, न्यू इण्डियन एण्टीक्वेरी, जिल्द १, पृ० १-२३ ।

(२५) 'इन्फ्लुएंस आव तन्त्रज़ ऑन दि तत्त्वज्ञ आव रघुनन्दन', प्रो० आर० सी० हज्रा (इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली, जिल्द ९, १९३३, पृ० ६७८-७०४ ।

(२६) 'इन्फ्लुएंस आव तन्त्र इन स्मृतिनिबन्धज़', प्रो० आर० सी० हज्रा, ए० बी० ओ० आर० आई०, जिल्द १५, पृ० २२०-२३५ एवं जिल्द १६, पृ० २०३-२११ ।

(२७) 'दि तान्त्रिक डाक्ट्रिन आव डिवाइन बाई-यूनिटी', ए० के० कुमारस्वामी, ए० बी० ओ० आर० आई०, जिल्द १९, पृ० १७३-१८३ ।

(२८) 'कम्पेरेटिव एण्ड क्रिटिकल स्टडी आव मन्त्रशास्त्र', श्री मोहनलाल भगवानदास झवेरी (१९४४) ।

(२९) प्रो० चिन्ताहरण चक्रवर्ती के निम्नलिखित निबन्ध : 'एण्टीक्वेरी आव तान्त्रिकिज्म' (इण्डि० हिस्टॉ० क्वा०, जिल्द ६, पृ० ११४); 'कण्ट्रोवर्सी रेगार्डिंग दि ऑथरशिप आव तन्त्रज', प्रो० के० बी० पाठक कमेमोरेशन वाल्यूम, पृ० २१०-२२०; 'ए नोट ऑन दि एज एण्ड ऑथरशिप आव दि तन्त्रज', जर्नल एण्ड प्रोसीडिंग्स आव दि एशियाटिक सोसायटी आव बेंगाल, न्यू सीरीज, जिल्द २९ (१९३३), सं० १, पृ० ७१-७९; 'आइडियल्स आव तन्त्र राइट्स', (इण्डि० हिस्टॉ० क्वा०, जिल्द १०, पृ० ४९८); 'शाक्त फेस्टिवल्स आव बेंगाल एण्ड देयर एण्टीक्वेरी', (इण्डि० हिस्टॉ० क्वा०, जिल्द २७, १९५१, पृ० २५५-२६०); 'एप्लिकेशन आव वैदिक मन्त्रज़ इन तान्त्रिक राइट्स' (जे० ए० एस० बी० लेटर्स, जिल्द १८, १९५२, पृ० ११३-११५; 'काली वर्शिप इन बेंगाल', आधार लाइब्रेरी बुलेटिन, जिल्द २१, भाग ३-४, पृ० २९६-३०३ ।

(३०) 'तन्त्रज, देयर फिलॉसॅफी एण्ड ऑकल्ट सीक्रेट्स', डी० एन० बोस (कलकत्ता, ओरिएण्टल पब्लिशिंग कम्पनी) ।

(३१) 'वज्र एण्ड दि वज्रसत्त्व', डा० एस० बी० दास गुप्त, 'इण्डियन कल्चर', जिल्द ८, पृ० २३-३२ ।

(३२) 'इण्ट्रोडक्शन टु तान्त्रिक बुद्धिज्म', डा० एस० बी० दास गुप्त (कलकत्ता, १९५०) ।

(३३) 'फिलॉसॅफीज़ आव इण्डिया', हेनरिख जिम्मर (१९५१), पृ० ५६०-६०२ ।

(३४) 'दि वेद एण्ड दि तन्त्र', श्री टी० वी० कपाली शास्त्री (मद्रास, १९५१), पृ० १—२५५ ।

(३५) 'युगनद्ध' (जिसका शाब्दिक अर्थ है, विरोधी तत्त्वों के विषय में : 'एक-दूसरे से बँधे हुए या जुते हुए', 'तान्त्रिक व्यू आव लाइफ,' डा० हरबर्ट बी० गुइन्थर, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस, स्टडीज, जिल्द ३, १९५२ ।

(३६) 'कल्चरल हेरिटेज आव इण्डिया', जिल्द ४ में निम्नलिखित लेख—'इवल्यूशन आव दि तन्त्र', डा० पी० सी० बागची, पृ० २११-२२६; 'तन्त्र ऐज़ ए वे आव रीयलिज़ेशन', स्वामी प्रत्यगात्मानन्द, पृ० २२७-२४०; 'दि स्पिरिट एण्ड कल्चर आव दि तन्त्रज़', पृ० २४१-२५१, श्री अटलविहारी घोष; 'शक्ति कल्ट इन साउथ इण्डिया', श्री के० आर० वेंकटरमन, पृ० २५२-२५९; 'तान्त्रिक कल्चर एमंग

दि बुद्धिस्ट्स', डा० बी० भट्टाचार्य, पृ० २६०-२७२; 'दि कल्ट आव दि बुद्धिस्ट सिद्धाचार्यज', पृ० २७३-२७६, श्री पी० वी० बापट ।

(३७) 'लाइट ऑन दि तन्त्र', एम० पी० पण्डित कृत (गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास १९५७) । यह छोटी पुस्तिका है; ५४ पृष्ठों में; ५५-७१ पृष्ठ में कुछ टिप्पणियाँ हैं जिनमें लेखक की अपनी कोई बात नहीं है। इस ग्रन्थ का तीन-चौथाई भाग वुड्रौफ (विशेषतः 'शक्ति एवं शाक्त' से), श्री अरविन्द एवं श्री कपाली शास्त्री से उधार लिया गया है । यत्र-यत्र बड़े साहस के साथ कुछ अप्रामाणिक बातें दी हुई हैं, यथा—'तान्त्रिक विचारों एवं कृत्यों के मूल सत्यों के आधार पर आज के हिन्दू समाज का ढाँचा खड़ा है' (पृ० ३६) । प्रस्तुत लेखक ऐसी भ्रामक धारणा का घोर विरोध करता है । यत्र-यत्र लेखक ने तन्त्र की कुछ भ्रान्ति-पूर्ण एवं अनैतिक बातों की भर्त्सना भी की है, यथा पृ० ३६ एवं २१ में ।

(३८) 'हिस्ट्री आव फिलॉसॅफी, ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न', डा० एस० राधाकृष्णन द्वारा सम्पादित, जिल्द १, पृ० ४०१-४२८; 'एक्पोज़ीशन आव शाक्त बीलीफ्', म० म० गोपीनाथ कविराज (१९५३) ।

(३९) 'योग, इम्मारटैलिटी एण्ड फ्रीडम', मिर्सिया एलियाडे कृत, विलार्ड ट्रास्क द्वारा फ्रेंच से अनूदित (राउटलेज, केगन, पॉल, लन्दन, १९५८), पृ० २००-२७३, जहाँ 'योग एण्ड तन्त्रिज्म' पर निबन्ध है ।

(४०) 'तिबेतन बुक आव दि डेड', डा० डब्लू० वाई० इवांस वेंट्ज द्वारा (तीसरा संस्करण, आक्सफोर्ड यूनि० प्रेस, १९५७) ।

(४१) 'तिबेतन योग', बर्नार्ड ब्रोमेज द्वारा (दूसरा संस्करण, १९५९, एक्वैरियम प्रेस) । इसमें तिब्बतियों के जादू एवं धार्मिक आचारों का उल्लेख है और उन मन्त्रों एवं प्रयोगों की चर्चा है जिनसे अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त होती हैं ।

अध्याय २८

मीमांसा एवं धर्मशास्त्र

याज्ञवल्क्यस्मृति में आया है कि विद्या एवं धर्म के चौदह मूल (कारण या हेतु) हैं[१], यथा—पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, अंग (छह) एवं वेद (चार)। कुछ लोग ऐसा ही श्लोक मनु का भी कहते हैं, किन्तु विद्यमान मनुस्मृति में वह नहीं मिलता। यहाँ 'मीमांसा' शब्द के उद्भव एवं अर्थ का ज्ञान आवश्यक है, यह भी जानना अपेक्षित है कि इस शास्त्र के प्रमुख सिद्धान्त क्या हैं, इतना ही नहीं; हमें यह भी जानना चाहिए कि व्याख्या करने के महत्त्वपूर्ण नियम क्या हैं और धर्मशास्त्र के विषयों से सम्बन्धित कौन-कौन-सी उक्तियाँ हैं। हम यहाँ इस शास्त्र के कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों एवं उनकी तिथियों पर भी प्रकाश डालेंगे।

'मीमांसा' शब्द अति प्राचीन है। तै० सं० (७।५।७।१) में आया है—'ब्रह्मवादी लोग मीमांसा करते हैं (प्रश्न पर विचार करते हैं) कि एक मिति (दिन) त्यागी जाय या नहीं।' यहाँ 'मीमांसन्ते' का क्रिया-रूप किसी सन्देहात्मक बात के विषय में विचार-विमर्श करने या खोजबीन करने के तथा किसी निर्णय पर पहुँच जाने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। और भी देखिए तै० सं० (६।२।६।४-५) जहाँ इसी अर्थ में 'मीमांसन्त' एवं 'मीमांसेरन्' का प्रयोग हुआ है।[२] कतिपय स्थानों पर तै० सं० ने ब्रह्मवादियों द्वारा मीमांसा किये जाने का प्रश्न उठाया है, किन्तु वहाँ 'मीमांसन्ते' या तत्सम्बन्धी शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। देखिए तै० सं० २।५।३।७ (सान्नाय्य के देवता के बारे में), ५।५।३।२, ६।१।४।५, ६।१।५।३-५। काठकसंहिता (८।१२) ने छानबीन करने के लिए एक सन्देहात्मक

१. पुराणन्यायमीमांसा....च चतुर्दश ।। याज्ञ० १।३। बृहद्योगियाज्ञवल्क्य में यों आया है: पुराणतर्कमीमांसा...चतुर्दश (१२।३)। अपरार्क (पृ० ६) ने विष्णुपुराण (३।६।२७ = वायु० ६१।७८) से उद्धृत किया है: 'अंगानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः। पुराणं धर्मशास्त्रं च विद्या एताश्चतुर्दश ।।' इसे प्रो० टी० आर० चिन्तामणि ने मनु का वचन कहा है (जे० ओ० आर०, मद्रास, जिल्द ११, पूरक पृ० १)। यह भविष्य पुराण (ब्राह्मपर्व २।६) में भी है। देखिए इस महाग्रन्थ का अंग्रेजी संस्करण, जिल्द १, पृ० ११२, पाद-टिप्पणी १६८, जहाँ १४ विद्याओं के लिए औशनसधर्मशास्त्र का उद्धरण है, और देखिए वही, जिल्द ३, पृ० १०, टिप्पणी १७, जहाँ अतिरिक्त विद्याओं के नाम हैं और वे कुल १८ कही गयी हैं; याज्ञ० की सूची में आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद एवं अर्थशास्त्र के जोड़ने से १८ विद्याएँ हो जाती हैं। कालिदास के पूर्व भी विद्याएं १४ थीं, देखिए रघुवंश (५।२१): 'वित्तस्य विद्यापरिसंख्यया मे कोटीश्चतस्रो दश चाहरेति।'

२. उत्सृज्यां ३ नोत्सृज्या ३ मिति मीमांसन्ते ब्रह्मवादिनस्तद्वाहुरुत्सृज्यमेवेति...। तै० सं० (७।५।७।१); व्यावृत्ते देवयजने याजयेद् व्यावृत्कामं यं पात्रे वा तल्पे वा मीमांसेरन्... नैनं पात्रे न तल्पे मीमांसन्ते। तै० सं० (६।२।६।४–५)। अन्तिम वाक्य का अर्थ है: 'अन्य लोगों के साथ भोजन करने योग्य है या विवाह से सम्बन्ध स्थापित करने योग्य है, इस विषय में उन्हें कोई सन्देह नहीं है।'

बात उभारी है किन्तु 'ब्रह्मवादी कहते हैं' ऐसा नहीं कहकर 'मीमांसन्ते' कहा है। अथर्ववेद (९।१।३) में आया है—'बहुधा लोगों ने पृथक्-पृथक् मीमांसा करते हुए उसके कर्मों को इस पृथिवी पर निरीक्षित किया।' इस वेद ने पुनः एक स्थान (९।६।२४) पर 'मीमांसित' एवं 'मीमांसमान' शब्दों का प्रयोग किया है। शांखायनब्राह्मण (२।८) में आया है—'वे मीमांसा करते हैं कि सूर्योदय के पश्चात् या पूर्व होम करना चाहिए।' तै० ब्रा० (३।१०।९) ने 'मीमांसा' शब्द का प्रयोग किया है। शतपथब्राह्मण ने भी काण्व के पाठान्तर में ऐसा किया है (से० बु० ई०, जिल्द २६, पाद-टिप्पणी–१)। छान्दोग्योपनिषद् (५।११।१) में आया है कि पाँच महाश्रोत्रिय लोग, जो महाशाल (बड़े घर वाले या बड़ी सम्पत्ति वाले) थे और प्राचीनशाल औपमन्यव नाम से पुकारे जाते थे, तथा अन्य लोग एकत्र हुए और इस प्रश्न पर मीमांसा करने लगे कि 'हम लोगों का आत्मा क्या है और ब्रह्म क्या है?' तै० उप० (२।८) में आया है—'यही आनन्द की मीमांसा है।'[3] दोनों वचनों में 'मीमांसा' का अर्थ उच्च दार्शनिक विषयों पर 'विचार-विमर्श करना' (विचारण) है।

पाणिनि (३।१।५-६) ने 'सन्' प्रत्यय के साथ सात धातुओं के निर्माण की बात कही है, जिनमें एक है 'मीमांसते' जो 'मान्' से बना है, और काशिका ने इतना जोड़कर कहा है कि इसका अर्थ है 'जानने की इच्छा, अर्थात् छानबीन एवं अन्तिम निष्कर्ष', सम्भवतः उसके कथन के संदर्भ में ये सूत्र रहे हैं, यथा—'अथातो धर्म-जिज्ञासा' एवं 'अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा'।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से प्रकट हुआ होगा कि उपनिषदों के बहुत पहले से 'मीमांसा' शब्द का अर्थ था—'किसी विवाद के विषय में विचार-विमर्श करना तथा उस विषय में कोई निर्णय करना या निष्कर्ष उपस्थित करना।' वही शब्द एक निश्चित अर्थ में प्रयुक्त होने लगा (यथा उपर्युक्त याज्ञ० में), अर्थात् धर्म के विषय में छानबीन तथा व्याख्यान एवं तर्क द्वारा सन्देहात्मक विषयों पर निर्णय करना।

कुछ धर्मसूत्र शुद्ध रूप से मीमांसा की उक्तियों एवं सिद्धान्तों से सुपरिचय प्रकट करते दृष्टिगोचर होते हैं। उदाहरणार्थ, गौतम (१।५) में आया है—'तुल्यबलयोर्विकल्पः', अर्थात् 'जब दो तुल्य प्रमाण वाले ग्रन्थों में विरोध हो तो विकल्प होता है।' केवल आपस्तम्बधर्मसूत्र में ही मीमांसा-सम्बन्धी उक्तियों एवं सिद्धान्तों का विरल प्रयोग मिलता है, अन्य धर्मसूत्रों में नहीं। इसमें आया है—'आनुमानिक आचार (ऐसे वैदिक वचन पर आधारित, जो अब लुप्त हो चुका हो) से भावात्मक (उपस्थित) वैदिक वचन अपेक्षाकृत अधिक बलवान् होता है।'[4] यह जैमिनि (१।-

३. प्राचीनशाल औपमन्यवः ... ते हैते महाशाला महाश्रोत्रियाः समेत्य मीमांसां चक्रुः को न आत्मा किं ब्रह्मेति। छा० (५।११।१); सैषानन्दस्य मीमांसा भवति। तै० उप० (२।८)।

४. तुल्यबलयोर्विकल्पः। गौतम० (१।५); मिलाइए जैमिनि० (१२।३।१०) : एकार्थास्तु विकल्पेरन् समुच्चये ह्यावृत्तिः स्यात्प्रधानस्य; शबर ने व्याख्या की है; ये त्वेकार्था एककार्यास्ते विकल्पेरन् यथा व्रीहियवौ; देखिए शबर : 'तुल्यार्थयोर्हि तुल्यविषययोर्विकल्पो भवति न नानार्थयोः।' (जैमिनि १०।६।३३); मिलाइए मनु (२।१४) 'श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ।' श्रुतिर्हि बलीयस्यानुमानिकादाचारात्। आप० ध० १।१।४।८; मिलाइए 'विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्।' जै० १।३।३; विद्यां प्रत्यनध्यायः श्रूयते न कर्मयोगे मन्त्राणाम्। आप० ध० १।४।१२।९; मिलाइए जै० १२।३।१९ : 'विद्यां प्रति विधानाद्वा सर्वकालं प्रयोगः स्यात् कर्मार्थत्वात् प्रयोगस्य।'; यत्र तु प्रीत्युपलब्धितः प्रवृत्तिर्न तत्र शास्त्रमस्ति। आप० ध० १।४।१२।११, मिलाइए जै० ४।१।२ : 'यस्मिन् प्रीतिः पुरुषस्य तस्य लिप्सार्थलक्षणाऽविभक्तत्वात्।'

३।३) के समान है—'यदि (स्पष्ट वैदिक वचन एवं स्मृति वचन में) विरोध हो, तो स्मृति का त्याग होना चाहिए, यदि विरोध न हो तो अनुमान निकालना चाहिए (कि स्मृतिवचन किसी वैदिक वचन पर आधारित है)।' आप० में आया है—'अनध्याय (वैदिक अध्ययन को पर्वों आदि में बन्द करने) के नियम केवल वैदिक मन्त्रों के अध्ययन तक ही प्रयुक्त होते हैं, यज्ञों में उनके प्रयोग के लिए नहीं।' स्थानाभाव से हम आप० ध० एवं जैमिनि का मिलान यहीं समाप्त करते हैं। उपर्युक्त बातों से यह विदित होता है कि आपस्तम्ब के काल में मीमांसा के सिद्धान्त प्रचलित हो चुके थे और उनका पर्याप्त विकास भी हो चुका था। आपस्तम्ब ने 'न्यायवित्समय' (जो लोग न्याय जानते हैं उनका सिद्धान्त) एवं 'न्यायविदः' शब्दों का प्रयोग किया है, जिससे प्रकट होता है कि उन्होंने किसी मीमांसा-सम्बन्धी ग्रन्थ की ओर या किसी ऐसे लेखक की ओर संकेत किया है, जिसने मीमांसा-सूत्र लिखा हो। आप० ध० एवं पूर्वमीमांसासूत्र के विचारों एवं शब्दों में जो साम्य दीखता है उससे प्रकट होता है कि आपस्तम्ब को या तो मीमांसासूत्र का पता था या उनके समक्ष उसका कोई आरम्भिक पाठान्तर विद्यमान था। ऐसी बात नहीं है कि ये सभी वचन पश्चात्कालीन क्षेपक हैं, क्योंकि उन सभी की व्याख्या हरदत्त ने की है।

कुछ श्रौतसूत्रों में (यथा कात्यायन० में) वैदिक वचनों की व्याख्या से सम्बन्धित नियम हैं जो जैमिनि के सूत्रों से मिलते-जुलते हैं, कहीं-कहीं तो शब्द-व्यवहार ज्यों-के-त्यों हैं।[५] थोड़े उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं। मिलाइए

५. यह द्रष्टव्य है कि पूर्वमीमांसासूत्र के लेखकों को शंकर ने बहुधा 'न्यायविदः' कहा है (वेदान्तसूत्र ४।२२); विश्वरूप आदि ने भी यही संज्ञा दी है। ब्रह्मसूत्र (१।१।१, पृष्ठ ५, चौखम्बा सीरीज) की टीका में भास्कर का कथन है—यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणमिति हि न्यायविदः। ये शब्द शबर के हैं (पू० मी० सू० ३।२।३६ के भाष्य में)। विश्वरूप की बालक्रीडा ने याज्ञ० (१।५८) की टीका करते हुए कहा है— तथा च नैयायिकाः 'नहि वचनस्यातिभारोऽस्तीत्याहुः।' मिलाइए शबर (जैमिनि २।२।३) : 'किमिव वचनं न कुर्यात् नास्ति वचनस्यातिभारः।' अतः यहाँ शबर नैयायिक कहे गये हैं। बालक्रीडा ने याज्ञ० (१।५३) पर कहा है—'न्यायविदश्च याज्ञिकाः। अपि वा सर्वधर्मः स्यात् तन्न्यायत्वाद् विधानस्य।' यह अन्तिम जैमिनि (१।३।१६) हैं। अतः यहाँ जैमिनि को न्यायविद् एवं याज्ञिक कहा गया है। और देखिए बालक्रीडा (याज्ञ० १।८७)। माधवाचार्य के जैमिनि-न्यायमालाविस्तर में आया है कि न्याय धर्म के निर्णायक और जैमिनि द्वारा व्याख्यायित अधिकरण हैं, (जैमिनिप्रोक्तानि धर्मनिर्णायकान्य धिकरणानि न्यायाः)। श्रौतसूत्रों के लेखकों को बालक्रीडा (याज्ञ० १।३८) ने केवल याज्ञिक कहा है 'तथा च याज्ञिकाः व्यवहार्या भवन्ति इत्याहुः।' यह उद्धरण कात्यायनश्रौतसूत्र (२२।४।२७–२८) का है। और भी, 'प्रायश्चित्त विधानाच्च' नामक सूत्र का० श्रौ० (१।२।१६) एवं पू० मी० सू० (६।३।७) दोनों में है और का० श्रौ० (१।८।६) पू० मी० सू० (१२।३।१५) ही है; इतना ही नहीं, का० श्रौ० (६।११।१४–१५) में वे ही शब्द हैं जो पू० मी० सू० (३।५।३६–३६) में हैं, किन्तु दोनों के मत भिन्न हैं। मिलाइए पू० मी० सू० (४।४।१६–२१) एवं कात्या० श्रौ० (४।१।२८–३०)। ऋ० (१।६८।१) एवं (१।५६।६) में आये हुए 'वैश्वानर' शब्द के अर्थ के विवाद में निरुक्त (७।२१–२३) ने 'आचार्यों', प्राचीन 'याज्ञिकों' (जिन्होंने वैश्वानर को आकाश में सूर्य माना है) एवं 'शाकपूणि' (जिन्होंने उसे भूमि की अग्नि माना है) के मतों का प्रकाशन किया है। निरुक्त ने याज्ञिकों के दृष्टिकोण व्यक्त किये हैं (५। ११, ७।४, जहाँ याज्ञिकों एवं नैरुक्तों में मतैक्य नहीं है; ६।२६, जहाँ नैरुक्तों का मत है कि अनुमति एवं राका देवताओं की पत्नियाँ हैं, और याज्ञिकों का मत है कि ये पूर्णमासी के नाम हैं); और देखिए ११।३१ एवं ११।४२–४३।

कात्या० (१।१।९-१० रथकार के बारे में) एवं जै० (६।७।४४); कात्या० (१।१।१२-१४) एवं जै० (६।१।५१ एवं ६।८।२०-२२); कात्या० (१।१।१८-२०) एवं जै० (१२।२।१-४); कात्या० (१।२।१८-२०) एवं जै० (६।-३।२-७, नित्य कर्म के विषय में, जो पूर्ण फलदायक होते हैं, भले ही कुछ अंग न सम्पादित हुए हों); कात्या० (१।३।१-३) एवं जै० (१।१।३५-४०); कात्या० (१।३।२८-३०) एवं जै० (६।६।३)। कहीं-कहीं कात्यायन ने पूर्वमीमांसासूत्र का विरोध किया है, किन्तु बहुधा शब्द एक-से आये हैं।

कात्यायन के पाणिनीय वार्तिकों एवं महाभाष्य से प्रकट होता है कि मीमांसा की उक्तियाँ एवं सिद्धान्त उनसे बहुत पहले विकसित हो चुके थे। उदाहरणार्थ, वार्तिकों में मीमांसा के ये शब्द आये हैं—'प्रसज्यप्रतिषेध' (वार्तिक ७, पाणिनि १।१।४४; वार्तिक ५, पा० १।२१; वा० २, पा० ७।३।८५), 'पर्युदास' (वा० ३, पा० १।१।-२७), 'शास्त्रातिदेश' (पा० ७।१।९६ पर वा०), 'नियम' एवं 'विधि' में अन्तर (वा १ एवं २, पा० ३।३।१६३), 'प्रकरण' (वा० ४, पा० ६।२।१४३)। पतञ्जलि का महाभाष्य पू० मी० सू० से परिपूर्ण है। 'मीमांसक' शब्द आया है (भाष्य, पा० २।२।२९)। महाभाष्य में 'पाँच पाँच नख वाले' पशु खाये जा सकते हैं' (पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः. . .) वाला प्रख्यात उदाहरण आया है और कहा गया है कि उन पाँचों के अतिरिक्त अन्यों को नहीं खाना चाहिए।[६] किन्तु पतञ्जलि ने 'परिसंख्या' शब्द का प्रयोग नहीं किया है, जैसा कि मीमांसा ग्रन्थों में आया है। जैमिनि में 'परिसंख्या' आया है (७।३।२२)। महाभाष्य ने (पा० ४।१।१४, वार्तिक ५; एवं ४।१।९३, वार्तिक ९) एक मूल्यवान् सूचना दी है, यथा—यदि कोई नारी काशकृत्स्नि द्वारा व्याख्यायित मीमांसा पढ़ती है तो वह ब्राह्मण नारी 'काशकृत्स्ना' कही जायेगी।[७] इससे यह प्रमाणित हो जाता है कि पतंजलि के काल में काशकृत्स्नि

६. भक्ष्यनियमेनाभक्ष्यप्रतिषेधो गम्यते । पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या इत्युक्ते गम्यत एतदतोऽन्येऽभक्ष्या इति । महाभाष्य (कीलहार्न द्वारा सम्पादित, जिल्द १, पृ० ५)। मिलाइए शबर, जै० (१०।७।२८) : 'किन्तु परिसंख्यया प्रतिषेधः स्यात् । यथा पञ्च पञ्चनखाश्चाशल्यक इति शशादीनां पञ्चानां कीर्तनादन्येषां भक्षणं प्रतिषिध्यत इत्ययमर्थो वाक्येन गम्यते।' पाँच पशु ये हैं—शल्यकः श्वाविधो गोधा शशः कूर्मश्च पञ्चमः ।। रामायण (४।१७।३९); मनु (५।१८, यहाँ इन पाँच पशुओं के साथ खड्ग भी जोड़ दिया गया है)। देखिए याज्ञ० (१।१७७, पाँच के लिए) गौतमधर्मसूत्र (१७।२७) : 'पञ्चनखाश्च । शल्यकशशश्वाविद्गोधाखड्गकच्छपाः' (अभक्ष्याः)।

७. काशकृत्स्निना प्रोक्ता मीमांसा काशकृत्स्नी, काशकृत्स्नीमधीते काशकृत्स्ना ब्राह्मणी। महाभाष्य (पा० ४।१।१४)। काशकृत्स्नि की मीमांसा में यदि पूर्वमीमांसा का विवेचन था तो यह आश्चर्य है कि पूर्व-मीमांसासूत्र के विद्यमान ग्रन्थ में इसकी ओर कोई संकेत नहीं है, जब कि उसमें (पूर्वमीमांसासूत्र में) जैमिनि के अतिरिक्त ९ पूर्ववर्ती मीमांसकों के नाम आये हैं, यथा—आत्रेय, आलेखन (६।५।१७), आश्मरथ्य (६।५।१६), ऐतिशायन, कामुकायन, कार्ष्णाजिनि, बादरायण, बादरि एवं लावुकायन। डा० उमेश मिश्र ने म० म० गंगानाथ झा के ग्रन्थ 'पूर्वमीमांसा इन इट्स सोर्सेज' के अन्त में दी गयी ग्रन्थावली में भूल से आश्मरथ्य का नाम छोड़ दिया है। पतञ्जलि ने काशकृत्स्नि की मीमांसा का उल्लेख किया है, अतः ई० पू० २०० के पूर्व उसे रखना ही होगा। यदि काशकृत्स्नि ने पूर्वमीमांसा पर लिखा, जैसा कि अत्यन्त सम्भव है, तो ऐसा सोचना सर्वथा ठीक है कि यदि उपस्थित पूर्वमीमांसा का प्रणयन ई० पू० २०० के उपरान्त एवं लगभग २०० ई० में (जैसा कि जैकोबी एवं कीथ दोनों महोदयों ने लिखा है) हुआ, तो काशकृत्स्नि का नाम पू० मी० सू० में अवश्य आ जाता

नामक एक मीमांसा ग्रन्थ उपस्थित था और उसे ब्राह्मण स्त्रियाँ पढ़ती थीं। यह नहीं ज्ञात हो पाता कि काश-कृत्स्नि-मीमांसा की विषयवस्तु क्या थी, वह जैमिनि की पूर्वमीमांसा के समान थी या उत्तरमीमांसा (वेदान्तसूत्र) के समान थी, या उसमें मीमांसा एवं वेदान्त दोनों थे, जिनमें अन्तिम का होना असम्भव नहीं है। वेदान्तसूत्र (१।४।-२२) ने आचार्य काशकृत्स्न का मत उल्लिखित किया है, जिसे शंकराचार्य ने अन्तिम निष्कर्ष एवं वेदविहित माना है। काशकृत्स्न का पुत्र काशकृत्स्नि कहा गया होगा (पाणिनि ४।१।९५)। उन महत्त्वपूर्ण विषयों पर, जिन पर मीमांसा के अपने सिद्धान्त हैं, वार्तिकों एवं पतञ्जलि ने पूर्ण विवेचन उपस्थित किया है। पाणिनि (१।२।६४) के वार्तिक सं० ३५ से ५६ में पदों (शब्दों) के अर्थ (या भाव) के प्रश्न पर लम्बा विवेचन है (सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ), यथा—यह आकृति है या व्यक्ति है? वार्तिक सं० ३५ में ऐसा आया है कि वाजप्यायन के मत से आकृति किसी पद का भाव है, किन्तु व्याडि के अनुसार (वार्तिक ४५ में—द्रव्याभिधानं व्याडिः) द्रव्य (या व्यक्ति) पद का भाव है। महाभाष्य ने टिप्पणी की है कि पाणिनि ने कुछ ऐसे सूत्र (यथा—१।२।५८ जात्या-ख्यायाम् आदि) रचे हैं जिनमें उन्होंने 'जाति' को पदों के अर्थ में लिया है, किन्तु अन्य सूत्रों में (यथा—१।२।-६४, सरूपाणाम् आदि) उन्होंने 'द्रव्य' को शब्दों (पदों) के अर्थ में लिया है। यह द्रष्टव्य है कि जैमिनि (१।३-३३, आकृतिस्तु क्रियार्थत्वात्) के मत से 'आकृति' शब्दों (पदों) का भाव है। पाणिनि (४।१।९२) के वार्तिक सं० ३ 'सामान्य चोदनास्तु विशेषेषु' पर पतंजलि का कथन है कि कुछ वस्तुओं एवं पदार्थों के सन्दर्भ में सामान्य रूप से घोषित विधियाँ विशेष वस्तुओं एवं पदार्थों से ही सम्बन्ध रखती हैं (अर्थात् उन्हीं के लिए प्रयुक्त होती हैं) और उन्होंने इस विषय में मीमांसा के उदाहरण उपस्थित किये हैं। वार्तिककार एवं पतञ्जलि दोनों ने 'चोदना' का प्रयोग पूर्वमीमांसा वाले अर्थ में किया है और उन्होंने ऐसे उदाहरण दिये हैं जो शाबर भाष्य से मिलते-जुलते हैं। व्याकरण के अध्ययन से जिन बहुत-से उद्देश्यों की पूर्ति होती है उनमें 'ऊह' एक है (जो पूर्वमीमांसासूत्र के नवें अध्याय का विषय है)। पाणिनि (१।४।३) पर भाष्य करते हुए पतञ्जलि ने मीमांसा की भाषा का व्यवहार किया है—'अपूर्व इव विधिर्भविष्यति न नियमः।'

ऐसा प्रतीत होता है कि संकर्षकाण्ड आरम्भिक कालों से ही उपेक्षित-सा रहा है। इसके प्रणेता के विषय में मतमतान्तर रहा है। वेङ्कटनाथ की न्यायपरिशुद्धि का कथन है (इण्डि० हि० क्वा०, जिल्द ९, पृ० २९९) कि संकर्षकाण्ड के प्रणेता थे काशकृत्स्न। शबर के भाष्य से प्रकट होता है कि उनके समय में यह काण्ड विद्यमान था और वह उनकी दृष्टि में जैमिनि कृत था। शंकराचार्य ने अपने भाष्य (वे० सू० ३।३।४३, प्रदानवदेव तदुक्तम्) में संकर्ष का उल्लेख किया है और उससे एक सूत्र उद्धृत किया है और कहा है कि वह वेदान्तसूत्र को ज्ञात था और ऐसा प्रकट होता है कि यह जैमिनि कृत है। ऐसा प्रकट होता है कि रामानुज ने भी माना है कि जैमिनीय १६ अध्यायों (१२ अध्यायों में पूर्वमीमांसा और चार अध्यायों में संकर्ष) में था। अप्पयदीक्षित के कल्पतरुपरिमल (वे० सू० ३।३।४३ पर टीका) में ऐसा आया है कि देवताओं पर विचार-विमर्श के लिए संकर्षकाण्ड प्रारम्भ किया गया और यह १२ अध्यायों वाले पू० मी० सू० का परिशिष्ट है। संकर्षकाण्ड का धर्मशास्त्र पर कोई प्रभाव नहीं

चाहिए। किन्तु यदि जैमिनि काशकृत्स्नि से पहले के थे या उनके समकालीन थे, तो यह सम्भव है कि पू० मी० सू० में उन्होंने काशकृत्स्नि का नाम न लिया हो। अतः यद्यपि मौन रह जाने से ऐसा तर्क देना उतना ठीक एवं बलशाली नहीं कहा जा सकता, तथापि यह कहा जा सकता है कि विद्यमान पूर्वमीमांसासूत्र कम-से-कम ई० पू० २०० के पूर्व ही प्रणीत हुआ होगा।

है, अतः हम इसके विषय में कुछ और नहीं लिखेंगे। इस विषय में देखिए पं० वी० ए० रामस्वामी शास्त्री का निबन्ध (इण्डि० हि० क्वा०, जिल्द ६, पृ० २९०--२९६), जहाँ संकर्षकाण्ड को पू० मी० सू० का परिशिष्ट कहा गया है।

मध्यकाल के पश्चात्कालीन लेखकों ने मीमांसाशास्त्र को विद्यास्थानों में (वेदों के अतिरिक्त) अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण कहा है, क्योंकि यह अन्य वैदिक वचनों के अर्थ के विषय में उत्पन्न सन्देहों, भ्रामक धारणाओं एवं अबोधता को दूर करता है तथा अन्य विद्यास्थानों को अपने अर्थ स्पष्ट करने के लिए इसकी आवश्यकता पड़ती है।[८]

कुछ ग्रन्थों में, यथा वेदान्तसूत्र पर रामानुज के भाष्य एवं प्रपंचहृदय में, मीमांसाशास्त्र को बीस अध्यायों वाला कहा गया है और सूचित किया गया है कि सम्पूर्ण पर बोधायन द्वारा प्रणीत कृतकोटि नामक एक भाष्य था, आगे चलकर उपवर्ष द्वारा एक छोटी टीका प्रणीत हुई, देव-स्वामी ने १६ अध्यायों पर एक टीका लिखी और भवदास ने भी जैमिनि पर एक टीका लिखी, किन्तु शबर ने केवल प्रथम १२ अध्यायों पर ही टीका लिखी और संकर्ष पर कुछ नहीं लिखा। राजराज (९९९ ई०) के एक अभिलेख (इडि० हि० क्वा०, जिल्द १५, पृ० २६२-२६३) में आया है कि एक विद्वान् ब्राह्मण को कुछ भूमि इसलिए दी गयी कि वह चार छात्रों के रहने और पढ़ने का प्रबन्ध करे, उसमें जिन विषयों के पठन-पाठन का उल्लेख है, उनमें बीस अध्यायों वाली मीमांसा की भी चर्चा है। ये बीस अध्याय इस प्रकार हैं, १२ अध्याय (जिनमें तीसरे, छठे एवं दसवें अध्यायों को छोड़कर प्रत्येक अध्याय ४ पादों में, तीसरा, छठा एवं दसवाँ अध्याय ८ पादों में विभाजित है, इस प्रकार कुल ९×४+३×८=६० पादों में) जैमिनि के हैं, ४ अध्याय संकर्षकाण्ड के हैं और शेष ४ अध्याय वेदान्त सूत्र के हैं। बारह अध्यायों को बहुधा पूर्वमीमांसा कहा जाता है, जो एक बृहद् ग्रन्थ है, जिसमें ९१५ या लगभग एक सहस्र अधिकरण एवं लगभग २७०० सूत्र हैं, जो विभिन्न विषयों पर हैं और ऐसे नियमों का उल्लेख करते हैं जो वैदिक व्याख्या में सहायक होते हैं। याज्ञ० (१।३) ने जिस मीमांसा का उल्लेख किया है, वह सम्भवतः १२ अध्यायों वाला जैमिनि का ग्रन्थ है। बहुत-से लेखकों ने, यथा—माधवाचार्य ने[९] पूर्व एवं उत्तर नामक दो मीमांसाओं का उल्लेख किया है, जो १२ अध्यायों में हैं, जैमिनि द्वारा लिखित हैं तथा उनमें वेदान्तसूत्र के चार अध्याय हैं। शंकराचार्य ने विद्यमान पूर्व-मीमांसा को 'द्वादशलक्षणी' (वे० सू० ३।३।२६), 'प्रथम तन्त्र' (वे० सू० ३।३।२५, ३।३।५३ एवं ३।४।२७), 'प्रथम काण्ड' (वे० सू० ३।३।१, ३।३।३३, ३।३।४४, ३।३।५०), 'प्रमाणलक्षण' (वे० सू० ३।४।४२) कहा है। एक स्थान (वे० सू० ३।३।५३) पर उन्होंने पूर्वमीमांसासूत्र के प्रथम पाद को 'शास्त्रप्रमुख इव प्रथमे पादे' कहा है और इससे यही व्यक्त किया है कि वे पू० मी० सू० एवं वेदान्तसूत्र को एक शास्त्र मानते हैं।

८. प्रातिस्विकानेकवाक्यार्थगततत्त्वज्ञानसंशयविपर्ययव्युदासेन पारमार्थिकार्थसतत्त्वस्वरूपनिर्णयार्थं समस्तैरप्येभिर्विद्यास्थानैरभ्यर्थ्यमानत्वात्तेभ्योपि मीमांसाख्य, विद्यास्थानं गरीयस्तरम्। तथा ह्याहुः—चतुर्दशसु विद्यासु मीमांसैव गरीयसी। जैमिनीयसूत्रार्थसंग्रह (ऋषिपुत्र—परमेश्वर कृत, भाग—१, पृ० २, त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सीरीज)।

९. ये पूर्वोत्तरमीमांसे ते व्याख्यायातिसंग्रहात्। कृपालुर्माधवाचार्यो वेदार्थं वक्तुमुद्यतः॥ ऋग्वेद की टीका, आरम्भिक श्लोक ४ (पूना संस्करण)। कुछ पाण्डुलिपियों में 'माधवाचार्यो' के स्थान पर 'सायणाचार्यो' लिखा है।

उपस्थित पूर्वमीमांसासूत्र एवं वेदान्तसूत्र (या ब्रह्मसूत्र) के प्रणेता तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में कुछ अति कठिन एवं मत-मतान्तरपूर्ण प्रश्न उठ खड़े हुए हैं। इन सभी प्रश्नों पर यहाँ विचार सम्भव नहीं है। प्रथम द्रष्टव्य बात यह है कि यद्यपि वेदान्तसूत्रों की संख्या पू० मी० सू० की संख्या का १।५ भाग मात्र है, तथापि वेदान्तसूत्र में व्यक्तिगत संकेत अधिक (अर्थात् ३२) हैं और पू० मी० सू० में अपेक्षाकृत कम (अर्थात् २७)। दूसरी बात यह है कि वेदान्तसूत्र में जैमिनि का नाम ११ बार और बादरायण का ९ बार आया है तथा पू० मी० सू० ने दोनों का नाम केवल ५ बार लिया है। प्रश्न उठता है— क्या जैमिनि एवं बादरायण समकालीन थे? यदि नहीं, तो दोनों में क्या सम्बन्ध था? विद्वान् लोग सामान्यतः यही स्वीकार करते हैं कि दोनों समकालीन नहीं थे। सामविधानब्राह्मण में एक प्राचीन परम्परा की ओर निर्देश है, जिसके अनुसार जैमिनि पाराशर्य व्यास के शिष्य कहे गये हैं।[१०] हमने इस खण्ड के अध्याय २२ में यह पढ़ लिया है कि किस प्रकार पुराणों ने यह घोषित किया है कि व्यास पाराशर्य ने, जो कृष्ण द्वैपायन भी कहे जाते हैं, एक वेद को चार में गठित किया और क्रम से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद को पैल, वैशम्पायन, जैमिनि एवं सुमन्तु को पढ़ाया। महाभारत में सुमन्तु, जैमिनि, वैशम्पायन एवं पैल को शुक (व्यास के पुत्र) के साथ व्यास का शिष्य कहा गया है (देखिए सभा० ४।११, शान्तिपर्व ३२८।२६-२७, ३५०।११-१२)। आश्वलायनगृह्यसूत्र (३।४।४) में तर्पण के सिलसिले में एक मनोरंजक कथन है, यथा—'सुमन्तु-जैमिनि-वैशम्पायन-पैल-सूत्र-भाष्य-भारत-महाभारत-धर्माचार्याः।' इस कथन से यह प्रकट होता है कि ईसा की कई शतियों पूर्व से ही जैमिनि एक आदरणीय नाम था और वह सामवेद से सम्बन्धित था। विद्वानों ने पू० मी० सू० एवं वेदान्तसूत्र में आये हुए जैमिनि एवं बादरायण के नामों एवं संकेतों की जाँच की है। प्रो० के० ए० नीलकण्ठ शास्त्री (इण्डि० एण्टी०, जिल्द ५०, पृ० १६७-१७४) ने एक चकित करने वाली स्थापना दी है कि जैमिनि नाम के तीन व्यक्ति थे। टी० आर० चिन्तामणि (जे० ओ० आर०, मद्रास, जिल्द ११, सप्लिमेण्ट, पृ० १४) ने शास्त्री से सहमति प्रकट की है। पू० मी० सू० में जैमिनि का नाम पाँच बार आया है (३।१।४, ६।३।४, ८।३।७, ९।२।३९ एवं १२।१।७।) सामान्य ज्ञान तो यही कहता है कि ये पाँच बार आये हुए संकेत केवल एक ही व्यक्ति के विषय में है।' यदि पू० मी० सू० द्वारा इसके लेखक के अतिरिक्त दो अन्य जैमिनियों के नाम इन पाँच सूत्रों में लिये गये होते तो स्पष्ट रूप से यह बात कही गयी होती। प्रो० शास्त्री का ऐसा कथन है कि ६।३।४ में उल्लिखित जैमिनि अन्य चार सूत्रों में उल्लिखित जैमिनि से भिन्न हैं, क्योंकि शबर ने उसमें जैमिनि के लिए 'आचार्य' उपाधि का प्रयोग नहीं किया है, जैसा कि उन्होंने

१०. सोयं प्राजापत्यो विधिस्तमिमं प्रजापतिर्बृहस्पतये बृहस्पतिर्नारदाय नारदो विष्वक्सेनाय विश्वक्सेनो व्यासाय पाराशर्याय व्यासः पाराशर्यो जैमिनये जैमिनिः पौष्पिण्ड्याय पौष्पिण्ड्यः पाराशर्यायणाय पाराशर्यायणो बादरायणाय बादरायणस्ताण्डिशाट्यायनिभ्यां ताण्डिशाट्यायनिनौ बहुभ्यः....आदि। सामविधान ब्राह्मण (अन्त में)। न्या० र० ने श्लोकवा० (प्रतिज्ञा-सूत्र, श्लोक २३) पर पूर्वमीमांसा की गुरु-परम्परा को यों व्यक्त किया है——ब्रह्मा–प्रजापति–इन्द्र–आदित्य–वसिष्ठ–पराशर–कृष्णद्वैपायन–जैमिनि। युक्ति-स्नेहप्रपूरणी (पृ० ८, चौखम्बा सीरीज) ने दो समान गुरुक्रम उपस्थित किये हैं, जो सामविधान ब्रा० से तथा एक दूसरे से थोड़ा-सा अन्तर रखते हैं। वसिष्ठ तक गुरुपरम्परा व्यावहारिक रूप से व्यर्थ-सी है। यह अवलोकनीय है कि सामविधान ब्राह्मण में जैमिनि को व्यास पाराशर्य का शिष्य कहा गया है, जब कि जैमिनि एवं बादरायण के बीच में दो अन्य नाम आ जाते हैं।

अन्य चार सूत्रों में किया है। इतना ही नहीं, ६।३।४ में जो बात कही गयी है वह पूर्वपक्ष मात्र है और अन्य चार सूत्रों में जैमिनि का दृष्टिकोण मीमांसासूत्र का सिद्धान्त है। जिन सूत्रों में जैमिनि के नाम आये हैं, वे केवल पांच हैं, जिनमें शबर ने केवल चार के लिए 'आचार्य' शब्द का प्रयोग किया है। किन्तु यह एक बहुत ही हलका तर्क है कि चार सूत्रों वाले जैमिनि एवं एक सूत्र वाले जैमिनि में अन्तर है। 'आचार्य' या 'भगवान्' जैसे उपाधि-सूचक शब्दों के प्रयोगों के विषय में लेखकों के व्यवहारों में अन्तर है। कुमारिल ने जैमिनि के लिए 'आचार्य' या 'भगवान्' की उपाधि नहीं जोड़ी है और एक स्थान पर तो ऐसा लिख दिया है (तन्त्रवार्तिक, पृ० ८६५) कि जैमिनि असारभूत सूत्र लिखते हैं।

वेदान्तसूत्र के जिन सूत्रों में जैमिनि के नाम आये हैं (यथा—१।२।२८, १।२।३१, १।३।३१, १।४।१८, ३।२।४०, ३।४।२, ३।४।१८, ३।४।४०, ४।३।१२, ४।४।५, ४।४।११) उनमें शंकराचार्य ने 'आचार्य' की उपाधि जोड़ी है (केवल ३।४।४० में ऐसा नहीं हो सका है), यद्यपि जैमिनि के बहुत-से प्रमेय वेदान्तसूत्र के प्रणेता बादरायण को एवं स्वयं शंकर को मान्य नहीं हैं। ३।४।४० में शंकराचार्य ने जैमिनि एवं बादरायण दोनों के लिए 'आचार्य' की उपाधि नहीं दी है। इस विषय में ऐसा तो किसी ने नहीं कहा है कि ३।४।४० में 'आचार्य' शब्द न आने से उसमें उल्लिखित बादरायण अन्य सूत्रों में उल्लिखित बादरायण से भिन्न हैं। एक अन्य स्थान (वे० सू० ४।१।१७ पर) में शंकराचार्य का कथन है कि जैमिनि एवं बादरायण दोनों इस बात को स्वीकार करते हैं कि काम्य प्रकार के कुछ कर्म ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति में किसी प्रकार सहायक नहीं होते। इससे यह प्रकट होता है कि शंकर के मत से जैमिनि ने ब्रह्मविद्या के उदय के विषय में विचार किया है। दूसरे तर्क के विषय में यह कहा जा सकता है कि ६।३।४ में किसी भी प्रकार से पूर्वपक्ष नहीं प्रकट होता। उसी अधिकरण में पूर्वपक्ष प्रथम सूत्र में लिखित है, यथा—'अग्निहोत्र या दर्श-पूर्णमास जैसे कृत्यों को सम्पादित करने का वही अधिकारी है जो उन्हें पूर्णता एवं समग्रता के साथ कर सके।' दूसरे सूत्र में सिद्धान्त का दृष्टिकोण व्यक्त है, यथा— 'नित्य कर्मों में यह कोई आवश्यक नहीं है कि सभी कृत्य सम्पादित किये जायें।' एक तीसरा सूत्र ऐसा कहता है कि स्मृति में ऐसा घोषित है कि यदि मुख्य कृत्य सम्पादित न किया जाय तो यह अपराध है, अतः मुख्य कृत्य अपरिहार्य है और उसे अवश्य करना चाहिए। इसके उपरान्त चौथा सूत्र आता है जिसमें जैमिनि का नाम आया है। इस पर शबर का भाष्य बहुत संक्षिप्त और अस्पष्ट है। इन सूत्रों (६।३।१-७) पर टुप्टीका पृथक्-पृथक् भाष्य नहीं उपस्थित करती, और व्याख्या में इसने जैमिनि का नाम छोड़ दिया है तथा इस अधिकरण के विषय में जो अन्तिम बात कही गयी है वह प्रस्तुत लेखक द्वारा उपस्थापित चौथे सूत्र की व्याख्या को और बल देती है। इस बात में किसी को कोई सन्देह नहीं है कि ५ से लेकर ७ तक के सूत्र सिद्धान्त के दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं। इस विवाद में विशेष जाने की कोई आवश्यकता नहीं है। निष्कर्ष यह है कि पू० मी० सू० में पांच बार उल्लिखित जैमिनि एक ही व्यक्ति है और जिसने पूर्वमीमांसा पर लिखा है वह उपस्थित पू० मी० सू० के लेखक से भिन्न व्यक्ति है।

स्वयं प्रो० शास्त्री यह स्वीकार करते हैं कि पांच संकेतों में चार में, जहाँ जैमिनि स्पष्ट रूप से अंकित हैं, उनके विचार सिद्धान्त के विचार हैं। पू० मी० सू० के ६।२।३ एवं १२।१।५६ सूत्र कुछ विशिष्ट हैं। दोनों विषयों में अधिकरण केवल एक सूत्र का है, जो सिद्धान्ती दृष्टिकोण है और वहाँ जैमिनि स्पष्ट रूप से उल्लिखित हैं। पू० मी० सू० के सूत्र ३।१।४ में जैमिनि बादरि (३।१।३) से भिन्न हैं और अधिकरण को पूर्ण करने के लिए दो और सूत्र जोड़ दिये गये हैं। पू० मी० सू० के ८।३।७ में जैमिनि का विचार बादरि के सूत्र ८।३।६ के विचार का विरोधी है, वह सिद्धान्ती दृष्टिकोण है और पू० मी० सू० के लेखक के दृष्टिकोण को व्यक्त करने के लिए कोई पृथक् सूत्र भी नहीं है।

वे० सू० (३।४।४०) की व्याख्या में शंकराचार्य ने जो वक्तव्य दिये हैं, उनसे प्रकट होता है कि वे बादरायण को वेदान्तसूत्र का लेखक मानते हैं। वे० सू० (३।२।३८-३६) में सिद्धान्त आया है कि कर्मों का फल ईश्वर द्वारा दिया जाता है, किन्तु जैमिनि का विचार (दृष्टिकोण) यह है कि कर्मों का फल धर्म होता है (३।२।४०) और सूत्र ३।२।४१ में ऐसा आया है कि बादरायण प्रथम बात मानते हैं, अर्थात् ईश्वर कर्मों का फल देता है। यहाँ पर बादरायण को स्पष्ट रूप से सिद्धान्त सूत्र (३।२।३८) का पोषक माना गया है। शंकराचार्य ने वे० सू० के अन्तिम सूत्र (४।४।२२) में जो बातें कही हैं उनसे स्पष्ट प्रकट होता है कि बादरायण सम्पूर्ण वेदान्तसूत्र के प्रणेता थे। इस विषय में हमें कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिल पाता कि जब ५५५ सूत्रों के प्रणेता बादरायण थे तो वेदान्तसूत्र में बादरायण के नाम ६ बार क्यों आये हैं और जब २७०० सूत्रों के प्रणेता जैमिनि के नाम से विख्यात हैं तो जैमिनि के विचार पाँच बार क्यों व्यक्त हैं, जिनमें चार तो ऐसे हैं जो पू० मी० सू० के विख्यात लेखक के विचार से सर्वथा मिलते हैं? इन प्रश्नों के उत्तर में केवल दो सिद्धान्त कहे जा सकते हैं, यथा—एक तो यह कि इसकी व्याख्या नहीं हो सकती और दूसरा यह कि दो जैमिनि एवं दो बादरायण थे।

वेदान्तसूत्र के प्रणेता से सम्बन्धित समस्या विकट है। शंकराचार्य के समान भास्कर का कथन है कि वेदान्तसूत्र के प्रणेता बादरायण थे। उन्होंने वे० सू० की टीका का आरम्भ बादरायण को प्रणाम करके किया है, क्योंकि उनके शब्दों में बादरायण ने इस लोक में ब्रह्मसूत्र को भेजा, जो जन्म-बन्धन से लोगों को मुक्त कर देता है। शंकराचार्य के शिष्य पद्मपाद की पञ्चपादिका में बादरायण का अभिवादन किया गया है (आरम्भिक दूसरा श्लोक)। रामानुज ने विरोधी वक्तव्य दिये हैं। 'श्रीभाष्य' में रामानुज ने सभी भद्र पुरुषों से कहा है कि उन्हें पाराशर्य के अमृत-रूपी शब्दों का पान करना चाहिए, किन्तु वे सू० (२।१२।४२) के भाष्य में उन्होंने लिखा है कि बादरायण महाभारत के प्रणेता थे, जहाँ पर पाञ्चरात्र-शास्त्र एवं वे० सू० का विस्तार के साथ विवेचन किया गया है (शान्तिपर्व, अध्याय ३३४-३३६)। किन्तु रामानुज के गुरु के गुरु यामुनाचार्य के मत से वे० सू० के प्रणेता थे बादरायण। शंकराचार्य के कहने पर भी उनके वेदान्त-सूत्र के भाष्य की प्रसिद्ध टीका 'भामती' के रचयिता वाचस्पति मिश्र ने ब्रह्मसूत्र के लेखक वेदव्यास का अभिवादन किया है। पराशरमाधवीय के दो मत हैं—जिल्द १, भाग-१, पृ० ५२, ६७; जिल्द २, भाग-२, पृ० ३ एवं २७५ में वे० सू० के प्रणेता बादरायण कहे गये हैं, किन्तु कुछ स्थानों पर वेदान्तसूत्र को वेदव्याससूत्र कहा गया है (जिल्द १. भाग-१, पृ० ५६, ११३)। इन विभिन्न मतों से एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि क्या बादरायण, जो वेदान्तसूत्र के प्रणेता कहे जाते हैं, और वेदव्यास एक ही व्यक्ति हैं या भिन्न? शंकराचार्य के भाष्य से प्रकट है कि वे इन दोनों को भिन्न मानते हैं।[११] उदाहरणार्थ, वे० सू० (१।३।२६।) पर

११. अत एव च नित्यत्वम्। वे० सू० (१।३।२६); भाष्य— 'वेदव्यासश्चैवमेव स्मरति। युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान्सेतिहासान्महर्षयः। लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा॥' इति। यह श्लोक शान्तिपर्व (२१०।१६) में आया है; स्मरन्ति च। वे० सू० (२।३।४७), भाष्य— 'स्मरन्ति च व्यासादयो यथा जैवेन दुःखेन न परमात्मा दुःखायत इति। तत्र यः परमात्मा हि स नित्यो निर्गुणः स्मृतः। न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा॥ कर्मात्मा त्वपरो योऽसौ मोक्षबन्धैः स युज्यते। स सप्तदशकेनापि राशिना युज्यते पुनः॥' इति। ये दोनों शान्ति पर्व में आये हैं (३५२।१४–१५)।

उन्होंने वेदव्यास का श्लोक वेदान्तसूत्र के इस समर्थन में उद्धृत किया है कि वेद नित्य है। वे० सू० (२।३।४७) पर इसके समर्थन में कि यद्यपि आत्मा परमात्मा का ही अंश है तथापि परमात्मा आत्मा द्वारा पाये जाते हुए कष्ट से दुखी नहीं होता, शंकराचार्य ने महाभारत से दो श्लोक स्मृति के समान उद्धृत किये हैं। इससे यह प्रकट है कि यदि वेदान्तसूत्र के प्रणेता एवं वेदव्यास एक ही व्यक्ति होते तो शंकराचार्य उदाहरण रूप में वेदव्यास के वचन उद्धृत नहीं करते, यदि वे ऐसा करते भी तो यही कहते कि इस लेखक ने ऐसा एक स्थान पर और कहा है, आदि। यही तर्क शंकराचार्य की आलोचनाओं के विषय में भी दिया जा सकता है। यदि महान् आचार्य का यही मत था कि वेदान्तसूत्र के लेखक वे ही महोदय थे जिन्होंने महाभारत एवं गीता का प्रणयन किया है तो वे महाभारत एवं गीता से उद्धरण देकर वे० सू० के तर्क का समर्थन न करते।

यदि यह कहा जाय कि जैमिनि केवल एक ही थे (दो नहीं, तीन की बात तो दूर है) तो एक बड़ी गम्भीर समस्या उठ खड़ी होती है। पू० मी० सू० (जिसमें २७०० सूत्र हैं) के लेखक ने अपने दृष्टिकोणों की ओर अपने नाम से, और वह भी केवल पाँच बार ही, क्यों संकेत किया है? कुछ टीकाकारों ने ऐसा कहा है कि पाणिनि ने अपने पूर्ववर्ती लेखकों के नाम आदर व्यक्त करने के लिए उल्लिखित किये हैं, तो क्या यह समझा जाय कि जैमिनि ने भी ऐसा किया है? यदि वे अपना नाम ही लेना चाहते थे तो केवल पाँच ही बार क्यों लिया? स्पष्ट है, उन्होंने अपने किसी पूर्ववर्ती व्यक्ति की ओर संकेत किया है, जिनका नाम संयोग से जैमिनि ही था और जिन्होंने अपने मत किसी ग्रन्थ में व्यक्त किये थे।

वेदान्तसूत्र में ११ सूत्र ऐसे हैं जिनमें जैमिनि के दृष्टिकोणों की ओर निर्देश किया गया है, यथा—१।२।२८ एवं ३१, १।३।३१, १।४।१८, ३।२।४०, ३।४।२, ३।४।१८, ३।४।४०, ४।३।१२, ४।४।५, ४।४।११। इनमें ६ संकेत ऐसे हैं (१।२।२८, १।२।३१, १।४।१८, ४।३।१२, ४।४।५, ४।४।११), जिनके लिए पू० मी० सू० का कोई अधिकरण या सूत्र नहीं दिखाया जा सकता। किन्तु ३।२।४०, ३।४।२, ३।४।१८ नामक सूत्र ऐसे हैं जो पू० मी० सू० के विख्यात सिद्धान्त हैं। वे० सू० १।३।३१ पू० मी० सू० ६।१।५ है तथा ३।४।४० में जैमिनि वे० सू० से मिलते हैं। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि उन जैमिनि ने, जो शुद्ध रूप से वेदान्त-सम्बन्धी विषयों पर अपने मत प्रकाशित करते हैं और जिनके दृष्टिकोण पू० मी० सू० में नहीं पाये जाते, वेदान्त पर कोई ग्रन्थ लिखा था।

वेदान्तसूत्र के ९ सूत्रों में बादरायण के नाम आये हैं, यथा १।३।२६ एवं ३३ (एक ही अधिकरण में बादरायण जैमिनि के विरोध में दो बार उल्लिखित हैं), ३।२।४१, ३।४।१, ३।४।८, ३।४।१९, ४।३।१५, ४।४।७, ४।४।१२। यह अवलोकनीय है कि ४।३।१५ को छोड़कर सभी में बादरायण के मत जैमिनि से पृथक् है या थोड़ा अन्तर रखते हैं (४।४।७ एवं ४।४।१२)। प्रो० नीलकण्ठ शास्त्री का विचार है कि वे सभी दृष्टिकोण जो बादरायण के कहे गये हैं, वेदान्त सूत्र के लेखक के ही मत हैं, जिन्होंने अपने लिए प्राचीन लेखकों के समान अन्य-पुरुष का प्रयोग किया है (इण्डि० ऐण्टी०, जिल्द पृ० ५०, पृ० १६९)। इस विचार से यह नहीं ज्ञात हो पाता कि वेदान्तसूत्र (जिसमें ५५५ सूत्र हैं) के लेखक की ही स्थिति को दृढ़ करने के लिए बादरायण का नाम ९ बार लेना क्यों आवश्यक माना गया? यदि वे० सू० के लेखक एवं ९ बार उल्लिखित बादरायण एक ही व्यक्ति थे तो बादरायण का नाम सामान्यतः अधिकरण के अन्त में आता न कि मध्य में। उदाहरण व्यक्त करते हैं कि यद्यपि बादरायण एवं वे० सू० के लेखक का अन्तिम निष्कर्ष एक ही है, किन्तु भाषा एवं तर्क भिन्न हैं, वेदान्तसूत्र में उल्लिखित बादरायण प्रस्तुत वेदान्तसूत्र के लेखक से पहले हुए थे और उन्होंने वेदान्त पर कोई ग्रन्थ लिखा था, जिसका समर्थन वेदान्तसूत्र अपने तर्कों से करता है।

पाणिनि के काल में ऐसे भिक्षु होते थे जो 'पाराशर्य के भिक्षुसूत्र' या 'कर्मन्द के भिक्षुसूत्र' का अध्ययन करते थे और 'पाराशरिणः' एवं 'कर्मन्दिनः' कहे जाते थे। भिक्षु संन्यास मार्ग का द्योतक है। अतः भिक्षुसूत्र में संन्यास, उसके समय, नियम, अन्तिम लक्ष्य आदि के विषय अवश्य रहे होंगे। बृहदारण्यकोपनिषद् (३।५।१ एवं ४।४।२२) के अनुसार वे लोग जो ब्रह्म की अनुभूति वाले होते हैं, सभी इच्छाओं का परित्याग कर देते हैं और भिक्षाटन करते हैं। यही बात गौतमधर्मसूत्र (३।२।१०–१३) में भी है। कर्मन्द के भिक्षुसूत्र के विषय में अभी तक कुछ नहीं ज्ञात हो सका है। किन्तु ऐसा कहना सम्भव है कि पाराशर्य द्वारा घोषित भिक्षुसूत्र आज के ब्रह्मसूत्र या इसके परवर्ती सूत्र ग्रन्थों में किसी के समान रहा होगा। संन्यासाश्रम पर पाराशर्य के सूत्र के विषय में यह आरम्भिकतम संकेत है। पाणिनि की तिथि के विषय में अभी मतैक्य नहीं है। किन्तु कोई भी आधुनिक विद्वान् उन्हें ई० पू० तीसरी शती के उपरान्त का नहीं मानता। प्रस्तुत लेखक उन्हें ई० पू० ५वीं या छठी शती में रखता है। इससे यह सिद्ध होता है कि पाराशर्य का भिक्षुसूत्र ई० पू० चौथी एवं ७वीं शती के बीच में कभी प्रणीत हुआ होगा। पाणिनि (४।१।९७) के वार्तिक (१) से प्रकाश मिलता है कि व्यास का 'अपत्य' (पुत्र) 'वैयासकि' (शुक) कहलाता था (जैसा कि महाभाष्य से पता चलता है)। पाणिनि (४।१।९९, नडादिभ्यः फक्) के अनुसार 'बादरायण' शब्द 'बदर' (जो ७६ शब्दों वाले नडादि-गण का एक शब्द है) से बना है, 'बादरि' बदर का पुत्र है और 'बादरायण' बदर का प्रपौत्र (या अनुवर्ती पुरुष उत्तराधिकारी)। किसी काल में 'व्यास' एवं 'बादरायण' में भ्रम हो गया और वह शुक, जो वार्तिक एवं महाभाष्य के मत से व्यास का पुत्र है, 'बादरायणि' (बादरायण का पुत्र) कहलाने लगा, जैसा कि भागवतपुराण (१२।५।८, जहाँ शुक को 'भगवान् बादरायणिः' कहा गया है) में आया है। ऐसा प्रतीत होता है कि ९वीं शती के उपरान्त बादरायण को भ्रमवश व्यास पाराशर्य कहा जाने लगा।

पूर्वमीमांसासूत्र एवं ब्रह्मसूत्र में उद्धृत बादरायण एवं जैमिनि के मतों की परीक्षा आवश्यक है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, बादरायण केवल ५ बार पू० मी० सू० में उल्लिखित हुए हैं। (१) पू० मी० सू० (१।१।५) में लेखक का कथन है कि वे और बादरायण वेद की नित्यता एवं अमोघता में विश्वास करते हैं; (२) पू० मी० सू० (५।२।१७।२०) में नक्षत्रेष्टि पर विवेचन हुआ है। यज्ञ के नमूने में नारिष्ठ नामक होम किये जाते हैं; प्रश्न यह उपस्थित होता है कि नमूने के परिष्कारों में जहाँ कुछ उपहोम किये जाते हैं, वहाँ नारिष्ठ होमों का सम्पादन उपहोमों के पूर्व होना चाहिए या उपरान्त। सिद्धान्त का दृष्टिकोण यह है कि नारिष्ट होम पहले कर दिये जाते हैं। आत्रेय इस मत का विरोध करते हैं, किन्तु बादरायण इसका समर्थन करते हैं। (३) पू० मी० सू० (१।१।८) में बादरायण का मत प्रकाशित है कि केवल पुरुष ही नहीं, प्रत्युत नारियाँ भी क्रतुओं (वैदिक यज्ञों) में भाग ले सकती हैं, यही मत सिद्धान्त का भी है। (४) पू० मी० सू० (१०।८।३५–३६) में एक विशद अधिकरण है जिसमें उस पुरुष के लिए, जिसने अभी तक सोमयज्ञ न किया हो, दर्श-पूर्णमास में आग्नेय एवं ऐन्द्राग्न पुरोडाशों के लिए जो वचन आये हैं उनमें प्रश्न आया है कि क्या वे उसके लिए किसी विधि या केवल अनुवाद की व्यवस्था देते हैं? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि बादरायण विधि की बात करते हैं और सिद्धान्त अनुवाद की (१०।८।४५)। (५) पू० मी० सू० (११।१।५४–६७) में एक लम्बा अधिकरण आया है जिसमें इस विषय में एक विवेचन उपस्थित किया गया है कि दर्शपूर्णमास में आग्नेय आदि प्रमुख विषयों में आघार जैसे अंगों को दोहराया जा सकता है या केवल एक बार किया जाता है।

उपर्युक्त पाँच स्थलों से, जहाँ बादरायण उल्लिखित हैं, तीन बातें स्पष्ट हो उठती हैं—पू० मी० सू० का

लेखक बादरायण के दृष्टिकोण से सहमत है, केवल १०।८।४४ में ही असहमति प्रकट की गयी है; पू० मी० सू० (१।१।५) में बादरायण का मत वेदान्तसूत्र (१।३।२८-२९) में प्रकाशित मतों से मिलता है तथा पाँच स्थलों में चार स्थलों के मत यज्ञिय बातों से सम्बन्धित हैं, जिनके विषय में वेदान्तसूत्र में कुछ भी नहीं है। इससे प्रकट होता है कि विद्यमान पू० मी० सू० के लेखक के समक्ष पूर्व मीमांसा-सम्बन्धी विषयों पर बादरायण द्वारा लिखित कोई ग्रन्थ था और यदि विद्यमान वेदान्तसूत्र के लेखक बादरायण होते तो उनके द्वारा लिखित एक पूर्वमीमांसा-सम्बन्धी ग्रन्थ भी रहा होता, अथवा एक अन्य बादरायण थे जिन्होंने केवल पूर्वमीमांसा पर ही लिखा था। पू० मी० सू० में जैमिनि के प्रति पाँच संकेतों की ओर पहले ही ध्यान आकृष्ट कर दिया गया है और उस सूत्र (६।३।४) की ओर भी संकेत किया जा चुका है जिसके आधार पर प्रो० शास्त्री ने तीन जैमिनियों की बात उठा दी है, किन्तु हमने ऊपर इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि इस प्रकार के निष्कर्ष के लिए कोई पुष्ट भूमि नहीं है।

एक अन्य विकल्प उपस्थित किया जा सकता है, यथा यह कहा जा सकता है कि विद्यमान वेदान्तसूत्र एवं पू० मी० सू० के समक्ष जैमिनि एवं बादरायण के ग्रन्थ थे ही नहीं, तथा जैमिनि एवं बादरायण के विषय में जो संकेत मिलते हैं वे जैमिनि एवं बादरायण की शाखाओं अथवा सम्प्रदायों में प्रचलित मतों से सम्बन्धित हैं। किन्तु यह अनुमान सम्भव नहीं जँचता। विद्यमान वेदान्तसूत्र एवं पू० मी० सू० आर्यावर्त में सभी के लिए मान्य थे और यहाँ ऐसा नहीं लगता कि दोनों सम्प्रदायों की मौखिक परम्पराएँ सम्पूर्ण देश में सभी लोगों को ज्ञात होनी ही चाहिए थीं।

बहुत-सी बातों में जहाँ बादरायण का उल्लेख हुआ है, वहाँ वे० सू० में बहुत-सी व्याख्याएँ जोड़ी गयी हैं और अन्य बातों का समावेश हुआ है। यह कहा जा चुका है कि शंकराचार्य, भास्कर एवं यामुन मुनि ने वे० सू० को बादरायण लिखित माना है तथा वाचस्पति आदि ने उसे व्यास पाराशर्य कृत माना है। ९ वीं शती के उपरान्त वेदव्यास को बादरायण क्यों कहा जाने लगा, यह कहना कठिन है। कुछ अन्य सम्बन्धित बातों का उल्लेख भी आवश्यक है। गीता में क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ के विषय में एक श्लोक एक समस्या खड़ी कर देता है।[१२] गीता (१३।-

१२. ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्। ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्‌भिर्विनिश्चितैः॥ गीता १३।४। प्रथम अर्धाली वेदों एवं उपनिषदों के वचनों की ओर संकेत करती है तथा दूसरी ब्रह्मसूत्रपदों की ओर। सभी टीकाकारों के अनुसार 'ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव' का सम्बन्ध 'गीतं' से अवश्य होना चाहिए। प्रस्तुत लेखक का कथन है कि 'ऋषिभिः' को 'छन्दोभिः' से सम्बन्धित रखना आवश्यक है, तो इसमें कोई तर्क नहीं है कि वह 'ब्रह्मसूत्रपदैः' से भी क्यों न सम्बन्धित माना जाय।' प्रथम अर्धाली में दो शब्द करण कारक में हैं, यथा 'ऋषिभिः' एवं 'छन्दोभिः'। यदि हम 'ऋषिभिः' को दूसरी अर्धाली में माने तो हमें 'ऋषिभिः' एवं 'ब्रह्मसूत्रपदैः' को उसी भाँति रखा हुआ मानना पड़ेगा। प्रथम अर्धाली में वेदों एवं उपनिषदों के वचनों तथा दूसरी अर्धाली के तर्कयुक्त एवं सुनिश्चित वचनों में विरोध भी व्यक्त है। तब तो अर्थ होगा कि ऋषियों ने कई ब्रह्मसूत्रों का प्रणयन किया था। प्रस्तुत लेखक का मत है कि गीता ने अपने समय के कई ब्रह्मसूत्रों की ओर संकेत किया है न कि वेदान्तसूत्र की ओर। यहाँ शंकराचार्य के अतिरिक्त अन्य टीकाकार 'ब्रह्मसूत्र' शब्द से अपने कालों में प्रचलित ग्रन्थों की ओर संकेत करते हैं। लोकमान्य तिलक ने गीतारहस्य (परिशिष्ट भाग-३, १९१५ का संस्करण) में गीता एवं ब्रह्मसूत्र के सम्बन्ध पर विवेचन उपस्थित किया है और अपनी एक तर्कना उपस्थित की है कि उस लेखक ने जिसने

४) में ऐसा आया है—'क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ का यह वास्तविक स्वरूप ऋषियों द्वारा विभिन्न मन्त्रों (छन्दों) में विभिन्न ढंगों से तथा तर्क-संगत ब्रह्मसूत्रपदों द्वारा, जो निश्चित निष्कर्षों तक पहुँचते हैं, पृथक्-पृथक् गाया गया है।' यहाँ पर गीता ने स्पष्ट रूप से ब्रह्मसूत्र का उल्लेख किया है। यदि कोई ब्रह्मसूत्र (या वेदान्तसूत्र) का अवलोकन करे तो पता चलेगा कि बहुत-से सूत्रों में स्मृति पर निर्भरता प्रकट की गयी है, जिस (स्मृति) को आचार्यों ने गीता ही माना है। उदाहरणार्थ, 'स्मृतेश्च' (वे० सू० १।२।६) पर शंकराचार्य ने स्मृतिवचन के रूप में गीता (१८।६१ एवं १३।२) को उद्धृत किया है। इसी प्रकार 'अपि च स्मर्यते' (वे० सू० १।३।२३) पर शंकराचार्य ने गीता (१५।६ एवं १२) का निर्देश दिया है। और देखिए वे० सू० (२।३।४५) एवं गीता (१५।७); वे० सू० (४।१।१०) एवं गीता ६।११ तथा वे० सू० (४।२।२१) एवं गीता (८।२४-२५)। अतः यद्यपि ब्रह्मसूत्र में गीता का उल्लेख स्पष्ट रूप से नहीं हुआ है, तथापि आचार्यों ने एक स्वर से यही माना है कि उपर्युक्त सभी सूत्रों में संकेत गीता की ओर ही है, अन्यत्र नहीं। अतः हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि गीता ने ब्रह्मसूत्र का उल्लेख किया है जो उससे (गीता से) पहले का है, किन्तु गीता के वचन कुछ वेदान्तसूत्रों के आधार कहे गये हैं अतः गीता वेदान्त-सूत्र से प्राचीन है। यह विरोधाभास है। शंकराचार्य ने इस विरोधाभास को देखा, इसी कारण उन्होंने 'ब्रह्मसूत्रपदैः' को उपनिषदों के पदों से सम्बन्धित माना, जो ब्रह्म के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं (अर्थात् उन्होंने 'सूत्र' को 'सूचक' माना है)। किन्तु इस व्याख्या में केवल खींचातानी है और इसे अन्य टीकाकारों ने स्वीकृत नहीं किया है। इसी से अन्य सिद्धान्तों की आवश्यकता पड़ गयी है, यथा—दोनों का लेखक एक ही है, या महाभारत तथा गीता में समय-समय पर ऊपर से बातें जोड़ी जाती रहीं और जब महाभारत का अन्तिम संस्करण बना तो ब्रह्मसूत्र के विषय वाला श्लोक गीता में जोड़ दिया गया, अथवा गीता के समय में विद्यमान ब्रह्मसूत्र के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थ भी थे जो ब्रह्मसूत्र कहलाते थे।

प्रस्तुत लेखक के विचार में यह अधिक सम्भव जँचता है कि गीता के सम्मुख ब्रह्मसूत्र नामक कई ग्रन्थ थे और उसने १३।४ में उनकी ओर संकेत किया है, उसने बादरायण के ब्रह्मसूत्र की ओर संकेत नहीं किया है। पू० मी० सू० एवं वे० सू० में उल्लिखित लेखकों की एक संक्षिप्त व्याख्या आवश्यक है। इन दोनों ग्रन्थों ने जैमिनि एवं बादरायण के अतिरिक्त कई अन्य लेखकों के नाम लिये हैं, जो निम्नलिखित हैं—

आत्रेय—पू० मी० सू० ४।३।१८, ५।२।१८, ६।१।२६ एवं वे० सू० ३।४।४४;

आश्मरथ्य—पू० मी० सू० ६।५।१६ एवं वे० सू० १।२।२६, १।४।२०;

कार्ष्णाजिनि—पू० मी० सू० ४।३।१७, ६।७।३५ एवं वे० सू० ३।१।६;

बादरि—पू० मी० सू० ३।१।३, ६।१।२७, ८।३।६, ६।२।३३ एवं वे० सू० १।२।३०, ३।१।११, ४।३।७, ४।४।१० ।

ब्रह्मसूत्र का प्रणयन किया, मौलिक महाभारत एवं गीता का नवीन संस्करण उपस्थित किया तथा उन दोनों को आज वाला (उपस्थित) रूप प्रदान किया। किन्तु प्रस्तुत लेखक को यह बात मान्य नहीं है। यह अवलोकनीय है कि प्रो० आर० डी० कर्मकर ने 'ब्रह्मसूत्रपदैः' से सम्बन्धित लोकमान्य तिलक की व्याख्या नहीं ठीक समझी है (ए० बी० ओ० आर० आई०, जिल्द ३, पृ० ७३-७६) और कहा है कि गीता (१३।४) में 'ब्रह्मसूत्रपदैः' शब्द बादरायण के सूत्रों की ओर संकेत नहीं करता, प्रत्युत वह अन्य समान ग्रन्थों की ओर निर्देश करता है। किन्तु प्रो० कर्मकर महोदय इसके आगे और कुछ नहीं कहते।

पूर्व मीमांसा सूत्रों में आलेखन (६।५।१७), ऐतिशायन (३।२।४४, ३।४।२४, ६।१।६), कामुकायन (११।१।५८ एवं ६३) एवं लाबुकायन (६।७।३७) के नाम आये हैं, जो वेदान्त सूत्रों द्वारा उल्लिखित नहीं हुए हैं। दूसरी ओर वे० सू० ने औडुलोमि (१।४।२१, ३।४।४५, ४।४।६) एवं काशकृत्स्न (१।४।२२) के नाम लिये हैं, जो पू० मी० सू० में नहीं आये हैं। पू० मी० सू० ने बहुत कम कुछ आचार्यों की ओर 'एके' कहकर निर्देश किया है (यथा--१।१।२७ एवं ६।३।४); वे० सू० में 'एके' १।४।६ एवं १८, २।३।४३, ३।२।२ एवं १३, ३।४।१५, ४।२।१३ में तथा 'एकेषाम्' १।४।१३, ४।१।१७, ४।२।१३ में तथा 'अन्ये' ३।३।२७ में आये हैं और इन सभी संकेतों में वेद या उपनिषदों के सभी पाठान्तरों की ओर निर्देश हैं, किन्तु ३।४।४२ में 'एके' 'आचार्यों' की ओर तथा ३।३।५३ में 'एके' 'लोकायतिकों' की ओर संकेत करता है। व्यास या पाराशर्य पूर्वमीमांसा-सूत्र एवं वेदान्तसूत्र में नाम से व्यक्त नहीं हैं।

बादरि के विषय में विचार कर लेना आवश्यक है। पू० मी० सू० ने बादरायण एवं जैमिनि को पाँच बार उल्लिखित किया है, किन्तु उसने एवं वे० सू० ने बादरि को चार बार उल्लिखित किया है। बादरि ने जैमिनि से दो महत्त्वपूर्ण बातों पर विरोध प्रकट किया है, यथा--'शेष' शब्द के अर्थ अथवा उपलक्षण के विषय में तथा इस महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोण उपस्थित करने में कि शूद्रों को भी अग्निहोत्र एवं अन्य वैदिक कृत्यों के सम्पादन करने का अधिकार है। वे० सू० में बादरि को वैश्वानर की उपासना (छान्दोग्योपनिषद् ५।१८।१-२) के विषय में जैमिनि से विरोध करते हुए दर्शाया गया है तथा 'स एनान् ब्रह्म गमयति' (छा० उप० ४।१५।५) पर तथा वे० सू० (४।४।१०) में बादरि को मुक्त आत्मा के विषय में जैमिनि के विरोध में कहते हुए प्रकट किया गया है। उपर्युक्त बातों से प्रकट होता है कि पू० मी० सू० एवं वे० सू० के समक्ष बादरि का कोई ग्रन्थ उपस्थित था, जिसमें पूर्वमीमांसा तथा वेदान्त-सम्बन्धी बातें लिखित थीं। आलेखन एवं आश्मरथ्य को आपस्तम्बश्रौतसूत्र में कम-से-कम १६ बार उद्धृत किया गया है और यज्ञों के कृत्यों पर उनके मतों का प्रकाशन किया गया है और विरोध भी प्रकट किया गया है तथा आप० श्रौ० सू० में केवल इन्हीं दो लेखकों की बातों की ओर संकेत है। यह सम्भव है कि आत्रेय, आश्मरथ्य एवं कार्ष्णाजिनि ने पूर्वमीमांसा एवं वेदान्त पर किसी ग्रन्थ या ग्रन्थों का प्रणयन किया हो और औडुलोमि (वे० सू० द्वारा तीन बार उद्धृत) एवं काशकृत्स्न ने वेदान्त पर ग्रन्थ लिखे हों।

उपर्युक्त विवेचन से यह सत्याभासक-सा प्रतीत होता है कि गीता (१३।४) का 'ब्रह्मसूत्रपदैः' शब्द बादरि, औडुलोमि, आश्मरथ्य एवं एक या दो अन्य लेखकों के सूत्र-ग्रन्थों की ओर निर्देश करता है, न कि उपस्थित ब्रह्म-सूत्र की ओर। ऐसा कोई नहीं कह सकता कि बादरि एवं आत्रेय 'ऋषि' नहीं हैं। शबर ने आत्रेय को मुनि कहा है (पूर्वमीमांसासूत्र, ६।१।२६ की व्याख्या में)।

यह स्मरणीय है कि जैमिनि, बादरि एवं बादरायण गोत्रनाम हैं। व्यास गोत्रनाम नहीं है और पाराशर्य पराशरों के दल के तीन प्रवरों में एक प्रवर है।[13]

आप० श्रौ० सू० (२४।८।१०, गार्बे द्वारा सम्पादित) एवं प्रवरमञ्जरी (छेन्तसलाव, मैसूर, १९००, पृ० ६१) ने बादरायण को विष्णुवृद्ध गोत्र का एक उपवर्ग (उपदल) माना है, किन्तु प्रवरमञ्जरी ने पृ० ३८ पर जैमिनि को यास्क, वाधूल, मौन एवं अन्यों के साथ 'भार्गव-वैतहव्य-सावतसेति' प्रवर वाला माना है तथा पृ० १०८

१३. अथ पाराशराणां त्र्यार्षेयः। वसिष्ठ-शाक्त्य-पाराशर्येति। पराशरवच्छक्तिवद्वसिष्ठवदिति। आप० श्रौ० सू० (२४।१०।६)।

एवं १७८ पर बादरि (या बादरि) को पराशरों का एक उपविभाग माना है। अतः यह सम्भव था कि कतिपय व्यक्ति शतियों के उपरान्त भी जैमिनि या बादरायण के नाम ग्रहण कर सकते थे।

शंकराचार्य के अत्यन्त प्रसिद्ध शिष्य सुरेश्वराचार्य की 'नैष्कर्म्यसिद्धि' की उक्तियों का उत्तर देना भी आवश्यक है। सुरेश्वराचार्य का कथन है कि जैमिनि का यह मन्तव्य नहीं है कि वेद के सभी वचन यज्ञिय कृत्यों से सम्बन्धित हैं; यदि वे वास्तव में वैसा विश्वास करते तो उन्होंने उस 'शारीरकसूत्र' का प्रणयन न किया होता, जिसका आरम्भ 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' एवं 'जन्माद्यस्य यतः' से होता है और जिसमें सभी वेदान्तवचनों के अर्थ के विषय में खोज की बात पायी जाती है, जिसमें ब्रह्म के रूप का स्पष्ट निरूपण है और है गंभीर तर्क के साथ अपने शब्द का समर्थन, किन्तु उन्होंने शारीरक शास्त्र का प्रणयन अवश्य किया। इस वचन (उक्ति) का तात्पर्य यह है कि जैमिनि ने ब्रह्म के ज्ञान एवं खोज पर शारीरक-सूत्र नामक एक सूत्र-ग्रन्थ लिखा, जिसका आरम्भ उन्हीं दो सूत्रों से हुआ जो विद्यमान वेदान्तसूत्र के प्रथम दो सूत्र कहे जाते हैं।[१४] कर्नल जैकब ने नैष्कर्म्यसिद्धि के प्रथम संस्करण की भूमिका (पृ० ३) में ऐसा विचार व्यक्त किया है कि नैष्कर्म्यसिद्धि ने जैमिनि को वेदान्तदर्शन का लेखक माना है। किन्तु उनका कथन त्रुटिपूर्ण है, क्योंकि सुरेश्वर ने जो कुछ कहा है वह यही है कि जैमिनि ने कर्ममीमांसा पर न केवल एक सूत्र-ग्रन्थ लिखा प्रत्युत उन्होंने ब्रह्ममीमांसा के सिद्धान्तों पर शारीरक-सूत्र नामक एक ग्रन्थ भी लिखा, किन्तु उन्होंने (सुरेश्वर ने) यह नहीं कहा है कि वेदान्तसूत्र का सम्पूर्ण ग्रन्थ जैमिनि द्वारा लिखित है। डा० बेल्वाल्कर ने (देखिए वेदान्त दर्शन पर गोपाल वसु मल्लिक लेक्चर्स, पृ० १४१-१४२) दो सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं, यथा—(१) छान्दोग्योपनिषद् एवं बृहदारण्यकोपनिषद् तथा अन्य उपनिषदों की प्रत्येक शाखा के लिए पृथक्-पृथक् ब्रह्म-सूत्र लिखित थे, एवं (२) जैमिनि का शारीरक सूत्र इसमें सम्मिलित कर लिया गया और वह विद्यमान ब्रह्मसूत्र के विषयों में प्रमुख स्थान रखता था। किन्तु प्रस्तुत लेखक इन दोनों सिद्धान्तों का विरोध करता है। यहाँ पर अति विस्तार के साथ कुछ कहा नहीं जा सकता, किन्तु इतना कह देना आवश्यक है कि डा० बेल्वाल्कर के कथन के पीछे कोई साक्ष्य नहीं है। यदि 'जन्माद्यस्य यतः' जैमिनि (जो महाभारत एवं पुराणों द्वारा विशेष रूप से सामवेदी घोषित हैं) का ही एक सूत्र है तो वह सूत्र भाष्यकारों द्वारा तैत्तिरीयोपनिषद् के वचन पर आधारित क्यों माना जाता है? छान्दोग्योपनिषद् एवं बृहदारण्यकोपनिषद् में प्रत्येक, अन्य आठ उपनिषदों (दस प्रमुख उपनिषदों में) से विस्तार में दुगुनी हैं और तैत्तिरीयोपनिषद् से ६ गुनी बड़ी हैं। अतः ये दोनों उपनिषदें विद्यमान ब्रह्मसूत्र में अधिक बार चर्चा का विषय रही हैं। दूसरा सिद्धान्त तो मात्र अनुमान है। हमें इस बात की पुष्टि के लिए कोई साक्ष्य नहीं प्राप्त होता कि वेदान्तसूत्र का प्रमुख भाग जैमिनि के शारीरक सूत्र से उठाकर रख लिया गया है, जब कि हमें वह (जैमिनि का शारीरक सूत्र) अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है और न उससे कोई अन्य सूत्र (ऊपर उद्धृत दो सूत्रों के अतिरिक्त) कहीं किसी ग्रन्थ में उद्धृत हुए हैं।

अब हम कुछ उन सूत्रों की चर्चा करेंगे जिनमें 'तदुक्तम्' शब्द आये हैं। कुल आठ सूत्रों में ये शब्द आये

१४. यतो न जैमिनेरयमभिप्राय आम्नायः सर्व एव क्रियार्थक इति। यदि ह्ययमभिप्रायोऽभविष्यद् अथातो ब्रह्मजिज्ञासा, जन्माद्यस्य यतः—इत्येवमादिब्रह्मवस्तुस्वरूपमात्रयाथात्म्यप्रकाशनपरं गम्भीरन्यायसन्दृब्धं सर्ववेदान्तार्थमीमांसनं श्रीमच्छारीरकं नासूत्रयिष्यत्, असूत्रयच्च। तस्माज्जैमिनेरेवायमभिप्रायो यथैव विधिवाक्यानां स्वार्थमात्रे प्रामाण्यमेवमैकात्म्यवाक्यानामप्यनधिगतवस्तुपरिच्छेदसाम्यादिति। नैष्कर्म्यसिद्धि, पृ० ५४–५५ (श्री कर्नल जैकब द्वारा सम्पादित, बी० एस० एस०, १९०६)।

हैं। शंकराचार्य का कथन है कि वे० सू० (१।३।२१, २।१।३१, २।१।३१, ३।३।१८) में जहाँ 'तदुक्तम्' आया है वहाँ स्वयं वे० सू० के पूर्ववर्ती सूत्र की ओर ही निर्देश किया गया है। वे० सू० (३।३।२६, ३।३।३३, ३।३।५० एवं ३।४।४२) में शंकराचार्य का कथन है कि ये सूत्र क्रम से पू० मी० सू० (१०।८।१५, ३।३।८, ११।४।१० एवं १।३।८-९) की ओर तथा वे० सू० (३।३।४३) संकर्षकाण्ड की ओर संकेत करते हैं। अन्य आचार्य शंकराचार्य से तथा आपस में इस विषय में असहमति व्यक्त करते हैं। वल्लभाचार्य का, जो भागवत को वेद के समान प्रामाणिक मानते हैं और कहीं-कहीं वेद से अति उच्च ठहराते हैं, कथन है कि वे० सू० (३।३।३३, ३।३।५० एवं ३।४।४२) में आये 'तदुक्तम्' शब्द भागवत पुराण के वचनों की ओर संकेत करते हैं। वे० सू० (३।३।४४) में पू० मी० सू० (३।३।१४) के शब्दों एवं सिद्धान्तों की ध्वनि टपकती है।[१५] 'तदुक्तम्' का अर्थ सामान्यतः सभी स्थलों पर एक ही होना चाहिए, अर्थात् इन शब्दों को सदैव पू० मी० सू० या वे० सू० की ओर ही संकेत करते हुए समझा जाना चाहिए। किन्तु इन विकल्पों में किसी एक को पूर्णतया स्वीकार करने के लिए कोई आचार्य सन्नद्ध नहीं होते। एक अन्य बात भी विचारणीय है कि विद्यमान पू० मी० सू० में 'तदुक्तम्' बहुत कम प्रयुक्त हुआ है, जैसा कि ५।३।९ में जहाँ यह ५।१।१९ की ओर संकेत करता है।[१६] पू० मी० सू० ने यद्यपि बादरायण को पाँच बार उल्लिखित किया है, तथापि यह कहीं भी वे० सू० द्वारा प्रभावित हुआ दृष्टिगोचर नहीं होता। दूसरी ओर न केवल वे० सू० के कुछ सूत्रों में 'तदुक्तम्' शब्द पू० मी० सू० की ओर संकेत करते हुए दृष्टिगत होते हैं, प्रत्युत वे० सू० ने कुछ पूर्वमीमांसा के शब्दों का बहुधा प्रयोग किया है, यथा—अर्थवाद, प्रकरण, लिंग, विधि, शेष, तथा शुद्ध रूप से पूर्वमीमांसा विषयों का प्रयोग किया है, यथा—३।३।२६ (कुशाछन्दस्स्तुत्युपगानवत्), ३।३।३३ (औपसदवत्), ३।४।२० (धारणवत्), ४।४।१२ (द्वादशाहवत्)। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि विद्यमान वेदान्तसूत्र अधिक अंश में पू० मी० सू० की पूर्वकल्पना करता है और पू० मी० सू० किसी रूप में वेदान्त-सूत्र से प्रभावित होता नहीं प्रकट होता।

अब प्रस्तुत लेखक व्यास, जैमिनि, बादरायण, पू० मी० सू० एवं वे० सू० के विषय के विभिन्न सूत्रों को एकत्र कर अधोलिखित निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न करता है—

(१) महाभारत एवं कुछ पुराणों का कथन है कि जैमिनि पाराशर्य व्यास के शिष्य थे। किन्तु यह कथन जैमिनि के लिए सामवेद-ज्ञान के प्रेषण के सम्बन्ध में ही है और इसे उसी विषय तक सीमित रखना चाहिए (अन्य विषयों से सम्बन्धित नहीं करना चाहिए), जैसा कि मीमांसा का सिद्धान्त "यावद्वचनं वाचनिकम्" कहता है। हमें जैमिनीय ब्राह्मण, जैमिनीय श्रौत सूत्र एवं गृह्य सूत्र की उपलब्धि हुई है। जैमिनि को सामवेद का ज्ञान दिया गया, ऐसी परम्परा प्रचलित है, जिसे त्रुटिपूर्ण सिद्ध करने के लिए हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है। किन्तु इस परम्परा को पू० मी० सू० एवं वे० सू० के लेखकों तक बढ़ाने के लिए हमारे पास कोई साक्ष्य नहीं है। वल्लभाचार्य जैसे पश्चात्कालीन मध्यकालिक लेखकों ने, जिन्हें इतिहास, कालनिर्णय आदि का ज्ञान नहीं था और जो अपने प्रिय

१५. मिलाइए 'लिंगभूयस्त्वात्तद्धि बलीयस्तदपि', वे० सू० (३।३।४४) एवं 'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरण-स्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्', पू० मी० सू० (३।३।१४)।

१६. अन्ते वा तदुक्तम्। पू० मी० सू० (५।३।९)। यह ५।१।१९ (अन्ते तु बादरायणस्तेषां प्रधान-शब्दत्वात्) की ओर निर्देश करता है। पू० मी० सू० (९।२।२) में 'तदुक्तदोषम्' आया है जो पू० मी० सू० (७।२।१३) की ओर निर्देश करता है।

लेखकों एवं ग्रन्थों को गौरव देने में अतिशयोक्ति का सहारा लेते हैं, सामवेद के विषय की परम्परा को पू० मी० सू० एवं वे० सू० के लेखकों तक बढ़ा दिया है। उपर्युक्त विवेचन से यह प्रकट होता है कि प्रस्तुत पू० मी० सू० प्रस्तुत वे० सू० से पुराना है तथा पू० मी० सू०का लेखक वे० सू० के लेखक का शिष्य नहीं हो सकता। मध्यकालीन लेखकों ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि जैमिनि एवं बादरायण गोत्रनाम हैं, वे केवल व्यक्तिनाम ही नहीं हैं।

(२) पाणिनि से यह प्रकट है कि उनके पूर्व पाराशर्य एवं कर्मन्द द्वारा लिखित दो भिक्षु-सूत्र थे। पतञ्जलि ने काशकृत्स्न द्वारा लिखित एक मीमांसा-ग्रन्थ का उल्लेख किया है। अतः ईसा से कई शतियों पूर्व ही भिक्षुओं एवं मीमांसा पर सूत्र-ग्रन्थ प्रणीत हो चुके थे।

(३) प्रस्तुत वेदान्तसूत्र में उल्लिखित जैमिनि के मतों की जाँच से प्रतीत होता है कि जैमिनि ने वेदान्त पर भी कोई ग्रन्थ लिखा था। नैष्कर्म्यसिद्धि में पाये गये कुछ उल्लेखों से इस बात की पुष्टि होती है। इस बात को सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता कि ये जैमिनि बादरायण या पाराशर्य के शिष्य थे। इसके विपरीत वे० सू० (३।४।४०) में 'जैमिनेरपि' नामक शब्द प्रस्तुत वे० सू० के लेखक द्वारा जैमिनि के समर्थन के प्रति प्रकट किये गये आभार-प्रदर्शन की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं। प्रस्तुत वे० सू० का लेखक जैमिनि के मतों के प्रति विशिष्ट सम्मान व्यक्त करता है, क्योंकि उसने अन्य आचार्यों (जिनमें बादरायण भी सम्मिलित हैं) की अपेक्षा जैमिनि के उद्धरण बहुत बार दिये हैं। ऐसा मान लेना आवश्यक हो जाता है कि जैमिनि नाम के दो लेखक थे, जिनमें एक ने पूर्वमीमांसा एवं वेदान्त जैसे विषयों पर लिखा था और दूसरे ने प्रस्तुत (विद्यमान) पू० मी० सू० का प्रणयन किया था। वह जैमिनि विद्यमान पू० मी० सू० के लेखक जैमिनि से भिन्न था।

(४) यह बात कि पू० मी० सू० ने बादरायण को पाँच बार उल्लिखित किया है, जिनमें चार बार के उल्लेख केवल यज्ञिय मामलों के विषय में ही हैं, तथा यह बात कि वे० सू० ने वेदान्त के मामलों में बादरायण का उल्लेख नौ बार किया है, यह अनुमान निकालने के लिए हमें प्रेरित करती है कि बादरायण ने कोई ऐसा ग्रन्थ अवश्य लिखा था जिसमें पूर्वमीमांसा एवं वेदान्त के विषय थे। वह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। यह बादरायण उस बादरायण से भिन्न है जिसे शंकराचार्य आदि ने प्रस्तुत वे० सू० का लेखक माना है। अतः बादरायण नाम के दो लेखक थे।

(५) शंकराचार्य, भास्कर एवं अन्य आरम्भिक भाष्यकारों के मत से प्रस्तुत वे० सू० के प्रणेता बादरायण ही थे। किन्तु ९ वीं शती के उपरान्त बादरायण तथा वेदव्यास के नामों में भ्रान्ति उत्पन्न हो गयी।

(६) जहाँ तक पूर्वमीमांसासूत्र एवं वेदान्तसूत्र का सम्बन्ध है, जैमिनि केवल दो ही हैं (तीन नहीं, जैसा कि प्रो० शास्त्री का कथन है (इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, जिल्द ५०, पृ० १७२) और बादरायण भी दो हैं।

यहाँ पर हमारा प्रमुख सम्बन्ध केवल उन पूर्वमीमांसा-सिद्धान्तों एवं प्रणाली से है जिनका धर्मशास्त्र के ग्रन्थों पर प्रभाव पड़ा है। यहाँ इतना कह देना आवश्यक है कि जैमिनि के पश्चात् सभी पूर्वमीमांसा-ग्रन्थ स्मृतियों एवं धर्मशास्त्र पर निर्भर रहे हैं। दो-एक उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं। पू० मी० सू० (१।३) ने स्मृतियों की प्रामाणिकता की सीमाओं का उल्लेख किया है। पू० मी० सू० (६।७।६) ने 'धर्मशास्त्र' शब्द का उल्लेख किया है। पू० मी० सू० स्पष्ट रूप से अपने प्रमेयों (सिद्धान्तों) के समर्थन में स्मृति का सहारा लेता है, यथा—१२।४।४३ में। पू० मी० सू० (६।१।१२) पर शबर ने एक स्मृति-श्लोक उद्धृत किया है, जो सर्वथा मनु (८।४।६) एवं आदिपर्व (८२।२३) का श्लोक है। शबर ने अपने तर्कों की व्याख्या एवं समर्थन में बहुधा धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों को उद्धृत किया है, यथा—पू० मी० सू० (६।१।१०) पर आप०

धर्मसूत्र (२।६।१३।११), पू० मी० सू० (६।१।१५) पर व्याख्या करते हुए शबर ने लिखा है कि स्मृतियों में वर्णित कन्या-विक्रय शिष्टों द्वारा अमान्य ठहराया गया है।[१७] उपर्युक्त प्रमेय के समर्थन में अन्य उदाहरण देना आवश्यक नहीं है। और देखिए जे० बी० बी० आर० ए० एस०, जिल्द २६ (ओल्ड सीरीज, १९२४, पृ० ८३-९८) एवं वही न्यू सीरीज, जिल्द १ एवं २, (१९२५, पृ० ९५-१०२)।

अब हम पूर्वमीमांसासूत्र पर ही चर्चा करेंगे। प्रत्येक शास्त्र के विषय में चार **अनुबन्ध** (अनिवार्य तत्त्व) ठहराये गये हैं। यथा—**विषय** (जिसका विवेचन किया जाता है), **प्रयोजन, सम्बन्ध** (प्रयोजन से शास्त्र का सम्बन्ध) एवं **अधिकारी** (वह व्यक्ति जो शास्त्राध्ययन के लिए योग्य या समर्थ हो)।[१८] श्लोकवार्तिक में आया है—'जब तक किसी शास्त्र या कर्म का प्रयोजन घोषित नहीं होता तब तक उसे कोई ग्रहण नहीं करता' (न तो पढ़ता या करता है)।[१९] अतः पू० मी० सू० का प्रथम सूत्र **विषय** को उपस्थित करता है और शास्त्र का **प्रयोजन** व्यक्त करता है।[२०] उस सूत्र का कथन है—'अब यहाँ से धर्म की जिज्ञासा एवं विचार करना चाहिए। इस शास्त्र का **प्रयोजन** से सम्बन्ध **साध्य** तथा **साधन** का है, अर्थात् यह शास्त्र धर्म-ज्ञान की प्राप्ति का साधन है।' अतः जैसा कि शास्त्रदीपिका (पू० मी० सू० पर) का कथन है, इस शास्त्र का उपर्युक्त विषय है धर्म, वेदार्थ नहीं (तस्माद् धर्म इत्येव शास्त्रविषयो न वेदार्थ इति)। अधिकारी वही है जिसने वेद का या इसके एक अंश का अध्ययन शुरू से किया हो; पू० मी० सू० के छठे अध्याय में इसका विशद वर्णन है।

१७. 'विक्रयो हि श्रूयते शतमतिरथं दुहितृमते दद्यात्, आर्षे गोमिथुनम्—इति' (६।१।१०) पर एवं 'स्मार्तं च श्रुतिविरुद्धं विक्रयं नानुमन्यन्ते' (पू० मी० सू० ६।१।१५ पर) शबर। देखिए आप० ध० सू० (२।६।१३।११) जहाँ प्रथम वाक्य आया है और देखिए मनु (३।५३) जहाँ 'आर्षे गोमिथुनं शुल्कम्' आया है। पू० मी० सू० (६।८।१८) पर शबर ने 'यथैव स्मृतिः धर्मे....नातिचरितव्येति, धर्मप्रजासम्पन्ने दारे नान्यां कुर्वीतेति च। एवमिदमपि स्मर्यत एव, अन्यतरापायेऽन्यां कुर्वीतेति' उद्धृत किया है। आप० ध० (२।५।११।१२-१३) में दो सूत्र आये हैं, यथा—'धर्मप्रजा...कुर्वीत' एवं 'अन्यत...कुर्वीत' (थोड़ा सा अन्तर है)।

१८. पूर्वमीमांसा के विषय में चार अनुबन्ध संक्षिप्त रूप में यों हैं—'शास्त्रे धर्मादिविषयः, तदवबोधः प्रयोजनं, त्रैवर्णिकोऽधिकारी, विषयविषयिभावादयः सम्बन्धाः।'

१९. सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वापि कस्यचित्। यावत्प्रयोजनं नोक्तं तावत्तत्केन गृह्यते॥ श्लोकवा० (प्रतिज्ञासूत्र) १२, बालक्रीडा (याज्ञ० १।१, पृ०—२) द्वारा उद्धृत।

२०. अथातो धर्मजिज्ञासा सूत्रमाद्यमिदं कृतम्। धर्माख्यं विषयं वक्तुं मीमांसायाः प्रयोजनम्॥ श्लोक-वार्तिक (प्रतिज्ञासूत्र) ११। अथ का अर्थ है आनन्तर्य अर्थात् गुरु से वेदाध्ययन के उपरान्त, जो पहले ही हो चुका है। शास्त्रदीपिका में आया है (पृ० १२)—'तत्सिद्धमध्ययनादनन्तरं धर्मजिज्ञासा कर्तव्येति। सा चतुर्विधा धर्मस्वरूप-प्रमाण-साधन-फलैः।' प्रतिज्ञासूत्र के श्लोक १८ पर न्यायरत्नाकर की टीका यों है—'योयं पूर्वोक्तेन प्रयोजनेन सह शास्त्रस्य साध्यसाधन-सम्बन्धः स एव शास्त्रारम्भहेतुः। इस प्रसिद्ध कथन से मिलाइए: 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते' (श्लोकवा०, सम्बन्धाक्षेपपरिहार, श्लोक ५५)। प्राभाकर सम्प्रदाय के लेखक गण कहते हैं कि पू० मी० सू० (१।१।२) में 'धर्म' शब्द का अर्थ है 'वेदार्थ'। देखिए बृहती पर ऋजु-विमलापञ्जिका (पृ० २०)—'चोदनासूत्रेण चोदनालक्षणः कार्यरूप एव वेदार्थः, न सिद्धरूप इति प्रतिज्ञातम्। तदनेन भाष्येण व्याख्यायते। धर्मशब्दश्च वेदार्थमात्रपरः।'

मीमांसासूत्र यह नहीं बताता कि अर्थ जानने के पूर्व कितना वेदाध्ययन किया जाना चाहिए। इस विषय में स्मृतियाँ प्रकाश डालती हैं। गौतम (२।५१-५२) ने कई विकल्प दिये हैं—यथा—एक वेद के लिए १२ वर्ष या चार वेदों में प्रत्येक के लिए १२ वर्ष अथवा जब तक एक वेद कण्ठस्थ न हो जाय। मनु० (३।१-२) में ऐसी ही बातें हैं, यथा—गुरु के चरणों में ३६ वर्षों तक वेदाध्ययन करना चाहिए या १८ वर्षों तक या ९ वर्षों तक अथवा जब तक वेद स्मृतिपटल पर अंकित न हो जाय। इस प्रकार तीन वेदों या एक वेद पढ़ने का विकल्प दिया हुआ है, याज्ञ० (१।३६) में आया है कि वेदाध्ययनकाल प्रत्येक वेद के लिए १२ वर्षों का होता है, या ५ वर्षों का या कुछ ऋषियों के मत से उतने काल तक जब तक कि छात्र एक वेद या उससे अधिक स्मरण न कर ले। किन्तु ये निर्देश बहुत-से ब्राह्मणों, क्षत्रियों एवं वैश्यों के लिए केवल ध्वनियाँ या शब्द मात्र रहे होंगे। इतना ही नहीं, मीमांसा का कथन है कि तीनों वर्णों के व्यक्ति को न केवल वेदाध्ययन करना चाहिए, प्रत्युत उसे उसका अर्थ भी समझना चाहिए। पू० मी० सू० (१।१।१) पर शबर का कथन है कि श्रद्धास्पद याज्ञिक लोग ऐसा घोषित नहीं करते कि केवल वेदाध्ययन मात्र से अर्थात् केवल वेद को स्मरण कर लेने से फल की प्राप्ति होती है, जहाँ ऐसा वचन आया है कि वेद स्मरण कर लेने से जो फल मिलता है वहाँ ऐसा कथन अर्थवाद (अर्थात् केवल वेदाध्ययन की प्रशंसा) मात्र है। देखिए तैत्तिरीयारण्यक (२।१५) [२१], जहाँ ऐसा आया है—'जो जो यज्ञ के विषय में वैदिक वचन का स्मरण करता है, उसका फल यह है कि मानो वह यज्ञ ही कर रहा हो, और वह अग्नि, वायु, सूर्य से सायुज्य प्राप्त कर लेता है।' तै० उप० (१।९) ने **स्वाध्याय** (वेद को धारण करना) एवं **प्रवचन** (वेद को पढ़ाना या उसकी व्याख्या करना) को सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कहा है और दो ऋषियों के मतों का उद्घाटन करने के उपरान्त नाक मौद्गल्य का मत दिया है कि स्वाध्याय एवं प्रवचन अति महत्त्वपूर्ण हैं और उनको अपनाना चाहिए तथा उनके लिए प्रयत्न करना चाहिए; यद्यपि ऋत, सत्य, दम, शम, अग्निहोत्र, आतिथ्य आदि उनके साथ जोड़े जा सकते हैं, क्योंकि ये दोनों तप कहे जाते हैं। पू० मी० सू० (३।८।१८) में आया है (ज्ञाते च वाचनं न ह्यविद्वान विहितोऽस्ति) कि केवल वही व्यक्ति जो वेद जानता है यज्ञों के सम्पादन का अधिकारी है। शबर ने एक प्रश्न उठाया है कि वैदिक यज्ञ करने के योग्य होने के लिए किसी व्यक्ति को कितना वेद जानना चाहिए और स्वयं उत्तर दिया है कि उसे उतना वेद स्मरण होना चाहिए जिससे वह अपने संकल्पित यज्ञ को पूर्ण कर सके। इसी सूत्र पर तन्त्रवार्तिक ने इतना जोड़ा है कि ब्रह्मचर्य काल में सम्पूर्ण वेद का अध्ययन करना चाहिए, किन्तु यदि कोई सम्पूर्ण वेद को स्मरण करने में असमर्थ हो, किन्तु किसी प्रकार अग्निहोत्र एवं दर्शपूर्णमास के अंश को स्मरण कर लेता है तो ऐसा नहीं कहा जा सकता कि उसे इन दोनों के सम्पादन का अधिकार नहीं है। वेद को स्मृति में धारण करना और उसके अर्थ को जानना बहुत बड़ा कार्य था। बहुत-से वैदिक मंत्र तीन प्रकार के प्रयोग वाले होते थे, यथा—यज्ञों के लिए (अधियज्ञ), देवों के लिए (अधिदैवत या अधिदैव) एवं अध्यात्म के लिए अर्थात् आध्यात्मिक या तात्त्विक अर्थ के लिए। देखिए निर्णयसागर प्रेस संस्करण का ३।१२ (जहाँ ऋ० १।१६४।२१ अधिदैवत एवं अध्यात्म ढंग से व्याख्यायित

२१. तस्मात्स्वाधायोऽध्येतव्यो यं यं क्रतुमधीते तेन तेनास्येष्टं भवत्यग्नेर्वायोरादित्यस्य सायुज्यं गच्छति। तै० आ० (२।१५); ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च . . .सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः। तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः। तद्धि तपः तद्धि तपः। तै० उप० (१।९)।

है), १०।२६ (जहाँ ऋ० १०।८२।२ अधिदैवत एवं अध्यात्म ढंग से निरूपित है), ११।४ (जहाँ ऋ० १०।८५।३ अधियज्ञ एवं अधिदैवत ढंग से व्याख्यायित हैं), १२।३७ (जहाँ वाज०संहिता ३४।५५ अधिदैवत एवं अध्यात्म ढंग से निरूपित हैं); १२।३८ (जहाँ अथर्व० १०।८।६ अधिदैवत एवं अध्यात्म ढंग से व्याख्यायित हैं। मनु (१।२३) एवं वेदांगज्योतिष का कथन है कि तीन वेदों के मन्त्र अग्नि, वायु एवं सूर्य से यज्ञों के सम्पादन के लिए लिये गये थे। विश्वरूप (याज्ञ० १।५१) ने 'वेदं व्रतानि वा पारं नीत्वा' की व्याख्या वेद को स्मृतिपटल में धारित करने एवं उसके अर्थ को पूर्णरूपेण समझने के अर्थ में की है न कि केवल स्मृतिपटल में धारित करने के अर्थ में। दक्ष का कथन है कि वेदाभ्यास (वेदाध्ययन) में पाँच बातें होती हैं, यथा—**वेदस्वीकरण** (पहले स्मृतिपटल पर धारण करना अर्थात् याद कर लेना), **विचार** (उस पर विचार करना); **अभ्यसन** (बार-बार दुहराना), **जप** एवं **दान** (शिष्य को उसका ज्ञान देना)।[22] इन आदर्शों का पालन थोड़े-से लोग ही कर पाते हैं, अधिक ब्राह्मण लोग सामान्यतः एक वेद या उसके किसी एक अंश को ही स्मरण कर पाते थे।

सभी दर्शनों में पूर्वमीमांसाशास्त्र अत्यन्त विशद है।[23] शास्त्र वही है जो नित्य शब्दों (वेद) द्वारा या मनुष्यों द्वारा प्रणीत ग्रन्थों के रूप में (मानवीय) कर्मों (प्रवृत्तियों) एवं संयमनों (निवृत्तियों) का नियमन करता है और उन्हें घोषित करता है।[24] पू० मी० में २७०० सूत्र तथा ९०० से अधिक अधिकरण (जो विचारणीय विषयों के निष्कर्ष या **न्याय** कहलाते हैं) पाये जाते हैं। कुछ सूत्र बार-बार आये हैं, यथा—'लिंगदर्शनाच्च' (यह ३० बार आया है) एवं 'तथा चान्यार्थदर्शनम्' (जो २४ बार आया है। अधिकरण में पाँच विषय होते हैं **विषय, विशय** (सन्देह), **संगीत, पूर्वपक्ष** एवं **सिद्धान्त** (अन्तिम निर्णय)।[25] **सूत्र** को **अल्पाक्षर** (कम अक्षरों वाला अर्थात् संक्षिप्त), **असंदिग्ध** (अर्थ में स्पष्ट), **सार वाला** (जिसका कुछ सार हो); **विश्वतोमुख** (अर्थात् सभी दिशाओं वाला, जिसका प्रयोग विशद हो) **अस्तोभवाला** (अर्थात् बिना व्यवधान

२२. वेदस्य पारनयनमर्थतो ग्रन्थतश्च स्वीकरण न ग्रन्थत एव। विश्वरूप (याज्ञ० १।५१)। वेदस्वीकरणं पूर्वं विचारोऽभ्यसनं जपः। तद्दानं चैव शिष्येभ्यो वेदाभ्यासो हि पञ्चधा॥ दक्षस्मृति (२।३४) मिताक्षरा द्वारा बिना नाम लिये याज्ञ० (३।३१०) की व्याख्या में उद्धृत, अपरार्क (पृ० १२६, याज्ञ० १।९९)।

२३. दर्शन बहुत से हैं, जैसा कि माधवाचार्य के सर्वदर्शन संग्रह से प्रकट है, किन्तु शास्त्रसम्मत एवं प्रसिद्ध दर्शन ६ हैं और वे जोड़े में विख्यात हैं, यथा—न्याय एवं वैशेषिक, सांख्य एवं योग, पूर्व मीमांसा एवं उत्तरमीमांसा। इण्डियन एण्टीक्वेरी (जिल्द ४५, पृ०, १–६ एवं १७–२६) में ऐसा कथित है कि सर्वदर्शनसंग्रह माधवाचार्य द्वारा, जो आगे चलकर विद्यारण्य हो गये, नहीं लिखा गया है, प्रत्युत वह सायण के पुत्र तथा माधवाचार्य के भतीजे द्वारा लिखा गया था।

२४. प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा। शासनाच्छंसनाच्चैव शास्त्रमित्यभिधीयते॥ भामती (वे० सू० १।१।३ पर) जो परा० मा० (२।२, पृ० २८८) द्वारा पुराण से उद्धृत किया गया है। प्रथम अर्धाली श्लोकवार्तिक (शब्द परिच्छेद, श्लोक ४) है।

२५. विषयो विशयश्चैवपूर्वपक्षस्तथोत्तरम्। निर्णयश्चेति पञ्चांग शास्त्रेधिकरणं स्मृतम॥ तिथितत्त्व (पृ० ९२) रामकृष्ण की अधिकरणकौमुदी एवं सर्वदर्शनकौमदी (पृ० ८९) द्वारा उद्धृत। कुछ लोगों ने 'निर्णश्चेति सिद्धान्त' ऐसा पढ़ा है। माधवाचार्य ऐसे लोगों ने पाँचों को यों कहा है:—विषय, विशय (या सन्देह), सङ्गति, पूर्वपक्ष एवं सिद्धान्त।

या रुकावट वाला) तथा **अनवद्य** (दोषरहित) होना चाहिए।[२६] भाष्य वह है जो सूत्र के अर्थ को वैसे वाक्यों में रखता है जो सूत्र के शब्दों के अनुगामी होते हैं और जो (भाष्य) स्वयं अपने से कुछ जोड़ता है (सूत्र के विषय की व्याख्या या निरूपण के लिए)। वार्तिक वह है जो यह बताता है कि सूत्र में क्या उल्लिखित है या क्या छूट गया है या क्या ठीक से नहीं कहा गया है। राजशेखर की काव्यमीमांसा (अध्याय २) में सूत्र, भाष्य, वृत्ति, टीका, कारिका आदि की परिभाषाएँ दी गयी हैं।

पूर्वमीमांसासूत्र ने प्रथम सूत्र में घोषित किया है कि व्यक्ति को वेदाध्ययन करना चाहिए। इसके उपरान्त उसमें आया है कि जब व्यक्ति ऐसा कर ले तो उसे धर्म के प्रति जिज्ञासा करनी चाहिए। इसलिए दूसरे सूत्र में धर्म की परिभाषा ही दी गयी है कि 'वह एक ऐसा कार्य है जो मनुष्य का सबसे अधिक हित करनेवाला है, वह एक प्रबोधकारी (वैदिक) वचन से विशेषता को प्राप्त है'। शबर ने व्याख्या की है कि **'चोदना'** शब्द का अर्थ है वह वाक्य जो व्यक्ति को कोई कार्य करने के लिए प्रेरित करता है या प्रबोधित करता है। अतः इससे प्रकट होता है कि धर्म के विषय में ज्ञान (प्रमाण) के साधन वैदिक वाक्य हैं और उसका यह तात्पर्य भी है कि चोदना द्वारा जो कुछ विशिष्टता को प्राप्त होता है या प्रकट किया जाता है वह धर्म है अर्थात् उससे धर्म का स्वरूप प्रकट किया जाता है। 'अर्थ' शब्द द्वारा वे कर्म पृथक किये जाते हैं (धर्म से उनका पृथकत्व) प्रकट किया जाता है जो वेद में उल्लिखित तो होते हैं, किन्तु उसके करने से बुरा फल प्राप्त होता है, यथा---ऐसा वाक्य 'जो व्यक्ति (किसी को हानि पहुँचाने के लिए) अभिचार करता है वह श्येन-याग कर सकता है'। यह धर्म नहीं है, अधर्म है, क्योंकि जादू को पापमय कह कर घृणित माना गया है। यह वैदिक वाक्य यह नहीं कहता कि हिंसा करनी चाहिए, यह केवल इतना ही कहता है कि श्येनयाग से पीड़ा होती है, अतः यदि कोई पीड़ा देना चाहे या हिंसा करना चाहे तो श्येन उसका साधन है।[२७]

श्लोकवार्तिक में आया है कि 'चोदना' 'उपदेश' एवं 'विधि' शब्द भाष्यकार शबर के अनुसार पर्याय हैं। 'विधि' शब्द का अर्थ बहुधा शास्त्रचोदना या शास्त्राज्ञा के रूप में किया जाता है, किन्तु सामान्य सम्भाषण

२६. अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम्। अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः (पद्मपाद की पञ्चपादिका, पृ० ८२, ब्रह्माण्ड २।३३।५८, वायु० ५६।१४२, युक्तिदीपिका, पृ० ३ जहाँ 'अस्तोभं' को 'अपुनरुक्तं' कहा गया है)। पञ्चपादिका ने इसे पौराणिक श्लोक के रूप में उद्धृत किया है और वक्तव्य दिया है---'सर्वतोमुखमिति नानार्थतामोह' और टीका में आया है: 'अर्थैकत्वादेकं वाक्यमिति न्यायस्य सूत्रान्यविषयत्वात् न वाक्य भेदः'।

२७. तस्माच्चोदनालक्षणोऽर्थः श्रेयस्करः: ...य एव श्रेयस्करः स धर्म शब्देनोच्यते'। उभयमिह चोदनया लक्ष्यते अर्थोऽनर्थश्चेति। कोऽर्थः, यो निःश्रेयसाय ज्योतिष्टोमादिः। कोऽनर्थः, यः प्रत्यवायाय श्येनो वज्र इषुरित्येवमादिः। तत्र अनर्थो धर्म उक्तो मा भूदिति अर्थग्रहणम्। कथं पुनरसावनर्थः। हिंसा हि सा हिंसा च प्रतिषिद्धेति। ... नैव श्येनादयः कर्त्तव्या विज्ञायन्ते। यो हिंसितुमिच्छेत् तस्यायमभ्युपाय इति तेषामुपदेशः। हि श्येनेनाभिचरन् यजेत इति हि समामनन्ति, न 'अभिचरितव्यम्' इति। शबर (१।१।२, अन्त में)। देखिए पू० मी० सू० (१।४।५ एवं ३।८।३६-३८) जहाँ श्येनयाग का उल्लेख है जो ज्योतिष्टोम का परिष्कृत रूप है और देखिए इषुयाग के लिए पू० मी० सू० (७।१।१३-१६, जहाँ ७।१।१३ पर शबर ने आप० श्रौ० (२२।७-१८, समानमितरच्छ्येनेन) को उद्धृत किया है।

में शास्त्राज्ञा या शासन की आज्ञा का अर्थ होता है किसी व्यक्ति को कुछ करने से रोकना।' अतः 'चोदना' या 'विधि' शब्द का प्रयोग यहाँ पर 'अनुशासन' या उपदेश के अर्थ में हुआ है। परिणामस्वरूप धर्म का तात्पर्य है ऐसा धार्मिक कर्म (याग) जो सर्वोच्च हित साधने वाला हो। ऋ० (१०-६०-१६) में यज्ञ को प्रथम (या प्राचीन) धर्म (यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्) कहा गया है और शबर ने पू० मी० सू० (१।१।२) के भाष्य में इस सिद्धान्त के प्रतिपादन में इसको उद्धृत किया है कि धर्म का अर्थ है 'याग'। वेदांगज्योतिष (श्लोक ३, वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः) में आया है कि वेदों का प्रवर्तन यज्ञ के लिए हुआ है। मिताक्षरा (याज्ञ० २।१३५) एवं दायतत्त्व (पृ० १७२) व्यवहारमयूख (पृ० १५७) ऐसे मध्यकालीन ग्रन्थों ने एक ऐसा श्लोक उद्धत किया है जो देवल या कात्यायन का कहा जाता है, जिसमें आया है कि सारी सम्पत्ति यज्ञों के लिए उत्पन्न की गयी है, अतः उसका व्यय धर्म के उपयोगों में होना चाहिए न कि नारियों, मूर्खों एवं अधार्मिकों के लिए।[२८]

शबर ने दूसरे सूत्र का परिचय यह कहकर दिया है कि धर्म क्या है (अर्थात् धर्म का स्वरूप क्या है), इसके लक्षण क्या हैं। इसकी प्राप्ति के साधन क्या हैं, इसकी प्राप्ति के त्रुटिपूर्ण साधन क्या हैं और इससे क्या प्राप्त होता है (अर्थात् इसके ज्ञान से क्या लाभ या फल मिलता है) और पुनः उत्तर दिया है कि दूसरे सूत्र ने प्रथम दो की (अर्थात् धर्म के स्वरूप एवं लक्षणों की) व्याख्या की है। इसका तात्पर्य यह है कि 'चोदनाएँ' (वैदिक प्रबोधक वचन) धर्म के विषय में प्रमाण (ज्ञान के साधन) हैं और वैदिक वचनों द्वारा जो व्यवस्थित होता है वह धर्म (धर्मस्वरूप) है। वेद एवं पूर्वमीमांसा शास्त्र के साथ धर्म का सम्बन्ध स्पष्ट एवं संक्षिप्त ढंग से कुमारिल के एक श्लोक से प्रकट हो जाता है[२९]। 'जब धर्म के सम्यक् ज्ञान के लिए विवेचन चलता रहता है तो इस प्रकार के ज्ञान के लिए वेद एक साधन होता है, विधि के विषय में मीमांसा पूर्ण सूचना प्रदान करेगी।' जिस प्रकार अच्छी दृष्टि रहने पर भी बिना प्रकाश के कुछ नहीं जाना जा सकता, उसी प्रकार बिना पू० मी० सू० की विधियों को जाने व्यक्ति धर्म का सम्यक् ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता। इसके उपरान्त जैमिनि ज्ञान (प्रमाण) के साधनों की जाँच करते हैं और घोषित करते हैं कि 'शब्द' (अर्थात् वेद) के अतिरिक्त धर्म के विषय में ज्ञान का कोई अन्य साधन नहीं है; धर्म का प्रत्यक्षीकरण नहीं हो सकता। वह **प्रत्यक्ष** नहीं है। अन्य सभी प्रमाण प्रत्यक्ष पर आधारित हैं अतः उनसे धर्म की परिभाषा या व्याख्या नहीं की जा सकती। कुमारिल के अनुसार प्रमाण ६ हैं—**प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति** एवं **अभाव**। प्रभाकर ने अन्तिम (अर्थात् अभाव) को प्रमाण नहीं माना है।

पू० मी० सू० के बारह अध्यायों के विषय यों हैं—(१) **प्रमाण**।(ज्ञान के साधन); (२) **भेद** (६ कारण जिनके आधार पर धार्मिक कृत्य एक-दूसरे से पृथक् माने जाते हैं और कुछ प्रमुख तथा कुछ सहायक

२८. यज्ञार्थं विहितं वृत्तं तस्मात्तद् विनियोजयेत्। स्थानेषु धर्मजुष्टेषु न स्त्रीमूर्खविधर्मिषु॥ मिताक्षरा (याज्ञ० २।१३५) ने इस सिद्धान्त का घोर विरोध किया है।

२९. धर्मे प्रमीयमाणे हि वेदेन करणात्मना। इतिकर्तव्यताभागं मीमांसा पूरयिष्यति।। कुमारिल की बृहट्टीका, तन्त्ररहस्य (गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज, १९५६, पृ० ३६) द्वारा उद्धृत। इस श्लोक का परिचय अधोलिखित शब्दों द्वारा दिया गया है: 'वेदवयार्थसंशये सति तन्निर्णयौपयिकन्यायनिबन्धनं हि शास्त्रं मीमांसा।... सा च करणीभूतस्य वेदस्येतिकर्तव्यता। यथा चक्षुष आलोकः। यथा वानुमानस्य व्याप्तिस्मरणम्। यथा वोपमानस्य सादृश्यम्। यथा वा अर्थापत्तेः सन्देहापत्तिः।'

माने जाते हैं) ; (३) शेष (शेष का अर्थ है अधीन या जो दूसरे के अधीन होता है वह शेषी कहलाता है या जो दूसरे का सहायक होता है), इसका प्रयोग कैसे होता है, तथा श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान एवं समाख्या की पारस्परिक शक्ति; (४) प्रयुक्ति (जो अपरिहार्य हो और जो कर्ता के अन्तःकरण पर निर्भर हो, अर्थात् जो क्रत्वर्थ हो और पुरुषार्थ हो); (५) क्रम (श्रुति आदि पर क्रम के निश्चय के सिद्धान्त); (६) अधिकार (याग करने के अधिकारी व्यक्ति); (७) सामान्यातिदेश (आदर्श याग के विषयों का उसके परिष्कारों या परिमार्जनों तक फैलाव); (८) विशेषातिदेश (पृथक्-पृथक् कृत्यों के भिन्न भागों या विषयों का विस्तार); (९) ऊह (मन्त्रों तथा संस्कारों का अभियोजन); (१०) बाध (आदर्श यागों के परिमार्जनों में कुछ विषयों को छोड़ देना); (११) तन्त्र बहुत-से कर्मों या व्यक्तियों के लिए एक विषय की उपयोगिता एवं पर्याप्तता); (१२) प्रसंग (प्रयोग का विस्तार)। प्रथम अध्याय के चार पदों में चार विषय क्रमशः विवेचित हैं, यथा—विधि (प्रबोधक वाक्य या वचन), अर्थवाद (प्रशंसात्मक व्याख्यात्मक वचन जिनमें मंत्र भी हैं), स्मृतियाँ (जिनमें लोकाचार एवं प्रयोग भी सम्मिलित हैं) एवं नाम (कृत्यों के नाम यथा—उद्भिद्, चित्रा)। यहाँ पर अध्यायों का विवेचन विशेष आवश्यक नहीं है। शबर ने सभी अध्यायों के निष्कर्ष उपस्थित किये हैं।[३०]

स्वयं पू० मी० सू० एक अति विस्तृत ग्रन्थ है, ऊपर से इसका आकार टीकाओं से तथा टीकाओं की टीकाओं से बहुत बढ़ गया है। शबर के पूर्व एक टीकाकार थे, जिन्हें शबर ने वृत्तिकार की संज्ञा दी है[३१]

३०. प्रथमेऽध्याये प्रमाणलक्षणं वृत्तम्। तत्र विध्यर्थवादमन्त्रस्मृतयस्तत्त्वतो निर्णीताः। गुणविधिनामधेयं परीक्षितम्। सन्दिग्धानामर्थानां वाक्यशेषादर्थाच्चाध्यवसानमुक्तम्। शबर (२।११ के आरम्भ में)। तन्त्रवार्तिक ने ऊपर के 'तत्त्वत' को इस प्रकार व्याख्यायित किया है: 'विध्यादितत्त्व निर्णीतिः प्रमाणेनैव स्थिता। समस्तो हि प्रथमः पादश्चोदनासूत्रपरिकरः।... श्रुतिमूलत्वं विज्ञानस्य स्मृतिप्रामाण्ये तत्त्वम्। नामधेयस्य चोदनान्तर्गतत्वात्प्रमाणत्वम्। सन्दिग्धनिर्णये वाक्यशेषसामर्थ्ययोः प्रामाण्यमित्येवं समस्तमध्यायं प्रमाणलक्षणमाचक्षते।' पू० मी० सू० बारह अध्यायों में विभक्त है। अतः इसे द्वादशलक्षणी भी कहा गया है।

३१ 'शब्द क्या है,' के विषय में शबर ने स्पष्ट रूप से (भगवान्) उपवर्ष (१।१।५ की व्याख्या में) का उल्लेख किया है, किन्तु रामानुज का कथन है कि बोधायन ने पू० मी० सू० एवं वे० सू० पर एक भाष्य लिखा था। वृत्तिकार, उपवर्ष एवं बोधायन के विषय में मतमतान्तर हैं। देखिए म० म० प्रो० कुप्पुस्वामी (तृतीय अखिल भारतीय ओरिएण्टल कांफ्रेंस, पृ० ४६५-४६८) एवं पं० वी० ए० रमास्वामी (इण्डि० हि० क्वा०, जिल्द १०, पृ० ४३१-४३३), जिन्होंने वृत्तिकार एवं उपवर्ष के परिचय पर विचार किया है। डा० एस० के० आयंगर (मणिमेकलाई इन इट्स हिस्टॉरिक सेटिंग, पृ० १८६) एवं प्रस्तुत लेखक (जे० बी० बी० आर० ए० एस०, १९२१, पृ० ८३-९८) का मत है कि वृत्तिकार एवं उपवर्ष पृथक्-पृथक् व्यक्ति हैं। म० म० कुप्पुस्वामी का मत है कि बोधायन एवं उपवर्ष एक ही हैं। शंकराचार्य ने सम्मान के साथ उपवर्ष का नाम दो बार लिया है (भगवान् कहा है, वे० सू० १।३।२८ एवं ३।३।५३ पर) किन्तु कहीं भी बोधायन का उल्लेख नहीं किया है। जिसकी विशद टीका के विषय में रामानुज ने वे० सू० के भाष्य में उल्लेख किया है। देखिए बोधायन एवं उपवर्ष पर जर्नल आव इण्डियन हिस्ट्री, मद्रास, जिल्द ७, पृ० ७, पृ० १०७-११५ एवं वी० ए० रमास्वामी शास्त्री (भूमिका तत्त्व-बिन्दु, पृ० १४-१८, १९३६)। और देखिए इण्डि० हि० क्वा० (जिल्द १०, पृ० ४३१-४५२) जहाँ पूर्वमीमांसा-सूत्र के वृत्तिकारों पर एक लेख है।

और कतिपय स्थलों पर उन्हें सम्मानपूर्वक उद्धृत किया है (यथा---२।१।३२ एवं ३२, २।२।२६, २।३।१६, ३।१।६ पर 'अत्र भगवान् वृत्तिकारः कहा है ; कहीं-कहीं यथा ८।१।१ पर 'वृत्तिकारैः' बहुवचन में आया है)। पू० मी० सू० १।१।३-५, २।१।३३। एवं ७।२।६ की टीका में शबर ने वृत्तिकार से असहमति प्रकट की है। पू० मी० सू० की सबसे प्राचीन विद्यमान टीका शबर का भाष्य है। शबर ने पू० मी० सू० के विषयों से तथा कुछ अन्य विषयों से सम्बन्धित बहुत से श्लोक उद्धृत किये हैं। पू० मी० सू० पर उद्धृत श्लोक २।१।३२, २।१।३३, २।२।१, ४।३।३, ४।४।२१, ४।४।२४ आदि पर पाये जाते हैं। ये सभी श्लोक शबर द्वारा पू० मी० सू० की किसी टीका या उस पर लिखे गये किसी ग्रन्थ से उद्धृत हुए हैं, जिनमें दो-एक सम्भवतः किसी श्रौतसूत्र से लिये गये हैं और दो-एक स्वयं उनके द्वारा प्रणीत हैं।

पू० मी० सू० पर बहुत-सी टीकाएँ १०वीं तथा उसके पश्चात् की शतियों के लेखकों की हैं और वे आज भी विद्यमान हैं, जिनमें २२ का उल्लेख म० म० गोपीनाथ कविराज ने किया है (सरस्वतीभवन स्टडीज, जिल्द ६, पृ० १६६)। शबर के भाष्य पर कतिपय टीकाएँ हैं, जैसा कि श्लोकवार्तिक से प्रकट है। कुमारिल के पूर्व की प्रणीत टीकाएँ आज उपलब्ध नहीं हैं।

कुमारिल ने शबर के भाष्य (पू० मी० सू० १।१) पर श्लोकवार्तिक लिखा जिसमें ४००० श्लोक हैं तथा १।२ पर पू० मी० सू० के तीसरे अध्याय के अन्त तक एक विशद तन्त्रवार्तिक लिखा है और पू० मी० सू० (अध्याय ४-१२) पर टुप्-टीका लिखी है (जो छिट-पुट टिप्पणी के रूप में है न कि लगातार चलने वाली टीका)। ऐसा कहा जाता है कि कुमारिल ने पू० मी० सू० पर दो अन्य टीकाएँ भी लिखी हैं; यथा---'मध्यमटीका' एवं बृहट्टीका। न्यायरत्नाकर ने बृहट्टीका का उल्लेख किया है, तन्त्रवार्तिक पर न्याय-सुधा ने इससे कई श्लोक उद्धृत किये हैं तथा ऋषिपुत्र परमेश्वर के जैमिनीय-सूत्रार्थ संग्रह ने बृहट्टीका को कई बार उद्धृत किया है। श्लोकवार्तिक पर दो टीकाएँ अब तक प्रकाशित हुई हैं, यथा---पार्थसारथि का न्यायरत्नाकर एवं सुचारित मिश्र की काशिका। तन्त्रवार्तिक के अंग्रेजी अनुवाद में म० म० डा० गंगानाथ झा ने उस की आठ टीकाओं का उल्लेख किया है, जिनमें न्यायसुधा या सोमेश्वर का राणक बड़ी विशद है, अन्य टीकाएँ अभी पाण्डुलिपियों के रूप में ही हैं। टुप्टीका की कई टीकाएँ हैं जो अभी अप्रकाशित हैं। पार्थसारथि मिश्र के तन्त्ररत्न में पू० मी० सू० के कुछ अध्यायों के विषयों पर चर्चा है। शबर के भाष्य पर प्रभाकर ने 'बृहती' नामक एक टीका लिखी है, तर्कपाद (पू० मी० सू १।१) पर उसका कुछ अंश शालिकनाथ मिश्र की ऋजुविमलापञ्चिका की टीका के साथ पं० एस० के० रमानाथ शास्त्री द्वारा सम्पादित तथा मद्रास विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित हुआ है (१९३४)। पार्थसारथि की शास्त्रदीपिका पू० मी० सू० पर कोई नियमित टीका नहीं है, किन्तु यह उस पर एक अति महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है और कुमारिल के मतों को स्वीकार करता है। एक अन्य अति उपयोगी ग्रन्थ है माधवाचार्यकृत जैमिनीय-न्याय-माला-विस्तार (आनन्दाश्रम प्रेस, पूना), जो पू० मी० सू० के पद्य में निष्कर्ष उपस्थित करता है; उसमें गद्य में आलोचना भी है और प्रभाकर (शालिकनाथ आदि द्वारा 'गुरु' नाम से घोषित) का कुमारिल से अन्तर प्रकट किया गया है। शालिकनाथ ने स्वतन्त्र रूप से प्रकरणपञ्चिका नामक ग्रन्थ लिखा है। प्रभाकर के सम्प्रदाय का एक अन्य ग्रन्थ भी है जो भवनाथ या भवदेव लिखित है और नयविवेक नाम से प्रसिद्ध है (पं० एस० के० रमानाथ शास्त्री द्वारा सम्पादित तथा मद्रास विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित, १९३७)। व्यवहार पर लिखित मदनरत्नप्रदीप द्वारा भवनाथ प्रशंसित हैं और प्रभाकर के सिद्धान्त रूपी कमल के सूर्य कहे गये हैं। रामानुजाचार्य का तन्त्र रहस्य, जो लगभग १७५० ई० में प्रणीत हुआ है, प्रभाकर सम्प्रदाय का अन्तिम महत्त्वपूर्ण

ग्रन्थ है और यह प्रभाकर के ग्रन्थों एवं उन पर शालिकनाथ की टीकाओं के विषय में उपयोगी बातें बताता है। प्रबोध चन्द्रोदय (अंक २) ने गुरु, कुमारिल (या तौतातित), शालिकनाथ एवं वाचस्पति का उल्लेख करने के उपरान्त महोदधि एवं महाव्रती (महाव्रता की कृति) का उल्लेख किया है, जो नयविवेक द्वारा वर्णित हैं (पृ० २७१ एवं २७३)।

प्रभाकर एवं कुमारिल में बहुत सी बातों को लेकर वैभिन्न्य है[३२] पू० मी० सू० के प्रथम सूत्र से ही दोनों के विवाद का आरम्भ हो जाता है[३३]। शालिकनाथ ने प्रकरणपञ्चिका में कई स्थानों पर प्रभाकर को गुरु कहा है। कुमारिल भट्ट एवं प्रभाकर के पारस्परिक काल की स्थिति के विषय में कई मत पाये जाते हैं। देखिए म० म० गंगानाथ झा कृत 'प्रभाकर सम्प्रदाय' (१९११), ए० बी० कीथ की 'कर्ममीमांसा' (१९२१) द्वितीय अखिल भारतीय ओरियण्टल कान्फ्रेंस (पृ० ४०८–४१२) एवं तृतीय अखिल भारतीय ओरिएण्टल कान्फ्रेंस (पृ० ४७४–४८१) तथा जे० ओ० आर० (मद्रास, जिल्द १, पृ० १३१-१४४ एवं २०३-२१०)। प्रो० कुप्पुस्वामी ने ही दोनों कान्फ्रेंसों का विवरण प्रकाशित किया है। प्रश्न यह उपस्थित है कि शालिकनाथ प्रभाकर के एक साक्षात् शिष्य थे या उनके पश्चात्कालीन अनुयायी मात्र थे। कई बातों के आधार पर प्रस्तुत लेखक के मत से शालिकनाथ प्रभाकर के सीधे शिष्य से लगते हैं। शालिकनाथ ने न केवल 'प्रभाकर गुरु' कहा है, प्रत्युत एक

३२. देखिए बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी का जर्नल (जिल्द २, पृ० ३०९–३२५), जहाँ प्रभाकर एवं कुमारिल भट्ट के अन्तरों को संस्कृत में एकत्र किया गया है, विशेषतः पृ० ३३१-३३५ जहाँ अन्तरों की तालिका उपस्थित की गयी है। और देखिए पं० वी० ए० रमास्वामी शास्त्री द्वारा तत्त्वबिन्दु पर उपस्थित भूमिका (१९३६, पृ० ३७-४०), जहाँ दोनों के कुछ महत्त्वपूर्ण अन्तर व्यक्त हैं।

३३. भट्ट अर्थात् कुमारिल भट्ट सम्प्रदाय के अनुसार पू० मी० सू० (१।१।१) का 'विषयवाक्य' शतपथ (११।५।६) में 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' तथा तैत्तिरीय आरण्यक (२।१५।१) में 'एतस्मात्स्वाध्यायोऽध्येतव्यो यं यं क्रतुमधीते तेन तेनास्येष्टं भवतीति' है। प्रभाकर सम्प्रदाय के अनुसार विषय-वाक्य है—'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत तमध्यापयीत', जिससे प्रकट होता है कि वेदाध्ययन उपनयन के उपरान्त विद्यार्थी को पढ़ाने की विधि का एक अंग मात्र है। विषयवाक्य (स्वाध्यायोऽध्येतव्यः) के विरोध में प्रभाकर सम्प्रदाय का विरोध यह है कि इसमें एक देखा हुआ फल है और जब जाना हुआ (देखा हुआ) फल पाया जाता है तो यह कहना कि बिना देखा हुआ फल है, अनुचित है। देखिए इस महाग्रन्थ की जिल्द ३, पृ० ८३७, जहाँ शबर तथा अन्य लोगों के कतिपय वचन इस कथन के विषय में उदाहृत हैं। एकादशीतत्त्व (पृ० ८८-८९, मन्त्र पर) ने पू० मी० सू० (३।२।१) को उद्धृत करने के उपरान्त यह निष्कर्ष निकाला है—'इति दृष्टार्थसम्पत्तौ नादृष्टमिह कल्प्यते इति'। प्रस्तुत लेखक को यह नहीं ज्ञात हो सका है कि किस वैदिक ग्रन्थ से 'अष्टवर्ष.....पयीत' ग्रहण किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह दृष्टिकोण कि इस वचन में वेद के अध्यापन की विधि है केवल मनु (२।१४०, ३।२) एवं गौतम (१।१०-११) के वचनों से अनुमान निकाला गया है। प्रकरणपञ्चिका (पृ० ६) ने इसे माना है: 'कः पुनराचार्यकरणविधिः' 'उपनीय....प्रचक्षते' (मनु २।१४०) इति स्मरणानुमितः। इस मत से उपनयन केवल अध्यापन विधि का एक अंग है। पद्मपाद (गवर्नमेण्ट ओरिएण्टल सीरीज़, मद्रास, १९५८, दो टीकाएँ भी साथ प्रकाशित हैं) की पञ्च-पादिका के पृष्ठ २२५ पर इस विषयवाक्य ('अष्टवर्ष...पयीत') की कटु आलोचना दी हुई है।

स्थान पर उनका कथन है 'हमारे गुरु इसे सहन नहीं करते'।[३४] शालिकनाथ ने अपनी प्रकरणपंचिका में श्लोकवार्तिक के कई श्लोक उद्धृत किये हैं। मण्डन मिश्र ने पूर्व मीमांसा पर कई ग्रन्थ लिखे हैं, यथा—विधि-विवेक (वाचस्पति की न्यायकणिका के साथ बनारस में प्रकाशित), भावनाविवेक (उम्बेक की टीका के साथ। सरस्वती भवन सीरीज़ में सम्पादित), विभ्रमविवेक एवं मीमांसानुक्रमणी (चौखम्भा संस्कृत सीरीज)। शास्त्रदीपिका (पू० मी० सू० २।१।१) ने कुमारिल के श्लोकों पर मण्डन की व्याख्या उद्धृत की है।[३५] अतः मण्डन या तो कुमारिल के पश्चात् हुए या कुमारिल के समकालीन, किन्तु अवस्था में छोटे थे और लगभग ६९० ई० से ७१० ई० के आसपास हुए। इसके अतिरिक्त शान्तरक्षित ने अपने तत्त्वसंग्रह (गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज) में कुमारिल की कारिकाओं की आलोचना कई बार की है और उसके शिष्य कमलशील ने कुमारिल का नाम कई बार लिया है। शान्तरक्षित ने न तो प्रभाकर का नाम लिया है और न उन्हें उद्धृत ही किया है। उनका काल ७०५–७६२ ई० है। अतः कुमारिल को लगभग ६५०–७०० ई० में अवश्य रखा जा सकता है। शालिकनाथ ने श्लोकवार्तिक एवं मण्डन के ग्रन्थों का उल्लेख किया है, अतः उन्हें हम ७५०–८०० के बीच में कहीं रख सकते हैं। यदि शालिकनाथ प्रभाकर के सीधे शिष्य रहे होंगे तो प्रभाकर (जो शान्तरक्षित को अज्ञात थे) या तो कुमारिल के समकालीन (अर्थात् हम उन्हें ७००–७६० के बीच में या थोड़ा बाद में कहीं रख सकते हैं) या कुमारिल के पश्चात् रख सकते हैं। प्रभाकर के विषय में ऐसी परम्परा है कि वे कुमारिल के शिष्य थे। बहुत-सी परम्पराएँ (यथा विक्रमादित्य के समय के नवरत्न) यों ही उठ खड़ी होती हैं, किन्तु हमें उनका तिरस्कार नहीं कर देना चाहिए, प्रत्युत उनकी जाँच करनी चाहिए।

एक समय प्रभाकर को अति महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। विक्रमादित्य षष्ठ (१०९८ ई०) के गंडक शिलालेख में लक्किगुण्डी नामक स्थान पर प्रभाकर के सिद्धान्त को पढ़ाने के लिए एक पाठशाला की स्थापना का उल्लेख है। (एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द १५, पृ० ३४८)। इस उल्लेख तथा मिताक्षरा (याज्ञ० २।११४) में पाये गये निर्देश से पता चलता है कि प्रभाकर सम्प्रदाय का ११ वीं शती में पर्याप्त प्रभाव था। विशेषतः कर्नाटक एवं महाराष्ट्र देशों में। मदनपारिजात ने (जो १३६०–१३९० में लिखित उत्तर भारतीय ग्रन्थ है) गुरु का एक आधा श्लोक उद्धृत किया है। स्मृतिचन्द्रिका (व्यवहार, पृ० २५७), वीरमित्रोदय (व्यवहार, पृ० ५२३) आदि ने भवनाथ के नयविवेक (प्रभाकर सम्प्रदाय का अन्तिम उत्कृष्ट ग्रन्थ) का उल्लेख किया है। धीरे-धीरे प्रभाकर

३४. यच्च वह्नीषु, ज्वालास्वेकवर्तिवर्तिनीषु ज्वालात्वं सामान्यं प्रत्यभिज्ञागोचरः कैश्चिदिष्यतेतदपि गुरुरस्माकं न मृष्यति। प्रकरण० (पृ० ३१)। यदि वे पश्चात्कालीन अनुयायी मात्र होते और शिष्य न होते तो केवल 'गुरुर्न मृष्यति' ही कहते।

३५. शास्त्रदीपिका (पू० मी० सू० २।१।२) में आया हैः 'उक्तं ह्येतदाचार्यैः'। धात्वर्थं व्यतिरेकेण... गम्यते॥' यह तन्त्रवार्तिक (पृ० ३८२) में पाया जाता है; इसके उपरान्त शास्त्रदीपिका पुनः कहती है, विवृतं चैतन्मण्डनेन 'कथ्यमानाद्रूप...भावना किं प्रबुध्यति॥' यह भावनाविवेक में पाया जाता है (पृ० ८०, थोड़ा-सा अन्तर है)। भावनाविवेक (पृ ६१) में आया है 'तथा क्रमवतोर्नित्यं'...प्रतीयते'। यह तन्त्रवार्तिक (पृ० ३८१) में आया है। दुख है कि म० म० गंगानाथ झा (पूर्वमीमांसा की भूमिका, पृ० २१) ने बहुत ही दुर्बल आधार पर (शास्त्रदीपिका के शब्दों पर) यह कह दिया है कि मण्डन ने तन्त्रवार्तिक पर एक टीका लिखी है।

सम्प्रदाय की प्रसिद्धि कम हो गयी और कुमारिल का भट्ट-सम्प्रदाय कई शतियों तक महत्त्वपूर्ण बना रहा। प्रस्तुत लेखक का मत है कि प्रभाकर कुमारिल के पश्चात् हुए हैं, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने किस व्यक्ति से अपने विलक्षण दृष्टिकोण ग्रहण किये अथवा ये दृष्टिकोण उनके अपने थे (यह दूसरी बात अधिक ठीक लगती है)। पं० के० एस० रमास्वामी शास्त्री (तन्त्ररहस्य की भूमिका, १९५६) ने कहा है कि प्रभाकर सम्प्रदाय के विचार बादरि के हैं। इस विद्वान ने कोई विशिष्ट तर्क नहीं उपस्थित किया है और न कोई प्रमाण ही उपस्थित किया है कि बादरि के सिद्धान्त भर्तृमित्र के मत से मिलते थे। भर्तृमित्र ने पू० मी० सू० की ऐसी व्याख्या की है जो ईश्वरवादी कही जाती है। मीमांसा के विषयों पर बादरि के मत केवल चार बार पू० मी० सू० में उद्धृत हैं (यथा ३।१।३ में कौन से विषय शेष हैं; ६।१।२७ में, वैदिक यज्ञ शूद्रों द्वारा भी सम्पादित हो सकते हैं; ८।३।६ में, केवल शुद्ध यज्ञिय विषय; ९।३।३३ में, सामवेद के गायन की विधि के विषय में)। इन सभी स्थलों पर कहीं भी भर्तृमित्र के ईश्वरवादी मत या प्रभाकर के सिद्धान्तों का कोई सम्बन्ध नहीं है।

कुमारिल के पश्चात् मीमांसा के सिद्धान्तों पर या पू० मी० सू० के विषयों पर बहुत-सी टीकाएँ, टीकाओं पर टीकाएँ एवं सार-ग्रन्थ प्रणीत हुए। गत पचास-साठ वर्षों में आज के विद्यमान खण्डित या पूर्ण ग्रन्थों के, उनके आरम्भिक लेखकों के तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में बहुत से कठिन एवं पेचीदे प्रश्न उठ खड़े हुए हैं और इन सभी बातों के विषय में बहुत-से निबन्ध लिखे गये हैं। प्रस्तुत लेखक ने उनमें अधिकांश का अवलोकन कर लिया है, यदि उन सभी ग्रन्थों का उल्लेख तथा उन पर विवेचन उपस्थित किया जाय तो एक पृथक् ग्रन्थ लिखने की आवश्यकता पड़ जायगी। हम ऐसा यहाँ नहीं कर सकते। सादृश्य स्थापन तथा सम्बन्ध-ज्ञान के विषय में कुछ प्रश्नों का उत्तर यहाँ दिया जा रहा है।

(१) क्या प्रभाकर कुमारिल के शिष्य थे? इसका उत्तर यह है कि इस विषय में हमें कोई पुष्ट प्रमाण नहीं प्राप्त होता, केवल परम्परा का उल्लेख मात्र मिलता है, किन्तु प्रभाकर निश्चित रूप से कुमारिल के पश्चात् हुए थे।

(२) क्या शालिकनाथ प्रभाकर के साक्षात् शिष्य थे? हाँ।

(३) क्या मण्डन मिश्र कुमारिल के शिष्य थे? स्पष्ट उत्तर के लिए हमारे पास कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है, किन्तु स्वयं मण्डन ने अपने भावनाविवेक में कुमारिल की एक श्लोक व्याख्या यितकिया है और तन्त्रवार्तिक से एक श्लोक उद्धृत किया है। विधिविवेक में भी, जिसे मण्डन ने भावनाविवेक के उपरान्त लिखा, उन्होंने तन्त्रवार्तिक से उद्धरण लिया है। इसी विधिविवेक में उन्होंने श्लोकवार्तिक को उद्धृत किया है। मण्डन ने प्रभाकर की बृहती से अपने विधिविवेक में उद्धरण दिया है। अतः मण्डन, यदि कुमारिल के शिष्य नहीं थे, तो उनके पश्चात् हुए थे या उनके समकालीन, किन्तु अवस्था में छोटे थे।

(४) क्या मण्डन एवं उम्बेक एक ही हैं? नहीं। उम्बेक ने मण्डन के भावनाविवेक पर एक टीका लिखी जिसमें पृ० १७ एवं ७६ पर उन्होंने इसके कई भाषान्तरों का उल्लेख किया है। यह सम्भव नहीं है कि स्वयं लेखक अपने ग्रन्थ पर विभिन्न भाषान्तरों का उल्लेख करेगा और उनकी व्याख्या उपस्थित करेगा। यदि दोनों एक होते तो ऐसी बात न होती।

(५) क्या मण्डन एवं विश्वरूप एक ही हैं? नहीं।

(६) क्या विश्वरूप एवं सुरेश्वर एक ही हैं? हाँ। जब विश्वरूप संन्यासी हो गये तो उन्होंने अपना नाम सुरेश्वर रख लिया।

(७) क्या उम्बेक एवं भवभूति एक ही हैं? ऐसा समझने के लिए हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है, किन्तु यह सम्भव है कि दोनों एक ही हों।

(८) क्या उम्बेक कुमारिल के शिष्य थे? हाँ।

(९) क्या सुरेश्वर शंकराचार्य के शिष्य थे? हाँ।

उपरोक्त प्रश्नों एवं उत्तरों के आधार पर हम नीचे पू० मी० के लेखकों का कालक्रम उपस्थित कर रहे हैं, यथा—कुमारिल, प्रभाकर, मण्डन, उम्बेक, शालिकनाथ। ये लोग ६५० ई० एवं ७५० ई० के बीच हुए थे और उनमें कुमारिल सबसे पहले हुए थे, प्रभाकर (जिन्होंने किरातार्जुनीय (२।३०) को दो बार उद्धृत किया है) एवं मण्डन दोनों समकालीन थे या मण्डन प्रभाकर से अवस्था में छोटे थे।

बृहदारण्यकोपनिषद् एवं तैत्तिरीयोपनिषद् पर शंकर के भाष्य पर सुरेश्वर के वार्तिक के आरम्भिक एवं अन्तिम श्लोक इस विषय में कोई सन्देह नहीं छोड़ते कि सुरेश्वर शंकर के शिष्य थे।

प्रस्तुत लेखक के लेख (जे० बी० बी० आर० ए० एस०, पृ० २८९–२९३) एवं प्रो० कुप्पुस्वामी के मण्डन एवं सुरेश्वर से सम्बन्धित लेख से (ए० बी० ओ० आर० आई०, जिल्द १८, पृ० १२१–१५७) प्रकट होता है कि मण्डन एवं सुरेश्वर एक ही व्यक्ति नहीं हैं।

अब हम नीचे पूर्वमीमांसा से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों एवं लेखकों की काल-तिथियों का उल्लेख करेंगे। इन तिथियों में बहुत-सी केवल अनुमान पर आधारित हैं।

जैमिनि का **पूर्वमीमांसासूत्र** : ई० पू० ४०० से ई० पू० २००।

वृत्तिकार : शबर द्वारा उद्धृत वृत्तिकार के विषय में कई विरोधी मत हैं। शास्त्रदीपिका में पार्थसारथी ने लिखा है कि वे उपवर्ष हैं। शबर ने वृत्तिकार को बड़ी श्रद्धा से उल्लिखित किया है, किन्तु कई स्थानों पर उन्होंने उनसे अपना मतभेद भी प्रकट किया है। दोनों मीमांसाओं पर लिखी गयी कृतकोटी नामक एक बृहद् टीका पञ्चहृदय द्वारा बोधायन द्वारा लिखी कही गयी है। यह अवलोकनीय है कि पू० मी० सू० पर लिखे गये किसी आरम्भिक ग्रन्थ द्वारा बोधायन का नाम नहीं लिया गया है और न शंकर ने ही उनका नाम लिया है, यद्यपि उन्होंने उपवर्ष का नाम दो बार लिया है। यद्यपि रामानुजाचार्य ने ब्रह्मसूत्र पर लिखे गये, श्रीभाष्य के आरम्भिक शब्दों द्वारा ब्रह्मसूत्र पर बोधायन द्वारा प्रणीत एक विशाल टीका का उल्लेख किया है, किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं लिखा है कि बोधायन ने पू० मी० सू० पर कोई टीका लिखी है। प्रस्तुत लेखक यह मानने को सर्वथा सन्नद्ध नहीं है कि शबर द्वारा इतनी बार उल्लिखित वृत्तिकार उपवर्ष ही हैं। शबर ने पू० मी० सू० (१।१।३–५) पर टीका करते हुए वृत्तिकार की विभिन्न व्याखाओं का उल्लेख विस्तार के साथ किया है और उसी बीच में उपवर्ष के मत का भी उद्घाटन किया है। शबर ने दोनों को, ऐसा प्रतीत होता है, अलग-अलग माना है। यह बात कि तन्त्रवार्तिक ने उपवर्ष एवं वृत्तिकार को एक ही माना है, सिद्ध नहीं है। स्वयं कुमारिल से हमें ज्ञात है कि शबर से पूर्व एवं पश्चात् पू० मी० सू० पर कई वृत्तियाँ लिखी गयी थीं। अतः यह सम्भव है कि कुमारिल ने उपवर्ष को वृत्तिकार समझ लिया हो (२।३।१६), यद्यपि शबर-भाष्य के अन्य स्थलों पर उल्लिखित वृत्तिकार विभिन्न व्यक्ति हो सकते हैं।

उपवर्ष : ई० पू० १०० एवं ई० पश्चात् १०० के बीच में।

भवदास : श्लोकवार्तिक (प्रतिज्ञासूत्र, श्लोक ६३) ने इनका नाम लिया है और न्यायरत्नाकर की व्याख्या के अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि भवदास शबर से पूर्व हुए थे। इनका काल १०० ई० एवं २०० ई० के मध्य में है।

शबर : २०० एवं ४०० ई० के बीच में (सम्भवत: २०० ई० के आसपास)। तन्त्रवार्तिक (२।३।२३, २।३।२७ एवं ३।४।३१) से प्रकट होता है कि भाष्यकारान्तर नामक एक अन्य व्यक्ति था जो शबर से पूर्व हुआ था। तन्त्रवार्तिक (३।४।१२) एवं टुपटीका (६।५।१०) से पता चलता है कि कुमारिल ने कहीं-कहीं वृत्तिकार शब्द शबर के लिए भी प्रयुक्त किया है।

भर्तृमित्र : श्लोकवार्तिक के १० वें श्लोक पर नयरत्नाकर का कथन है कि भर्तृमित्र ने मीमांसा को ईश्वर-वादी माना है। उम्बेक के कथनानुसार (तात्पर्यटीका, पृ० ३) उसका ग्रन्थ तत्त्वशुद्धि कहलाता था। काल ४०० एवं ६०० ई० के बीच में।

कुमारिल भट्ट : लगभग ६५०-७०० के बीच में।

प्रभाकर : शबर के भाष्य पर बृहती के लेखक। काल ६७५-७२५ ई० के बीच में।

मण्डन : कुमारिल के शिष्य या उनसे छोटी अवस्था के उन्हीं के समकालीन। पूर्वमीमांसा एवं वेदान्त दोनों पर लिखा। विधिविवेक (पृ० १०६) में बृहती को उद्धृत किया है। इनके अन्य ग्रन्थ हैं—भावनाविवेक, विभ्रमविवेक एवं मीमांसानुक्रमणिका। काल, ६८०-७२० ई० के बीच में कहीं। और देखिए ए० बी० ओ० आर० आई०, (जिल्द १८, पृ० १२१-१५७, प्रो० कुप्पुस्वामी शास्त्री), जे० आई० एच० (जिल्द १५, ए० ए० ३२०-३२६)।

उम्बेक : कुमारिल के शिष्य, कुमारिल के श्लोकवार्तिक एवं मण्डन के भावनाविवेक के टीकाकार। सामान्यत: उम्बेक को लोग नाटककार भवभूति मानते हैं। काल-७००-७५० ई० के बीच में।

शालिकनाथ : प्रभाकर के शिष्य, प्रभाकर के ग्रन्थ बृहती पर ऋजुविमला नामक टीका के लेखक तथा प्रकरणपञ्चिका नामक एक स्वतन्त्र ग्रन्थ के प्रणेता। यह महत्त्वपूर्ण है कि बृहती की टीका ऋजुविमला में उन्होंने श्लोकवार्तिक का एक श्लोक उद्धृत किया है और कुमारिल को बड़े सम्मान के साथ (यदा हुर्वार्तिककार-मिश्रा:) उल्लिखित किया है। काल, ७१०-७७० ई० के मध्य में कहीं।

सुरेश्वर : (संन्यासी होने के पूर्व विश्वरूप कहे जाते थे)। शंकराचार्य के शिष्य। काल, ८००-८४० ई० के मध्य में कहीं।

वाचस्पति मिश्र : सभी शास्त्रों पर प्रसिद्ध ग्रन्थों का निर्माण किया है। मण्डन के विधिविवेक पर न्याय-कणिका एवं शंकर भाष्य पर भामती के लेखक। काल, ८२०-९०० ई० के बीच में।

पार्थसारथि मिश्र : शास्त्रदीपिका (निर्णय सागर प्रेस, १९१५), न्यायरत्नाकर (श्लोकवार्तिक की टीका), तन्त्ररत्न (टुप्टीका की टीका) एवं न्यायरत्नमाला (गायकवाड़ संस्कृत सीरीज में रामानुजाचार्य के नायक रत्न की टीका के साथ प्रकाशित) के लेखक का काल, ९००-११०० ई० के बीच में कहीं।

पार्थसारथि के पश्चात् के अन्य लेखकों के विषय में हम संक्षेप में यों कह सकते हैं—**सुचारितमिश्र**, श्लोक-वार्तिक पर काशिका नामक टीका के लेखक; **भवनाथ** या **भवदेव**, नयविवेक (मद्रास यूनिवर्सिटी संस्कृत सीरीज, रविदेव की टीका विवेकतत्त्व के साथ) के लेखक, काल, १०५०-११५० ई०; **सोमेश्वर**, माधव के पुत्र, न्याय-शुद्धि या राणक (तन्त्रवार्तिक पर एक विस्तृत टीका) के लेखक, काल, १२०० ई० के लगभग, **मुरारिमिश्र**, जो मीमांसा के तीसरे सम्प्रदाय (मुरारेस्तृतीय: पन्था:) के संस्थापक कहे जाते हैं, त्रिपादीनीतिनयन एवं अंगत्वनिरुक्ति के लेखक, काल, ११५०-१२२० के बीच; **माधवाचार्य**, जैमिनीय-न्यायमाला विस्तर के लेखक, काल, १२९७ १३८६; **अप्पय दीक्षित**, विधिरसायन के लेखक, विभिन्न शास्त्रों पर लगभग १०० या १०८ ग्रन्थों के लेखक, १५२०-१५९३ के मध्य हुए थे, ऐसा कहा जाता है, कुछ लोग इन्हें १५५४-१६२६ की तिथि देते हैं; **लौगाक्षि-**

भास्कर, अर्थसंग्रह के लेखक; शंकर भट्ट, मीमांसा बालप्रकाश के लेखक, काल १५५०–१६२० ई० ; आपदेव, अनन्तदेव के पुत्र, मीमांसा न्यायप्रकाश के प्रणेता, काल १६१०–१६८० ई०।

खण्डदेव : भाट्टदीपिका एवं 'भाट्ट रहस्य' के साथ भाट्ट कौत्सुम के लेखक, काल, १६००–१६६५ ई०।

गागाभट्ट या विश्वेश्वर भट्ट : दिनकर भट्ट के पुत्र, भाट्टचिंतामणि के लेखक, १६२०–१६६० ई०।

रामानुजाचार्य : तन्त्ररहस्य के लेखक, प्रभाकर सम्प्रदाय एवं नायकरत्न पार्थसारथि की न्यायरत्नमाला की टीका से सम्बन्धित, काल , लगभग, १५००–१५७५ ई०।

मीमांसाकोश (संस्कृत में) : पूर्वमीमांसा पर एक अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण सर्वशास्त्रीय ग्रन्थ, जिसे स्वामी केवलानन्द सरस्वती ने लिखा है। इसे महाराष्ट्र प्रदेश के सतारा जिले में वाई नामक स्थान में प्रज्ञा पाठशाला मण्डल ने प्रकाशित कराया है।

वे लोग जो पूर्वमीमांसा सूत्र पर आगे अनुसंधान कार्य करना चाहते हैं, उनकी सुविधा के लिए हम नीचे कुछ ग्रन्थों एवं निबन्धों की सूची दे रहे हैं। म० म० गंगानाथ झा ने शबरभाष्य (३० जिल्दों में, गायकवाड़ संस्कृत सीरीज), तन्त्रवार्तिक एवं श्लोकवार्तिक (बिब्लियोथेका इण्डिका, कलकत्ता १६००) के अंग्रेजी अनुवाद किये हैं तथा उनके कुछ निबन्ध भी हैं। कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ एवं निबन्ध निम्नोक्त हैं :—

मैक्समूलर का ग्रन्थ 'सिक्स-सिस्टम्स आव् इण्डियन फिलॉसॉफी, १८६६ ई०; म० म० गंगानाथ झा कृत पूर्वमीमांसा का प्रभाकर सम्प्रदाय (अंग्रेजी में), १६११; ए० बी० कीथ कृत कर्ममीमांसा, १६२१; प्रो० दासगुप्त की इण्डियन फिलॉसॉफी (जिल्द १, पृ० ३६७–४०५) १६२२; प्रस्तुत लेखक का निबन्ध (ए० बी० ओ० आर० आई० जिल्द ६, पृ० ७–४०, १६२५); प्रो० एम० हिरियण्णा का ग्रन्थ 'आउटलाइंस आव इण्डियन फिलॉसॉफी', १६३२; पं० वी० ए० रमास्वामी शास्त्री द्वारा वाचस्पति मिश्र के तत्त्वबिन्दु के संस्करण पर पूर्वमीमांसा शास्त्र सम्बन्धी लघु ऐतिहासिक निबन्ध, १६३६; डा० राधाकृष्णन् कृत 'इण्डियन फिलॉसॉफी १६४१; प्रो० सी० कुन्हनराजा कृत (श्लोकवार्तिक पर उम्बेक की टीका तात्पर्यटीका पर) भूमिका, १६४०; गंगानाथ झा कृत 'पूर्वमीमांसा इन इट्स सोर्सेज, १६४६), जिसमें डा० उमेश मिश्र ने एक समीक्षात्मक ग्रन्थ-पुटी जोड़ दी है; डा० डी० वी० गर्ग कृत 'साइटेशंस इन शबरभाष्य', १६५२; पं० के० एस० रामस्वामी शास्त्री की रामानुजाचार्य के तन्त्ररहस्य पर भूमिका, १६५६; प्रो० जी० वी० देवस्थली का 'मीमांसा– दि वाक्य शास्त्र आव एश्एंट इण्डिया', १६५६; श्री नटराज ऐय्यर कृत मीमांसा जूरिसप्रूडेंस (झा रिसर्च इन्स्टीच्यूट, प्रयाग)।

अध्याय २९

पूर्वमीमांसा के कुछ मौलिक सिद्धान्त

इस अध्याय में हम पूर्वमीमांसा के कुछ विशिष्ट मौलिक सिद्धान्तों को, कुछ संकेतों एवं उन पर रची गयी कुछ टिप्पणियों के साथ उपस्थित करेंगे। यथास्थान हम प्रभाकर एवं उनके अनुयायियों के मतों की ओर भी निर्देश करते रहेंगे।

(१) वेद नित्य, स्वयंभू एवं अपौरुषेय है और अमोघ है : यही पूर्वमीमांसा सिद्धान्त का हृदय या सार है। देखिए पू० मी० सू० (१।१।२७-३२) एवं शबर (१।१।५) तथा श्लोकवार्तिक (व्याक्याधिकरण, श्लोक ३६६-३६८)।[१] संक्षिप्त रूप से तर्क यों है—वेद आज भी पढ़ा जाता है और प्राचीनकाल में भी गुरुओं से पढ़ा जाता था, इस विषय में कोई प्रमाण नहीं मिलता कि किसने इसका प्रणयन किया या किसने इसे सर्वप्रथम पढ़ा। यदि ऐसा कहा जाय कि इस प्रकार का तर्क महाभारत के विषय में भी दिया जा सकता है, तो उत्तर यह है कि लोग यह जानते हैं कि व्यास ने इसे लिखा है। इसी प्रकार स्मृतियों एवं पुराणों में जो यह कहा गया है कि प्रजापति ने वेद का प्रणयन किया, तो यह केवल अर्थवादमात्र है जो किसी साक्ष्य या प्रत्यक्ष पर आधृत नहीं है, और वह केवल वेद की प्रामाणिकता को स्थापित करने के लिए ही है। यदि शब्द एवं अर्थ का सम्बन्ध नित्य है और वह किसी व्यक्ति द्वारा उत्पन्न नहीं है तो वही तर्क वेद के विषय में भी है। यह मत नैयायिकों के मत से भिन्न है। नैयायिकों का कथन है कि वेद का प्रणेता ईश्वर है। यह मत बृहदारण्यकोपनिषद् (२।४।१०) पर आधृत शंकराचार्य द्वारा वे० सू० (१।१।३, शास्त्रयोनित्वात्) की व्याख्या से भी भिन्न है। मनु० (१।२१, जिसमें आया है कि ब्रह्मा ने वेद के शब्दों से सबके कर्तव्यों एवं नामों की उत्पत्ति की है) में ऐसा कहा लगता है कि वेद स्वयंभू है। इसी प्रकार महाभाष्य (वार्तिक ३, पाणिनि ४।३।१०१, 'तेन प्रोक्तम्') में आया है कि वेदों का प्रणयन किसी

१. पू० मी० सू० (१।१।५) पर शबर ने टीका की है—'तस्मान्मन्यामहे केनापि पुरुषेण शब्दानामर्थैः सह सम्बन्धं कृत्वा संव्यवहर्तुं वेदा प्रणीता इति। इदिदानीमुच्यते। अपौरुषेयत्वात्सम्बन्धस्य सिद्धिमिति। कथं पुनरिदमवगम्यतेऽपौरुषेय एव सम्बन्ध इति। पुरुषस्य सम्बन्धुरभावात्। कथं सम्बन्धो नास्ति। प्रत्यक्षस्य प्रमाणास्याभावात् तत्पूर्वकत्वाच्चेतरेषाम्'; वेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम्। वेदाध्ययनवाच्यत्वादधुनाध्ययनं यथा॥ भारतेपि भवेदेवं कर्तृस्मृत्या तु बाध्यते। वेदेपि तत्स्मृतिर्यातु सार्थवाद निबन्धना॥ पारम्पर्येण कर्तारं नाध्येतारं स्मरन्ति हि। श्लोकवार्तिकवाक्याधिकरण श्लोक—३६६—३६८; प्रकरणपञ्चिका (पृ० १४०) में टिप्पणी है : 'कथं पुनरपौरुषेयत्वं वेदानां। पुरुषस्य कर्तुरस्मरणात्... काठकादिसमाख्यापि न कर्तृसद्भावमुपकल्पयितुमलम्। प्रवचनेनापि तदुपपत्तेः'। जब तर्क रूप में कहा जाय तो यों कथन उपस्थित किया जा सकता है : 'वेदाः अपौरुषेयाः, अस्मर्यमाणकर्तृकत्वात्। यन्नैवं तन्नैवं यथा महाभारत रघुवंशादि।' शंकराचार्य (वे० सू० १।३।२९, अतएव च नित्यत्वम्) ने अपने भाष्य का आरम्भ यों किया है : 'स्वतन्त्रस्य कर्तुरस्मरणादिभिः स्थिते वेदस्य नित्यत्वे।'

के द्वारा नहीं हुआ, प्रत्युत वे नित्य हैं, वेद का अर्थ नित्य है, किन्तु अक्षरों की व्यवस्था नित्य नहीं है, इसी से काठक, कालापक, पैप्पलादक आदि कई विभिन्न वैदिक संप्रदाय हैं। स्मृतियाँ भी कभी-कभी कहती हैं कि वेद का कोई लेखक नहीं है, ब्रह्मा इसे स्मरण रखते हैं और मनु भी विभिन्न कल्पों में धर्म को स्मृति में धारण करते हैं (पराशर-स्मृति १।२१)।

पू० मी० सू० (१।१।२८, अनित्यदर्शनाच्च) में वेद की नित्यता के विरोधी कुछ ऐसे वचन हमारे समक्ष रखे गये हैं, यथा 'बबर प्रावाहणि (प्रवाहण के पुत्र) ने ऐसी इच्छा की' (तै० सं० ७।१।१०।२) एवं 'कुसुरुविन्द औद्दालकि ने इच्छा की' (तै० सं० ७।२।२।१) जिनमें प्रावाहणि एवं औद्दालकि (उद्दालक के पुत्र) के नाम आये हैं, जो मरणशील हैं, अतः वे अर्थात् विरोधी, तर्क रखते हैं कि इन मरणशील लोगों के पूर्व वेद नहीं था, अतः वह नित्य नहीं कहा जा सकता। इसका उत्तर पू० मी० सू० (१।१।३१, 'परंतु श्रुतिसामान्यम्') में यह है कि ऐसे उदाहरणों की व्याख्या विभिन्न ढंग से होनी चाहिए, यथा—'बबर' एक ऐसा शब्द है जो अर्थ का अनुसारी है। अर्थात् उसके साथ चलने वाला है, और इसका अर्थ है मर्मर ध्वनि करने वाला तथा 'प्रावाहणि' (प्र+वाह्य) का अर्थ है वायु।

यह द्रष्टव्य है कि जैमिनि एवं यास्क की कई शतियों पूर्व 'ऐतिहासिक' नामक वैदिक व्याख्याताओं का सम्प्रदाय था। उदाहरणार्थ, ऋ० १०।९८।५ एवं ७ में ऋष्टिषेण के पुत्र देवापि एवं शन्तनु की ओर निर्देश है। यास्क (निरुक्त २।१०) ने 'तत्र-इतिहासमाचक्षते' नामक शब्दों के साथ कहा है कि देवापि एवं शन्तनु कुरु वंश के भाई थे तथा छोटा भाई शन्तनु बड़े भाई के अधिकारों को दबा कर राजा बनाया गया और ये शब्द उन्हीं की ओर निर्देश करते हैं। ऋ० (१०।१०) में यम एवं यमी के बीच कथनोपकथन है और निरुक्त (५।२) में इसके ८वें पद्य की ओर संकेत है। जो लोग वेद को नित्य मानते हैं वे ऐसी व्याख्या उपस्थित करेंगे कि यम का अर्थ है आदित्य एवं यमी का रात्रि। ऋ० (३।३३) में ऋषि विश्वामित्र एवं नदियों में एक संवाद है। निरुक्त (२।५-२७) ने ५-६ एवं १० पद्यों का अर्थ ऐतिहासिक दृष्टिकोण से किया है और कहा है कि विश्वामित्र राजा कुशिक के पुत्र थे।

दोनों अश्विनों के विषय में निरुक्त (१२।१) ने कई मत दिये हैं, यथा—वे स्वर्ग एवं पृथिवी हैं या दिन एवं रात हैं या सूर्य एवं चन्द्र हैं और कहा है कि ऐतिहासिकों के मतानुसार वे ऐसे राजा थे जिन्होंने धन-सम्पत्ति एकत्र की थी। सम्भवतः नैरुक्त लोग आपस में एक मत नहीं रखते थे और उन्होंने ऐसी व्याख्या की कि दोनों अश्विन्, विभिन्न प्राकृतिक रूपों के परिचायक थे। वृत्र के विषय में, जो ऋ० (१।३२।११) में आया है, नैरुक्तों का कथन है कि (निरुक्त २।१६) इस शब्द का अर्थ है 'बादल', किन्तु ऐतिहासिक लोगों के अनुसार वह (वृत्र) एक असुर था, जो त्वष्टा का पुत्र था। ऋ० (१।१०५) के १९ पद्यों (जिसके १८ पद्यों में "वित्तं मे अस्य रोदसी" नामक टेक आयी है, में निरुक्त (४।६) का कथन है कि यह सूक्त उस त्रित द्वारा रचा गया था जो कूप में फेंक दिया गया था। ऋ० (७।३३।११) में उर्वशी एवं वसिष्ठ (मैत्रा-वरुण) का, जो उर्वशी से उत्पन्न हुए थे, उल्लेख है और निरुक्त (५।१३-१४) ने व्याख्या की है कि उर्वशी अप्सरा थी। ऋ० (१०।९५) में ऐल पुरूरवा एवं उर्वशी के बीच कथनोपकथन है। किन्तु नैरुक्तों एवं ऐतिहासिकों की व्याख्या उस कथा के विषय में नहीं आयी है। सम्भवतः नैरुक्त लोग उर्वशी को 'बिजली' के तथा पुरूरवा को गर्जन करते वायु के अर्थ में लेते हैं। ऋ० (१०।१०८) में सरमा (इन्द्र की कुतिया) एवं पणियों के बीच संवाद है। निरुक्त (११।२५) में व्याख्या है और कहा गया है कि इसमें एक आख्यान (कहानी) है, यथा-इन्द्र द्वारा भेजी गयी

सरमा नामक कुतिया एवं पणियों (जो असुर थे) के बीच बातचीत हुई थी। इन सभी उपर्युक्त कथानकों में नैरुक्तों के अनुसार प्राकृतिक स्वरूपों की ओर निर्देश है, किन्तु ऐतिहासिकों के अनुसार इनमें ऐतिहासिक आधार है। यद्यपि निरुक्त द्वारा यह स्पष्ट रूप से नहीं व्यक्त किया गया है कि ऐतिहासिक लोग वेद को नित्य नहीं मानते, किन्तु उनकी (ऐतिहासिकों की) व्याख्याओं से प्रकट होता है कि वे लोग वेद की नित्यता के सिद्धान्त को नहीं मानते।

(२) **शब्द एवं अर्थ का सम्बन्ध नित्य है**[2] : यह शबर (१।१।५) द्वारा व्याख्यायित किया गया है कि कोई ऐसा व्यक्ति नहीं है जो शब्द एवं अर्थ के सम्बन्ध को समझाने में समर्थ हो सका हो। देखिए पू० मी० सू० (१।१।६–२३) और शबर का भाष्य; श्लोकवार्तिक (४४४ श्लोक आये हैं) एवं प्रकरणपञ्चिका (पृ० १३३–१४०)। इस प्रश्न पर कि 'गौ' के समान कोई शब्द क्या व्यक्त करता है, पू० मी० सू० ने उत्तर दिया है कि एक कोई भी शब्द 'आकृति' (या जाति) अर्थात् सार्वजनीन या एक विशिष्ट वर्ग का द्योतक है। संक्षेप में, मीमांसकों का कथन है कि शब्द, अर्थ एवं दोनों का सम्बन्ध नित्य है। देखिए पू० मी० सू० (१।३।३०–३५)।

(३) **आत्मा** : पू० मी० सू० ने किसी भी सूत्र में आत्मा के अस्तित्व के विषय में कोई बात स्पष्ट रूप में नहीं लिखी है। शंकराचार्य ने वे० सू० (३।३।५३) की व्याख्या में इस बात की ओर निर्देश किया है और कहा है कि भाष्यकार शबर ने आत्मा के अस्तित्व के विषय में उद्घोष किया है तथा श्रद्धेय उपवर्ष ने पूर्वमीमांसा की अपनी व्याख्या में यह कहकर कि वे शारीरिक (अर्थात् वेदान्तसूत्र) के विषय में विवेचन करते समय इस विषय में विचार करेंगे, इस प्रश्न पर विचार करने से अपने को रोक दिया है। सम्भवतः आत्मा-सम्बन्धी वक्तव्य के अभाव में कुछ लोगों ने पूर्वमीमांसा को अनीश्वरवादी कह डाला है। कुमारिल ने अभियोग लगाया है कि यद्यपि मीमांसा अनीश्वरवादी नहीं है तथापि कुछ लोगों ने इसे लोकायत [3] कह डाला है, और इसी से

२. सूत्र (पू० मी० सू० १।१।५) में कई निष्कर्ष निहित हैं। प्रथम यह है–'औत्पत्तिकः (नित्यः) शब्दस्य अर्थेन सम्बन्धः' दूसरा है–'तस्य, ज्ञानमुपदेशः' (उपदेश, इसको, अर्थात् धर्म को जानने का साधन है); यहाँ ज्ञान का अर्थ है 'ज्ञायते येन' (श्लोकवार्तिक, औत्पत्तिक सूत्र, श्लोक६); दूसरा अंश है– 'अव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे' (जो प्रत्यक्ष नहीं है उसके लिए यह अव्यतिरेक है, अमोघ या निश्चित है); तत्प्रमाणमनपेक्षत्वात्, अर्थात् वैदिक आज्ञा ज्ञान का एक उचित साधन है क्योंकि यह स्वतन्त्र है; बादरायणस्य (यही बादरायण का भी मत है)। 'शब्द क्या है ?' का उत्तर विभिन्न लेखकों ने विभिन्न ढंगों से दिया है। श्रद्धास्पद उपवर्ष का कथन है कि 'गौः' ऐसे शब्द में अक्षर ही शब्द के द्योतक हैं (देखिए शबर, १।१।५ एवं शंकर, वे० सू० १।३।२८)। अन्य मत यह है कि अक्षर 'स्फोट' को व्यक्त करते हैं और स्फोट ही अर्थ का परिचायक होता है। इस विषय पर यहाँ विचार नहीं किया जा सकता।

३. प्रायेणैव हि मीमांसा लोके लोकायतीकृता। तामास्तिक पथे कर्तुमयं यत्नः कृतो मया।। श्लोक वा० (श्लोक १०)। न्यायरत्नाकर ने टिप्पणी दी है कि भर्तृमित्र ने मीमांसा के विषय में कई त्रुटिमय सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं यथा–आवश्यक कर्मों या निषिद्ध कर्मों के सम्पादन से वाञ्छित या अवाञ्छित फलों की प्राप्ति नहीं होती। देखिए इस महाग्रन्थ की जिल्द ३, पृ०–४६–४७, टिप्पणी ५७ एवं जिल्द २, पृ० ३५८–३५६ जहाँ लोकायितों एवं नास्तिकों का उल्लेख है। लोकायत का अर्थ समय-समय पर बदलता रहता है। कौटिल्य (१।२) ने लोकायत को सांख्ययोग के साथ आन्वीक्षिकी के अन्तर्गत रखा है। पाणिनि को 'लोकायत' का ज्ञान था। उनके सूत्र (४।२।६०) में 'क्रतूक्थादिसूत्रान्ताट्ठक्' है और उक्थादिगण में लोकायत द्वितीय शब्द है। इस

उन्होंने अपने श्लोकवार्तिक में यह प्रदर्शित करने का प्रयास किया है कि यह मीमांसा आत्मा एवं परलोक में विश्वास रखती है। आत्माएँ अनेक हैं, नित्य, विभु एवं शरीर से भिन्न हैं, वे ज्ञान एवं मन से भी भिन्न हैं। आत्मा का निवास शरीर में होता है, वह कर्ता एवं भोक्ता है, वह शुद्ध चेतना के स्वरूप वाला है और स्वसंवेद्य (स्वयं अपने से जाने योग्य) है।

यद्यपि पू० मी० सू० ने सीधे ढंग से आत्मा के अस्तित्व की चर्चा नहीं की है, किन्तु कुछ ऐसे संकेत मिलते हैं, जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि पू० मी० सू० ने उपलक्षित ढंग से आत्मा के अस्तित्व में विश्वास किया है। बहुत से धार्मिक कृत्यों के सम्पादन का फल होता है स्वर्ग और पू० मी० सू० ने कतिपय वैदिक वचनों की ओर संकेत किया है जहाँ पर कृत्यों का फल स्वर्ग कहा गया है (उदाहरणार्थ, अधिकरण ३।७।१८–२०, 'शास्त्रफलं प्रयोक्तरि' जो 'अग्निहोत्रं जहुयात्स्वर्गकामः' ऐसे वचनों का अर्थ बताता है)। शबर (१।१।५) ने आत्मा को शरीर से भिन्न माना है। श्लोकवार्तिक ने इस विषय में १४८ श्लोक दिये हैं और तन्त्रवार्तिक ने भी संक्षेप में इस पर विचार किया है (पू० मी० सू० २।१।५)। श्लोकवार्तिक (आत्मवाद, श्लोक १४८) में एक मनोरम श्लोक है [४]––'भाष्यकार (शबर) ने नास्तिकता का उत्तर देने के लिए यहाँ

सूत्र पर काशिका ने 'लौकायतिकः' का उल्लेख किया है। कम-से-कम ६ठी शती के पूर्व तक लौकायतिक शब्द उस व्यक्ति के लिए प्रयुक्त होने लगा था जो आत्मा को शरीर से पृथक् नहीं मानते थे। कादम्बरी में यों आया है: 'लोकायतिकविद्यये वाधर्मरुचेः'। शंकराचार्य ने वे० सू० (३।३।५४) में कहा है कि लौकयतिक लोग चार तत्त्वों (पृथिवी, जल, अग्नि एवं वायु) के अतिरिक्त किसी अन्य सिद्धान्त को नहीं मानते। देखिए प्रो० दासगुप्त का ग्रन्थ, 'इण्डियन फिलॉसॉफी, जिल्द ३, पृ० ५१२–५३३ एवं डा० डब्ल्यू० रूबेन कृत 'लोकायत' (बर्लिन १९५४)। छान्दोग्योपनिषद् (८।८) से प्रकट होता है कि असुर विरोचन के मत से शरीर से पृथक् कोई आत्मा नहीं है और शरीर ही आत्मा है। अभी हाल में (सन् १९५९ ई०) श्री देवप्रसाद चट्टोपाध्याय ने 'लोकायत' नामक ग्रन्थ लिखा है जिसमें विस्तार के साथ प्राचीन भारतीय भौतिकवाद पर अध्ययन उपस्थित किया गया है।

४. इत्याह नास्तिक्य निराकरिष्णुरात्मास्तितां भाष्यकृदत्र युक्त्या। दृढत्वमेतद्विषयस्य बोधः प्रयाति वेदान्तनिषेवणेन॥ श्लोकवा० (आत्मवाद, १४८)। आत्मा के स्वसंवेद्य होने के विषय में शबर का कथन है: 'स्वसंवेद्यः स भवति, नासावन्येन शक्यते द्रष्टुं कथमसौ निर्दिश्येतेति। यथा च कश्चिच्चक्षुष्मान् स्वयं रूपं पश्यति न च शक्नोत्यन्यस्मै जात्यन्धाय तन्निदर्शयितुम्। न च तन्न शक्यते निदर्शयितुमित्येतावता नास्तीत्यवगम्यते' और वे बृहदारण्यकोपनिषद् के कुछ वचनों पर निर्भर करते हैं, यथा–३।९।२६, ४।५।१५ (अगृह्यो न हि गृह्यते) ४।३।६ (आत्मैवास्य ज्योतिर्भवति)। श्लोकवार्तिक में, 'आत्मास्तिता' एवं 'नास्तिक्य' शब्द एक-दूसरे की सन्निधि में रखे हुए हैं, अतः इससे यह प्रकट होता है कि कुमारिल के मत से नास्तिक मुख्य रूप से वह है जो आत्मा के अस्तित्व में विश्वास नहीं करता। पाणिनि में एक सूत्र है 'अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः' (४।४।६०) जिस पर महाभाष्य में टीका है: 'अस्तीत्यस्यमतिरास्तिकः। नास्तीत्यस्य मतिर्नास्तिकः' काशिका में व्याख्या है: 'परलोकोऽस्तीति यस्य मतिरस्ति स आस्तिकः तद्विपरीतो नास्तिकः'। अतः मुख्य रूप से नास्तिक का अर्थ है 'वह व्यक्ति जो आत्मा के अस्तित्व में विश्वास नहीं रखता है (परिणामतः वह भौतिक लोक के अतिरिक्त किसी अन्य लोक में विश्वास नहीं करता)। तन्त्रवार्तिक (पृ० ४०२–४०४, २।१।५) में आत्मा के विषय में ऐसा कहा गया है: 'तत्रनित्यः सन्नात्मा शरीराभ्यन्तरवर्ती (नाणुमात्रः, न शरीरपरिमितः), सर्वगतः, आत्मनानात्वे त्वदोषः, सर्वगतत्वात्सिद्धयात्मनो निश्चलत्वम्'।

(अर्थात् भाष्य-वचनों में) तर्क द्वारा आत्मा के अस्तित्व को स्थापित किया है; इस विषय में (अर्थात् आत्मा के अस्तित्व के विषय में) वेदान्त के वचनों द्वारा बोध (ज्ञान) सुस्थिर एवं चिरस्थायी हो जाता है।' पद्मपुराण (६।२६३।७४–७६) में आया है कि जैमिनि ने एक विशाल किन्तु निरर्थक शास्त्र बनाया है जिसमें देवता के अनस्तित्व का विवेचन पाया जाता है।[५]

(४) ईश्वर एवं यज्ञों में देवतागण : शबर की स्थिति यों है--वेदों का प्रणयन ईश्वर द्वारा नहीं हुआ है और न शब्द एवं अर्थ का सम्बन्ध ही ईश्वर द्वारा निर्मित किया गया है। प्रकरणपञ्चिका ने भी अखिल विश्व के लिए किसी स्रष्टा की आवश्यकता नहीं समझी है। कुमारिल की बात भी विलक्षण एवं आश्चर्यजनक है। उन्होंने श्लोकवार्तिक में कहा है कि यह सिद्ध करना कठिन है कि ईश्वर ने धर्माधर्म, उनकी प्राप्ति के साधनों, शब्दार्थों के सम्बन्धों एवं वेद के साथ सर्वप्रथम इस संसार की सृष्टि की। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने स्पष्टरूप से सर्वोच्च शक्ति या ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया है, प्रत्युत ऐसी शक्ति या ईश्वर के प्रति अनभिज्ञता मात्र प्रकट की है। इतना होते हुए भी उन्होंने श्लोकवार्तिक का आरम्भ शिव-स्तुति के साथ किया है। न्यायरत्नाकर का कथन है कि यह श्लोक यज्ञ का देवकरण मात्र है। किन्तु वैसी स्थिति में कुमारिल पर द्वैधीभाव या कपट का लांछन लग जायगा। ऐसा कहना अच्छा होगा कि किसी ग्रन्थ के आरम्भ करने में मंगल वचन कहने की परिपाटी को कुमारिल अमान्य नहीं कर सके।

पवित्र अग्नि में आहुति डालने के संदर्भ में देवता से सम्बन्धित प्रश्न पर विचार करने से आश्चर्यजनक परिणाम प्राप्त होते हैं। जैमिनि (८।१।३२–३४) के मत से यज्ञ में 'हवि' प्रधान है और देवता गौण, और जब हवि एवं देवता के चुनाव की बात उपस्थित हो तो अन्तिम निर्णय के लिए हमें हवि पर निर्भर रहना होगा। तर्क यह है कि वेद देवता को यज्ञिय कृत्य से सम्बन्धित कर देता है, यथा 'सन्तान के इच्छुक व्यक्ति को ११ घटशकलों पर पकाया गया हवि इन्द्र एवं अग्नि के लिए देना चाहिए, तब इन्द्र उसे सन्तान देता है' (तै० सं० २।२।१।१) इतना होते हुए भी फल की प्राप्ति यज्ञ से ही होती है न कि देवों से (यहाँ पर इन्द्र एवं अग्नि से) और ऐसे शब्द कि 'इन्द्र एवं अग्नि यजमान को सन्तान देते हैं', केवल स्तुति रूपात्मक हैं। इस विषय में पू० मी० सू० (९।१।६–१०) अति महत्त्वपूर्ण है। शबर ने वैदिक वचन उद्धृत किये हैं, यथा-- ऋ० १०।४७।१, ३।३०।५, ८।१७।८ (जहाँ इन्द्र के दाहिने हाथ, मुक्का, गले, पेट एवं बाहुओं का उल्लेख है), १।६५।१०, ८।७७।४ (जहाँ इन्द्र को अपने पेट में सभी खाद्य पदार्थों के रख लेने एवं ३० पात्रों में भरे सोमरस को पी लेने की चर्चा है), ८।३२।२२ एवं १०।८९।१० (जहाँ इन्द्र को लोक, स्वर्ग, पृथिवी, जलों, पर्वतों का राजा कहा गया है। शबर ने यह सब उद्धृत करके टिप्पणी की है कि ये सब अर्थवाद मात्र हैं, यद्यपि ऐसा लगता है कि देवों को शरीर प्राप्त हैं और वे खाते-पीते हैं। शास्त्रदीपिका में तर्क आया है कि यदि देवता को शरीर होता और वे खाते-पीते एवं प्रसन्न होते तो वे *अनित्य* हो जाते और उनका वेद में, जो स्वयं *नित्य* है, इस प्रकार का उल्लेख न होता। आगे और कहा गया है कि सीमित बुद्धि वाले लोग वेद-वचनों को भली भाँति न जानने के कारण भ्रामक बातें करते हैं। शबर (१०।४।२३) ने टिप्पणी की है कि इस विषय में कतिपय मत हैं कि देवता क्या हैं जिन्हें सूक्तों में सम्बोधित किया जाता है (यथा ऋ० १।९४) या जिन्हें वेद द्वारा हवि देने का निर्देश है (यथा--आठ घटशकलों पर पका

५. वेदार्थवन्महाशास्त्रं मायया यदवैदिकम्। मयैव रच्यते देवि जगतां नाशकारणात्। द्विजन्मना जैमिनिना पूर्वं वेद (चेद ?) मपार्थकम्। निरीश्वरेण वादेन कृतं शास्त्रं महत्तरम्।। पद्मपुराण (६।२६३।७४-७६)।

कर अग्नि को हवि देना चाहिए); देवता यों ही यज्ञ से नहीं सम्बन्धित हो जाता, प्रत्युत किसी हवि के सन्दर्भ में प्रयुक्त शब्द से वह सम्बन्धित होता है। और जहाँ वेद के निर्देश के अनुसार अग्नि को हवि दिया जाता है वहाँ अग्नि के अन्य पर्याय शब्दों का प्रयोग नहीं किया जा सकता, यथा—शुचि, पावक, धूमकेतु, कृशानु, वैश्वानर या शाण्डिल्य। अतः देवता शब्दों का ही विषय है, जैसा कि शबर का मत है। प्रकरणपञ्चिका का भी कथन है कि इसके विषय में कोई प्रमाण नहीं है कि याग ऐसा साधन है जिसके द्वारा देवता को प्रसन्न किया जाता है, यदि ऐसा कहा जाय कि याग में देवता की पूजा होती है, तो यह केवल लाक्षणिक प्रयोग मात्र है। इससे और पूर्ववर्ती सिद्धान्त से यह निष्कर्ष निकलता है कि पू० मी० सू०, शबर एवं कुमारिल ने इस बात को अस्वीकार कर दिया है कि वेद ईश्वर का शब्द है या धार्मिक कृत्यों के फल ईश्वर के अनुग्रह से प्राप्त होते हैं। इसी से पद्मपुराण (६।२६३।७४-७६) ने जैमिनि को निरीश्वरवादी कहा है।

यदि वेद यह कहता है कि 'स्वर्ग की इच्छा करने वाले को याग करना चाहिए' तो इससे तीन आकांक्षाएँ उत्पन्न होती हैं। प्रथम आकांक्षा है—क्या प्राप्त करना है? इसका उत्तर है 'स्वर्ग' जो याग का फल या उद्देश्य है। दूसरी आकांक्षा है—किन साधनों से? जो प्रथम है, जिसे प्राप्त करना है, वह 'यज' धातु से प्राप्त होता है। तीसरी आकांक्षा है—कौन सी विधि है या किस विधि से? और इसे पवित्र अग्नियों की संस्थापना से तथा उन कृत्यों द्वारा, जो वचन के संदर्भ में उल्लिखित हैं, प्राप्त किया जाता है, (स्वर्गकामो यजते)। इस वचन से यह ज्ञात होता है कि फल या उद्देश्य (स्वर्ग) याग से प्राप्त होता है (उत्पन्नहोता है) न कि देवता से।

यज्ञों में देवताओं के विषय में पश्चात्कालीन लेखक इन विचारों को नहीं अपना सके। वेंकटनाथ (या वेंकटदेशिक, १२६८–१३६९ ई०) ने 'सेश्वरमीमांसा' नामक ग्रन्थ लिखा, जिसमें उन्होंने भट्ट एवं प्रभाकर दोनों सम्प्रदायों की आलोचना की है और कट्टर रामानुजी वैष्णव होने के कारण उन्होंने दोनों मीमांसाओं का समन्वय उपस्थित करने का प्रयत्न किया है और शबर, कुमारिल, शालिकनाथ आदि के सम्मिलित साक्ष्य के विरोध में यज्ञों के सम्पादन से उत्पन्न फल के दाता के रूप में ईश्वर को माना है। देखिए डा० राधाकृष्णन की 'इण्डियन फिलॉसॉफी' जिल्द २ (पृ० ४२४–४२९), जहाँ पूर्वमीमांसा के मतानुसार ईश्वर एवं लोक पर विवेचन उपस्थित किया गया है।

(५) अखिल विश्व को न तो वास्तविक सृष्टि होती है और न विनाश : आधारभूत तत्त्व या अंग तो आते-जाते रहते हैं किन्तु विश्व का न तो आरम्भ है और न अन्त। सृष्टि एवं प्रलय का वर्णन तो दैव (भाग्य या नियति) की शक्ति एवं मानव प्रयत्न की निस्सारता प्रदर्शित करने का साधन मात्र है और वेदविहित कर्तव्यों को करने के लिए उद्बोधन मात्र है। बिना किसी मानव प्रयास के लोक उत्पन्न हो सकता है और सभी प्रयासों के रहते हुए भी इसका (लोक का) विलयन भी हो सकता है। विश्व वास्तविक है, और सदा रहा है तथा सभी समयों में चलता रहेगा। देखिए श्लोकवार्तिक (५।११२-११७), प्रकरणपञ्चिका (पृ० १३७-१४०) एवं न्यायरत्नाकर[६]। श्लोकवार्तिक में यहाँ तक कहा गया है—'यह निश्चित रूप से मान लेना चाहिए कि ये सब (लोक

६. तस्मादद्यवदेवात्र सर्गप्रलयकल्पना। समस्तक्षयजन्मभ्यां न सिध्यत्य प्रमाणिका।। सर्वज्ञवन्निषेध्या च स्रष्टुः सद्भावकल्पना।।...तस्मात् प्रागपि सर्वेऽमी स्रष्टुरासन् पदार्थयः। स्यात्तत्पूर्वकता चास्य चैतन्यादस्मदादिवत्।। एवं ये युक्तिभिः प्राहुस्तेषां दुर्लभमुत्तरम्। अन्वेष्यो व्यवहारोयमनादिर्वेदवादिभिः।। श्लोकवा० (सम्बन्धाक्षेप० श्लोक

आदि) स्रष्टा के पूर्व से ही उपस्थित थे, और फिर भी जिस प्रकार हमलोगों के पूर्व वेद का अस्तित्व था, उसी प्रकार वेद के पूर्व बुद्धिमान होने के कारण स्रष्टा का होना (अनुमान द्वारा) सिद्ध किया जा सकता है।

यह द्रष्टव्य है कि सृष्टि एवं प्रलय के विषय में मीमांसा का दृष्टिकोण महाभारत एवं गीता (१०।८) के दृष्टिकोण से भिन्न है (अहं सर्वस्य प्रभावो मत्तः सर्वं प्रवर्तते)।

(६) अपूर्व का सिद्धान्त : वेद में आया है कि स्वर्गेच्छुक को यज्ञ करना चाहिए। किन्तु स्वर्ग की फल-प्राप्ति बहुत दिनों के उपरान्त होती है और यज्ञ थोड़े काल में ही समाप्त हो जाता है। अतः यज्ञ (कारण) एवं स्वर्ग (फल) या उद्देश्य के बीच कोई सीधा सम्बन्ध नहीं रहता। वेद की आज्ञा से यह मान लेना चाहिए कि मनुष्य के यज्ञ-सम्पादन सम्बन्धी कर्म एवं फल के बीच कोई जोड़ने वाली कड़ी है। इसके पूर्व कि यज्ञ में प्रमुख एवं गौण कर्म किये जायें, मनुष्यों के पास स्वर्ग के लिए कोई सामर्थ्य नहीं है और यज्ञ भी स्वर्ग को उत्पन्न करने में असमर्थ हैं। किसी यज्ञ में प्रमुख एवं गौण कर्म जब सम्पादित होते हैं तो वे असमर्थता को दूर करते हैं और स्वर्ग के लिए किसी शक्ति की उत्पत्ति करते हैं। ऐसा सभी को अवश्य मान लेना चाहिए। यदि ऐसी समर्थता न पायी जाय तो एक अंगीकार न किये जाने वाला निष्कर्ष उत्पन्न होगा कि कर्मों का सम्पादन एवं उनका असम्पादन एक ही स्तर पर हैं। यह समर्थता या शक्ति जो या तो मनुष्य (कर्ता) में होती है या सम्पादित यज्ञ से उत्पन्न होती है, शास्त्र में अपूर्व नाम से घोषित है। यह सत्य है कि इस समर्थता की सिद्धि प्रत्यक्ष ज्ञान से नहीं हो सकती, केवल 'श्रुतार्थापत्ति' से ही इसे हम सिद्ध कर सकते हैं। जब हमसे कोई यह कहता है कि एक मोटा व्यक्ति दिन में नहीं खाता है तो हमें यह मान लेना होता है कि वह रात्रि में अवश्य खाता होगा; इसी प्रकार, वेद यज्ञ एवं स्वर्ग दोनों को लाता है; हमें यह मान लेना है कि यज्ञ से हमें सूक्ष्म शक्ति की प्राप्ति होती है, यद्यपि स्वयं यज्ञ कुछ काल के उपरान्त स्वयं समाप्त हो जाता है और यह शक्ति स्वर्गफल को उत्पन्न करने का कारण है और हम उसे यजमान के आत्मा में अवस्थित या एक अदृश्य प्रभाव के रूप में मान सकते हैं। मीमांसक लोग यह नहीं स्वीकार करते कि धार्मिक कर्मों के फल ईश्वर द्वारा दिये जाते हैं। वे० सू० (३।२।४०) का कथन है कि यह जैमिनि का दृष्टिकोण है (धर्मं जैमिनिरत एव) और यह बादरायण, शंकर एवं भामती के इस मत का विरोधी है कि ईश्वर ही फल देने वाला है। प्रकरणपञ्चिका (पृ० १८६) के मत से अदृश्य शक्ति कर्ता नहीं है प्रत्युत वह स्वयं कर्म से सूक्ष्म रूप में उत्पन्न होती है। माधवाचार्य द्वारा दर्शपूर्णमास यज्ञ के विषय में अपूर्व के चार प्रकार कहे गये हैं (अपूर्व के अन्य उप प्रकार भी कहे गये हैं)।

भावना यह है कि प्रत्येक कृत्य एक अपूर्व की उत्पत्ति करता है और कृत्य के प्रत्येक अंग का एक अपूर्व होता है जो सम्पूर्ण कृत्य के अपूर्व का छोटा रूप होता है।

तन्त्रवार्तिक ने अपूर्व नाम की व्याख्या की है। यज्ञ-सम्पादन के पूर्व अदृश्य शक्ति का अस्तित्व नहीं था, इसका प्राकट्य यज्ञ-सम्पादन के उपरान्त ही एक नवीन शक्ति के रूप में होता है, अतः इसका अर्थ केवल यौगिक है।

११३-११७)। बुद्ध को सर्वज्ञ कहा गया था, जैसा कि अमरकोश में आया है : 'सर्वज्ञः सुगतो बुद्धो' आदि। न्यायरत्नाकर में श्लोक ११३-११४ पर टिप्पणी हुई है : 'यथा च बुद्धादेः सर्वज्ञत्वं पुरुषत्वादस्मदादिवन्निषिद्धम्, एवं प्रजापतेरपि स्रष्टृत्वं निषेध्यमित्याह सर्वज्ञवदिति। तेन दैवप्रभावकथनार्थोयं सृष्टिप्रलयवादः। समस्त पुरुषकाराभावेऽपि सृष्टिकाले दैववशेनैव सर्वं प्रवर्तते, प्रलयकाले च सत्यपि पुरुषकारे दैवोपरमादेवोपरमिति तस्माद्धर्मानुष्ठान एव यतितव्यमित्येतत्परं सृष्टिप्रलय वचनमिति। न्या० र० (श्लोकवार्तिक, सम्बन्धक्षेपपरि०, श्लोक ११२)।

यदि कोई ऐसी धारणा बनाता है कि अपूर्व कोई ऐसी शक्ति है जो किसी यज्ञकर्ता में निवास करने के निमित्त आती है, तो उसकी यह धारणा उन अर्वाचीन लेखकों की भाँति है जो ऐसा विश्वास करते हैं कि वास्तविक पूजा केवल पुनीत समझे जाने वाले शब्दों का बार-बार कहना नहीं है, प्रत्युत यह ऊर्ध्वगामी गति है या पूजक की आध्यात्मिक शक्ति की तीव्रता की वृद्धि का द्योतक है (देखिए डब्ल्यू० जेम्स का ग्रन्थ 'वेराइटीज आव रिलिजिएस एक्सपीरिएंस', पृ० ४६७)।

(७) स्वतः प्रामाण्य : यह पहले ही कहा जा चुका है प्रमाण छह हैं (किन्तु प्रभाकर के अनुसार केवल पाँच हैं)। पूर्वमीमांसा का कथन है कि सभी प्रत्यक्ष अपने में स्वाभाविक रूप से सप्रमाण अथवा सिद्ध हैं, उन्हें अपनी प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए बाह्य सहायता की आवश्यकता नहीं पड़ती, किन्तु प्रत्यक्ष की अप्रामाणिकता (परतः) बाह्य रूप से यह प्रदर्शित कर स्थापित होती है कि प्रत्यक्ष उत्पन्न करने वाले अंग में दोष था या आगे चल कर यह कहकर कि एक विशिष्ट प्रत्यक्ष भ्रामक था, उसे स्थापित किया जाता है। प्रभाकर और आगे बढ़ जाते हैं और मत प्रकाशित करते हैं कि प्रत्येक अनुभव सप्रमाण होता है और कोई भी अनुभव भ्रामक या मिथ्या नहीं कहा जा सकता।

(८) स्वर्ग : जैमिनि, शबर एवं कुमारिल द्वारा व्यक्त स्वर्ग सम्बन्धी विचार वेद एवं पुराणों में उल्लिखित विचार से भिन्न हैं। देखिए इस महाग्रन्थ का खण्ड (जिल्द) ४, पृ० १६५-१६७ एवं १६८-१७१ जहाँ पर वैदिक साहित्य, महाकाव्यों एवं पुराणों में उल्लिखित स्वर्ग से सम्बन्धित सुख का वर्णन किया गया है। स्थानाभाव से हम यहाँ पर बहुत ही संक्षेप में कहेंगे। ऋग्वेद (९।११३।७-११) में ऋषि ने सोम से प्रार्थना की है कि वह उन्हें उस अमर लोक में रख दे जहाँ निरन्तर प्रकाश रहता है, जहाँ सभी इच्छाओं की पूर्ति हो जाती है, जहाँ पर विभिन्न कोटियों के आनन्द की उपलब्धि होती है। स्वर्ग को ऐसा स्थान माना गया है जहाँ पर युद्ध लड़ने के उपरान्त वीर लोगों के जीवात्मा जाते हैं (ऋ० ६।४६।१२)। ऋ० (१०।१५४।२-४) में आत्मा से कहा गया है कि वह उन लोगों से जाकर मिल जाय जो महान् तपों से अजय्य हो गये हैं, जो युद्ध में मर गये हैं, जिन्होंने सहस्रों गायों का दान किया है, जिन्होंने सदाचार का जीवन बिताया है और जो विज्ञ ऋषि थे।

अथर्ववेद (४।३४।२ एवं ५-६) में आया है कि स्वर्ग में बहुत-सी नारियाँ हैं, खाने के लिए बहुत-से पौधे, विभिन्न प्रकार के पुष्प हैं, वहाँ घृत, मधु, सुरा, दूध, दही की नदियाँ हैं और चारों ओर कमल के सरोवर हैं। शतपथ ब्राह्मण (१४।७।१।३२-३३) में आया है कि स्वर्ग का आनन्द, पृथिवी के आनन्द का सौगुना होता है। देखिए मेकडोनेल का ग्रन्थ 'वेदिक मैथॉलॉजी' (पृ० १६७-१६८) एवं ए० बी० कीथ का ग्रन्थ 'रिलिजन एण्ड फिलासॉफी आव दि वेद' आदि (पृ० ४०३-४०६, १९२४)। यहाँ तक कि उपनिषदों ने भी स्वर्ग के आनन्द का उल्लेख किया है, यथा—छा० उप० (८।५।३) ने ब्रह्मा के लोक में दो झीलों, सोम की बौछार करते हुए अश्वत्थ वृक्ष एवं अपराजिता नामक ब्रह्मा की नगरी का उल्लेख किया है; कौशीतकि उप० (१।३ एवं ४) ने इसे बढ़ाया है और इतना जोड़ दिया है कि जो लोग स्वर्ग में पहुँचते हैं उनके स्वागत में पाँच सौ अप्सराएँ आती हैं, जिनमें एक सौ के हाथों में जयमाल, एक सौ के पास अंजन, एक सौ के पास सुगंधियाँ, एक सौ के पास वस्त्र तथा एक सौ के पास फल रहते हैं। कालिदास ऐसे कवियों ने युद्ध में मृत वीर के आत्मा के विषय में लिखा है कि जब वह स्वर्ग में पहुँचता है तो उसके पास अप्सराएँ आती हैं (रघुवंश ७।५१ : वामांगसंसक्तसुरांगनः स्वं नृत्यत्कबन्धं समरे ददर्श')। पुराणों ने स्वर्ग के आनन्द का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। देखिए ब्रह्मपुराण (२२५।६), पद्म० (२।९५।२-५), मार्कण्डेय (१०।९३-९५), जिन्होंने नन्दन वन, अप्सराओं के समूहों से युक्त विमानों, सोने के आसनों, विस्तरों, चिन्ताभावों, सभी सुखों आदि का विशद उल्लेख किया है। शबर ने पू० मी० सू० (६।१।१)

पर लिखते हुए स्वर्ग सम्बन्धी दो प्रचलित मतों का उल्लेख किया है; एक है—वह स्वर्ग है जो व्यक्ति को आनन्द देता है, यथा रेशमी वस्त्र, चन्दन, षोडशियाँ; दूसरा है—स्वर्ग वह है जहाँ न उष्णता है, न जाड़ा है, न भूख है, न प्यास है, न असन्तोष है और न थकावट है।

शबर एवं कुमारिल का कथन है कि स्वर्गविषयक प्रचलित धारणा अप्रामाणिक है, महाभारत एवं पुराण मनुष्यकृत हैं, अतः उनकी बातें अविचारणीय हैं तथा स्वर्ग सम्बन्धी वैदिक निरूपण केवल प्रशंसा के लिए अर्थवाद है।

पू० मी० सू० (४।३।१५) में आया है कि स्वर्ग सभी धार्मिक कृत्यों (यथा—विश्वजित) का फल है जिसके लिए वचनों द्वारा कोई स्पष्ट फल घोषित नहीं है। शबर का कथन है : 'सुख ही स्वर्ग है और उसे सभी खोजते हैं'। एक प्राचीन श्लोक में आया है—'वह सुख-स्थिति जिसमें दुख न मिला हो, और जो आगे दुख से न ग्रसित होने वाला हो, जो अभिलाषा करने पर प्राप्त हो जाय, वही 'स्वर' (स्वर्ग) शब्द से संज्ञापित होता है[७]।'

मेधातिथि ने टिप्पणी की है कि स्मृतियाँ कभी-कभी घोषित करती हैं[८] कि एक गाय के दान से सभी फलों की प्राप्ति होती है और पापों से छुटकारा मिल जाता है, इसका परिणाम यह हो जाता है कि महान् धार्मिक कृत्यों तथा हलके-फुलके कृत्यों के फल एक-से समझ लिये जाते हैं, किन्तु यह सोच लेना चाहिए कि फल अवधि को लेकर भिन्न-भिन्न होते हैं; नहीं तो कोई भी महान् एवं कठिन कृत्यों का सम्पादन नहीं करेगा।

कुछ वैदिक कृत्यों से ऐसे फल प्राप्त होते हैं जो स्वर्ग से भिन्न होते हैं। उदाहरणार्थ, तै० सं० (२।४।६।१) में आया है—'जो अधिक पशुओं की कामना रखता है उसे चित्रा नामक यज्ञ करना चाहिए' या जो एक ग्राम का नेता बनना चाहता है उसे 'संग्रहणी' नामक इष्टि करनी चाहिए (तै० सं० २।३।६।२)। शबर का कथन है कि वेद ऐसा नहीं कहते कि इस प्रकार के यज्ञों से इस जीवन में फल नहीं प्राप्त हो सकता। इस पर टुप्टीका (पू० मी० सू० ६।१।१) ने एक सुन्दर टिप्पणी की है। अभिलषित वस्तुओं (पुत्र-जन्म आदि) की प्राप्ति के लिए वेद में जो उपाय घोषित है वह इस या उस लोक में अवश्य फलदायक होगा। यदि किसी व्यक्ति ने पूर्व-

७. स स्वर्गः स्यात्सर्वान्प्रत्यविशिष्टत्वात्। पू० मी० सू० (४।३।१५); शबर का कथन है : 'सर्वे हि पुरुषाः स्वर्गकामाः कुत एतत्। प्रीतिर्हि स्वर्गः सर्वश्च प्रीतिं प्रार्थयते।' स्वर्ग साध्य है और याग साधन है जैसा कि पू० मी० सू० (६।२।४) की टुप्टीका में आया है; यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्। अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदम्।। वाचस्पति की सांख्यकौमुदी (पृ० ४५, चौखम्भा सीरीज) द्वारा तथा उद्योगपर्व (३३।७२) पर नीलकण्ठ द्वारा उद्धृत। कुछ लोगों ने इस श्लोक को विष्णुपुराण का माना है। प्रकरणपञ्चिका (पृ० १०२-१०३) में इस श्लोक की ध्वनि प्राप्त होती है : 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेतेत्यवमादि समाम्नायं सकलदुःखसम्भेदरहिताभिलाषोपनीतदीर्घतरसुखसाधनत्वेनार्थवादैः स्तूयमानं कर्म दृश्यते।...तथा च यावत्तावत्सुखसाधने स्वर्गशब्दं न प्रयुञ्जते किन्तु सातिशयप्रीतिजनके। मेधातिथि (मनु ४।८७=जहाँ नरकों की संख्या २१ कही गयी है) ने टिप्पणी की है: 'नरकशब्दो निरतिशयदुःखवचनः। एकविंशति संख्या अर्थवादः। प्रकाशित विष्णुपुराण (२।६।४६) में आया है: 'मनः प्रीतिकरः स्वर्गो नरकस्तद्विपर्ययः। नरकस्वर्गसंज्ञे वै पुण्यपापे द्विजोत्तम।।

८. स्मृत्यन्तरे सर्वफलता पापप्रमोचनार्थतापि गोदानस्य श्रुता यावतामल्पोपकराणां महोपकारैः फलसाम्यमुच्यते तेषां लोकवत्परिमाणतः फलविशेषोऽवगन्तव्यः। प्राप्यते तदेव फलं न तु चिरकालम्। आवाच्यो ह्ययं न्यायः। पणलभ्यं हि तत्प्राप्तः क्रीणाति दशभिः पलैः—इति समानफलत्वे महाप्रयासानर्थक्यं प्राप्नोति। मेधा० (मनु ३।९५)।

जन्म में दुष्कृत्य किये हों तो उसे उन पापों के प्रभावों से निपटना पड़ेगा और जब तक वह पापप्रभावों में रहता है तब तक यज्ञों से उत्पन्न फल स्थगित रहते हैं। किन्तु जब पापों के प्रभाव बहुत कम रह जाते हैं तो व्यक्ति इसी जीवन में काम्य कृत्यों के फल प्राप्त करने लगता है। वेद-वचन केवल इतना कहते हैं कि कृत्य-सम्पादन का फल अवश्य मिलता है, किन्तु वे यह नहीं कहते कि फल (कृत्य-सम्पादन के उपरान्त) तुरंत मिल जाते हैं। अतः (फल प्राप्ति के काल के विषय में) कोई निश्चितता नहीं है। किन्तु स्वर्ग का उपभोग (इसी जीवन में सम्पादित कृत्यों के फल के रूप में) परलोक में ही होता है। स्वर्ग निरतिशय प्रीति (अर्थात् आनन्द) है और कर्म के अनुरूप ही उसकी प्राप्ति होती है, किन्तु इसका उपभोग इस जन्म में नहीं हो सकता, क्योंकि मनुष्य इस लोक में प्रत्येक क्षण में सुख एवं दुख का अनुभव करता रहता है। प्रत्येक सुख ज्योतिष्टोम से ही नहीं प्राप्त होता और प्रत्येक व्यक्ति ज्योतिष्टोम करता भी नहीं। किन्तु कुछ सुख मनुष्य को प्राप्त होता ही है। अतः यह स्वाभाविक है। निरतिशय सुख के अनुभव के लिए दूसरे शरीर की कल्पना करनी ही है, क्योंकि कोई अन्य तर्कसंगत व्याख्या नहीं मिल पाती। वह निरतिशय सुख (प्रीति) व्यक्ति के पास तब तक नहीं आती जब तक कि वह जीता रहता है, अतः स्वर्ग का उपभोग दूसरे जीवन में ही होता है।[९]

(६) **मोक्ष** : पू० मी० सू०, शबर एवं प्रभाकर ने मोक्ष के विषय में नहीं लिखा है। कुमारिल एवं प्रकरण-पञ्चिका ने इस पर विचार किया है। दोनों में आया है कि मोक्ष की प्राप्ति हो जाने पर पुनः शरीर धारण नहीं होता। श्लोकवार्तिक में आया है—'जो मोक्ष प्राप्त करना चाहता है उसे निषिद्ध कर्म नहीं करना चाहिए और न काम्य (यथा सन्तान, धन आदि के लिए किया जाने वाला) कर्म ही करना चाहिए, उसे नित्य (यथा अग्निहोत्र) एवं नैमित्तिक (स्नान, जप, दान जो विशेष पर्व, ग्रहण आदि में किया जाता है) कर्म करने चाहिए जिससे उन पापों से छुटकारा हो जो इन कर्मों के न करने से एकत्र होते है; यदि व्यक्ति नित्य एवं नैमित्तिक कर्मों के फलों की कामना नहीं करता तो वे उसे प्राप्त नहीं होंगे, क्योंकि ऐसे फल केवल उन्हीं को प्राप्त होते हैं जो उन्हें चाहते हैं। पूर्व जीवन के कर्मों के फलों का निवारण उस जन्म में भोगने से होता है जिसमें मोक्ष की खोज की जाती है। यह मत शंकराचार्य (वे० सू० ४।३।१४) की धारणा से मेल नहीं खाता, क्योंकि शंकराचार्य ने ऐसा कहा है कि बिना आत्म-ज्ञान के मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती (श्वेत० उप० ३।८)। उसी सूत्र के अपने भाष्य

९. पुत्रादीनि कामयमानस्योपायो विधीयते। उपाये च कृते नियतमुपेयेन भवितव्यम्। तदा पूर्वजन्मन्यशुभं कृतम्। तच्चानुभाव्यं तस्मात्पूर्वजन्मकृतमनुभूयते। तत्र यदि जन्मान्तरकृतोऽधर्मः प्रक्षीणस्तत इहैव जन्मनि फलम्। अथाक्षीणस्ततस्तेन बद्धसाधकं फलमुत्कृष्यते। फलं भवतीत्येतावति विधिशब्दोऽस्ति न त्वनन्तरत्वे तस्मादनियमः। स्वर्गस्तु जन्मान्तर एव। स हि निरतिशया प्रीतिः कर्मानुरूपा चेति न शक्येह जन्मन्यनुभवितुम्। यतोऽस्मिँल्लोके क्षणे क्षणे सुखदुःखे अनुभवन्ति। न च प्रीतिमात्रं ज्योतिष्टोमफलम्। प्राणिमात्रस्य च सा विद्यते न च प्राणिमात्रं ज्योतिष्टोमं करोति। तस्मात्स्वाभाविक्यसौ। देहान्तरं तु निरतिशयप्रीत्यनुभवनायान्यथानुपपत्त्या कल्प्यते। तच्चामृतस्य न भवतीत्यतो जन्मान्तरे स्वर्गः। टुप्टीका (४।३।२८)। यह द्रष्टव्य है कि यहाँ पर प्रीति (सुख-क्षण) एवं निरतिशयप्रीति में अन्तर दर्शाया गया है। टुप्टीका (६।१।१) में आया है कि सिद्धान्त मत के अनुसार स्वर्ग का अर्थ है 'प्रीति' किन्तु पूर्वपक्ष में आया है कि स्वर्ग उन वस्तुओं के साधनों का द्योतन करता है जिनसे प्रीति (या सुख) उत्पन्न होती है, किन्तु दोनों ऐसा नहीं कहते कि स्वर्ग कोई स्थान है, 'एकस्य प्रीतिः स्वर्गशब्दवाच्या अपरस्य प्रीतिमद् द्रव्यम्। विशिष्टो देश उभयोरप्यवाच्यः' टुप्टीका (पू० मी० सू०, ६।१।१)।

में उन्होंने, ऐसा प्रतीत होता है, कुमारिल के मत की आलोचना की है। कुमारिल के अनुसार आत्म-ज्ञान के विषय, में उपनिषदों की उक्तियाँ केवल अर्थवाद हैं, क्योंकि वे कर्ता को यह ज्ञान देती हैं कि वह आत्मवान् है और आत्मा की कुछ विशेषताएँ हैं। किन्तु शंकर का कथन है (वे० सू० १।१।१) कि पूर्व मीमांसा एवं ब्रह्म-मीमांसा में फल, जिज्ञासा का विषय एवं वैदिक प्रबोधनवाक्य (चोदना) भिन्न हैं। कुछ स्मृतियों ने इस बात की खिल्ली उड़ायी है कि केवल आत्मज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति हो जायगी। उदाहरणार्थ, बृहद्योगियाज्ञवल्क्य (६।२६ एवं ३४) में आया है कि 'ज्ञान एवं कर्म दोनों से मोक्ष की प्राप्ति होती है'। ऐसा कहना कि केवल ज्ञान मोक्ष की ओर ले जायगा, प्रमाद का प्रतीक है तथा शरीरश्रम के भय से अबोध लोग कर्म करना नहीं चाहते।[१०]

पूर्वमीमांसा के आरम्भिक एवं प्रमुख लेखकों के सिद्धान्त विचित्र एवं चकित करने वाले हैं। वेद की अमरता (नित्यता) एवं स्वयंभूता के विषय में उनके तर्क भ्रमजनक हैं और अन्य प्राचीन भारतीय सिद्धान्तों द्वारा भी अंगीकृत नहीं हो सके हैं। प्रभाकर एवं कुमारिल दोनों ने अपने सिद्धान्त के अन्तर्गत ईश्वर को फलदाता या प्रार्थना से प्रसन्न होकर मनुष्य की नियति का शासन करने वाले के रूप में कोई स्थान नहीं प्राप्त है। वे स्पष्ट रूप से ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार तो नहीं करते, किन्तु वे वैदिक उक्तियों में वर्णित देवताओं एवं ईश्वर को गौण स्थान देते हैं या व्यावहारिक रूप से उन्हें न-कुछ समझते हैं। वे यज्ञ को ईश्वर की स्थिति तक उठा देते हैं और उनके यज्ञ-सम्बन्धी सिद्धान्त एक प्रकार से व्यावसायिक-से[११] हैं, यथा—व्यक्ति को इतने कर्म करने चाहिए, पुरोहितों को दान देना चाहिए, हवि देना चाहिए, कुछ सदाचार के नियमों का पालन करना चाहिए, (यथा, मांस न खाना, केवल दूध पी कर जीना) क्योंकि ऐसा करने से बिना ईश्वर की मध्यस्थता के फल की प्राप्ति हो जाती है[१२]। धार्मिक संवेगों (भक्ति आदि) के प्रति कोई प्रेरणा नहीं है, किसी सर्वज्ञ की चर्चा नहीं है, न तो कोई स्रष्टा है और न लोक की सृष्टि। पूर्वमीमांसा ने निस्सन्देह जीवन में मनुष्य के कर्तव्यों (एवं अधिकारों) पर बल दिया है। अन्य दर्शनों ने विशेष रूप से इस संसार से मुक्त हो जाने तथा मृत्यूपरान्त मनुष्य की नियति से अपने को अधिक सम्बन्धित रखा है। पू० मी० सू०, शबर एवं कुमारिल ने वैदिक वचनों के विवरण या व्याकरण के प्रति महत्त्वपूर्ण योगदान किये हैं। शबर के भाष्य में लगभग ७ सहस्र उद्धरण हैं, जिनमें कई सौ की पहचान अभी तक नहीं हो सकी है। इनमें से कम-से-कम एक सहस्र तै० सं० एवं तै० ब्रा० से लिये गये हैं। लगभग १२ अधिकरणों का सम्बन्ध अधिगुप्रैष से है। कुछ अधिकरण तो प्रैष में प्रयुक्त कुछ शब्दों की व्याख्या

१०. ज्ञानं प्रधानं न तु कर्महीनं कर्म प्रधानं न तु बुद्धिहीनम्। तस्माद् द्वयोरेव भवेत सिद्धिर्नह्येकपक्षो विहगः प्रयाति॥ परिज्ञानाद्भवेन्मुक्तिरेतदालस्यलक्षणम्। कायक्लेशभयाच्चैव कर्मचेच्छन्त्यपण्डिता॥ बृहद्योगिया० (६।२६, ३४. कृत्यकल्प द्वारा उद्धृत, पृ० १४६)।

११. ईश्वर से व्यावसायिक व्यवहार के लिए देखिए मन्त्र 'देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे। निहारमिन्नि मे हरा निहार नि हरामि ते। तै० सं० (१।८।४।१-२), वा० सं० ३।५०); मिलाइए अथर्ववेद (३।१५।६)।

१२. देखिए तै० सं० (२।५।५।६) जहाँ दर्शपूर्णमास में संलग्न व्यक्ति के विषय में उल्लेख है: तस्यैतद्व्रतं-नानृतं वदेन्न मांसमश्नीयान्न स्त्रियमुपेयान्नास्य पल्पूलनेन वासः पल्पूलयेयुः' एवं तै० सं० (६।२।५।२-३) जहाँ पयः, यवागूः एवं आमिक्षा का प्रयोग क्रम से ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य के लिए उचित भोजन कहा गया है। जैमिनि (४।३।८-६) में घोषित किया है कि यह क्रतवर्थ (आवश्यक) है। देखिए इस महाग्रन्थ का खण्ड २, पृ० ११३६-११४० जहाँ अग्निष्टोम यज्ञ के लिए दीक्षित व्यक्ति के लिए नियमों का उल्लेख है।

से सम्बन्धित हैं (देखिए इस महाग्रन्थ का खण्ड २, पृ० ११२१ एवं पाद-टिप्पणी २५०४)। शबर एवं कुमारिल ने आत्मा के विषय में जो धारणाएँ व्यक्त की हैं उनसे पूवमीमांसा को दार्शनिक महत्व प्राप्त हो सका है। वैदिक एवं वैदिकोत्तर विवरण अथवा व्याकरण के निमित्त शबर की देनों के विषय में विशद् अध्ययन के लिए देखिए डा० एस्० वी० गर्ग का ग्रन्थ 'साइटेशंस इन शबर-भाष्य (पृ० १४०-२१३, पूना, १९५२)।

इस सिद्धान्त से कि वेद नित्य है और सर्वोच्च प्रमाण वाला है, कतिपय अवाञ्छित प्रवृत्तियाँ उठ खड़ी हुई हैं। नये सिद्धान्तों के प्रवर्तक बड़ी कठिनाई से यह सिद्ध करने का प्रयास कर बैठते हैं कि उनके सिद्धान्तों के पीछे वैदिक प्रमाण हैं। उदाहरणार्थ, वे० सू के १।१।५-१८ सूत्र यह बताते है कि उपनिषदें प्रधान को विश्व का कारण नहीं मानतीं, जैसा कि सांख्य लोग कल्पना करते हैं। शंकराचार्य ने स्पष्ट रूप से कहा है कि सांख्यों ने वेदान्त वचनों को अपने सिद्धान्तों के अनुरूप व्याख्यायित कर डाला है और इसी से उनके तर्क का खण्डन उन्हें वे० सू० (१।१।५-१८) में करना पड़ा। हमने यह बहुत पहले देख लिया है कि किस प्रकार शाक्त पूजा के अनुयायियों ने ऋ० (५।४७।४ : चत्वार इं बिभ्रति आदि-आदि) की व्याख्या अपने शाक्त सिद्धान्तों की पुष्टि में कर डाली है और उपनिषद् नाम से उद्घोषित करके अपने ग्रन्थों को मान्यता देने का प्रयास किया है, यथा—भावनोपनिषद्। शबर ने अपने पू० मी० सू० के भाष्य में यह कहा है कि विज्ञानवादी बौद्धों ने अपने समर्थन में बृहदारण्यकोपनिषद् (४।५।१३: विज्ञानघन इवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ति) की बातें रख दी हैं। अत्यन्त चकित करने वाले उदाहरणों में एक है आनन्दतीर्थ (जो मध्वाचार्य भी कहलाते हैं) द्वारा उपस्थापित ऋ० (१।१४१।१-३) की व्याख्या। आनन्दतीर्थ ने 'महाभारत-तात्पर्य-निर्णय' में अपने को वायु का तीसरा अवतार माना है, (दो अन्य अवतार हैं, हनूमान एवं भीमसेन) और यह कहने का प्रयत्न किया है कि ऋ० (१।१४१।१-३) इन तीन अवतारों की ओर संकेत करता है। 'मध्वः' एवं 'मातरिश्वा' शब्द (जिनका अर्थ है वायु देव) ऋ० (१।१४१।३) में प्रयुक्त हैं। इतना ही इस बात को कहने के लिए पर्याप्त था कि द्वैत सिद्धान्त के प्रवर्तक मध्व ऋग्वेद में उल्लिखित हैं। यदि वेद में भीमसेन (जो परम्परा से दी हुई महाभारत की तिथि के अनुसार लगभग ५००० वर्ष पूर्व हुए) का संकेत है और मध्व का (जो लगभग ७०० वर्ष पूर्व हुए थे) उल्लेख है तो वेद नित्य कैसे कहा जायगा और स्वयं मध्वाचार्य वेद की अनित्यता के प्रत्युत्तर में क्या कहेंगे? स्पष्ट है, वेद इन तिथियों के उपरान्त प्रणीत हुआ होगा! यह तर्क कि यह संकेत किसी पूर्व कल्प का है, नहीं ठहर सकता, क्योंकि वह कल्प, मन्वन्तर एवं महायुग जिनमें भीम एवं मध्वाचार्य हुए तथा अर्वाचीन काल अभी एक ही हैं। द्वापर (जिसमें भीमसेन थे) के अन्त में कोई प्रलय नहीं हुआ, प्रत्युत उसी समय कलियुग आरम्भ हो गया। महाभारत का युद्ध द्वापर एवं कलि (आदि पर्व २।१३) के बीच में हुआ तथा युद्ध के समय कलियुग का आरम्भ होने वाला था (वनपर्व—एतत् कलियुगे नामाचिराद्यद् प्रवर्तते, एवं शल्य० ६०।२५: प्राप्तं कलियुगं विद्धि)। इसी प्रकार के स्वत्वप्रतिपादन के कारण अप्पय दीक्षित ऐसे प्रसिद्ध लेखकों ने उनकी भर्त्सना की है। अप्पय दीक्षित ने अभियोग लगाया है कि मध्वाचार्य ने अपने सिद्धान्त के समर्थन में कपट-रचना द्वारा वैदिक एवं अन्य वचनों का उद्धरण दिया है। देखिए इण्डियन ऐण्टीक्वेरी (जिल्द ६२, पृ० १८९) जहाँ पर श्री वेंकटसुब्बियाह ने ३० से अधिक ऐसे ग्रन्थों के नाम दिये हैं, जिन्हें मध्व ने उल्लिखित किया है, किन्तु वे ग्रन्थ वास्तव में कहीं नहीं पाये जाते। म० म० चिन्नस्वामी ने, जिन्होंने अप्पय के ग्रन्थ को ६० श्लोकों में सम्पादित किया है, जिसमें 'मध्वमतविध्वंसन' नामक अप्पय की टीका भी है और स्वयं उनकी टिप्पणी भी है, पृ० ४ पर ३६ अज्ञात ग्रन्थों तथा सूत्रों का उल्लेख किया है जहाँ पर वे अप्पय द्वारा उदाहृत हुए हैं। यह द्रष्टव्य है कि शंकर एवं रामानुज ऐसे महान् आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में यह कहीं भी नहीं लिखा कि वे किसी देवता के अवतार थे। यदि किन्हीं ने कुछ कहा तो वे उनके शिष्य लोग थे।

यह स्थापित करने के उपरान्त कि वेद नित्य और स्वयंम्भू है, मीमांसकों ने अपने वैदग्ध्य, तर्क-शक्ति एवं युक्ति का खुलकर प्रयोग किया है। उनका अपना एक विशेष तर्क है जिसके द्वारा वे न केवल वेद-वचनों की व्याख्या करते हैं प्रत्युत वे स्मृतियों एवं धर्मशास्त्र-सम्बन्धी मध्यकालीन ग्रन्थों (जिनमें व्यवहार अथवा कानून, विधि आदि सम्मिलित हैं) का निरूपण उपस्थित करते हैं। जैसा कि कोलब्रुक ने, जो कि अत्यन्त सम्यक् एवं उचित विचार रखने वाले पाश्चात्य संस्कृत विद्वानों में परिगणित होते हैं, आज से १४० वर्ष पूर्व कहा है कि मीमांसा पर जो विमर्श हुए हैं वे व्यावहारिक (कानूनी) प्रश्नों से सादृश्य रखते हैं, और वास्तव में हिन्दू कानून (व्यवहार) लोगों के धर्म से सना हुआ है, उसी प्रकार का तर्क सब बातों में प्रयुक्त होता है। मीमांसा का तर्क कानून (व्यवहार) का तर्क है; वह लौकिक एवं धार्मिक अनुशासनों (अध्यादेशों) की व्याख्या का नियम है। प्रत्येक विषय की जाँच होती है और वह निश्चित की जाती है और इस प्रकार के निर्णीत विषयों से ही सिद्धान्त एकत्र किये जाते हैं। उन सबका सुव्यवस्थित ढंग व्यवहार (कानून) का दर्शन है, और इसी का सचमुच, मीमांसा में प्रयास किया गया है (फुटकर निबन्ध, जिल्द १, पृ० ३१६-३१७, मद्रास, १८३७ ई०)।

वैदिक सामग्री का प्रथम विभाजन **मन्त्र** एवं **ब्राह्मण** रूप में है। हमने यह पहले ही देख लिया है कि वे ही मन्त्र कहे जाते हैं जो उस रूप में विद्वानों द्वारा स्वीकृत हैं। पू० मी० सू० (२।१।३१-३२) में व्यवस्था है कि मन्त्र वह है जो केवल दृढ़ता पूर्वक कहता है (उत्साह देने वाला नहीं है) या (वही बात दूसरे ढंग से) 'वे मन्त्र हैं जो उस नाम से इसलिए पुकारे जाते हैं क्योंकि वे कुछ दृढ़तापूर्वक कहते हैं'। शबर (पू० मी० सू० १। ४।१) ने कहा है कि मन्त्र वह है जो यज्ञ की विधि के समय यजमान को व्यवस्थित बात का स्मरण दिलाता है या उसे स्पष्ट करता है, यथा—'मैं कुश घास (को अग्र भाग) काटता हूँ जहाँ देवता का निवास है'। यह मन्त्र का एक सामान्य वर्णन हुआ, न कि उसकी सम्यक् परिभाषा। केवल यज्ञों में उच्चारण से ही मन्त्र उपयोगी नहीं होते, प्रत्युत वास्तव में वे अभिधायक होते हैं (अर्थात् क्या किया जाना चाहिए या क्या किया जा रहा है उसको स्मरण दिलाने वाले)। शबर की टिप्पणी है कि केवल लक्षण से ही मन्त्रों की अभिज्ञता होती है न कि मन्त्रों की कुछ विशेषताओं के वर्णन से, जैसा कि वृत्तिकार ने किया है, यथा—कुछ लोग 'असि' (तू है) से अन्त करते हैं या 'त्वा' से जैसा कि तै० सं० (१।१।१) के 'इषे त्वा' में है, प्रार्थना या आकांक्षा से (यथा तै० सं० १।६।६।१ में 'आयुर्दा असि') या प्रशंसा से (अग्निर्मूर्धा दिवः, तै० सं० ४।४।४)। शबर ने दर्शाया है कि 'असि' एवं 'त्वा' मन्त्रों के मध्य में भी पाये जाते हैं, अन्य विशेषताएँ, यथा—आशीर्वचन एवं प्रशंसा ब्राह्मणों में भी पायी जाती हैं। मीमांसा-बाल-प्रकाश में आया है कि मन्त्रों के एक सौ प्रकार हैं और यदि हम चौदह वैदिक छन्दों एवं उनके उप-विभाजनों को भी सम्मिलित करें, केवल ऋक् मन्त्रों (ऋचाओं) की २७३ विभिन्न कोटियाँ प्राप्त हो जायेंगी (पृ० ६६-६७)। कुछ ऐसे वचन हैं जो मन्त्र कहे जाते हैं (यथा—'वसन्ताय कपिंजलानालभते', वाज० सं० २४।२०) जो न केवल दृढ़तापूर्वक कहे गये हैं प्रत्युत याग की विधि से सम्बन्धित हैं (यथा अश्वमेध से, वाज० सं० २४।२०)।

मन्त्रों को तीन शीर्षकों में बाँटा गया है, यथा—ऋक्, साम एवं यजुः। इनकी परिभाषा पू० मी० सू० (२।१।३५-३७) में की हुई है। 'ऋक्' नाम उन मन्त्रों के लिए प्रयुक्त है जो मात्रायुक्त पादों में (बहुधा) अर्थ के आधार पर विभाजित हैं।[13] 'साम' उन वैदिक मन्त्रों का नाम है जो गाये जाते हैं।

१३. तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था। गीतिषु सामाख्या। शेषे यजुः शब्दः। पू० मी० सू० (२।१।३५-३७)। 'अग्निमीळे पुरोहितं' (ऋ० १।१।१) में प्रथम पाद में पूर्णभाव है, किन्तु 'अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो

पू० मी० सू० (७।२।१-२१ एवं ९।२।१-२) में ऐसा स्थापित है कि मन्त्र-वचन[14] 'साम' नहीं कहे जाते, किन्तु केवल गीति वाले इस नाम से पुकारे जाते हैं, वह गीति क्रिया है जो गायक द्वारा भीतरी प्रयत्न से विभिन्न स्वरों के रूप में अभिव्यक्त होती है और संगीतमय प्रभाव उत्पन्न करने के लिए गायक को ऋचा के अक्षरों को परिष्कृत करना पड़ता है, उनमें कुछ भागों को इधर-उधर करना होता है, छोड़ देना होता है, बार-बार दुहराना होता है या कहीं-कहीं उनमें रोक लगानी पड़ती है और स्तोभ[15] देना होता है। ७।२।१-२१ में पू० मी० सू० ने यह स्थापित किया है कि 'रथन्तर साम' एवं 'बृहत्साम' शब्द केवल गीति की ओर निर्देश करते हैं, वे ऋचा या उस मूल वचन की ओर जो संगीतमय बना दिया गया है कोई संकेत नहीं करते। 'यजुः' वे मन्त्र हैं जो न तो 'ऋक्' हैं और न 'साम'। एक अन्य शब्द है 'निगद' जो कुछ ऐसे मन्त्रों के लिए प्रयुक्त होता है जो निर्देश रूप में अन्य लोगों को सम्बोधित हैं, यथा—अग्नीदग्नीन् विहर', 'प्रोक्षणीरासादय', 'इध्माबर्हिरुपसादय', और जो उच्च स्वर से कहे जाते हैं। ये 'यजुः (अर्थात् गद्य में) हैं, केवल एक अन्तर यह है कि वे उच्च स्वर से कहे जाते हैं (अतः जिनसे कहा जा रहा है वे सुन सकें)। किन्तु अन्य सामान्य 'यजुः' धीरे कहे जाते हैं। देखिए पू० मी० सू० (२।१।३८-४५) जहाँ निगदों पर विवेचन है और मैत्रायणीसंहिता (३।६।५) जहाँ 'उच्चैर्ऋचा क्रियत उच्चैः सामोपांशु यजुषा' आया है।

मन्त्र एवं ब्राह्मण मिल कर वेद कहे जाते हैं। पू० मी० सू० (२।१।३३) में आया है कि वेद के वे अंश जो मन्त्र नहीं हैं और न मन्त्र कहे जा सकते हैं, ब्राह्मण हैं[16]। शबर ने टिप्पणी की है कि वृत्तिकार

नूतनैरुत (ऋ० १।१।२) में भाव (अर्थ) प्रथम पाद में पूर्ण नहीं हो सका है। अतः परिभाषा केवल 'पादव्यवस्था' है तथा 'अर्थवशेन' केवल वार्ष्टीतिक है, जैसा कि शबर ने कहा है : 'यतो नार्थवशेनेति वृत्तादिवशव्यावृत्त्यर्थं, किं तर्हि अनुवाद एष प्रदर्शनार्थः।... तस्माद्यत्र पादकृता व्यवस्था सा ऋगिति।'

१४. तस्माद्गीतयः सामानि न प्रगीतानि मन्त्रवाक्यानि। शबर (पू० मी० सू० ९।२।२); सामवेदे सहस्रं गीत्युपायाः।...गीतिर्नाम क्रिया। सा आभ्यान्तरप्रयत्नजनितस्वरविशेषाणामभिव्यञ्जिका। सा सामशब्दाभिलप्या। सा नियतपरिमाणा। ऋचि च गीयते। शबर (पू० मी० सू० ९।२।२९)। 'सर्वे देशान्तरे' वार्तिक पर प्रथम आह्निक में महाभाष्य का कथन है : चत्वारो वेदाः सांगाः सरहस्या बहुधा विभिन्ना एकशतमध्वर्युशाखाः सहस्रवर्त्मा सामवेद एकविंशतिधा बाह्वृच्यं नवधाथर्वणो वेदः...। यहाँ पर सामवेद के लिए 'शाखा' नहीं प्रयुक्त हुआ है प्रत्युत 'वर्त्मन्' (ढंग) शब्द का प्रयोग हुआ है। जैसा कि शबर ने स्पष्ट कहा है कि सामवेद में एक सहस्र गीत्युपाय हैं, अतः सहस्रवर्त्मा का अर्थ है 'सहस्रगीत्युपायवान्' और 'सहस्रवर्त्मा' को 'सहस्रशाखः' कहना ठीक नहीं है, जैसा कि बहुत-से विद्वानों ने किया है। विष्णुपुराण (३।६) ने सामवेद के पाठान्तरों का भ्रामक विवरण उपस्थित किया है, श्लोक ३ एवं ६ में क्रम से १००० संहिताओं (सुकर्मा द्वारा उद्भावित) एवं २४ संहिताओं (हिरण्यनाभ के शिष्य द्वारा उद्भावित) का उल्लेख है।

१५. गानों में जो ऊपर से जोड़ा जाता है उसे स्तोभ कहते हैं, यथा हाउ, हाइ, ई, ऊ, हुम् आदि। देखिए छान्दोग्योपनिषद् (१।१३।१-३) जहाँ 'हुम्' को १३ वाँ स्तोभ कहा गया है (उसे परम ब्रह्म भी कह दिया गया है) और अन्य १२ स्तोभों का उल्लेख किया गया है, यथा—हाउ, हाइ, ई, ऊ० आदि। देखिए जै० (९।२।३९, अधिकं च विवर्णं च जैमिनेः स्तोभशब्दवात्)।

१६. शेषे ब्राह्मणशब्दः। पू० मी० सू० (२।१।३३); 'मन्त्राश्च ब्राह्मणं च वेदः। तत्र मन्त्रलक्षण उक्ते परिशेषसिद्धत्वात् ब्राह्मणलक्षणमवचनीयं मन्त्रलक्षणवचनेनैव सिद्धम्। शबर।

ने छात्रों को ब्राह्मण-भाग की जानकारी प्रदान करने के लिए कुछ ऐसी विशेषताएँ प्रदर्शित की हैं जो ब्राह्मण-भाग में पायी जाती हैं, यथा वे अंश जिनमें 'इति' या 'इत्याह' कथा-वार्ता, किसी आदेश के कारण, व्युत्पत्ति, भर्त्सना, प्रशंसा, आशंका, आदेश, उदाहरण (जहाँ किसी अन्य ने वही कार्य किया है), पूर्व युगों में हुई घटनाएँ, मूल को देखकर (उस पर विचार करने के उपरान्त) अर्थ में परिवर्तन करना आदि आये रहते हैं[१७]। शबर ने दो ऐसे श्लोक उद्धृत किये हैं जिनमें ब्राह्मण-वचनों की विशेषताओं को दस शीर्षकों में रखा गया है और उन्होंने यह प्रदर्शित किया है कि यह सब केवल दृष्टान्त-सम्बन्धी हैं और वृत्तिकार द्वारा उल्लिखित विशेषताएँ मन्त्रों में भी पायी जाती हैं, यथा 'इति' (ऋ० १०।११९।१), 'इत्याह' (ऋ० ७।४१।२), 'आख्यायिका' (ऋ० १।११६।३), 'हेतु' अर्थात् कारण (ऋ० १।२।४)। केवल ऋग्वेद में १० सहस्र से अधिक मन्त्र पाये जाते हैं। सभी वैदिक कृत्यों में इन मन्त्रों के एक-तिहाई से अधिक प्रयोग में नहीं लाये जाते। शेष का प्रयोग जप में होता है। इसके अतिरिक्त अन्य वेदों के भी सहस्रों मन्त्र हैं। अतः मन्त्र की कोई औपचारिक परिभाषा नहीं की जाती है और केवल इतना ही कहना पर्याप्त माना जाता है कि मन्त्र वे हैं जो उस रूप में विद्वानों द्वारा मान्य ठहराये गये हैं[१८]।

प्रत्येक वेद के साथ ब्राह्मणों का संयोजन हुआ है, यथा—ऐतरेय एवं कौषीतकि ब्राह्मण ऋग्वेद के हैं, तैत्तिरीय कृष्ण यजुर्वेद का है, शतपथ शुक्ल यजुर्वेद का है, ताण्ड्य सामवेद का तथा गोपथ यजुर्वेद का है। ब्राह्मणों में भारोपीय भाषाओं के सबसे प्राचीन ज्ञात गद्य के रूप में पाये जाते हैं, यद्यपि गद्य के सूत्र (नियम), जो सम्भवतः ब्राह्मणों के गद्यों से प्राचीन हैं, कृष्ण एवं शुक्ल यजुर्वेद संहिताओं में पाये जाते हैं। यज्ञों, धार्मिक कृत्यों एवं पुरोहितों के विषय में जानकारी देने में वे प्रमुख उपकरण माने जाते हैं। उनमें धार्मिक कृत्यों एवं यज्ञों को बताने के लिए बहुत-सी कथा-वार्ताएँ, किंवदन्तियाँ आदि पायी जाती हैं। उनमें देवों एवं असुरों के युद्धों का उल्लेख है और उनमें शब्द-व्युत्पत्तियाँ पायी जाती हैं। उनके विषयों को हम दो कोटियों में विभाजित कर सकते हैं, यथा—विधियाँ (ऐसे वचन जो आदेशयुक्त एवं उपदेशात्मक हैं) एवं अर्थवाद (व्याख्यात्मक वचन)। अर्थवादों के विषय-क्षेत्र एवं उद्देश्य के विषय में आगे लिखा जायगा। किन्तु एक बात द्रष्टव्य है कि मीमांसक लोग यह कभी भी स्वीकार नहीं करते कि वेद का कोई भी अंश, यहाँ तक कि अल्प से अल्प अंश भी, व्यर्थ या निरर्थक है।

अब हमें यह देखना है कि मीमांसक लोग किस प्रकार वेद की बातों पर विचार करते हैं। आज का विद्यमान वैदिक साहित्य अति विशाल एवं विभिन्न प्रकार का है। जब एक बार यह मान्य हो जाता है कि

१७. हेतुनिर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः। परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारणकल्पना। उपमानं दशैते तु विधयो ब्राह्मणस्य तु। एतत् स्यात् सर्ववेदेषु नियतं विधिलक्षणम्॥ शबर द्वारा २।१।३३ पर उद्धृत। तन्त्रवार्तिक ने व्याख्या की है कि यहाँ पर विधिलक्षण में 'विधि' शब्द का अर्थ है ब्राह्मण। 'व्यवधारणकल्पना' के विषय में इसका कथन है, 'यत्रान्यथार्थः प्रतिभातः पौर्वापर्यालोचनेन व्यवधार्य अन्यथा कल्प्यते सा व्यवधारणकल्पना तद्यथा प्रतिगृह्णीयादिति श्रुतं प्रतिग्राह्योदिति कल्पयिष्यते।' 'परकृति' एवं पुराकल्पः के विषय में कथन यों है: 'एकपुरुषकर्तृकमुपाख्यानं परकृतिः बहुकर्तृक पुराकल्पः'। ब्रह्माण्डपुराण (२।३४।६३-६४) ने व्याख्या की है: 'अन्यस्यान्यस्य चोक्तिर्या बुधैः सोक्ता पुराकृतिः। यो ह्यत्यन्तपरोक्षार्थः स पुराकल्प उच्यते॥'

१८. स्वाध्याये पठ्यमानेषु येषु मन्त्रपदं स्मृतम्। ते मन्त्रा नाभिधानं हि मन्त्राणां लक्षणं स्थितम्॥ तन्त्रवार्तिक (पू० मी० सू०, २।१।३४)।

वेद स्वयंभू है और इसका प्रणयन किसी मानव या दिव्य शक्ति द्वारा नहीं हुआ है, इसका कोई भी भाग स्पष्ट रूप से अमोघ हो जाता है अर्थात् प्रामाणिकता में अस्खलनशील हो जाता है। वेद धर्म की जानकारी का एक मात्र साधन है, अतः मीमांसकों को यह मान्य हो गया कि जो कुछ वेद कहता है वह प्रामाणिक है[१९]। किन्तु बहुत-से वैदिक वचन एक-दूसरे के विरोध में पड़ जाते हैं और सामान्य अनुभव के विपरीत पड़ जाते हैं। इन कठिनाइयों को स्पष्ट करने के लिए कुछ विस्मयावह उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं। तै० सं० (५।२।७) एवं मैत्रायणी सं० में आया है कि खाली पृथिवी, आकाश एवं अन्तरिक्ष में अग्नि-वेदिका नहीं बनानी चाहिए[२०]। आकाश या अन्तरिक्ष में कोई भी वेदिका नहीं बना सकता, जो असम्भव है उसे वेद अमान्य ठहराता है, अतः यह निषेध प्रथम दृष्टि में अर्थहीन-सा लगता है। तै० ब्रा० (३।८।१०।५) में आया है कि पूर्णाहुति देने से यजमान सभी वाञ्छित वस्तुएँ प्राप्त करता है। यदि पूर्णाहुति सभी वस्तुएँ प्रदान कर देती है तो अग्निहोत्र आदि की क्रियाएँ करने से क्या लाभ ? क्या वेद ऐसा समझता है ? वेद में व्यक्तियों के विषय में आख्यान एवं अनुश्रुतियाँ पायी जाती हैं, यथा—तै० सं० ने बबर प्रावाहणि का उल्लेख किया है, जो एक प्रभावशाली वक्ता बनना चाहता था और उसकी इच्छा की पूर्ति के लिए उसने पञ्चरात्र नामक यज्ञ किया और अपनी वाञ्छित बात प्राप्त भी की। अतः इस बबर के उपरान्त वेद की रचना मानी जायगी और इस प्रकार वेद का नित्यत्व समाप्त हो जायगा। अतः शबर का कहना है कि वह कथा जो कभी घटित नहीं हुई थी, केवल स्तुति या प्रशंसा के लिए कह दी गयी है। इस प्रकार का कथन इस बात का द्योतक है कि यह मात्र एक बहाना है, वास्तव में इस प्रकार की व्याख्या वेद के पक्ष में नहीं जाती। यहाँ पर एक ऐसी गाथा कही गयी है जो कभी घटी नहीं और वह भी वेद के किसी आदेश को बढ़ावा देने के लिए। यदि लोग यह जान लें कि यह गाथा असत्य है (जैसा कि शबर ने व्याख्या की है) तो वे उस कृत्य को सम्पादित न करना चाहेंगे। इस विषय में एक सच्ची कथा अधिक उपयुक्त होती। तन्त्रवार्तिक ने शबर की व्याख्या से उत्पन्न कठिनाई को दूर करने का प्रयास किया है।

१९. शब्दप्रमाणका वयं यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम्। शबर (पू० मी० सू० ३।२।३६)। वार्तिक ६ (प्रथम आह्निक) पर महाभाष्य में भी ये ही शब्द आये हैं।

२०. न पृथिव्यामग्निश्चेतव्यो नान्तरिक्षे न दिवि—इत्याहुः। अमृतं वै हिरण्यममृते वा एतदग्निश्चीयते। मै० सं० (३।२।६)। देखिए पू० मी० सू० (१।२।५ एवं १८) एवं व्यवहारमयूख (पृ० २०२, जो कहता है कि यह 'निषेधानुवादमात्रम्' है)। इसका जो तात्पर्य है वह यह है कि जिस प्रकार वायु या आकाश में अग्निचयन कभी नहीं देखा गया है उसी प्रकार खाली पृथिवी पर भी वह अज्ञात है और इसका सम्पादन पृथिवी पर सोने का एक खण्ड रख कर होना चाहिए। यह सोने की स्तुति (प्रशंसा) मात्र है। कात्यायनश्रौतसूत्र (४।१०।५) की टीका द्वारा पूर्णाहुति की व्याख्या है: 'पूर्णया स्रुचा आहुतिं'। बबर प्रावाहणिरकामयत वाचः प्रवदिता स्यामिति स एतं पञ्चरात्रमाहरत् तेनायजत ततो वै स वाचः प्रवदिताऽभवत्। य एवं विद्वान् पञ्चरात्रेणयजतेप्रवदितैव वाचो भवत्यथो एनं वाचस्पतिरित्याहुः। तै० सं० (७।१।१०।२-३)। प्रावाहणि का अर्थ है 'प्रवाहण का पुत्र'। देखिए पू० मी० सू० (१।२।६ एवं १८)। शबर ने टीका की है: 'असद्वृत्तान्तान्वाख्यानं स्तुत्यर्थेन प्रशंसाया गम्यमानत्वात्' (१।२।१०), जिसपर तन्त्रवार्तिक की टिप्पणी है: एवं वेदेपिविधिना तावत्फलमवगमितमर्थवादास्त्वसत्येननामप्ररोचयन्तु न तद्गते, सत्यासत्यत्वे किंचित् दूषयतः प्रवर्तनमात्रोपकारित्वात्। तस्मादुपाख्यानासत्यत्वमतन्त्रम्।' तन्त्रवा० (१।२।१०)।

कभी-कभी वेद को तीन भागों में बाँटा जाता है, यथा—विधि, अर्थवाद एवं मन्त्र, उद्भिद एवं विश्व-जित् के समान यागों के नाम विधि के अन्तर्गत रखे गये हैं। श्लोकवार्तिक ने अपने अन्तिम श्लोक में इस त्रिधा विभाजन की ओर संकेत किया है[२१]। धर्म क्या है, अर्थात् क्या करना चाहिए तथा क्या नहीं करना चाहिए, इसके विषय में यद्यपि वेद ही उचित ज्ञान का साधन माना गया है, किन्तु वेद के विभिन्न भाग धर्म के उचित ज्ञान से सीधे ढंग से नहीं सम्बन्धित हैं। वेद का अधिकांश मुख्य भाग से मध्यस्थ भाव से ही सम्बन्धित है[२२]। एक स्थान पर शबर ने बड़े संक्षिप्त किन्तु स्पष्ट ढंग से वैदिक वचनों की तीन कोटियों की परिभाषा की है और दृष्टान्त दे कर समझाया है। वेद को पाँच भागों में भी बाँटा गया है, यथा—**विधि, अर्थवाद, मन्त्र, नामधेय** एवं **प्रतिषेध**। इन पाँचों के विषय में ऊपर उल्लेख हो चुका है। यहाँ पर इनके विषय में कुछ विस्तार से कहा जायगा। **विधि** एक ऐसा आदेश है जो अर्थवान् है, क्योंकि इसके साथ एक विषय संयुज्य रहता है जिसका (उपयोगी) उद्देश्य होता है और विधि ऐसी वस्तु की व्यवस्था करती है जो किसी अन्य प्रमाण से स्थापित नहीं होती। स्वयं शबर ने विधि के अर्थ के विषय में कई स्थलों पर वर्णन किया है। उदाहरणार्थ, 'स्वर्ग की इच्छा रखने वाले को अग्निहोत्र करना चाहिए' नामक आदेश में होम करने की व्यवस्था है जो किसी अन्य आदेश (शासन) द्वारा व्यवस्थित नहीं है और उसका लाभकर उद्देश्य है। इसका अर्थ है कि अग्निहोत्र द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति करनी चाहिए। किन्तु जहाँ कोई कृत्य दूसरे प्रकार से स्थापित होता है, वैसी स्थिति में उसके साथ कोई सहायक आदेश लगा दिया जाता है। इस प्रकार 'दही के साथ आहुति दी जानी चाहिए' नामक वाक्य में होम की व्यवस्था 'स्वर्ग की इच्छा करने वाले को अग्निहोत्र करना चाहिए' नामक शब्दों में पहले से हो चुकी रहती है तो वैसी स्थिति में केवल उसके संदर्भ में दही की आहुति देने

२१. इति प्रमाणत्वमिदं प्रसिद्धं युक्त्येह धर्मं प्रति चोदनायाः। अतः परं तु प्रविभज्य वेदं त्रेधा ततो वक्ष्यति यस्य योर्थः। मीमांसा बालप्रकाश (शंकरभट्ट कृत) द्वारा उद्धृत (पृ० ७); इस पर न्यायरत्नाकर में आया है, 'तेन सिद्धेपि चोदनाप्रामाण्ये ततः परं विध्यर्थवादमन्त्रात्मना वेदं त्रेधा विभज्यतत्स्तुत्यादिप्रयोजनप्रतिपादनेन कृत्स्नस्य वेदस्य तन्मूलयोश्च स्मृत्याचारयोर्धर्मम् प्रति प्रामाण्यमुपरितने पादत्रये प्रतिपादयिष्यत इति समस्तोध्यायः प्रमाणलक्षणं, नैवेह समाप्तमिति।' पूर्वपक्षसूत्र 'उक्तं समाम्नायैदमर्थ्यं तस्मात् सर्वं तदर्थं स्यात्' (पू० मी० सू० १।४।१) पर शबर का कथन है: 'कश्चिदस्य (वेदस्य) भागोविधिर्योऽविदितमर्थं वेदयति, यथा सोमेन यजेतेति। कश्चिदर्थवादो यः प्ररोचयन् विधिं स्तौति यथा वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता इति। कश्चिन्मन्त्रो यो विहितमर्थं प्रयोगकाले प्रकाशयति यथा बर्हिदेवसदनं दामि-इत्येवमादिः। अयं अर्थः यस्य सः इदमर्थः तस्य भावः ऐदमर्थ्यम्। समाम्नाय का अर्थ है वेद। 'उक्तं' पू० मी० सू० (१।२।१) की ओर संकेत करता है (अम्नायस्य क्रियार्थत्वात्...)।

२२. शास्त्रदीपिका ने पू० मी० सू० (१।४।१) पर कहा है: 'तत्र चोदनैव साक्षात्प्रमाणम्। अर्थवादमन्त्रस्मृतिनामधेयानि तच्छेषत्वेन तन्मूलत्वेन च प्रमाणं भवन्तीति धर्मप्रमितेरिति कर्तव्यतास्थाने नियतंनिपतन्ति।' (पृ० ५४)। यह बात कि विधि का अर्थ है 'वह जो पहले से या किसी अन्य स्रोत से न ज्ञात हो' पूर्वपक्ष-सूत्र (१।२।२६) से प्रकट होती है। 'अविदितवेदनं च विधिरित्युच्यते'; अज्ञातस्य हि ज्ञापनं विधिः। शबर (१०।३।२०); १।४।८ पर यों कहा गया है: 'यद्यज्ञातस्ततो विधिः यदि ज्ञातस्ततोनुवादः।...न ह्याख्यातमन्तरेण कृत्यं वा नामशब्दार्थं व्यापरो विधीयते।'

का आदेश है, जहाँ अर्थ यह है कि 'दही द्वारा आहुति दी जानी चाहिए ।' देखिए टुप्टीका (पू० मी० सू० ६।३।१७) एवं एम० एन० पी० पृ० १७, भण्डारकर ओरिएण्टल रीसर्च इंस्टीट्यूट संस्करण २३।

विधि-विचार

वैदिक वचनों में विधियों का संचयन वेद का सार है और वह कई विशिष्ट कृत्यों की ओर निर्देश करता है। विधि में केन्द्रीय तत्त्व है क्रिया या क्रियात्मक रूप, जिसकी व्याख्या हम आगे करेंगे। प्रश्न यह है—कोई किसी विधि को पहचाने कैसे ? शबर ने एक श्लोक उद्धृत किया है जिसे वे लोग जो शब्दों एवं वाक्यों के अर्थों को जानते हैं, परम्परापूर्वक उद्घोषित करते हैं, यथा—सभी वेदों में विधि के स्थिर एवं निश्चित चिह्न होते हैं कुछ शब्द, यथा—'इसे व्यक्ति अवश्य करेगा', 'इसे करना चाहिए', 'इसे अवश्य करना चाहिए,' 'ऐसा होना चाहिए'। 'इसे ऐसा होना चाहिए'[२४]। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि विधि सामान्यतः विधि लिङ् द्वारा प्रकट की जाती है, तथा वर्तमान काल में कोई क्रिया सामान्य रूप से विधि नहीं प्रदर्शित करती। किन्तु कभी-कभी किसी वचन से वर्तमानकाल में भी विधि की झलक मिल जाती है। उदाहरणार्थ, महापितृपक्ष में एक वैदिक वचन आया है—'पितृयज्ञ में चमस के दण्ड (डाँडी) के नीचे समिधा रखकर अनुसरण करना चाहिए, देवों के लिए कृत्य करने वाला दण्ड के ऊपर समिधा रखता है[२५]। इसे विधि के रूप में

२३. यत्र तु कर्म प्रकारान्तरेण प्राप्तं तत्र तदुद्देशेन गुणमात्रविधानम्। यथा 'दध्ना जुहुयात्' इत्यत्र होमस्य 'अग्निहोत्रं जुहुयात्'। इत्यनेन प्राप्तत्वात् होमोद्देशेन दधिमात्रविधानम्, दध्ना होमं भावयेत् इति। मी० न्या० प्र० (पृ० १७)।

२४. एवंहि पदवाक्यार्थन्यायविदः श्लोकमामनन्ति। कुर्यात् क्रियेत कर्तव्यं भवेत्स्यादिति पञ्चमम्। एतत्स्यात्सर्ववेदेषु नियतं विधिलक्षणम् ॥ शबर (पू० मी० सू० ४।३।३)।

२५. विष्टगताग्निहोत्रे महापितृयज्ञे वा श्रूयते। अधस्तात्समिधं धारयन्ननुद्रवेदुपरि हि देवेभ्योधारयति। पू० मी० सू० (३।४।६) पर तन्त्रवार्तिक द्वारा उद्धृत (शबर गत पाँच सूत्रों के साथ इसे भी छोड़ दिया है); तदुपरान्त आगे आया है, 'मिथ्ये होमेऽधस्तात् स्रुग्दण्डस्य समिद्धारयितव्या।' दैवे च पुनरुपरिष्टादिति। विधित्वे चैवमादीनामुक्तः कल्पनाप्रकारः। तस्माद्विधिरिति ॥' पृ० ८९९। यह द्रष्टव्य है कि स्मृतिचन्द्रिका (१, पृ० ७२-७३) ने इस वैदिक वचन का उल्लेख किया है, उसने मामा की पुत्री से विवाह के या अपने चाचा की पुत्री से विवाह के औचित्य के विषय में अपने विवेचन में शतपथ (१।८।३।६) को उद्धृत करते हुए भी इसे उद्धृत किया है। शतपथ का वचन यों है: 'तत्सात्समानादेव पुरुषादत्ता चाद्यश्च जायेते इदं हि चतुर्थे पुरुषे तृतीये संगच्छामहे इति विदेवं दीव्यमाना जात्या आसते' (जहाँ क्रियाएँ वर्तमान काल में हों और विधि लिंग में न हो, तब भी स्मृतिचन्द्रिका का कथन है कि यह केवल अनुवाद नहीं है, किन्तु इससे विधि का निर्माण हो जाता है)। और देखिए परा० माध० (१।२, पृ० ६६-६७) जहाँ ऐसा ही वक्तव्य दिया गया है। ऐसा नियम-सा था कि 'हि' (जो कारण की ओर संकेत करता है) या 'वै' (उसकी ओर संकेत करता है जो भलीभाँति ज्ञात है) ऐसे शब्दों का प्रयोग सामान्यतः किसी विधि में प्रयुक्त नहीं होते। देखिए शबर (पू० मी० सू० ८।१।४१): 'न च विधीयमाने वैशब्दो भवति प्रसिद्धवचनो ह्येष दृष्टः, न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति—इति यथा।' न वै आदि ऋ० (१०।९५।१५) में भी आया है।

लिया गया है न कि केवल अर्थवाद के रूप में। एक अन्य दृष्टान्त **रात्रिसत्रों** (सोमयज्ञ, जो सम्पादन में १२ दिनों से अधिक समय लेते हैं) से सम्बन्धित है। रात्रिसत्रों के संदर्भ में एक वचन यों है—'जो लोग रात्रि-सत्र करते हैं वे स्थैर्य (प्रसिद्धि, नाम) प्राप्त करते हैं, उन्हें ब्रह्म-तेज प्राप्त होता है और वे भोजन प्राप्त करते हैं।' यह रात्रिसत्रों के सम्पादन की केवल प्रशंसा या स्तुति (अर्थवाद) की भाँति लगता है, किन्तु वास्तव में यह विधि है जो उपर्युक्त वचन में वर्णित रात्रिसत्र के फल से सम्बन्धित है और नियम के अपवाद को व्यक्त करती है कि यदि वैदिक वचनों का कोई फल उल्लिखित न हो तो किसी कृत्य का फल स्वर्ग होता है। यही बात मिताक्षरा (याज्ञ० ३।२२६) में प्रयुक्त हुई है जहाँ ऐसा आया है कि अज्ञान में किया गया पाप प्रायश्चित्तों से दूर हो जाता है। सामान्यतः पापमय कर्म का नाश ईश्वर द्वारा दिये गये दण्ड द्वारा ही होता है, किन्तु याज्ञवल्क्य ने एक विशिष्ट नियम दे दिया है। मेधातिथि ने मनु० (५।४०, जहाँ यह आया है कि पशु-पक्षी एवं औषधियाँ जो यज्ञों में अर्पित होती हैं, उच्च गति पर पहुँच जाती हैं) की बात कहकर यह घोषित किया है कि यह मात्र अर्थवाद है और रात्रिसत्र के दृष्टान्त द्वारा इससे कोई विधि नहीं कल्पित की जा सकती। देखिए परा० माध० (१।१, पृ० १४६) जहाँ ऐसा आया है कि स्थिरता (प्रसिद्धि) की इच्छा रखने वाले के लिए रात्रिसत्र के विषय में दिये हुए वचन से अधिकारविधि की बात कल्पित कर ली गयी है। एकादशीतत्त्व में रघुनन्दन ने पू० मी० सू० (४।३।१७-१९) की व्याख्या की है और इस न्याय का दृष्टान्त दिया है।

वेदों का अनुसरण करके स्मृतियों ने भी कतिपय विधियों की व्यवस्था की है और क्रियाओं को विधि लिंग में या 'यत्', तव्यत्' आदि के साथ रख कर विधि-रूप प्रदर्शित किये हैं। उदाहरणार्थ, मनु (४। २५, 'अग्निहोत्रं च जुहुयात' एवं ११।५३ 'चरितव्यमतोः) ने दो ढंग के दृष्टान्त दिये हैं। कई दृष्टिकोणों से विधि कई प्रकार से विभाजित की गयी है। एक विभाजन में चार कोटियाँ हैं, यथा—**उत्पत्तिविधि** (मौलिक नियम या आदेश या विधि) **विनियोगविधि** (प्रयोग में लायी जाने वाली), **प्रयोगविधि** (सम्पादन) एवं **अधिकार-विधि** (नियोज्यता)। **उत्पत्तिविधि** वह है जो सामान्य तथा कृत्य के रूप को दर्शाती है, यथा—'अग्निहोत्रं जुहोति' (वह अग्निहोत्र आहुति देता है) में विनियोगविधि वह है जो किसी गौण अथवा सहकारी विषय को मुख्य कृत्य से सम्बद्ध कर देती है, यथा—'दध्नाजुहोति' (वह दही के साथ आहुति देता है) में और इसका वर्णन पू० मी० सू० के तीसरे अध्याय में हुआ है। **प्रयोगविधि** वह है जो किसी कृत्य के विभिन्न अंशों के क्रम को निर्धारित करती है और शीघ्रता हो तथा देरी न हो, इसका निर्देश करती है, यद्यपि बहुधा यह स्पष्ट रूप से कही नहीं जाती प्रत्युत उपलक्षित मात्र होती है। इसका वर्णन पू० मी० सू० के चौथे एवं पाँचवें अध्याय में हुआ है। **अधिकारविधि** (अर्हता या योग्यता) वह है जो किसी कर्म के फल के स्वामित्व की ओर संकेत करती है, यथा—'स्वर्गकामो यजेत' (जो स्वर्ग की इच्छा रखता है उसे याग करना चाहिए) और वह पू० मी० सू० के ६ठे अध्याय का विषय है[२६]।

२६. मी० न्या० प्र० में अधोलिखित परिभाषाएँ दी हुई हैं : 'तस्सिद्धं विधिः प्रयोजनवन्तमप्राप्तार्थंविधत्ते। तत्र कर्मस्वरूपमात्रबोधको विधिरुत्पत्तिविधिः, यथा—अग्निहोत्रं जुहोतीति। अंगप्रधानसम्बन्धबोधको विधिर्विनि-योगविधिः, यथा—दध्ना जुहोतीति। ... प्रयोगप्राशुभावबोधको विधिः प्रयोगविधिः। स चाङ्गवाक्यैकतामापन्नः प्रधानविधिरेव। ... फलस्वाम्यबोधको विधिरधिकारविधिः। फलस्वाम्यं च कर्मजन्यफलभोक्तृत्वम्। स च यजेत

एक अन्य विधि-विभाजन है, यथा—**अपूर्वविधि** (सर्वथा नया आदेश जो पहले से 'स्वर्गकामो यजेत' ऐसा व्यवस्थित न हो), **नियमविधि** (नियामक आदेश), यथा—'व्रीहीन् अवहन्ति' 'वह चावल को कूटता है या निकालता है', एवं **परिसंख्याविधि** (जब दो विकल्प होते हैं तो उनमें एक का निवारण होता है, अतः दो विकल्पों में एक के निवारण की विधि)। तन्त्रवार्तिक ने इन तीनों की परिभाषा एक श्लोक में की है। यज्ञ के लिए ऐसी भूमि की आवश्यकता होती है, जो सपाट या उबड़-खाबड़ (ऊँची-नीची) हो सकती है। यहाँ पर दो विकल्प हैं, जो एक ही समय कार्यान्वित नहीं हो सकते (अर्थात् एक व्यक्ति समतल तथा ऊँची-नीची भूमि पर एक ही समय यज्ञ नहीं कर सकता)। अतः 'समे देशे यजेत' (अर्थात् सम भूमि पर यज्ञ करना चाहिए) एक **नियम** हुआ (अर्थात् यज्ञ-सम्पादन समतल भूमि पर ही होगा, ऐसा नियन्त्रण लग गया और नियम बन गया) जिसके द्वारा विषम भूमि पर यज्ञ-सम्पादन अमान्य ठहरा दिया गया। 'पाँच पंचनख वाले पशु भक्ष्य हैं', यह परिसंख्या है। यह वाक्य कोई विधि नहीं है, क्योंकि मांस खाना मनुष्य की भूख द्वारा पहले से ही स्थापित है। यह नियम भी नहीं है, क्योंकि कोई व्यक्ति एक समय में पाँच नख वाले पशुओं एवं अन्य पशुओं को भी खा सकता है। यह परिसंख्या है, क्योंकि पाँच नख वाले पाँच पशुओं के अतिरिक्त अन्य पशुओं के भक्षण को मना किया गया है। रूप में यह वाक्य एक विधि है (क्योंकि इसने 'भक्ष्याः' शब्द का प्रयोग किया है, जो विधिप्रत्यय में है, किन्तु अर्थ के रूप में यह एक नियन्त्रण है, 'अर्थात् पंच नख वाले पाँच पशुओं' के अतिरिक्त अन्य पशुओं के मांस भक्षण पर नियन्त्रण है। 'परिसंख्या' शब्द पू० मी० सू० (१०।७। ४ एवं ७) में आया है और शबर ने इसमें तीन दोष देखे हैं।

धर्मशास्त्र के लेखकों ने **नियम** एवं **परिसंख्या** के सिद्धान्त का बहुधा प्रयोग किया है। मेधातिथि (मनु० ३।४५, ऋतुकालाभिगामी स्यात्) ने नियम एवं परिसंख्या पर एक लम्बी टिप्पणी की है, तन्त्रवार्तिक के एक श्लोक को उद्धृत किया है और पंचनख वाले पाँच पशुओं की व्याख्या की है। मिताक्षरा (याज्ञ० १। ७९, तस्मिन् युग्मासु संविशेत) अर्थात् रजस्वला होने से चौथी रात्रि के उपरान्त १६वीं तक प्रत्येक सम रात्रि में पति को पत्नी के पास जाना चाहिए) ने इस विषय पर लम्बा विवेचन उपस्थित किया है कि यह विधि है या नियम है या परिसंख्या है; पुनः याज्ञ० (१।८९) में भी वही बात आयी है। मिताक्षरा ने तीनों की व्याख्या गद्य में की है, उदाहरण दिये हैं और कहा है कि कुछ लोगों के विचार से यहाँ केवल परिसंख्या होती है, किन्तु भारुचि, विश्वरूप आदि (मिताक्षरा भी सम्मिलित है) ने मत प्रकाशित किया है कि याज्ञ० १।७९ एवं १।८१ में केवल नियमविधि है। आप० ध० सू० (१।१।१७) ने भी याज्ञ० (१।७९ एवं ८१) के विषय का उल्लेख किया है और हरदत्त का कथन है कि यह नियम है, किन्तु अन्य इसे परिसंख्या कहते हैं, किन्तु यह किसी प्रकार एक शुद्ध विधि नहीं है। गौतम (५।२) पर हरदत्त की टिप्पणी है कि आचार्य (अर्थात् हरदत्त) के मत से केवल परिसंख्या है (सूत्र यह है—सर्वत्र वा प्रतिसिद्धवर्जम्)। मिलाइए याज्ञ० (१।८१ : यथाकामी भवेद्वापि. . .), जिस पर मिताक्षरा ने बलपूर्वक कहा है कि गौतम एवं याज्ञ० दोनों में एक

स्वर्गकाम इत्येवं रूपः।' आश्व० गृ० (१।२।१) में व्यवस्था है: 'सायं प्रातः सिद्धस्य हविष्यस्य जुहुयात्।' यहाँ पर 'जुहुयात्' उत्पत्तिविधि है 'सिद्धस्य हविष्यस्य' विनियोगविधि होगी। अर्थसंग्रह ने प्रयोगविधि की एक अन्य परिभाषा दी है, यथा—'अंगानां क्रमबोधको विधिः प्रयोगविधिरित्यपि लक्षणम्' (पृ० ११), अर्थात् प्रयोगविधि वह है जो प्रमुख कर्म में विभिन्न अंगों के क्रम का बोध कराती है।

व्यावर्तक नियम है। गौतम ने व्यवस्था दी है कि ब्राह्मण को तीन उच्च वर्गों के यहाँ भोजन करना चाहिए और उनसे दान ग्रहण करना चाहिए। हरदत्त ने इन दो नियमों को परिसंख्याविधि कहा है। आप० ध० सू० (२) ने विवाह के उपरान्त पति एवं पत्नी के लिए अचार-नियम बनाये हैं, प्रथम यह है—'दो बार (प्रातः एवं सायं) भोजन करना चाहिए। हरदत्त ने इसे परिसंख्या कहा है और अर्थ लगाया है कि तीसरी बार भोजन करना मना है (किन्तु वे दिन में दो बार खा सकते हैं और नहीं भी खा सकते हैं), किन्तु अन्य लोगों ने इसे नियम माना है, अर्थात् 'उन्हें दिन में दो बार अवश्य खाना चाहिए।'

नियमविधियाँ तीन प्रकार की होती हैं, यथा—वे जो प्रतिनिधियों से सम्बन्धित हैं, वे जो **प्रतिपत्ति** (अन्तिम कर्म या यज्ञों में प्रयुक्त कुछ वस्तुओं की अन्तिम परिणति) से सम्बन्धित हैं तथा वे जो इन दोनों के अतिरिक्त अन्य विषयों से सम्बन्धित हैं। ताण्ड्यब्राह्मण में आया है कि 'यदि सोम के पौधे न प्राप्त हों तो पूतीकों से रस निकाला जा सकता है' (जैमिनि (३।६।४० एवं ६।३।१३-१७) ने इस विषय पर विचार किया है और जैमिनि एवं शबर ने व्यवस्था दी है कि यदि सोम उपलब्ध न हो तो यजमान उसके स्थान पर पूतीका का उपयोग कर सकता है, अन्य किसी का नहीं, भले ही वह सोम से अधिक ही क्यों न मिलता-जुलता हो[२७]। **प्रतिपत्ति** शब्द जैमिनि द्वारा कई सूत्रों में प्रयुक्त हुआ है (देखिए ४।२।११, १५, १६, २२)। ज्योतिष्टोम में अन्तिम स्नान (अवभृथ) के समय जल में सोम से संलग्न सभी पात्रों (सोम निकालने के उपरान्त बचा हुआ अंश अर्थात् छूंछ, पत्थर, लकड़ी के दो तख्ते तथा सदों के बीच में उदुम्बर का स्तम्भ) को फेंक देना **प्रतिपत्तिकर्म** कहा जाता है (पू० मी० सू० ४।२।२२)। यह परिभाषा धर्मशास्त्र ग्रन्थों में प्रयुक्त होती है। मनु० (३।२६२-२६३) में कहा है कि पके हुए चावल के तीन पिण्डों में से, जो तीन पूर्व पुरुषों को दिये जाते हैं, यजमान की पुत्रेच्छुक पत्नी को बीच वाला (जो पितामह के लिए होता है) खा लेना चाहिए और देवल ने व्यवस्था दी है कि पिण्ड या तो ब्राह्मण को दे दिये जाने चाहिए या बकरी या गाय को खिला देना चाहिए या अग्नि अथवा जल में डाल देना चाहिए। अपरार्क० (याज्ञ० १।२५६) एवं स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० ४८६) के अनुसार पिण्डों की यही प्रतिपत्ति है। देखिए इस महाग्रन्थ का खण्ड ४, पृ० ४८०-४८१। प्रतिपत्ति शब्द अर्थकर्म का विरोधी है। उदाहरणार्थ तै० सं० में हम पढ़ते हैं 'सोम पौधे को लाने के उपरान्त वह दण्ड को मैत्रावरुण पुरोहित के हाथ में देता है'। यहाँ पर दीक्षा के समय दण्ड सर्वप्रथम यजमान को दिया गया था जो अब मैत्रावरुण को दिया जा रहा है जिसे वह कई प्रकार से उपयोग में लायेगा, यथा—वह अँधेरे में उसकी सहायता से चल सकता है, जल में प्रवेश कर सकता है, गायों को रोक सकता है, साँपों को पास आने से रोक सकता है और वह स्वयं उस पर अपना भार दे सकता है या उसके सहारे चल-फिर या कूद-फाँद सकता है। अतः यह प्रतिपत्ति से भिन्न है जिसमें वस्तु अन्तिम रूप से फेंक दी जाती है और पुनः उसका कोई उपयोग नहीं होता। इसका उल्लेख पू० मी० सू० (४।२।१६-१८) में हुआ है। यह (दण्ड का दिया जाना) **अर्थकर्म** है और प्रतिपत्ति कर्म के विरोध में पड़ जाता है। इसका उल्लेख तै० सं० (६।१।४।२) में हुआ है (क्रीते सेमि मैत्रावरुणाय दण्डं

२७. यदि सोमं न विन्देयुः पूतीकानभिषुणुयुर्यदि न पूतीकानर्जुनानि च। ताण्ड्य (९।५।३)। नियमार्थागुणश्रुति। पू० मी० सू० ३।६।४०; नियमार्थः क्वचिद्विधिः। पू० मी० सू० (६।३।१६); जिस पर शबर की टिप्पणी यों है : 'सोमाभावे बहुषु सदृशेषु प्राप्तेषु नियमः क्रियते। पूतिका अभिषोतव्या इति। तस्मात्प्रतिनिधिमुपादाय प्रयोगः कर्तव्य इति।'

प्रयच्छति. . .)। प्रतिपत्ति का दूसरा उदाहरण है चात्वाल पर कृष्ण हरिण के सींग को फेंकना (तै० सं० ६।१।३।८ एवं पू० मी० सू० ४।२।१९)। पू० मी० सू० (११।२।६६-६८) ने अर्थकर्म का एक दृष्टान्त दिया है। मर जाने पर यजमान को उसकी यज्ञिय सामग्रियों एवं पात्रों के साथ जलाना उपकरणों या पात्रों का प्रतिपत्ति कर्म कहा जाता है (तै० सं० १।६।८।२-३ एवं पू० मी० सू० ११।३।३४)। मनु० (५।१६७) ने व्यवस्था दी है कि यदि किसी आहिताग्नि की पत्नी उसके पूर्व ही मर जाती है तो वह पति द्वारा स्थापित पवित्र अग्नि से ही यज्ञिय उपकरणों के साथ जलायी जाती है। नियम के तीसरे प्रकार के उदाहरण के लिए देखिए आप० ध० सू० (१।११।३१।१) जहाँ आया है—'पूर्व मुख करके भोजन करना चाहिए (यह नियम प्रतिनिधि एवं प्रतिपत्ति से सम्बन्धित नहीं है)। व्यक्ति किसी दिशा में भोजन कर सकता है किन्तु यह नियम केवल पूर्व में ही खाने को कहता है। यहाँ प्रतिनिधि या प्रतिपत्ति का प्रश्न नहीं उठता है।

विधियाँ **क्रत्वर्थ** (कृत्य के लिए) एवं **पुरुषार्थ** (पुरुष के लिए) रूपों में भी विभाजित हैं'। ये 'प्रयुक्ति' से सम्बन्धित हैं। 'प्रयुक्ति' को प्रेरणात्मक शक्ति कहते हैं, जो पू० मी० सू० के चौथे अध्याय का विषय है। पू० मी० सू० (४।१।२) में पुरुषार्थ की परिभाषा है और शबर ने उस सूत्र की तीन व्याख्याएँ उपस्थित की हैं, जिनमें एक है—'पुरुषार्थ वह विषय है जिसके करने पर मनुष्य को सुख प्राप्त होता है, क्योंकि सुख को प्राप्त करने की इच्छा से इसे जाना जाता है और पुरुषार्थ (मनुष्य का उद्देश्य) सुख से भिन्न नहीं है'। इस अस्पष्ट एवं असुन्दर परिभाषा से यह प्रतीत होता है कि पुरुषार्थ (मनुष्य का उद्देश्य) सुख से भिन्न नहीं है'। इस अस्पष्ट एवं असुन्दर परिभाषा से यह प्रतीत होता है कि पुरुषार्थ वही है जिसे सुख के फल की प्राप्ति के लिए साधारणतः व्यक्ति अपनाता है; किन्तु क्रत्वर्थ वह है जो पुरुषार्थ की पूर्ति में सहायक होता है और स्वयं सीधे तौर से कर्ता को कोई फल नहीं देता। दर्शपूर्णमास ऐसे सभी प्रमुख यज्ञ पुरुषार्थ के अन्तर्गत सम्मिलित हैं, किन्तु क्रत्वर्थ के अन्तर्गत वे सभी सहायक कृत्य रखे जाते हैं जो प्रमुख कृत्य को पूर्ण करने के उपयोग में आते हैं, यथा—पाँच प्रयाज जो दर्शपूर्णमास के लिए सहायक है क्रत्वर्थ हैं और स्वयं दर्शपूर्णमास पुरुषार्थ है[२८]। इस अन्तर की महत्ता इसमें है कि जो क्रत्वर्थ है यदि उसका अनुसरण न किया जाय तो स्वयं कृत्य दोषपूर्ण रह जाता है, किन्तु जो पुरुषार्थ है यदि उसका अनुसरण न किया जाय तो स्वयं व्यक्ति अपराधी या पातकी हो जाता है किन्तु अनुष्ठान या कृत्य दोषपूर्ण नहीं होता।

पू० मी० सू० (४।१।२) की तीन व्याख्याओं का एक वर्ग शबर द्वारा यों उपस्थित किया गया है—ब्राह्मण को दान-ग्रहण से धन कमाना चाहिए, क्षत्रिय को विजय द्वारा तथा वैश्य को कृषि आदि से (देखिए, गौतम, १०। ४०-४२, मनु १०।७६-७९)। ये नियमों के समान लगते हैं। यदि धन प्राप्ति क्रत्वर्थ हो, और यदि कोई शास्त्र विहित साधनों के अतिरिक्त अन्य साधनों से धन प्राप्त करता है और उस धन से यज्ञ करता है तो स्वयं यज्ञ दोषपूर्ण हो जायगा और वांछित फल नहीं देगा। किन्तु यदि धन की प्राप्ति पुरुषार्थ से हुई हो तो चाहे जिस साधन से उसकी प्राप्ति हुई हो उससे किया गया यज्ञ दोषपूर्ण नहीं कहा जायेगा। मिताक्षरा (याज्ञ० २।११४) ने गुरु प्रभाकर की एक उक्ति उद्धृत की है जो दायभाग (याज्ञ० २।६७) द्वारा भी उद्धृत है, किन्तु नाम नहीं

२८. तै० सं० (२।६।१।१) ने दर्शपूर्णमास के प्रमुख हविष्यों के पूर्वभास के रूप में पाँच प्रयाजों का उल्लेख किया है, यथा—'समिधो यजति, तनूनपातं यजति, इड़ो यजति, बर्हिर्यजति, स्वाहाकारं यजति'। ये कृत्यों के या देवताओं के नाम हैं, इस विषय में मतैक्य नहीं है।

दिया हुआ है। किन्तु स्मृतिच० (२, पृ० २५७-५८), मदनरत्न (व्यवहार, पृ० ३२४-३२५) एवं व्यवहारप्रकाश (पृ० ४२०) ने न्यायविवेक से ऐसा ही वचन उद्धृत किया है। विश्वरूप (याज्ञ० २।१४४) ने भी कहा है कि धन की प्राप्ति के विषय के नियम पुरुषार्थ है। धन एकत्र करना स्वाभाविक है। धन प्राप्ति शास्त्र पर नहीं निर्भर है। इसके अतिरिक्त, यह सभी को ज्ञात है कि धन जब कमाया जाता है तो वह प्राप्तकर्ता को सुख देता है। अतः धन पुरुषार्थ है और यज्ञ, जो धन द्वारा सम्पादित होते हैं वे भी पुरुषार्थ हैं। सामान्य नियम यह है कि सभी अंग (सहायक कृत्य) क्रत्वर्थ हैं और सभी प्रमुख कृत्य (यथा दर्शपूर्णमास, सोमयाग) पुरुषार्थ हैं; और वे सभी वचन, जो कृत्यों के फलों की व्यवस्था करते हैं, पुरुषार्थ हैं। कुछ उदाहरण दिये जा सकते हैं। शांखायनब्राह्मण (६।६) में ऐसा कहकर कि यजमान को कुछ व्रत करने चाहिए, ऐसी व्यवस्था की गयी है कि यजमान को सूर्योदय एवं सूर्यास्त नहीं देखना चाहिए। शबर ने इन व्रतों को 'प्रजापतिव्रतानि' कहा है और इन्हें पुरुषार्थ घोषित किया है, जिसका अर्थ यह है कि यजमान को सूर्योदय एवं सूर्यास्त न देखने का प्रण करना चाहिए।

क्रत्वर्थ एवं पुरुषार्थ के अन्तर को धर्मशास्त्रीय रंग मिल चुका है। उदाहरणार्थ, याज्ञ० (१।५३) ने व्यवस्था दी है कि उस लड़की से विवाह करना चाहिए जो रोगरहित हो, भाई वाली हो और दूसरे गोत्र या प्रवर वाली हो। मिताक्षरा (याज्ञ० १।५३) ने व्याख्या की है कि यदि लड़की सपिण्ड हो या एक ही गोत्र या प्रवर वाली हो तो पत्नी होने की उसकी स्थिति की बात ही नहीं उठती[२९] (स्वयं विवाह ही अवैध होता है), किन्तु वह कन्या जो रोगग्रस्त होती है, विवाह हो जाने पर पत्नी हो जाती है, केवल एक ही फल यह होता है कि वह बीमार रहती है (जो दुःख एवं चिन्ता का कारण है)। कुल्लूक (मनु० ३।७) ने शबर के इस सिद्धान्त की ओर संकेत किया है और कहा है कि उस कुटुम्ब की कन्या से विवाह नहीं करना चाहिए, जिसमें राजरोग (तपेदिक), अपस्मार (मिर्गी), चरक एवं कुष्ठ के समान रोग हों। मिताक्षरा (याज्ञ० ३।२।८०) ने एक उद्धरण दिया है—'विज्ञ व्यक्ति को उस लड़की से विवाह नहीं करना चाहिए, जिसको भाई, पिता न हो, क्योंकि वह पुत्रिका (वह कन्या जो पुत्र रूप में नियुक्त होती है) हो सकती है'। यहाँ पर निषेध वैसा ही है जो किसी विकलांग लड़की के साथ विवाह करने के विषय में होता है अर्थात् यह एक ज्ञात (प्रत्यक्ष) उद्देश्य है। अतः विवाह वैध होगा अर्थात् निषेध पुरुषार्थ है। मनु (९।१६८) में आया है—'वह दत्तक पुत्र है जिसे माता या पिता विपत्ति आदि की स्थितियों में जल के साथ देता है'। मिताक्षरा ने याज्ञ० (२।१३०) की व्याख्या में इस श्लोक को उद्धृत कर कहा है कि यहाँ पर 'आपद्' (विपत्ति) शब्द विशिष्ट रूप से उल्लिखित है, जब 'आपद्' न हो तो किसी अन्य व्यक्ति को अपना पुत्र गोद के रूप में नहीं देना चाहिए; यह निषेध केवल देने वाले को प्रभावित करता है (न कि गोद लेने वाली क्रिया को), अर्थात् यह निषेध पुरुषार्थ है, क्रत्वर्थ नहीं[३०]। यह द्रष्टव्य है कि व्यवहारमयूख ने इसे

२९. सपिण्डा-समानगोत्रा-समानप्रवरासु-भार्यात्वमेव नोत्पद्यते रोगिण्यादिषु तु भार्यात्वे उत्पन्नेऽपि दृष्टविरोध एव। मिता० (याज्ञ० १।५३); इसका आशय यह है कि सपिण्ड, सगोत्र या सप्रवर लड़की के विवाह के विरोध में जो व्यवस्था है वह क्रत्वर्थ है, किन्तु रोगग्रस्त लड़की के साथ विवाह करने की व्यवस्था केवल पुरुषार्थ है।

३०. आपद्ग्रहणादनापदि न देयः। दातुरयं प्रतिषेधः मिता० (याज्ञ० २।१३०); व्यवहारमयूख (पृ० १०७) ने विरोध किया है: 'अयं निषेधो दातुरेव पुरुषार्थः, न क्रत्वर्थ इति विज्ञानेश्वरः। तन्न। अस्य वाक्यादृष्टार्थतया क्रत्वर्थावगमात्।'

नहीं माना है और कहा है कि निरोध ही क्रत्वर्थ है। सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि वे व्यवस्थाएँ, जो अदृष्ट, आध्यात्मिक या परलोक सम्बन्धी फल वाली हैं, क्रत्वर्थ होती हैं, किन्तु वे (व्यवस्थाएँ) जो साक्षात फलदायिनी होती हैं, पुरुषार्थ कहलाती हैं।

आगे कुछ और कहने के पूर्व हमें 'यजेत' शब्द का विश्लेषण कर लेना आवश्यक है। यह शब्द वैदिक वाक्यों में प्रयुक्त है, यथा—'स्वर्गकामो यजेत' (जो स्वर्ग की कामना करे उसे यज्ञ करना चाहिए)। 'यजेत' शब्द में दो अंश हैं, यथा—'यज' धातु तथा प्रत्यय। प्रत्यय के भी दो अंश हैं, यथा—आख्यातत्व (सामान्य क्रिया रूप) एवं लिङत्व (आज्ञा या आदेश रूप)। आख्यातत्व को दसों लकारों में पाया जाता है किन्तु लिङत्व केवल आज्ञा में ही पाया जाता है। दोनों केवल भावना को व्यक्त करते हैं। भावना का शाब्दिक अर्थ है किसी भावक की क्रिया (व्यापार-विशेष) जो फल की अनुकूलता का कारण है। यह भावना दो प्रकार की होती है, यथा—शाब्दी भावना एवं आर्थी भावना (मीमांसा न्यायप्रकाश पृ० ४–६)।

यह हमने बहुत पहले ही देख लिया है कि विधियाँ वेद के मर्म की परिचायक हैं। भावना का सिद्धान्त विधियों का हृदय है अतः यह मीमांसा के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों में परिगणित है।

सामान्य जीवन में जब कोई किसी से कहता है—'यह तुम्हारे द्वारा किया जाना चाहिए, तो कुछ करने के लिए प्रोत्साहन या प्रेरणा (उत्तेजन) किसी व्यक्ति से प्राप्त होता है। किन्तु मीमांसा के मत से वेद का न तो कोई मानव और न कोई दिव्य प्रणेता है। अतः वैदिक विधि में शब्द के इच्छार्थक या आज्ञात्मक रूप से ही प्रोत्साहन (उत्तेजन या प्रेरणा) का उदय होता है, उस आज्ञा के पीछे न तो कोई मानव है और न कोई दिव्य शक्ति या व्यक्ति है; अतः इसी से भावना को 'शाब्दी' (अर्थात् स्वयं शब्द पर आधृत, न कि किसी व्यक्ति की इच्छा या आज्ञा या निर्देश पर आधृत) कहा गया है। अतः शाब्दी भावना का अर्थ है किसी कर्त्ता (यहाँ पर वेद का शब्द) की कोई विशिष्ट क्रिया जो किसी व्यक्ति द्वारा उत्पादित होती है; और यह उस अंश या तत्त्व से अभिव्यक्त होती है, जिसे हम इच्छार्थक कहते हैं। यह शाब्दी इसलिए कही जाती है, क्योंकि यह 'शब्दनिष्ठ' (वेद के शब्द में केन्द्रित) है न कि 'पुरुषनिष्ठ' (किसी व्यक्ति में केन्द्रित)। शाब्दी भावना में तीन तत्त्व पाये जाते हैं, यथा—(१) क्रिया के लिए कर्ता का प्रोत्साहन होता है, (२) आज्ञा या शासन ही कारण होता है तथा (३) अर्थवाद वचनों से उद्घोषित औचित्य द्वारा विधि या रीति की प्राप्ति होती है। शाब्दी भावना से आर्थी भावना का उदय होता है। आर्थी भावना (जो अर्थ या फल की खोज करती है) में भी तीन तत्त्व पाये जाते हैं, यथा—(१) स्वर्ग ही फल है, जिसकी प्राप्ति करनी होती है, (२) कारण या साधन या निमित्त है 'याग', (३) याग की भी एक विधि या ढंग (इतिकर्तव्यता) होता है। यह सभी पू० मी० सू० (२।१।१), शबर के भाष्य एवं तन्त्रवार्तिक के कतिपय श्लोकों पर आधृत है। यह पूरा विवेचन हमें अपूर्व के अर्थ की ओर ले जाता है। याग अल्प समय का होता है, किन्तु स्वर्ग व्यक्ति की मृत्यु के उपरान्त प्राप्त होता है, जो याग (यज्ञ) के सम्पादन के वर्षों उपरान्त हो सकता है। तो ऐसी स्थिति में याग एवं स्वर्ग (कारण एवं फल) में कौन-सी जोड़ने वाली कड़ी है ? यह कड़ी याग द्वारा उत्पन्न की हुई शक्ति है जो स्वर्ग की उत्पत्ति करती है।

संक्षेप में अभिप्राय यह है—दोनों अर्थात् धातु एवं प्रत्यय मिलकर प्रत्यय (आगम) का अर्थ प्रकट करते हैं, और इसमें भावना प्रमुख तत्त्व है, अतः यह प्रत्यय का ही अर्थ द्योतित करती है। भावशब्द बहुत हैं[31]।

३१. भावार्थाः कर्मशब्दास्तेभ्यः क्रिया प्रतीयेतैष ह्यर्थो विधीयते। पू० मी० सू० (२।१।१); शास्त्रदीपिका पर लिखी गयी मयूखमालिका में इसकी व्याख्या यों है—भावार्थाः भावनाप्रयोजनकाः ये कर्मशब्दाः धातवस्ते-

यथा—यजति, जुहोति, ददाति, दोग्धि, पिनष्टि। ये सभी दो प्रकार वाले हैं, यथा—प्रधान एवं गुणभूत। वे भाव, शब्द, जिनसे किसी धार्मिक कृत्य के लिए कोई द्रव्य नहीं उत्पन्न होता या उपयुक्त बनाया जाता, प्रधान कर्म के द्योतक होते हैं (यथा-प्रयाज), किन्तु वे भावशब्द, जिनसे द्रव्य उत्पन्न होता है या द्रव्य उपयुक्त बनाया जाता है, गुणभूत कहलाते हैं (यथा—चावल को कूटना, याज्ञिय स्तम्भ बनाने के लिए लकड़ी छीलना या स्रुव को स्वच्छ करना)। क्रियापदों के दो रूप हैं— (१) वे, जिनका रूप केवल यह बताता है कि कर्ता का अस्तित्व है, यथा— 'अस्ति, भवति, विद्यते'; (२) वे रूप, जो न केवल कर्ता के अस्तित्व को बताते हैं, प्रत्युत उनसे यह भी प्रकट होता है कि कृत्य के साथ फल भी है, यथा—'यजति' (यागं करोति), 'ददाति' (दानं करोति), 'पचति' (पाकं करोति), 'गच्छति' (गमनं करोति)। इन विषयों में 'करोति' का भाव छिपा रहता है। जैमिनि (पू० मी० सू० २।१।४) ने शब्दों को दो कोटियों में बाँटा है —नामानि (संज्ञाएँ) एवं कर्मशब्दाः (क्रियाएँ) प्रथम के अन्तर्गत शबर ने सर्वनामों एवं विशेषणों को परिगणित किया है। दूसरी कोटि को 'आख्यात' कहा गया है। शबर (२।१।३) ने 'नामानि' का अन्वय 'द्रव्य-गुणशब्दाः' के अर्थ में किया है और टिप्पणी की है कि सूत्र (२।१।३) में 'नामानि' शब्द 'द्रव्यगुणशब्दाः' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। शबर का कथन है कि धात्वर्थ में धर्मों के लिए कोई आकांक्षा नहीं होती। किन्तु प्रत्ययार्थ में विधि के लिए (इतिकर्त्तव्यता) की आकांक्षा होती है

अर्थवाद

अब हम वैदिक वचनों (उक्तियों) के दूसरे बड़े विभाजन अर्थात् अर्थवादों का विवेचन उपस्थित करेंगे। इनका निरूपण पू० मी० सू० के प्रथम अध्याय के दूसरे पाद में हुआ है। बहुत-से वैदिक वचन हैं, यथा—'वह गरज उठा (उसने रोदन किया) अतः वह रुद्र कहलाया' (तै० सं० १।५।१।१), 'प्रजापति ने स्वयं अपना मांस काटा' (तै० सं० २।१।१।४), 'यज्ञिय भूमि में पहुँच जाने के उपरान्त भी देवों को दिशाओं का ज्ञान नहीं हुआ' (तै० सं० ६।१।५।१), 'कोई यह नहीं जानता कि कोई परलोक में रहता है कि नहीं' (तै० सं० ६।१।१।१), 'पृथिवी पर या अन्तरिक्ष में या स्वर्ग में अग्निवेदिका का चयन नहीं होना चाहिए (तै० सं० ५।२।७।१)। विरोध

भ्योऽपूर्वं प्रतीयते एष हि धात्वर्थः पदश्रुत्या भावनाकरणत्वेन विधीयते। 'कर्मशब्दाः' का अर्थ है कर्मप्रतिपादकाः। कः पुनर्भावः केते पुनर्भावशब्दा इति। यजति ददाति जुहोत्येवमादायः।...यजेतेत्येवमादयः साकाङ्क्षा यजेत किं केन कथमिति स्वर्गकाम इत्येतेन प्रयोजनेन निराकाङ्क्षाः। शबर। अभिधाभावनामाहुरन्यामेव लिंगादयः। अर्थात्म-भावना त्वन्या सर्वाख्यातेषु गम्यते। तन्त्रवार्तिक (पृ० ३७८); शास्त्रे तु सर्वत्र प्रत्ययार्थो भावनेति व्यवहारः। तत्रायभिप्रायः। प्रत्यार्थं सह ब्रूतः प्रकृतिप्रत्ययौ सदा। प्राधान्याद्भावना तेन प्रत्ययार्थोऽवधार्यते। तन्त्रवा० (पृ० ३८०)। पाणिनि (३।१।६७) के वार्तिक (२) पर महाभाष्य में एक नीतिवाक्य (कहावत) है: 'प्रकृतिप्रत्ययौ प्रत्ययार्थं सहब्रूतः' और शबर ने इसे आचार्योपदेशः कहा है (३।४।१३, पृ० ९२२)। पाणिनि ने कालों एवं क्रियापद की अवस्था बताने वाले पदों के लिए विशिष्ट पारिभाषिक नाम दिये हैं और अर्थ को व्यक्त करनेवाले शब्दों का प्रयोग नहीं किया है, यथा वर्तमानकाल, अतीतकाल या भविष्यत्काल। वे 'ल' से आरम्भ होते हैं अतः लकार कहे जाते हैं। वे इस प्रकार हैं—लट् (वर्तमान), लेट (वैदिक क्रिया का संशयार्थक रूप), लिट् (परोक्षे लिट्), लुङ, लङ (अनद्यतनभूत), लिङ, लोट, लुट्, लृट्, लङ। भावार्थाः कर्मब्दाः की प्रतिध्वनि निरुक्ति (१।१) भावप्रधानमाख्यातम् में है।

कर्ता कहता है—'तुमने स्वयं घोषित किया है कि धार्मिक कृत्यों का सम्पादन वेद का उद्देश्य है' (पू० मी० सू० १।१।२)। उपर्युक्त एवं अन्य समान वचन धार्मिक कर्मों के विषय में किसी उद्देश्य की पूर्ति नहीं करते, अतः वे निरर्थक हैं और अनित्य हैं (किसी नित्य विषय की ओर संकेत नहीं करते)। इसका उत्तर यह है कि ये वचन वेद के उद्‌बोधन युक्त वचनों (विधिवाक्यों) के साथ एकरूपता के भाव से सम्बन्धित हैं और उद्‌बोधन-कारी वचनों की महत्ता प्रकट करने का उपयोग सिद्ध करते हैं। शबर ने (१।२।७) एक वचन उद्धृत किया है, 'जो समृद्धि का इच्छुक है उसे वायु के सम्मान में श्वेत पशु की बलि देनी चाहिए; वायु तेज चलने वाला देवता है, वह वायु के अनुरूप भाग के साथ उसके पास दौड़ता है; वह (वायु) यजमान को समृद्धि के पास ले जाता है'[32]। ये सभी शब्द एक पूर्ण वचन बनाते हैं; प्रथम अंश 'व्यायव्यं...भूतिकामः' स्पष्टतः एक विधि है, जैसा कि 'आलभेत' शब्द से प्रकट होता है। बाद वाला अंश केवल महत्ता के गान के लिए एक अर्थवाद मात्र है। लोग जानते हैं कि वायु क्षिप्र गति से चलता है। अतः 'वायुर्वै...आदि' केवल वही दुहराता है जो लोगों को पहले से ज्ञात है (अर्थात् यह एक अनुवाद है)। १।२ के सूत्र १९—२५ में पू० मी० सू० ने कुछ ऐसे वचनों पर विचार किया है जो विधियों-से लगते हैं किन्तु वे अर्थवाद के रूप में घोषित हैं। उदाहरणार्थ, (तै० सं० २।१।१।६) 'यज्ञिय स्तम्भ उदुम्बर की लकड़ी का होना चाहिए; उदुम्बर काष्ठ वास्तव में शक्ति (भोजन या सार) है; पशु शक्ति हैं; इस शक्तिशाली (रसयुक्त) स्तम्भ के द्वारा वह (यजमान) 'शक्ति की प्राप्ति के लिए' पशुप्राप्ति करता है। विरोध करने वाला कहता है कि यह एक **फलविधि** (फल के विषय में एक आज्ञा-वचन) है, क्योंकि 'ऊर्जोऽवरुद्ध्यै' शब्दों में उद्देश्य (प्रयोजन) है और श्लाघा (या प्रशंसा या स्तुति) के लिए कोई शब्द नहीं है। इसका उत्तर यह है कि केवल श्लाघा (प्रशंसा या स्तुति) ही है।

वेद में कुछ ऐसे वचन हैं जहाँ 'हि' के समान शब्दों का प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ है 'क्योंकि'। यथा—'अग्नि में आहुति सूप से देनी चाहिए, क्योंकि इसी से अन्न तैयार किया जाता है' (तै० ब्रा० १।६।५)[33]।

३२. आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानां तस्मादनित्यमुच्यते (पूर्वपक्ष)। विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः। पू० मी० सू० (१।२।१ एवं ७)। १।२।७ की व्याख्या में निम्नोक्त वचन उद्धृत है 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः। वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति। स एवैनं भूतिं गमयति'। यह अर्थवाद (वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता) 'वायव्य...लभेत' आदि की विधि का शेष है; यह तै० सं० (२।१।१।१) में आया है। (१।२।१०) पर भाष्य (गुणवादस्तु) उन वचनों की ओर संकेत करता है जिनके वे तीन वचन, जो १।२।१ में उदाहृत हैं, अर्थवाद हैं। उदाहरणार्थ, सोऽरोदीद्यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्' नामक वचन बर्हिषि रजतं न देयं (तै० सं० १।५।१।१-२) का एक अर्थवाद है। यह अर्थवाद (सोऽरोदीत् आदि) 'बर्हिषि रजतं न देयम्' के प्रतिषेध का शेष है। सूत्र में 'अनित्य' शब्द जानबूझ कर प्रयुक्त किया गया है। वेद नित्य है, अतः वह प्रमाण है। अतः वे वचन जो किसी धार्मिक कृत्य की ओर निर्देश नहीं करते उस अंश से पृथक् हैं जो कृत्यों से सम्बन्धित है और अनित्य अर्थात् अप्रमाण है।

३३. हेतुर्वा स्यादर्थवत्त्वोपपत्तिभ्याम्। स्तुतिस्तु शब्दपूर्वत्वादचोदना च तस्य। पू० मी० सू० १।२। २६-२७; अथ ते हेतुवन्निगदाः शूर्पेण जुहोति तेन ह्यन्नं क्रियत इत्येवमादयः। तेषु सन्देहः। किं स्तुतिस्तेषां कार्यमुत हेतुरिति। अस्मत्पक्षे पुनः शूर्पं स्तूयते। तेन ह्यन्नं क्रियत इति वृत्तान्तान्वाख्यानं न च वृत्तान्तज्ञापनाय किं तर्हि प्ररोचनायैव। तस्माद्धेतुवन्निगदस्यापि स्तुतिरेव कार्यमिति। शबर (१।२।३०)। वरुणप्रघास (जो

अब प्रश्न यह उठता है कि यह तथा वे वचन, जिनमें हेतु या कारण दिया हुआ है, अर्थवाद के रूप में ग्रहण किये जायँ या केवल आज्ञा के लिए हेतु बताने वाले के रूप में ग्रहण किये जायँ। व्यवस्थित निष्कर्ष तो यह है कि वे स्तुति-मूलक हैं। यदि दूसरा मत स्वीकार किया जाय (यथा—श्रुति विधि के लिए कारण देती है) तो स्रुव तथा अन्य पात्र भी आहुति के लिए मान्य ठहराये जायँ (न केवल सूप ही), क्योंकि वे भी भोजन बनाने में प्रयुक्त होते हैं। रघुनन्दन ने मलमासतत्त्व (पृ० ७६०) में इस उक्ति का आधार लिया है और लघु-हारीत की ओर संकेत करते हुए इसकी व्याख्या की है 'चक्रवत् परिवर्तेत सूर्यः कालवशाद् यतः'। ऐसा नहीं समझना चाहिए कि सभी अर्थ-वादों का उद्देश्य स्तुति ही है। 'वह लेपयुक्त ढेले रखता है, घृत सचमुच दीप्तिमान है' (तै० ब्रा० ३।२।५।१२) में उस वस्तु के प्रति एक सन्देह यह उत्पन्न है जिससे ढेले लेपित होते हैं। वह सन्देह वचन के शेषांश से दूर होता है, अर्थात् वह पदार्थ घृत है जिससे ढेले लेपित होते हैं।

अर्थवाद के तीन प्रकार हैं, यथा—**गुणवाद, अनुवाद एवं भूतार्थवाद**। जब कोई अर्थवाद किसी सामान्य अनुभव के विपरीत पड़ता है तो वह लाक्षणिक होता है; जब कोई बात ज्ञान के किसी अन्य साधन से स्पष्ट रूप से निश्चित होती है और किसी मूल ग्रन्थ या वचन का विषय हो जाती है तो वह 'अनुवाद' कहलाती है और जब कोई मूल अन्य प्रमाणों के विरोध में नहीं पड़ता या निश्चित रूप से निरूपित नहीं हो पाता तो वह 'भूतार्थवाद' (किसी निर्णीत तथ्य या अतीत घटना का कथन) कहलाता है[३४]। प्रथम प्रकार का उदाहरण यह है—'दिन में एक चातुर्मास्य है) में करम्भपात्रों (ऐसे पात्र जिनमें भूसी से रहित यव थोड़ा भून कर रखे गये हों और साथ में दही आदि हो) का होम देने के लिए सूप (शर्प) का प्रयोग जुहू के स्थान पर होता है। पू० मी० सू० की स्थिति एवं मान्यता यह है कि वेद जो कुछ घोषित करता है वह प्रामाणिक है; वेद की उक्तियों के लिए तर्क एवं कारण देने की आवश्यकता नहीं होती। अपनी घोषणा के लिए यह कारण की बात चला सकता है। किन्तु इसकी कोई आवश्यकता नहीं होती। भाट्टचिन्तामणि में आया है: "अनेन वेदविहितेऽर्थे हेत्वपेक्षा नास्तीति पार्थसारथिप्रतिपादितानपेक्षत्वं हेतुवादस्येति सूचितम्। उक्तं च 'न हि वेदेनोच्यमानं हेतुमपेक्षते' इति।।' इस हेतुवन्निगदाधिकरण की विस्तृत व्याख्या के लिए देखिए इस महाग्रन्थ का खण्ड ३ (पृ० ६७६-७७), पाद-टिप्पणी १२७७)। यहाँ वसिष्ठ (१५।३-४) के नियम (न त्वेकं पुत्रं दद्यात् प्रतिगृह्णीयाद्वा स हि सन्तानाय पूर्वेषाम्) की व्याख्या है। यहाँ पर पहला एक विधि है, क्योंकि 'दद्यात्' एवं 'प्रतिगृह्णीयात्' दोनों इच्छार्थक काल-वृत्ति में हैं, और बाद वाला हेत्वार्थक होने के कारण अर्थवाद है (क्योंकि पुत्र की महत्ता गायी गयी है)।

३४. निरुक्त (१।१६) ने उक्तितानुवाद के विषय में कहा है, स भवति। विरोधे गुणवादः स्यादनुवादो-ऽवधारिते। भूतार्थवादस्तद्धानादर्थवादस्त्रिधा मतः। मी० बा० प्र० (पृ० ४) द्वारा उद्धृत। अनुवादोऽवधारित इत्यत्रोदाहरणं तु नृसिंहाश्रमैरुक्तम्। अग्निर्हिमस्य भेषजम् इति। तत्त्वाध्यायाध्ययनवैधुर्याद् वैचित्र्याद्वा। मी० बा० प्र० (पृ० ४८)। यह द्रष्टव्य है कि मधुसूदन सरस्वती ने प्रस्थानभेद, अर्थसंग्रह (पृ० २५ थिबौट) में तथा म० म० झा (पूर्वमीमांसा इन इट्स सोर्सेज, पृ० २०१) ने इसी वचन को अनुवाद के रूप में उद्धृत किया है। अनुवाद की एक अनुल्लंघ्य परिभाषा यह है 'स नामानुवादो भवति योऽत्यन्तसमानार्थत्वेनावधार्यते।' (तन्त्रवार्तिक, पृ० ६११, २।४।१३ की व्याख्या में)। मेधातिथि (मनु० २।२२७—मत्स्य० २११।२२) ने यह कहते हुए कि कोई व्यक्ति सौ वर्षों में भी बच्चे के जन्म एवं पालन-पोषण में माता-पिता जो कष्ट सहन करते हैं उनका प्रतिदान नहीं दे सकता, ऐसा मत दिया है कि यह भूतार्थनुवाद है। मधुसूदन सरस्वती ने प्रस्थान-

केवल अग्नि-धूम्र दिखाई पड़ता है, ज्वाला नहीं (तै० सं० २।१।२।१०)। अग्नि एवं धूम्र दोनों दिन एवं रात्रि में देखे जाते हैं। इस कथन का तात्पर्य यह है कि दिन में अग्नि का प्रकाश उतना नहीं होता जितना कि रात्रि में (दिन में दूर से उतना नहीं दिखाई पड़ता जितना रात्रि में)।

'अग्नि हिम (जाड़ा) का भेषज (औषध) है।' (वाज० सं० २३।१० एवं तै० सं० ७।४।१८।२) 'यह कुछ लोगों द्वारा अनुवाद का उदाहरण माना जाता है' मी० बा० प्र० (पृ० ४८) ने इसमें इस बात पर दोष दिखाया है कि यह एक प्रसिद्ध मन्त्र है और वाक्य रचना के विचार से किसी विधि का कोई अंश नहीं है और नृसिंहाश्रम द्वारा यह वेदाध्ययन के अभाव या अनवधानता के उदाहरण के रूप में ग्रहण किया गया है। एक उचित दृष्टान्त यह है: 'वायु सबसे अधिक शीघ्रगामी देवता है' (वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता, तै० सं० २।१।१।१)। 'प्रजापति ने स्वयं अपना मांस काट लिया' को कुछ लोगों ने भूतार्थवाद का दृष्टान्त माना है, किन्तु मी० बा० प्र० ने इसे अमान्य ठहराया है और 'यन्न दुःखेन सम्भिन्नम्' को उदाहृत किया है।

कृष्णयज्वा की 'मीमांसा परिभाषा' ने अर्थवाद के चार प्रकार बताये हैं, यथा—निन्दा, स्तुति, परकृति (किसी अन्य महान् व्यक्ति द्वारा किया गया हुआ कर्म) तथा पुराकल्प (जो अतीत युगों में घटित हुआ हो[35]। देवल का कथन है कि ऋषियों ने पहली बार की त्रुटि के लिए प्रायश्चित्त की व्यवस्था की है,

भेद एवं अर्थ संग्रह (पृ० २६) में 'इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्' को भूतार्थवाद के दृष्टान्त के रूप में ग्रहण किया है और अर्थसंग्रह ने इसे (प्रमाणान्तरविरोध-तत्प्राप्तिरहितार्थबोधको वादो भूतार्थवादः' के रूप में परिभाषित किया है। जब तै० सं० (१।७।४।४ या २।६।५।३) में 'यजमानः प्रस्तरः' या 'यजमानः यूपः' आया है तो इसका शाब्दिक अर्थ हमारे प्रत्यक्ष के विरोध में पड़ता है, अतः वाक्य का अर्थ लाक्षणिक रूप में लेना होगा (यथा जब कि एक लड़का 'अग्नि' कहा जाता है), अतः यह गुणवाद है, अर्थात् 'यजमानः यूप' का अर्थ है 'वह यूप या स्तम्भ के समान (सीधा) खड़ा होता है और चमकता दीखता है। जब कोई कथन (विधि के रूप में नहीं) न तो अनुवाद होता है और न गुणवाद तो वह विद्यमानवाद या भूतार्थवाद कहलता है। यह शबर द्वारा पू० मी० सू० (१।४।२३) एवं शंकराचार्य (वे० सू० १।३।३३) द्वारा सुन्दर ढंग से व्याख्यायित हुआ है। इन वचनों की व्याख्या इस प्रकार की जानी चाहिए कि प्रत्यक्ष अनुभव एवं अन्य प्रमाणों में विरोध न हो और वह किसी विधि की (जो पहले से व्यक्त हो) स्तुति के रूप में हो। देखिए भामती' 'न च आदित्यो वै यूप इति वाक्यमादित्यस्य यूपत्वप्रतिपादनपरम्, अपि तु यूपस्तुतिपरम्'। जिस गुण पर बल दिया गया है, वह है तेजस्विता (चमक), क्योंकि यूप पर घृत लगाया हुआ रहता है।

३५. स (अर्थवादः) च चतुर्विधः निन्दा-प्रशंसा-परकृति-पुराकल्पभेदात्।... परेणमहता पुरुषेणेदं कर्म कृतमिति प्रतिपादकोर्थवादः परकृतिः—यथा अग्निर्वा प्रकामयत—इत्यादिः। परप्रवक्तृकार्थादिप्रतिपादकः पुराकल्पः"—यथा तमशपद्धिया धिया त्वा वध्यासुः—इत्यादिः। मी० परि० (पृ० २७-२८)। मेधातिथि ने मनु० (२।१५१, जहाँ आङ्गिरस ने अपने पितरों को पढ़ाया और उन्हें 'पुत्रकाः' कहा) की व्याख्या में टिप्पणी दी है—'पूर्वस्य पितृवद्वृत्तिविधेरर्थवादोयं परकृतिनामतः'। वायुपुराण (५९।१३४-१३७) ने विधि, स्तुति, निन्दा, परकृति एवं पुराकल्प की परिभाषाएँ दी हैं। न्यायसूत्र (२।१।६५) में इन्हीं को अर्थवाद के चार तत्त्वों के नाम से उल्लिखित किया गया है। परकृतिपुराकल्पं च मनुष्यधर्मः स्यादर्थाय ह्यनुकीर्तनम्।... अर्थवादो वा विधिशेषत्वात्तस्मान्नित्यानुवादः स्यात्। पू० मी० सू० (६।७।२६ एवं ३०)। उस शुनःशेप की कहानी, जिसे

दूसरी बार के लिए दूने प्रायश्चित्त की, तीसरी बार के लिए तिगुने प्रायश्चित्त की व्यवस्था की है, किन्तु चौथी बार की त्रुटि के लिए कोई व्यवस्था नहीं दी है। भवदेव के प्रायश्चित्त ग्रन्थ में आया है कि इस कथन को ज्यों का त्यों नहीं ग्रहण करना चाहिए, यह केवल निन्दार्थवाद है। स्वयं पू० मी० सू० (६।७।२६ एवं ३०) में कहा गया है कि परकृति एवं पुराकल्प अर्थवाद हैं।

व्यवहारमयूख (पृ० ६०) ने देवल का एक श्लोक उद्धृत किया है–'पिता की मृत्यु के उपरान्त पुत्रों को पैतृक धन बाँट लेना चाहिए, क्योंकि जब तक पिता निर्दोष रूप से जीवित है, उन्हें स्वामित्व नहीं प्राप्त होता।' यहाँ पर श्लोक के पूर्वार्ध ने विभाजन का काल बताया है (यह विधि है)। उसका उत्तरार्ध अर्थवाद मात्र है जो विधि की प्रशंसा है और उसका तात्पर्य यह है कि जब तक पिता जीवित रहता है, पुत्र स्वतन्त्र नहीं रहते। ऐसा नहीं है कि उन्हें पैतृक सम्पत्ति में अधिकार या स्वामित्व नहीं रहता।

स्मृतियों में भी अर्थवाद पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ, मेधातिथि ने मनु (५।५६ : न मांस भक्षणे दोषः) पर टीका करते हुए लिखा है कि ५।२८ से ५।५६ के दो या तीन श्लोकों को छोड़ कर अन्य सभी अर्थवाद हैं। मेधातिथि ने मनुस्मृति में कतिपय अन्य स्थानों पर कुछ विधियों एवं बहुत से अर्थवादों की ओर संकेत किया है। उदाहरणार्थ, मनु० (२।११७) में अभिवादन के विषय में एक विधि है किन्तु २।११८–१२१ के श्लोकों में इसके विषय में अर्थवाद है। मनु० (२।१६५) में तीन उच्च वर्णों के लिए वेदाध्ययन के लिए एक विधि की व्यवस्था है; किन्तु जब मनु० (१०।१) ने पुनः यह कहा है कि तीन वर्णों को वेदाध्ययन करना चाहिए तो यह अनुवाद मात्र है। मेधातिथि ने मनु० (६।१३५) में टिप्पणी की है कि मनु के बहुत से श्लोकों में अर्थवाद हैं।

वसिष्ठधर्मसूत्र एवं विष्णुधर्मोत्तर में ऐसी व्यवस्था दी हुई है कि पंचगव्य एवं कुशोदक (वह जल जिसमें कुश डाला हुआ हो) तथा अहोरात्र के उपवास से श्वपाक भी शुद्ध हो जाता है[३६]। श्वपाक को अस्पृश्यों में अत्यन्त हीन माना जाता था और वह चाण्डाल की वृत्तियाँ करता और उसके लिए उसी प्रकार के नियम थे (मनु० १०।५१-५६) किन्तु वसिष्ठ-विष्णु० के उक्त श्लोक को ज्यों-का-त्यों नहीं मानना चाहिए। क्योंकि चाण्डाल को कोई वस्तु स्पृश्य नहीं बना सकती। अतः ऐसा कथन पञ्चगव्य एवं उपवास के शुद्धि प्रभावों की स्तुति में कहा गया अर्थवाद मात्र ही है।

इसका परिज्ञान हो गया होगा कि प्रत्येक वैदिक वचन विधि के स्वरूप वाला (आज्ञात्मक या उपदेशात्मक) नहीं है। बहुत-से ऐसे वचन हैं जो विधि के प्रशंसासूचक हैं, किसी निषिद्ध कर्म के भर्त्सनासूचक हैं, अतीत में सम्पादित विधि के उदाहरण के रूप में हैं या किसी व्यवस्थित विशिष्ट कर्म के लिए सरलतापूर्वक समझाये जाने वाले तर्क के द्योतक हैं। ये प्रशंसात्मक, भर्त्सनात्मक एवं उदाहरणात्मक वचन अनावश्यक एवं अनुपयोगी नहीं समझे जाने चाहिए, प्रत्युत विधिसूचक वचनों के साथ उनके पूरक के रूप में मान्य होने चाहिए। इस अर्थवाद सम्बन्धी सिद्धान्त के कारण वैदिक वचनों के बहुत से अंश व्यर्थ एवं अमान्य होने से बच गये हैं।

उसके पिता ने हरिश्चन्द्र के पुत्र के हाथ बेच दिया और वरुण को बलि देने के लिए उसे मार डालने को भी तैयार थे, वास्तव में, अर्थवाद के परकृति प्रकार का उदाहरण है, देखिए मनु० (१०।१०५) जहाँ यह गाथा वर्णित है।

३६. गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि, सर्पिः कुशोदकम्। एकरात्रोपवासश्च श्वपाकमपि शोधयेत्। वसिष्ठ० (२७।१) एवं विष्णुधर्मोत्तर० (२।४२।३१-३२)।

१६

गरुडपुराण में ऐसा आया है—'गान्धारी को, जिसने दशमीयुक्त एकादशी के दिन उपवास किया था, अपने सौ पुत्रों से हाथ धोना पड़ा; अतः दशमीयुक्त एकादशी का परित्याग करना चाहिए।' यहाँ पर पूर्वार्ध मात्र निन्दानुवाद है (अर्थात् 'तं परिवर्जयेत्' के भावात्मक नियम का सीधा समर्थन करता है), क्योंकि ऐसी मान्यता है कि 'वचन में निन्दा भर्त्सना मात्र के लिए नहीं है, प्रत्युत जो भर्त्सना योग्य है उसके विरोध की व्यवस्था के लिए है। इस व्याख्या के लिए देखिए कृत्यरत्नाकर (पृ० ६३५)। मी० बा० प्र० (पृ० ५०-५८) ने अर्थवादों के ३८ प्रकारों पर प्रकाश डाला है। स्थानाभाव से उन पर विचार नहीं किया जायेगा।

वेद का अधिकांश अर्थवादों से परिपूर्ण है, विशेषतः ब्राह्मण-ग्रन्थ। अर्थवाद के विषय में तन्त्रवार्तिक ने एक सामान्य उल्लेख किया है कि वे अर्थवाद वचन जो विधि वचनों के उपरान्त आते हैं, निर्बल ठहरते हैं, किन्तु जो विधियों के पूर्व आते हैं वे बलवान् होते हैं[३७]।

वैदिक वचनों की तृतीय श्रेणी में वर्ग या कोटि में मन्त्रों की परिगणना होती है। हमने इनके विषय में पहले ही पढ़ लिया है। कुछ मन्त्रों में आदेश भी हैं, यथा ऋ० (१०।११७।५ : 'पृणीयादिन्नाधमानायतव्यान् अर्थात् बलिष्ठ लोगों को चाहिए कि जो भिक्षा माँगता है, वे उसको अवश्य धन दें) एवं वाज० सं० (२४।२०, 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते')। किन्तु सामान्यतः मन्त्र केवल व्यक्तकारक या प्रतिपादनकारक होते हैं और ऐसी बातों की ओर ध्यान ले जाते हैं जो विधि-वाक्यों से व्यवस्थित कर्मों के साथ सम्बन्धित होती हैं। तन्त्रवार्तिक[३८] ने टिप्पणी की है कि यह निश्चित रूप से समझा जा चुका है कि वे धार्मिक कृत्य, जो ऐसे मन्त्रों के साथ किये जाते हैं, जो ऐसी बातों का ध्यान दिलाते हैं, समृद्धि की ओर ले जाते हैं (या स्वर्ग की प्राप्ति कराते हैं) पाठकगण को यह विदित हो जायेगा कि किसप्रकार पूर्वमीमांसा के सिद्धान्त ने मन्त्रों को गौण रूप दे रखा है और यज्ञ सम्बन्धी बातों में उनसे निष्क्रिय सहयोग लिया है, ऋग्वेद में उत्कृष्ट स्तुतियाँ (प्रार्थनाएँ) पायी जाती हैं, किन्तु मीमांसा-सिद्धान्त में सबसे उत्तम स्थान ब्राह्मण मूल-वचनों को प्राप्त है और इन्हीं ब्राह्मण-वचनों में अधिकांश विधियाँ संगृहीत हैं। यह हमने बहुत पहले देख लिया है कि ऋग्वेदीय मन्त्र ईश्वर-भक्ति से परिपूर्ण हैं और उनमें पाप-स्वीकृति एवं पश्चात्ताप के उपरान्त ईश्वर को सम्बोधित प्रार्थनाएँ पायी जाती हैं (देखिए ऋ० ७।८६।४-६)। ऋ० सूक्त (३।३९) में निःश्रेयस की भावना का बाहुल्य है और इस सूक्त के दूसरे मन्त्र में आया है—'यह प्रार्थना (धीः) प्राचीनकाल में स्वर्ग में उत्पन्न हुई, उत्कटता के साथ पवित्र गोष्ठी में गायी गयी, शुद्ध एवं मंगलमय वस्त्र से आवेष्टित हुई है, यह हमारी है, प्राचीन है और पूर्व-पुरुषों से वंशानुगत रूप में प्राप्त हुई है।

वैदिक वचनों का चौथा वर्ग (श्रेणी या कोटि), जो धर्म से सम्बन्धित है, 'नामधेय' (यज्ञों के व्यक्तिवाचक नाम) कहलाता है। उदाहरणार्थ इस प्रकार के वचन हैं, 'उद्भिद् के साथ यज्ञ करना चाहिए' (ताण्ड्य ब्राह्मण १९।७।२-३), 'पशु के इच्छुक को चित्रा के साथ यज्ञ करना चाहिए' (तै० सं० २।४।६)। अब प्रश्न यह है कि क्या इन वचनों में जो कुछ व्यवस्थित हुआ है वह किसी कृत्य में आहुति दिया जाने वाला पदार्थ या द्रव्य है (यथा—

३७. ये हि विध्युद्देशात्परस्तादर्थवादा श्रूयन्ते तेषामस्ति दौर्बल्यम्। ये पुरस्ताच्छ्रूयन्ते ते मुख्यत्वाद् बलीयांसो भवन्ति। तन्त्रवार्तिक (३।३।२)।

३८. शबर ने पू० मी० सू० (१।२।३२) पर टीका करते हुए लिखा है: 'अर्थप्रत्यायनार्थमेव यज्ञे मन्त्रोच्चारणम्। यज्ञाङ्ग प्रकाशनमेव प्रयोजनम्। मन्त्रैरेव स्मृत्वा कृतं कर्माभ्युदयकारि भवतीत्यवधार्यते। तन्त्रवा० (२।१।३१, पृ० ४३३)।

दध्ना जुहोति) या वह यज्ञ का नाम है। कोई भी पदार्थ 'उद्भिद्' के सदृश प्रसिद्ध नहीं है (यथा दधि एक विख्यात पदार्थ है)। चित्रा स्त्रीलिंग का बोधक वह पशु है जो चितकबरा होता है। यदि यह गुण विधि है 'चित्र या यजेत्' तो यहाँ वाक्यभेद नामक दोष होगा (दो विधियों को बताने लिए एक वाक्य को तोड़ना) अर्थात् आदेश यह होगा कि एक मादा-पशु की (न कि नर-पशु की) बलि होगी और दूसरी व्यवस्था यह होगी कि उसका रंग चितकबरा होगा। अतः उद्भिद, चित्रा, बलभिद्, अभिजित्, विश्वजित् (कौषीतकिब्रा०२५।१४) एवं अग्निहोत्र (पू० मी० सू० १।४।४), वाजपेय (पू० मी० सू० १।४।६-८), वैश्वदेव (पू० मी० सू० १।४।१३-१६) कृत्यों के नाम हैं न कि पदार्थ हैं। इसी प्रकार 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' (शत्रु की मृत्यु के लिए कोई व्यक्ति अभिचार करता हुआ 'श्येन' नामक याग कर सकता है) में वही बात है। यहाँ पर 'श्येन' एक याग का नाम है, क्योंकि याग शत्रु पर उसी प्रकार टूट पड़ता है और उसे घर दबोचता है जिस प्रकार श्येन (बाज) पक्षी अपने आखेट (मृगया) पर टूटता है और उसे पकड़ लेता है। (षड्विंश ब्रा० ३।८।१।३)। बात यह है कि इन नामों का उपयोग, जो कुछ व्यवस्थित किया गया है उसके अर्थ के विशिष्टीकरण के लिए किया गया है। 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' नामक वैदिक वचन उस वेदाध्ययन की व्यवस्था देता है जिसमें यज्ञों के नामधेयों के साथ सभी अंग पाये जाते हैं और हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि इस प्रकार की वैदिक विधियों में, यथा 'चित्रया यजेत पशुकामः' में चित्रा यह नाम विधि का एक भाग या अंग है। अतः नामधेय पुरुषार्थ भी है और वेद के अन्य भागों के समान ही प्रामाणिक है (देखिए, जैमिनि १।४।१ पर शास्त्रदीपिका)। ऊपर वर्णित वाक्य में 'याग' की व्यवस्था उद्देश्य के रूप में फल के साथ की गयी है, क्योंकि यह दूसरे रूप से व्यवस्थित नहीं है। यज्ञ के लिए एक सामान्य आज्ञा या आदेश की व्यवस्था नहीं की गयी है, अतः यज्ञ के एक विशिष्ट प्रकार की व्यवस्था कर दी गयी है। यदि कोई 'उद्भिद्' शब्द से किसी व्यवस्थित विशिष्ट प्रकार को जानना चाहता है, तो यह ज्ञात है कि यह उद्भिद् नायक यज्ञ है। धर्मशास्त्र लेखक 'उद्भिद् न्याय' नामक उक्ति का प्रयोग 'उपनयन' के लिए भी करते हैं, जिसका अर्थ है '(लड़के को) आचार्य (वेद के अध्यापक) के पास ले जाना'। संस्कारप्रकाश ने ऐसा ही कहा है[३९]।

नञर्थ-विचार

वैदिक वचनों का पाँचवाँ भाग या वर्ग (या कोटि या श्रेणी) 'प्रतिषेध' (निषेध) है। प्रतिषेधों[४०] से मनुष्य के उन उद्देश्यों की पूर्ति होती है जिनसे वह अवाञ्छित फल उत्पन्न करने वाले कर्मों से बचता है अथवा अपनी रक्षा

३९. तत्रोपनयनशब्दः कर्मनामधेयम्। तच्च यौगिकमुद्भिद्न्यायात्। योगश्च भावव्युत्पत्त्या करणव्युत्पत्त्या वेत्याह भारुचिः। स यथा। उप समीपे आचार्यादीनां बटोर्नयनं प्रापणमुपनयनम्। समीपे प्राचार्यादीना नीयते बटुर्येन तदुपनयनमिति वा। संस्कारप्रकाश (पृ० ३३४)।

४०. अनर्थहेतुकर्मणः सकाशात्पुरुषस्य निवृत्तिकरत्वेन निषेधानां पुरुषार्थानुबन्धित्वम्। तथा हि। यथा विधयः प्रवर्तनामभिदधतः स्वप्रवर्तकत्वनिर्वाहार्थं विधेयस्य यागादेः श्रेयःसाधनत्वमाक्षिपन्तः पुरुषं तत्र प्रवर्तयन्ति, एवं न कलञ्जं भक्षयेदित्यादयो निषेधा अपि निवर्तनामभिदधतः स्वनिवर्तकत्वनिर्वाहार्थं निषेधस्य कलञ्जभक्षणादेरनर्थहेतुत्वमाक्षिपन्तः पुरुषं ततो निवर्तयन्ति। मी० न्या० प्र० (पृ० २४८-२४९)। कुछ लोग प्रवर्तनाम् के स्थान पर 'प्रेरणा' पढ़ते हैं। दोनों का अर्थ एक ही है। आप० ध० सू० (१।५।१७।२६) ने कलञ्ज, पलाण्डु एवं परारीक का भक्षण निषेध किया है। हरदत्त ने 'कलञ्ज' को रक्तलशुनम्' कहा है। किन्तु कल्पतरु (नियत काल, पृ० २८०) ने इसे लशुनविशेष माना है।

करता है। जिस प्रकार विधियाँ, जो हमें प्रेरित करती हैं या कुछ करने के लिए उद्वेजित करती हैं, अपने प्रेरणात्मक गुण को प्रकट करने के हेतु ऐसा निर्देश करती हैं कि वह विषय, जो व्यवस्थित होता है, यथा कोई यज्ञ, किसी वांछित फल की प्राप्ति का साधन है और इसलिए वे व्यक्ति को उसके सम्पादन के लिए प्रेरित करती हैं। उसी प्रकार ऐसे प्रतिषेध, यथा—'कलञ्ज नहीं खाना चाहिए' या 'झूठ नहीं बोलना चाहिए' (तै० सं० २।५।६), उस प्रतिकारक की ओर संकेत करते हैं और अपने निषेधात्मक गुण के प्रभाव को प्रकट करने के लिए निर्देश करते हैं कि निषेध की जाने वाली बात से, यथा—'कलञ्ज खाना' या 'झूठ बोलना' अवांछित फल की प्राप्ति होगी अतः मनुष्य को उससे दूर रहना चाहिए।

'न' किसी क्रिया, संज्ञा या विशेषण के पूर्व लग सकता है और कुछ उदाहरणों में 'न' 'अ' हो जाता है (यथा 'अब्राह्मण', अधर्म) या 'अन' हो जाता है जब वह किसी स्वरादि शब्द के पूर्व लगता है। (यथा-'अनर्थ', 'अनुष्ण')। पाणिनि ने 'न' पर कई सूत्र लिखे हैं और स्पष्ट रूप से 'प्रतिषेध' को 'न' के अर्थों में सम्मिलित किया है (देखिए पाणिनि २।२।६, ६।२।१५५ आदि)। 'न' छह प्रकार के अर्थों में प्रयुक्त होता है[४१]।

'न' का प्रथम अर्थ है 'अभाव'। किन्तु यह अर्थ सभी विषयों के अनुकूल नहीं पड़ेगा। जब कोई कहता है—'अब्राह्मण को लाओ' तो इसका अर्थ 'अभाव' नहीं है, क्योंकि यदि वही अर्थ होता तो कोई अभाव वाला ब्राह्मण नहीं ला सकता और किसी को भी नहीं ला सकता या मिट्टी का ढेला ला देगा, जो इन शब्दों को कहने वाले का आशय नहीं सिद्ध कर सकता। अतः ऐसा सुनने पर एक व्यक्ति जो ब्राह्मण नहीं है, किन्तु ब्राह्मण के समान है (यथा क्षत्रिय) लाया जायेगा। अतः इस उदाहरण में 'अब्राह्मण' का अर्थ (सादृश्य) वह व्यक्ति है जो ब्राह्मण के अतिरिक्त कोई अन्य है। 'न' जिसके साथ लगा रहता है उसका विरोधी अर्थ भी देता है। यह ऊपर कहा जा चुका है कि वाक्य में क्रिया मुख्य भाग है और क्रिया रूप में अन्त में जो शब्द लगा होता है, वही प्रमुख भाग होता है। अतः 'कलञ्ज नहीं खाना चाहिए' (कलञ्ज न भक्षयेत्) में 'न' भक्षयेत् के साथ सम्बन्धित समझा जाना चाहिए। विधि में (या विधि को सुनने पर) इसका प्रत्यक्ष होता है कि वाक्य मानो सुनने वाले को सक्रिय होने के लिए प्रेरित करता है। जब 'न' इच्छार्थक रूप में लगा रहता है तो यह प्रेरणा का उलटा तात्पर्य देता है (अर्थात् निर्वतन=किसी वस्तु से दूर रहना)। एक विधि में से जिस फल को कोई समझता है तो वह स्वर्ग है ('यजेत स्वर्गकामः'), किन्तु निषेध में फल अनर्थ—निवृत्ति पाया जाता है। एक विधि में वही अधिकार्य है जो स्वर्ग की कामना करता है, निषेध में वही अधिकारी है जो अनर्थ से डरता है और अवांछित से दूर हटता है। अतः इन विवेचनों से प्रकट है कि आज्ञा एवं निषेध अर्थ एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं।

किन्तु जब क्रिया के साथ 'न' बैठाने में कोई कठिनाई होती है तो वह धातु के अर्थ के साथ बैठा दिया जाता है। इस प्रकार कठिनाइयाँ दो प्रकार की होती हैं। प्रथम कठिनाई या बाधा तब होती है जब सम्पूर्ण वाक्य 'उसके

४१. तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता। अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः॥ मी० न्या० प्र० भाट्टालंकार नामक टीका (पृ० ४३०) में उद्धृत। अब्राह्मण का अर्थ है ब्राह्मणादन्य (अर्थात् नञ् का यहाँ अर्थ है तदन्यत्व) एवं अधर्म का अर्थ है धर्मविरोधि, जैसा कि श्लोकवार्तिक (अपोहवाद, श्लोक २३) में आया है : 'नामधात्वर्थयोगी च नैवनञ् प्रतिषेधकः। वदतोऽब्राह्मणाधर्मावन्यमात्रविरोधिनौ।' पाणिनि (३।१।१२) के वार्तिक ४ पर महाभाष्य में आया है : 'नञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थगतिः' और व्याख्या है : अब्राह्मणमानयेत्युक्तो (क्ते?) ब्राह्मणसदृश अनीयते नासौ लोष्टमानीय कृती भवति'।

व्रत हैं' से आरम्भ किया जाता है, या जहाँ निषेध का अर्थ लगा रहता है तो कोई विकल्प उठ खड़ा होता है। वाक्यों में इन दो बाधकों के विषय में, जहाँ 'न' आता है, हम 'पर्युदास' (अपवाद या व्यावृति या निषेध) की सहायता लेते हैं[४२]। प्रजापतिव्रतों (जो पुरुषार्थ हैं, जैसा कि पू० मी० सू० ४।१।३ ने निश्चित किया है) के विषय में वाक्य का आरम्भ 'उसके व्रत हैं' से होता है और पुनः वाक्य आता है, 'उसे सूर्योदय या सूर्यास्त नहीं देखना चाहिए' (कौषीतकि ब्रा० ६।६)[४३]। व्रत का अर्थ है कोई मानसिक कर्म, किसी विशिष्ट कर्म को न करने का संकल्प, जिसका अर्थ है 'उसे इस प्रकार कर्म करने के लिए संकल्प लेना चाहिए जिससे वह सूर्योदय या सूर्यास्त न देख सके और उस पर आरूढ रहे'। वास्तव में यह नियम (नियन्त्रण) है। इस वाक्य का यह अर्थ नहीं है कि उसे सूर्य की ओर कभी नहीं देखना चाहिए (सूर्य को देखने पर कोई निषेध नहीं है) प्रत्युत यह केवल सूर्योदय एवं सूर्यास्त को देखने को मना करता है. अतः यह केवल अपवाद या निषेध है और वह व्यक्ति जो इस नियम (नियन्त्रण) को मानता है, फल पाता है, किन्तु कलञ्ज के भक्षण के विषय में पूर्णरूपेण निषेध है।

४२. अतो लिङ्त्वांशेन नञा सम्बध्यते। तस्य सर्वापेक्षया प्राधान्यात्। नञश्चैव स्वभावो यत्स्वसम्बन्धि-प्रतिपक्षबोधकत्वम्।...तदिह लिङर्थस्ताव अवर्तना। अतस्तेन सम्बध्यमानो नञा प्रवर्तनाप्रतिपक्षं निवर्तनां गमयति। अतश्च सर्वत्र निषेधेषु निवर्तनैव वाक्यार्थः। एवं च विधिनिषेधयोर्भिन्नार्थत्वं सिद्धं भवति। यथाहुः। अन्तरं यादृशं लोके ब्रह्महत्याश्वमेधयोः। दृश्यते तादृगं वेदं विधान प्रतिषेधयोः॥ इति। तथा...सर्वथापि तु नञः प्राधान्यात्प्रत्ययेनान्वयः। यदा तु तदन्वये किञ्चिद्बाधकं तदागत्या धात्वर्थेनान्वयः। तच्च बाधकं द्विविधम्। तस्य व्रतमित्युपक्रमो विकल्प प्रसक्तिश्च। तेन च बाधकद्वयेन नञ्युक्तेषु वाक्येषु पर्युदासाश्रयणं भवति। तदभावे निषेध एव। पर्युदासः सःविज्ञेयोः यत्रोत्तरपतेन नञा। प्रतिषेधः सः विज्ञेयः क्रियया: सह यत्र नञः॥ इतिच तयोर्लक्षणम्। तत्र-नेक्षतोद्यतमादित्यम्--इत्यादौ पर्युदासाश्रयणम्, तस्य व्रतमित्युपक्रमात्। तथाहि व्रतशब्देन कर्तव्योर्थ उच्यते। मी० न्या० प्र० (पृ० २५०-२५३)। तन्त्रवार्तिक पर न्यायसुधा (या राणक) ने पृ० २०१ पर 'अन्तरं...षेधयोः' को उद्धत किया है और उसे कुमारिल की बृहट्टीका का माना है और फल आदि पाँच बातों की, जिनमें विधि एवं निषेध एक-दूसरे से विभिन्न हैं, व्याख्या की है। उत्तरपद एक मीमांसा-सम्बन्धी पारिभाषिक शब्द है और वह क्रिया रूप में आने वाली अन्तिम निवृत्ति है तथा पूर्वपद में पद तो रहता है किन्तु अन्तिम निवृत्ति या समाप्ति नहीं होती। विधिः प्रवर्तमानो हि श्रेयःसिद्धयं प्रवर्तते। प्रतिषेधः पुनः पापान्निवर्तयति भेदतः। तन्त्रवा० (पू० मी० सू० ३।४।१३, पृ० ६११)।

४३. युक्तं यत्प्रजापति व्रतेषु शास्त्राणामर्थवत्त्वेन पुरुषार्थो विधीयते। तत्र नियमः कर्त्तव्यतयोपदिश्यते।... तस्य व्रतमिति प्रकृत्य प्रजापतिव्रतानि समाम्नातानि। व्रतमिति च मानसं कर्मोच्यते। इदं न करिष्यामीति यः संकल्पः। कतमत्तद्व्रतम्। नोद्यन्तमादित्यमीक्षेतेति। यथा तदीक्षणं न भवति तथा मानसो व्यापारः कर्तव्यः। तस्य च पालनम्। तत्र तस्मात्पुरुषार्थोऽस्तीत्यवगन्तव्यम्। ...न हि कलञ्जं। भक्षयन् प्रतिषेध विधिं नाति-क्रामति। इह पुनरादित्यं पश्यन्नातिक्रामति विधिम्। न हि तस्य दर्शनं प्रतिषिद्धम्। नियमस्तत्रोपदिष्टः। यस्तं नियमं करोति स फलेनः सम्बध्यते। इह तु प्रतिषिध्यते कलञ्जाति। शबर (पू० मी० सू० ६।२।२०)। कौषीतकि ब्रा० (६।६) या शा० ब्रा० में हम ऐसा पाते हैं: 'तस्य व्रत मुद्यन्तमेवंन, नेक्षेतास्तं यन्तं चेति। मनु०(४।३७) में भी ऐसी ही व्यवस्था है 'नेक्षतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यान्तं कदाचन'। देखिए अनुशासनपर्व (१०४।१८), वसिष्ठ (१२।१०, जहाँ स्नातक व्रतों का उल्लेख भी है), विष्णुधर्मसूत्र (७१।१७-१८)।

'पर्युदास' (अपवाद) वही है जहाँ दूसरे शब्द के साथ (अर्थात् किसी क्रिया की धातु के साथ या किसी भिन्न शब्द, यथा—संज्ञा के साथ) अभावात्मक रूप आता है। 'निषेध' वहाँ होता है जहाँ पर क्रिया के साथ अभावात्मक रूप पाया जाता है।

धर्मशास्त्र-ग्रन्थों में 'न' की बहुधा ऐसी व्याख्या की गयी है कि यह पर्युदास (अपवाद या मना करने की एक व्यवस्था) है। याज्ञ० (१।१२९-१६६) में स्नातक के कर्तव्यों वाले परिच्छेद में 'न' का बहुधा उल्लेख हुआ है। मिताक्षरा ने याज्ञ० (१।१२९) की व्याख्या में लिखा है कि जहाँ कहीं 'न' आया है वह पर्युदास का द्योतक है (सर्वत्रापि अस्मिन् स्नातकप्रकरणे नञ्- शब्दः प्रत्येकं पर्युदासार्थ इव)। हम एक उदाहरण लें, याज्ञ० (१।३२) में आया है कि जो बात दुखदायक हो उसे अनावश्यक या अकारण किसी (पुरुष या नारी) से नहीं कहना चाहिए। इससे यह नहीं प्रकट होता कि जो बात दुःखदायक हो उसे नहीं कहना चाहिए, केवल उस स्थिति में उसे नहीं कहना चाहिए जब कि उसके लिए कोई कारण या अवसर न हो। त्रुटि करने वाले अपने पुत्र या मित्र या सम्बन्धी से दुखदायक बात कही जा सकती है। 'पुत्रवान् व्यक्ति को कुछ तिथियों पर उपवास नहीं करना चाहिए' इस प्रकार की बात की व्याख्या में अपरार्क (पृ० २०६-२०७) ने दो प्रसिद्ध श्लोक उद्धृत किये हैं जिनसे 'पर्युदास' एवं 'प्रतिषेध' का अन्तर स्पष्ट होता है। उन श्लोकों के पूर्वा इस प्रकार हैं—'प्रधानत्वं विधौ यत्र प्रतिषेधेऽप्रधानता (पर्युदासः...नञ्)।। अप्राधान्यं विधौ यत्र प्रतिषेधे प्रधानता। प्रसज्यप्रति....नञ्'।।

जब 'न' का प्रयोग किसी वाक्य में होता है तो वह या तो प्रतिषेध होता है या पर्युदास या अर्थवाद होता है। इन तीनों का अन्तर स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए। दर्शपूर्णमास में दो आज्यभाग अंग हैं (पू० मी० सू० ४।४।३०) तथा कहा गया है कि दो आज्यभाग दर्शपूर्णमास यज्ञ की आँखें हैं[४४]। इस सम्बन्ध में वेद का कथन है कि किसी पशुयज्ञ में या सोमयज्ञ में इन दोनों का सम्पादन नहीं होता।' प्रश्न यह है—'क्या यह प्रतिषेध है या पर्युदास है या अर्थवाद है?' प्रतिषेध तभी होता है जब जो आगे होने वाला होता है उसके प्रतिषेध की सम्भावना होती है। दर्शपूर्णमास में आज्यभागों की व्यवस्था रहती है अतः सोमयज्ञ में इन दोनों की आवश्यकता की सम्भावना नहीं है और कोई वास्तविक प्रतिषेध भी नहीं है; और न पर्युदास ही है, क्योंकि यदि यह पर्युदास होता तो कोई उचित सम्बन्ध न होगा, क्योंकि पर्युदास में यह कहना पड़ेगा : 'दर्शपूर्णमास में आज्यभाग होते हैं, सोमयज्ञ में नहीं', जो कि अनर्गल है। अतः 'न तौ पशौ करोति न सोमे' नामक शब्दों में अर्थवाद है। शुद्ध प्रतिषेध तभी होता है जबकि पहले व्यवस्था हो और बाद को वर्जन हो। इस विषय में एक प्रसिद्ध उदाहरण षोडशी (षोडशिन्) पात्र का है[४५]। समान रूप से प्रामाणिक दो वैदिक वाक्य हैं—"वह अतिरात्र में 'षोडशी' पात्र ग्रहण

४४. चक्षुषी वा एते यज्ञस्य यदाज्यभागौ यजति चक्षुषी एव तद्यज्ञस्य प्रतिदधाति। तै० सं० (२।६।२।१)।

४५. शिष्ट्वा तु प्रतिषेधः स्यात्। पू० मी० सू० (१०।८।६)। शबर ने व्याख्या की है: 'यथा नातिरात्रे गृह्णाति षोडशिनमिति। न तत्र शक्यं वक्तुं पर्युदास इति। सम्बन्ध एव हि न स्यात्। अतिरात्रवर्जितातिरात्रे गृह्णाति षोडशिनमिति। नापिकस्य चिदर्थवादत्वेन सम्भवति।... यत्र पुनरन्या वचनव्यक्तिरस्ति वाक्यस्य तत्र न विकल्पो भवति। एवमेषोऽष्टदोषोऽपि यद्व्रीहियववाक्ययोः। विकल्प आश्रितस्तत्र गतिरन्या न विद्यते। व्रीहिशास्त्रप्रवृत्तौ हि यवशास्त्रेण कुध्यते। श्रोता तत्र प्रवृत्तोपि व्रीहिशास्त्रेण कुध्यते। तन्त्रवार्तिक (१।३।३ पर, पृ० १७५))। और देखिए प्राप्तिपूर्वो हि प्रतिषेधो भवति। शबर (पू० मी० सू० ७-३।२० एवं ७।३।२३ पर)।

करता है" एवं "वह अतिरात्र में 'षोडशी' पात्र नहीं ग्रहण करता है"। इस परस्पर विरोधी बात में विकल्प की अनुमति है। इसी प्रकार एक वैदिक वाक्य है—'व्रीहिभियजेत यवैर्वा' (वह धानों से या जौ से यज्ञ करे)। अतः, उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में जहाँ दो उक्तियाँ परस्पर विरुद्ध हैं, वहाँ विकल्प के सहारे के अतिरिक्त कोई अन्य गति नहीं है। किन्तु विकल्प में आठ दोष पाये जाते हैं। इसी कारण विकल्प का परिहार (त्याग) करना चाहिए, और यथासम्भव पर्युदास या अर्थवाद को ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि विकल्प का आश्रय लेने से किसी एक उक्ति को अप्रामाणिक मानना होगा। शबर एवं तन्त्रवार्तिक ने ऐसी व्यवस्था दी है कि वहीं विकल्प का आश्रय लेना चाहिए जहाँ कोई अन्य मार्ग न हो। पू० मी० सू० ने व्यवस्था दी है कि वहीं विकल्प ग्रहण करना चाहिए जहाँ एक ही विषय में एक ही अर्थ वाले अनेक प्रामाणिक वचन कहे गये हों।

एक अन्य शब्द है **नित्यानुवाद** जिसकी व्याख्या हो जानी चाहिए[४६]। यह शब्द, आप० ध० सू० (२।६।१४।१३) में आया है। यह जैमिनि (२।४।२६, ४।१।५, ६।७।३०, ७।४।५, ८।१।६, ९।४।३६, १०।२।३८ में) बहुधा आया है और शबर ने उससे भी अधिक बार इसका प्रयोग किया है। शबर ने व्याख्या की है कि जब वैदिक वचन स्पष्ट रूप से किसी ऐसी बात का प्रतिषेध करते हैं जिसके घटने की कोई सम्भावना नहीं होती तो ऐसी स्थिति में नित्यानुवाद होता है (यथा—अग्निचयन खाली भूमि या आकाश या स्वर्ग में नहीं होना चाहिए)। इसी बात को टुप्टीका ने दूसरे ढंग से कहा है—'जब प्रतिषेध अर्थवाद हो जाता है तो वह नित्यानुवाद कहलाता है।

विकल्पों को तीन कोटियों में बाँटा गया है, यथा—(१) ऐसे विकल्प जिनके पीछे तर्क उपस्थित किया जाय, (२) जो व्यक्त (स्पष्ट) शब्दों के कारण प्रकट हों तथा (३) जो कर्ता की इच्छा पर आश्रित हों। प्रथम का उदाहरण 'यवैर्व्रीहिभिर्वा यजेत' (चावल के अन्नों या जौ के अन्नों से यज्ञ करना चाहिए) में पाया जाता है। दूसरे प्रकार के विकल्पों के लिए देखिए मनु (३।२६७) जहाँ यह आया है कि जब तिल या चावल या यव या माष की दाल या जल या फल एवं मूल से तर्पण किया जाता है तो पितर लोग सन्तुष्ट होते हैं।

व्यक्ति की इच्छा पर आश्रित विकल्प का उदाहरण जाबालोपनिषद्[४७] में पाया जाता है—'ब्रह्मचर्य समाप्त कर गृहस्थ होना चाहिए, गृहस्थ होने के उपरान्त (वानप्रस्थ आश्रम में जाना) चाहिए और वनी होने के उपरान्त संन्यासी (या परिव्राट्) होना चाहिए; या दूसरी विधि के अनुसार ब्रह्मचर्य की समाप्ति, या गृहस्थ होने, या वनी होने के उपरान्त कोई संन्यासी हो सकता है'। इस कथन का अन्तिम भाग आश्रमों के विषय में विकल्प उपस्थित करता है। गौतम (३।१) में आया है—'कुछ ऋषियों ने उसके (ब्रह्मचारी के) लिए आश्रमों के विषय में विल्कप रख दिया है। जब याज्ञ० (१।१४) ने व्यवस्था दी है कि ब्राह्मण लड़के का उपनयन गर्भाधान या जन्म के उपरान्त आठवें वर्ष में हो सकता है, तो यहाँ पिता की इच्छा पर विकल्प निर्भर होता है।

४६. असति प्रसङ्गे प्रतिषेधो नित्यानुवादः। शबर (१।२।१८ पर); मयार्थवादत्वेन प्रतिषेधस्तत्र नित्यानुवादो भवति। टुप्टीका (७।३।२१); ९।४।३६ (परो नित्यानुवादः स्यात्) पर शबर ने व्याख्या दी है: 'नित्यमेतमर्थं सन्तमनुवदति'।

४७. ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेत्। गृही भूत्वा वनी भवेत्। वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा वनाद्वा। जाबालोप० ४। इसे शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र (३।४।२०) के भाष्य में निम्न-लिखित टिप्पणी के साथ उद्धृत किया है: 'अनपेक्ष्यैव जाबाल श्रुतिमाश्रमान्तर विधायिनीमयमाचार्येण विचारः प्रवर्तितः'।

मनु (४।७) ने व्यवस्था दी है कि द्विज को उतना अन्न एकत्र करना चाहिए कि एक कुंडाल (कोठिला) भर जाय (अर्थात् जो एक वर्ष तक चले), या एक कुम्भी (६ मासों के लिए) या उतना इकट्ठा करना चाहिए कि तीन दिनों तक चले, या कल की भी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। ये चार विकल्प हैं और तब मनु (४।८) ने व्यवस्था दी है कि गृहस्थ द्विज को इन चारों में एक विकल्प ग्रहण करना चाहिए, किन्तु प्रत्येक आगे वाला अपने पीछे वाले से फल तथा परलोक सम्बन्धी पुण्य के विषय में उत्तम है।

विकल्प या तो **व्यवस्थित** (किसी एक प्रकार की अवस्थाओं तक सीमित या नियन्त्रित रहने वाला) हो या **अव्यवस्थित** (अनियन्त्रित)। आप० ध० सू० (२।२।३।१६) में आया है[८] 'व्यक्ति को औपासन अग्नि या रसोई की अग्नि में प्रथम ६ मन्त्रों के साथ अपने हाथ से बलि देनी चाहिए'। हरदत्त ने टीका की है कि 'यह एक व्यवस्थित (सीमित) विकल्प है', अर्थात् जिन्होंने औपासन अग्नि (गृहाग्नि) रख छोड़ी हो उन्हें प्रतिदिन बलि देनी चाहिए किन्तु साधारण रसोई की अग्नि में केवल वे ही लोग बलि छोड़ें जिनकी पत्नी मर गयी हो। मनु० (३।८२) में आया है कि व्यक्ति को प्रतिदिन अन्न, जल, दुग्ध आदि से श्राद्ध करना चाहिए। यहाँ पर व्यवस्थित विकल्प है। क्योंकि सर्वप्रथम अन्न की व्यवस्था है और तब उसके अभाव में दूध, फलों एवं मूलों की और पुनः इनके अभाव में जल की व्यवस्था है। जब मनु (४।९५) ऐसा कहते हैं कि 'श्रावण की पूर्णिमा को या भाद्रपद की पूर्णिमा को उपाकर्म कृत्य करके ब्राह्मण को साढ़े चार मासों तक परिश्रमपूर्वक वेद का अध्ययन करना चाहिए' तो मेधातिथि ने इसे व्यवस्थित विकल्प माना है, अर्थात् सामवेदियों को भाद्रपद की पूर्णिमा को तथा ऋग्वेदियों एवं यजुर्वेदियों को श्रावण की पूर्णिमा को उपाकर्म करना चाहिए। देखिए मिताक्षरा (याज्ञ० १।२५४) जहाँ माता के सपिण्डन के विषय में चर्चा है और परस्पर विरोधी उक्तियों को क्रम से रखा गया है। जब गौतम (३।२१) ने कहा है कि संन्यासी को अपना सिर पूर्णरूपेण मुंडा लेना चाहिए या केवल शिखा रख लेनी चाहिए, तो यहाँ पर व्यक्ति की इच्छा पर आधारित विकल्प है। गौतम (२।५१-५३), आप० ध० सू० (१।२।११), मनु (३।१) ने वेदाध्ययन के ब्रह्मचर्य की ४८, ३६, २४,१२, ३ वर्षों की अवधि दी है। यहाँ विद्यार्थी की इच्छा एवं समर्थता पर विकल्प निर्भर है। यह द्रष्टव्य है कि व्यवस्थित विकल्प में आठ प्रकार के दोष नहीं पाये जाते और न वे वहाँ पाये जाते हैं जहाँ विकल्प किसी व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर होता है या जहाँ विकल्प स्पष्ट वचनों द्वारा व्यक्त किया जाता है। आठ प्रकार के दोष केवल तर्क द्वारा उपस्थित विकल्प में ही पाये जाते हैं।

मीमांसा बालप्रकाश (पृ० १५३-१६५) ने विकल्पों के विभाजनों एवं उपविभाजनों की एक लम्बी सूची दी है।

पतंजलि के मतानुसार शास्त्र का मन्तव्य ही है निश्चित व्यवस्था उपस्थित करना[४८] और इसीलिए सभी शास्त्रीय ग्रन्थ विकल्पों को न्यूनातिन्यून संख्या तक लाने का प्रयास करते हैं और स्पष्ट परस्पर विरोधी उक्तियों के लिए पृथक् एवं निश्चित विषय व्यवस्था करते हैं। कभी-कभी विकल्प इतने अधिक हो जाते हैं कि टीकाकार लोग उनके लिए पृथक् क्षेत्र-व्यवस्था देना छोड़ देते हैं, यथा—मिताक्षरा (याज्ञ० ३।२२) ने क्षत्रियों,

४८. न ह्यव्यवस्थाकारिणा शास्त्रेण भवितव्यम्। शास्त्रतो हि नाम व्यवस्था। महाभाष्य, वार्तिक ४ (तथा चानवस्था) पाणिनि (६।१।१३५) पर ; एवमनेकोच्चावचाशौचकल्पा दर्शिताः। तेषां लोके समाचाराभावान्नातीव व्यवस्था प्रदर्शनमुपयोगीति नात्र व्यवस्था प्रदर्श्यते। मिता० (याज्ञ० ३।२२)।

वैश्यों एवं शूद्रों के लिए पराशर, शातातप, वसिष्ठ एवं अत्रि से जन्म एवं मरण के आशौच के विषय में परस्पर विरोधी वचन उद्धृत करने के उपरान्त उन्हें एक क्रम में रखने का प्रयास ही छोड़ दिया है, क्योंकि यह सब व्यर्थ है और लोग इन वचनों को व्यवहार में नहीं लाते।

दो अन्य शब्दों की व्याख्या की आवश्यकता है। वे हैं, 'आरादुपकारक' एवं 'सन्निपत्योपकारक'। पू० मी० सू० के तीसरे अध्याय में लेखक ने शेष एवं उसकी परिभाषा का उल्लेख किया है और इसकी व्याख्या की है कि कौन-सी बातें शेष होती हैं और कौन-सी शेषी (शेषिन्)। कुमारिल ने **शेष** शब्द की पाँच परिभाषाएँ की हैं। उनमें चार का त्याग किया है और एक को स्वीकार किया है, यथा–'शेष वह है जो दूसरे का उद्देश्य पूरा करता है।' शबर का कथन है कि जो दूसरे की सहायता करता है वह शेष कहलाता है और दूसरा शेषी कहलाता है। बादरि के अनुसार शेष की तीन कोटियाँ हैं, यथा—**द्रव्य** (वैसे पदार्थ जो यज्ञ के लिए हैं यथा धान), **गुण** (यथा, लाल रंग की गाय, जो क्रय किये जाने वाले सोम का मूल्य है), **संस्कार** (ऐसे कर्म जिनसे शुद्ध करने की क्रिया की जाती है, यथा मूसल एवं ओखली से अन्नों को कूटना, जिससे पुरोडाश बनाया जा सके)। जैमिनि का कथन है कि याग एवं याग के फल के समान कर्ता के सन्दर्भ में कर्म (कृत्य) शेष हैं और याग के संदर्भ में कर्ता शेष है। बादरि के मत से द्रव्य, गुण एवं संस्कार सदैव शेष हैं, किन्तु स्थिरीकृत निष्कर्ष के अनुसार याग, फल एवं पुरुष (कर्ता) विभिन्न अवस्थाओं में या तो शेष होंगे या शेषी। एक लम्बे विवेचन के उपरान्त तन्त्रवार्तिक ने निष्कर्ष निकाला है कि द्रव्य, गुण एवं संस्कार याग के संदर्भ में सदैव शेष होते हैं, यद्यपि स्वयं अपने तत्वों के संदर्भ में वे शेषी हो सकते हैं, किन्तु जहाँ तक फल, याग एवं कर्ता (पुरुष) का प्रश्न है, वे एक दूसरे के संदर्भ में शेष एवं शेषी दोनों हैं। उदाहरणार्थ, दर्शपूर्णमास याग में 'बहुत से विषय हैं, यथा–(यज्ञ के लिए) धान को मुट्ठियों से निकालना, उन पर जल छिड़कना, उन्हें चूर्ण करना; इसके उपरान्त आज्य (घृत) के संदर्भ में कुछ विशिष्ट कृत्य किये जाते हैं, यथा–दो कुशों से उसे शुद्ध करना, उसे गलाना, पल्लव लाना, गायों को चरागाह में प्रस्थान कराना आदि। ये सहायक कृत्य दो प्रकार के होते हैं, (१) जो पहले से हो चुके रहते हैं, (२) जो कर्मों के रूप वाले होते हैं। प्रथम में द्रव्य, संख्या आदि का बोध होता है, वे जो कर्मों के रूप के हैं, वे दो प्रकार के होते हैं, यथा–**सन्निपत्योपकारक** एवं **आरादुपकारक**। पौर्णमास कृत्य में प्रयाजों, आधारों एवं आज्यभागों के समान सहायक कृत्य पाये जाते हैं और ये आरादुपकारक कहे जाते हैं। सन्निपत्योपकारकों को सामवायिक या आश्रयिकर्माणि भी कहा जाता है और वे हैं अन्न को चूर्ण करना, प्रोक्षण आदि'। आरादुपकारक ऐसे व्यवस्थित कृत्य हैं जो द्रव्यों के विषय में कुछ नहीं करते और वे सीधे तौर से प्रमुख कृत्य के अंग माने जाते हैं। इनसे यज्ञ में दिये जाने वाले द्रव्य के संस्कार (अलंकरण या योग्य बनाना या शुद्ध करना) से कोई सम्बन्ध नहीं है। ये उस परमापूर्व को उत्पन्न करते हैं जो सम्पूर्ण कृत्य के फल को देने वाला होता है। वे स्वयं अपने लिए एक गौण **अपूर्व** की उत्पत्ति करते हैं। वे प्रमुख कृत्य के प्रत्यक्ष अंग होते हैं और सन्निपत्योपकारकों से भिन्न हैं, क्योंकि सन्निप्रत्योपकारक संस्कारक (शुद्धता या योग्यता लाने वाले) होते हैं। सन्निपत्योपकारक आरादुपकारकों से अपेक्षाकृत अधिक शक्तिशाली होते हैं और इसीलिए तन्त्रवार्तिक ने प्रस्तावित किया है कि जहाँ किसी कृत्य में कोई कार्य सन्निपत्योपकारक या सामवायिक होता है, वहाँ उसे आरादुपकारक कहना उचित नहीं है। यह जानने योग्य है कि प्रो० कीथ ने 'कर्ममीमांसा' नामक अपने ग्रन्थ में (पृ० ८८) इन दोनों का अर्थ उलट दिया है। महामहोपाध्याय झा के 'प्रभाकर स्कूल' नामक ग्रन्थ में (पृ० १८१) सन्निपत्योपकारक की व्याख्या अस्पष्ट है। एकादशीतत्त्व (पृ० ६७) ने एकादशी में घृत, दुग्ध, मधु के स्थान पर प्रयुक्त होने वाले प्रतिनिधियों (यथा दुग्धचूर्ण, दही एवं गुड़) का विवेचन करते हुए व्याख्या की है कि 'प्रयाजों' (जिनसे

अदृश्य एवं आध्यात्मिक फल की प्राप्ति होती है) के समान व्यवस्थित क्रिया के स्थान पर कोई प्रतिनिधि नहीं होता, क्योंकि जो अदृश्य फल उत्पन्न करने वाला होता है वह आरादुपकारक कहलाता है, किन्तु चावल के धानों (जिनसे पुरोडाश बनाया जाता है) के स्थान पर किसी प्रतिनिधि का प्रयोग हो सकता है, क्योंकि चावल के अन्न (धान) सन्निपत्योपकारक होते हैं और दृश्य उद्देश्य लेकर चलने वाले होते हैं, यथा पुरोडाश बनाना। वेदान्त-सूत्र (४।१।१६) के भाष्य में शंकराचार्य ने कहा है कि ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने वाले व्यक्ति द्वारा आवश्यक वैदिक कृत्यों (यथा, अग्निहोत्र) का सम्पादन, आरादुपकारक के रूप में सहायक होता है।

पूर्वमीमांसा ने व्याख्या के लिए वेद एवं स्मृतियों के अतिरिक्त लोक या लोकवत् (सामान्य लोगों की उक्तियों) का भी आश्रय लिया है। उदाहरणार्थ, १।२।२०, १।२।२६, २।१।१२ (लोकवत्), ४।१।६ ('तथा च लोक भूतेषु' अर्थात् 'लोकेपि'), ६।२।१६ (लोके कर्माणि वेदवत्ततोऽधिपुरुषज्ञानम्), ६।५।३४ (न भक्तित्वादेशा हि लोके), ६।८।२६ (याञ्चक्रयणमविद्यमाने लोकवत्), ७।४।११ (लिंगहेतुत्वादलिंगे लौकिकं स्यात्), ८।२।२२ (पयोवातत्प्रधानत्वाल्लोकवद्दध्नस्तदर्थत्वात्) यह दृष्टान्त देता है कि दूध जमाने के लिए थोड़ा दही पर्याप्त है; ८।८।६ (न लौकिकानाम् आदि, यहाँ लौकिक का अर्थ है 'लोकानाम्'); १०।३।४४ (शब्दार्थश्चापि लोकवत्), १०।३।५१, १०।६।८, १०।७।६६ (लोकवत्, शबर ने कहा है : 'यथा मत्स्यान् न पयसा समश्नीयात्), ११।१।२३, २६, ६२। स्वयं शबर ने अपने भाष्य (पू० मी० सू० ३।४।१३, एवं 'वर्ण्यमाने लौकिकन्यायानुगतः सूत्रार्थो वर्णितुं, भविष्यति', पृ० ६२६) में 'लौकिकन्याय' का प्रयोग किया है।

जैमिनि ने प्रथम अध्याय के प्रथम पाद में धर्म के विषय में वेद के नित्यस्वयंभू एवं नितान्त प्रामाणिक स्वरूप का निरूपण किया है और ज्ञान के साधनों तथा शब्दों एवं अर्थों के पारस्परिक नित्य स्वरूप पर भी विवेचन उपस्थित किया है। प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद में उन्होंने उद्घोषणा की है कि वे अर्थवाद, जो वेद के अधिकांश भाग के रूप में हैं, उन विधियों की प्रशंसा के निमित्त उपस्थित किये गये हैं, जिनके साथ वे सम्बन्धित हैं और उन्हें व्यर्थ नहीं समझना चाहिए। उन्होंने इसकी उद्घोषणा भी की है कि मन्त्रों (जो वेद के अंग हैं) का एक उद्देश्य है, और वह है सम्पादित कृत्यों के अर्थ का मन में पुनः प्रत्यावाहन। उन्होंने यह भी कहा है कि 'चत्वारि शृंगा'[४९] (ऋ० ४।५८।३) ऐसे मन्त्र रूपक के रूप में याग की स्तुति में हैं, 'जर्भरी तुर्फरीत्'

४९. 'चत्वारि शृंगा' के विषय में विरोध एवं उद्धरण पू० मी० सू० (१।२।३१) में उठाये गये हैं और उनका उत्तर १।२।३२-३५ में दिया गया है। पू० मी० सू० (१।२।३८) में 'चत्वारि शृंगा' के श्लोक का निरूपण है। इस श्लोक की व्याख्या निरुक्त (१३।७), पतञ्जलि के महाभाष्य, शबर, कुमारिल (तन्त्रवार्तिक, पृ० १५५-१५६), दुर्गा एवं सायण द्वारा की गयी है। इन व्याख्याओं में बड़ा विभेद है, '(कुमारिल भी शबर से इस विषय में बहुत भिन्नता रखते हैं)। जर्भरी तुर्फरीत् आश्विनों की उपाधियाँ हैं और उनकी व्याख्या निरुक्त (१३।५) में हुई है। काणुका (निरुक्त ५।१०), कीकट तथा अन्य शब्द निरुक्त (६।३२) में व्याख्यायित हुए हैं। यास्क का कथन है : 'कीकट वह देश है, जहाँ अनार्य रहते हैं'। किन्तु तन्त्रवार्तिक (पृ० १५८) ने सर्वप्रथम इसे एक देश के अर्थ में माना और निश्चित किया कि एक देश नित्य है। इसके उपरान्त कुमारिल ने प्रस्तावित किया है कि 'कीकट' का अर्थ है 'मुष्टि-बन्ध', प्रमगण्ड का अर्थ है, 'अधिक ब्याज लाने वाला' तथा 'नैचा-शाखम्' का अर्थ है 'नपुंसक व्यक्ति'। शबर ने पू० मी० सू० (१।२।४१, पृ० १५६-१५७) पर लिखा है : 'विद्यमानोप्यर्थः प्रमादालस्यादिभिर्नोपलभ्यते। निगमनिरुक्तव्याकरणवशेन धातुतोर्थः कल्प-

(ऋ० १०।१०६।६) या 'इन्द्रः सोमस्य काणुका' (ऋ० ८।७७।४) ऐसे मन्त्रों में कुछ शब्दों का अर्थ (जिसके विषय में ऐसा तर्क किया जाता है कि उनका कोई अर्थ नहीं है) निरुक्त एवं व्याकरण की सहायता से, वास्तव में, जाना जा सकता है, 'कीकट', 'नैचाशाख' एवं प्रमगण्ड ऐसे कुछ शब्द, जिनसे क्रम से एक देश, एक नगर एवं एक राजा की ओर संकेत मिलता है और इसीलिए वे मन्त्र (ऋ० ३।५३।१४) को अनित्य सूचित करते हैं, एक अन्य प्रकार से व्याख्यायित हो सकते हैं। इस प्रकार वेद का कोई अंश अनर्थक या अनित्य नहीं है। मीमांसक लोग वेद के शब्दों एवं वाक्यों के अनार्थक्य को दूर करने में बड़े सचेष्ट रहते हैं।

प्रथम अध्याय के तृतीय पाद में जैमिनि ने स्मृतियों, शिष्ट लोगों के व्यवहारों, सदाचारों, वेदांगों आदि की प्रामाणिकता के विषय में विवेचन किया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि जैमिनि द्वारा सूत्रों के प्रणयन के पूर्व स्मृतियाँ महत्त्व को प्राप्त कर चुकी थीं, तथा धर्म के स्रोत के रूप में शिष्टों के आचार स्वीकृत हो चुके थे। गौतम, आपस्तम्ब, तथा अन्य लोगों के धर्मसूत्रों ने ऐसी घोषणा कर दी थी कि वेद, स्मृतियाँ, वेदज्ञों के व्यवहार धर्म के मूल हैं[५०]। अतः शान्ति-पर्व (१३७।२३, १३५।२२ चित्रा संस्करण) ने धर्मशास्त्रों का उल्लेख किया है और अनुशासन पर्व (४५। १७) ने यम के धर्मशास्त्र से गाथाएँ उद्धृत की हैं। अतः जैमिनि को इस बात पर विचार करना पड़ा कि स्मृतियाँ एवं शिष्टाचार धर्म के विषय में प्रमाण हैं कि नहीं, और यदि हैं तो किस सीमा तक। यदि स्मृतियाँ अप्रामाणिक मान ली जातीं तो वेद की प्रामाणिकता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता; किन्तु पू० मी० सू० के प्रथम सूत्र ने स्वीकार किया कि वह ग्रन्थ (पू० मी० सू०) धर्म की विशेषताओं के प्रश्न पर विचार करेगा, इसीलिए स्मृतियों का, जो धर्मशास्त्र के नाम से विख्यात थीं, (मनु २।१०), सम्बन्ध धर्म के निरूपण के साथ लगाया गया। इसके अतिरिक्त पू० मी० सू० के ६।७।६ से प्रकट होता है कि जैमिनि को धर्मशास्त्रों के विषय में जानकारी थी, क्योंकि उन्होंने ऐसी व्यवस्था दी है कि विश्वजित् यज्ञ में कर्ता किसी शूद्र को इस बात पर दान का विषय नहीं बना सकता कि वह (अर्थात् शूद्र) धर्मशास्त्र के आदेशों के आधार पर उच्च जाति के किसी व्यक्ति की सेवा करता है[५१]। उपनिषदों में भी (यथा तै० उप० १।११), गुरु शिष्य के

यितव्यः। यथा सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू इत्येवमादीन्यश्विनोरभिधानानि द्विवचनान्तानि लक्ष्यन्ते।' 'सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू ऋ० (१०।१०६।६) में आया है। 'निगम...कल्पयितव्य' शबर भाष्य (पू० मी० सू० १।३।१०) में भी आया है। तन्त्रवार्तिक (पृ० २५९, १।३।२४ पर) में ऐसा आया है: 'कात्स्न्र्येपि व्याकरणस्य निरुक्ते हीनलक्षणाः प्रयोगा बहवो यद्वद् ब्राह्मणो ब्रवणादिति'। निरुक्त (१।१५) में 'तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यम्' नामक शब्द आये हैं। देखिए तन्त्रवार्तिक (पृ० २६८–२६९) जहाँ निरुक्त की ओर संकेत किये गये हैं। पू० मी० सू० (११।१।२४) में शबर ने भावप्रधानमाख्यातं (निरुक्त १।१) को उद्धृत किया है।

५०. वेदो धर्ममूलं तद्विदां च स्मृतिशीले। गौतम (१।२); धर्मज्ञसमयः प्रमाणं वेदाश्च। आप० ध० सू० (१।१।१।२–३)। तस्य च व्यवहारो वेदो धर्म शास्त्राण्यङ्गान्युपवेदाः पुराणम्। गौतम (११।१९), जिसके विषय में हरदत्त ने व्याख्या की है: 'तस्य राज्ञः व्यवहारो लोकमर्यादा स्थापनम्। देखिए मनु० (२।६) एवं याज्ञ० (१।७)।

५१. शूद्रस्य धर्मशास्त्रत्वात्। पू० मी० सू० (६।७।६): विश्वजित्येव सन्दिह्यते। किं परिचारकः शूद्रो देयो नेति। ...एवं प्राप्ते ब्रूमः। शूद्रश्च न देय इत्यन्वादेशः। कुतः धर्मशास्त्रत्वात् धर्म शासनोपनतत्वात्तस्य। देखिए मनु० (१०।१२३) एवं गौतम (११।५७–५९)।

वेदाध्ययन के उपरान्त उससे कहता है कि जब कभी उसे व्यवस्थित कृत्यों के विषय में सन्देह हो या उचित आचार के विषय में सन्देह हो तो वह अपने देश के ऐसे ब्राह्मणों के आचारों का अनुगमन करे, जो सुविचारणा के उपरान्त कार्य करते हैं, जो कर्त्तव्यशील हैं, जो दूसरों से प्रभावित होकर कोई अन्य कार्य नहीं करते, जो चरित्र में कठोर नहीं हैं और अपने कर्त्तव्यपालन में सचेष्ट रहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि सदाचार धर्म का एक स्रोत है। जैमिनि ने 'स्मृति' शब्द का प्रयोग कई सूत्रों में ग्रन्थों के अर्थ में किया है, ६।८।२३ में आप० गृ० सू० के शब्द पाये जाते हैं। शबर ने 'स्मृति' शब्द का प्रयोग किया है और 'स्मरति' एवं 'स्मरन्ति' को एक दर्जन से अधिक बार प्रयुक्त किया है।

निम्नलिखित वचन द्रष्टव्य हैं। पू० मी० सू० (१।३।२) पर शबर का कथन है—'प्रमाणं स्मृतिः'[५२], पू० मी० सू० (१।३।३) पर उन्होंने तीन स्मृति-नियम दिये हैं, जिनमें दो विद्यमान स्मृतियों में पाये जाते हैं। पू० मी० सू० (६।१।५), में जहाँ पशु आदि हीन प्राणियों की चर्चा है और ऐसा प्रश्न उठाया गया है कि ऐसे पशुओं को वैदिक कृत्यों के लिए अधिकार है कि नहीं, तो शबर ने इस प्रकार के अधिकार को नहीं माना है, क्योंकि वे वेदाध्ययन नहीं करते और न स्मृति शास्त्र ही जानते (जैसा कि मनुष्य लोग जानते) हैं। पू० मी० सू० (६।२।२१–२२) पर (जहाँ यह प्रश्न उठाया गया है कि क्या वे स्मार्त नियम, यथा—गुरु का अनुगमन करना चाहिए, आज्ञापालन करना चाहिए, उन्हें प्रणाम करना चाहिए, वृद्ध व्यक्ति का सम्मान उठकर करना चाहिए, उन बच्चों के लिए भी प्रयुक्त होते हैं, जिनका उपनयन न हुआ हो) शबर का कथन है कि स्मृति वेद के समान है (वेदतुल्या हि स्मृतिः, वैदिका इव पदार्थाः स्मर्यन्त इत्युक्तम्)। ६।८।२३ पर शबर ने एक श्लोक को स्मृति कहकर उद्धृत किया है, (स्मरन्ति-तेषु कालेषु द्वैवानि-इति)। ६।७।३१ पर उनका कथन है कि स्मृति ने गन्धर्वों को एक सहस्र वर्षों तक जीवित रहते लिखा है। ६।१।२० पर शबर का कथन है कि स्मृति के अनुसार स्त्री के पास सम्पत्ति नहीं होती, किन्तु श्रुति के अनुसार सम्पत्ति पर उसका स्वत्व रहता है। ६।२।२ पर शबर ने कहा है—'नैषा स्मृतिः प्रमाणमं दृष्टमूला ह्येषा'; १०।१।३६ पर शबर का वचन है कि शिष्ट लोगों के व्यवहार से स्मृति का अनुमान किया जाता है और स्मृति से श्रुति वचन का अनुमान किया जाता है। १०।१।४२ पर शबर का कथन है कि स्मृति व्यवहार से अधिक शक्तिशाली है। १०।३।४७ पर शबर की उक्ति है—'एक स्मृति

५२. अष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि वेद ब्रह्मचर्यचरणं जातपुत्रः कृष्णकेशोऽग्नीनादधीत इत्यनेन विरुद्धम्। क्रीतराजकोऽभोज्यान्न इति 'तस्मादग्नीषोमीये संस्थिते यजमानस्य गृहेऽशितव्यमित्यनेन विरुद्धम्। शबर १।३।२ पर। बौ० ध० सू० (१।२।१) में आया है: 'अष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि वेदब्रह्मचर्यम्'। आप० ध० सू० (१।६।१८।१६ एवं २३) में 'संघान्नमभोज्यम्'। दीक्षितोऽक्रीतराजकः। मनु० (१०।८६) ने घोड़ों एवं ऐसे पशुओं के विक्रय को मना किया है जो एकशफ होते हैं, किन्तु तै० सं० (२।३।१२।१) ने यह कह कर कि वरुण उसको पकड़ लेता है जो अश्व के दान को ग्रहण करता है, व्यावहारिक रूप से उसकी वर्जना कर दी है। ऋग्वेद ने अश्वों के दाताओं की बड़ी प्रशंसा की है, यथा—१०।१०७।२ 'उच्चा दिवि दक्षिणावन्तो अस्थुर्ये अश्वदाः सहते सूर्येण'। 'पूर्व मीमांसा इन इट्स सोर्स' के पृ० २२६ पर गंगानाथ झा ने ऐसा अनुवाद दिया है: 'सिंहों, घोड़ों आदि को दान में देना, स्वीकार करना एवं क्रय करना या विक्रय करना...'। केसरिन (केसरी) का अर्थ है सिंह, और विशेषण के रूप में इसका अर्थ है, 'अयाल वाला' और सिंह की विशेषता प्रकट करता है। डा० झा का यह अनुवाद अशुद्ध है। देखिए इस महाग्रन्थ का खण्ड २, पृ० ८५०, पाद-टिप्पणी १६४७।

है कि 'घोड़ा नहीं बेचना चाहिए'। एक स्थान पर शबर ने 'प्रमाणे स्मृतौ' के स्थान पर 'प्रमाणायां स्मृतौ' शब्दों का प्रयोग किया है और तन्त्रवार्तिक ने बड़ा कष्ट करके यह प्रदर्शित करना चाहा है कि शबर की यह त्रुटि किसी प्रकार १।३।३ पर ठीक है। बौधायन धर्मसूत्र (१।१।१६-२६) ने दक्षिण भारत में व्यवहृत पाँच आचरणों तथा उत्तर भारत के पाँच आचरणों का उल्लेख किया है और कहा है कि यदि दक्षिण या उत्तर वाले अपने से विपरीत आचरणों का व्यवहार करेंगे तो वे पापी कहे जायेंगे। विरोधी कहता है[५३] कि स्मृतियों का परित्याग कर देना चाहिए, क्योंकि वे मनुष्यों द्वारा प्रणीत हैं (अर्थात् वे **पौरुषेय** हैं, अपौरुषेय नहीं, जैसा कि वेद है) और मनुष्य लोग बहुधा भ्रमित एवं विस्मरणशील होते हैं। विरोधी का यही प्रमुख आधार है। इसका उत्तर यों है कि स्मृति की व्यवस्थाओं के लिए वेद में ऐसे वचन पाये जाते हैं जो स्मृति के कुछ नियमों की ओर निर्देश देते हैं, यथा—अष्टका श्राद्ध स्मृतियों के बहुत पहले से प्रचलित था और वह वैदिक मन्त्र 'यां जनाः प्रतिनन्दन्ति' में सांकेतिक रूप से उपस्थित है। गुरु की आज्ञा के पालन एवं यात्रियों के लिए जलाशय की व्यवस्था करने के व्यवहारों में जाना हुआ उद्देश्य (अर्थात् अन्य लोगों के लिये उपकार) है। वेद में भी 'प्रपा' (ऋ० ६।४।१) शब्द आया है, 'धन्वन्नीव प्रपा असि' अर्थात् 'हे अग्नि, तुम मरुस्थल में प्रपा के समान हो'। इस बात पर तथा आगे आने वाले सूत्रों के विषय में तन्त्रवार्तिक ने विशद रूप से लिखा है और भाष्यकार से कई स्थानों पर भिन्न मत प्रकट किया है, उनके दोष को बताया है और विवेचन के लिए अन्य विषय उपस्थित किये हैं। स्मृति-व्यवस्थाओं के लिए दो सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है, जिनके लिए वैदिक संकेतों का पता चलाना असम्भव-सा है। तन्त्रवार्तिक (१।३।१ पर, पृ० १६४) ने प्रथमतः कहा है कि 'स्मृति की व्यवस्थाएँ (अथवा नियम या आदेश) विस्मृत वैदिक शाखाओं पर आधृत हो सकती हैं, या (द्वितीयतः) वे आज के प्रस्तुत (विद्यमान), वैदिक अंशों पर आधृत हो सकती हैं।' यदि कोई यह पूछे, 'वे क्यों नहीं पायी जातीं'?' तो कुमारिल ने उत्तर दिया है—'वेद की बहुत-सी शाखाएँ (बहुत-से देशों में) बिखरी पड़ी हैं, मनुष्य लोग प्रमादी हैं, वचन वेद के विभिन्न प्रकरणों में पड़े हुए हैं; इन्हीं कारणों से उन वचनों को बताया नहीं जा सकता जिन पर स्मृतियाँ आधारित हैं[५४]।

५३. धर्मस्यमूलत्वादशब्दमनपेक्षं स्यात्। अपि वा कर्तृसामान्यात् प्रमाणमनुमानं स्यात्। १।३।१-२। 'कर्तृसामान्यात्' की व्याख्या भाष्यकार ने यों की है: 'कर्तृसामान्यास्त्स्मृति-वैदिकपदार्थयोः, 'अर्थात् वे लोग जो वैदिक कृत्य करते हैं और साथ ही साथ स्मृति की व्यवस्थाओं का पालन करते हैं, एक-से हैं; वे वैसा कभी न करते यदि उनमें ऐसा विश्वास न होता कि स्मृति-व्यवस्थाएँ वैदिक प्रमाण पर आधारित हैं; यद्यपि प्रत्येक विषय में वैदिक वचनों को स्पष्ट रूप से या उपलक्षित रूप बता देना सम्भव नहीं है। मेधातिथि ने मनु० (२।६) पर इसे स्पष्ट रूप से लिखा है और अपने ग्रन्थ स्मृतिविवेक से निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है: 'प्रामाण्यकारणं मुख्यं वेदविद्भिः परिग्रहः। तदुक्तं कर्तृसामान्यादनुमानं श्रुतीः प्रति।। रेखांकित शब्द पू० मी० सू० (१।३।२) से लिये गये हैं। मनुस्मृति (२।७) में आया है: 'यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः। स सर्वोभिहितो वेदेसर्वज्ञानमयो हि सः।।' मेधातिथि, गोविन्दराज एवं अन्य टीकाकारों ने 'सः' को वेद के लिए माना है, किन्तु कल्लूक ने इसे मनु के लिए प्रयुक्त समझा है। देखिए इस महाग्रंथ का खण्ड ३, पृ० ८२८, पाद-टिप्पणी १६१२ जहाँ इन शब्दों का अन्य अर्थ उपस्थित किया गया है।

५४. तेन वरं...प्रलीनश्रुत्यनुमानमेव....। यद्वा विद्यमानशाखागतश्रुतिमूलत्वमेवास्तु। कथमनुपलब्धि-रिति चेदुच्यते--शाखानां विप्रकीर्णत्वात्पुरुषाणां प्रमादतः। नाना प्रकरणस्थत्वात् स्मृतेर्मूलं न दृश्यते।। तन्त्रवार्तिक

आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।४।१२।१०) से पता चलता है कि उसके बहुत पहले से ऐसी धारणा घर कर गयी थी कि बहुत से वैदिक वचन नष्ट हो चुके हैं या अब उपलब्ध नहीं हैं। ऐसा आया है– 'कृत्यों की उद्घोषणा ब्राह्मण ग्रन्थों में हुई है, किन्तु वास्तविक शब्द (ब्राह्मण वचनों के शब्द) विलीन हो गये हैं और कृत्यों के सम्पादन से (प्रयोग से) ही उनका अनुमान लगाया जाता है[५५] ।

इस सिद्धान्त पर निर्भर रहना कि स्मृतियाँ उन वैदिक वचनों पर आधृत हैं जो नष्ट हो चुके हैं (या अब नहीं मिलते) आपत्तिग्रस्त हैं, क्योंकि इसी तर्क पर बौद्धों के समान अन्य पाषण्डी अपने सिद्धान्तों के लिए प्रमाण उपस्थित कर सकते हैं[५६] । इसी से कुमारिल ने एक अन्य सिद्धान्त रखा है जो यों है—'स्मृतियों का आधार ऐसे वचन हैं जो आज के वैदिक वचनों में नहीं पाये जाते, क्योंकि वैदिक शाखाएँ चतुर्दिक् बिखरी पड़ी हैं'।

हमने स्मृतियों के विषय में वे सारी बातें जो मीमांसकों के मतों पर आधृत हैं, इस महाग्रन्थ के तृतीय खण्ड (जिल्द) में निरूपित कर दी हैं। अतः केवल थोड़े से उदाहरण एवं निष्कर्ष यहाँ उल्लिखित किये जा रहे हैं। स्वयं शबर ने प्रस्तावित किया है कि पू० मी० सू० १।३।४ को एक पृथक अधिकरण होना चाहिए, और एक महत्वपूर्ण उक्ति उन्होंने कही है–'जहाँ पर किसी कार्य के लिए कोई दृष्ट अर्थ पाया जा सके तो किसी को वहाँ अदृष्ट अर्थ या वैदिक वचन का अनुमान नहीं लगाना चाहिए । शबर द्वारा पू० मी० सू० (१।३।३–४) के निरूपण को शास्त्र दीपिका ने बड़े स्पष्ट एवं परिष्कृत ढंग से यों रखा है—वे स्मृति नियम जो श्रुति-नियम के विरोध में आते हैं और ऐसी स्मृति-व्यवस्थाएँ जिनमें स्पष्ट रूप से लौकिक अर्थ प्रदर्शित हो, न तो प्रामाणिक होते हैं और न आवश्यक , किन्तु स्मृति के शेष वचन प्रामाणिक होते हैं। यह सिद्धान्त आप० ध० सू० (१।४।१०।१२) के उस सिद्धान्त से पुराना है, जो यों है—'जहाँ व्यक्ति प्रीति (आनन्द) के लोभ से (अर्थात् वैसा करने पर आनन्द का अनुभव करने से) कार्य करते हैं वहाँ शास्त्र नहीं पाया जाता'। कुमारिल शबर से इस विषय में मेल नहीं खाते। उनका कथन है कि दृष्ट एवं अदृष्ट या आध्यात्मिक अर्थ बहुधा एक-दूसरे से दुस्तर रूप से मिश्रित होते हैं। धान (चावल) पर से भूसी निकालना एक दृष्ट उद्देश्य या अर्थ रखता है, क्योंकि वैसा करने से चावल भली भाँति उबल जायेगा और पका हुआ चावल यज्ञ में आहुति का काम करेगा। इस कार्य में एक दृष्ट अर्थ है और तब भी यह कार्य वेद द्वारा व्यवस्थित है। बहुत ही आकर्षक एवं तीखे शब्दों से युक्त तथा अनुकूल वचन द्वारा, सर्वप्रिय दृष्टिकोण से परिपूर्ण तथा ऐसे ढंग से कथित कि दुष्ट को भी उसका प्रिय मिले, कुमारिल ने संस्कृत के सभी ग्रन्थों की जाँच की है और वेद से उनके सम्बन्ध एवं सामान्य भौतिक अनुभव से तुलना करके उनकी उपयोगिता की परीक्षा की है। यहाँ पर केवल थोड़े-से वाक्य दिये जायेंगे। अतः उन्होंने व्यवस्था दी है कि सभी स्मृतियाँ अपनी उपयोगिता की दृष्टि से प्रामाणिक

(१।३१, पृ० १६४)। इसे विश्वरूप ने याज्ञ० (१।७, पृ० १४) की टीका में बिना नाम दिये उद्धृत किया है।

५५. ब्राह्मणोक्ता विधयस्तेषामुत्सन्नाः पाठाः प्रयोगादनुमीयन्ते। यत्र प्रीत्युपलब्धितः प्रवृत्तिर्न तत्र शास्त्रमस्ति। आप० ध० सू० (१।४।१२।१०–११)।

५६. यदि तु प्रलीनशाखामूलता कल्प्येत। ततस्तासां बुद्धादिस्मृतीनामपि तद्द्वारा प्रामाण्यं प्रसज्यते। तन्त्रवार्तिक (१।३।१, पृ० १६३)।

हैं। स्मृतियों के वे अंश जो **धर्म** एवं **मोक्ष** से सम्बन्धित हैं उनका मूल वेद में है अर्थात् वे वेदमूलक हैं, किन्तु वे अंश जो **अर्थ** एवं **काम** से सम्बन्धित हैं वे केवल लौकिक व्यवहारों पर आधृत हैं। यही नियम इतिहास (महाभारत) एवं पुराणों के स्तुतिमूलक वचनों के लिए भी प्रयुक्त होता है, इतिहास एवं पुराण स्मृति के नाम से ही विख्यात हैं। इन दोनों में जो घटनाएँ एवं गाथाएँ हैं उन्हें अर्थवाद समझना चाहिए। इसके उपरान्त कुमारिल ने पृथिवी के विभागों एवं राज-वंशों (ये दोनों पुराणों के विषय हैं) के विवरणों की ओर संकेत किया है और उनके अभिप्रायों पर प्रकाश डाला है। ६ वेदांग (व्याकरण, छन्द, शब्द, ज्योतिष आदि) क्रत्वर्थ एवं पुरुषार्थ के रूप में उपयोगी हैं, तथा मीमांसा एवं न्याय की स्थापना प्रत्यक्ष एवं अनुमान के साधनों से उत्पन्न लौकिक अनुभव से हुई है; तथा मीमांसाशास्त्र में तर्कों का जो विशद संग्रह पाया जाता है वह एक व्यक्ति के बूते की बात नहीं है। वेद की व्याख्या में न्याय की आवश्यकता के लिए वे मनु० (१२।१०५-१०६) पर निर्भर रहते हैं। कुमारिल यह स्वीकार करने को सन्नद्ध हैं कि उन दार्शनिक सिद्धान्तों को, जिनमें **प्रधान एवं पुरुष** (सांख्य में) को या परम तत्त्व या परमाणुओं (वैशेषिक में) को माना गया है, ऐसा समझ लेना चाहिए कि वे विश्व की सर्जना एवं विनाश की गुत्थी को सुलझाने में समर्थ हैं तथा उन्हें ऐसा जान लेना चाहिए कि मन्त्रों एवं अर्थवादों से उत्पन्न ज्ञान के कारण जो कुछ स्थूल या सूक्ष्म दर्शित है वह कारणों एवं कार्यों में विभाजित है। इनका मन्तव्य है फल एवं कारण के रूप में स्वर्ग एवं योग के अन्तर को विख्यात कर देना। सृष्टि एवं विनाश के निरूपण का मन्तव्य है भाग्य एवं मानवीय प्रयत्न के बीच स्थित अन्तर को स्पष्ट कर देना। कुमारिल और आगे बढ़ते हैं और यहाँ तक मानने को सन्नद्ध हैं कि बौद्धों के वैधर्मिक सिद्धान्त, यथा—'केवल **विज्ञान** का अस्तित्व है और प्रत्येक वस्तु नित्य प्रवाह में है और कोई (नित्य अथवा अमर) आत्मा नहीं है', जो उपनिषदों के अर्थवाद वचनों से उद्भूत हुए हैं, लोगों को ऐन्द्रियक आनन्द की अत्यधिक अनुरक्ति से दूर रहने की प्रेरणा देते हैं और अपने ढंग से उपयोगी एवं प्रामाणिक हैं।

कुमारिल अन्तर को स्पष्ट करते हुए यह निष्कर्ष उपस्थित करते हैं कि वे स्मृतियाँ (या उनके वे अंश), जिनमें ऐसा व्यक्त है कि फल की प्राप्ति इस जीवन में सम्भवतः नहीं होगी, तथा वे अंश जहाँ यह व्यक्त है कि फल मृत्यु के उपरान्त प्राप्त होगा, वेद पर आधृत हैं, ऐसा अनुमान निकाला जा सकता है। किन्तु वृश्चिक विद्या (मन्त्र से बिच्छू के विष को दूर करने की विद्या) के समान वे ग्रन्थ, जो दृष्ट विषयों का निरूपण करते हैं उसी प्रकार प्रामाणिक हैं, क्योंकि फल का प्रत्यक्ष अनुभव उसी प्रकार डंक मारे गये अन्य व्यक्तियों से प्राप्त किया जा सकता है[५७]।

मध्यकाल के धर्मशास्त्र-ग्रन्थ वेद पर आधृत स्मृतियों तथा प्रत्यक्षानुभवों एवं उद्देश्यों (मन्तव्यों) के अन्तर के इस विवेचन की चर्चा करते हैं। उदाहरणार्थ, कल्पतरु (ब्रह्मचारि काण्ड, पृ० ३०) एवं अपरार्क (पृ० ६२६-६२७) ने भविष्यपुराण (ब्राह्मपर्व, अध्याय १८१, २२-३१) से श्लोक उद्धृत किये हैं जो स्मृतियों के विषयों को पाँच श्रेणियों में बाँटते हैं और उस विभाजन को उदाहरणों से स्पष्ट करते हैं। स्मृति च० (२, पृ० २४) ने इनमें से दो को उद्धृत किया है और मित्रमिश्र के परिभाषाप्रकाश (पृ० १९) ने सभी को उद्धृत किया है। देखिए इस महाग्रन्थ का खण्ड ३, पृ० ८४०, पाद-टिप्पणी १६३४, जहाँ ये सभी श्लोक दिये गये हैं।

५७. विज्ञानमात्र-क्षणभङ्ग-नैरात्म्यादिवादानामप्युपनिषदर्थवादप्रभवत्वं विषयेष्वात्यन्तिकं रागं निवर्तयितुमित्युपपन्नं सर्वेषां प्रामाण्यम्। सर्वत्र च यत्र कालान्तरफलार्थत्वादिदानीमनुभवासम्भवस्तत्र श्रुतिमूलता। सान्दृष्टिकफले तु वृश्चिकविद्यादौ पुरुषान्तरे व्यवहारदर्शनादेव प्रामाण्यमिति विवेक सिद्धिः। तन्त्रवा० (पृ० १६८, १।३।२ पर)।

कुमारिल (तन्त्रवार्तिक, पृ० १६४-१६६) का कथन है कि शबर द्वारा १।३।३ पर उद्धृत वचन वेद के विरोध में नहीं पड़ते और १।३।३-४ के अन्तर्गत जो विषय विवेचित हुआ है वह सांख्य, योग, पाशुपत, पाञ्चरात्र एवं शाक्यों के सम्प्रदायों के धर्म के विषयों की प्रामाणिकता प्रकट करता है, कुमारिल के अनुसार ये सभी तीन वेदों के बाहर की बातें हैं और उन्हें अप्रामाणिक मान कर छोड़ देना चाहिए, यद्यपि उनमें कुछ ऐसे विषय पाये जाते हैं, यथा–अहिंसा, सत्यता, आत्म-संयम, दान एवं करुणा, जो श्रुति एवं स्मृति के अनुकूल हैं,। उपर्युक्त बातों से यह प्रकट होता है कि कुमारिल बौद्धों द्वारा उपस्थापित एवं अपरिहार्य सद्गुणों से परिचित थे, किन्तु वे उनमें कई बातों में अन्तर रखते थे। वे यह मानने को सन्नद्ध थे कि बौद्ध ग्रन्थों का कुछ मूल्य है और उन्होंने इसकी शिक्षा नहीं दी कि वे ग्रन्थ जला दिये या नष्ट कर दिये या जायँ। अतः यह प्रकट होता है कि वे बौद्ध ग्रन्थों से घृणा नहीं करते थे और न बौद्धों को सताने के पक्षपाती थे, जैसा कि तारानाथ ने लिखा है।

शबर ने पू० मी० १।३ के सूत्र ५-७ की व्याख्या में कहा है कि ये सूत्र कुछ विशिष्ट धार्मिक कर्मों से सम्बन्धित हैं, यथा—आचमन (जब कोई किसी कृत्य के मध्य में छींक देता है), तभी सभी कर्मों में जनेऊ (यज्ञोपवीत) धारण करना तथा दक्षिण हस्त का प्रयोग। विरोधी का कथन है कि किसी धार्मिक कृत्य में गौण बातों के शीघ्रसम्पादन तथा क्रम में इन कर्मों से अवरोध उपस्थित हो जाता है। शबर ने स्थापना की है कि इस प्रकार के विरोध में कोई तथ्य या बल नहीं है। कुमारिल का कथन है कि इन तीन उदाहरणों में शबर की उक्ति ठीक नहीं है। उन्होंने तीनों सूत्रों को दो अधिकरणों में रखा है। सूत्र ५ एवं ६ में कुमारिल अवैदिक के अनुसार ऐसी बातें पायी जाती हैं जो बुद्ध तथा अन्य सम्प्रदायों के प्रवर्तकों के सिद्धान्तों से सम्बन्धित हैं, यथा—मठों एवं उद्यानों का निर्माण, वैराग्य पर बल देना, ध्यान का लगातार अभ्यास, अहिंसा, सत्यवचन, इन्द्रिय-निग्रह, दान, दया—जो ऐसी बातें हैं जो वेद द्वारा भी व्यवस्थित की गयी हैं, शिष्टों के विचारों के विरोध में नहीं पड़ती हैं और न वेदज्ञों में किसी विद्वेष-भावना की उत्पत्ति करती और इसी कारण अवैदिक सिद्धान्तों के वे अंश प्रामाणिक माने जाने चाहिए। कुमारिल द्वारा इस धारणा का इस टिप्पणी के साथ प्रतिकार किया गया है कि केवल १४ (चार वेद, ६ वेदांग, पुराण, न्याय, मीमांसा एवं धर्मशास्त्र) या १८ (चौदह में चार उपवेदों को जोड़ कर) विद्याएँ वैदिक शिष्टों द्वारा धर्म के मामलों में प्रामाणिक मानी गयी हैं तथा बौद्धों एवं अन्य सम्प्रदायों के ग्रन्थ उनमें सम्मिलित नहीं हैं[५८]। कुमारिल ने एक उदाहरण दिया है, यथा —दूध, यद्यपि स्वयं पवित्र एवं उपयोगी होता है, किन्तु जब वह कुत्ते के चर्म में भर दिया जाता है तो अनुपयोगी एवं अपवित्र हो उठता है।

कुमारिल के मत से पू० मी० १।३ का सूत्र ७ स्वयं एक अधिकरण है और वह **सदाचार** (शिष्टों के आचारों एवं व्यवहारों) की प्रामाणिकता से सम्बन्धित है। तन्त्रवार्तिक में उन्होंने अपनी धारणा व्यक्त की है कि केवल वे प्रयोग या व्यवहार प्रामाणिक हैं जो स्पष्ट वैदिक वचनों के विरोध में नहीं पड़ते, जो शिष्टों द्वारा इस विश्वास से व्यवहृत होते हैं कि वे सद्धर्म (या सदाचरण) हैं और उनके लिए कोई दृष्ट अर्थ (यथा—इच्छाओं की तृप्ति या आनन्द या सम्पत्ति की उपलब्धि) की बात नहीं कही जाती। वे ही व्यक्ति शिष्ट कहे जाते हैं जो स्पष्ट रूप से वेदविहित धार्मिक कृत्यों एवं कर्तव्यों का सम्पादन करते हैं। वे आचरण (प्रयोग या व्यवहार), जो परम्परा से चले आ रहे हैं और शिष्टों द्वारा इस धारणा के साथ व्यवहृत होते रहे हैं कि वे धर्म के अंग हैं, धर्म

५८. देखिए याज्ञ० (१।३) जहाँ १४ विद्याओं का उल्लेख है। चार उपवेद हैं–आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद एवं अर्थशास्त्र।

के समान कहे जाते हैं और स्वर्ग की उपलब्धि कराने वाले हैं। तन्त्रवार्तिक ने टिप्पणी की है कि आचरण केवल प्रामाणिक नहीं हो जाते कि उनके लिए कोई दृष्ट अर्थ की धारणा नहीं है; प्रत्युत वे वैसे इसलिए हैं कि उन्हें शिष्ट लोग धर्म के माग के रूप में व्यवहृत करते हैं। बहुत-से कर्म, यथा—कृषि, नौकरी या व्यापार, जो सम्पत्ति-प्राप्ति के साधन हैं तथा आनन्द दायक कर्म, यथा—स्वादिष्ट भोजन करना, मद्यपान करना, कोमल बिस्तर पर सोना, सुन्दर मकान या उद्यान की उपलब्धि, जिनमें सभी आर्यों एवं म्लेच्छों में पाये जाते हैं, लोगों द्वारा धर्म का माग नहीं कहे जाते और ऐसा नहीं कहा जा सकता कि कुछ कर्म, शिष्टों द्वारा धर्म कहे जाते हैं अतः उनके सभी कर्म धर्म कहे जायेंगे। कुमारिल ने इस परामर्श को उद्धृत किया है कि व्यक्ति को उस मार्ग का अनुसरण करना चाहिए जिससे उसके पिता, पितामह एवं अन्य पूर्वपुरुष गये थे और यदि वह मार्ग अच्छा हो और जिस पर चलने से उसकी कोई हानि न हो।[५९]

श्रुति (वेद), **स्मृति एवं सदाचार** (शिष्टों द्वारा व्यवहृत आचार जैसा कि मनु० १२।१०९ में उसकी व्याख्या उपस्थित की गयी है) के तुलनात्मक बल के विषय में गूढ़ प्रश्न उठ खड़े होते हैं। मिताक्षरा ने याज्ञ० (१।७, जहाँ धर्म के पाँच स्रोतों का उल्लेख हैं, यथा—श्रुति, स्मृति, सदाचार एवं दो अन्य) की व्याख्या में एक सामान्य नियम यह दिया है कि विरोध की स्थिति में पहले वाला अपने से आगे वाले से अपेक्षाकृत अधिक बलशाली होता है। मनु० (१।१२) में आया है कि जो लोग धर्म जानना चाहते हैं उनके लिए श्रुति सर्वोत्तम प्रमाण है। अतः श्रुति एवं स्मृति के विरोध में पहले वाला अर्थात् श्रुति वाला प्रमाण मान्य होता है। इस स्पष्ट नियम के विषय में भी कुछ अपवाद होते हैं, जिनका उल्लेख आगे किया जायेगा। किन्तु जहाँ दो स्मृतियों की बातों में विरोध होता है वहाँ षोडशी-न्याय एवं गौतम (१।५: 'तुल्य-बल विरोधे विकल्पः') के शब्दों के अनुसार सामान्य नियम विकल्प को मान लेना है। धर्मशास्त्र के बहुत-से ग्रन्थ ई० पू० ५०० के बहुत पहले प्रणीत हो चुके थे, क्योंकि गौतम (२१।७) ने मनु एवं 'आचार्याः' (३।३५ एवं ४।१८ में) का उल्लेख किया है और आप० ध० सू० (१।६।१९।२-१२) ने इस विषय में कि किसका भोजन ग्रहण किया जाय, कम से कम ९ लेखकों की सम्मतियों का उल्लेख किया है। मनु० (३।१६) ने उस ब्राह्मण की स्थिति के विषय में, जो शूद्र नारी से विवाह करता है, या जिसे उस स्त्री से पुत्र या बच्चा उत्पन्न होता है, चार ऋषियों द्वारा प्रदर्शित तीन मत दिये हैं। स्मृतियों के विरोध के विषय में एक प्रसिद्ध उदाहरण है, मनु० (३।१३), बौ० ध० सू० (१।८।२), विष्णुधर्मसूत्र (२४।१-४) वसिष्ठ (१।२५), पार० गृह्यसूत्र (१।४) का नियम, जो अनुलोम विवाह की अनुमति देता है और ब्राह्मण को शूद्र नारी से विवाह करने की अनुमति प्रदान करता है। याज्ञ० (१।५६-५७) उन लोगों की इस बात को नहीं मानते जो यह कहते हैं कि तीन उच्च वर्णों के लोग शूद्र नारी से विवाह कर सकते हैं। पश्चात्कालीन स्मृतिकारों एवं निबन्धकारों को यह कहना चाहिए था कि इस सिद्धान्त विरोध में विकल्प का सहारा लेना चाहिए। किन्तु वे ऐसा नहीं कहते। इस प्रकार की स्पष्ट विरोधी स्थितियों से हटने के लिए वे भाँति-भाँति के उपाय ढूंढ़ लेते हैं। प्रथम उपाय बृहस्पति (लगभग ५०० ई०) ने यह निकाला कि ऐसी स्थितियों में मनुस्मृति का स्थान सर्वोच्च है, क्योंकि यह वेदों का

५९. येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः। तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यते ॥ मनु० (४।१७८), तन्त्रवार्तिक (पृ० २११) द्वारा उद्धृत, जहाँ कुमारिल ने यों कहा है : 'येषां तु पितृभिर्ये मार्गा नाचरितः स्मृत्यन्तरप्रतिषिद्धश्च ते तं परिहरन्त्येव। अपरिहरन्तो वा स्वजनैर्विभिः हरिष्यन्ते। देखिए इस पर मेधातिथि एवं मिता० की टीकाएं।

वास्तविक मत प्रकाशित करती है और वह स्मृति जो मनु के कथन की विरोधी है, प्रशंसा का पात्र नहीं होती।[६०] किन्तु यह समाधान सन्तोषप्रद नहीं था अतः अन्य उपायों का आश्रय लिया गया। एक उपाय था स्वयं मनुस्मृति एवं अन्य ग्रन्थों में जो पहले ही नियम रूप में घोषित था, उसका विरोध करते हुए वचनों को रख देना। दो उदाहरण दिये जा सकते हैं। मनु (३।१३७), जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है) के विरोध में विद्यमान मनु (३।१४-१६) के श्लोक पाये जाते हैं जो उन तीन उच्च वर्णों के लोगों की भर्त्सना करते हैं, जो शूद्र नारी से विवाह करते हैं। मनु ने नियोग की प्रथा की अनुमति दे दी थी (९।५९-६२ में), किन्तु आज की मनुस्मृति (९।६४-६८) ने इसकी घोर निन्दा की है। ये विरोधी उक्तियाँ बृहस्पति को ज्ञात थीं, क्योंकि उन्होंने स्पष्ट कहा है कि मनु ने नियोग की अनुमति दी है और स्वयं वे उसे अमान्य ठहराते हैं और कारण बताते हैं, यथा—प्राचीन युगों (कृत एवं त्रेता) में लोग तप करते थे और ज्ञानवान थे। किन्तु द्वापर एवं कलि युगों में मनुष्य अतीत युगों के लोगों द्वारा प्राप्त शक्ति खो चुके हैं और इसी कारण नियोग वर्जित है। स्वयं याज्ञवल्क्य ने प्रस्तावित किया है (२।२१) कि जब दो स्मृतियों में विरोध हो तो गुरुजनों (अवस्था में बड़े लोगों) के व्यवहारों पर आधृत तर्क अपेक्षाकृत अधिक बलशाली होता है। नारद में ऐसा ही नियम दिया हुआ है।[६१] एक अन्य उपाय था यह उद्घोषित करना कि धर्म का स्वरूप चार युगों में अलग-अलग था तथा कृत, त्रेता, द्वापर एवं कलि युगों में धर्मों का प्रवर्तन क्रम से मनु, गौतम शंख-लिखित एवं पराशर द्वारा हुआ।[६२] इससे भी सभी कठिनाइयों का समाधान नहीं प्राप्त हो सका, क्योंकि मध्यकालीन टीकाकारों एवं निबन्धकारों को पता चला कि पराशर द्वारा जो आज्ञापित था (ब्राह्मण को अपने दास, गोपाल, नाई, कुलमित्र एवं अधिपरा अर्थात् जो खेत को जोतता-बोतता है और आधा भाग देता है, ऐसे शूद्रों के यहाँ भोजन करने की अनुमति थी तथा कुछ परिस्थितियों में स्त्रियों को पुनर्विवाह की अनुमति है)।

६०. वेदार्थोपनिबन्धृत्वात् प्राधान्यं तु मनुस्मृतौ। मन्वर्थ विपरीता या स्मृतिः सा न प्रशस्यते। बृहस्पति, याज्ञ० (२।२१) की व्याख्या में अपरार्क (पृ० ६२८) द्वारा तथा मनु० (१।१) की व्याख्या में कुल्लूक द्वारा उद्धृत। मनु० (२।७) ने यह अधिकार व्यक्त किया है कि उन्होंने धर्म पर जो कुछ कहा है वह वेद में घोषित है। मनुस्मृति में बहुधा वेद के वही शब्द आये हैं। यथा १।३१ एवं ऋ० (१०।९०।१२), २।२ एवं वाज० सं० (४०।२), ९।८ (जाया के विषय में) एवं ऐत० ब्रा० (३३।१, ७वीं गाथा), ९।३२ एवं ऐत० ब्रा० (३३-।३, चौथी गाथा)।

६१. उक्तो नियोगो मनुना निषिद्धः स्वयमेव तु। युगक्रमादशक्योयं कर्तुमन्यैर्विधानतः॥ बृहस्पति कुल्लूक द्वारा मनु० (९।६८) पर उद्धृत। और देखिए इस महाग्रन्थ का खण्ड ३, पृ० ८६६–८६७ पाद-टिप्पणी, १६८२–८३, जहाँ पर याज्ञ २।२१ के कई पाठान्तर एवं व्याख्याएँ दी हुई हैं। मिलाइए 'धर्मशास्त्र विरोधे तु युक्तियुक्तो विधिः स्मृतः।' नारदस्मृति (१।४०)।

६२. अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरेऽपरे। अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपतः॥ मनु० (१।८५)। यही श्लोक शान्तिपर्व (२३२।२७, चित्राओ संस्करण, २२४।२६) एवं पराशरस्मृति (१।२२७, जहाँ युगरूपानुसारतः आया है) में भी आया है; कृते तु मानवो धर्मस्त्रेतायां गौतमः स्मृतः. द्वापरे शंख लिखितः कलौ पाराशरः स्मृतः।। पराशरस्मृति (१।२४ (स्मृति च० द्वारा उद्धृत, १, पृ० ११)।

वह लोगों द्वारा अमान्य हो गया है।[63] स्मृतियों के विरोध की स्थितियों में एक अन्य उपाय गोभिल द्वारा उपस्थित किया गया है, यथा—जहाँ पर स्मृति-वाक्यों में विरोध हो वहाँ बहुमत की बात मानी जानी चाहिए।[64]

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, स्मृतियों का प्रणयन ई० पू० ५०० के पूर्व हो चुका था और उनका संकलन लगभग ६०० या १००० ई० तक होता रहा, अर्थात् उनका प्रणयन-काल लगभग १५०० वर्षों का है, याज्ञ० (१।४-५) ने अपने को जोड़कर १६ स्मृतियों का उल्लेख किया है। देखिए इस महाग्रन्थ का प्रथम खण्ड, जहाँ विभिन्न ग्रन्थों द्वारा वर्णित विभिन्न स्मृतियों की संख्या का उल्लेख हुआ है। यदि अधिक नहीं तो कम-से-कम सौ स्मृतियों के नाम बताये जा सकते हैं। १५०० वर्षों की इस लम्बी अवधि में भारतीय जनता की धार्मिक एवं सामाजिक भावनाओं, उनके आचारों एवं व्यवहारों में महान् परिवर्तन हुए होंगे। बौद्धधर्म उठा, बढ़ा और भारत से विलुप्त हो गया, जाति-प्रथा भोज्याभोज्य, विवाह एवं सामाजिक व्यवहार में कठोर एवं दृढ़ हो गयी; वैदिक कृत्य, पूजित देवगण एवं भाषा महान् परिवर्तनों के चक्कर में पड़ गयी, पशु-यज्ञ, जो कभी-कभी किये जाते थे, अब उतने उपयोगी एवं फलदायक नहीं माने जाते। अतः धार्मिक साहित्य का नये आदर्शों के अनुरूप परिष्कार होना आवश्यक था, यही नहीं, नयी पूजा एवं नये पूजकों के लिए धार्मिक साहित्य को स्वयं ढलना पड़ा। समय-समय पर भावनाओं, विश्वासों, पूजा एवं व्यवहारों में जो परिवर्तन दृष्टि गोचर हुए उन्हें स्मृतियाँ अपने में बाँधती रहीं और इसी से बहुत-से विरोधों की सृष्टि हो गयी। इसी से, ऐसा प्रतीत होता है कि १०वीं एवं आगे की शतियों के विद्वान् लोगों ने कुछ आचारों एवं व्यवहारों को, जो पहले आज्ञापित थे कलियुग में हानिकारक बताया। एक सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया कि बड़े-बड़े ऋषियों ने कलियुग के आरम्भ के समय एकत्र होकर ऐसी घोषणा की कि कुछ कृत्य, आचार एवं व्यवहार, जो पहले आज्ञापित थे, कलियुग में वर्जित होने चाहिए। कलियुग में निषिद्ध एवं वर्जित कर्मों (जो लगभग ५५ की संख्या में हैं) को 'कलिवर्ज्य' कहा जाता है। इस विषय में हमने इस महाग्रन्थ के खण्ड तीन में विस्तार के साथ पढ़ लिया है। मेधातिथि के भाष्य (मनु० ६।११२) से यह प्रकट है कि उनके काल (६ वीं शती) के बहुत पहले से बहुत-से लेखकों ने (मधुपर्क आदि में) गोवध, नियोग, सबसे बड़े पुत्र को अधिक रिक्थ देने की प्रथा की भर्त्सना कर दी थी और यह मत प्रकाशित कर दिया था कि ये व्यवहार एवं आचार केवल अतीत काल में ही कार्यरूप में परिणत होते थे।

कलिवर्ज्य के विषय पर कुछ गम्भीर विवेचना आवश्यक है। तीन कलिवर्ज्य ये हैं—नियोग, ज्योतिष्टोम में अवभृथ के उपरान्त अनुबन्ध्या गौ की आहुति एवं ज्येष्ठ पुत्र को पैतृक सम्पत्ति का अधिकांश देने पर निषेध। ये तीनों वेद द्वारा व्यवस्थित थे या आज्ञापित थे। ऋ० (१०।४०।२) से प्रकट होता है कि पति के आध्यात्मिक

६३. दास-नापित-गोपाल-कुलमित्रार्धसीरिणः। एते शूद्रेषु भोज्यान्ना यश्चात्मानं निवेदयेत्॥ पराशरस्मृति (११।२१)। मिलाइए याज्ञ० (१।१६६) जहाँ लगभग ऐसे ही शब्द हैं एवं 'स्वदासो नापितो गोपः कुम्भकारः कृषीवलः ब्राह्मणैरपि भोज्यान्ना पञ्चैते शूद्रयोनयः॥ देवल, अपरार्क (पृ० २४५, याज्ञ० १।१६८ पर) द्वारा उद्धृत। नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीवे च पतिते पतौ। पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते॥ पराशर स्मृति ४।३०, जिस पर पराशरमाधवीय (२।१, पृ० ५३) ने टिप्पणी दी है: 'अयं च पुनरुद्वाहो युगान्तरविषयः'।

६४. विरोधे यत्र वाक्यानां प्रामाण्यं तत्र भूयसाम्। गोभिलस्मृति, मलमासतत्त्व (पृ० ७६७) द्वारा उद्धृत।

उत्थान एवं कल्याण के लिए विधवा देवर से संभोग करके पुत्र उत्पन्न करती थी।[६५] तै० सं०, (३।१।९।४) में दो विरोधी वचन हैं—'मनु ने अपनी सम्पत्ति को अपने पुत्रों में बाँट दिया' (बिना किसी अन्तर के) तथा 'अतः वे ज्येष्ठ पुत्र को पैतृक सम्पत्ति देते हैं' (तै० सं० २।५।२।७)। इस अन्तिम वचन में यह तर्क दिया जा सकता है कि जब दो वैदिक वचनों में विरोध है तो विकल्प का आश्रय लिया जा सकता है। किन्तु बहुत प्राचीनकाल से सम्पूर्ण सम्पत्ति या अधिकांश बड़े पुत्र को देने पर प्रतिबन्ध था। आपस्तम्ब ने दोनों वैदिक वचनों को उद्धृत किया है और मत प्रकाशित किया है कि पुत्रों में बराबर विभाजन उचित नियम है और टिप्पणी की है कि ज्येष्ठ पुत्र को सम्पूर्ण सम्पत्ति या अधिकांश देना शास्त्रों के विरुद्ध है। उन कर्मों में जो कलि में वर्जित हैं किन्तु वेद के काल में व्यवहृत थे (तीन का उल्लेख ऊपर हो चुका है) कुछ निम्नलिखित हैं—(१) सत्रों के लिए दीक्षा लेना (सत्र ऐसे यज्ञ थे जो १२ दिनों या १२ वर्षों या और अधिक वर्षों तक चलते थे और केवल ब्राह्मणों द्वारा किये जाते थे), जैमिनि ने ६।६।१६-३२ में तथा अन्य स्थानों पर इसका उल्लेख एवं वर्णन किया है। यह द्रष्टव्य है कि शबर एवं कुमारिल ने सत्रों को कलिवर्ज्य के रूप में नहीं उल्लिखित किया है। इसी से कम-से-कम ८वीं शती तक यह सामान्यतः वर्णित कलिवर्ज्यों में परिगणित नहीं था। (२) गाय या बैल की हत्या। वैदिक युग में कतिपय अवसरों पर ऐसी हत्या होती थी। ज्यों-ज्यों मांस-भक्षण बुरा समझा जाने लगा गाय की बलि को लोग अति भर्त्सना की दृष्टि से देखने लगे और मध्य-काल के कलिवर्ज्य-सम्बन्धी ग्रन्थों ने इसको केवल वर्ज्यों की सूची में रख दिया है, वास्तव में, यह उनसे कई शतियों पहले से कलिवर्ज्य था।(३) सौत्रामणी यज्ञ में सुरा के प्यालों का आनन्द। जैमिनि, शबर एवं कुमारिल की टुप्टीका ने इसका वर्णन किया है और शबर एवं कुमारिल दोनों ने इसमें सुरापूर्ण प्यालों की आहुतियों की चर्चा की है। अतः यह कृत्य कुमारिल के काल के उपरान्त कलिवर्ज्य माना गया होगा। (४) वर (दूल्हे), अतिथि एवं पितरों के सम्मान में वैदिक मन्त्रों के साथ पशु-बलि। देखिए इस महाग्रन्थ का खण्ड २, पृ० ५४२-५४६ जहाँ मधुपर्क का उल्लेख है, जिसमें (ऐत० ब्रा० के अनुसार) बैल या गाय की बलि होती थी। मनु० (५।४१-४४) ने मधुपर्क, यज्ञों एवं पितरों के पिण्ड-दान या श्राद्ध के कृत्यों तथा देवों के लिए यज्ञों में पशुओं की बलि की अनुमति दी है और इस बात पर बल देकर घोषणा की है कि वेद की व्यवस्था के अनुसार पशु-बलि हिंसा नहीं है, प्रत्युत वह अहिंसा है। याज्ञ० (१।२५८-२६०) ने पितरों की सन्तुष्टि के लिए यज्ञिय भोजन (चावल या तिल), भाँति-भाँति की मछलियों एवं कतिपय पशुओं के मांस की आहुतियों के काल की अवधियों की व्यवस्था की है। मिताक्षरा को यह कहना पड़ा है कि यद्यपि याज्ञवल्क्य से स्पष्ट है कि श्राद्ध में यज्ञिय भोजन (चावल आदि), मांस एवं मधु की आहुतियाँ सभी वर्णों के लिए व्यव-

६५. को वां शयुत्रा विधवेव देवरं मर्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ।। ऋ० (१०।४०।२)। प्राचीन काल की नियोग-प्रथा के विवरण के लिए देखिए इस महाग्रन्थ का खण्ड २, पृ० ५९९–६०७। कुछ लोग इस श्लोक में पुनर्विवाह की गंध पाते हैं न कि नियोग की, किन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं है। मनु० (९।६५) का कथन है कि मन्त्रों में विवाह के सम्बन्ध में नियोग का उल्लेख नहीं है और न पुनर्विवाह की ही चर्चा विवाह विधि में हुई है। किन्तु गौतम तथा कुछ अन्य सूत्रकार और यहाँ तक कि याज्ञ० (१।६८–६९) भी नियोग की विधि आदि के विषय में व्यवस्थाएं देते हैं। सभी लेखक विधवा के पुनर्विवाह की विधि के विषय में पूर्णरूपेण मौन हैं। अतः यह कहा जाना चाहिए कि ऋ० (१०।४०।२) को प्राचीन ऋषियों ने नियोग की प्रथा के रूप में जो मान्यता प्रदान की है, वह ठीक है।

स्थित की गयी हैं, तथापि (उसके काल में) पुलस्त्य द्वारा स्थापित नियम का पालन होना चाहिए; यथा— ब्राह्मणों द्वारा मुनि के योग्य भोजन (अर्थात् चावल), क्षत्रियों एवं वैश्यों द्वारा मांस तथा शूद्रों द्वारा मधु (याज्ञ० १।२६०-२६१ पर मिताक्षरा की टीका)।

पूर्वमीमांसा के अनुसार वेद नित्य है, स्वयम्भू है और है परमोच्च प्रमाणवाला। यह नहीं समझ में आता कि ऋषियों को कलियुग के प्रारम्भ में, किस प्रकार अधिकार प्राप्त हो सका कि उन्होंने वेदविहित अथवा वेद द्वारा व्यवस्थित कृत्यों को वर्जित कर दिया। लगता है, यह एक मानस सृष्टि मात्र है जिसके द्वारा लोगों के विचारों एवं व्यवहारों के परिवर्तनों को धर्म का रूप दिया जा सका। उचित तो यह था, और इसी में ईमानदारी थी कि धर्मशास्त्रकार निर्भीक होकर यह कहते कि परिवर्तित दशाओं एवं परिवेश के कारण वेद एवं प्राचीन स्मृतियों की बातों एवं शब्दों को अब वह मान्यता नहीं मिलनी चाहिए और उनका अनुसरण नहीं करना चाहिए। ऐसा कहने में न तो कोई नवीनता प्रदर्शित करनी थी और न कोई क्रान्तिकारी कदम ही उठाना था, क्योंकि स्वयं मनु[६६] एवं याज्ञवल्क्य ने व्यवस्था दी है कि व्यक्ति को वह नहीं करना चाहिए या उसका परित्याग कर देना चाहिए जो पहले धर्म होने के कारण करणीय था किन्तु अब लोगों के लिए घृणास्पद हो गया है, दुःखदायक है तथा स्वर्ग की प्राप्ति की ओर नहीं ले जाता।

६६. परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ। धर्मं चाप्य सुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेव च॥ मनु०(४।१७६) विष्णुपुराण (३।२।७) में 'धर्मपीडाकरो नृप' एवं विद्विष्ट०' आया है; कर्मणा मनसा वाचा यत्नाद् धर्मं समाचरेत्। अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं धर्म्यमप्याचरेन्न तु॥ याज्ञ० (१।१५६), देखिए, विष्णुधर्मसूत्र (७१।१७-२१): (परिहरेत) धर्मविरुद्धौ चार्थकामौ लोकविद्विष्टं च धार्म्यमपि।; बृहन्नारदीयपु० (१।२४।१२) में आया है: "कर्मणा मनसा...चरेन्न तु; सर्वलोकविरुद्धं च धर्ममप्याचरेन्न तु। कूर्म० (१।२।५४); मिता० (याज्ञ० २।११७) में आया है: 'विषमोविभागः शास्त्रदृष्टस्तथापि लोकेविद्विष्टत्वान्नानुष्ठेयः' पुनः मिता० (याज्ञ० १।१५६) में आया है 'धर्म्यं विहितमपि लोकविद्विष्टं लोकाभिशस्तिजननं मधुपर्क गोवधादिकं नाचरेत् यस्मादस्वर्ग्यमग्नीषोमीयवस्स्वर्गसाधनं न भवति'। और देखिए मिता० (याज्ञ० ३।८) जहाँ चौथी, पाँचवीं, छठी, या सतवीं पीढ़ी के सपिण्डों के आशौच के विभिन्न दिनों के बारे में चर्चा है और एक स्मृति द्वारा स्थापित ऐसी व्यवस्था की ओर संकेत है जिसे छोड़ देना चाहिए 'तद्विगीतत्वान्नादरणीयम्। यद्यप्यविगीतं तथापि मधुपर्काङ्गपशवालम्भनवल्लोकविद्विष्टत्वान्नानुष्ठेयम्।'; स्मृतिच० (१, पृ० ७१) का कथन है, 'नब्रूमः शास्त्रतो ने परिणेयेति किन्तु लोकविरुद्धत्वात्। यच्च धर्म्यमपि लोकविरुद्धं तन्नानुष्ठेयम्। यदुक्तं मनुना-अस्वर्ग्यं०; वराहमिहिरोपि लोकाचारस्ताववादौ विचिन्त्यो देशे देशे या स्थितिः सैव कार्या'॥ शतपथब्राह्मण (३।४।१-२) में आया है: 'तस्मै (सोमाय') एतद्यथा राज्ञे वा ब्राह्मणाय वा महोक्षं महाजं वा पचेत्तदह मानुषं हविर्देवानामेवमस्मा एतदातिथ्यं करोति।' शतपथ० के समान ही वसिष्ठ धर्मसूत्र (४।८) एवं याज्ञ० (१।१०९) में व्यवस्था है। मध्यकालीन लेखक इस व्यवहार का समर्थन नहीं कर सके। विश्वरूप का कथन है कि बैल या बकरी तभी काटी जाती है जबकि अतिथि इस प्रकार की इच्छा प्रकट करता है। कल्पतरु (नियतकाल, पृ० १९०) वसिष्ठ एवं याज्ञ० को उद्धृत कर टिप्पणी देता है: 'अत्र गृहागतश्रोत्रिय तृप्त्यर्थं गोवधः कर्तव्य इति प्रतीयते तथापि कलियुगे नायं धर्मः किन्तु युगान्तरे,' किन्तु मिता० में व्याख्या की है: "उपकल्पयेत्, भवदर्थमयस्माभिः परिकल्पित इति तत्प्रीत्यर्थं न तु दानाय व्यापदनाय वा, 'अस्वर्ग्यं...न तु' इति निषेधाच्च।"

यहाँ तक स्वयं मिताक्षरा ने इन दोनों स्मृतियों की बात मान ली है और स्पष्ट रूप से कहा है कि यद्यपि शास्त्रों में सम्पत्ति का विभाजन असमान था, किन्तु उस नियम का अनुसरण नहीं करना चाहिए, क्योंकि अब लोग उसे घृणा की दृष्टि से देखते हैं। यह द्रष्टव्य है कि याज्ञ० एवं अन्य लोगों द्वारा प्रयुक्त शब्द है 'लोकविद्विष्ट' या 'लोकविकृष्ट' (लोगों द्वारा गर्हित या निन्दित) न कि 'शिष्ट-विद्विष्ट', धारणा यह है कि चाहे कट्टर विद्वान् लोग (पण्डित) इस बात पर बल दें कि लोगों को वेद एवं स्मृतियों द्वारा घोषित धर्म का अनुसरण करना चाहिए, किन्तु जन-साधारण को चाहिए कि वे उन आचारों का परित्याग कर दें जिन्हें वे गर्हित एवं कुत्सित समझते हैं। यह धारणा उन ऐतिहासिक तथ्यों की ओर संकेत करती है कि आचरणों एवं व्यवहारों का कालान्तर में परिवर्तन होता है और जन-साधारण वेदविहित बातों को भी छोड़ देता है। स्मृतियों की तो बात ही निराली होती है। इस प्रश्न का उत्तर कि लोग जब मामा की पुत्री से विवाह कर लेते हैं तो अपनी माता की बहन या माता की बहन की पुत्री से विवाह क्यों नहीं करते, स्मृतिचन्द्रिका ने इस प्रकार दिया है—'हम ऐसा नहीं कहते कि शास्त्र के मत से उस लड़की का वैसा विवाह नहीं हो सकता, प्रत्युत हम यह कहते हैं कि लोग इस प्रकार के विवाह को घृणा की दृष्टि से देखते हैं और इस विषय में इसने याज्ञ० (१।१५६) का उद्धरण दिया है (भ्रमवश यह उद्धरण मनु का कह दिया गया है)।

आधुनिक काल में जब धार्मिक या सामाजिक व्यवहारों में किसी परिवर्तन का निर्देश किया जाता है तो वे पण्डित, जो अपने को सनातनी कहते हैं, ऐसा घोषित करते हैं कि निर्देशित परिवर्तन शास्त्रों के विरुद्ध है, मतमतान्तर का निपटारा मीमांसा के नियमों के अनुसार होना चाहिए, सभी स्मृतियों की बातों एवं अन्य सिद्धान्तों को इस प्रकार रखना चाहिए कि समन्वय स्थापित हो सके तथा ऐतिहासिक आधार हमें उचित निर्णय नहीं देते, इसीलिए हमें उन पर आधृत नहीं होना चाहिए। इन सभी विद्वानों का विवेचन यहाँ पर संक्षेप में किया गया है। यह प्रदर्शित किया जा चुका है कि वैदिक काल से लेकर अब तक किस प्रकार धार्मिक विचारों, पूजा एवं आचरणों-व्यवहारों में महान् परिवर्तन हो चुके हैं, किस प्रकार गौतम, आपस्तम्ब, मनु० से लेकर आगे की स्मृतियों में इतने पारस्परिक मतभेद पाये गये हैं कि बहुत पहले ही, अर्थात् महाभारत के काल में ही व्यास को ऐसा कहना पड़ा[६७] कि 'तर्क अस्थिर है, वेद एक-दूसरे के विरोध में मत रखते हैं। कोई ऐसा मुनि नहीं है जिसका मत (सभी द्वारा) प्रामाणिक समझा जाय। धर्म के विषय में जो सत्य या तत्त्व है वह गुहा में छिपा हुआ है (अर्थात् उसे भली प्रकार नहीं जाना जा सकता) और तभी वही मार्ग अनुसरण करने योग्य है जो अधिक से अधिक लोगों द्वारा अनुसरित होता है'।

मीमांसा भी बहुधा हमें निश्चित निष्कर्षों की ओर नहीं ले जाती, जैसा कि हम देख चुके हैं, शबर, कुमारिल, प्रभाकर ऐसे मीमांसक कतिपय विषयों पर परस्पर विरोधी मत रखते हैं और यह भी आगे प्रदर्शित

६७. तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना नैको मुनिर्यस्य मतं प्रमाणम्। धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः। वनपर्व (३१३।११७, यक्षप्रश्न)। किन्तु यह श्लोक चित्रशाला संस्करण के वनपर्व (अध्याय २६७) में नहीं पाया जाता, यद्यपि वहाँ अन्य कतिपय प्रश्न एवं उत्तर मिलते हैं। 'महा...पन्थाः' का अर्थ यह भी हो सकता है कि अनुसरण करने योग्य मार्ग वह है जिसके अनुसार महान् व्यक्ति चलता है (या चलते हैं)। जनता या लोगों के समूह के अर्थ में 'महाजन' शब्द का प्रयोग शंकराचार्य ने वेदान्तसूत्र (४।२।७) में किया है, यथा—'एवमियमप्युत्क्रान्तिर्महाजनगतैवानुकीर्त्यते'।

किया जायगा कि स्वयं महान् मीमांसकों ने स्मृतियों के सरल वचनों की व्याख्या में विरोधी निष्कर्ष स्थापित कर दिये हैं। हमारे धार्मिक एवं सामाजिक विचारों के लम्बे इतिहास में परिवर्तन एक परम सत्य रहा है और वे लोग, जो ऐतिहासिक तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं, यही कहना चाहते हैं कि स्मृतियाँ मानव लेखकों द्वारा लगभग १५०० से २००० वर्षों की अवधि में लिखी गयीं और उन पर तत्कालीन धार्मिक एवं सामाजिक परिवेश का प्रभाव अवश्य पड़ा, उनके बहुत-से सिद्धान्त इस प्रकार नियोजित नहीं हो सकते कि उनसे कोई एक अविरुद्ध या स्थिर आचार-संहिता बन सके, वे सिद्धान्त सभी हिन्दुओं द्वारा सदा के लिए सामान्य नहीं हो सकते, बीसवीं शती में हमारी जनता वैसे परिवर्तनों को प्रतिष्ठित करने के लिए स्वतन्त्र है, जो आज के परिवर्तित वातावरण में या तो आवश्यक हैं या समाहित हो चुके हैं और यह विधि मनु, याज्ञवल्क्य तथा मिताक्षरा एवं कल्पतरु ऐसे मध्य कालीन धर्मशास्त्रकारों द्वारा आज्ञापित भी रही है। किन्तु यह बात स्पष्ट कर देनी है कि केवल परिवर्तन के नाम पर ही आचारों एवं सिद्धान्तों में परिवर्तन नहीं कर देना चाहिए, प्रत्युत परिवर्तन के पीछे सामान्य लोगों के भाव एवं आवश्यकताओं का होना नितान्त आवश्यक है और साथ ही साथ उन स्तम्भों को अक्षुण्ण रखना चाहिए जिन पर सहस्रों वर्ष से समाज आधृत रहा है।

यह भी जान लेना आवश्यक है कि मीमांसा के नियमों का सम्बन्ध यज्ञ सम्बन्धी कृत्यों एवं उनसे सम्बन्धित अन्य विषयों पर वैदिक वचनों की व्याख्या से है; यज्ञ सम्बन्धी एवं धार्मिक कृत्यों के व्यवहारों से उनका बहुत कम सम्बन्ध रहा है।[६८] मीमांसासूत्र ने ऐसा कहीं नहीं कहा है कि स्मृतियों की व्याख्या के लिए एक ही प्रकार के नियमों का प्रयोग होना चाहिए। प्रत्युत, दूसरी ओर स्वयं पू० मी० सू० (१।३। ३-४ एवं ७) स्मृतियों एवं आचार-व्यवहारों के विषय में गुणदोष विवेचक हैं। वेद एवं स्मृतियों में मौलिक या तात्विक अन्तर पाया जाता है। वेद स्वयम्भू, नित्य एवं परम प्रमाण है, किन्तु स्मृतियाँ पौरुषेय (मानव-कृत) एवं उपलक्षित अथवा उद्भूत प्रमाण वाली हैं। (वे उन वैदिक वचनों पर आधृत हैं, जिनका अधिकांश आज उपलब्ध नहीं है), उनकी संख्या बहुत बड़ी है, वे आपस में इतनी विरोधी हैं कि मिताक्षरा के समान प्रसिद्ध ग्रन्थों एवं लेखकों ने विभिन्न मतों के समन्वय के प्रयास को छोड़ दिया है और यहाँ तक कह दिया है कि कुछ स्मृतियाँ पूर्व कल्प या युग की हैं (ऐसे समाज के लिए लिखित है जो सहस्रों, लाखों वर्ष पुराना है। (पू० मी० सू० का एक प्रसिद्ध कथन है: 'सर्वशाखाप्रत्ययन्याय'[६९] या 'शाखान्तराधिकरणन्याय' (२।४।

६८. देखिए निर्णयसिन्धु (पृ० १२६) एवं हेमाद्रि (काल, पृ० १४४), जहाँ धर्मशास्त्र ने व्रतों एवं उत्सवों के विषय में मीमांसा के नियमों के प्रयोग को अमान्य ठहराया है। और देखिए स्मृतिचन्द्रिका (१।२४) एवं पराशरमाधवीय (१।२, पृ० ८३) जहाँ हारीत की बात की ओर संकेत है जो स्त्रियों के उपनयन की बात उठाते हैं, वहीं कुछ असुविधाजनक स्मृति-वचनों के सिलसिले में प्राचीन कल्पों एवं युगों की ओर भी संकेत किया गया है। पराशरमाधवीय (१, भाग २, पृ० ६७) ने मनु० (३।१३) की ओर निर्देश किया है जहाँ एक ब्राह्मण को शूद्रा स्त्री से विवाह करने की छूट दी गयी है, किन्तु मनु० (३।१४) ने पुनः इसका निषेध किया है। और देखिए 'युगादि तिथियों के विषय में मतमतान्तर, कृत्यरत्नाकर (पृ० ५४१-४२)।

६९. एकं वा संयोगरूपचोदनाख्याविशेषात्। पू० मी० सू० (२।४।९); शबर का कथन है 'सर्वशाखा-प्रत्ययं सर्वब्राह्मणप्रत्ययं चैकं कर्म' (जैमिनि २।४।९) पृ० ६३५-६३६); तन्त्रवार्तिक में आया है: 'एकस्या-

८-३३)। वेद के विभिन्न पाठान्तरों एवं उनसे सम्बद्ध ब्राह्मणों में एक ही कृत्य वर्णित है और वह कुछ और विस्तारों के साथ संवर्धित है जो कुछ पाठान्तरों में पाये जाते हैं और कुछ में नहीं। जैमिनि एवं शबर की स्थापना है कि वेद एवं ब्राह्मणों की सभी शाखाएँ एक ही दल से सम्बन्धित हैं तथा अग्निहोत्र एवं ज्योतिष्टोम ऐसे कुछ कृत्य सभी वैदिक पाठान्तरों में एक ही समान हैं, यद्यपि यत्र-तत्र विस्तार में कुछ अन्तर अवश्य है और यही उचित निष्कर्ष है। क्योंकि सभी पाठान्तरों में वही नाम (ज्योतिष्टोम आदि) पाया जाता है, अतः कृत्य का फल एक ही है, यज्ञ की सामग्रियाँ एवं देवता समान हैं और विधि वाक्य भी एक से ही हैं। यही बात अति प्राचीन काल से स्मृतियों में पायी जाती रही। विश्वरूप, मेधातिथि, मिताक्षरा[७०] अपरार्क तथा अन्य टीकाकारों ने इसे स्मृतियों के विषय में भी कहा है और व्यवस्था दी है कि जहाँ स्मृतियों में विरोध हो वहाँ विकल्प का आश्रय लेना चाहिए किन्तु अन्य बातों में अन्य विस्तार बढ़ा दिये जाने चाहिए। किन्तु विकल्प में आठ दोष पाये जाते हैं अतः किसी विषय पर सभी स्मृतियों के वचन इस प्रकार व्याख्यायित किये जाते हैं कि कोई विरोध खड़ा ही न हो या भाँति-भाँति के उपायों से किसी विकल्प का सहारा लेने की स्थिति ही न उत्पन्न होने पाती थी, यथा 'विषय-व्यवस्था', 'दूसरे कल्प या युग की ओर संकेत कर देना' आदि। उदाहरणार्थ, विकल्प सम्बन्धी प्रसिद्ध उदाहरण (अतिरात्र में षोडशी पात्र को ग्रहण करना या न करना) के विषय में मिताक्षरों में आया है कि यह मान लेना उचित है कि यदि यह करना सम्भव है तो उसे ग्रहण करना चाहिए, या यह मान लेना चाहिए कि षोडशी पात्र (प्याले) को अतिरात्र में ग्रहण करने से स्वर्ग प्राप्ति में शीघ्रता होती है।[७१] सभी स्मृतियों को एक शास्त्र मान लेने का परिणाम यह हुआ कि बहुत से सरल कृत्य अति विस्तारों के कारण कर्ता के लिए जटिल, कष्टकारक एवं बोझिल हो गये। किन्तु कभी-कभी इस सिद्धान्त का प्रयोग आवश्यक भी है। उदाहरणार्थ, याज्ञ० (१।१३५) में आया है कि स्नातक को सूर्य की ओर (नेक्षेतार्कम्) नहीं देखना चाहिए, इसका अर्थ होगा सूर्य की ओर ताकना सभी कालों में निषिद्ध है, किन्तु याज्ञ० का आदेश मनु० (४।३७) के आदेश के साथ पढ़ा जाना चाहिए, जो व्यक्ति को सूर्योदय या सूर्यास्त के समय या ग्रहण के समय या जल की छाया में या जब मध्याह्न हो सूर्य का दर्शन नहीं करना चाहिए। अतः नियम मनु द्वारा कहा हुआ समझा जायेगा।

मपि शाखायां ब्राह्मणानेकत्वेपि तदेव कर्मेत्यभिप्रायः। तद्यथोद्गातॄणां पंचविंश-षड्विंश-ब्राह्मणयोर्ज्योतिष्टोम-द्वादशाहौ ॥' मिलाइए सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात्। वे० सू० (३।३।१)।

७०. देखिए विश्वरूप (याज्ञ० १।४-५): 'न तावदाम्नायो धर्मशास्त्रभेदप्रतिपादकः, न च तत्प्रभवो न्यायः। अपितु श्रौतानां कृत्स्नोपसंहारात् तत्पूर्वकत्वाच्चतथैवात्रापि प्राप्नोति।'; देखिए मेधातिथि (मनु० २।२९); एवमन्येष्वपि विकल्प आश्रयणीयः, अविरोधिषु समुच्चयः। शाखान्तराधिकरणन्यायेन सर्वस्मृतिप्रत्ययत्वात्कर्मणः।' मिताक्षरा (याज्ञ० ३।३२५); देखिए अपरार्क (पृ० १०५३), स्मृतिचन्द्रिका (१, पृ० ५), मदनपारिजात (पृ० ११, ६१), शुद्धितत्त्व (पृ० ३७८-३८०), जलाशयोत्सर्गतत्त्व (पृ० ५२३)। मिताक्षरा (याज्ञ० १।४-५) ने व्यवस्था दी है:—'एतेषां (धर्मशास्त्राणां) प्रत्येकं प्रामाण्येपि साकांक्षाणामाकांक्षापरिपूरणमन्यतः क्रियते विरोधे विकल्पः'।

७१. न च षोडशिग्रहणाग्रहणवद्विषयमयोदपि विकल्पोपपत्तिरिति वाच्यं, यतस्तत्रापि सति सम्भवे ग्रहणमेवेति युक्तं कल्पयितुम्। यद्वा षोडशिग्रहणानुगृहीतेनातिरात्रेण क्षिप्रं स्वर्गादिसिद्धिरतिशयितस्य वा स्वर्गस्येति कल्पनीयम्। मिता० (याज्ञ० ३।२४३)।

स्मृतियों की प्रामाणिकता के विषय में चर्चा करते हुए जैमिनि, विशेषतः कुमारिल के वेदांग सम्बन्धी कथन पर ध्यान देना उपयोगी होगा । शिक्षा (स्वर या ध्वनिविद्या) के विषय में कुमारिल का कथन है कि उस ग्रन्थ में स्वरोच्चारण में प्रयुक्त अंगों के तथा वैदिक उच्चारणों के नियमों के विषय में जो वृत्तान्त है वह मन्त्रों के सम्यक् पाठ के लिए उपयोगी है। कल्पसूत्रों के विषय में जैमिनि ने एक पृथक् अधिकरण (१।३।११-१४) रख दिया है।[७२] शबर ने माशक, हास्तिक एवं कौण्डिन्यक कल्पसूत्रों के नाम लिये हैं और तन्त्रवार्तिक ने कल्प (श्रौत यज्ञों की विधि-क्रिया) एवं कल्पसूत्रों में अन्तर प्रकट किया है और नाम लेकर आठ की संख्या बतायी है ।

कुमारिल ने पू० मी० सू० के इन (१।३।११-१४) सूत्रों की व्याख्या कई प्रकार से की है, प्रथमतः कल्पसूत्रों की प्रामाणिकता की ओर संकेत करके (जैसा कि शबर ने किया है), द्वितीयतः सभी वेदांगों के संदर्भ में, तथा तृतीयतः बुद्ध तथा अन्य लोगों की स्मृतियों की ओर संकेत करके। बौद्ध ग्रन्थों ने अपने को स्मृति कहा है, जैसा कि मनुस्मृति (१२।९५) से प्रकट है[७३] : 'वे स्मृतियाँ जो वेद के बाहर हैं, तथा जो अन्य भ्रामक सिद्धान्त हैं, वे सभी निष्फल हैं, क्योंकि वे तम से आवृत (तमोमूल) हैं, अर्थात् अज्ञान से परिपूर्ण हैं।' अब हम यहाँ कुमारिल के मतानुसार वेदांगों के विषय में कुछ बातें कहेंगे। शबर एवं कुमारिल के अनुसार व्याकरण का निरूपण जैमिनि के १।३।२४-२९ सूत्रों में हुआ है । तन्त्रवार्तिक में कुमारिल ने स्वयं पाणिनि, कात्यायन (वार्तिक के लेखक) एवं पतञ्जलि (महाभाष्य के लेखक) के विरुद्ध बहुत-सी बातें कही हैं, जिनमें कुछ अति मनोरंजक हैं, किन्तु हम यहाँ पर स्थानाभाव के कारण उनका उल्लेख नहीं कर सकेंगे । कुमारिल का कथन है कि व्याकरण का सम्यक् विषय है यह निश्चित करना कि कौन-से शब्द शुद्ध हैं और कौन से अशुद्ध । यह मनोरंजक ढंग से द्रष्टव्य है कि व्याकरण के विरोध में पूर्वमीमांसासूत्र के दो सूत्र अति कटु हैं (८।१।१८ एवं ९।३।१८) ।

यास्क का निरुक्त, जो वेद के ६ अंगों में एक है, एक विशाल ग्रन्थ है और उसमें शब्दों की व्युत्पत्ति, भाषा-उत्पत्ति-शास्त्र तथा वेदों के सैकड़ों मन्त्रों की व्याख्याएँ पायी जाती हैं। जैमिनि को निरुक्त के कतिपय निष्कर्ष मान्य हैं । निरुक्त का कथन है कि बिना इसकी सहायता के वेद का अर्थ नहीं जाना जा सकता । इसका अपना एक विशिष्ट उद्देश्य है, यह व्याकरण का पूरक है। निरुक्त ने विस्तार के साथ कौत्स के इस मत का खण्डन किया है कि वैदिक मन्त्रों का कोई अर्थ (या उद्देश्य) नहीं है और बल देकर कहा है कि वेद के मन्त्रों का अर्थ या उद्देश्य है, क्योंकि उनके शब्द वही हैं जो बातचीत में प्रयुक्त होते हैं और ब्राह्मण-वचन

७२. के पुनः कल्पाः कानि सूत्राणि उच्यन्ते। सिद्धरूपः प्रयोगो यः कर्मणामनुगम्यते । ते कल्पा लक्षणार्थानि सूत्राणीति प्रचक्षते ।। कल्पनाद्धि प्रयोगाणां कल्पोऽनुष्ठानसाधनम् । सूत्रं तु सूचनात्तेषां स्वयं कल्पप्रयोगकम् ।। कल्पाः पठितसिद्धा हि प्रयोगाणां प्रतिक्रतु। तन्त्रवार्तिक (१।३।११ पर, प्रयोगशास्त्रमिति चेत्), पृ० २२९ । प्रमुख अन्तर यह है कि प्रत्येक वैदिक यज्ञ के लिए कल्प केवल विधि की व्यवस्था बताते या रखते हैं जो ज्यों-की-त्यों मौखिक रूप से चली जाती है, किन्तु कल्पसूत्रों में, यथा आश्वलायन, बैजवापि, द्राह्यायण, लाट्यायन एवं कात्यायन में संज्ञाएँ, परिभाषाएँ, सामान्य नियम, अपवाद, व्याख्याएँ आदि पायी जाती हैं ।

७३. या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः। सर्वास्ता निष्फला ज्ञेयास्तमोमूला हि ताः स्मृताः ।। मनुस्मृति (१२।९५) ।

के अनुसार जब ऋक्-पद्य या यजुस्-विधि सम्पादित होते हुए कृत्य की ओर संकेत करती है तो यज्ञ को पूर्ण रूप प्राप्त होता है। जैमिनि (१।२।४ एवं १।३।३०) का कथन है कि मन्त्र अर्थयुक्त हैं और वैदिक शब्द तथा संस्कृत के प्रचलित शब्द वही हैं और उनके द्वारा निर्देशित शब्द भी एक-से हैं (उन उदाहरणों को छोड़कर जिनमें वैदिक अक्षरों पर स्वर-भेद या दबाव डालने से अन्तर पड़ गया है)। शबर के भाष्य का प्रथम वाक्य भी यही कहता है। जैमिनि ने क्रियाओं एवं संज्ञाओं के संकेतों के विषय में निरुक्त की बात मान ली है। शबर ने बहुधा निरुक्त के शब्दों को उद्धृत किया है या स्पष्ट रूप से उनकी ओर संकेत किया है। यज्ञों में देवताओं के स्वभाव एवं कार्यों के विषय में जैमिनि ने निरुक्त की बात को मान्यता दी है।

कुमारिल ने एक सामान्य टिप्पणी की है कि सभी वेदांग एवं धर्मशास्त्र स्मृति के अन्तर्गत आ जाते हैं।[७४]

ऐसा प्रतीत होता है कि जैमिनि ने स्मृतियों को कोई विशेष महत्ता नहीं प्रदान की है, क्योंकि ९१५ (या १०००) अधिकरणों में केवल लगभग एक दर्जन बार स्मृतियों की ओर संकेत मिलता है, यथा १।३।१-२, १।३।३-४, १।३।११-१४, १।३।२४-२९, ६।२।२१-२२, ६।२।३०, ६।८।२३-२४, ७।१।१०, ९।२।१-२, १२।४।४३। किन्तु शबर ने इससे अधिक बार स्मृतियों की ओर संकेत किया है, यथा—६।१।५ एवं १३, ९।१६-९।

हमारा सम्बन्ध यहाँ पर जैमिनि एवं शबर तथा कुमारिल जैसे आरम्भिक टीकाकारों के स्मृति विषयक संकेतों से है। जैमिनि की स्थापित धारणा यह है कि वेद एवं स्मृति के विरोध में स्मृति को छोड़ देना चाहिए और यदि कोई विरोध न हो तो ऐसा समझा जाना चाहिए कि स्मृति वैदिक वचन पर आधृत है। इससे यह कहा जा सकता है कि यदि स्मृतियों की व्यवस्थाएँ वेद के विरोध में नहीं पड़तीं तो वे वेद पर आधारित हैं। स्मृतियों ने अष्टका श्राद्धों, जलाशयों के उत्खनन, गुरु की आज्ञाओं के पालन के लिए व्यवस्थाएँ दी हैं। ये बातें प्रामाणिक हैं, क्योंकि ये किसी वैदिक वचन के विरोध में नहीं पड़तीं। स्वयं स्मृतियों ने ऐसा कहा है कि वे वेद पर आधारित हैं। देखिए गौतम (११।१९) और मनु (२।७) में आया है—'मनु द्वारा किसी व्यक्ति के लिए जो धर्म उद्घोषित हुआ है, वह वेद में (बहुत पहले) ही कहा जा चुका है, क्योंकि वेद में सभी ज्ञान है।'

स्मृतियों एवं व्यवहारों के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है, यथा—यदि स्मृतियों एवं शिष्टों के आचारों एवं व्यवहारों में विरोध हो तो किसे प्रमाण माना जाय? कुमारिल का कथन है कि यदि शिष्टों के व्यवहार वेद एवं स्मृति में आज्ञापित बात के विरोध में न पड़ें तो उन्हें प्रामाणिक मानना चाहिए, किन्तु यदि वेद, स्मृति एवं शिष्टाचार में विरोध हो तो उनकी प्रामाणिकता समाप्त हो जायेगी।[७५] कुमारिल ने आगे कहा है कि स्मृति शिष्टाचार से अपेक्षाकृत अधिक प्रामाणिक है क्योंकि वह सीधे ढंग से वेद पर आधारित है, किन्तु व्यवहारों के विषय में ऐसा अनुमान लगाना पड़ेगा कि शिष्टों ने अपने आचार को किसी स्मृति

७४. स्मृतित्वं त्वङ्गानां धर्मसूत्राणां चाविशिष्टम्। तन्त्रवार्तिक (पृ० २८५, १।३।२७ पर)।

७५. शिष्टं यावच्छ्रुतिस्मृत्योस्तेन यन्न विरुध्यते। तच्छिष्टाचरणं धर्मे प्रमाणत्वेन गम्यते॥ यदि शिष्टस्य कोपः स्याद्विरुध्येत प्रमाणता। तदकोपात्तु नाचारप्रमाणत्वं विरुध्यते॥ तन्त्रवार्तिक (१।३।८ पर, पृ० २१६); पुनः पृ० २२० पर ऐसा आया है: 'उभयोः श्रुतिमूलत्वं न स्मृत्याचरयोः समम्। सप्रत्ययप्रणीता हि स्मृतिः सोपनिबन्धना॥ तथा श्रुत्यनुमानं हि निर्विघ्नमुपजायते। आचारात्तु स्मृतिं ज्ञात्वा श्रुतिर्विज्ञायते ततः। तेन द्व्यन्तरितं तस्य प्रामाण्यं विप्रकृष्यते॥' 'प्रत्यय' का अर्थ है 'ज्ञानं विश्वासो वा' (यथा, मनु आदि ऋषि हैं)।

पर आधृत रखा होगा, जो (स्मृति) स्वयं किसी वेद-वचन पर अवश्य आधृत रही होगी, अर्थात् व्यवहार स्मृतियों की अपेक्षा वेद से एक सीढ़ी पीछे है। इतना ही नहीं, यह विदित है कि स्मृतियाँ ऐसे लोगों द्वारा प्रणीत हुई हैं जो वेदज्ञ थे। किन्तु व्यवहारों एवं आचारों के मूल संदिग्ध एवं अनिश्चित हैं।

यद्यपि यह एक सैद्धान्तिक नियम है, जो वसिष्ठ (१।५), मिताक्षरा (याज्ञ० १।७ एवं २।११७), कुल्लूक (मनु २।१०) जैसे धर्मशास्त्र ग्रन्थों तथा ग्रन्थकारों द्वारा मान्य रहा है, तथापि अति प्राचीन काल से ही स्मृतियों के विरोध में आचार (व्यवहार) प्रचलित रहे हैं (यथा—मामा की पुत्री से विवाह-कर्म मनु एवं अन्य प्रामाणिक स्मृतियों द्वारा तिरस्कृत था)। व्यवहारमयूख (पृ० ९८) का ऐसा कथन है कि पुराणों में कुछ ऐसे आचार आते हैं जो स्मृति विरोधी हैं। कचहरियों ने ऐसा निर्णय किया है कि परम्परा से चला आया हुआ आचार सर्वोत्तम कानून (व्यवहार) है (आचारः परमो धर्मः, मनु १।१०८, जैसा कि सर विलियम जोंस ने अनूदित किया है)। मनु (२।१०) का कथन है कि वेद एवं स्मृति को सभी बातों के लिए तर्क पर नहीं कसना चाहिए, क्योंकि धर्म दोनों से निकल कर प्रकाशित हुआ है। मनु ने पुनः कहा है कि उन विषयों में जहाँ विशिष्ट व्यवस्थाएँ नहीं हैं, वे ब्राह्मण, जिन्होंने वेदांगों, मीमांसा, पुराणों आदि सहायक शास्त्रों के साथ वेद का अध्ययन किया है, जो कुछ कहते हैं वही धर्म है।

प्रिवी कौंसिल द्वारा ऐसी घोषणा की गयी है कि 'हिन्दू कानून के अन्तर्गत व्यवहार या आचार द्वारा स्थापित साक्ष्य लिखित कानून से बढ़कर है। अति प्राचीन काल से लोक-रीतियाँ (प्रयोग या प्रचलित व्यवहार) एवं आचार प्रामाणिक माने गये हैं। यथा गौतम (११।२०) में आया है—'देशों, जातियों एवं कुलों के व्यवहार प्रमाण हैं, जब कि वे वैदिक वचनों के विरोध में नहीं पड़ते हैं।' मनु (१।११८) का कथन है कि उन्होंने अपने शास्त्र में देशों, जातियों, कुलों, पाषण्डों एवं संघों की परम्परागत रीतियों एवं आचारों का समावेश किया है। कुछ विषयों में आधुनिक विधायिका संस्था लोकरीतियों एवं परम्परानुगत व्यवहारों को सर्वोच्च प्रामाणिकता प्रदान करती है।

कुछ कलिवर्ज्यों की समीक्षा में ऊपर हमने देख लिया है कि किस प्रकार बहुत से कृत्य, जो कलिवर्ज्य-सम्बन्धी ग्रन्थों में वर्जित हैं, वैदिक कालों में प्रयुक्त होते थे या वैदिक वचनों द्वारा व्यवस्थित थे।

कुमारिल ने स्पष्ट किया है कि अहिच्छत्र एवं मथुरा की ब्राह्मण-नारियाँ भी, उनके समय में, सुरापान करती हैं;[७६] उत्तर भारत के ब्राह्मण अयाल वाले घोड़ों (नील गाय), खच्चरों, ऊँटों, दो पाँतों में दाँत वाले पशुओं के विक्रय एवं दान में संलग्न रहते हैं और अपनी पत्नियों, बच्चों एवं मित्रों के साथ एक ही पात्र में खाते हैं; दक्षिणी ब्राह्मण मामा की पुत्री से विवाह करते हैं और वैदल (सींक या खमाची से बनी मचिया या मोढ़ा) पर बैठकर भोजन करते हैं; दोनों (उत्तरी एवं दक्षिणी ब्राह्मण) मित्रों या सम्बन्धियों द्वारा खा लेने पर (पात्रों में रखा) या उनसे (खाते समय) छुआ हुआ पका भोजन खा लेते हैं; वे तमोली (पान वाले) की दूकान पर पान के पत्ते,

७६. तन्त्रवार्तिक के इस कथन के लिए देखिए इस महाग्रन्थ का खण्ड ३, पृ० ८४८ (पाद-टिप्पणी १६४५); मामा की पुत्री के विवाह के विषय में विभिन्न मतों के लिए देखिए इस महाग्रन्थ का खण्ड २, पृ० ४५८-४६३; एक ही पात्र में पत्नी एवं बच्चों के साथ भोजन करने के विषय में देखिए इस महाग्रन्थ का खण्ड २, पृ० ७६५। घोड़ों एवं ऐसे पशुओं के दान के विषय में, जिनके दाँत दो पंक्तियों में होते हैं, देखिए इस महाग्रन्थ का खण्ड २, पृ० १८१ एवं जैमिनि (३।४।२८-३१)।

सुपारी, कत्था को एक में मोड़कर खा लेते हैं, पान खाने के अन्त में आचमन नहीं करते हैं; धोबियों द्वारा धोये गये एवं गदहों पर लाये गये कपड़ों को पहनते हैं; महापातकियों के संस्पर्श का परित्याग नहीं करते; व्यक्ति, जाति, कुल के लिए व्यवस्थित धर्म की सूक्ष्म आज्ञाओं के स्पष्ट विरोध में जाने वाले बहुत-से प्रमाण मिलते हैं जो श्रुति एवं स्मृति के सर्वथा प्रतिकूल हैं और उनके पीछे दृष्ट अर्थ है तथा इस प्रकार की अशुद्ध (मिश्रित) रीतियों एवं व्यवहारों को सदाचार द्वारा व्यवस्थित धर्म कहना सम्भव नहीं है। पूर्वमीमांसा-सम्प्रदाय के मतानुसार वैधानिक आचारों के लिए निम्नलिखित बातें अत्यावश्यक हैं, यथा—उन्हें प्राचीन अवश्य होना चाहिए, उन्हें श्रुति या स्मृति के स्पष्ट वचनों के विरोध में नहीं होना चाहिए, उनके पीछे शिष्टों की मान्यता होनी चाहिए, उनका पालन अन्तःकरण से होना चाहिए, उनके पीछे कोई दृष्टार्थ नहीं होना चाहिए और न उन्हें अनैतिक होना चाहिए। देखिए इस विषय के विस्तृत निरूपण के लिए इस महाग्रन्थ का खण्ड ३, पृ० ८५३–८५५।

आचारों एवं व्यवहारों अथवा लोक-रीतियों की मान्यता के विषय में धर्मशास्त्र के ग्रन्थों ने जो सामान्य नियम बनाये हैं वे पूर्वमीमांसा के नियमों की पद्धति पर ही हैं। देखिए इस महाग्रन्थ का खण्ड ३, पृ० ८७१–८८४। किन्तु वैदिक वचनों एवं स्मृतियों से क्रमशः विचलन होता रहा, जैसा कि हमने ऊपर देख लिया है।

कुमारिल के मतानुसार महान् पुरुषों द्वारा किये गये सभी कर्म सदाचार नहीं कहे जा सकते, विशेषतः वे कर्म जो लोभवश किये गये हों या किसी क्षुद्र वृत्ति के वशीभूत होकर किये गये हों; ऐसे कर्मों को धर्म की संज्ञा नहीं दी जानी चाहिए। गौतम,[७७] आप० ध० सू० एवं भागवत-पुराण का कथन है कि महान् व्यक्ति भी साहस एवं धर्मव्यतिक्रम करते पाये गये हैं। किन्तु वे महान् तपों से युक्त होने के कारण पाप के भागी नहीं हो सके (वे व्यतिक्रमों के प्रभावों से मुक्त हो गये), किन्तु पश्चात्कालीन लोग उन उदाहरणों का पालन करते हुए और उसी मार्ग पर चलते हुए पाप के भागी हो जाते हैं। कुमारिल ने इस प्रकार के बारह दोषों का उल्लेख किया है, उनकी व्याख्या की है और कहा है कि इनके मूल में क्रोध या अन्य वासनाएँ हैं, उन दोषपूर्ण कर्मों के कर्ता उन्हें धर्म की संज्ञा नहीं देते और न आधुनिक काल के लोग ऐसे कर्मों को सदाचार ही मानते। ये बारह उदाहरण इस प्रकार हैं—**प्रजापति** जिन्होंने स्वयं अपनी पुत्री (उषा, जैसा कि कुमारिल ने व्याख्या की है) को कामुक दृष्टि से देखा; **इन्द्र** जो अहल्या के जार (उपपति, प्रेमी) के रूप में उल्लिखित हैं (कुमारिल की व्याख्या के अनुसार अहल्या 'रात्रि' का द्योतक है); **वसिष्ठ** ने राक्षस द्वारा अपने सौ पुत्रों की हत्या के उपरान्त आत्महत्या करनी चाही; **विश्वामित्र** ने उस त्रिशंकु का पौरोहित्य किया, जो शाप से चाण्डाल हो गया था; **नहुष**, जिसने इन्द्र की स्थिति प्राप्त करने पर, इन्द्र की पत्नी शची को प्राप्त करना चाहा और अजगर बना डाला गया; **पुरूरवा**, जो उर्वशी से बिछुड़ जाने पर मर जाना चाहता था (फाँसी लगाकर या लटक कर); **कृष्ण-द्वैपायन**, जिन्होंने ब्रह्मचारी रहकर भी अपने सहोदर भाई विचित्रवीर्य की विधवाओं से पुत्र उत्पन्न किये; **भीष्म**, जिन्होंने अविवाहित रहने पर भी अश्वमेध यज्ञ किये; **धृतराष्ट्र**, जिन्होंने जन्मान्ध होने पर भी ऐसे यज्ञ किये,

७७. **दृष्टो धर्मव्यतिक्रमः साहसं च महताम्। अवादौर्बल्यात्। गौतम (१।३-४), दृष्टो धर्मव्यतिक्रमः साहसं च पूर्वेषाम्। तेषां तेजोविशेषेण प्रत्यवायो न विद्यते। तदन्वीक्ष्य प्रयुञ्जानः सीदत्यवरः। आप० ध० सू० (२।६।१३।७-९); देखिए भागवत (१०, पूर्वार्ध ३३।३०) : धर्मव्यतिक्रमरो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम्। तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा। मनु० (६।७१) का कथन है कि प्राणायाम एवं अन्य प्रयोगों से इन्द्रियों एवं मन की अशुद्धता दूर हो जाती है।।**

जिन्हें अन्धे लोग नियमानुकूल नहीं कर सकते (जैमिनि, ६।१।४२); **पाँचों पाण्डवों** ने एक ही नारी (द्रौपदी) से विवाह किया; **युधिष्ठिर** ने वाक्यछल से अपने गुरु द्रोण की मृत्यु करायी; **कृष्ण** एवं **अर्जुन** महाभारत में मद्य पिये हुए वर्णित हैं (उभौ मध्वासवक्षीबौ दृष्टौ मे केशवार्जुनौ, उद्योगपर्व ५९।५) और उन्होंने अपने मामा की पुत्रियों से विवाह किया था; **राम** ने सीता की स्वर्ण-प्रतिमा बनाकर अश्वमेध यज्ञ किया था ।

कुमारिल ने इन कतिपय दोषों के मार्जन के सिलसिले में जो तर्क दिये हैं वे उनकी महान् विदग्धता को प्रदर्शित करते हैं, कहीं तो उन्होंने तपों की चर्चा की है (यथा, विश्वामित्र के उदाहरण में) और कहीं पर उदाहरण को ही भ्रामक ठहराया है (यथा, सुभद्रा के विषय में जो कृष्ण की बहिन कही गयी हैं) ।[७८] देखिए विस्तार के लिए इस महाग्रन्थ का खण्ड ३, पृ० ८४५–८४८ ।

एक मनोरंजक अधिकरण है होलाकाधिकरण (जैमिनि १।३।१५–२३) । ऐसा कहा गया है कि होलाका का प्रयोग पूर्वदेशीय लोगों द्वारा, आह्नीनैबुक का दाक्षिणात्यों तथा उद्वृषभयज्ञ का प्रयोग उत्तर वालों द्वारा होना चाहिए । स्थापित निष्कर्ष तो यह है कि इस प्रकार के अनुष्ठान या कृत्य सभी के लिए हैं (केवल पूर्व या दक्षिण या उत्तर वालों के ही लिए नहीं), यदि वे पूर्व वालों या दक्षिण वालों के लिए उपयुक्त हैं तो कोई तर्क नहीं है कि वे उत्तर वालों के लिए उपयुक्त नहीं हैं । वैदिक विधियों के विषय में सामान्य नियम यह है कि वे सभी आर्यों द्वारा प्रयुक्त हो सकती हैं, इसके लिए कि उपर्युक्त अनुष्ठानों के लिए कोई नियन्त्रित वैदिक वचन है; कोई समीचीन तर्क नहीं दिखाई पड़ता । इस बात पर पूर्व विवेचन के लिए देखिए इस महाग्रन्थ का खण्ड ३, पृ० ८५१–८५३ । दायभाग (याज्ञ० २।४० एवं ६।२२-२३) ने इस दृष्टान्त की ओर संकेत किया है ।

धर्मशास्त्र के लेखकों द्वारा होलाकाधिकरण-न्याय का बहुधा उल्लेख हुआ है । विश्वरूप (याज्ञ० १।५३) ने सिद्धान्तसूत्र को उद्धृत किया है—'अपि वासर्वधर्मः तन्न्यायत्वाद् विधानस्य' (जैमिनि १।३।१६) और यह जोड़ा है कि यदि कोई बात कुछ लोगों के लिए उपयुक्त मानी जाती है तो वह सभी लोगों के लिए उपयुक्त है । इस अधिकरण के वास्तविक अर्थ के विषय में मध्यकालीन लेखकों में मतैक्य नहीं है । दायभाग (याज्ञ० २।४२) में आया है कि पूर्वदेश के लोगों द्वारा होलाका के प्रयोग से जिस श्रुति की ओर संकेत मिलता है वह मात्र 'सामान्य श्रुति' है कि होलिका कृत्य किये जाने चाहिए । दूसरी ओर शूलपाणि के प्रायश्चित्त विवेक की टीका में गोविन्दानन्द ने कहा है कि होलाकाधिकरण से इतना ही पता चलता है कि इस व्यवहार (प्रयोग) से यह श्रुति प्रकट होती है कि 'प्राच्य लोगों को होलाका का प्रयोग करना चाहिए', किन्तु यह सामान्य रूप में यों है—'किसी देश का आचार उस देश के लोगों द्वारा पालित होना चाहिए' ।[७९]

७८. आदिपर्व (२१९।१८, चित्राव संस्करण २१९।१८) ने सुभद्रा के विषय में स्पष्ट कहा है—'दुहिता वसुदेवस्य वासुदेवस्य च स्वसा ।' खण्डदेव के मीमांसाकौस्तुभ में आया है : 'एवमर्जुनस्य मातुलकन्यकायाः सुभद्रायाः परिणयेऽपि सुभद्राया वसुदेवकन्यात्वस्य साक्षात् क्वचिदप्यश्रवणात् ।' (पृ० ४८, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, १९२४) । यह एक ऐसा उदाहरण है जो इस बात का द्योतक है कि कभी-कभी कट्टर संस्कृत-लेखक अपने सिद्धान्तों की रक्षा में कुछ विचित्र बातों का आश्रय ले बैठते हैं ।

७९. तस्माद्यस्मादेवाचारात् स्मृतिवाक्याद्वा या श्रुतिरवश्यं कल्पनीया तयैव तद्गतस्याचारांशस्य स्मृतिपदस्य चोपपत्तेर्न तत्राधिककल्पनेति होलाकाधिकरणस्यार्थः । दायभाग (२।४२); प्राच्यैर्होलाका कर्तव्येति विशेषश्रुतिर्न कल्प्यते किंतु देशधर्मः कर्तव्य इति सामान्यत एव, अन्यथा देशान्तरे आचारान्तरात् श्रुत्यन्तरकल्पनागौरवं स्यादिति होलाकाधिकरणन्यायः । तत्त्वार्थकौमुदी (प्रायश्चित्तविवेक, पृ० १४२) ।

अध्याय ३०

धर्मशास्त्र से सम्बन्धित मीमांसासिद्धान्त एवं व्याख्या के नियम

वैदिक वाक्यों (वचनों, वक्तव्यों अथवा मूलपंक्तियों) की व्याख्या के लिए पूर्वमीमांसा ने अपनी एक विशिष्ट पद्धति एवं सिद्धान्तों का उद्भव किया है। अब हम उन सिद्धान्तों एवं नियमों का उल्लेख करेंगे, उनकी व्याख्या उपस्थित करेंगे और यह देखेंगे कि धर्मशास्त्र के लेखकों ने अपनी समस्याओं के समाधान के लिए किस प्रकार उनका प्रयोग किया है।

मीमांसा-सिद्धान्त और व्याख्या के नियम कई दलों में विभाजित हैं। कुछ ऐसे नियम हैं जो केवल वैदिक यज्ञों एवं उनके पारस्परिक सम्बन्धों के विस्तारों से सम्बन्धित हैं। इस क्षेत्र में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण नियम यह है कि केवल **विधियाँ** ही प्रामाणिक होती हैं और उन्हीं को मान्यता की शक्ति प्राप्त है, **अर्थवाद** वहीं तक प्रमाण हैं जहाँ वे विधियों के साथ एक पूर्ण वाक्य-रचना प्रदान करते हैं तथा विधियों की प्रशंसा में प्रयुक्त होते हैं (पू० मी० सू० १।२।७)। विधियाँ एवं अर्थवाद क्रमानुगत विवेचित नहीं हैं, प्रत्युत वे पू० मी० सू० के कतिपय अध्यायों में विकीर्ण हैं। उदाहरणार्थ, अर्थवादों का वर्णन प्रथमतः १।२।१-१८ (अर्थवादाधिकरण) में हुआ है, किन्तु बहुत-से अन्य स्थानों में उनके विषय में विवेचन हुआ है, यथा—३।४।१-६, ३।४।१०, ३।४।११, ४।३।१-३, ६।७।२६-२७, १०।८।५, १०।८।७ एवं ८ में।

यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि मीमांसा का सम्बन्ध किसी राजा या किसी सार्वभौम लोकनीतिक सभा द्वारा स्थापित विधान से नहीं है। यह धर्म (अर्थात् धार्मिक कृत्य एवं उनसे सम्बन्धित विषय) का सम्यक् ज्ञान देने की बात करती है और ज्ञान की प्राप्ति का साधन स्वयं वेद है तथा मीमांसा का प्रमुख उद्देश्य है वैदिक यज्ञों की प्रक्रिया (इतिकर्तव्यता) तथा उसके कतिपय सहायक एवं मुख्य विषयों को व्यवस्थित करना।[1]

नियम-व्यवस्था की व्याख्या एवं व्याख्या के मीमांसा-नियमों के बीच बहुत बड़ा अन्तर पाया जाता है। प्रथम बात यह है कि नियम तो मनुष्य-कृत होते हैं, वे नियामक या व्यवस्थापक की इच्छा को प्रकट करते हैं, उनके उद्देश्य अधिकांश में सांसारिक अथवा व्यावहारिक होते हैं, उनका सुधार हो सकता है या वे विलुप्त किये जा सकते हैं और अपने कर्ता के आशय के अनुसार व्याख्यायित हो सकते हैं। किन्तु मीमांसा का सम्बन्ध वेद

१. धर्मे प्रमीयमाणे तु वेदेन कारणात्मना। इतिकर्त्तव्यताभागं मीमांसा पूरयिष्यति॥ शास्त्रदीपिका पर युक्तिस्नेहप्रपूरणी (पृ० ३६, देवनाथ की अधिकरणकौमुदी (पृ० ३) एवं तन्त्ररहस्य द्वारा उद्धृत। स्वयं पू० मी० सू० (३।३।११) में 'इतिकर्त्तव्यता' शब्द आया है (असंयुक्तं प्रकरणादितिकर्त्तव्यतार्थित्वात्)। इसके पूर्ववर्ती सूत्र (भूयस्त्वेनोभयश्रुति) पर शबर ने टिप्पणी की है—'ये च भूयां सो गुणाः सेतिकर्तव्यता)' तथा पू० मी० सू० (११।२।८, अङ्गानि तु विधानत्वात्प्रधानेनोपदिश्येरंस्तस्मात्स्यादेकदेशत्वम्) पर शबर ने व्याख्या की है: 'विधानं कल्प इतिकर्त्तव्यतेत्यर्थः।'

से है जो नित्य है, स्वयम्भू है, जो धार्मिक विषयों की विवेचना करता है, जिसका सुधार नहीं हो सकता और न जो विलुप्त हो सकता है और जो वैदिक शब्दों के आशय के अनुसार ही व्याख्यायित होता है। अतः यद्यपि पूर्व-मीमांसा द्वारा विकसित वैदिक वचनों की व्याख्या के कुछ नियम मैक्सवेल के 'इण्टर प्रेटेशन आव स्टैच्यूट्स' जैसे ग्रन्थों में विकसित नियम-व्यवस्थाओं की व्याख्या के नियमों से मिलते-जुलते हैं। तथापि प्रस्तुत लेखक विस्तार के साथ इस विवेचन में नहीं पड़ेगा और न मीमांसा-नियमों तथा मैक्सवेल के नियमों की समानता के प्रदर्शन में लगेगा। आज से लगभग ५५ वर्ष पूर्व सन् १९०९ में 'टैगोर लॉ लेक्चर्स' में श्री किशोरी लाल सरकार ने इस प्रकार का कार्य किया था। उन दिनों आधुनिक विद्वानों द्वारा मीमांसा का अध्ययन अपनी आरम्भिक अवस्था में था, अतः अपने पूर्ववर्ती लेखक की मान्यताओं के विरोध में कुछ कहना उचित नहीं होगा। किन्तु इतना कहे बिना रहा नहीं जाता कि उस विद्वान् ने भरसक यही कहने का प्रयत्न किया कि जैमिनि के व्याख्या-सम्बन्धी नियम किसी भी प्रकार मैक्सवेल द्वारा स्थापित नियमों से हेय नहीं हैं और दोनों में बहुत साम्य है। ऐसा करने के लिए श्री सरकार बहुत खींचातानी करते हैं और जटिल व्याख्याएँ उपस्थित करते हैं। कहीं-कहीं तो ऐसा प्रकट होता है कि उन्होंने जैमिनि एवं शबर को ठीक से समझा भी नहीं है।[2]

इस ग्रन्थ में हमारा सम्बन्ध केवल पूर्वमीमांसा के उन सिद्धान्तों एवं व्याख्या-सम्बन्धी उन नियमों से है जो धर्मशास्त्र को प्रभावित करते हैं। हमने यह बहुत पहले देख लिया है कि मीमांसा के कितने सिद्धान्त एवं कितनी पारिभाषिक अभिव्यक्तियाँ धर्मशास्त्र को प्रभावित करती हैं। अब हम व्याख्या के नियमों का विवेचन उपस्थित करेंगे।

प्रथम नियम यह है कि वेद का कोई भी भाग (यहाँ तक कि एक शब्द भी) **अनर्थक** (अर्थहीन या उद्देश्य-हीन) नहीं है। इसी से वेद का अधिकांश विधियों की प्रशंसा में अर्थवाद के रूप में विवेचित हुआ है। यह बात ऊपर कही जा चुकी है (गत अध्याय)। पू० मी० सू० में विधियों को अति सम्मान दिये जाने के फलस्वरूप तथा अर्थवादों (जो केवल प्रशंसा के निमित्त आते हैं) और मन्त्रों (केवल अभिधायक के रूप में) को गौण रूप देने के कारण ब्राह्मणग्रन्थों का थोड़ा-सा अंश परमोच्च प्रमाण वाला हो गया है, जब कि ब्राह्मणों एवं संहिताओं का बहुलांश, जिसमें मन्त्र संगृहीत हैं, गौण महत्ता वाला रह गया है या कुछ भी महत्त्वपूर्ण नहीं रह पाया है।

विभिन्न दृष्टिकोणों से व्याख्या-सम्बन्धी मीमांसा-नियम कई श्रेणियों में विभाजित हो जाते हैं। कुछ तो सामान्य हैं और कुछ विशिष्ट। जब बहुत-से मूल वचन एक ही विषय से सम्बन्धित बातों की व्यवस्था करते हुए एक-दूसरे के विरोध में पड़ जाते हैं और श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान एवं समाख्या (३।३।१४) के प्रयोग को साधन मान लेते हैं तो कुछ नियमों को विशिष्ट विधि से संलग्न हो जाना पड़ता है, तथा कुछ नियम ऐसे हैं जिनका सम्बन्ध अधिकार, अतिदेश, ऊह, बाध, तन्त्र एवं प्रसंग से रहता है।

सामान्य नियमों के कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं। केवल विधियाँ ही विशिष्ट आवश्यक प्रमाण वाली होती हैं तथा अर्थवाद तभी प्रामाणिक होते हैं जब विधियों के साथ वाक्य-रचना की पूर्णता घोषित करते हैं। यह एक सामान्य नियम है। विधियों, नियम-विधियों एवं परिसंख्या-विधि के अन्तर को प्रदर्शित करने वाले नियम सामान्य होते हैं।

२. इस विषय में देखिए इस महाग्रन्थ का खण्ड ३, पृ० ८४१-८४२।

मीमांसा-नियम ऐसा है कि जब किसी वचन के किसी अंश के अर्थ के विषय में कोई सन्देह हो तो उस वचन के शेष भागों पर निर्भर रहकर उसका निराकरण किया जाता है।[3] देखिए तै० ब्रा० (३।२।५।१२) वाला उदाहरण, यथा—'अक्ताः शर्करा उपदधाति, तेजो वै घृतम्।' 'वह लेपित कंकड़ रखता है, वास्तव में घी दीप्तिमान् है।' किस वस्तु से कंकड़ पर लेप लगाया जाता है? इस सन्देह का निराकरण वाक्य के शेष अंश से हो जाता है, वह घी है, जिससे कंकड़ पर लेप लगाया जाता है (पू० मी० सू० १।४।२४)। मीमांसा वैदिक वचनों में मतभेद (या विरोध) उठाने का घोर विरोध करती है, इसी से जब कोई और चारा नहीं रह जाता तभी वह विकल्प की अनुमति प्रदान करती है। देखिए गत अध्याय में विकल्प-सम्बन्धी विवेचन। एक दूसरा सामान्य नियम यह है कि एकवचन में बहुवचन सन्निहित रहता है। मीमांसा में इसे 'ग्रहैकत्वन्याय' (पू० मी० सू० ३।१।१३-१५) कहा जाता है। ज्योतिष्टोम यज्ञ में देवताओं को सोम से पूर्ण कतिपय ग्रह (पात्र या कटोरे या प्याले) दिये जाते हैं और तीन सवनों (प्रातः, मध्याह्न, सायं सोम से रस निकालने) पर पिये जाते हैं। श्रुति में आया है—'दशापवित्रेण ग्रहं सम्मार्ष्टि' अर्थात् सफेद ऊन से बने झाड़न से या शोधनी से वह ग्रह को पोंछता है (स्वच्छ करता है)।' दर्श-पूर्णमास में ऐसा कहा गया है—'वह पुरोडाश (परोठा या रोट या रोटी) के चतुर्दिक् एक अग्निकाष्ठ या अंगार या मशाल (उल्का) ले जाता है।' अब प्रश्न यह है कि क्या एक ही ग्रह (क्योंकि 'ग्रह' शब्द आया है) स्वच्छ करना है तथा क्या एक ही पुरोडाश के चारों ओर मशाल ले जाना है या कई ग्रहों तथा पुरोडाशों से मतलब है? स्थापित निष्कर्ष तो यह है कि सभी पात्रों (प्यालों) को स्वच्छ करना है तथा सभी पुरोडाशों के चतुर्दिक् अंगार घुमाना है। यहाँ एकवचन पर ही नहीं आरूढ रहना है।[4] इसी से कुमारिल तथा अन्य लोगों द्वारा एक सामान्य नियम निकाला गया है कि **अनुवाद्य या उद्दिश्यमान** के विशेषण की ओर, जिसके विषय में पहले से ही कुछ (विधेय) कहा जाता है, संकेत नहीं किया जाता और न उस पर आरूढ रहा जाता है।[5] धर्मशास्त्र ग्रन्थों में इस बात पर निर्भर रहा जाता है। याज्ञ० (२।१२१) में आया है कि पितामह द्वारा प्राप्त भूमि, सम्पत्ति (चाँदी, सोना आदि) आदि पर पिता एवं पुत्र का बराबर भाग होता है। यहाँ 'पितामह' शब्द पर ही नहीं आरूढ रहना है, वही नियम प्रपितामह द्वारा प्राप्त भूमि एवं सम्पत्ति पर भी लागू होता है, जैसा कि व्यवहारमयूख में आया है।[6] इसी प्रकार नारद-स्मृति (१६।३७) में आया है—'अपृथक् भाइयों की धार्मिक पूजा (क्रिया-कर्म) समान

३. सन्दिग्धेषु वाक्यशेषात्। पू० मी० सू० (१।४।२४)। विषयवाक्य यह है:—'अक्ताः शर्करा उपदधाति तेजो वै घृतम्' (तै० ब्रा० ३।२।५।१२)। मिलाइए मैक्सवेल (पृ० २६); 'प्रत्येक वाक्य के शब्दों की व्याख्या इस प्रकार होनी चाहिए कि वे अन्य व्यवस्थाओं की संगति में बैठ जायें।'

४. देखिए मैक्सवेल (१९५३ का १०वाँ संस्करण), पृ० ३४६ जहाँ पुंल्लिंग शब्दों में स्त्रीलिंग तथा एक-वचन में बहुवचन तथा इनके विपरीत रूप की ओर निर्देश है।

५. ३।४।२२ पर टुप्टीका की टिप्पणी इस प्रकार है—'उद्दिश्यमानस्य विशेषणमविवक्षितमिति स्थितमेव' एवं १०।३।३६ पर टिप्पणी यों है—'उद्दिश्यमानस्य च संख्या न विवक्ष्यते ग्रहस्येव।'

६. व्यवहारमयूख में आया है—'वस्तुतस्तु पितामहपदमविवक्षितम्। अन्यथा प्रपितामहाद्युपात्ते सदृशस्वाम्य-स्याभावप्रसक्तेः। अनुवाद्यविशेषणत्वाच्च' (पृ० २६)। 'अनुवाद्य' का अर्थ वही है जो उद्दिश्यमान या उद्देश्य (विषय या कर्ता जिसके बारे में कुछ अर्थात् विधेय कहा जाता है) का है। 'अत्र अविभक्तानामित्युद्देश्योद्देश्यसमर्पकम्। भ्रातृणामिति तु तद्विशेषणत्वादविवक्षितम्' (व्य० म०, पृ० १३२)। मेधातिथि (मनु २।२९) ने कहा है—'न च

होती है, किन्तु पृथक् (विभाजित) हो जाने पर धार्मिक पूजा भी पृथक्-पृथक् होने लगती है।' यहाँ पर 'अपृथक् व्यक्तियों' मुख्य विषय है, एवं 'भाइयों' शब्द विशेषण या उपाधि रूप में है, जिस पर आरूढ होने की आवश्यकता नहीं है, अतः यही नियम अलग न हुए पितामह, पिता, पुत्रों, चाचाओं एवं भतीजों के विषय में भी लागू होता है। मेधातिथि (मनु २।२९) ने इस न्याय का उल्लेख किया है। यही नियम कुछ मामलों में (अर्थात् कहीं-कहीं) लिंग के लिए भी प्रयुक्त होता है, अर्थात् पुरुषों का द्योतक शब्द स्त्रियों को भी अपने में सम्मिलित करता है। उदाहरणार्थ, याज्ञ० (२।१८२) एवं नारद (८।४०) ने **दास** के विषय में कुछ नियमों की व्यवस्था की है। व्यवहारमयूख का कथन है कि इन वचनों में पुंल्लिंग (पुंस्त्व) पर ही सीमित नहीं रहना है, नियम स्त्रियों (दासियों) के लिए भी है।[7] इन नियमों के अपवाद भी हैं। 'ग्रहों' (प्यालों) के विषय का नियम 'चमसों' (चमचों) के लिए प्रयुक्त नहीं होता है (पू० मी० सू० ३।१।१६-१७)। यह नियम कि किसी विधि में, किसी विषय का विशेषण शाब्दिक अर्थ में नहीं लिया जाना चाहिए और न उस पर बल ही दिया जाना चाहिए, अन्य बातों के लिए भी प्रयुक्त होता है। कुछ गम्भीर अभियोगों में 'दिव्य'—सम्पादन के विषय में कल्पतरु (व्यवहार पर, पृ० २१०-२११) एवं व्यवहारमयूख (पृ० ४५-४६) ने कालिकापुराण से तीन श्लोक उद्धृत किये हैं और इस उक्ति (वचन या न्याय का कथन) का प्रयोग व्यवहारमयूख द्वारा इन शब्दों में हुआ है—'परदाररूपं विशेषणमविवक्षितमभिशापरयानुवाद्यत्वात्' (देखिए व्य० म०, पृ० ८३-८४)। किन्तु 'पशुमालभते' में, जहाँ 'याग' के विषय की विधि है, ऐसा अवश्य समझा जाना चाहिए कि जो व्यवस्थित हुआ है, वह याग है जिसमें पुंस (नर) पशु की बलि की व्यवस्था है, इसीलिए एक ही पशु (और वह भी नर पशु) की बलि दी जाती है।

यद्यपि वेद ने 'स्वर्गकामो यजेत' (स्वर्ग की इच्छा करने वाले को यज्ञ करना चाहिए) में पुंल्लिंग का प्रयोग किया है, किन्तु जैमिनि (६।१।६-१६) ने व्यवस्था दी है कि यहाँ स्त्रियाँ भी सम्मिलित हैं और उन्हें भी याग करने का अधिकार है।[8] जैमिनि ने आगे व्यवस्था दी है कि पति एवं पत्नी को एक साथ धार्मिक कर्तव्य करना चाहिए (६।१।१७-२१), किन्तु उन्होंने ऐसा कह दिया है कि जहाँ श्रुति ने कुछ विषयों को केवल यजमान (पुरुष कर्ता) द्वारा किये जाने की व्यवस्था दी है, वहाँ केवल पुरुष ही वैसा करेगा, क्योंकि मन्त्रों के ज्ञान में पत्नी पति के समान नहीं होती और वह अज्ञानी भी होती है, इसीलिए उसको उन्हीं कर्मों को करने की छूट है, जहाँ स्पष्ट रूप से व्यवस्था है, यथा—घृत की ओर देखना, ब्रह्मचर्य-पालन आदि (६।१।२४) 'तस्या यावदुक्तमाशी-

प्रधाने लिङ्गसंख्यादि विशेषणं विवक्ष्यते, ग्रहं संमार्ष्टीति सत्यप्येकवचने सर्वे ग्रहाः संमृज्यन्ते।' श्लोकवार्तिक ने उद्देश्य को यों परिभाषित किया है—'यद्वृत्तयोगः प्राथम्यमित्याद्युद्देश्यलक्षणम्। तद्वृत्तमेवकारश्च स्यादुपादेयलक्षणम्॥ वदत्यर्थं स्वशक्त्या च शब्दो वक्त्रनपेक्षया॥ अनुमानपरि०, श्लोक १०९-११०।

७. अस्मिन् प्रकरणे दासपदगत पुंस्त्वस्याविवक्षितत्वाद् दास्यामप्येष सर्वो विधिर्ज्ञेयः। व्य० म० (पृ० २१०)। देखिए व्यवहारमयूख (वीरमित्रोदय का भाग, पृ० ३२२)। ६।१।९ पर शबर ने ('पशुमालभेत') के विषय में टिप्पणी की है:—'इदं तु पशुत्वं यागस्य विशेषणत्वेन श्रूयते। तत्र पशुत्वस्य यागस्य च सम्बन्धो न द्रव्ययागयोः।' यथा पशुत्वं याग सम्बद्धमेवं पुंस्त्वमेकत्वं च। सोयमनेकविशेषणविशिष्टो यागः श्रूयते। स यथाश्रुत्यैव कर्तव्यः। उपादेयत्वेन चोदितत्वात्।' पृ० १३५९।

८. तस्मात्फलार्थिनी सती स्मृतिमप्रमाणीकृत्य द्रव्यं परिगृह्णीयाद्य जेत चेति। शबर (पू० मी० सू० ६।१।१३ पर)।

ब्रह्मचर्यमतुल्यत्वात्')।[९] पत्नी स्नान करती है और ऐसे कर्म करती है, यथा--अञ्जन लगाना, आचमन करना और जब तक प्रातःकालीन या सायंकालीन अग्निहोत्र चलता रहता है, मौन धारण करना। दर्शपूर्णमास तथा अन्य यज्ञों में उसे योक्त्र (मूंज के त्रिसूत्र) से अपनी कटि को मेखला के रूप में बाँधे रहना पड़ता है। उसे मन्त्र के साथ पात्र में घृत को देखना पड़ता है और वह मन्त्र है 'महीनां पयोऽस्योषधीनां रसोऽसि अदब्धेन त्वा चक्षुषाऽवेक्षे सुप्रजास्त्वाय' अर्थात् 'आप गौओं के दूध हैं, औषधियों के रस हैं, अच्छी सन्तान की प्राप्ति के लिए मैं निर्निमेष दृष्टि से देख रही हूँ' (तै० सं० २।१०।३)। इसके पूर्व कि पति पवित्र अग्नियों को स्थापित करे, पत्नी को अपने पिता या पति से यज्ञों में कहे जाने वाले मन्त्रों को सीख लेना चाहिए (देखिए इस महाग्रन्थ का खण्ड २, पृ० १०४१, पाद-टिप्पणी)। क्रमशः वैदिक यज्ञों में पत्नी की महत्ता समाप्त हो गयी और वह मात्र दर्शक रह गयी, वह यजमान (अपने पति) एवं पुरोहित द्वारा किये जाने वाले सभी कृत्यों को केवल घण्टों देखती रहती है।[१०]

वैदिक यज्ञों के विषय में स्त्रियों के अधिकारों पर उपर्युक्त प्रतिबन्धों के रहते हुए भी स्मृतियों ने स्त्रियों के लिए कुछ नियम बना दिये हैं, किन्तु वहाँ वचन पुंल्लिंग में रखा गया है। उदाहरणार्थ, मनु० (११।९३) ने व्यवस्था दी है कि किसी ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य को सुरापान नहीं करना चाहिए। मिताक्षरा (याज्ञ० ३।२५६) के मतानुसार यह निषेध तीन उच्च वर्णों के सदस्यों की पत्नियों के लिए भी है।

पू० मी० सू० में आया है कि विधिवाक्य में किसी शब्द के लिंग एवं वचन पर कुछ विषयों में ध्यान देना चाहिए और उस पर आरूढ़ भी होना चाहिए। उदाहरणार्थ, पू० मी० सू० (४।१।११-१६) में ऐसा स्थापित है कि ज्योतिष्टोम् में बलि दिया जाने वाला अग्निषोमीय पशु एक ही है जैसा कि 'यो दीक्षितो यद् अग्निषोमीयं पशुमालभति (जो व्यक्ति दीक्षा ले चुका है और अग्नि एवं सोम को पशु की बलि देता है) नामक वचन से स्पष्ट है। अश्वमेध के प्रसंग में जो ये शब्द आये हैं--'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते ग्रीष्माय कलविङ्कान. . . ' (वह वसन्त ऋतु के लिए कपिञ्जलों की बलि देता है) वहाँ बलि दिये जाने वाले कपिञ्जल पक्षी केवल तीन हैं (एक या दो नहीं और न तीन से अधिक)।[११] इसी प्रकार इस उक्ति

९. तस्मात्सर्वं यजमानेन कर्त्तव्यम्। आहृत्य विहितं पत्न्या च। टुप्टीका (६।१।२४ पर, पृ० १३७६)।

१०. कात्यायनश्रौतसूत्र (४।१३) की टीका में पद्धति की टिप्पणी यों है: 'उपवेशन-व्यतिरिक्तं पत्नी किमपि न करोतीति सम्प्रदायः। तच्च साधुतरम्। विद्वत्तया पुमानेव कुर्यादविदुषीतरा। वेदाध्ययनशून्यत्वात्। प्रतिषिद्धं हि तत्स्त्रियः॥' शास्त्रदीपिका (६।१।२४)

११. 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते ग्रीष्माय कलविङ्कान्. . आदि; यह वाज० सं० (२४।२०) एवं मैत्रा० सं० (३।१४।१) में आया है। इसे पू० मी० सू० (११।१।३१-४६) में कपिञ्जलन्याय कहा जाता है। 'कपिञ्जालान' में बहुवचन है और कम-से-कम तीन कपिञ्जलों की व्यवस्था है। सहस्रों कपिञ्जलों की बलि से अधिक फल नहीं प्राप्त होगा, क्योंकि केवल एक ही व्यवस्था दी हुई है न कि कतिपय अन्य संख्याओं की व्यवस्था। शास्त्रदीपिका में आया है: 'यो हि त्रीनालभते यश्च सहस्रं तयोरुभयोरपि बहुत्वसम्पादनमविशिष्टम्। . . . निवृत्तव्यापारे च विधौ, न हिरण्यादिति निषेध शास्त्रं प्रवर्तत इत्यधिकानालम्भः।' इसकी ओर पराशरमाधवीय (१।२।२८१) में संकेत है, यथा 'प्राणायामैरिति बहुवचनस्य कपिञ्जलन्यायेन त्रित्वे पर्यवसानात् त्रिभिः प्राणायामैः शुध्यति इत्यर्थः।' मिलाइए पू० मी० सू० (४।१।११); 'तथा च लिंगम्' पू० मी० सू० (४।१।१७)। तै० सं० (२।१।२।५) में यह वचन है: 'वसन्ते प्रातराग्नेयीं कृष्णग्रीवीमालभेत ग्रीष्मे मध्यन्दिने संहितामैन्द्रीं शरद-

में---'वह वसन्त में अग्नि को प्रातःकाल काली गर्दन वाला पक्षी, ग्रीष्म में मध्याह्न (दोपहर) काल में कई रंगों वाला पक्षी, शरद में बृहस्पति को श्वेत रंग का पक्षी देता है, मादा पक्षी की ओर संकेत है, क्योंकि उसके उपरान्त 'वे गर्भवती हो जाती हैं' (गर्भिणायो भवन्ति) शब्द आ जाते हैं। धर्मशास्त्र ग्रन्थ बहुधा कहते हैं कि बहुत-से वचनों में प्रयुक्त पुंल्लिग शब्दों में स्त्रियाँ सम्मिलित नहीं हैं। उदहरणार्थ, अग्निपुराण (१७५। ५६-६१) ने सामान्य रूप से सभी व्रतों में मान्य नियमों की चर्चा करते हुए व्यवस्था दी है कि व्रत करने वाले व्यक्ति को स्नान करना चाहिए, व्रतमूर्तियों (व्रतों वाले देवताओं की मूर्तियों) की पूजा करनी चाहिए, व्रत के उपरान्त जप एवं होम करना चाहिए, और सामर्थ्य के अनुसार दान करना चाहिए तथा २४, १२, ५ या केवल ३ विप्रों को भोजन देना चाहिए। निर्णयसिन्धु (पृ० २४) ने इसे पृथ्वीचन्द्र से उद्धृत किया है और कहा है कि यहाँ केवल पुंल्लिग शब्द 'विप्राः' आया है, अतः केवल ब्राह्मणों को ही भोजन देना चाहिए न कि स्त्रियों को भी।[१२]

इस नियम के विरोध में हेमाद्रि[१३] ने पद्म० को उद्धृत करते हुए लिखा है---'यदि कोई नारी गर्भवती हो, अभी-अभी जननक्रिया हुई हो (सौरी में हो), या बीमार हो या अशुद्ध हो गयी हो, तो उसे किसी अन्य व्यक्ति द्वारा व्रत करा लेना चाहिए, और जब वह शुद्ध हो जाय तो उस व्रत को स्वयं भी कर सकती है।' इस पर निर्णयसिन्धु का कथन है कि यह नियम पुरुषों के लिए भी लागू होता है, जब कि वे अशुद्ध हो जाते हैं, क्योंकि यहाँ पर लिंग पर आरूढ़ रहना आवश्यक नहीं है।

शब्दों एवं वाक्यों की व्याख्या के लिए मीमांसा ने नियमों का निर्देश किया है। सर्वप्रथम शब्द-सम्बन्धी कुछ नियमों के दृष्टान्त दिये जा रहे हैं---(१) शबर ने अपने भाष्य के प्रथम वाक्य में ही यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि जैमिनि के सूत्रों एवं वेद के शब्दों को यथासम्भव उसी अर्थ में लेना चाहिए जिसमें वे सामान्यतः प्रचलित आचार या प्रयोग में समझे जाते हैं, न कि उन्हें गौण या पारिभाषिक अर्थ के रूप में समझना चाहिए। यही नियम जैमिनि द्वारा (३।२।१-२) 'देवों के निवास-स्थान के लिए मैं 'बर्हिस्' को काटता हूँ' नामक मन्त्र में प्रयुक्त 'बर्हिस्' शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में प्रतिपादित हुआ है। यहाँ पर निष्कर्ष यह है कि 'बर्हिस्' शब्द को इसे प्रमुख अर्थ में, अर्थात् 'एक मुट्ठी कुश के अर्थ में लेना चाहिए, न कि इस गौण अर्थ के रूप में कि यह कुश है या कोई अन्य प्रकार की घास है। शबर ने निम्नलिखित निष्कर्ष उपस्थित किया है--- किसी शब्द के मुख्य एवं गौण अर्थों में प्रस्तुत कार्य के सिलसिले में मुख्य अर्थ को ही ग्रहण करना उचित

पराह्णे श्वेतां बार्हस्पत्याम्' एवं तै० सं० (२।१।२।६) में ऐसा आया है---'गर्भिणयो भवन्ति, इन्द्रियं वै गर्भ इन्द्रियमेवास्मिन् दधाति।'

१२. पृथ्वीचन्द्रोदयेऽग्निपुराणे--स्नात्वाव्रतवता सर्वव्रतेषु व्रतमूर्तयः। पूज्याः सुवर्णमय्याद्याः....व्रतान्ते दानमेव च। चतुर्विंश...पञ्च वा त्रय एव च। विप्रा भोज्या यथाशक्ति तेभ्यो दद्याच्च दक्षिणाम्। अत्र विप्रा इति पुल्लिंगनिर्देशात् पुमांस एव भोज्याः, न तु स्त्रियः। एवं सहस्रभोजनादावपि। विरूपशेषस्य प्रमाणान्तरं विनाऽयुक्तत्वात्। नि० सि० (पृ० २४)। इसने शबर के भाष्य (पू० मी० सू० ३।३।१७ एवं १६) पर भी निर्भर किया है।

१३. तथा हेमाद्रौ पाद्मे। गर्भिणी सूतिकादिश्च कुमारी वाथ रोगिणी। यदाः शुद्धा तदान्येन कारयत् प्रयता स्वयम्। इति पुंसोप्येष विधिः, लिङ्गस्याविवक्षितत्वात्। नि० सि० (पृ० २८)।

है।' शबर ने पुनः कहा है (१।३।३०) कि वेद एवं प्रचलित प्रयोग में शब्द एक-से हैं और उनके अर्थ भी एक-से ही हैं।[१४]

वैदिक अग्नियों की स्थापना के विषय में तै० ब्रा० (१।१।४) एवं आप० श्रौ० सू० (५।३।१८) ने तीनों वर्णों के लोगों के लिए विभिन्न ऋतुओं की व्यवस्था की है और ऊपर से जोड़ दिया है कि रथकार को वर्षा ऋतु में वैदिक अग्नियाँ रखनी चाहिए। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या इन वचनों में प्रयुक्त शब्द 'रथकार' उस जाति के किसी सदस्य का द्योतक है (अर्थात् क्या उसे लौकिक अर्थ में लिया जाय) या यह उस व्यक्ति का द्योतक है जो किसी भी वर्ण का हो किन्तु वह रथों का निर्माण करता है (पारिभाषिक अर्थ में) स्थापित निष्कर्ष यह है कि लौकिक अर्थ ही ग्रहण करना चाहिए, व्युत्पत्ति मूलक अथवा पारिभाषिक अर्थ नहीं (पू० मी० सू० ६।१।४४-५०)। रथकार के विषय में आधार (वैदिक अग्नियों की स्थापना) का मन्त्र है 'ऋभूणां त्वा' (तै० ब्रा० १।१।४।८)। यद्यपि रथकार तीन उच्च वर्णों का व्यक्ति नहीं था, किन्तु वह उस मन्त्र का उच्चारण कर सकता था, क्योंकि श्रुति ने स्पष्ट रूप से उसके लिए व्यवस्था की है किन्तु वह उपनयन संस्कार नहीं कर सकता था। पू० मी० सू० (६।१।५०) ने तै० ब्रा० एवं आप० श्रौतसूत्र में उल्लिखित 'रथकार' को जाति का द्योतक माना है जिसे सौधन्वन कहा जाता है जो न तो शूद्र है और न तीन उच्च वर्णों में परिगणित है, प्रत्युत वह उनसे थोड़ा हेय है। देखिए इस महाग्रन्थ का खण्ड २, पृ० ४५-४६। संस्कारकौस्तुभ (पृ० १६८) ने तर्क उपस्थित किया है कि यदि एक बार हिन्दू-विधवा को गोद लेने का अधिकार दे दिया गया तो केवल यह तथ्य कि वह सामान्य रूप से वैदिक मन्त्रों के उच्चारण की अधिकारी नहीं है, उसे उस अधिकार से वंचित नहीं कर सकता और ऐसी धारणा रखना सम्भव है, जैसा रथकार के विषय में कहा गया है। अर्थात् वह किसी बच्चे को गोद लेते समय किसी विशिष्ट वेद मन्त्र का उच्चारण कर सकती है। तै० सं० (४।५।४।२) ने कतिपय शिल्पियों अथवा कर्मकारों का उल्लेख किया है, यथा—तक्ष, रथकार, कुलाल, कर्मार आदि। अथर्ववेद (३।५।६) एवं वाज० सं० (३०।६ 'मेधायै रथकारं धैर्याय तक्षाणम्') से प्रकट होता है कि उन दिनों समाज में रथकार की स्थिति अच्छी थी।

शब्द को उसके उस अर्थ की छाया (या संदर्भ) में समझना चाहिए जो उपस्थित या प्रस्तुत क्रिया के समीचीन हो। उदाहरणार्थ, श्रुति का कथन है—'वह स्रुव से काटता है, वह चाकू से काटता है, वह हाथ से काटता है' (सभी स्थानों में क्रिया 'अवद्यति' ही है। प्रश्न यह है—क्या सभी प्रकार के हविपदार्थ चाहे वे तरल हों या अद्रव (कठोर या कड़े), या वे मांस के रूप में हैं या अन्य द्रव्यों के रूप में, क्या स्रुव से ही काटे जायँ ? या व्यक्ति को उस हवि (द्रव्य) के अनुरूप ही किसी यन्त्र का उपयोग करना चाहिए ? यथा—घृत पात्र से स्रुव द्वारा निकाला और दिया जाता है, मांस चाकू से काटा जाता है और तब अग्नि में डाला जाता है तथा कठिन या मोटी वस्तुएँ (यथा—समिधा) हाथ द्वारा अग्नि में डाली जाती हैं। निष्कर्ष यह है कि हवि के प्रकार के अनुरूप ही उसका प्रदान किया जाता है। इसे ही 'सामर्थ्याधिकरण' (पू० मी० सू० १।४।२५) कहा जाता है।[१५] व्यवहारमयूख ने पितामह द्वारा व्यवस्थित दिव्यों की

१४. य एव लौकिकाः शब्दास्त एव वैदिकास्त एवैषामर्था इति। शबर (१।३।३०)

१५. अर्थाद्वा कल्पनैकदेशत्वात्। पू० मी० सू० (१।४।२५); शबर ने उद्धृत किया है: 'स्रुवेणावद्यति, स्वधितिनावद्यति हस्तेनावद्यति, इति श्रूयते। किं स्रुवेणावदातव्यं सर्वस्य द्रवस्य संहतस्य मांसस्य च। तथा स्वधितिना

चर्चा करते हुए उपर्युक्त वचन का सहारा लिया है और कहा है--'घृत, पके चावल एवं समिधा आदि के साथ चारों दिशाओं में होम करना चाहिए' और घोषित किया है कि 'घृत का होम स्रुवा से, हवि (पके चावल आदि का) का होम स्रुचा (एक चम्मच) से तथा समिधा का (दाहिने) हाथ से होम करना चाहिए, क्योंकि ये साधन उनके (घृत, हवि एवं समिधा के) लिए उपयुक्त हैं। व्यवहारमयूख ने ऐसा कहते हुए रघुनन्दन की आलोचना की है, क्योंकि रघुनन्दन ने दायतत्त्व में ऐसी व्यवस्था दी है कि इन तीनों का होम एक साथ होना चाहिए, पृथक्-पृथक् नहीं। तै० सं० (१।६।८।२) में वर्णित दस यज्ञिय उपकरणों के लिए भी यही नियम प्रयुक्त होता है, यथा--स्फ्य (लकड़ी की तलवार), घटशकल (तवा) आदि। यहाँ पर पूर्वपक्ष यह है कि यज्ञ में किसी उद्देश्य के लिए इनमें से कोई भी पात्र प्रयुक्त हो सकता है; स्थापित निष्कर्ष यह है (पू० मी० सू० ३।१।११ एवं ४।१।७-१०) कि दस उपकरणों का उल्लेख केवल अनुवाद है और यह वर्णन पूर्वपक्ष के कथन के अनुसार नहीं समझा जाना चाहिए, प्रत्युत इनमें से प्रत्येक का उपयोग उसी उद्देश्य से होना चाहिए जिसके लिए वैदिक वचनों में व्यवस्था है (यथा--घटशकल पर पुरोडाश पकाया जाता है), ओखली में मूसल से चावल कूटा जाता है। देखिए इस महाग्रन्थ का खण्ड २, पृ० ६८५ पाद-टिप्पणी २२३३, जहाँ दस उपकरणों (यज्ञपात्रों या यज्ञायुधों) आदि का उल्लेख है।[16]

एक ही वाक्य में एक ही शब्द का प्रयोग दो अर्थों में नहीं होना चाहिए, अर्थात् मुख्य एवं गौण दोनों अर्थों में प्रयोग नहीं होना चाहिए।[17] दायभाग (३।२९-३०, पृ० ६७) ने इस उक्ति का सहारा लिया है। जब भाई (एक ही माँ के पुत्र) बँटवारा करते हैं तो याज्ञ० (२।१२३) ऐसी स्मृतियों ने व्यवस्था दी है कि माँ को भी पुत्र के बराबर ही भाग मिलता है। इस पर दायभाग ने टिप्पणी की है कि 'माता' शब्द (याज्ञ० २।१२३)आदि में का मुख्य रूप से अर्थ है--जननी (जन्म देने वाली), इस स्मृति-नियम का सम्बन्ध विमाता से नहीं है, क्योंकि एक ही वाक्य में एक ही शब्द मुख्य एवं गौण अर्थ में प्रयुक्त नहीं होता। किन्तु इतना कह देना आवश्यक है कि सभी धर्मशास्त्र ग्रन्थ इस नियम को नहीं मानते। अपरार्क (पृ० ७३०) ने याज्ञ०

हस्तेन च उत सर्वेषमार्थतो व्यवस्था।' पूर्वपक्ष यह है: ('अविशेषाभिधानादव्यवस्थेति।' निष्कर्ष यह है: 'अर्थाद्वा कल्पना, सामर्थ्यात्कल्पनेति स्रुवेणावद्येद्यथा शक्नुयात् तथा यस्य शक्नुयात् तस्य चेति। आख्यातशब्दानामर्थं ब्रुवतां शक्तिः सहकारिणी। एवं चेद्यथाशक्ति व्यवस्था भवितुमर्हति। तथा अञ्जलिना सक्तून प्रदाव्ये जुहोति इति।' यह अन्तिम तै० सं० (३।३।८) से उद्धृत है। देखिए व्य० म० (पृ० ५४) जहाँ प्रस्तुत लेखक ने इस उक्ति की व्याख्या प्रस्तुत की है। उपर्युक्त वचन पर शास्त्रदीपिका ने यह टिप्पणी दी है: 'तस्माच्छक्तिसहायो विधिरेव यथा सामर्थ्यं विधेयं व्यवस्थापयति।'

१६. तै० सं० (१।६।८।२-३) में आया है: यो वै दशयज्ञायुधानि वेद मुखतोस्य यज्ञः कल्पते स्फ्यश्च कपालानि चाग्निहोत्रहवणी च शूर्पं च कृष्णाजिनं च शम्या चोलूखलं च मुसलं च दृषच्चोपला चैतानि वै दशयज्ञायुधानि।' शेष बातें देखिए इस महाग्रन्थ का संक्षिप्त अनुवाद भाग १, पृ० ५१३, पाद-टिप्पणी।

१७. अन्यायश्चानेकार्थत्वम्। शबर (३।२।१ एवं ७।३।३); न ह्येकस्य शब्दस्यानेकार्थता सत्यां गतौ न्याय्या। शबर (८।३।२२)। देखिए शबर (९।४।१८) पर भी। शंकराचार्य ने अपने भाष्य (ब्रह्मसूत्र २।४।३) में इस नियम को अति स्पष्ट ढंग से रखा है: 'न ह्येकस्मिन्प्रकरणे एकस्मिश्च वाक्ये एकः शब्दः सकृदुच्चरितो बहुभिः सम्बध्यमानः क्वचिन्मुख्यः क्वचिद् गौण तत्यध्यवसातुं शक्यम्। वैरूप्यप्रसंगात्।

(२।१२३, पितुरूर्ध्वं विभजतां माताप्यंशं समं हरेत) की टीका में लिखते हुए व्यास की उक्ति के आधार पर 'माता' शब्द के अन्तर्गत 'विमाता' को भी रखा है। मिताक्षरा (याज्ञ० २।१३५) ने रिक्थ की प्रतिबन्धनीयता की चर्चा करते हुए पत्नी, पुत्रियों, माता-पिता, भाइयों, उनके पुत्रों के क्रम को उपस्थित किया है और व्यवस्था दी है कि सर्वप्रथम सहोदर भाई दाय पाते हैं, उनके अभाव में सौतेले भाई लोग, उनके अभाव में भाई के पुत्र। व्यवहारमयूख (पृ० १४२) इससे मतैक्य नहीं रखता और कहता है कि 'भ्राता' शब्द का मुख्य अर्थ है सौतेला भाई, इसका गौण अर्थ ही भाई' है ; एक ही वाक्य में एक ही शब्द को दो अर्थों में प्रयुक्त नहीं करना चाहिए, अतः सहोदर भाई के अभाव में उसका पुत्र ही दाय पाता है (न कि सौतेला भाई, जैसा कि मिताक्षरा में आया है)। शब्द का मुख्य अर्थ 'अभिधा' से प्राप्त होता है, गौण अर्थ 'लक्षणा' से और कभी-कभी तीसरा अर्थ व्यञ्जना से प्राप्त होता है।[१८] ये ही एक शब्द की तीन वृत्तियाँ (क्रियाएँ अथवा कर्म) कही जाती हैं।

शब्दों की व्याख्या के लिए निर्णीत नियमों में एक पू० मी० सू० (१।३।८-९) में पाया जाता है। शबर ने शब्दों के तीन दृष्टान्त दिये हैं, यथा—यवों से बना चरु, सूअर (वराह) के चर्म से बनी पादुकाएँ तथा वेतस से बनी चटाई। यव, वराह एवं वेतस शब्द कुछ लोगों द्वारा क्रम से 'प्रियङ्गु' (पिप्पली), कौआ एवं जम्बू (काली बेर) के अर्थ में लिये जाते हैं। प्रथम दृष्टि में लगता है कि इन शब्दों को दोनों में से किसी भी अर्थ में प्रयुक्त किया जा सकता है। सिद्धान्त यह है कि इन शब्दों को उसी अर्थ में प्रयोग करना चाहिए जिस अर्थ में वेद (या शास्त्र) या शिष्ट लोग उन्हें प्रयुक्त करते हैं, अर्थात् जहाँ शब्दों के कई अर्थ हों वहाँ विद्वान् आर्य लोगों के प्रयोग का अनुसरण करना चाहिए।[१९] कुमारिल ने बहुत-से दृष्टान्तों के

१८. तन्त्रवार्तिक (पृ० ३५४, १।४।१२ पर) के अनुसार लक्षणा एवं गौणी में थोड़ा-सा अन्तर देखिए 'अभिधेयाविनाभूते प्रतीतिर्लक्षणेष्यते। लक्ष्यमाण गुणैर्योगाद्वृत्तेरिष्टा तु गौणता। वनित्वलक्षितादर्थाद्यत्पं-ङ्गल्यादिगम्यते। तेन माणव के बुद्धिः सादृश्यादुपजायते।। 'गंगायां घोषः' लक्षणा है (गंगातीरे घोषः), है (अग्निर्मा-णवकः (लड़का अग्नि है) गौणीवृत्ति का उदाहरण है (उभयनिष्ठ गुण की प्राप्ति, अर्थात् दोनों में किसी एक गुण का अस्तित्व) गौणी लक्षण का एक प्रकार मात्र है। लक्षणा का बहुधा प्रयोग होता रहता है। लड़के में अग्नि के कुछ गुण विद्यमान रहते हैं, यथा अति पिंगल रंग, आदि, अतः यहा पर 'अग्नि' लाक्षणिक ढंग से लड़के लिए भी प्रयुक्त हुआ है।

१९. तेष्वदर्शनाद्विरोधस्य समा विप्रतिपत्तिःस्यात्। पू० मी० सू० (१।३।८); यवमयश्चरुः वाराही उपानहौ, वैतसे कटे प्राजापत्यान् सञ्चिनोति इति यववराहवेतसशब्दान समामनन्ति। तत्र केचिद्दीर्घशूकेषु यव-शब्दं प्रयुञ्जते केचित्प्रियङ्गुषु। वराह शब्दं-केचित्सूकरे केचित्कृष्ण शकुनौ। वैतसशब्दं केचिद्वञ्जुलके केचि-ज्जम्ब्वाम्। शबर। सिद्धान्तसूत्र यों है: 'शास्त्रस्था वा तन्निमित्तत्वात। पू० मी० सू० (१।३।९); शबर ने व्याख्या की है: 'यः शास्त्रस्थानां स शब्दार्थः के शास्त्रस्थाः, शिष्टाः तेषामविच्छिन्ना स्मृतिः शब्देषु वेदेषु च। भामती (वे० सू० ३।३।५२) ने इस पर निर्भर किया है और कहा है कि भारत में आर्यों के मध्य जो अर्थ दिया जाता है वही आन्ध्रों के मध्य भी (शब्द के लिए) रहता है (यथा 'राजन् शब्द एवं उसका अर्थ)। 'पीलु' शब्द के विषय में गौतम (१।२२) ने व्यवस्था दी है कि क्षत्रिय या वैश्य ब्रह्मचारी को अश्वत्थ (पीपल) या पीलु वृक्ष का दण्ड ग्रहण करना चाहिए (अश्वत्थपैलवौ शेषे), किन्तु मनु० (२।४५) ने वैश्य ब्रह्मचारी के लिए पीलु या या उदुम्बर वृक्ष के दण्ड की व्यवस्था की है। अमरकोश में आया है कि पीलु का अर्थ वृक्ष एवं हाथी दोनों है।

समान शबर के इस सिद्धान्त को भी अमान्य ठहराया है और दो अन्य व्याख्याएँ उपस्थित की हैं, यथा—सूत्रों से व्यक्त है कि 'पीलु' शब्द का अर्थ है वृक्ष, और म्लेच्छ लोग इसका प्रयोग हाथी के अर्थ में करते हैं। स्मृतियों में इस शब्द का अर्थ है 'वृक्ष' और वही मान्य होना चाहिए। यहाँ पर 'शास्त्रस्थाः' का अर्थ है 'शास्त्र अर्थात् स्मृति में शब्द का माना गया अर्थ।' कुमारिल ने इन सूत्रों में जो अन्य अर्थ देखा है वह है स्मृति एवं आचार की तुलनात्मक शक्ति अथवा सामर्थ्य। 'श्राद्ध' शब्द के मुख्य अर्थ के प्रश्न पर विश्वरूप ने याज्ञ० (१।२२५) की व्याख्या में इस अधिकरण का आश्रय लिया है और कहा है कि श्राद्ध 'पिण्डदान' (पितरों को भात के पिण्ड देना) है न कि ब्राह्मणों को भोजन देना। पराशरमाधवीय ने 'आढक' या 'द्रोण' की तोल वाले चावल के पके भोजन के विषय में पराशरस्मृति की ओर संकेत किया है और इस बात की चर्चा की है कि वह किस प्रकार कौओं द्वारा चोंच मारे जाने, कुत्तों द्वारा स्पर्श कर लिये जाने तथा गदहों द्वारा सूंघ लिये जाने पर अपवित्र हो जाता है और व्यवस्था दी है कि आढक एवं द्रोण की तोल शास्त्रों में वर्णित बातों के आधार पर ली जानी चाहिए, न कि म्लेच्छों में प्रचलित तोल के आधार पर।

शब्दों के विषय में एक अन्य नियम (पू० मी० सू० १।३।१०) यह है कि उन शब्दों को जो मूलतः विदेशी हैं, किन्तु संस्कृत में प्रचलित हो गये हैं, उसी अर्थ में समझा जाना चाहिए जिसका प्रचलन विदेशी भाषा में पाया जाता है, उनकी व्युत्पत्ति के लिए हमें निरुक्त एवं व्याकरण का आश्रय नहीं लेना चाहिए। शबर ने ऐसे चार शब्दों के उदाहरण दिये हैं, यथा—**पिक** (कोकिल), **नेम** (आधा), **तामरस** (कमल) एवं **सत** (वृत्ताकार काष्ठपात्र)।

शब्दों के विषय में एक अन्य नियम यह है कि जहाँ कतिपय विशेषताओं से सम्बन्धित कोई एक द्रव्य किसी सम्पादित होने वाले कर्म से सम्बन्धित होता है, तो वहाँ उन सभी विशेषताओं को उसी द्रव्य से सम्बन्धित समझा जाना चाहिए (पू० मी० सू० ३।१।१२)। तै० सं० (६।१।१।६-७) में व्यवस्था दी हुई है—'वह लाल रंग वाली तथा पीली आँख वाली एक वर्षीया बछिया (वत्सतरी या वत्सा) के द्वारा सोम का क्रय करता है।' यहाँ पर 'पिंगाक्षी' एवं 'एकहायनी' दो शब्दों से व्युत्पत्तिमूलक अर्थ टपकता है, दोनों एक प्रकार के कारक में हैं और एक ही पदार्थ (द्रव्य) की ओर (यहाँ एक वर्ष वाली बछिया) निर्देश करते हैं।[20] किन्तु 'अरुणया' (लाल रंग वाली) शब्द एक सन्देह उत्पन्न करता है जो यह है—क्या इसे वाक्य

२०. अर्थैकत्वे द्रव्यगुणयोरैककर्म्यान्नियमः स्यात्। पू० मी० सू० (३।१।१२); ज्योतिष्टोमे क्रयं प्रकृत्य श्रूयते। अरुणया पिङ्गाक्ष्यैकहायन्या सोमं क्रीणाति। इति। तत्र सन्देहः। किमरुणिमा कृत्स्ने प्रकरणे निविशेतोत क्रये एवैक हायन्यामिति'। शबर। 'अरुणया...क्रीणाति' नामक वाक्य तै० सं० (६।१।१।६–७) का है। शबर ने इस पर एक लम्बा विवाद किया है। तन्त्रवार्तिक (पू० मी० सू० २।२।६) में आया है : 'प्राप्तेकर्मणि नानेको विधातुं शक्यते गुणः। अप्राप्ते तु विधीयन्ते बहवो प्येकयत्नतः॥ पृ० ४८५ (मी० न्या० प्र० द्वारा उद्धृत, पृ० ३६, अभयंकर संस्करण)। उदाहरणार्थ, श्राद्ध की व्यवस्था एक विधि के रूप में है, किन्तु यदि कोई श्राद्ध के विषय में कुछ बातें व्यवस्थित करना चाहता है तो प्रत्येक बात के लिए पृथक्-पृथक् विधियों की आवश्यकता पड़ेगी, यथा—'गयायां श्राद्धं दद्यात्' कुतपे श्राद्धं दद्यात्। किन्तु जहाँ पहले से ही किसी गुण (गौण या सहायक बात) की व्यवस्था के लिए कोई विधि नहीं है, वहाँ पर एक मुख्य विधि होगी जिसमें कतिपय गुणों का समावेश होगा, जैसा कि पू० मी० सू० (१।४।६) में लिखित है।

में प्रयुक्त अन्य दो शब्दों से पृथक रखा जाय और किसी लाल पदार्थ, यथा—एक वस्त्र-खण्ड के अर्थ में लिया जाय, या इसे क्रिया (क्रय करता है) से सम्बन्धित किया जाय और इस प्रकार यह क्रम से गौण हो जाय और एक वर्षीया बछिया की ओर संकेत करे। यह अन्तिम पक्ष ही स्थापित निष्कर्ष है। सोम का क्रय किस प्रकार किया जाय, इसका पता किसी अन्य उक्ति से नहीं चल पाता। अतः इस प्रकार के मामले में एक ही व्यवस्था में कई सहकारियों की बात चलायी जा सकती है। यदि 'अरुणया' शब्द से यह झलकता है कि वह किसी लाल पदार्थ की ओर संकेत करता है तो यह वाक्य दो विधियों में विभाजित किया जायगा —(१) 'लाल वस्त्र-खण्ड के साथ खरीदना चाहिए' एवं 'एक वर्ष वाली पिंगाक्षी (एकहायनी) के द्वारा खरीदना चाहिए।' किन्तु यह 'वाक्यभेद' नामक दोष कहा जायगा। यह न्याय मदनपारिजात (पृ० ८८-८६) द्वारा व्याख्यापित हो चुका है और अपरार्क ने (पृ० १०३०) में बृहदारण्यकोपनिषद् (४।४।२१ 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिष्टन्ति') के शब्दों के सम्यक् अर्थ की व्याख्या में इसका उपयोग किया है और कहा है कि जब सर्वोत्तम उद्देश्य एक हो किन्तु सहायक (गौण) तत्त्व विभिन्न हों तो विभिन्न तत्त्वों को एक में मिला देना चाहिए।

शब्दों के विषय में एक अन्य नियम है जिसे **निषादस्थपतिन्याय** (पू० मी० सू० ६।१।५१-५२) कहा जाता है। ऐसा आया है कि वह इष्टि, जिसमें भात का हवन रुद्र के लिए होता है, निषादस्थपति के द्वारा सम्पादित होता है। 'निषाद' उस व्यक्ति को कहते हैं जिसका पिता ब्राह्मण हो, किन्तु माता शूद्र (मनु० १०।८)। वह तीन उच्च वर्णों में परिगणित नहीं होता। 'स्थपति' का अर्थ है 'मुखिया या नेता'। अब प्रश्न उठता है, क्या इस सामासिक शब्द का अर्थ है 'ऐसा निषाद जो मुख्य (मुखिया) है' (यह कर्मधारय समास है), या इसका अर्थ है 'निषादों का शासक' जो स्वयं निषाद नहीं भी हो सकता है, प्रत्युत क्षत्रिय भी हो सकता है (अर्थात् षष्ठी तत्पुरुष समास हो सकता है, यथा—निषादानां स्थपतिः)। निष्कर्ष यह है कि कर्मधारय तत्पुरुष की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली ठहरता है, क्योंकि प्रथम स्थिति में दोनों शब्द क्रिया से सीधे ढंग से सम्बन्धित हैं (निषादश्चासौ स्थपतिश्च, तं याजयेत्)। व्यवहारमयूख ने इस उक्ति का उपयोग किया है। शौनक स्मृति ने शूद्र को गोद लेने का अधिकार दिया है, किन्तु शुद्धिविवेक के लेखक रुद्रधर ऐसे लोगों ने कहा है कि गोद लेने में मन्त्रों के साथ होम करना होता है और शूद्र वैदिक मन्त्रों का पाठ नहीं कर सकता, अतः वह गोद नहीं ले सकता। इस पर व्यवहारमयूख ने उत्तर दिया है कि शौनकस्मृति द्वारा गोद लेने के अधिकार की स्थापना के उपरान्त केवल इतना ही शेष रह जाता है कि वह किसी ब्राह्मण द्वारा होम करा ले। वेदान्तसूत्र (१।३।१५) के शांकरभाष्य की टीका भामती ने छान्दोग्योपनिषद् (८।३।२) में प्रयुक्त 'ब्रह्मलोक' के अर्थ के विषय में कहा है कि यहाँ निषाद स्थपति-न्याय प्रयुक्त है, अतः 'ब्रह्मलोक' का अर्थ है 'लक्ष्य के रूप में ब्रह्म' न कि 'ब्रह्म का लोक'। मनु० (११।५४) ने पाँच महापातकों में 'गुर्वङ्गनागमः' (गुरु-पत्नी के साथ मैथुन) को भी गिना है। टीकाकारों ने इस शब्द के अर्थ के विषय में विभिन्न मत दिये हैं। प्रायश्चित्तप्रकरण में भवदेव ने निषादस्थपतिन्याय के आधार पर इस शब्द में कर्मधारय समास (गुरुः या गुर्वी चासौ अंगना च) माना है, जिसका अर्थ हुआ अपनी माता; किन्तु अन्य लोगों ने इसमें तत्पुरुष समास पढ़ा है यथा—'गुरोः या गुरूणाम् अंगना' (जिसमें विमाता, बड़े भाई की पत्नी, गुरु की पत्नी आदि सम्मिलित हैं)। देखिए इस महाग्रन्थ का खण्ड ३, पृ० २३-२५, जहाँ इस पर विवेचन उपस्थित किया गया है।

प्रभाकर का कथन है कि कोई शब्द पृथक् रूप से अर्थान्वित नहीं होता, किन्तु जब वे किसी वाक्य में एक-दूसरे के साथ समन्वित होते हैं तो, अर्थान्वित अथवा अर्थयुक्त हो उठते हैं। इसी से वे और उनके अनुयायी

'अन्विताभिधानवादी' कहे गये हैं। किन्तु कुमारिल एवं उनके अनुयायीगण यह कहते हैं कि शब्दों के अपने-अपने पृथक् अर्थ होते हैं और जब वे किसी वाक्य में संयुक्त होते हैं तो पहले से भिन्न अर्थ वाले हो जाते हैं। कुमारिल तथा उनके अनुयायियों को 'अभिहितान्वयवादी' कहा जाता है। प्रस्तुत लेखक ने साहित्यदर्पण (१, २, १०) की टिप्पणी (पृ० ८६-८८) में इन दो संज्ञाओं की व्याख्या उपस्थित की है (देखिए सन् १९५६ वाला संस्करण)।

अब हम **वाक्य** की व्याख्या करेंगे। ऋग्वेद एवं सामवेद छन्दोबद्ध हैं, अतः सामान्य ढंग से उनमें वाक्य के रूप में क्या है, यह जानना कठिन नहीं है। किन्तु कृष्ण यजुर्वेद का अधिकांश गद्य में है। अतः पू० मी० सू० (२।१।४६) ने वाक्य की परिभाषा की है कि जब कई शब्द किसी एक प्रयोजन (उद्देश्य) की पूर्ति करते हैं, किन्तु यदि उन शब्दों में एक या कुछ शब्द शेष शब्दों से पृथक् कर दिये जायें, तो आगे के शब्द (अर्थात् शेष शब्द) अपूर्ण रह जाते हैं और प्रयोजन (उद्देश्य) की पूर्ति नहीं कर पाते और पृथक् किये गये शब्दों की आवश्यकता का अनुभव करते हैं, अतः वे सभी शब्द एक वाक्य बनाते हैं। इसका उदाहरण एक मन्त्र है---'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामग्नये जुष्टं निर्वपामि' (तै० सं० १।१।४।२ : मैं तुम्हें, जो अग्नि को प्रिय है, देव सविता की आज्ञा से, अश्विनों की बाहुओं से, पूषा के हाथों से निर्वाप देता हूँ अर्थात् अर्पण करता हूँ)।[२१] यह एक वाक्य है, जिसका प्रयोजन है निर्वाप। वाक्य की अन्य परिभाषाओं के लिए देखिए साहित्यदर्पण (२।१) पर प्रस्तुत लेखक की टिप्पणियाँ (पृ० ३४)। अर्थ के बोध के साथ एक वाक्य में शब्दों को रखने के लिए 'आकांक्षा', 'योग्यता' एवं 'सन्निधि' की, विशेषतः आकांक्षा की आवश्यकता होती है। उदाहरणार्थ, 'शंकराचार्य (वे० सू० १।४।३) का कथन है कि आकांक्षा के बिना इसका बोध या प्रत्यक्ष नहीं हो पाता कि शब्द वाक्य बनाते हैं। 'एकवाक्यता' शब्द वेदान्तसूत्र (३।४।२४) में आया है और बताता है कि आकांक्षा दो रूपों वाली होती है, यथा---व्याकरण वाली एवं मानस (अर्थात् व्याकरणजन्य एवं मनोवैज्ञानिक)। किसी शब्द को सुनकर या पढ़कर सुनने वाला या पढ़ने वाला किसी पूर्ण अभिप्राय (बोध) की प्राप्ति के लिए किसी अन्य विचार या शब्द को जानने की इच्छा रखता है। जब कई एक वाक्य, जिनमें प्रत्येक अपने भाव को व्यक्त करता है, एक-साथ आ

२१. **अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकांक्षं चेद्विभागे स्यात्। पू० मी० सू० (२।१।४६); अत्र प्रश्लिष्टपठितेषु यजुःषु कथमवगम्येत, इयदेकं यजुरिति। यावता पदसमूहेनेज्यते तावान्पदसमूह एकं यजुः। कियता चेज्यते। यावता क्रियाया उपकारः प्रकाश्यते तावत। वक्तव्याद् वाक्यमित्युच्यते। तस्मादेकार्थः पदसमूहो वाक्यं यदि च विभज्यमानं साकाङ्क्षं पदं भवति। किमुदाहरणं देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे इति। शबर। मन्त्र यह है: 'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामग्नये जुष्टं निर्वपामि (तै० सं० १।१।४।२; काठक० १।४) और 'देवस्य...निर्वपामि' तक एक वाक्य है। और देखिए शबर (१।२।२५ पर, यथा—तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायोऽर्थस्य तन्निमित्तत्वात्)। दोनों सूत्रों में 'अर्थ' शब्द का अर्थ है प्रयोजन। न्यायसुधा ने 'अर्थ' शब्द को 'अभिधेय' (अभिप्राय, भाव आदि) के रूप में लिया है, जिससे कि सूत्र को और व्यापकता प्राप्त हो, किन्तु शबर ने इसे यजुर्वेद के वचनों तक ही सीमित रखा है और प्रतिपादित किया है कि 'अर्थ' प्रयोजन का द्योतक है। और देखिए 'यावन्ति पदान्येकं प्रयोजनमभिनिर्वर्तयन्ति तावन्त्येकं वाक्यम्। शबर (पू० मी० सू० २। २।२७, पृ० ५६०)। कात्यायन श्रौतसूत्र (१।३।२) में ऐसा ही सूत्र आया है, यथा–'तेषां वाक्यं निराकाङ्क्षम्'। टीका ने 'तेषां' को 'यजुषाम्' के रूप में लिया है।**

उपस्थित होते हैं और ऐसा समझते हैं कि उनमें से कोई एक मुख्य है तथा अन्य गौण, तो वे वाक्य रचना करते हैं। इससे प्रकट होता है कि वाक्य के दो प्रकार होते हैं, वाक्य तथा महावाक्य, जैसा कि साहित्यदर्पण ने कहा है।

वाक्य की परिभाषा एवं उसके भाष्य से प्रकट होता है कि वाक्य के निर्माण के लिए तीन दशाओं की अपेक्षा होती है--(१) बहुत-से उच्चरित या लिखित शब्द होने चाहिए (पदसमूह), (२) शब्दों को परस्पर आकांक्षा रखनी चाहिए (अर्थात् जब पदसमूह से एक पद या शब्द हटा लिया जाय तो पूर्ण बोध नहीं हो पाता), (३) सभी शब्दों का एक ही प्रयोजन होना चाहिए, अथवा यों कहा जा सकता है कि सभी को एक-साथ एक ही बोध देना चाहिए (अर्थैकत्व, जैसा एक अन्य मत के अनुसार कहा गया है)। वाक्य बनाने के लिए शब्दों को एक सन्निधि में आना परमावश्यक नहीं है। यहाँ तक कि यदि कुछ शब्द मध्यस्थ रूप में आ जायें तो भी वाक्य बन सकता है। किन्तु यह तभी सम्भव है जब शब्दों के बीच आकांक्षा हो। देखिए शबर (पू० मी० सू० ४।३।११)।

किसी मन्त्र के विभिन्न भागों को, जिनसे विभिन्न प्रयोजन सिद्ध होते हैं, विभिन्न वाक्यों के अर्थ में ग्रहण किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, तै० ब्रा० (३।७।५) में आया है--'(हे पुरोडाश) मैं, तुम्हारे लिए रम्य आसन (सदन) बनाता हूँ, मैं इसे घृत की धारा से बहुत सुन्दर बनाता हूँ; प्रसन्न होकर उस पर बैठे, अमृत में स्थापित हो जाओ, हे चावल के यज्ञिय तत्त्व।' यहाँ दो वाक्य हैं, जिनमें प्रथम का सम्बन्ध है आसन के निर्माण से और दूसरे का पुरोडाश को आसन पर रखने से। इसी प्रकार इस वाक्य में 'मैं तुम्हें (हे पलाश की शाखा) भोजन के लिए (काटता हूँ), मैं तुम्हें शक्ति के लिए (धोता या रगड़ता) हूँ, दो भिन्न वाक्य हैं, जो एक-दूसरे से स्वतन्त्र हैं। और देखिए शतपथ ब्राह्मण (१।७।१।२)।

मीमांसा एवं धर्मशास्त्र में **वाक्यभेद** के सिद्धान्त का अत्यधिक महत्त्व है। वाक्यभेद का शाब्दिक अर्थ है 'वाक्यों का पृथक्-पृथक् हो जाना'। जब वाक्य समान रूप से स्वतन्त्र होते हैं और जब कोई वाक्य अपने को पूर्ण करने के लिए किसी अन्य वाक्य के शब्दों की आकांक्षा नहीं रखता तो उन वाक्यों को पृथक्-पृथक् माना जाता है। यह 'वाक्यभेद' का एक अभिप्राय (अर्थ या भाव) है। वाक्यभेद का दूसरा और बहुत अधिक प्रयुक्त अर्थ इस प्रकार है--वाक्यभेद का अन्तर्हित सिद्धान्त यह है कि एक ही वचन में दो विभिन्न (पृथक्-पृथक्) विधियों की व्यवस्था नहीं हो सकती, या जब कोई बात व्यवस्थित हो गयी रहती है और उसके उपरान्त कतिपय गौण बातें व्यवस्थित होती हैं, तो सभी गौण बातों को एक ही वाक्य में व्यवस्थित करना दोषपूर्ण कहा जाता है और उसी को वाक्यभेद (वाक्यरचना के विचार से वाक्य का भेद) कहते हैं। तै० सं० में एक वचन है--'यज्ञिय यूप उदुम्बर वृक्ष का होना चाहिए, उदुम्बर ऊर्ज है, पशु ऊर्ज है; वह उसके (यजमान के) लिए ऊर्ज (उदुम्बर-यूप) के द्वारा ऊर्ज की प्राप्ति के लिए ऊर्ज (पशु) प्राप्त करता है।' यह एक वाक्य-रचना-प्रकार है। यदि यह कहा जाय कि किसी यज्ञ में उदुम्बर-यूप के प्रयोग के लिए कोई विधि है और फल के लिए भी कोई विधि है, यथा ऊर्ज (अर्थात् पशु) की प्राप्ति, तो इससे वाक्यभेद की उत्पत्ति होगी। अतः वाक्य में दो विधियाँ नहीं होतीं, प्रत्युत एक विधि एवं एक अर्थवाद (स्तुति) होता है (शबर, पू० मी० सू० १।२।२५)। शंकराचार्य ने वेदान्त सूत्र (३।३।५७) की व्याख्या में कहा है--'एकं हीदं वाक्यं वैश्वानरविद्याविषयं पौर्वापर्यालोचनात् प्रतीयते. . . . एकवाक्यतावगतौ सत्यां वाक्यभेद--कल्पनस्यान्याय्यत्वात्'। वाक्यभेद की धारणा के प्रथम स्वरूप के संदर्भ में यह कहा गया है।

वाक्यभेद के दूसरे अभिप्राय में अन्तर्हित भावना यह है--यदि कोई कार्य या द्रव्य या गौण बात किसी विधि का विषय हो और यदि उस कार्य (या द्रव्य आदि) के सम्बन्ध में कुछ अन्य बातें (कर्म, द्रव्य आदि) एक ही वाक्य में व्यवस्थित हों तो वहाँ वाक्यभेद होगा (अर्थात् किसी विधि का जो विषय रहा है उसके सम्बन्ध में अन्य

बातों के लिए पृथक विधि की व्यवस्था करनी होगी)। दूसरी ओर, यदि एक ही वाक्य में कतिपय गौण विषयों के साथ कोई कर्म, द्रव्य या गुण व्यवस्थित हो तो वहाँ कोई वाक्यभेद का दोष न होगा, अर्थात् एक ही वाक्य में, चाहे वह कितना भी लम्बा क्यों न हो या उसमें बहुत-से विषय हों, यदि वहाँ एक ही विधि है तो कोई दोष नहीं होता। 'भूतिकाम (भूति अर्थात् समृद्धि के इच्छुक) को चाहिए कि वह वायु के लिए श्वेत पशु की बलि दे' नामक वाक्य में यदि यह माना जाय कि पहले फल के रूप में भूति (ऐश्वर्य या समृद्धि) के लिए कोई विधि होनी चाहिए, तो दो विधियाँ उत्पन्न हो जायेंगी और वाक्यभेद उठ खड़ा होगा, किन्तु यदि यह माना जाय कि विधि का सम्बन्ध केवल श्वेत पशु के अर्पण से है और उसके उपरान्त जो आता है, यथा 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा...भूति गमयति' वह केवल अर्थवाद (पहले कही गयी विधि की स्तुति) है तो वहाँ वाक्यभेद नहीं होगा। वाक्यभेद तभी उठ खड़ा होता है जब एक ही वाक्य में एक से अधिक विधियाँ मान ली जाती हैं।[२२]

वाक्यभेद के सिद्धान्त के प्रकाशनार्थ कुछ दृष्टान्त दिये जा रहे हैं। एक सरल दृष्टान्त यह है—'ग्रहं सम्मार्ष्टि'। यदि इसका एक अर्थ यह लगाया जाय कि 'उसे प्याले को स्वच्छ करना है' और साथ-ही-साथ यह भी अर्थ लगाया जाय कि केवल एक ही प्याला स्वच्छ करना है, तो यहाँ वाक्यभेद हो जायगा। इसीलिए यह तय किया गया कि 'ग्रहं' में जो एक वचन है उस पर ध्यान न दिया जाय, प्रत्युत सभी ग्रहों (प्यालों) के स्वच्छ करने की बात पर आरूढ़ रहना चाहिए, नहीं तो दो विधियाँ उठ खड़ी होंगी, यथा—'ग्रहं सम्मृज्यात्' एवं 'एकमेव सम्मृज्यात्'। शबर ने पू० मी० सू० (१।३।३) पर एक श्रुति उद्धृत की है—'पुत्रवान् एवं काले केश वाले को वैदिक अग्नियाँ प्रज्वलित करनी चाहिए'। श्रुतिवचनों द्वारा **अग्न्याधान** की व्यवस्था की गयी है, यथा तै० ब्रा० (१।१।-२।६), शतपथ ब्राह्मण (२।१।२)। अतः उपर्युक्त वचन ने केवल कुछ सहायक विषयों की व्यवस्था इसके लिए की है। एक व्यक्ति काले केशों के साथ पुत्रहीन भी हो सकता है या पुत्रवान् व्यक्ति श्वेत केशों वाला हो सकता है। अतः यदि वह वाक्य दोनों गुणों की व्यवस्था करने वाला समझा जाय (अर्थात् पुत्रवान् होना तथा काले केश वाला होना) तो एक ही वाक्य में दो विधियाँ स्पष्ट लक्षित हो उठेंगी, अर्थात् वहाँ वाक्यभेद उठ खड़ा होगा, जिसका परित्याग आवश्यक है। अतः इस वाक्य को किसी निश्चित अवस्था को बताने वाला समझा जाना चाहिए, अर्थात् उसे (व्यक्ति को) अग्न्याधान के समय बालक नहीं होना चाहिए, प्रत्युत ऐसी अवस्था का होना चाहिए कि उसे पुत्र उत्पन्न हो सके, और न उसे बहुत बूढ़ा (जब केश श्वेत हो जाते हैं) होना चाहिए। अर्थात् उसे अग्न्याधान के काल में न तो अति बालक और न अति बूढ़ा होना चाहिए। 'जातपुत्रः' एवं 'कृष्णकेशः' में लक्षणा भी मानी जाती है, और लक्षणा शब्द-दोषों में गिनी जाती है किन्तु वाक्यभेद वाक्यदोषों में गिना जाता है। अतः लक्षणा तथा वाक्यभेद की तुलना में लक्षणा को ग्रहण करना चाहिए। व्यवहारमयूख (पृ० ११५) ने मनु (९।१४२) को उद्धृत किया है—'जो पुत्र गोद रूप में दे दिया जाता है उसे कुल का नाम (गोत्र) नहीं प्राप्त होगा और न वह अपने वास्तविक पिता का रिक्थ ही प्राप्त कर सकेगा; पिण्ड (जो मृत पुरुषों को दिया जाता है) कुलनाम एवं रिक्थ का अनुसरण करता है। जो अपने पुत्र को गोद के लिए दे देता है उसकी स्वधा (जहाँ तक उस पुत्र का सम्बन्ध है) समाप्त हो जाती है।' उपर्युक्त वचन (पुत्रवान् कृष्णकेश व्यक्ति...) तथा वेदिका के संदर्भ में यज्ञिय यूप के स्थान के सम्बन्ध में एक अन्य उक्ति (देखिए पू० मी० सू० ३।७।१३-१४) को

२२. **बहवोऽपि ह्यर्था युगपदेकेन सम्बन्ध्यन्ते। न च तावता वाक्यं भिद्यते। अनेकविधितो हि वाक्यभेद उक्तः। तन्त्रवार्तिक (पृ० ५५१, पू० मी० सू० २।२।२६ पर)।**

उद्धृत करके व्यवहारमयूख ने मत प्रकाशित किया है कि मनु द्वारा प्रयुक्त **गोत्र, रिक्थ, पिण्ड** एवं **स्वधा** **शब्दों** पर ही बल नहीं देना चाहिए और न उन्हें शाब्दिक अर्थ में ही लेना चाहिए, प्रत्युत ऐसा समझना चाहिए कि मनु के श्लोक में लक्षणा है; उसमें उन सभी परिणामों की ओर संकेत है जो वास्तविक पिता के विषय में पिण्ड से सम्बन्धित हैं, तथा मनु ने उस सम्पत्ति के विषय में कुछ भी नहीं कहा है जिसे पुत्र दूसरे कुल में गोद लिये जाने के पूर्व ग्रहण किये रहता है।

वाक्यभेद के विषय में एक अन्य उदाहरण पुर्नमिलन-सम्बन्धी व्यवहार (कानून) से लिया जा सकता है। मिता०, दायभाग एवं स्मृतिच० (व्यवहार० पृ० ३०२) ने बृहस्पति की उक्ति[२३] उद्धृत की है---'वह व्यक्ति, जो एक बार अपने पिता, भाई या चाचा से पृथक् हो जाने के उपरान्त पुनः स्नेह के कारण उनके (या उनमें किसी के साथ) साथ रहने लगता है, वह उनके (या उसके) साथ संसृष्ट (फिर से मिला हुआ) कहा जाता है।' मिताक्षरा के मत से संसृष्टता केवल पिता, भाई एवं चाचा के साथ ही सम्भव है, अन्य से नहीं, क्योंकि बृहस्पति की उक्ति में कोई अन्य नहीं उल्लिखित है। किन्तु व्यवहारमयूख ने इस सीमा को स्वीकार नहीं किया है और कहा है कि संसृष्टता अथवा पुर्नमिलन उन सभी के या उनमें किसी के भी साथ सम्भव है जिन्होंने विभाजन में भाग लिया है और पिता, भाई एवं चाचा, ये तीनों केवल उदाहरण के लिए उल्लिखित हैं (अर्थात् यहाँ लक्षणा है) एक व्यक्ति केवल इन्हीं तीन व्यक्तियों (पिता, भाई एवं चाचा) से अलग नहीं हो सकता, प्रत्युत वह अपने पितामह, पितामह के पौत्र, अपने चाचा के पुत्र तथा कतिपय अन्य लोगों से भी अलग हो सकता है। अतः मिताक्षरा ने बृहस्पति की उक्ति को जिस रूप में निर्मित माना है वह वाक्यभेद के दोष से पूर्ण है, क्योंकि उस व्याख्या से दो पृथक् उपपत्तियाँ (प्रमेय) उठ खड़े होते हैं, यथा---(१) उस व्यक्ति को संसृष्ट (पुर्नमिलन को प्राप्त हुआ) कहा जाता है जो विभक्त हो जाने (अलग हो जाने) के उपरान्त पुनः उसके साथ संस्थित रहता है जिससे वह पहले अलग हो गया था, (२) केवल पिता, भाई या चाचा से ही पुनः मिला जा सकता है। अतः इस प्रकार एक वाक्य में दो पृथक् एवं स्पष्ट प्रमेय आ उपस्थित होते हैं। अतः लक्षणा का आश्रय लेना चाहिए, यथा---तीन उल्लिखित व्यक्ति उस व्यक्ति-वर्ग के हैं जिनसे एक व्यक्ति अलग हो सका था किन्तु वह एक समय उनके साथ रहता था। वीरमित्रोदय (व्यवहार) आदि ने व्यवहारमयूख के मत का समर्थन किया है।

स्मृतिचन्द्रिका की व्यवस्था है कि एक व्यक्ति की मृत्यु के उपरान्त जब उसके पुत्र बँटवारा करते हैं तो माता को भी, यदि सम्पत्ति (सम्पदा, रिक्थ, दाय, विभव या भूमि) बहुत लम्बी-चौड़ी या अधिक न हो, तो प्रत्येक पुत्र के समान अंश प्राप्त होता है, किन्तु यदि सम्पदा बहुत अधिक हो तो उसे उतना मिलना चाहिए जो उसकी जीविका के लिए आवश्यक है। किन्तु (याज्ञ० २।१२३ एवं अन्य स्मृतियों ने 'समं अंशम्' ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है।) मदनरत्न ने (व्यवहार पर) उस मत की आलोचना की है और उसे दोषयुक्त व्यवस्था की संज्ञा दी है, क्योंकि विभक्त होने वाली सम्पदा के अधिक या कम होने वाली स्थिति के अनुसार 'सम अंशम्' (बराबर अंश या भाग) से सम्बन्धित अर्थ के बारे में दो विभिन्न विधियाँ उठ खड़ी हो जायेंगी।

२३. विभक्तं धनं पुनर्मिश्रीकृतं संसृष्टं तदस्यास्तीति संसृष्टी। संसृष्त्वं च न येन केनापि किन्तु पित्रा भ्रात्रा पितृव्येण वा। यथाह बृहस्पतिः। विभक्तो यः पुनः पित्रा भ्रात्रा वैकत्र संस्थितः। पितृव्येणाथ वा प्रीत्या स तत्संसृष्ट उच्यते॥ मिता० (याज्ञ २।१३८)। दायभाग (१२ वाँ अध्याय) ने बृहस्पति को उद्धृत कर टिप्पणी दी है: 'परिगणित व्यतिरिक्तेषु संसर्गकृतो विशेषो नादरणीयः परिगणनानर्थक्यात्।'

वाक्यों के विषय में एक अन्य सिद्धान्त है जिसे 'अनुषंग' कहा जाता है। अनुषंग में शब्द, शब्द-समूह या वाक्य की एक वाक्य से दूसरे वाक्य तक या अन्य वाक्यों तक अनुवृत्ति (बढ़ाव) पायी जाती है, जब वे वाक्य एक ही कोटि या प्रकार के हों। यह अनुषंग की एक कोटि है। दूसरी कोटि वहाँ लक्षित होती है जहाँ पर दो या अधिक वाक्यों में प्रत्येक अपने में स्वतः पूर्ण लगता है, किन्तु अन्तिम वाक्य में कुछ ऐसे शब्द पाये जाते हैं जिन्हें पूर्ववर्ती वाक्यों में भी प्रयुक्त मान लेना पड़ता है। इसको 'अनुकर्ष' भी कहा जाता है। ज्योतिष्टोम के तीन उपसदों में प्रथम उपसद् अग्नि के सम्मान में है, जिसमें मन्त्र इस प्रकार है—'या ते अग्ने अयाशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठोग्रं वचोऽपावधीं त्वेषं वचोऽपावधीं स्वाहा', अन्य दो उपसदों में दो मन्त्र यों हैं—'या ते अग्ने रजाशया' एवं 'या ते अग्ने हराशया' जो अपूर्ण हैं, और वाक्यों को पूर्ण करने के लिए पूरक शब्दों की अपेक्षा रखते हैं।[२४] निष्कर्ष यह है कि 'वर्षिष्ठा. . .स्वाहा' नामक शब्दों को प्रथम वाक्य से इसमें मिलाना पड़ेगा, न कि प्रचलित भाषा के कोई अन्य शब्द मनचाहे ढंग से ग्रहण किये जायेंगे। तै० सं० (१।२।१।२) का एक अन्य वचन यों है—'चित्पतिस्त्वा पुनातु, वाक्पतिस्त्वा पुनातु, देवस्त्वा सविता पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण वसोः सूर्यस्य रश्मिभिः।' यहाँ पर प्रथम दो पद-समूह (वाक्य) प्रथम दृष्टि में पूर्ण-से लगते हैं, किन्तु जब हम अन्तिम वाक्य पर दृष्टिपात करते हैं, जहाँ पर 'पुनातु' शब्द अन्य शब्दों द्वारा विशेष रूप से गठित है, तो हम हठात् अनुभव करते हैं कि प्रथम दो वाक्य भी 'अच्छिद्रेण. . . रश्मिभिः' से सम्बन्धित किये जाने चाहिए, और तभी वे पूर्ण हो सकेंगे।

मिताक्षरा एवं मदनरत्न ने फिर से मिले हुए (संसृष्ट) की मृत्यु के उपरान्त उसके धन के उत्तराधिकार के विषय में जो अनुषंग सिद्धान्त प्रयुक्त किया है, उस पर व्यवहारमयूख ने एक लम्बा विवेचन उपस्थित किया है। याज्ञ० (२।१३५-१३६) ने पुत्रहीन व्यक्ति की मृत्यु के उपरान्त उसके धन के भागियों का क्रम निर्धारित किया है। याज्ञ० (२।१३७) में वानप्रस्थ, संन्यासी एवं नैष्ठिक ब्रह्मचारी की सम्पत्ति के बँटवारे की चर्चा है। मिता० का कथन है कि याज्ञ० (२।१३८) में जो 'संसृष्टिनस्तु संसृष्टि' श्लोक आया है वह याज्ञ० (२।१३५-१३६) का अपवाद है और उसका पुनः कथन है कि 'जो पुत्रहीन मरता है' (पौत्र या प्रपौत्र) में पढ़े हुए शब्द याज्ञ० (२।१३६) से लेकर याज्ञ० (२।१३८) के पूर्व भी आने चाहिए (अर्थात् 'स्वर्यातस्यापुत्रस्य' नामक शब्दों का अनुषंग होना चाहिए)। किन्तु व्यवहारमयूख इसे नहीं मानता और कहता है कि अनुषंग के सिद्धान्त के प्रयोग के लिए कोई तर्क नहीं है और इसीलिए संसृष्ट द्वारा छोड़े गये धन के उत्तराधिकार के बारे में व्यवहारमयूख ने जो क्रम प्रतिपादित किया है वह मिताक्षरा के सिद्धान्त से भिन्न है। जो लोग इस विषय में विस्तार से पढ़ना चाहते हैं वे देखें, व्यवहारमयूख (पूना, १६२६) पर टिप्पणियाँ (पृ० २६५-२७५)

२४. अनुषङ्गणे वाक्य समाप्तिः सर्वेषु तुल्ययोगित्वात्। पू० मी० सू० (२।१।४८); या ते अग्ने अयाशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठोग्रं वचोऽपावधीं त्वेषं वचोऽपावधीं स्वाहा, या ते अग्ने रजाशया, या ते अग्ने हराशया इति। अत्र सन्देहः। तनुर्वर्षिष्ठेति किं सर्वेष्वनुषक्तव्यामाहोस्विल्लौकिको वाक्यशेषः कर्त्तव्य इति। मन्त्रों के लिए देखिए तै० सं० (१।२।११।२) एवं वाज० सं० (५।८)। देखिए इस महाग्रन्थ का मूलखण्ड २, पृ० ११५१, पाद-टिप्पणी २५६२। वाज सं० एवं शतपथब्राह्मण (३।४।४।२३—२५) ने 'अयःशया', 'रजःशया, एवं 'हरिशया' पाठान्तर दिया है।

जब कतिपय वाक्यों के बीच विभिन्न प्रकार (कोटि) के शब्द आ जाते हैं तो अनुषंग का सिद्धान्त लागू नहीं होता। उदाहरणार्थ, जब अर्पित किया जाने वाला पशु मारा जाता है तो एक लम्बी उक्ति कही जाती है जिसमें ये शब्द आते हैं--'सं ते प्राणो वायुना गच्छन्तं सं यजत्रैरङ्गानि, सं यज्ञपतिराशिषा' आदि (तुम्हारे अंग पूजनीय देवताओं से जुड़ जायें, और यजमान आशिष से संयुक्त हो जाये...)। यहाँ पर पहला वाक्य तीसरे वाक्य से उस वाक्य द्वारा पृथक किया गया है जिसमें दो शब्द बहुवचन में हैं और पहले एवं तीसरे वाक्य के दो शब्द एकवचन में हैं; अतः प्रथम वाक्य के शब्दों का दूसरे वाक्य में कोई अनुषंग नहीं है और तीसरे वाक्य के अर्थ को पूर्ण करने के लिए प्रचलित भाषा के किसी सामान्य शब्द का उपयोग किया जा सकता है (किन्तु प्रथम वाक्य के शब्दों का नहीं)।

वेद ने बहुत से कर्मों की व्यवस्था की है, यथा--याग का सम्पादन, अग्नि में हवि डालना, दान देना, गाय दुहना, घृत पिघलाना आदि। किन्तु ये सभी कर्म एक ही कोटि के नहीं हैं, कुछ तो **प्रधान** हैं और कुछ **गुणभूत** (या सहकारी)।[२५] वैसे कर्म, जो 'प्रयाज' ऐसे शब्दों से दर्शित होते हैं, जिनसे कोई द्रव्य अलंकृत नहीं किया जाता या योग्य नहीं बनाया जाता या उत्पन्न नहीं किया जाता, वे प्रधान कहे जाते हैं, किन्तु जो कर्म कोई द्रव्य उत्पन्न करते हैं, उसे योग्य बनाते हैं (यथा धान कूटकर चावल निकालना) वे गुणभूत कहे जाते हैं। कर्मों को पुनः कई कोटियों में बाँटा गया है, यथा--**नित्य, नैमित्तिक, काम्य,** अथवा **क्रत्वर्थ** एवं **पुरुषार्थ**। इस पर हमने गत अध्याय में ही विचार कर लिया है। कर्मों की भिन्नता एवं अभिन्नता की जाँच के ६ साधन हैं--यथा (१) **शब्दान्तर** (भिन्न शब्द, जैसे--यजति, जुहोति, ददाति, अर्थात् याग, होम एवं दान भिन्न कर्म हैं); (२) **अभ्यास** (दुहराना),[२६] जैसा कि 'समिधो जयति तनूनपातं यजति' आदि (तै० सं० २।६।१।१-२) में, जहाँ पर 'यजति' शब्द पाँच बार दुहराया गया है और इसीलिए पाँच प्रकार के कर्म व्यवस्थित किये गये हैं; (३) **संख्या** जैसा कि 'वह प्रजापति के लिए १७ पशुओं की बलि देता है (तै० ब्रा० १।३।४।३)' जो स्पष्टतः १७ कर्म हैं; (४) **गुण** (सहकारी विस्तार, यथा 'जब तप्त दुग्ध में दही डाला जाता है तो वह 'आमिक्षा' हो जाता है जो वैश्वदेवों को अर्पित किया जाता है और वह द्रव पदार्थ जो वाजियों को दिया जाता है, वाजिन कहा जाता है' नामक वचन में देवता या द्रव्य, आमिक्षा एवं

२५. तानि द्वैधं गुण प्रधानभूतानि। यैर्द्रव्यं न चिकीर्ष्यते तानि प्रधानभूतानि द्रव्यस्य गुणभूतत्वात्। यैस्तु द्रव्यं चिकीर्ष्यते गुणस्तत्र प्रतीयेत तस्य द्रव्यप्रधानत्वात्। पू० मी० सू० (२।१।६-८)।

२६. तदिह षड्विधः कर्मभेदो वक्ष्यते--शब्दान्तर, अभ्यासः, संख्या, गुणः, प्रक्रिया, नामधेयमिति।...तदेतन्नानाकर्मलक्षमित्यध्यायमाचक्षते...। शबर (पू० मी० सू० २।१।१: 'भावार्थाः कर्मशब्दास्तेभ्यः क्रिया प्रतीयेतैष ह्यर्थो विधीयते।')। ये सभी पू० मी० सू० में वर्णित हैं, यथा--२।२।१७, २।२।२ (अभ्यास), २।२।२१ (संख्या), २।२।२३ (गुण), २।२।२२ (नामधेय या संज्ञा), तथा २।३।२४ (प्रकरण या प्रक्रिया)। शबर ने इनको एक क्रम में उल्लिखित किया है, किन्तु पू० मी० सू० ने थोड़ी भिन्नता के साथ इनका उल्लेख किया है। पराशर (१।३८,) ने कहा है कि व्यक्ति को ६ कर्मों पर ध्यान देना चाहिए, यथा--स्नान, सन्ध्या आदि पर और उन्होंने शब्दान्तर पर निर्भर करके यह स्थापित किया है कि ६ विभिन्न कर्म होते हैं कि सभी एक में समाहित।

वाजिन, ये दोनों दो स्पष्ट अर्पण हैं)[२७]; (५) **प्रकरण** (संदर्भ)। 'अग्निहोत्र करना चाहिए' (तै० सं० १।५।९।१) में अग्निहोत्र के अह्निक सम्पादन की विधि पायी जाती है। कुण्डपायिनामयन में ऐसा आया है–'वह एक मास तक अग्निहोत्र करता है।' यह वचन दूसरे संदर्भ में आता है (जब कि पहला दर्शपूर्णमास के संदर्भ में आता है) अतः यह वाक्य (अर्थात् कुण्डपायिनामयन वाला) आह्निक अग्निहोत्र से भिन्न कर्म है। (६) **संज्ञा** (अर्थात् नाम) भी कर्मों का अन्तर बताती है, क्योंकि वे (कर्म) उत्पत्तिवाक्य (मौलिक व्यवस्था) में प्रकट होते हैं। कर्मों की भिन्नता प्रकट करने का यह ढंग हेमाद्रि, कालनिर्णय एवं निर्णयसिन्धु द्वारा प्रयुक्त हुआ है, इसी ढंग द्वारा उन्होंने इस विषय में निर्णय किया है कि जन्माष्टमी व्रत एवं जयन्तीव्रत एक ही व्रत है या भिन्न व्रत हैं।

हमने यह देख लिया है कि विधियों के चार प्रकार हैं, जिनमें एक है विनियोग विधि, जो किसी प्रमुख धार्मिक कर्म एवं उसके अंगों के सम्बन्ध पर प्रकाश डालती है। प्रमुख कर्म को **शेषी** या **अंगी** कहा जाता है। यह बात पू० मी० सू० के तीसरे अध्याय में उल्लिखित है। पू० मी० सू० ने सर्वप्रथम 'शेष' की परिभाषा की है और बताया है कि यह ऐसा क्यों कहा जाता है और इसे धार्मिक कर्मों में क्यों प्रयुक्त किया जाता है; इतना ही नहीं, वहाँ यह भी बताया गया है कि शेष और शेषी के सम्बन्ध को निश्चित करने के साधन क्या होते हैं और उन साधनों की तुलनात्मक शक्ति को कैसे जाना जा सकता है।

अब हम **अंग** एवं **अंगी** के कुछ दृष्टान्त उपस्थित करते हैं। 'व्रीहीन् प्रोक्षति' (चावलों पर जल छिड़कता है) में प्रोक्षण (छिड़कना) चावलों का अंग है (अर्थात् वह चावल के सम्बन्ध में गौण सम्बन्ध रखता है), जैसा कि कर्मकारक (व्रीहीन्) से प्रकट है। प्रोक्षण से अपूर्व फल की प्राप्ति में सहायता मिलती है, क्योंकि चावलों पर बिना जल छिड़कने से यदि याग किया जाय तो अपूर्व की प्राप्ति नहीं होगी। दूसरा दृष्टान्त है—"वह ऋत की लगाम पकड़ ली' नामक मन्त्र के साथ घोड़े की रशना (लगाम) पकड़ता है"।[२८] यहाँ पर 'रशनाम्' में कर्मकारक द्वारा प्रदर्शित है कि मन्त्र का स्थान गौण है, वह अश्व की रशना का अंग है, क्योंकि लगाम पकड़ते समय उसका उच्चारण (मन्त्र का उच्चारण) लगाम में एक संस्कार का प्रभाव छोड़ जाता है तथा (लगाम का) पकड़ना घोड़े की लगाम का एक अंग है। (जो कर्मकारक में है)। यह उसी प्रकार है जैसा कि प्रोक्षण चावल के अन्नों का अंग है।

२७. तप्ते पयसि दध्यानयति सा, वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनम्। ; शबर ने (४।१।२३ पर) इसे उद्धृत किया है और कहा है: 'आमिक्षायां दधिपयसी विद्येते न वाजिने। ... वाजिने तिक्तकटुको रसः।' वैश्वदेवी एक तद्धित है और उसका अर्थ है विश्वदेवा, देवता, अस्याः, जो पाणिनि के सूत्र ४।२।२४ (सास्यदेवता) के अनुसार बना है। वाजिनामिक्षारूपगुणभेदाद्वाजिनद्रव्यकंकर्मान्तरम्। आमिक्षाद्रव्यकं च कर्मान्तरमिति चिन्तितम्। वाजिनं नामामिक्षोत्पत्तिशिष्टमुदकम्। आमिक्षा नाम पयोदधि मिश्रण जनितं दृढाकारं द्रव्यम्। सर्वदर्शनकौमुदी (पृ० १००, त्रिवन्दरम् संस्कृत सीरीज)। शंकराचार्य ने वेदान्तसूत्र (३।३।१) में इसे उल्लिखित किया है। तै० ब्रा० (१।६।२।५) में आया है: 'वैश्वदेव्यामिक्षा भवति। वैश्वदेव्यो वै प्रजाः।...वाजिनमानयति।' आमिक्षा तप्त दूध में दही डालने का प्रयोजक है, किन्तु वाजिन प्रयोजक नहीं है, क्योंकि आमिक्षा की उत्पत्ति में वह स्वयं प्रकट हो जाता है।

२८. 'इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य इत्यश्वाभिधानीमादत्ते':–यह तै० सं० (५।१।२।१) में आया है। 'इमामगृभ्णन रशनामृतस्य' नामक शब्द तै० सं० (४।१।२।१) के मन्त्र का एक-चौथाई है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि 'शेष' का अर्थ है 'जो दूसरे के प्रयोजन को सिद्ध करता है और यह उस दूसरे का शेष है (पू० मी० सू० ३।१।२: 'शेषः परार्थत्वात्') तथा बादरि (३।१।३) के अनुसार 'उन द्रव्यों, गुणों (यथा किसी गाय का लाल रंग एवं संस्कारों[२९] (जो किसी व्यक्ति या वस्तु को याग या किसी अन्य उद्देश्य के लिए योग्य बनाते हैं) के लिए 'शेष' शब्द सदैव प्रयुक्त होता है, किन्तु जैमिनि (३।१।४-६) के मत से धार्मिक कृत्य फल या परिणाम के लिए शेष हैं, फल धार्मिक कृत्य करने वाले के लिए शेष है तथा कर्ता कुछ कर्मों के लिए शेष है। धर्मशास्त्र-ग्रन्थों में 'शेष' शब्द बहुधा आया है। उदाहरणार्थ, मिता० ने याज्ञ० (२।११८-११९) की टीका करते हुए कहा है कि ११८वें श्लोक का पूर्वार्ध पूरे प्रकरण का शेष (अंग)[३०] है (अर्थात् वह श्लोक के शेष अर्थात् बचे अंश के प्रयोजन को सिद्ध करता है)। इसका परिणाम (यदि मिताक्षरा की बात मान ली जाय) यह है कि यदि किसी दायाद या रिक्थाधिकारी को किसी अनुगृहीत मित्र से, जिसे कुल सम्पदा के व्यय से आभारी किया गया था, भेंट प्राप्त हो, यदि किसी सदस्य के श्वसुर से, जिसे उस सदस्य की वधू के लिए कुल-सम्पत्ति का कुछ भाग दिया गया था, कोई दान प्राप्त हो, या कोई डूबी हुई सम्पत्ति किसी सदस्य द्वारा अन्य पैतृक सम्पत्ति से प्राप्त की गयी या यदि किसी सदस्य ने कुल-सम्पत्ति द्वारा विद्याध्ययन करने के उपरान्त विद्याज्ञान द्वारा कुछ लाभ पाया, तो इस प्रकार की सम्पदाएँ सभी सदस्यों में अवश्य विभाजित होनी चाहिए। किन्तु मिताक्षरा के इस दृष्टिकोण को दायभाग (६।१।८) एवं विश्वरूप ऐसे ग्रन्थों एवं लेखकों ने अमान्य ठहराया है। देखिए इस महाग्रन्थ के खण्ड--३ के पृ० ५७९--५८०।

विनियोग-विधियों के सम्बन्ध में प्रायः यह निर्णय नहीं हो पाता कि उनमें कौन प्रमुख है, कौन गुणभूत अथवा सहकारी हैं। इसी प्रकार कभी-कभी विरोध उपस्थित हो जाता है या सन्देह उत्पन्न हो जाता है। इन सब बातों को निश्चित करने के लिए पूर्व मीमांसा सूत्र ने ६ प्रकार के साधनों का उल्लेख किया है, यथा---**श्रुति** (सीधे ढंग के वैदिक वक्तव्य या वचन), **लिंग** (अप्रत्यक्ष संकेत), **वाक्य** (वाक्य रचना -- सम्बन्धी सम्बन्ध) **प्रकरण** (संदर्भ), **स्थान** (स्थान या अनुक्रम) एवं **समाख्या** (संज्ञा या नाम)। जब इनमें से कई एक साथ हो जाते हैं और एक ही विषय की ओर निर्देश करते हैं तो प्रत्येक आने वाला अपने पूर्व वाले से दुर्बल होता है, क्योंकि प्रत्येक आगे आने वाला अपने से पीछे वाले से अपेक्षाकृत अर्थ के संबंध से अधिक दूर होता है। पू०मी० सू० (३।३।१४) को 'बलाबलाधिकरण' कहा जाता है।[३१]

२९. संस्कारो नाम सभवति यस्मिञ्जाते पदार्थो भवति योग्यः कस्यचिदर्थस्य। तेनापि क्रियायां कर्तव्यायां प्रयोजनमिति सोपि परार्थः। शबर (पू० मी० सू० ३।१।३); तथा संस्कारोप्यव इत्यादि र्या गसाधन पुरोडाशाभि निर्वृत्त्यर्थे चोदितां व्रीह्यादीनां स्वरूपेणायोग्यत्वादवहतानां योग्यत्वमायादयन्नुत्पत्त्यैवाङगं भवतीति। तन्त्रवा० (पृ० ६६०)।

३०. अत्र च पितृद्रव्याविरोधेन यत्किंचित्स्वयमर्जिततमिति सर्वशेषः। ...तथा पितृद्रव्याविरोधेनेत्यस्य सर्वशेषत्वादेव पितृद्रव्याविरोधेन प्रतिग्रह लब्धमपि विभजनीयम्। मिताक्षरा (याज्ञ० २।११८--११९)।

३१. श्रुतिलिंगवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्। पू० मी० सू० (३।३।१४) में समवाय का अर्थ है एकार्थोपनिपात। तन्त्रवार्तिक में आया है: 'समानविषयत्वं हि समवायोऽभिधीयते' और उसमें जोड़ा गया है: 'न ह्येकत्र सम्भवमात्रं समवायः किं तर्हिविषयैकत्वम्' (पृ० ८२२) एवं तस्माद्विरोधविषयमेव समवायग्रहणम् (पृ० ८२३); दुर्बलस्य भावः दौर्बल्यम् अरस्य दौर्बल्यं परदौर्बल्यं तदेव पार दौर्बल्यम्; विप्रकर्ष का तात्पर्य है विलम्ब; शास्त्रदीपिका ने इस सूत्र पर टिप्पणी दी है: 'इदानीं श्रुत्यादीनामेक विषय समवायेन विरोधे सति बलाबलं विचार्यते।'

जहाँ श्रुति एवं लिंग दोनों में विरोध हो जाता है, उसका उदाहरण इस वचन में पाया जाता है—'ऐन्द्री ऋचा के साथ (वह पद्य जो इन्द्र को सम्बोधित है) उसे गार्हपत्य अग्नि की स्तुति करनी चाहिए।' ऐन्द्री पद्य यह है—'निवेशनः संगमनो वसूनां...इन्द्रोन तस्थौ समरे पथीनाम्' (तै० सं० ४।२।५।४)। यहाँ पर सन्देह इस बात को लेकर उठता है कि इन्द्र को सम्बोधित पद्य के साथ इन्द्र की स्तुति की जाय (जैसा कि 'ऐन्द्रया' शब्द से प्रकट होता है) या गार्हपत्य अग्नि की (जैसा कि उक्ति में प्रत्यक्ष रूप से आया है) या इच्छानुसार इन्द्र या गार्हपत्य में किसी की स्तुति की जाय।[३२] निष्कर्ष यह है कि श्रुति (प्रत्यक्ष श्रूयमाण कथन या वचन) लिंग की अपेक्षा अधिक बलशाली होता है। 'गार्हपत्यम् उपतिष्ठते' शब्दों को सुनने पर लगता है, हमको गार्हपत्य की पूजा के लिए वेद द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्देश मिल रहा है। 'ऐन्द्रया' शब्द करण कारक में है, (यथा 'दध्ना जुहोति' अर्थात् दही से होम करता है) अतः वह केवल गुण बताता है कि जो मन्त्र कहा जायेगा वह इन्द्र को सम्बोधित है और यहाँ कोई अन्य शब्द ऐसा नहीं है जो यह स्पष्ट रूप से बतलाये कि इन्द्र की स्तुति करनी है। शबर (पू० मी० सू० ३।२।४) ने व्याख्या की है कि गार्हपत्य में इन्द्र की कुछ विशेषताएँ (गुण) पायी जाती हैं, अतः रूपक के रूप में उसे इन्द्र कहा जा सकता है (जैसे कि हम वीर पुरुष को सिंह कह देते हैं), क्योंकि गार्हपत्य इन्द्र की भाँति यज्ञ करने का एक साधन है या गार्हपत्य 'इन्द्' धातु के अर्थवश इन्द्र कहा जा सकता है और उसका अर्थ ईश्वर या स्वामी हो सकता है।[३३]

इन छह साधनों में प्रत्येक अपने अनुसारी साधनों के विरोध में पड़ सकता है। अतः श्रुति के लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान या समाख्या से विरोध के पाँच प्रकार हो सकते हैं। लिंग-सम्बन्धी विरोध की चर्चा ऊपर हो चुकी है। लिंग एवं वाक्य में विरोध के चार प्रकार होंगे, या तीन साधनों में प्रत्येक के साथ विरोध

३२. निवेशनः संगमनो वसूनामित्यैन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते। मैत्रा० सं० (३।२।४)। यह मन्त्र वचन में आया है। कुछ लोगों के मत से (यथा—भामती, वेदान्तसूत्र, ३।३।२५) ऐन्द्री मन्त्र यह है 'कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे। (ऋ० ८।५१।७ एवं वाज० सं० ८।२)। इसका प्रयोग अग्निहोत्र (महोपस्थान) में होता है। पू० मी० सू० (३।३।१४) में 'श्रुति' एवं 'लिंग' शब्द का पारिभाषिक अर्थ किया गया है। सामान्यतः श्रुति का अर्थ होता है वेद या वेद-वचन (मूल)। किन्तु यहाँ पर श्रुति एवं लिंग का अर्थ क्रम से 'निरपेक्षो रवः श्रुतिः' एवं 'शब्दसामर्थ्यं लिंगम्', अर्थात् वैदिक शब्द या उक्ति (वचन) जो स्वतन्त्र (निरपेक्ष) होती है (अर्थात् जिसके लिए किसी मध्यवर्ती पद की आवश्यकता नहीं पड़ती) एवं लिंग का तात्पर्य है शब्दों की अभिव्यंजना-शक्ति। ये दोनों परिभाषाएँ अर्थसंग्रह में दी हुई हैं—'यत्तावच्छब्दस्यार्थमभिधातुं, सामर्थ्यं तल्लिंगम् यदर्थस्याभिधानं शब्दस्य श्रवणमात्रादेवागम्यते स श्रुत्यावगम्यते। श्रवणं श्रुतिः।' शबर (३।३।१३, पृ० ८२५); मिलाइए पाणिनि 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' (१।४।४९), 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' (२।३।१८)। 'ऐन्द्रया' शब्द तृतीया (करण कारक) में है अतः वह 'करण' का अर्थ या भाव प्रकट करता है, किन्तु गार्हपत्य कर्म कारक में है अतः यह हठात् प्रकट करता है कि यह उपस्थान में प्रधान है।

३३. गुणाद्वाप्यभिधानं स्यात्सम्बन्धस्याशास्त्रहेतुत्वात्। (पू० मी० सू० ३।२।४); शबर, 'भवति हि गुणादप्यभिधानम्। यथा सिंहो देवदत्तः... इति। एवमिहाप्यनिन्द्रे गार्हपत्य इन्द्रशब्दो भविष्यति। अस्ति चास्यैन्द्रसादृश्यम्। यथैवेन्द्रो यज्ञसाधनमेवं गार्हपत्योपि। अथवेन्दतेरैश्वर्य-कर्मण इन्द्रो भवति। भवति च गार्हपत्यस्यापि स्वस्मिन् कार्ये ईश्वरत्वम्।'; देखिए भामती (वे० सू० ३।३।२५ पर)।

होगा। इसी प्रकार वाक्य का प्रकरण तथा अन्य दो साधनों से विरोध हो सकता है, प्रकरण का स्थान या समाख्या से तथा स्थान का समाख्या से विरोध हो सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि छह साधनों के अपने में १५ प्रकार के विरोध हो सकते हैं। इन छह साधनों में प्रत्येक के अपने पूर्ववर्ती साधनों के विरोध पर हमें ध्यान नहीं देना चाहिए, क्योंकि ऐसा कहना कि लिंग श्रुति के विरोध में पड़ता है, वैसा ही है जैसा कि यह कहना कि श्रुति लिंग के विरोध में पड़ती है। स्थानाभाव से इस प्रकरण को हम यहीं छोड़ते हैं, क्योंकि इन सभी प्रकार के १५ विरोध-दृष्टान्तों को वेद एवं धर्मशास्त्र ग्रन्थों से उदाहरण देकर समझाने में एक लम्बा आख्यान उपस्थित हो जायगा।

धर्मशास्त्र ग्रन्थ **बलाबल** नामक अधिकरण (पू० मी० सू० ३।३।१४) का बहुधा प्रयोग करते हैं। उदाहरणार्थ, पराशरमाधवीय (१।१, पृ० २६८—२६६) ने एक श्रुति-वचन उद्धृत किया है कि प्रत्येक व्यक्ति को सायंकालीन आह्निक सन्ध्या वरुण को सम्बोधित मन्त्रों के साथ आदित्य-पूजा के रूप में करनी चाहिए तथा टिप्पणी की है कि वारुणीभिः' (ऐन्द्रया के समान) केवल लिंग है किन्तु 'आदित्यमुपस्थाय' श्रुति (प्रत्यक्ष वचन) है, इसलिए सायंकाल में वरुण को सम्बोधित मन्त्रों के साथ सूर्य (आदित्य) की पूजा की जानी चाहिए, और अपने कथन की पुष्टि के लिए 'ऐन्द्रया गार्हपत्यम् उपतिष्ठते' के दृष्टान्त की ओर संकेत किया है।[३४]

पू० मी० सू० के चौथे अध्याय में मुख्यतः **प्रयोज्य** एवं **प्रयोजक** तथा **क्रत्वर्थ** एवं **पुरुषार्थ** के विषय का विवेचन पाया जाता है। क्रत्वर्थ एवं पुरुषार्थ के विषय में हमने पहले ही गत अध्याय में पढ़ लिया है। प्रथम दो के कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं। प्रयाजों को क्रत्वर्थ घोषित किया गया है। अतः क्रतु (यज्ञ) प्रयाजों का प्रयोजक (प्रेरणात्मक शक्ति) है। फल (यथा स्वर्ग आदि) को याग (अर्थात् पुरुषार्थ क्रिया) का प्रयोजक कहा जाता है। वही प्रयोजक होता है जिसके लिए व्यक्ति वैदिक स्तुतिवचन द्वारा कुछ सम्पादित करता है। वाक्य यों है—'स्वर्ग की प्राप्ति के लिए दर्शपूर्णमास यज्ञ करना चाहिए,' अतः फल (स्वर्ग आदि) को दर्शपूर्णमास—याग का प्रयोजक कहा जायगा।[३५] दूध में दही मिलाने की व्यवस्था से व्यक्ति को **आमिक्षा** उत्पन्न करने की प्रेरणा मिलती है न कि वाजिन बनाने की। क्योंकि वाजिन तो आमिक्षा की उत्पत्ति पर स्वतः उत्पन्न होता है। अतः आमिक्षा, जो वैश्वदेवयाग में हवि होती है, वैश्वदेवयाग का प्रयोजक है किन्तु वाजिन-याग को दूध में दही डालने का प्रयोजक नहीं कहा जा सकता (पू० मी० सू० ४।१।२२—२४)। परिणाम यह होता है, यदि संयोग से आमिक्षा नष्ट हो जाय तो हवि (आमिक्षा) की प्राप्ति के लिए दही को

३४. वारुणीभिस्तथादित्यमुपस्थाय प्रदक्षिणम्। यद्यपि वारुणीभिर्वरुणस्योपस्थानं लिंगबलात् प्राप्तं तथापि श्रुतेः प्राबल्यात् तथा लिंगं बाधित्वा आदित्योपस्थाने एव विनियुज्यते। परा० मा० (१।१, पृ० २६८-२६६)। पराशर० ने 'इमं मे वरुण' (ऋ० १।२५।१६-२०) को वारुणी मन्त्रों के रूप में लिया है।

३५. मिलाइए शबर (पू० मी० सू० ४।१।१: अथातः क्रत्वर्थपुरुषार्थयोर्जिज्ञासा) : 'यापि प्रयोजकाप्रयोजकफलविध्यर्थवादालिंगप्रधानचिन्ता सापि क्रत्वर्थपुरुषार्थजिज्ञासैव। कथम्। अंगं क्रत्वर्थः प्रधानं पुरुषार्थः। फलविधिः पुरुषार्थः, अर्थवादः क्रत्वर्थः। प्रयोजकः कश्चित्पुरुषार्थोऽप्रयोजकः क्रत्वर्थः। तस्मात्क्रत्वर्थपुरुषार्थयोर्जिज्ञासेति सूचितम् ... क्रतवे यः स क्रत्वर्थः, पुरुषाय यः स पुरुषार्थः।

पुनः तप्त दूध में डालना होगा, किन्तु यदि वाजिन (जो प्रयोजक नहीं है) नष्ट हो जाय तो दही को पुनः तप्त दूध में डालने की आवश्यकता नहीं है।[36]

'पुरुषार्थ' कर्मों के उदाहरण गत अध्याय (२६) में दिये जा चुके हैं, यथा—प्रजापतिव्रत। पूर्व-मीमांसा-सूत्र के चौथे अध्याय में (दूसरे पाद में) प्रतिपत्तिकर्म एवं अर्थकर्म के कतिपय दृष्टान्त उपस्थित किये गये हैं। बहुत से ऐसे द्रव्य, प्रसाधन (संस्कार) एवं सहकारी कर्म होते हैं जिनके साथ फल सम्बन्धित रहता है। उदाहरणार्थ , ऐसा कहा गया है (तै० सं० ३।७।५।२ में) 'जिसकी जुहू पर्ण (पलाश) की लकड़ी की बनी होती है, वह अपने विषय में कोई बुरा अथवा हानिप्रद शब्द नहीं सुनता' ; 'वह कि वह (अपनी आँखों में) अञ्जन लगाता है, वह अपने शत्रु की आँख को हानि पहुँचाता है' (तै० सं० ६।१।१।५); 'यह कि वह प्रयाजों एवं अनुयाजों का सम्पादन करता है, वह, सचमुच यज्ञ का कवच है।' पू० मी० सू० ने घोषित किया है कि द्रव्यों, प्रसाधनों (संस्कारों) एवं सहायक कर्मों से सम्बन्धित फल विषयक वचन, वास्तव में फलों की विधियाँ नहीं हैं, प्रत्युत वे केवल अर्थवाद हैं, क्योंकि वे सभी प्रधान क्रतु के उद्देश्य की पूर्ति करते हैं।[37]

यह चौथा अध्याय (तीसरा पाद) यह निश्चित करता है कि यद्यपि विश्वजित् यज्ञ के सम्पादन के लिए श्रुति (वेद) द्वारा कोई फल स्पष्ट रूप से घोषित नहीं है, तथापि विश्वजित् यज्ञ में (जैसा उन यज्ञों में होता है, जहाँ फल स्पष्ट रूप से उल्लिखित नहीं है) फल स्वर्ग की प्राप्ति है।[38]

विश्वजित् वह विलक्षण यज्ञ है जिसमें यजमान अपना सब कुछ दान कर देता है ('विश्वजिति सर्वस्वं ददाति')। जैमिनि ने इसके विषय में चौदह अधिकरण बनाये हैं , कुछ मनोरंजक प्रमेय ये हैं—यजमान अपने सम्बन्धियों (यथा पिता या माता) का दान नहीं कर सकता, वह केवल उसी का दान कर सकता है जिसका वह स्वामी होता है; यहाँ तक कि सम्राट अपने सम्पूर्ण साम्राज्य का दान नहीं कर सकता, क्योंकि अन्य व्यक्ति भूमि पर अधिकार रखते हैं और राजा लोगों की रक्षा करता है और केवल भूमि की उपज के किसी अंश का अधिकारी होता है। यजमान अश्वों का दान नहीं कर सकता, क्योंकि श्रुति ने स्पष्ट रूप से विश्वजित् में घोड़ों के दान को अमान्य ठहराया है। यजमान केवल उसी सम्पत्ति का दान कर सकता है जो यज्ञ में दक्षिणा देने के समय उसकी अपनी हो, न कि उस सम्पत्ति का जो भविष्य में उसकी होने वाली हो। वह शूद्र भी जो यजमान की सेवा करता है (मनु के मतानुसार सेवा करना उसका धर्म है) दान में नहीं दिया जा सकता। केवल उसी को विश्वजित् यज्ञ करने का अधिकार है जिसके पास १२० या इससे अधिक गायें हों।

३६. तस्मादामिक्षा प्रयोक्त्री वाजिनमप्रयोजकमिति। शबर (३।१।२३)। यद्युभयं प्रयोजकं वाजिने नष्टे पुनस्तप्ते पयसि दध्यानेतव्यम्। अथ वाजिनमप्रयोजकं नष्टे वाजिने लोपो दध्यानयनस्य। शबर (४।१।२४)।

३७. द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात्फलश्रुतिरर्थवादः स्यात्। पू० मी० सू० (४।३।१०); शबर ने तीन वचन उद्धृत किये हैं—'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति (द्रव्य), यदाङक्ते...चक्षुरेव भ्रातृव्यस्य वृङक्ते (संस्कार), यत्प्रयाजानुयाजा इज्यन्ते वर्म वा एतद्यज्ञस्य क्रियते (कर्म)।

३८. स स्वर्गः स्यात्सर्वान्प्रत्यविशिष्टत्वात्। पू० मी० सू० (४।३।१५)। सर्वान् का अर्थ है सर्वपुरुषान्। शबर ने व्याख्या की है—'सर्वे हि पुरुषाः स्वर्गकामाः। कुत एतत्। प्रीतिर्हि स्वर्गः। सर्वश्च प्रीतिं प्रार्थयते।'; मेधातिथि (मनु २।२) ने इसकी ओर संकेत किया है। देखिए परा० मा० (१।१, पृ० १४८)। विष्णुपुराण (२।६।४६) में आया है—'मनःप्रीतिकरो स्वर्गो नरकस्तद्विपर्ययः। नरकस्वर्गसंज्ञे वै पुण्यपापे द्विजोत्तम ॥

पू० मी० सू० के पाँचवें अध्याय में क्रम का विवेचन है। क्रम वह है जिसके अनुसार किसी यज्ञ के विभिन्न भाग या कृत्य क्रमानुसार आते हैं। विधियाँ किसी यज्ञ में कई कर्मों के सम्पादन के विषय में बताती हैं, वे सदा यह नहीं बतातीं कि वे कर्म (प्रधान या गुणभूत) किस क्रम में किये जायेंगे। उनका क्रम यजमान की इच्छा पर निर्भर नहीं रहता। किसी यज्ञ के कृत्यों के क्रम को निश्चित करने के लिए छह साधनों पर निर्भर होना पड़ता है, यथा--श्रुति, अर्थ (उद्देश्य, योग्यता), पाठ (शाब्दिक वचन), प्रवृत्ति (आरम्भ), काण्ड (वचन अथवा मूल वचन का स्थान), मुख्य।

किसी सूत्र में दीक्षा संबंधी वैदिक वचन के अनुसार अध्वर्यु गृहपति (यजमान) का दीक्षा-सम्पादन करने के पश्चात् ब्रह्मा पुरोहित की दीक्षा करता है और फिर उद्गाता आदि की दीक्षा करता है। यहाँ पर वैदिक वचन ने प्रत्यक्ष रूप से क्रम की व्यवस्था की है, यथा--यजमान (यज्ञ करने वाले) की दीक्षा के उपरान्त ब्रह्मा, तब उद्गाता आदि की दीक्षा होती है। 'समिधो यजति तनूनपातं यजति' आदि में याक्यों का क्रम ही विभिन्न यागों के सम्पादन के क्रम को निश्चित करता है (पू० मी० सू० ५।१।४)। वेद सर्वप्रथम अग्निहोत्र की बात करता है और तब यवागू (लपसी) पकाने की बात उठाता है। यहाँ पर अग्निहोत्र को क्रम में प्रथम स्थान प्राप्त है और उसके उपरान्त यवागू पकाने को स्थान दिया गया है। किन्तु जब तक अर्पित किया जाने वाला पदार्थ बन न जाय अग्निहोत्र नहीं किया जा सकता। अतः यहाँ पर पाठक्रम को छोड़ देना पड़ेगा और अर्थक्रम (उद्देश्य तथा यथायोग्यता द्वारा घोषित क्रम) का अनुसरण करना होगा, अर्थात् सर्वप्रथम यवागू बनानी होगी और तब अग्निहोत्र किया जायगा।[३९] यह एक ऐसा उदाहरण है जो यह प्रदर्शित करता है कि अर्थक्रम पाठक्रम से अपेक्षाकृत अधिक शक्तिशाली होता है (पू० मी० सू० (५।४।१)। पराशरस्मृति में ऐसी व्यवस्था दी हुई है कि प्रतिदिन सन्ध्या (प्रातःकालीन उपासना), स्नान, जप (पवित्र वचनों का मन ही मन पाठ), होम, वेदाध्ययन, देवता-पूजन, वैश्वदेव तथा आतिथ्य करने चाहिए। पराशरमाधवीय का कथन है[४०] कि पाठ के क्रम स्थान पर यथायोग्यता (क्या उचित है) का अनुसरण करना चाहिए, अतः प्रथम स्नान होना चाहिए और तब सन्ध्या। स्मृतिचन्द्रिका ने वृद्धमनु को उद्धृत कर कहा है कि पुत्रहीन पवित्र विधवा को मृत पति के लिए पिण्ड देना चाहिए और उसकी सम्पदा ग्रहण करनी चाहिए। यहाँ पर ऐसा मानना उचित है कि वह पहले उसकी (पति की) सम्पदा ग्रहण कर ले और तब उसके श्राद्धों को करे। वाजपेय में ऐसा वचन आया है कि यज-

३९. अग्निहोत्रं जुहोतीति पूर्वमाम्नातम्, ओदनं पचतीति पश्चात्। असम्भवात् पूर्वमोदनः पक्तव्यः। शबर (५।१।३)। और देखिए शबर (५।४।१ पर)।

४०. सन्ध्या स्नानं जपो होमो देवतातिथिपूजनम्। आतिथ्यं वैश्वदेवं च षट् कर्माणि दिने दिने।। पराशरस्मृति (१।३९)। देखिए परा० मा० (१।२।१८), जहाँ आया है--"सन्ध्यास्नानमित्यत्र यवागूपाकन्यायेन स्नानस्य प्राथम्यं व्याख्येयम्।... 'यवाग्वाग्निहोत्रं जुहोति यवागुं च पचति' इति श्रूयते।... यवाग्वा इति तृतीयया श्रुत्या होमसाधनत्वावगमादसति च द्रव्ये होमनिष्पत्तेरर्थाद् यवागूपाकः पूर्वभावीति सिद्धान्तः। एवमत्रापि स्नानस्य शुद्धिहेतुत्वाच्छुद्धस्यैव सन्ध्यावन्दनाधिकारित्वात्स्नानं पूर्वभावीति द्रष्टव्यम्। वृद्ध-मनु--अपुत्रा शयनं भर्तुः पालयन्ती व्रते स्थिता। पत्न्येव दद्यात्तत्पिण्डं कृत्स्नमंशं लभेत च।। और टिप्पणी भी की गयी है--'उत्तरार्धे त्वर्थक्रमेण पाठक्रमबाधो द्रष्टव्यः। ततश्चायमर्थः। उक्तलक्षणा पत्न्येव भर्त्रंशं कृत्स्नं लभेत पश्चात्पिण्डं दद्यात्। न पुनस्तस्यां सत्यां भ्रात्रादिरिति। स्मृतिच० (२, पृ० २९१)।

मान को प्रजापति के लिए यूप (यज्ञिय खूंटा, जिसमें बाँधकर बलि दी जाती है) में १७ पशु बाँधने चाहिए (तै० ब्रा० १।३।४। २-३)। इसकी भी व्यवस्था है कि १७ पशुओं में प्रत्येक के साथ कई संस्कार किये जाने चाहिए, यथा--प्रोक्षण (पवित्र जल छिड़कना), उपाकरण (पास लाना)। इन १७ पशुओं में किसी से भी कार्यारम्भ हो सकता है, अर्थात् किसी के साथ प्रथम संस्कार किया जा सकता है, किन्तु किसी पशु के साथ आरम्भ कर दिये जाने पर अन्य संस्कार भी उसी के साथ हो जाने चाहिए; अर्थात् संस्कारों का क्रम किसी पशु पर आरम्भ किये जाने से निश्चित किया जाता है। काण्ड या स्थान का दृष्टान्त निम्नलिखित है। ज्योतिष्टोम एक आदर्श यज्ञ (प्रकृति) है, जिसका साद्यस्क एक विकृति है। साद्यस्क के विषय में वेद द्वारा यह व्यवस्था दी हुई है कि सभी पशुओं की बलि सवनीय स्तर पर एक साथ होनी चाहिए। ज्योतिष्टोम में तीन पशुओं की बलि दी जाती है, यथा--प्रातःकाल 'अग्निषोमीय', मध्याह्न में 'सवनीय' एवं सायंकाल 'अनुबन्ध्य'। साद्यस्क एक विकृति है, ये सभी बलि इसमें सम्पादित होती हैं; किन्तु इस विषय के विशिष्ट वचन ने व्यवस्था दी है कि तीनों की बलि एक साथ सवनीय स्तर पर होनी चाहिए। किन्तु यह (तीनों का साथ किया जाना) असम्भव है इसीलिए यही किया जा सकता है कि इन तीनों का सम्पादन एक के उपरान्त एक के रूप में ही किया जा सकता है (न कि दिन के विभिन्न कालों में)। प्रथम दृष्टि में ऐसा लगेगा कि अग्नीषोमीय पशु का स्थान सर्वप्रथम होगा, किन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि साद्यस्क याग में सवनीय स्तर पर एक के उपरान्त एक बलि के क्रम में सर्वप्रथम सवनीय पशु की बलि होगी (अग्नीषोमीय की नहीं) और उसके उपरान्त अग्नीषोमीय की और उसके तुरन्त उपरान्त अनुबन्ध्य की या अन्तिम दो की बलि किसी भी क्रम में हो सकती है।

मुख्य (प्रथम या प्रधान) द्वारा निश्चित अनुक्रम का एक उदाहरण यों है--'दो सारस्वत हवियाँ दी जाने वाली हैं, वास्तव में यह दिव्य मिथुन (जोड़ा) है'।[४१] यह एक श्रुतिवचन है। सरस्वती एवं सारस्वत की आहुतियों के विषय में सविस्तार वर्णन मिलता है। सन्देह यों उपस्थित होता है--क्या नारी देवता को दी जाने वाली आहुतियाँ पहले होती हैं या वे सर्वप्रथम पुरुष देवता को दी जाने वाली आहुतियाँ हैं? प्रथम दृष्टि में तो ऐसा लगता है कि पहले किसके लिए प्रथमता दी जाय, इस विषय में शास्त्र मूक है, अतः जो जैसा चाहे करे।

४१. सारस्वतौ भवत एतद्वै दैव्यं मिथुनं दैव्यमेवास्मै मिथुनं मध्यतो दधाति पुष्टयै प्रजननाय। तै० सं० (२।४।६।१-२)। यह चित्रायाग के सम्बन्ध में उल्लिखित है, जिसमें सात गौण आहुतियाँ व्यवस्थित हैं, जिनमें दो सारस्वत कहलाती हैं। 'सारस्वतौ' का अर्थ है 'सरस्वतीदेवताकः सरस्वद्देवताकश्चेत्युभौ सारस्वतौ।' पू० मी० सू० में आया है--मुख्यक्रमेण वांगानां तदर्थत्वात्' (५।१।१४)। याज्ञवल्क्य (२।१३५) ने पुत्रहीन व्यक्ति की मृत्यु के उपरान्त उसकी पत्नी, पुत्री एवं माता-पिता (पितरौ) को उसका उत्तराधिकारी माना है। मान लीजिए कोई व्यक्ति अपने पिता एवं माता के जीते ही मर जाता है तो ऐसी स्थिति में किसको उत्तराधिकार मिलेगा? क्या माता को पिता से वरीयता मिलेगी या पिता को माता से, या दोनों को सम्पत्ति का बराबर भाग मिलेगा? मिताक्षरा ने माता को वरीयता दी है, स्मृतिचन्द्रिका ने 'सारस्वतौ भवतः' के उदाहरण की ओर निर्देश किया है और दोनों में किसको प्रमुखता दी जाय, इसके विषय में सम्मति दी है कि बृहद्विष्णु जैसी स्मृतियों के अनुसार सर्वप्रथम पिता को अधिकार प्राप्त होता है। दायभाग ने माता की अपेक्षा पिता को वरीयता प्रदान की है और व्यवहारप्रकाश (पृ० ५२४), मदनरत्न (पृ० ३६४) जैसे कतिपय ग्रन्थों ने भी ऐसा ही कहा है। देखिए स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० २९७)।

निश्चित निष्कर्ष यह है कि विस्तार के विषय का क्रम याज्यानुवाक्या मन्त्रों से तय किया जाय। ये 'प्र णो देवी सरस्वती' (तै० सं० १।८।२२।१, ऋ०, ६।६१।४) नामक शब्दों में नारी देवता के बारे में सर्वप्रथम उल्लिखित हैं। अतः निष्कर्ष यह है कि विस्तार में भी नारी देवता वाली आहुतियाँ पहले होनी चाहिए।

पू० मी० सू० (५।१।१६) में यह निर्णीत हुआ है कि मन्त्रों द्वारा उपस्थित क्रम को ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित क्रम की अपेक्षा वरीयता प्रदान की जानी चाहिए। दर्शपूर्णमास यज्ञ में आग्नेय, उपांशु एवं अग्नीषोमीय अन्य यज्ञ समाहित हैं। तै० सं० (२।५।२।३) में अग्नीषोमीय यज्ञ का उल्लेख पहले हुआ है और तै० सं० (२।६।३।३) में आग्नेय का उल्लेख हुआ है। किन्तु ये ब्राह्मण-ग्रन्थ कहे जाते हैं, यद्यपि अब वे संहिता-वचनों में उल्लिखित हैं, क्योंकि उन्होंने विधि की व्यवस्था दी है। किन्तु मन्त्रपाठ में आग्नेय मन्त्र 'अग्निर्मूर्धा' (तै० ब्रा० ३।५।७।१) सर्वप्रथम आया है और उसके उपरान्त 'अग्नीषोमा सवेदसा' (तै० ब्रा० ३।५।७।२) आया है। अतः आग्नेय का सम्पादन पहले होना चाहिए और उसके उपरान्त अग्नीषोमीय का।

यदि कतिपय कर्मों या वस्तुओं द्वारा बहुत से देवताओं का आतिथ्य करना हो, या यदि बहुत से यूप (यज्ञिय स्तम्भ या खूँटे) हों, यथा—ऐकादशिनी पशुबलि में, जिन पर अंजन से लेकर परिव्याण (मेखला या करधनी से घेरना) तक के संस्कार किये जाते हैं, तो क्या अंजन से लेकर परिव्याण तक के सारे संस्कार प्रथम यूप पर और उसके उपरान्त उन्हीं संस्कारों को दूसरे यूप पर करके उसी क्रम से अन्य सभी यूपों के साथ ऐसा करना चाहिए, या सभी यूपों पर एक-एक करके अंजन लगा देना चाहिए और अन्य संस्कार सभी यूपों पर एक-के उपरान्त एक करके कर देने चाहिए और इस प्रकार अन्तिम संस्कार परिव्याण का सम्पादन सभी यूपों पर एक के उपरान्त एक करके करना चाहिए। प्रथम ढंग को 'काण्डानुसमय' एवं दूसरे को 'पदार्थानुसमय' कहा जाता है।[४२] जैमिनि ने (५।२।७–६) एवं (५।२।१–३) में क्रम से प्रथम एवं द्वितीय ढंग का उल्लेख किया है। इस विषय में देखिए इस महाग्रन्थ का मूलखण्ड २, पृ० ७३६–७४०, पृ० ११३२, पाद-टिप्पणी २५२८ तथा खण्ड ४, पृ० ४४१–४२, पाद-टिप्पणी ६८७। याज्ञ० (१।२३२ : 'अपसव्यं ततः कृत्वा') पर मिताक्षरा की टिप्पणी है कि श्राद्धकर्ता वैश्वदेव ब्राह्मणों के लिए काण्डानुसमय ढंग अपनाता है, अर्थात् पहले पैर धोने के लिए जल देता है, तब आचमन के लिए जल देता है, तब आसन, चन्दन, पुष्प आदि देता है, तब वह अपने दाहिने कंधे पर यज्ञोपवीत (जनेऊ) धारण करता है और पित्र्य ब्राह्मणों को उपचारों का अर्पण करता है।

पूर्वमीमांसा सूत्र का छठा अध्याय अति मनोरंजक है। इसमें यज्ञकर्ता की अर्हताओं एवं उसके अधिकार के प्रश्न के विभिन्न स्वरूपों का विवेचन है। यह लम्बा अध्याय है जिसमें तीसरे एवं दसवें अध्याय के समान आठ पाद हैं। धर्मशास्त्र के ग्रन्थों पर इस अध्याय के कतिपय सिद्धान्तों का बड़ा प्रभाव पड़ा है, यथा वैदिक यज्ञों में सम्मिलित होने में स्त्रियों का अधिकार, उसी विषय में शूद्रों का अधिकार, रथकार-न्याय, निषाद-

४२. जैमिनि (५।२।१-३) पर पार्थसारथि का कथन है—'प्रथमं सर्वेषां कृत्वा ततो द्वितीयः कर्तव्यः। एवं दर्शपूर्णमासादिष्वनेकप्रधानसमवाये पदार्थानुसमय एव न्याय्यो न काण्डानुसमय इति स्थितम्।' शास्त्रदीपिका-(पृ० ४२१);.....गार्ग्यनारायण ने (आश्वलायनगृह्य सूत्र १।२४।७ पर) व्याख्या की है—तत्र पदार्थानुसमयो नाम सर्वेषां वरणक्रमेण विष्टरं दत्त्वा ततः पाद्यं ततोऽर्घ्यमिति। काण्डानुसमयो नाम एकस्यैव विष्टरादिगोनिवेदनान्तं समाप्य ततोऽन्यस्य सर्वं ततोऽन्यस्येति। व्य० म० (पृ० ६६) ने 'तुला' नामक दिव्य में देवताओं की पूजा में पदार्थानुसमय की चर्चा की है।

दस्थपति-न्याय आदि का, और हमने इनका पहले ही उल्लेख भी कर दिया है। जैमिनि ने पू० मी० सू० (६।१। १–३) में प्राथमिकी के रूप में स्थापना की है कि इस प्रकार के वचनों में, यथा–'स्वर्गकामी को दर्शपूर्णमास या ज्योतिष्टोम यज्ञ करना चाहिए,' वेद ने स्वर्ग की इच्छा करने वाले के लिए याग की व्यवस्था की है, अर्थात् स्वर्ग को प्रधान तत्त्व कहा गया है और याग को सहकारी या गौण स्थान दिया गया है, जिससे यह प्रकट होता है कि वैदिक वचन ने यज्ञकर्ता की विशेषताओं का उल्लेख किया (व्यवस्था की) है। टुप्टीका का कथन है कि अधिकारी स्वामी है जो सभी कर्मों (याग) के ऊपर अवस्थित है।[४३] एक अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत परिभाषाएँ दी गयी हैं—'अधिकारी वह है (अर्थी) जो किसी फल की आशा करता है (यथा स्वर्ग या सुख की), (**समर्थ**) जो व्यवस्थित कर्म के सम्पादन की **समर्थता** रखता है, जो **विद्वान** होता है और जो श्रुति द्वारा यज्ञ करने के लिए अमान्य नहीं ठहराया गया है।' छोटे-छोटे जीव भी सुख की कामना करते हैं; अतः उन्हें 'व्यवस्थित कर्म के सम्पादन की समर्थता' आदि शब्दों द्वारा अलग कर दिया गया है। यह सम्भव है कि कोई व्यक्ति पूर्णरूपेण अबोध हो, इसीलिए 'विद्वान्' शब्द जोड़ा गया है। शूद्र भी सुख (आनन्द) की कामना कर सकता है, समर्थ हो सकता है और विद्वान् हो सकता है, किन्तु उसे "शूद्र यज्ञ के योग्य नहीं है" इस वैदिक वचन द्वारा अलग कर दिया गया है।

पू० मी० सू० (६।१।३६-४०) में यह निश्चित किया गया है कि तीन उच्च वर्णों में प्रत्येक को वैदिक यज्ञों के सम्पादन का अधिकार है। एक व्यक्ति एक बार धनहीन हो सकता है, किन्तु आगे चलकर वह विविध साधनों से धन एकत्र कर सकता है। उसी प्रकार ६।१।४१ में ऐसा आया है कि जो किसी अंगविकलता से संकुल है (उसका कोई अंग व्याधिग्रस्त या अनुपयोगी हो गया है) वह धनहीन व्यक्ति के समान ही है, अर्थात् ऐसे व्यक्ति को, यदि वह अपनी अंग-दुर्बलता को दूर कर ले तो वैदिक यज्ञों के सम्पादन का अधिकार है। ६।१।४२ में यह भी व्यवस्था दी हुई है कि यदि दोष जन्मजात है या उसे अच्छा नहीं किया जा सकता तो ऐसे दोष से ग्रस्त रहने वाले को वैदिक यज्ञों के सम्पादन का अधिकार नहीं है।

इसी के आधार पर रिक्थ एवं रिक्थाधिकार से सम्बन्धित प्राचीन एवं मध्यकालीन हिन्दू व्यवहार (कानून) निरूपित किया गया है। देखिए याज्ञ० (२।१४०), मनु (९।२०१) एवं नारद (दायभाग, श्लोक २१-२२)। याज्ञ० (२।१४०) में घोषित है कि नपुंसक, जातिभ्रष्ट एवं उसका पुत्र, लँगड़ा, पागल, मूर्ख, अंधा तथा असाध्य

४३. **तस्मात्स्वर्गकामस्य यागकर्मोपदेशः स्यात्। अतः स्वर्गः प्रधानतः कर्म गुणतः इति स्वर्गकाममधिकृत्य यजेतेति वचनमित्यधिकारलक्षणमिदं सिद्धम्। शबर (पू० मी० सू० ६।१।३); अधिकारीति कर्मणामुपरिभावेनावस्थितः स्वामीत्यर्थः। टुप्टीका (उसी पर); अर्थी समर्थो विद्वान् शास्त्रेणापर्युदस्तोधिकारी। सर्वदर्शनकौमुदी (पृ० १०३)। शबर एवं कुमारिल ने विभिन्न स्थानों पर जो कुछ कहा है उसका सार-संक्षेप सर्वदर्शनकौमुदी ने एक ही स्थान पर दे दिया है, यथा—'न चैतदस्ति तिर्यगादीनामप्यधिकार इति। कस्य तर्हि। यः समर्थः कृत्स्नं कर्माभिनिर्वर्तयितुम्। न देवानां देवतान्तराभावात्। न ह्यात्मानमुद्दिश्य त्यागः सम्भवति। त्याग एवासौ न स्यात्। ...अपि च तिर्यञ्चो न कालान्तरफलेनार्थिनः। आसन्नं हि ते कामयन्ते। ...न चैते (तिर्यञ्चः) वेदमधीयते नापि स्मृतिशास्त्राणि। नाप्यन्येभ्योऽवगच्छन्ति। तस्मान्न विदन्ति धर्मम्। अविद्वांसः कथमनुतिष्ठेयुः। शबर (पू० मी० सू० ६।१।५)। शूद्रो मनुष्याणामश्वः पशूनां तस्मात्तौ भूतसंक्रामिणावश्वश्च शूद्रश्च। तस्माच्छूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः। तै० सं० (७।१।१।६)। सायण ने 'अनवक्लृप्तः' को 'यज्ञे प्रवर्तितुं न योग्यः' के अर्थ में लिया है।**

रोग से पीड़ित रहने वाला व्यक्ति (रिक्थ का) भाग नहीं पाता, वह केवल जीविका का अधिकारी है। देखिए इस महाग्रन्थ का मूलखण्ड ३, पृ० ६१०-६१२। मिताक्षरा (याज्ञ० २।१४०) में आया है कि अयोग्यता की बातें पुरुषों एवं नारियों पर समान रूप से लागू होती हैं। किन्तु अभी कुछ वर्ष पूर्व (सन् १९५६ में) हिन्दू उत्तराधिकार व्यवहार (कानून, सं० ३२) द्वारा अयोग्यता की सभी धाराएँ समाप्त कर दी गयीं, अब कोई भी व्यक्ति रोग, दोष या शरीर-विकलता के आधार पर रिक्थाधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता, केवल उन्हीं बातों पर प्रतिबन्ध है जो इस व्यवहार (कानून) के अन्तर्गत (२८ वाँ प्रकरण) हैं।

छठे अध्याय के बहुत-से सूत्र 'प्रतिनिधि' के विषय में विवेचन उपस्थित करते हैं। इन सूत्रों का विवेचन इस महाग्रन्थ के मूल खण्ड २ पृ० ६८४, १११०, १२०३, खण्ड ३, पृ० ४७१, ६३७, ६५३, ६५४ (जहाँ सत्या-षाढ श्रौतसूत्र ३ का उल्लेख समान नियमों के कारण किया गया है) में हो चुका है। कुछ उदाहरण यहाँ उल्लि-खित हो रहे हैं। प्रथम नियम यह है कि यदि आहुति के लिए वेद द्वारा घोषित पदार्थ नष्ट हो जाय और वह आहुति नित्य (आवश्यक) हो या उस काम्य कृत्य के लिए हो जिसका आरम्भ हो चुका हो तो दूसरे पदार्थ द्वारा प्रतिनिधित्व कराया जा सकता है। यथा-व्रीहि (चावल) या यव के स्थान पर नीवार का प्रतिनिधित्व हो सकता है (६।३।१३-१७)। कुछ बातों में वैदिक वचनों ने प्रयोग में लायी जाने वाली वस्तु के स्थान पर प्रतिनिधि की छूट दे दी है, यथा—'यदि यजमान को सोम का पौधा न मिले तो वह पूतीका-डण्ठल को प्रयोग में ला सकता है और उसके रस से कर्म-सम्पादन कर सकता है।' विरोधी तर्क उपस्थित करता है कि वेद ने स्पष्ट रूप से सोम के प्रतिनिधित्व के लिए पूतीका की व्यवस्था कर दी है, अतः जहाँ वेद सर्वथा मौन है वहाँ ऐसा समझना चाहिए कि वेद ने वहाँ प्रतिनिधि की व्यवस्था नहीं की है। सिद्धान्त यह है कि प्रतिनिधि के रूप में पूतीका की व्यवस्था एक प्रतिषेधात्मक नियम है, अर्थात् यद्यपि सोम से मिलते-जुलते बहुत-से पौधे प्राप्त हो सकते हैं, किन्तु प्रतिषेध या नियन्त्रण यह है कि केवल पूतीका से ही प्रतिनिधित्व करना चाहिए। ऐसी व्यवस्था दी गयी है (३।६।३७, ३९) कि जहाँ नीवार जैसे प्रतिनिधियों का प्रयोग होता है, वहाँ जल छिड़कना, ऊखल एवं मूसल से चूर्ण बनाना (चावल या यव को कूट कर चूर्ण बनाना) आदि सहायक कर्म भी उन पर किये जाते हैं। चावल के प्रयोग में मन्त्र स्पष्ट रूप से कहता है कि केवल अन्न की (भूसी से रहित चावल की) आहुति होती है। 'नीवाराणां मेध' (पू० मी० सू० ९।३।१-२) के रूप में ऊह (अनुकूलन) किया जाता है।[४४] किन्तु कुछ बातों में प्रतिनिधि की बात नहीं उठती। उस देवता का, जिसके लिए हवि की व्यवस्था रहती है, प्रतिनिधित्व किसी अन्य द्वारा नहीं होता, यथा 'आग्नेयोऽष्टाकपालः' का परिवर्तन 'ऐन्द्रोऽष्टाकपालः' के रूप में नहीं हो सकता, क्योंकि वैसी स्थिति में कृत्य का उद्देश्य ही समाप्त हो जायेगा। इसी प्रकार जब ऐसा वचन आया है कि 'वह आहवनीय अग्नि में आहुति डालता है' तो वहाँ गार्हपत्य अग्नि द्वारा प्रतिनिधित्व नहीं किया जा सकता; एक व्यवस्थित मन्त्र के स्थान पर अन्य मन्त्र नहीं रखा जा सकता और न 'समिधो यजति' आदि प्रयाजों के लिए अन्य कृत्यों की व्यवस्था हो सकती है।[४५]

वेद ने वरक, कोद्रव एवं माष का प्रयोग यज्ञों के लिए वर्जित ठहराया है। यदि कोई व्यक्ति त्रुटिवश माष अन्न को मुद्ग अन्न समझ कर किसी ऐसे यज्ञ में प्रयोग करता है जिसमें उबले मुद्ग की आहुति देने की व्यवस्था

४४. अस्ति तु प्रकृतौ व्रीहिलिंगो मन्त्रः—स्योनं ते सदनं... प्रतितिष्ठ व्रीहीणां मेधं सुमनस्यमान इति। शबर (९।३।१)। यह तै० ब्रा० (३।७।५।२-३) में पाया जाता है। मेध का अर्थ है सारभूत।

४५. न देवताग्निशब्दक्रियमन्यार्थसंयोगात्। पू० मी० सू० (६।३।१८)।

है, तो वैसी स्थिति में वह मनोवांछित कृत्य सम्पादित करता हुआ नहीं समझा जायेगा, क्योंकि जो अयोग्य रूप में वर्जित है वह प्रतिनिधि नहीं हो सकता।[४६]

उपर्युक्त न्याय पर मिताक्षरा ने याज्ञ० (२।१२६, जहाँ ऐसा आया है कि यदि संयुक्त कौटुम्बिक धन को कुछ सदस्य दबा लेते हैं या छिपा लेते हैं और इस प्रकार अपने लिए उसको रख लेते हैं, तो वह प्राप्त किये जाने पर, विभाजन के उपरान्त भी, बराबर भागों में बाँट दिया जाना चाहिए) की टीका करते हुए आधार रखा है और मत प्रकाशित किया है कि इस श्लोक से संयुक्त धन को छिपा रखने के पाप से यह कह कर छुटकारा नहीं प्राप्त हो सकता कि वह (छिपाने वाला) भी एक स्वामी था। मिताक्षरा ने व्याख्या की है कि जिस प्रकार कोई यजमान त्रुटिवश माष को मुद्ग समझ कर आहुति देने से यज्ञ के फल से वञ्चित हो जाता है, उसी प्रकार संयुक्त परिवार के धन को छिपा लेने वाला व्यक्ति अपराधी हो जाता है। व्यवहारप्रकाश (पृ० ५५५) एवं अपरार्क (पृ० ७३२) ने भी यही दृष्टिकोण अपनाया है, किन्तु दायभाग (१२।११-१३) एवं व्यवहाररत्नाकर (पृ० ५२६) ने इस मत का विरोध किया है (देखिए इस महाग्रन्थ का मूल खण्ड ३, पृ० ६३६)। प्रायश्चित्ततत्त्व (पृ० ४८२) ने इस न्याय पर एक विस्तृत टिप्पणी की है।

एक दूसरा नियम यह है कि यज्ञकर्ता का कोई प्रतिनिधि नहीं हो सकता (६।३।२१), क्योंकि ऐसी व्यवस्था (जै० ३।७।१८-२०) है कि कृत्य का फल स्वामी को प्राप्त होता है, भले ही वह प्रारम्भ करने के उपरान्त सभी कुछ अपने पुरोहित (जो कृत्य करने के लिए नियुक्त रहता है) पर छोड़ दे, इस विषय में एक अपवाद है जो सत्रों (जै० ६।३।२२) से सम्बन्धित है, जिनमें बहुत-से व्यक्ति एक साथ कर्ता एवं पुरोहित के रूप में संलग्न रहते हैं।

एक महत्त्वपूर्ण अधिकरण है ६।७।३१-४०। 'विश्वसृजामयनम्' नामक एक सत्र होता है जो १००० संवत्सरों तक चलने वाला होता है। तै० ब्रा० (१।३।७।७ एवं १।३।६।२ : 'शतायुः पुरुषः'), कार्ष्णाजिनि एवं लाबुकायन के मतों की ओर संकेत करने के उपरान्त जैमिनि ने बड़े बल के साथ इस निष्कर्ष की स्थापना की है कि संवत्सर का यहाँ अर्थ है दिवस। देखिए इस महाग्रन्थ का मूल खण्ड २, पृ० १२४६, पाद-टिप्पणी, जहाँ महाभाष्य के कथन की ओर निर्देश किया गया है कि याज्ञिक लोग इस प्रकार के सत्रों की चर्चा करते हुए प्राचीन ऋषियों द्वारा चलायी हुई परम्पराओं का ही अनुसरण करते हैं। मेधातिथि (मनु० १।८४: 'वेदोक्तमायुर्मर्त्यानाम्') ने एक लम्बी टिप्पणी में जैमिनि के दृष्टिकोण की चर्चा की है और 'शतायुर्वै पुरुषः' एवं 'शतमिन्नु शरदो अन्ति देवाः' (ऋ० १।८९।९) का उद्धरण दिया है तथा अन्य व्याख्याताओं के मत दिये हैं। कात्यायनश्रौतसूत्र (१।६।१७-२७) ने इस विषय का विवेचन विस्तार के साथ किया है, भारद्वाज, कार्ष्णाजिनि एवं लौगाक्षि की व्याख्याओं की विभिन्नता की ओर संकेत किया है तथा अन्त में यह मत प्रकाशित किया है कि संवत्सर का अर्थ है 'दिवस'।

४६. **प्रतिषिद्धं चाविशेषेण हि तच्छ्रुतिः। ६।३।२०; प्रतिषिद्धं च न प्रतिनिहितव्यमिति। अविशेषेण ह्येतदुच्यते—न यज्ञार्हा माषा वरका कोद्रवाश्चेति। शबर। सूत्र की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है: 'प्रतिषिद्धं माषादिकं न प्रतिनिधेयं यस्मात् अविशेषेण यज्ञसम्बन्धमात्रे निषेधश्रुतिः। तै० सं० (५।१।८।१) में 'अमेध्या वै माषाः' आया है। और देखिए इस महाग्रन्थ का मूल खण्ड ३, पृ० ६३७ एवं पाद-टिप्पणी १२०९ जहाँ जैमिनि का सूत्र एवं मिताक्षरा का उद्धरण दिया हुआ है।**

२६

पूर्वमीमांसासूत्र के प्रथम ६ अध्यायों में दर्शपूर्णमास जैसे कृत्यों की विधि का, जिसके विस्तार का स्पष्टीकरण वेद द्वारा हुआ है, विवेचन किया गया है। सातवें अध्याय में इसका विवेचन है कि क्या विकृतियों (वे यज्ञ जो आदर्श यज्ञों के परिष्कृत या सहायक रूप हैं) में प्रकृति या प्रधान यज्ञ जोड़े जायेंगे और यदि ऐसा हो तो कौन-से और कितने जोड़े जायेंगे।

सातवें अध्याय में ऐन्द्राग्न एवं अन्य यज्ञों में विस्तार और उनके सामान्य स्थानान्तरण (अर्थात् सामान्य रूप में अतिदेश) का विवेचन पाया जाता है। **अतिदेश** वह विधि या प्रणाली है जिसके द्वारा किसी कृत्य के सम्बन्ध में व्यवस्थित विस्तारों को उस कृत्य के आगे ले जाया जाता है और दूसरे में लगाया जाता है (स्थानान्तरण किया जाता है)। शबर ने किसी प्राचीन लेखक का एक श्लोक उद्धृत कर अतिदेश की परिभाषा की है। वह यज्ञ, जिसके विस्तारों को स्थानान्तरित किया जाता है, **प्रकृति** (आदर्श, नमूना या मूल रूप) कहलाता है तथा वह यज्ञ जिसमें वैसा स्थानान्तरण किया जाता है, **विकृति** कहलाता है। अतिदेश की व्यवस्था **वचन** (वैदिक वाक्य) या नाम से की जा सकती है। (प्रथम के दो प्रकार होते हैं, यथा—प्रत्यक्ष वक्तव्य द्वारा या अनुमानित विधि से) उदाहरणार्थ, 'इषु' नामक इन्द्रजाल-सम्बन्धी यज्ञ के विषय में कुछ विस्तारों का उल्लेख करने के उपरान्त वचन कहता है कि शेषांश वैसा ही है जैसा कि श्येन में है।[४७] अनुमानिक वचन का एक उदाहरण है दर्शपूर्णमास में आग्नेय के विस्तारों का सौर्य यज्ञ तक अतिदेश, क्योंकि दोनों एक-दूसरे से भली-भाँति सम्बन्धित हैं और क्योंकि 'सौर्ययाग' (पू० मी० सू० ७।४।१) के बारे में वचन द्वारा कोई विस्तार व्यवस्थित नहीं है। **नाम** के भी दो प्रकार हैं—कृत्य का नाम एवं संस्कार का नाम। कुण्डपायिनामयन में व्यवस्थित मासाग्निहोत्र (देखिए पू० मी० सू० २।३।२४) नित्य अग्निहोत्र से भिन्न है (यथा 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्' में), किन्तु 'अग्निहोत्र' नाम दोनों में पाया जाता है, अतः सामान्य अग्निहोत्र के विस्तार (यथा—गौ दुहना, दही या दूध का अर्पण, खदिर-समिधा आदि) मासाग्निहोत्र (जै० ७।३।१-४) में अतिदेशित हो सकते हैं। संस्कार नाम के अतिदेश का उदाहरण जैमिनि (७।३।१२-१५) में है। वरुणप्रघास (जो चातुर्मास्यों में एक है) में अवभृथ (स्नान) की व्यवस्था है, किन्तु उसमें विस्तार नहीं जोड़े गये हैं अतः आवश्यक विस्तार सोमयाग के अवभृथ के बारे में दिये गये नियमों से ग्रहण किये जा सकते हैं।

स्मृतियों एवं निबन्धों ने बहुधा **अतिदेश** का आश्रय लिया है। उदाहरणार्थ, याज्ञ० (१।२३६ एवं २४२) ने अग्नौकरण एवं पार्वणश्राद्ध में पिण्डदान के विषय में पिण्डपितृयज्ञ की विधि को विस्तृत कर दिया है। पराशर-स्मृति (७।१८-१९) ने रजस्वला नारी को प्रथम दिन में चाण्डाली, दूसरे दिन में ब्रह्मघातिनी एवं तीसरे दिन में रजकी (धोबिन) कहा है। पराशरमाधवीय ने इस पर टिप्पणी की है कि इन नामों से पुकारे जाने का तात्पर्य यह है कि इन दिनों में उस नारी से संभोग करने पर वही पाप लगता है जो किसी उच्च वर्ण के पुरुष द्वारा चाण्डाली आदि से संभोग करने से लगता है।

आठवें अध्याय में अतिदेश के विशिष्ट उदाहरण दिये गये हैं। दर्शपूर्णमास सभी इष्टियों[४८] की प्रकृति है तथा 'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत' को **विध्यादि** कहा जाता है और **विध्यन्त** दर्शपूर्णमास की समस्त पूरी विधि है

४७. अस्तीषुर्नाम एकाहः। अपरः श्येनः। तौ द्वावप्याभिचारिकौ तत्रेषौ कांश्चिद्धर्मान्विधायाह समानमितरच्छ्येनेनेति। शबर (७।१।१३)। 'समा. . .नेव' आप० श्रौ० सू० (२२।७।१८) का है।

४८. सुविधा के लिए वैदिक यज्ञों को तीन कोटियों में बहुधा विभाजित किया जाता है, यथा—इष्टि (जिनमें दूध, घृत, चावल, जौ तथा अन्य अन्नों की आहुति दी जाती है), पशु एवं सोम। सोम को पुनः एकाह

(केवल दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत के अतिरिक्त), जैसा कि पुरोडाश (रोटी) आदि की आहुति के विषय में ब्राह्मणों में उल्लेख पाया जाता है। सौर्य नामक विकृतियाग में "जो वैदिक ज्ञान का प्रकाश प्राप्त करना चाहता है उसे सूर्य को भात देना चाहिए" यह वाक्य विध्यादि है, किन्तु यहाँ कुछ भी विस्तार नहीं उपस्थित किया गया है। किसी विधि की अपेक्षा-सी लगती है, यद्यपि यज्ञों के विषय में कतिपय विध्यन्त पाये जाते हैं, तथापि 'निर्वपति' नामक विशिष्ट शब्द दर्शपूर्णमास (जिसमें निर्वाप पाया जाता है) की विधि का द्योतक है, और इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आग्नेय (दर्शपूर्णमास में प्रथमकृत्य) के समान ही सौर्य चरु की आहुति होती है। सभी अन्य इष्टियों में प्रकृति की सभी बातें तथैव की जाती हैं।

एकाह एवं द्वादशाह नामक सोमयज्ञों में ज्योतिष्टोम प्रकृति है और इसकी सभी बातें सोमयज्ञों के सभी परिष्कृत रूपों (विकृतियों) में सम्पादित की जाती हैं, यथा अतिरात्र में। उन सभी यज्ञों में जिनमें पशुबलि होती है, अग्निषोमीय प्रकृति है, जिसकी बातें पशुयागों की सभी विकृतियों में सम्पादित की जाती हैं। द्वादशाह के दो प्रकार हैं, **अहीन** एवं **सत्र** और वह द्विरात्र, त्रिरात्र से लेकर शतरात्र तक के सभी अहीन यज्ञों की प्रकृति है; और सत्र की कोटि वाला द्वादशाह सभी सत्रों का एक नमूना (आदर्श) है। आदित्यानामयन के समान सभी यागों की प्रकृति गवामयन है। दर्वीहोम न तो यज्ञों की प्रकृतियाँ हैं और न विकृतियाँ। आठवें अध्याय में यही सब वर्णित हैं।

नवें अध्याय में **ऊह** का विवेचन है। अतिदेश के सिद्धान्त के प्रयोग के सिलसिले में मन्त्रों, सामगानों एवं संस्कारों के विषय में कुछ परिवर्तनों एवं ऊहों की आवश्यकता पड़ती है। साधारणतः ऊह शब्द का अर्थ होता है **तर्क या विचारणा**, किन्तु पू० मी० सू० में इसका विशिष्ट अर्थ होता है।

आग्नेय प्रकृति है जिसमें निर्वाप (आहुति) "मैं अग्नि को वही अर्पित करता हूँ जो उन्हें प्रिय है" इन शब्दों के साथ किया जाता है। सौर्ययाग में, जो आग्नेय की विकृति है, निर्वाप (आहुति) "जो सूर्य को प्रिय है वही मैं उन्हें अर्पित करता हूँ" शब्दों के साथ किया जाता है। वाजपेय में हम पढ़ते हैं—"वह सत्रह पात्रों में निर्वाप अन्नों को पका कर बृहस्पति को अर्पित करता है।" वाजपेय दर्शपूर्णमास का एक परिष्कृत रूप है जिसमें चावल के कण जल के साथ छिड़के जाते हैं; अतः छिड़कना नीवार अन्नों पर भी किया जाता है (पू० मी० सू० ९।२।४०) ज्योतिष्टोम यज्ञ के दूसरे दिन सुब्रह्मण्य पुरोहित द्वारा इन्द्र को सम्बोधित सुब्रह्मण्या प्रार्थना का पाठ किया जाता है, जो यों है—'इन्द्र आगच्छ, हरिव आगच्छ, मेधातिथेर्मेष...।' अग्निष्टुत् यज्ञ में भी अग्नि को सम्बोधित सुब्रह्मण्या-निगद है। पाठ करने में 'इन्द्र' के स्थान पर 'अग्ने' शब्द रख लिया जाता है, किन्तु उसके आगे के शब्द, यथा—'हरिव आगच्छ' परिवर्तित नहीं किये जाते और उनका पाठ किया जाता है, क्योंकि वे वैसी उपाधियाँ हैं जो अग्नि के लिए भी कही जाती हैं (पू० मी० सू० ९।१।४२-४४)। मीमांसकों ने जो सिद्धान्त निकाला है, वह

(जो केवल एक दिन तक चले, यथा—अग्निष्टोम), अहीन (जो एक से अधिक और अधिक से अधिक १२ दिनों तक चले) एवं सत्र (जो १२ दिनों से अधिक एक वर्ष या उससे भी अधिक काल तक चले) कोटियों में बाँटा गया है। शबर (पू० मी० सू० ४।४।२०) ने चार महायज्ञों की चर्चा की है, यथा—अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, ज्योतिष्टोम, पिण्डपितृयज्ञ। गौतमधर्मसूत्र (८।१८) के अनुसार सात सोमयज्ञ होते हैं। इन श्रौत कृत्यों के अतिरिक्त गृह्यसूत्रों में अन्य कृत्यों का उल्लेख है जो गृह्याग्नि में किये जाते हैं। देखिए इस महाग्रन्थ का मूल खण्ड २, भाग २, पृ० १९३-१९४।

यह है कि जब मूल मन्त्र के शब्द परिष्कृत (विकृति) याग तक नहीं बढ़ाये जाते तो **ऊह** का आश्रय लिया जाता है, अन्यथा नहीं। किन्तु शबर ने टिप्पणी की है कि याज्ञिक लोग ऊह का सम्पादन कर लेते हैं (उपयुक्त परिवर्तनों के साथ अपने अनुकूल बना लेते हैं), अर्थात् वे ऐसा पाठ करते हैं--'अग्ने आगच्छ रोहिताश्व बृहद्भानो...।' यह ज्ञातव्य है कि पू० मी० सू० (२।१।३४) एवं शबर के अनुसार ऊहित (अनुकूलित) मन्त्र मन्त्र नहीं होता, क्योंकि केवल वे ही मन्त्र कहे जाते हैं जिन्हें विद्वान् लोग स्वीकार करते हैं। दर्शपूर्णमास में जब पुरोहित चार मुट्ठी चावल निकालता है और उसे सूप में रखता है तो वह तीन मुट्ठी चावल पर मन्त्र पढ़ता है जिसका शाब्दिक अर्थ है--'सविता के आदेश पर अश्विनों के बाहुओं से तथा पूषा के हाथों से मैं तुम्हें अग्नि के लिए, जिसे तुम प्रिय हो, निकालता हूँ।' पू० मी० सू० (९।१।३६-३७) का कथन है कि सविता, पूषा एवं अश्विन् शब्दों को, दर्शपूर्णमास के परिष्कारों के लिए, जहाँ देव अर्थात् पूजा के देवता अग्नि न हों, ऊह द्वारा परिवर्तित नहीं किया जा सकता। शबर ने सविता, अश्विन् एवं पूषा के लिए खींचातानी करके अर्थ किया है और कहा है कि ये शब्द निर्वाप प्रकाशन के लिए प्रयुक्त हैं। एक अन्य मनोरंजक उदाहरण है, जहाँ ऊह नहीं पाया जाता। दर्शपूर्णमास में एक प्रैष (निर्देश अथवा आदेश) है--'छिड़कने के लिए जल रखो, समिधा एवं कुश रखो, स्रुची एवं स्रुव को स्वच्छ करो, (यजमान की) पत्नी को मेखला पहना दो और घृत के साथ बाहर आ जाओ।' मान लीजिए यजमान की दो या तीन पत्नियाँ हों, तब भी एकवचन (पत्नीम्) का ही प्रयोग होता है न कि द्विवचन या बहुवचन का (पू० मी० सू० ९।३।२० एवं ९।३।२१)। धर्मशास्त्र के ग्रन्थों ने ऊह का प्रयोग किया है। विष्णुधर्मसूत्र (७५।८) ने व्यवस्था दी है कि मन्त्र के ऊह के द्वारा एक ही ढंग से नाना एवं उसके दो पूर्व पुरुषों का श्राद्ध करना चाहिए। पूर्व पुरुषों के लिए मन्त्र यों है--'शुन्धन्तां पितरः' (आप० श्रौ० सू० १।७।१३) जिसका परिवर्तन 'शुन्धन्तां मातामहाः' के रूप में हो जाता है। देखिए मिताक्षरा (याज्ञ० १।२५४)।

जब यज्ञ में पका चावल दिया जाता है तो मन्त्र यों होता है--'स्योनं...व्रीहीणां मेधः सुमनस्यमानः' (तै० ब्रा० ३।७।५)। जब पका चावल नष्ट हो जाता है या नहीं प्राप्त होता और नीवार अन्न का प्रयोग उसके स्थान पर होता है तो 'नीवाराणां मेध' ऐसा ऊह नहीं होता, प्रत्युत 'व्रीहीणां मेध' शब्द ज्यों-के-त्यों रखे जाते हैं (पू० मी० सू० ९।३।२३-२६), क्योंकि, जैसा कि पू० मी० सू० (९।३।२७) में कहा गया है (सामान्यं तच्चिकीर्षा हि), नीवार का प्रयोग व्रीहि की समानता के कारण ही किया जाता है।

नवें अध्याय के तीसरे एवं चौथे पादों में पशुबन्ध में होता द्वारा पढ़े जाने वाले अध्रिगु-प्रैष के विषय में बारह अधिकरण हैं। देखिए, इस विषय में इस महाग्रन्थ का मूलखण्ड, २, पृ० ११२१, पाद-टिप्पणी २५०४, जहाँ यह प्रैष दिया हुआ है। वहाँ पर कुछ शब्दों के लिए ऊह की व्यवस्था है और पू० मी० सू० ने उस संदर्भ में कुछ अपरिचित एवं कठिन शब्दों की व्याख्या की है।

पू० मी० सू० का दसवाँ अध्याय सबसे बड़ा है। इसमें आठ पाद एवं ५७७ सूत्र हैं (अर्थात् सम्पूर्ण सूत्रों का एक-पाँचवाँ भाग)। तीसरे अध्याय में ३६३ सूत्र तथा ६ठे अध्याय में कुल ३४६ सूत्र हैं और दोनों अध्यायों में पृथक्-पृथक् ८ पाद हैं। दसवें अध्याय में **बाध** एवं **अभ्युच्चय** या **समुच्चय** (बाध का विपरीतार्थक) का विवेचन है। सामान्य नियम यह है कि प्रकृतियाग (आदर्श या नमूने के यज्ञ) की बातें विकृति में ज्यों-की-त्यों ले ली जानी चाहिए। किन्तु कुछ उदाहरणों में विकृति-याग का भिन्न नाम है, कुछ संस्कार (शुद्ध करने या सजाने आदि के कृत्य) एवं कुछ द्रव्य जो प्रकृति में प्रयुक्त होते हैं, विकृति में प्रयुक्त नहीं हो सकते, क्योंकि स्पष्ट शब्दों में इसके लिए निषेध दिया हुआ है, या क्योंकि इनसे कोई उपयोग नहीं सिद्ध होता और वे निरर्थक होते हैं। शबर का कहना है कि **बाध** तभी उपस्थित होता है जब किसी विशिष्ट कारण से कोई विचार या ज्ञान, जो निश्चित-सा रहता है, मिथ्या मान लिया जाता है, और **अभ्युच्चय** (जोड़ या मिलाव) उस समय उपस्थित होता है जब यह

ज्ञात रहता है कि कुछ बातें विकृति में जोड़ी जानी हैं किन्तु उसके साथ यह भी ज्ञात रहता है कि कुछ ऐसी बातें भी हैं जो विकृति के लिए अतिरिक्त रूप से जोड़ी जायेंगी।

मैत्रायणीसंहिता (२।२।२) ने व्यवस्था दी है कि लम्बी आयु के इच्छुक व्यक्ति को चाहिए कि वह घृत में गरम करके एक सौ कृष्णलों (चावल के दाने के रूप में सोने के टुकड़ों) का दान करे। किन्तु यहाँ पर कोई **अवघात** (अन्न की भूसी छुड़ाना अथवा अलग करना) नहीं होता (अर्थात् मूसल से ओखली में कूटने का कार्य नहीं किया जाता)। क्योंकि यहाँ पर अन्न के दाने के रूप में सोने के टुकड़े हैं, जिन पर कोई छिलका या भूसी नहीं होती जिसे अलग करने के लिए कूटने का कर्म किया जाय (पू० मी० सू० १०।१।१-३)। इसी प्रकार उपस्तरण (कुश बिछाना) एवं **अभिधारण** (उसके पश्चात् ही घृत ढारना) के कृत्य भी नहीं किये जाते, क्योंकि प्रकृतियज्ञ में ये कृत्य आहुति को मधुर गन्ध देने के लिए किये जाते हैं (१०।२।३-११)। चावल के चरु को पकाया जाता है (अर्थात् अग्नि की उष्णता उसे दी जाती है), उसी प्रकार सोने के टुकड़ों को घृत में उष्ण किया जाता है (१०।२।१-२)। सोने के टुकड़ों को गन्ने के टुकड़ों की भाँति चूसना होता है (१०।२।१३-१६), क्योंकि वे खाये नहीं जा सकते, जब कि प्रकृतियज्ञ (आदर्श यज्ञ) में **इडा** एवं **प्राशित्र** को वास्तव में खाया जाता है। श्येन जैसे इन्द्रजाल के कृत्य में पृथिवी पर बेंत (या बाँस की बनी चटाई) बिछाया जाता है, कुश नहीं (जैसा कि आदर्श यज्ञ में किया जाता है)। यह **बाध** विशिष्ट वचन के कारण उपस्थित होता है। वैदिक यज्ञों में सामान्य नियम यह है कि पुरोहितों का चुनाव होता है और अन्त में उन्हें दक्षिणा दी जाती है, किन्तु सत्र अपवाद होते हैं, क्योंकि सत्रों में सभी पुरोहित एवं यजमान होते हैं। यहाँ पर **वरण** (चुनाव) के बाध का कारण यह है कि अन्य यज्ञों में यजमान एवं पुरोहित पृथक्-पृथक् होते हैं और पुरोहितों को दक्षिणा के लिए नियुक्त किया जाता है। वहाँ पर पुरोहितों के वरण एवं नियुक्ति के लिए स्पष्ट उद्देश्य है। किन्तु सत्र में जहाँ सभी लोग यजमान एवं पुरोहित होते हैं, पुरोहित-वरण (ऋत्विग्वरण) का कृत्य करने का कोई स्पष्ट उद्देश्य नहीं होता।

समुच्चय का एक उदाहरण दिया जा सकता है। वाजपेय (जो पू० मी० सू० ३।७।५०-५१ के अनुसार ज्योतिष्टोम का एक रूप है) में सत्रह पशुओं की बलि होती है। आदर्श (प्रकृति) यज्ञ (अर्थात् ज्योतिष्टोम) में भी कुछ विशिष्ट पशुओं की बलि होती है। प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यहाँ प्रकृति-याग में व्यवस्थित पशुओं का कोई बाध है या कोई समुच्चय। निष्कर्ष यह है कि यहाँ समुच्चय है (१०।४।६), क्योंकि तै० ब्रा० में एक ऐसा वचन आया है--'ब्रह्मवादी पूछते हैं, "वाजपेय में सभी यज्ञिय कृत्य क्यों किये जाते हैं?" उसे ऐसा उत्तर देना चाहिए--'पशुओं द्वारा, अर्थात् वह अग्नि को एक पशु की बलि देता है, इससे वह अग्निष्टोम धारण करता है, वह उक्थ्य धारण करता है...।' इससे प्रकट होता है कि वह सत्रह पशुओं के अतिरिक्त अन्य पशुओं की भी बलि करता है। देखिए मिताक्षरा (याज्ञ० ३।२४३) एवं तन्त्रवार्तिक (पू० मी० सू० ३।३।१४)

दसवें अध्याय में **दक्षिणा** के विषय में भी विवेचन है, जो महत्त्वपूर्ण है। १०।२।२२-२८ में ऐसा निश्चित किया गया है कि दक्षिणा किसी अदृष्ट उद्देश्य के लिए नहीं दी जायगी, प्रत्युत वह यज्ञों में व्यवस्थित कृत्यों के सम्पादन के लिए नियुक्त पुरोहितों को दी जायेगी। ३।८।१-२ में ऐसा निश्चित किया गया है कि यजमान (स्वामी) यज्ञों के लिए पुरोहितों को रखे, केवल उसी कर्म के लिए ऐसा नहीं करे जिसके लिए स्पष्ट रूप से वैदिक वचन हैं (यथा--तै० सं० ५।२।८।२ में)। १०।३।३६ में ताण्ड्य ब्रा० (१६।१।१०-११) से उद्धृत करके दक्षिणा के विषयों को उपस्थित किया गया है। ऐसा कहा गया है कि 'द्वादशशतं दक्षिणा' का अर्थ है कि गायों की संख्या ११२ होनी चाहिए (१०।३।३६,४६), १०।३।५० में ऐसी व्यवस्था है कि यजमान को स्वयं दक्षिणा

देनी चाहिए और १०।३।५५ में बाँटने की विधि का उल्लेख है। प्रमुख पुरोहित चार हैं, यथा—**होता**, **अध्वर्यु**, **उद्गाता** एवं **ब्रह्मा** और इन सभी चारों के तीन-तीन सहायक होते हैं, जो नीचे पाद-टिप्पणी में लिखित हैं।[४९] मान लीजिए १०० गायें बाँटनी हैं। चार दलों में प्रत्येक को १।४ अर्थात् २५ गायें मिलेंगी। होता को १२ तथा अन्य तीन सहायकों को क्रम से ६, ४ एवं ३ गाय मिलेंगी अर्थात् वे क्रम से प्रमंख का १।२, १।३ एवं १।४ भाग पायेंगे। यही ढंग अन्य तीन दलों के लिए भी होगा। प्रथम दृष्टि में यही बात झलकती है कि सब को समान मिलना चाहिए, क्योंकि श्रुति का कथन है कि सबको समान मिलना चाहिए, किन्तु यहाँ ऐसी बात नहीं है, यहाँ ऐसी व्यवस्था की गयी है कि दक्षिणा कार्य की गुरुता के अनुसार दी जाये। निश्चित निष्कर्ष यह है कि दोनों दृष्टिकोण ग्राह्य नहीं हैं, वास्तव में दक्षिणा विभाजन **अर्धिनः**, **तृतीयिनः** एवं **पादिनः** के अर्थ के अनुसार होना चाहिए, जैसा कि श्रुति में प्रयुक्त है।

मनु० (८।२१०) ने उपर्युक्त विभाजन-प्रणाली का उल्लेख किया है और वैदिक यज्ञों में प्रयुक्त विधि को गृह-निर्माण आदि जैसे कृत्य के लिए भी उपयुक्त ठहराया है।[५०] यद्यपि सूत्र (समं स्यादश्रुतित्वात्) केवल पूर्वपक्ष है और गायों के विभाजन में मान्य नहीं हुआ है, किन्तु मध्यकालीन धर्मशास्त्र-लेखकों ने इस सिद्धान्त को माना है। देखिए स्मृतिचन्द्रिका (१, पृ० १५२, २, २८५, २, ४०४), कुल्लूक (मनु० ३।१, जहाँ ३६ वर्षों को तीनों वेदशाखाओं के अध्ययन के लिए बराबर-बराबर बाँटा गया है), मदनरत्न (व्यवहार पृ० २०२), व्यवहारप्रकाश (पृ० ४४३ एवं ५४८)।

ग्यारहवें अध्याय में तन्त्र का विवेचन है। तन्त्र में उन विषयों का समावेश होता है जहाँ एक कृत्य कई कृत्यों एवं कर्मों के उद्देश्य की पूर्ति करता है।[५१] उदाहरणार्थ, तीन याग हैं, यथा—अग्नि के लिए आठ

४९. होता मैत्रावरुणोऽच्छावाको ग्रावस्तुत्, अध्वर्युः प्रतिप्रस्थाता नेष्टोन्नेता, ब्रह्मा ब्राह्मणाच्छंसी आग्नीध्रः पोता, उद्गाता प्रस्तोता प्रतिहर्ता सुब्रह्मण्यः—इति। प्रमुख चार पुरोहितों के नाम समूहों के आरम्भ में हैं। प्रत्येक प्रमुख के उपरान्त तीन सहायकों के नाम आये हैं। प्रमुख पुरोहितों के तुरत पश्चात् आने वाले सहायकों को अर्धिनः कहा जाता है (अर्थात् वे प्रमुख पुरोहितों का आधा पाते हैं, ये चारों हैं—मैत्रावरुण, प्रतिप्रस्थाता, ब्राह्मणाच्छंसी एवं प्रस्तोता)। प्रत्येक दल में तीसरे स्थान वाले सहायक पुरोहित तृतीयिनः कहे जाते हैं (अर्थात् वे प्रमुख के अंश का तिहाई पाते हैं, और वे हैं, अच्छावाक, नेष्टा, आग्नीध्रः एवं प्रतिहर्ता)। प्रत्येक दल में अन्तिम सहायक पादिनः कहे जाते हैं और प्रमुख के अंश का चौथाई पाते हैं, और वे हैं—ग्रावस्तुत्, उन्नेता, पोता एवं सुब्रह्मण्य। देखिए इस महाग्रन्थ का मूल खण्ड, २, पृ० ११८८-११८९, एवं खण्ड, ३, पृ० ४६९।

५०. सर्वेषामर्धिनो मुख्यास्तदर्धेनार्धिनोऽपरे।... अनेन विधियोगेन कर्तव्यांशप्रकल्पना॥ मनु० (८।२१०-२११); एतत्तत्तदंशपरिकल्पनविधानं तस्य द्वादशशतं दक्षिणेति क्रतुसम्बन्धमात्रेण विहितायां न तु ऋत्विग्विशेषसम्बन्धित्वेन विहितायाम्। अश्वं दद्यान्निविदां शस्त्रे इति तत्प्रतिपादकश्रुतिविरोधापत्तेः। मदनरत्न (व्यवहार), पृ० २०२-२०३। मदनरत्न (पृ० २०४) ने और जोड़ा है: 'पशुबन्धादौ विषम-विभागो नोक्त इति तत्र साम्येन दक्षिणाविभागः।' यदि कुल ११२ गायें हों, तो चार वर्गों (होतृवर्ग, अध्वर्युवर्ग, उद्गातृवर्ग एवं ब्रह्मवर्ग) में प्रत्येक वर्ग को २८ गायें मिलेंगी; तब होतृवर्ग के अंश को २५ में विभाजित करना होगा और होता २५ भागों में १२ पायेगा और उसके सहायक क्रम से ६, ४ एवं ३ पायेंगे, अर्थात् इस वर्ग में २८ गायों में अंश लगभग क्रम से १३, ६, ५, ४ होंगे।

५१. यत्सकृत्कृतं बहूनामुपकरोति तत् तन्त्रमित्युच्यते यथा बहूनां ब्राह्मणानां मध्ये कृतः प्रदीपः। यस्त्वावृत्योपकरोति स आवापः। यथा तेषामेव, ब्राह्मणानामनुलेपनम्। श्लोकमप्युदाहरन्ति—साधारणं भवेत्तन्त्रं परार्थे त्व-

शकलों पर पकाया गया पुरोडाश, इन्द्र के लिए दही, तथा इन्द्र के लिए दूध; प्रयाजों का एक सम्पादन इन तीनों के सम्पादन का कार्य कर देता है (११।१।५-१६ एवं ११।१।२६-३७)। आधान (अग्नियों की स्थापना) का कृत्य केवल एक बार होता है, यह प्रत्येक इष्टि, पशुयाग या सोमयाग में बार-बार नहीं किया जाता (११।३।२); श्रौत कृत्यों के पात्रों का निर्माण केवल एक बार होता है और वे यजमान के मृत्युपर्यन्त काम आते हैं (११।३।३४-४२)।[52] ये सभी बातें तन्त्र कही जाती हैं। सामान्य नियम यह है कि किसी एक कृत्य में सभी प्रमुख बातों के विषय में (यथा---दर्शपूर्णमास में आग्नेय एवं अन्य बातों के विषय में) स्थान, काल एवं कर्ता एक ही होता है (११।२।१) और वे सभी अंगों के लिए समान होते हैं; किन्तु अंगों के विषय में स्थान, काल एवं यजमान स्पष्ट वचनों (आदेशों) के कारण विभिन्न हो सकते हैं।

यदि सभी सहायक यज्ञों से समन्वित रूप में फल की प्राप्ति होती है तो सहायक अंगों का सम्पादन एक बार ही किया जाता है न कि अलग-अलग; यही तन्त्र है। किन्तु यदि फल की प्राप्ति सहायक यज्ञों से पृथक्-पृथक् होती है तो सभी सहायक अंगों का सम्पादन पृथक्-पृथक् होना चाहिए। इसे **आवाप** (विकेन्द्रीकरण या विरतरण या फैलाव या छितरा देना) कहते हैं। दर्शपूर्णमास में वास्तव में यज्ञों के दो दल होते हैं, एक का नाम है **दर्श** (अमावस्या पर) और दूसरा है **पूर्णमास**।[53] इन सब के लिए जो सहायक कृत्य हैं, वे अधिकांश में एक-समान ही हैं। तब भी दोनों दलों में वे बार-बार किये जाते हैं, और इसका मुख्य कारण यह है कि दोनों का सम्पादन एक पक्ष से दूर दो तिथियों में होता है, यद्यपि दोनों मिल कर एक यज्ञ के द्योतक होते हैं और उनसे एक ही फल की प्राप्ति होती है। देखिए पू० मी० सू० (११।२।१२-१८) जहाँ आवाप का उदाहरण है।

अवेष्टि एक ऐसा यज्ञ है जो राजसूय नामक यज्ञ का एक भाग है और राजसूय का सम्पादन केवल क्षत्रियों द्वारा होता है। यह एक स्वतन्त्र यज्ञ भी है जो तीन उच्च वर्णों में किसी भी द्वारा सम्पादित हो सकता है। यह राजसूय का कोई भाग नहीं है और उससे भिन्न भी है, यद्यपि यह सच है कि राजसूय

प्रयोजकः। एवमेव प्रसंगः स्याद्विद्यमाने स्वके विधौ॥ शबर (पू० मी० सू० ११।१।१)। और देखिए पतञ्जलि का महाभाष्य (वार्तिक ४)।

५२. यज्ञायुधानि धार्येरन् प्रतिपत्तिविधानादृजीषवत्। पू० मी० सू० ११।३।३४। वैदिक वचन यों है: 'आहिताग्निमग्निभिर्दहन्ति यज्ञपात्रैश्च।' दस यज्ञायुधों का उल्लेख तै० सं० (१।६।८।२-३, स्फ्यश्च कपालानि च आदि) में हुआ है। इनके एवं यज्ञों में प्रयुक्त अन्य पात्रों के लिए देखिए इस महाग्रन्थ का मूल खण्ड २, पृ० ९८५, पाद-टिप्पणी २२३३। और देखिए पू० मी० सू० (११।३।४३-४५) जहाँ ऐसा उल्लेख है कि अग्न्याधेय के दिन से ही यज्ञपात्रों को रखना चाहिए और यजमान (याज्ञिक, आहिताग्नि) की मृत्यु के उपरान्त उन्हें उसके शव पर रख देना चाहिए, इस क्रिया को पात्रों एवं पवित्र अग्नियों का प्रतिपत्तिकर्म कहा जाता है।

५३. ११।२।१५ पर शबर का कथन है: 'अपि वा न तन्त्रभङ्गानि स्युः। कुतः कर्मपृथक्त्वात्। तेषां च तन्त्रविधानात्। कर्माणि तावदेतानि भिन्नानि अन्यः पौर्णमासः समुदायोन्य आमावास्यः। एवं सर्वत्र। तेषां च देशकालभेदः। पौर्णमास्यां पौर्णमास्या यजेतेत्येवमादिः संगानां च तेषां तत्र तत्र देशकालविधिः।... तस्मात्पौर्णमास्यंगानां पौर्णमासीकालः। अमावास्यांगानाममावास्याकालः। तत्र गृह्यते विशेषः। विशेषग्रहणाद् भेदः।'

के वर्णन के बीच में इसके विषय की उक्ति आ जाती है।[५४] आश्विन के शुक्ल पक्ष की प्रथमा से नवमी तक के नवरात्र के विषय में निर्णयसिन्धु ने इसका आधार लिया है। कई मत हैं, यथा—देवीपूजा ९ दिनों तक या अष्टमी या नवमी तिथि को की जाती है। कालिकापुराण ने आश्विन के शुक्ल पक्ष की अष्टमी या नवमी पर की जाने वाली देवीपूजा के विषय में एक श्लोक उद्धृत किया है, और निर्णयसिन्धु ने इसे अष्टमी या नवमी पर की जाने वाली एक पृथक् पूजा की भाँति माना है और सम्पूर्ण नवरात्र से इसे पृथक् ठहराया है। इसी अधिकरण में जहाँ पर पूर्वपक्ष में ऐसा प्रस्तावित है कि राजा किसी भी वर्ण का कोई भी हो सकता है जो किसी स्थान पर राज्य करता है तथा देश एवं उसके नगरों की रक्षा करता है, वहीं पर सिद्धान्त (पू० मी० सू० एवं शबर) यह कहता है कि 'राजा' शब्द एक जाति अर्थात् क्षत्रिय का द्योतक है और इस ओर कई पश्चात्कालीन धर्मशास्त्र-ग्रन्थों ने संकेत किया है, यथा—राजधर्मकौस्तुभ (पृ० ५)। व्यवहारप्रकाश ने इस अधिकरण की ओर संकेत किया है और नारद के इस श्लोक की व्याख्या की है—'जो व्यक्ति संन्यासाश्रम से च्युत होता है वह राजा का दास हो जाता है' और इसे इस बात पर घटाया है कि क्षत्रिय के धर्म से च्युत व्यक्ति वैश्य-राजा का दास हो जाता है, यद्यपि 'राजा' शब्द अपने मुख्य अर्थ में 'क्षत्रिय' का द्योतक होता है किन्तु गौण अर्थ अर्थात् लक्षणा में इसका अर्थ है वह व्यक्ति जो प्रजा की रक्षा करता है। पराशरमाधवीय ने इस अधिकरण की चर्चा विस्तार से की है (१,१, पृ० ४४९-४५५)। यह द्रष्टव्य है कि आरम्भिक ग्रन्थों में 'राजा' का जो अर्थ 'क्षत्रिय' था आगे चल कर किसी भी जाति के उस व्यक्ति का द्योतक हो गया जो अपने द्वारा शासित देश के लोगों की रक्षा करता है। यह परिवर्तन तन्त्रवार्तिक (३।५।२६) में संक्षिप्त रूप से व्याख्यायित हुआ है।

बारहवें अध्याय में **प्रसंग**, **विकल्प** जैसे विषयों की चर्चा है। प्रसंग तब होता है जब एक स्थान में किया गया कर्म किसी दूसरे स्थान में सहायक होता है, यथा जब किसी भवन में दीपक जलाया जाता है तो वह जनमार्ग को भी प्रकाशित कर देता है।[५५] अग्निषोमीय पशुयज्ञ में पशुपुरोडाश (बलि दिये हुए पशु के मांस की रोटी) का अर्पण किया जाता है और इस प्रकार के शब्द कहे जाते हैं—'अग्नि एवं सोम को पशु का मांस अर्पित करने के उपरान्त वह ग्यारह कपालों पर पकाया गया पशुपुरोडाश अग्नि एवं सोम को देता है।' यहाँ पर प्रश्न यह है कि क्या इसके लिए पशुपुरोडाश देते समय पुनः प्रयाज आदि किये जायें या मांस दिये जाने के कृत्य पर्याप्त हैं। निश्चित निष्कर्ष यह है कि पशु-मांस दिये जाने के समय के कृत्य पशुपुरोडाश के लिए भी मान्य होते हैं। ऐसी परिस्थितियों में देश (स्थान), काल एवं उपादान एक ही प्रकार के माने जाते हैं। इस निष्कर्ष को प्रायश्चित्तविवेक ने भी ठीक माना है। पशुपुरोडाश की समानता के आधार पर उसने विभिन्न या अभिन्न गम्भीर पातकों के लिए १२ वर्षों वाले प्रायश्चित्त को पर्याप्त माना

५४. अवेष्टौ यज्ञसंयोगात्क्रतुप्रधानमुच्यते। पू० मी० सू० (२।३।३); अस्ति राजसूयः, राजा राजसूयेन यजेतेति। तं प्रकृत्यामनन्ति—अवेष्टिं नामेष्टिम्। आग्नेयोऽष्टाकपालो हिरण्यं दक्षिणा इत्येवमादि। तां प्रकृत्य विधीयते। यदि ब्राह्मणो यजेत बार्हस्पत्यं मध्ये निधायाहुतिमाहुतिं हुत्वाभिधारयेत। यदि राजन्य ऐन्द्रं यदि वैश्यो वैश्वदेवम्—इति। शबर; 'यदि ब्राह्मणो...वैश्वदेवम्' के लिए देखिए आप० श्रौ० (१८।२१।११)। 'अवेष्टौ यज्ञसंयोगात्' नामक सूत्र की व्याख्या मूल ग्रन्थ के इसी स्थल पर देखिए।

५५. अन्यत्र कृतस्यान्यत्रापि प्रसक्तिः प्रसङ्गः। यथा प्रदीपस्य प्रासादे कृतस्य राजमार्गेऽप्यालोककरणम्। शबर (पू० मी० सू० १२।१।१)।

है। अलग से प्रायश्चित्त करने की आवश्यकता को अमान्य ठहराया है। देखिए इस महाग्रन्थ का मूल खण्ड ४, पृ० ८८-६१ जहाँ पर ब्रह्महत्या के लिए १२ वर्षों के प्रायश्चित्त का विधान है।

विकल्प का उल्लेख हमने गत अध्याय में ही कर दिया है।

इन पृष्ठों के उपर्युक्त विवेचन से इतना अवश्य प्रकट हो गया होगा कि मीमांसा के प्रमुख सिद्धान्त क्या हैं और व्याख्या-सम्बन्धी नियम किस प्रकार के हैं। मीमांसा ने आपस्तम्बधर्मसूत्र से लेकर मध्यकाल के स्मृतितत्त्व, निर्णयसिन्धु, व्यवहारमयूख जैसे ग्रन्थों को प्रभावित किया और इस प्रकार दो सहस्र वर्षों से अधिक काल तक धर्मशास्त्र ग्रन्थों को अनुरंजित रखा। यदि हम मीमांसा विषयक पारिभाषिक शब्दों, सिद्धान्तों एवं विषयों का विशद वर्णन उपस्थित करें तो लगभग एक सहस्र पृष्ठों में सब कुछ लिखा जा सकेगा, अतः हम यहाँ पर बहुत ही संक्षेप में लिख रहे हैं।

धर्मशास्त्रकारों को मीमांसा के नियमों ने प्रभूत सहायता दी है। किन्तु ऐसा नहीं समझा जाना चाहिए कि मीमांसा के नियमों का प्रयोग सरल है या इन नियमों द्वारा विद्वान् लोग सदा निश्चित निष्कर्षों तक पहुँच जाते हैं। प्राभाकर एवं भाट्ट नामक सम्प्रदायों के अतिरिक्त बहुत-सी ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जो मीमांसा के निष्कर्षों की उपयोगिता एवं निश्चितता के विरोध में उठ खड़ी हो जाती हैं। स्वयं कुछ सूत्रों के कई पाठान्तर मिलते हैं, यथा—१।२।६ पर तन्त्रवार्तिक (पृ० १२३) के अनुसार तीन पाठान्तर हैं, और १।२।१४ पर उसी ग्रन्थ (पृ० १२८-१२६) के अनुसार दो पाठान्तर हैं। शबर ने २।४।१७ (वाक्यासमवायात्) सूत्र को छोड़ दिया है और तन्त्रवार्तिक (पृ० ८६५-८६७) का कथन है कि शबर ने ३।४।६ के उपरान्त ६ सूत्र छोड़ दिये हैं। शबर ने बहुधा "वृत्तिकार" नामक अपने एक पूर्ववर्ती का सम्मान के साथ उल्लेख किया है, किन्तु उनसे कई बातों में मतभेद भी प्रकट किया है (यथा—१।१।२-५ पर); २।१।३२,३३ एवं ८।१।२ सूत्रों वाली बातों को अमान्य ठहराया है और कुछ सूत्रों की अन्य व्याख्याएँ उपस्थित की हैं (यथा १।३।४७। ४।१३, ८।१।३६)। कभी-कभी शबर ने दो या अधिक सूत्रों को एक अधिकरण मान लिया है या विकल्प से उनमें से किसी एक को पृथक् अधिकरण मानकर व्याख्या की है (यथा १।३।३-४, २।२।२३-२४)। उन्होंने एक ही सूत्र की दो या अधिक व्याख्याएँ की हैं (यथा ४।१।२)। उन्होंने एक ही अधिकरण की दो या अधिक व्याख्याएँ उपस्थित की हैं, यथा—४।३।२७-२८; ८।३।१४-१५; ६।१।१; ६।१।२-३; ६।१।३४-३५; ६।२।१-२; ६।२।२१-२४; ६।२।२५-२८, चार व्याख्याएँ; १०।२। ३०-३१, तीन व्याख्याएँ; १०।३।१-२, तीन व्याख्याएँ; १०।४।१-२, तीन व्याख्याएँ। 'विशये प्रायदर्शनात्' (२। ३।१६) के विषय में शबर स्वयं नहीं समझ पाते कि सूत्रकार का संशय क्या है या सूत्रकार महोदय क्या उपस्थित करना चाहते हैं या वृत्तिकार महोदय क्या कहना चाहते हैं और क्या शंका उत्पन्न होती है। इसके अतिरिक्त शबर एवं कुमारिल कुछ अधिकरणों के विषयों के बारे में मतभेद रखते हैं, यथा १।२। ३-४, १।३।५-७, १३।८-६, १।३।११-१४ में। कुमारिल ने जैमिनि को 'भगवान्' एवं 'आचार्य' की उपाधियों द्वारा सम्मान पूर्वक सम्बोधित नहीं किया है और कहीं-कहीं ऐसा कहा है कि जैमिनि ने यहाँ पर भ्रामक, त्रुटिपूर्ण एवं अनुचित सूत्र लिखा है (पृ० १२४१, ४।२।२७ के विषय में चर्चा करते समय)।

कुमारिल ने बहुधा शबर के भाष्य की आलोचना की है और कई स्थलों पर टिप्पणी की है कि भाष्य अयुक्त है, अतः त्याज्य है, निरर्थक या असम्बद्ध है, यथा—पृ० १६५, ३०२ (उपेक्षितव्य), ३१३ (असम्बद्ध), ३१४, ६६२, ७१०, ७३१, ६८३ (असम्बद्ध), ६५०, ६५३, १०६०-६१ (बहवो दोषाः), १७१४, १६८०, २००४, २१६३, २२०४।

पूर्वमीमांसासूत्र द्वारा उपस्थापित सिद्धान्तों की सार्वभौम युक्तिसंगतता एवं उपयोगिता के विषय में गम्भीर शंका उत्पन्न करने की एक अन्य परिस्थिति पर भी विचार करना चाहिए। बहुत सी बातों पर

मीमांसा के बड़े-से-बड़े विद्यार्थी भी विभिन्न निष्कर्षों पर पहुँचते हैं। कुछ विचित्र उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं। वसिष्ठ के सूत्र (१५।५—न स्त्री पुत्रं दद्यात् प्रतिगृह्णीयाद् वा अन्यत्रानुज्ञानाद्भर्तुः) की व्याख्या को लिया जाय। 'कोई स्त्री बिना पति की आज्ञा के न तो गोद के लिए पुत्र दे सकती है और न ले सकती है।' इसकी व्याख्या चार प्रकार से की गयी है। हिन्दू विधवा द्वारा गोद लिये जाने के विषय में ग्रन्थों एवं लेखकों ने विभिन्न व्याख्याएँ उपस्थित की हैं। दत्तकमीमांसा का कथन है कि कोई विधवा गोद नहीं ले सकती, क्योंकि पति की मृत्यु हो जाने से उसकी अनुमति प्राप्त नहीं की जा सकती। मैथिल ग्रन्थकार वाचस्पति ने यही बात दूसरे ढंग से कही है। वसिष्ठ का कथन है कि गोद लेने वाले को गृह के मध्य में व्याहृतियों के साथ होम करके उसी को गोद लेना चाहिए जो अदूरबान्धव हो, संनिकृष्ट हो और दूर न रहता हो, और क्योंकि स्त्रियाँ वैदिक मन्त्रों के साथ होम नहीं कर सकतीं अतएव विधवा के सहित सभी स्त्रियों को गोद लेने का अधिकार नहीं है।[५६] किन्तु बंगाल में ऐसा मान्य था कि गोद के समय पति की अनुमति की आवश्यकता नहीं है, वास्तविक गोद लेने के बहुत पहले ही अनुमति ली जा सकती है। मद्रास में ऐसा मान्य था कि "केवल पति की अनुमति से ही" वाक्य केवल दार्ष्टान्तिक है और इसलिए श्वशुर के सम्बन्धी लोगों या पति के सम्बन्धी लोगों की अनुमति या आज्ञा विधवा को गोद लेने के योग्य बना देती है। व्यवहारमयूख, निर्णयसिन्धु एवं संस्कारकौस्तुभ का कथन है कि पति की अनुमति उसी स्त्री के लिए आवश्यक है जिसका पति जीवित हो। यदि पति ने गोद लेने के लिए मना न किया हो तो स्त्री को गोद लेने का अधिकार है। इस विषय में विशद विवेचन के लिए देखिए इस महाग्रन्थ का मूलखण्ड ३, पृ० ६६८-६७४। अब तो सन् १९५६ के कानून ने इन सभी प्राचीन नियमों को समाप्त कर दिया है।

मिताक्षरा एवं दायभाग दोनों मीमांसा के सिद्धान्तों से ओत-प्रोत हैं, किन्तु दोनों कतिपय बातों में एक-दूसरे से भिन्न मत उपस्थित करते हैं, जिनमें कुछ यों हैं—(१) मिताक्षरा का कथन है कि उत्तराधिकार या स्वामित्व जन्म से ही उत्पन्न होता है, किन्तु दायभाग इसे अमान्य ठहराता है और कहता है कि इसका आरम्भ पूर्व स्वामी की मृत्यु या विभाजन से होता है; (२) दायभाग के अनुसार उत्तराधिकार के लिए उत्तम अधिकार धार्मिक प्रभाव से उत्पन्न होता है, किन्तु मिताक्षरा के अनुसार रक्त-सम्बन्ध की सन्निकटता ही इसे निश्चित करती है; (३) दायभाग के अनुसार संयुक्त परिवार के सदस्य सम्पत्ति पर अलग-अलग अधिकार रखते हैं और विभाजन के पूर्व उसे बेच सकते हैं, किन्तु मिताक्षरा इसके विरोध में है। (४) दायभाग के अनुसार संयुक्त परिवार में भी विधवा पति की मृत्यु के उपरान्त सन्तानरहित होने पर पति के भाग को पा जाती है। किन्तु मिताक्षरा ने इसे अमान्य ठहराया है।

याज्ञ० (१।८१) के समान अन्य वचनों के विषय में भी कई मत-मतान्तर पाये जाते हैं (विधि है या नियम है या परिसंख्या है)। व्यवहारमयूख एवं रघुनन्दन में मतवैभिन्न्य पाया जाता है, जब कि दोनों घोर मीमांसक हैं। 'मातृ' शब्द की व्याख्या में अपरार्क एवं दायभाग में प्रभूत अन्तर है। इसी प्रकार अन्य मत-मतान्तर भी हैं।

५६. अत एव वसिष्ठः। न स्त्री पुत्रं... भर्तुः—इति। अनेन विधवाया भर्त्रनुज्ञानासम्भवादनधिकारो गम्यते। ...किं च व्याहृतिभिर्हुत्वा अदूरबान्धवं संनिकृष्टमेव प्रतिगृह्णीयात्—इति समानकर्तृकताबोधकक्त्वाप्रत्ययश्रवणात् होमकर्तुरेव प्रतिग्रहसिद्धेः स्त्रीणां होमानधिकारत्वात् परिग्रहानधिकारः—इति वाचस्पतिः। दत्तकमीमांसा (पृ० १९ एवं २२-२३)।

अध्याय ३० का परिशिष्ट

यदि हम पूर्वमीमांसासूत्र के बहु-प्रचलित न्यायों को एक स्थान पर संगृहीत कर दें तो पूर्वमीमांसा-सूत्र एवं धर्मशास्त्र के पाठकों को सुविधा प्राप्त होगी। हम यहाँ पू० मी० सू०, शबर, कुमारिल, पार्थसारथि, पतञ्जलि के महाभाष्य, शंकराचार्य के वेदान्त-सूत्रभाष्य, शंकराचार्य पर भामती आदि द्वारा दिये गये संकेतों एवं निर्देशों का सहारा लेंगे। विशेषत: कुमारिल ने तन्त्रवार्तिक में न्यायों का प्रभूत उपयोग किया है, यथा--पृ० ४१५ (जैमिनि २।१।८) पर उन्होंने पाँच विभिन्न न्यायों का प्रयोग किया है। इस महाग्रन्थ के कतिपय खण्डों में न्यायों की ओर संकेत किया गया है। यहाँ पर उल्लिखित न्यायों में बहुत-से कर्नल जैकब द्वारा प्रकाशित 'लौकिकन्यायाञ्जलि' (तीन भागों में) में पाये जाते हैं। कहीं-कहीं जैकब की व्याख्याएँ शुद्ध एवं सन्तोष-जनक नहीं हैं, किन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि उन्होंने आज से लगभग आधी शताब्दी पूर्व यह सब लिखा था।

अग्निहोत्रन्याय--जै० (६।२।२३-२६); देखिए शंकर, वे० सू० (३।४।३२) पर।

अंगगुणविरोधन्याय--जै० (१२।२।२५); देखिए शबर एवं मी० न्या० प्र० (पृ० १६६)।

अंगभूयस्त्वे फलभूयस्त्वम्--शबर (जै० १०।६।६२ एवं ११।१।१५)।

अंगांगिन्याय--जै० (२।२।३-८)।

अंगानां प्रधानोपकाररूपैककार्यार्थत्वम्--जै० (११।१।५-१०)।

अणुरपि विशेषोऽध्यवसायकरः--देखिए व्य० प्र० (पृ० ५२५) एवं व्य० म० (पृ० १४३)।

अधिकारन्याय--जै० (६।१।१-३ एवं ४-५, शास्त्र केवल मानवों के लिए है)। और देखिए वे० सू० (१।३।२६-३३), जहाँ शंकर (१।३।२६ पर) ने कहा है कि शबर के शब्दों का ब्रह्मविद्या में कोई उपयोग नहीं है।

अनन्यलभ्यः शब्दार्थः--मी० न्या० प्र० (पृ० ९२) : 'अत्राहुः। स एव शब्दस्यार्थो यः प्रकारान्तरेण न लभ्यते। अनन्य. . . र्थ इति न्यायात्।' देखिए भामती वे० सू० (१।३।१७) पर (प्रसिद्धेश्च)।

अनुषंगन्याय--जै० (२।१।४८); देखिए स्मृतिच० (श्राद्ध, पृ० ३८१) एवं व्य० म० (पृ० १४७)।

अन्तरंगबहिरंगयोरन्तरंगं बलीयः--देखिए शबर (जै० १२।२।२७); महाभाष्य (पा० १।१।४, १।१।५) का कथन है--'असिद्धं बहिरंगमन्तरंगे।'

अन्धपरम्परान्याय--तन्त्रवार्तिक (जै० १।३।२७, पृ० २८२ एवं ३।३।१४, पृ० ८५८), मेधातिथि (मनु १०।५), शंकर (वे० सू० २।२।३०)।

अन्यायश्चानेकार्थत्वम्--शबर (जै० २।१।१२, पृ० ४१०, ५।४।१४, पृ० १३४०, ६।१।२२, पृ० १३६६, ७।३।३, पृ० १५५०); तन्त्रवा० (२।४।१०, पृ० ६३९), भामती (वे० सू० १।३।१७); देखिए मदन-पा० (पृ० ३६९)।

अपच्छेदन्याय---शबर (जै० ६।५।४९-५०) ने इसकी परिभाषा की है---'संयुक्तस्य हि पृथग्भावोऽपच्छेदः' एवं व्य० प्र० (पृ० ५३५)। यह शब्द जै० (६।५।५६) में आया है।

अप्राप्ते शास्त्रमर्थवत्---यह जै० (६।२।१८) का अंश है और इसका अर्थ है 'विधिना तावत्तदेव विधेयं यत् प्रकारान्तरेणाप्राप्तम्।' मी० न्या० प्र० (पृ० २२२)।

अभिमर्शनन्याय---जै० (३।७।८-१०); व्यव० प्र० (पृ० ५३५)।

अभ्यासाधिकरण---जै० (२।२।२), जहाँ तै० सं० (२।६।१।१-२) में पाये गये पाँच प्रयाजों की ओर संकेत है। देखिए इस महाग्रन्थ का मूल खण्ड २, पृ० १०५७।

अभ्युदितेष्टिन्याय---जै० (६।५।१-९); मिता० (याज्ञ० ३।२५३), व्यव० म० (पृ० १५१-१५२ एवं उस पर टिप्पणी, पृ० २७७-२७९) तथा भामती (वे० सू० ३।३।७)।

अरुणान्याय या अरुणाधिकरण---जै० (३।१।१२), तै० सं० (६।१।६।७---अरुणया पिंगाक्ष्या क्रीणाति); देखिए अपरार्क (पृ० १०३०, याज्ञ० ३।२०५), मद० पा० (पृ० ८८-८९)।

अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्---शबर (जै० १।२।४) ने उत्तरार्ध को इस प्रकार उद्धृत किया है---'इष्टस्यार्थस्य संसिद्धौ को विद्वान् यत्नमाचरेत्।' उन्होंने अर्क को एक पौधा माना है; और देखिए तन्त्रवार्तिक (पृ० १११), विश्वरूप (याज्ञ० ३।२४३, प्रथम अर्धाली); शंकर (वे० सू० ३।४।३) ने पूर्वार्ध भाग को न्याय माना है।

अर्धकुक्कुटीपाक---यह 'अर्धजरतीय' ही है। देखिए तन्त्रवा० (पृ० ७२०, जै० ३।१।१३)। इसका अर्थ यों है---'यह पूर्ण विरोधाभास है कि कोई आधी मुर्गी को भोजन के लिए पकाये तथा आधी को अण्डा देने के लिए रख छोड़े।'

अर्धजरतीय---देखिए महाभाष्य (वार्तिक ५, पाणिनि ४।१।७८,---अर्ध जरत्या कामयतेऽर्धं नेति), शांकरभाष्य (वे० सू० १।२।८---यथाशास्त्रं तर्हि शास्त्रीयोर्थः प्रतिपत्तव्यो न तत्रार्धजरतीयं लभ्यम्), परा० मा० (२।१; पृ० ७०२)।

अधवैशस---अर्धजरतीयन्याय से मिलता-जुलता है। देखिए तन्त्रवा० (पृ० १७०, १७४, १८०, २६१); शांकरभाष्य (वे० सू० ३।३।१८), वैशस का अर्थ है 'नाश, टुकड़ों में विभाजित कर देना, संघर्ष या विरोध।' कुमारसम्भव (४।३१) में इसका शाब्दिक अर्थ है।

अर्धमन्तर्वेदि मिनोत्यर्धं बहिर्वेदि--देखिए शबर (जै० ३।७।१४), तन्त्रवा० (पृ० १०८३--८४); व्य० म० द्वारा उद्धृत (पृ० ११५, १४६)।

अवयवप्रसिद्धेः समुदायप्रसिद्धिर्बलीयसी---शबर (जै० ६।७।२२), जहाँ अश्वकर्ण (एक पेड़ का नाम) का उदाहरण दिया हुआ है, जिसकी पत्तियाँ घोड़े के कानों की भाँति होती हैं, तन्त्रवा० (जै० १।४।११)।

अवेष्टयधिकरणन्याय--जै० (२।३।३ एवं ११।४।१०)। शांकरभाष्य (वे० सू० ३।३।५०)।

अश्वाभिधानीन्याय---'इमामगृभ्णन् रशनामृतस्येत्यश्वाभिधानीमादत्ते'---तै० सं० (५।१।२।१) एवं तै० सं० (४।१।२।१) का मन्त्र; मी० न्या० प्र० (पृ० ८०) में व्याख्यायित; अर्थसंग्रह (पृ० ५)।

अश्वकर्णन्याय---टुप्टीका (जै० ४।४।१, पृ० १२७०)। यह इसलिए कहा गया है कि राजसूय में परम्परानुगत अर्थ ही लिया जाना चाहिए न कि शाब्दिक।

आकाशमुष्टिहननन्याय---तन्त्रवा० (जै० १।३।१२, पृ० २३६, 'यस्तन्तूननुपादाय तुरीमात्रपरिग्रहात्। पटं कर्तुं समीहेत स हन्याद् व्योम मुष्टिभिः॥', शांकरभाष्य (वे० सू० २।१।१८)।

आख्यातानामर्थं ब्रुवतां शक्तिः सहकारिणी—शबर (जै० १।४।२५), अर्थसंग्रह (पृ० १६, जहाँ यह न्याय कहा गया है), श्लोकवार्तिक (चोदनासूत्र, श्लोक ४७, पृ० ५६), तन्त्रवा० (जै० २।१।१, पृ० ३७८—**शक्तयः** सर्वभावानां नानुयोज्याः स्वभावतः। तेन नाना वदन्त्यर्थान् प्रकृतिप्रत्ययादयः ॥)।

आगन्तूनामन्ते निवेशः—शबर (जै० ५।३।४ एवं १०।५।१); शांकरभाष्य (वे० सू० ४।३।३); तिथि-तत्त्व (पृ० ६३) एवं व्य० म० (पृ० १४३)।

आनन्तर्यमकारणम्—देखिए आगे, 'यस्य येनार्थसम्बन्ध।' देखिए सूत्र 'आनन्तर्यमचोदना' (जै० ३।१।२४, एवं १४।३।११ जिसका एक अंश यह है—'अर्थतो ह्यसमर्थानामानन्तर्येप्यसम्बन्धः।'

आर्त्यधिकरणन्याय—जै० (४।४।२२); तै० ब्रा० (३।७।१।७–८) में आया है : 'यस्योभयं हविरार्ति-माच्छेंदैन्द्रं पञ्चशरावमोदनं निर्वपेत।' यहाँ पर 'उभय' शब्द अविवक्षित है और विधि का कोई भाग नहीं है।

उद्दिश्यमानस्य (या उद्देश्यगतं) विशेषणम विवक्षितम्—टुप्टीका (जै० ६।४।२२, पृ० १४३८, ७।१।२, पृ० १५२६, ८।१।१, पृ० १६३६, १०।३।३६, पृ० १८८२, 'उद्दिश्यमानस्य च संख्या न विवक्ष्यते ग्रहस्येव'; व्य० म० (पृ० ४५–४६, ६०, १३२, २१० एवं विश्वरूप (याज्ञ० ३।२५०; 'न च लक्ष्यमाणस्य विशेषणं विवक्षितमिति न्यायः')।

उद्भिदधिकरण—जै० (१।४।१–२), उद्भिद्, चित्रा, अग्निहोत्र यागों के नाम (गुणविधि नहीं) हैं और प्रमाण हैं। देखिए भामती (वे० सू० ३।३।१७)।

उपसंहारन्याय—जै० (३।१।२६–२७); उपसंहारो नाम सामान्यतः प्राप्तस्य विशेषे संकोचरूपो व्यापार-विशेषो विधेः। मी० न्या० प्र० (पृ० २६१); देखिए मिता० (याज्ञ० १।२५६); निर्णयसिन्धु (पृ० ३७ एवं ७१); व्य० म० (पृ० १११), प्रस्तुत लेखक की टिप्पणी, व्य० म० (पृ० १७६)।

ऋतुलिंगन्याय—यह आदिपर्व (१।३६), शान्तिपर्व (२१०।१७) के इस श्लोक की ओर संकेत करता है—'यथर्तावृतुलिंगानि नानारूपाणि पर्यये। दृश्यन्ते तानि तान्येव यथा भावा युगादिषु ॥' देखिए तन्त्रवा० (जै० १।३।७, पृ० २०२) एवं शांकरभाष्य (वे० सू० १।३।३०) जहाँ यह श्लोक उद्धृत है। यह वायुपुराण (८।६५), विष्णुपुराण (१।५।६१) एवं मार्कण्डेय० (४५।४३–४४) है।

एकवाक्यतान्याय—जै० (२।१।४६)। और देखिए म० म० गं० झा कृत 'पूर्वमीमांसासूत्र इन इट्स सोर्सेज' (पृ० १६२–१६३। विश्वरूप (याज्ञ० ३।२४८) ने इस न्याय को उदाहृत किया है। 'एकवाक्यता' शब्द वे० सू० (३।४।२४) में आया है।

एकहायनीन्याय—तन्त्रवा० (२।१।१२, पृ० ४१५) द्वारा उल्लिखित। यह 'अरुणान्याय' के समान ही है।

एकार्थास्तु विकल्पेरन्—यह जै० (१२।३।१०) का अंश है। देखिए मिता० (याज्ञ० ३।२५७) जहाँ ऐसा कहा गया है—'एकार्थानामेव विकल्पो व्रीहियवयोरिव न च दण्डतपसोरेकार्थत्वम्।'

ऐन्द्रीन्याय—देखिए मैत्रा० सं० (३।२।४); भामती (वे० सू० ३।३।२५); पू० मी० सू० (३।३।१४); शबर (३।३।१३)।

औदमेघिन्याय—यदि किसी व्यक्ति का नाम औदमेघि है तो अचानक ऐसा भान होता है कि वह ऐसे व्यक्ति का पुत्र है जिसका नाम उदमेघ है। देखिए शबर (जै० ३।५।२६, पृ० १००३ एवं २।३।३, पृ० ५८०) एवं तन्त्रवा० (पृ० ५८०)।

औदुम्बराधिकरण—जै० (१।२।१६–२५) जहाँ तै० सं० (२।१।१।६) का उद्धरण है, यथा—औदुम्बरो यूपो भवति, ऊर्ग् वा उदुम्बर ऊर्क् पशवः', तन्त्रवा० (पृ० ३५२), मी० न्या० प्र० (पृ० १३४))।

कपालन्याय या **कपालाधिकरणन्याय**—जै० (१०।५।१), मलमासतत्त्व (पृ० ७७६) में इसकी व्याख्या की गयी है।

कपिञ्जलन्याय—जै० (११।१।३८–४६) ; देखिए तन्त्रवा० (पृ० ४१५, जै० २।१।१२ पर, एवं पृ० १००४, जै० ३।५।२६ पर, जहाँ ऐसा आया है—'कपिञ्जलवच्च त्रीण्येव बहुत्वश्रुतिरवस्थाप्यते'); परा० मा० (१।२, पृ० २८१)।

कम्बलनिर्णेजनन्याय—शबर (जै० २।२।२५, पृ० ५४५, निर्णेजनं ह्युभयं करोति कम्बलशुद्धिं पादयोश्च निर्मलताम्)।

कर्मभूयस्त्वात्फलभूयस्त्वम्—देखिए स्मृतिच० (२, पृ० २६४) एवं परा० मा० (१।१, पृ० २५, कर्माधिक्यात्फलाधिक्यमिति न्यायसमाश्रयात्)।

कलञ्जन्याय—शबर (जै० ६।२।१६–२० ने 'न कलंजं भक्षयितव्यम्' पर कहा है कि यह स्पष्ट रूप से प्रतिषेध है न कि पर्युदास। देखिए मी० न्या० प्र० (पृ० २४८–२४६) एवं तिथितत्त्व (पृ० ६)।

कांस्यभोजिन्याय—यह पू० मी० सू० (१२।२।३४) में आया है (अधिकश्च गुणः साधारणेऽविरोधात्कांस्य-भोजिवदमुख्येऽपि) ; शबर ने यों व्याख्या की है—'शिष्यस्य कांस्यपात्रभोजित्वनियमः, उपाध्यायस्य न नियमः। यदि तयोरेकस्मिन्पात्रे भोजनमापद्यते, अमुख्यस्यापि शिष्यस्य धर्मो नियम्येत मा भूद्धर्मलोप इति।'

काकदन्तपरीक्षान्याय—देखिए टुप्टीका (पृ० १३८८, जै० ६।२।१)। कुछ क्रियाएँ, यथा—गदहे के चर्म के बालों या कौए के दाँतों को गिनना निरर्थक एवं अनुपयोगी है।

काकाक्षिगोलकन्याय—देखिए तन्त्रवा० (पृ० १६८, जै० १।३।७) ; मेधातिथि (मनु ८।१), व्य० प्र० (पृ० ५३४, व्य० म० (पृ० ६५)।

काण्डानुसमय—शबर (जै० ५।२।३, पृ० १३१०–११)। और देखिए आगे 'पदार्थानुसमय'।

कारणानुविधायिकार्यन्याय—तन्त्रवा० (पृ० २४५, जै० १।३।४६)। कारण के गुण कार्य में पाये जाते हैं।

कुण्डपायिनामयनन्याय—जै० (७।३।१–४)। देखिए आप० श्रौ० (२३।१०।६)।

कुशकाशावलम्बनन्याय—तन्त्रवा० (पृ० २६८, जै० १।३।२४)। 'कुश' दर्भ है और काश घास वाला पौधा है जिसके फूल श्वेत होते हैं। ये इतने दुर्बल होते हैं कि किसी को उनका अवलम्बन या सहारा नहीं प्राप्त हो सकता। अतः रूपक रूप में इसका अर्थ है 'दुर्बल या व्यर्थ तर्कों का सहारा लेना।' देखिए व्यव० प्र० (पृ० ५२७)।

कृत्वाचिन्तान्याय—विचार करने के लिए केवल अनुमानजन्य बात का सहारा लेना। यह शबरभाष्य में बहुधा आया है, यथा—जै० (६।८।४३, पृ० १५२२, कृत्वा चिन्तायाः प्रयोजनं वक्तव्यम्') ; और देखिए वही, ११।३।१६, पृ० २१७५, १२।२।११, पृ० २२४२; देखिए तन्त्रवा० (पृ० २८७, जै० १।३।२७, एवं पृ० ८६०, जै० ३।४।१—यस्तु भाष्यकारेणोपन्यासः कृतः स कृत्वाचिन्तान्यायेन)।

कैमुतिकन्याय—यह 'किमुत' से निष्पन्न हुआ है और प्रयुक्त हुआ है, यथा कादम्बरी में 'गर्भेश्वरत्व... शक्तिस्वं चेति महतीयं खल्वनर्थपरम्परा, सर्वाविनयानामेवैकमप्येषामायतनं किमुत समवायः।' देखिए व्य० म० (पृ० २४१) एवं प्रस्तुत लेखक की टिप्पणी व्य० म० (पृ० ४१६)।

क्षामेष्टिन्याय—जै० (६।४।१७–२०)। यदि दर्शपूर्णमास में अर्पित होने वाला पुरोडाश थोड़ा जल जाय तब न जले हुए अंश से कृत्य का सम्पादन करना चाहिए, किन्तु जब सम्पूर्ण पुरोडाश जल जाय तो प्रायश्चित्त की आवश्यकता होती है। देखिए मिताक्षरा (याज्ञ० ३।२४३)।

खलेकपोतन्याय—आबालवृद्ध सभी प्रकार के कपोतों (कबूतरों) का एक साथ उतरना। देखिए शबर (जै० ११।१।१६, पृ० २१११), मी० न्या० प्र० (पृ० ६५)।

गार्हपत्यन्याय—यह 'ऐन्द्रीन्याय' के समान ही है। देखिए शबर (जै० ३।२।३) एवं अर्थसंग्रह (पृ० ६)।

गुणकामाधिकरण—जै० (२।२।२५–२६); यह 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्' (तै० ब्रा० २।१।५।६) पर आधारित है और अर्थ है 'दधिकरणत्वेनेन्द्रियं भावयेत्।' देखिए मी० न्या० प्र० (पृ० ४२–४३ एवं ३६–३९।

गुणमुख्यव्यतिक्रमन्याय—यह जै० (३।३।९) का एक अंश है (गुणमुख्यव्यतिक्रमे तदर्थत्वान्मुख्येन वेदसंयोगः)। देखिए तन्त्रवा० (पृ० ८१०); शांकरभाष्य (वे० सू० ३।३।३३)।

गुणलोपे च मुख्यस्य—यह है जै० (१०।२।६३)। यहाँ पर क्रिया 'स्यात् (या भवति)' का लोप है।

गोबलीवर्दन्याय—'गाव आनीयन्ताम् बलीवर्दाश्च' इस वाक्य में 'बलीवर्दाश्च' का पृथक् उल्लेख इसलिए हुआ है कि गायों की अपेक्षा बैल अधिक दुर्दान्त होते हैं और उनका विशेष ध्यान दिया जाता है (वास्तव में 'गावः' के अन्तर्गत 'बलीवर्दाश्च' आ जाते हैं)। यह न्याय धर्मशास्त्र ग्रन्थों में बहुधा प्रयुक्त हुआ है। देखिए मिता० (याज्ञ० ३।३१२–३१३), स्मृतिच० (व्यवहार, पृ० ६६, ६७, १०२, १६९, २८०, ३००), कुल्लूक (मनु ८।२८), व्य० म० (पृ० २)।

गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसंप्रत्ययः—देखिए शबर (जै० ३।२।१)। इस न्याय को 'मुख्यगौणयोः...संप्रत्ययः' भी कहा जाता है। शांकरभाष्य (वे० सू० ४।३।१२) ने इसका दृष्टान्त दिया है। मुख्य एवं गौण को प्रथम अर्थ और द्वितीय अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है। देखिए महाभाष्य (वार्तिक १, पाणिनि १।१।१५ एवं वार्तिक ४, पा० ६।३।४६)।

ग्रहैकत्वन्याय—जै० (३।१।१३–१५); यह तै० सं० (३।२।२।३) के 'दशापवित्रेण ग्रहं संमार्ष्टि' पर आधारित है।

चतुर्धाकरणन्याय—जै० (३।१।२६–२७)। देखिए मी० न्या० प्र० (पृ० २६१); अर्थसंग्रह (पृ० २४)।

छत्रिन्याय—देखिए शबर (जै० १।४।२३, यथा छत्रिणो गच्छन्तीत्येकेन छत्रिणा सर्वे लक्ष्यन्ते); तन्त्रवा० (१।४।१३, पृ० ३४७); टुप्टीका (जै० ४।४।१, पृ० १२७० एवं ७।३।७, पृ० १५५२); शांकरभाष्य (वे० सू० ३।३।३४) ने इसे ऋतं पिबन्तौ (कठोप० ३।१) की व्याख्या में प्रयुक्त किया है।

जर्तिलयवाग्वा जुहुयात्—यह विधि की भाँति प्रतीत होता है, किन्तु यह केवल पयोहोम की प्रशंसा में अर्थवाद मात्र है। वैदिक वचन तै० सं० (५।४।३।२) में है और जै० (१०।८।७) इस पर विचार करते हैं। भामती (वे० सू० ३।३।१८) ने इसका आश्रय लिया है।

जातेष्टिन्याय—जै० (४।३।३८–३९); तै० सं० (२।२।५।३) 'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्, पुत्रे जाते।' यद्यपि कृत्य का सम्पादक पिता होता है, परन्तु फल उत्पन्न पुत्र को प्राप्त होता है। देखिए मिता० (याज्ञ० २।५६ एवं ३।२२०); प्राय० वि० (पृ० १८); व्य० प्र० (पृ० २५३–५४) एवं दत्त० मी० (पृ० १३५)।

जुहून्याय—जै० (४।३।१)। यह तै० सं० (३।५।७।२) के 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति' के समान अन्य वचनों पर आधारित है। ये वचन फलविधि नहीं होते, प्रत्युत अर्थवाद होते हैं।

तक्रकौण्डिन्यन्याय या ब्राह्मणकौण्डिन्यन्याय—देखिए तन्त्रवा० (पृ० ८६०, दधि ब्राह्मणेभ्यो दीयतां तक्रं कौण्डिन्याय); श्लोकवा० (वनवाद, श्लोक १५)। यदि केवल 'दधि...दीयतां', कहा जाय तो 'कौण्डिन्य ब्राह्मण है' इसलिए उसमें सम्मिलित माना जायगा, किन्तु यदि सम्पूर्ण वाक्य कहा जायगा तो वह प्रथम अंश में सम्मिलित

नहीं माना जायगा। महाभाष्य ने इसे बहुधा उदाहृत किया है, यथा–वार्तिक ४, पा० ६।१।२, वार्तिक १, पा० १।१।४७, वार्तिक २, पा० ६।२।१। और देखिए मिता० (याज्ञ० ३।२५७)।

तत्प्रख्यन्याय—जै० (१।४।४) 'तत्प्रख्यं चान्यशास्त्रम्', जिसका अर्थ है 'तस्य गुणस्य प्रख्यं प्रापकं अन्यशास्त्रं यत्र भवति।' तै० सं० (१।५।६।१) में हम पढ़ते हैं 'अग्निहोत्रं जुहोति स्वर्गकामः।' यहाँ पर अग्निहोत्र नाम (नामधेय) है एक कृत्य का (अग्नये होत्रं होमो यस्मिन्) न कि गुणविधि। देखिए मी० न्या० प्र० (पृ० ६४), धर्मद्वैतनिर्णय (पृ० ३), अर्थसंग्रह (पृ० ४ एवं २०)।

तद्व्यपदेशन्याय—जै० (१।४।५)। उदाहरण है 'श्येनेनाभिचरन् यजेत।' यहाँ पर 'श्येन' शब्द का प्रयोग 'श्येन' नामक कृत्य के लिए है, किन्तु यह कृत्य फुर्ती में श्येन (बाज) से मिलता-जुलता है। देखिए मी० न्या० प्र० (पृ० २३८), तेन व्यपदेशः उपमानम्। तदन्यथानुपपत्त्येति यावत्।

दण्डापूपन्याय या **दण्डापूपिकनीति**—धर्मशास्त्र ग्रन्थों में इसका बहुधा प्रयोग होता है। देखिए विश्वरूप, (याज्ञ० १।१४७ एवं ३।२५७); मिता० (याज्ञ० २।१२६); स्मृतिच० (व्यवहार, पृ० १४२, १४६, २४२, २४६, २८३, २६६, ३०१, ३१५, ३२६; दायभाग (१०।३०), दायतत्त्व (पृ० १७०)। व्य० म० (पृ० १३१)। दण्डापूपिकनीति के लिए देखिए अलंकारसर्वस्व, अर्थापत्ति (पृ० १६६) एवं उस पर की टीका जयरथ।

दर्विहोमन्याय—जै० (८।४।१); तन्त्रवा० (पृ० ११५, जै० १।२।७ पर); मी० न्या० प्र० (पृ० १४६)। सामासिक प्रयोग में 'होम' मुख्य (प्रधान) शब्द है और 'दर्वि' अप्रधान (उपसर्जन) शब्द है। अतः कृत्य का नाम दर्विहोम है।

दशाहरान्याय—देखिए भवदेव का प्रायश्चित्तप्रकरण (पृ० १८); प्राय० वि० (पृ० ८१); शुद्धितत्त्व (पृ० २४०-२४१)। ज्येष्ठ के शुक्ल पक्ष की दशमी तिथि को एक व्रत होता है, जिसका नाम दशहरा है। क्योंकि यह दस पापों को दूर करता है। न्याय यह कहता है कि कुछ बातों में एक के सम्पादन मात्र से कई फलों की प्राप्ति होती है।

दृष्टं प्रयोजनमुत्सृज्य न शक्यमदृष्टं कल्पयितुम्।
दृष्टे फले अदृष्टफलकल्पना अन्याय्या।
दृष्टे सति अदृष्टकल्पनाऽन्याय्या।
दृष्टे संभवत्यदृष्टस्यान्याय्यत्वम्।

देखिए शबर (जै० ६।३।३, पृ० १७४५, १०।२।२३, पृ० १८३५ एवं १०।२।३४, पृ० १८३८); मी० न्या० प्र० (पृ० २०१; एकादशीतत्त्व (पृ० ८६); भामती (वे० सू० ३।३।१४)।

देहलीदीपन्याय—देहली पर रखा दीपक घर के भीतर एवं बाहर दोनों ओर प्रकाश करता है। यह निम्नलिखित 'प्रसाददीपन्याय' के समान ही है। 'प्रदीपवत्' जै० (११।१।६१) में आया है; देखिए शबर (जै० ११।१।६१), व्य० म० (पृ० १४६), जहाँ याज्ञ० (२।१३६) की व्याख्या में इस न्याय की ओर संकेत है।

द्वयोः प्रणयन्तिन्याय—जै० (७।३।१६-२५); मिता० (याज्ञ० २।१३५); दायभाग (११।५।१६, पृ० १६४) एवं व्य० प्र० (पृ० ५००–५०२ एवं ५३५)।

धेनुकिशोरन्याय—जै० (७।४।७, जहाँ 'यथा धेनुः किशोरेण' आया है); शबर ने इसकी स्पष्ट व्याख्या की है। 'धेनु' का सामान्य अर्थ होता है 'गाय', किन्तु 'किशोर' का अर्थ है बछेड़ा (घोड़े का बच्चा, अश्वशावक), अतः 'कृष्णकिशोरा धेनुः' में 'धेनु' का अर्थ है 'अश्वा' (घोड़ी)।

न तौ पशौ करोति न सोमे—जै० (१०।८।५ एवं १२।१।७)। यहाँ 'तौ' 'आज्यभागौ' की ओर संकेत करता है; देखिए व्यवहारसार (पृ० २३१, नृसिंहप्रसाद का अंश); द० मी० (पृ० १८२)।

न विधौ परः शब्दार्थः—इसका अर्थ यह है कि ऐसा मानने की अनुमति नहीं है कि किसी विधिवाक्य में प्रयुक्त कोई शब्द अपने सीधे अर्थ से कोई अन्य भिन्न अर्थ रखता है। भामती (वे० सू० १।१।१, पृ० १०) की व्याख्या में कल्पतरु ने व्याख्या की है—'विधायके शब्दे परो लक्ष्यः शब्दार्थो न भवति'; देखिए शबर (जै० ४।४।१६, जहाँ ऐसा आया है—'अनुवादे च लक्षणा न्याय्या न विधौ) और देखिए शबर (जै० ४।१।१८, जहाँ १० यज्ञायुधों (पात्रों) को, जो तै० सं० १।६।८।२-३ में उल्लिखित हैं, अनुवाद कहा गया है विधि नहीं। देखिए परा० मा० (१।२, पृ० २६८) एवं मद० पा० (पृ० ३७२) एवं दत्त० मी० (पृ० १८०)।

नष्टाश्वदग्धरथन्याय—देखिए शबर (जै० २।१।१, पृ० ३७६); तन्त्रवा० (जै० १।२।७, ३।३।११, पृ० ८१८)। यह प्राचीन न्याय है। वार्तिक (१६, पाणिनि १।१।५०) यह है—'संप्रयोगो वा नष्टाश्वदग्धरथवत्।' महाभाष्य ने व्याख्या की है—'तवाश्वो नष्टो ममापि रथो दग्धः, उभौ संप्रयुज्यावहै इति।' मेधातिथि (मनु ५।५१) एवं भामती (१।१।४, पृ० १०८) ने इसका उल्लेख किया है। इसमें 'इतरेतरोपकारकत्व' की भावना पायी जाती है।

न हि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रयुज्यते, अपि तु विधेयं स्तोतुम्—देखिए इस महाग्रन्थ का मूल खण्ड २, पृ० ५८१ एवं खण्ड ५, पृ० ६६ जहाँ शबर एवं तन्त्रवा० के वचन उद्धृत हैं। मिता० (याज्ञ० ३।२२१)।

न ह्येकस्य शब्दस्यानेकार्थता सत्यां गतौ न्याय्या—देखिए शबर (जै० ८।३।२२ एवं ६।४।१८) एवं ऊपर वर्णित 'अन्याय्यश्चानेकार्थत्वम्' नामक न्याय।

नागृहीतविशेषणान्याय—इसे बहुधा 'नागृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिरुत्पद्यते' (शबर, जै० ७।२।२३ में) के रूप में या 'न ह्यप्रतीते विशेषणे विशिष्टं केचन प्रत्येतुमर्हन्ति' (शबर, जै० १।३।३३) के रूप में व्यक्त किया गया है। देखिए तन्त्रवा० (पृ० ३०४, ३२६, ६१६), एका० तत्त्व (पृ० १५); शुद्धितत्त्व (पृ० ३१३), व्य० म० (पृ० ८६)।

नास्ति वचनस्यातिभारः—शबर एवं धर्मशास्त्र-ग्रन्थों में यह न्याय विभिन्न रूपों में वर्णित है, किन्तु सभी स्थलों पर अर्थ एक ही है, यथा—'पवित्र वचन के लिए कुछ भी अति भारी (बोझ, अर्थात् व्यवस्था देने में असम्भव) नहीं है।' देखिए शबर (जै० २।२।२७, किमिव हि वचनं न कुर्यान्नास्ति... भारः) या जै० (३।२।३, १०।५।११) या जै० (६।१।४४, जहाँ ऐसा आया है—'न हि वचनस्य किंचिदलभ्यं नाम'); शंकराचार्य (वे० सू० ३।३।४१ एवं ३।४।३२)। विश्वरूप (याज्ञ० १।५८); मिता० (याज्ञ० ३।२६८); परा० मा० (२।१, पृ० २०२ एवं २।२, पृ० ६४)।

निमित्तगतं विशेषणमविवक्षितम्—यह 'आर्त्यधिकरणन्याय' के समान ही है। देखिए विश्वरूप (याज्ञ० ३।२१२)।

निमित्तावृत्तौ नैमित्तिकावृत्तिः—जै० (६।२।२७-२८ एवं २६)। 'भिन्ने जुहोति स्कन्ने जुहोति' ऐसे वचन वास्तव में ऐसी व्यवस्था देते हैं कि जब कभी 'टूट जाना' ऐसा निमित्त आ उपस्थित होता है तो वैसी स्थिति में नया होम किया जाता है। देखिए मेधा० (मनु ६।२२०, एतद्द्वारस्तया...) एवं मिता० (याज्ञ० १।८१)

निषादस्थपतिन्याय—जै० (६।१।५१-५२)। परा० मा० (१।१, पृ० ४६); प्राय० वि० (पृ० १३२); व्य० म० (पृ० ११२)।

न्यायसाम्य—नि० सि० (पृ० ६७) का कथन है कि सूर्यग्रहण पर श्राद्ध करने के नियम चन्द्रग्रहण वाले श्राद्ध के लिए प्रयुक्त होते हैं।

पंकप्रक्षालनन्याय—यह निम्नलिखित श्लोकार्ध से व्यक्त है—'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्' जो विश्वरूप (याज्ञ० १।२१०) द्वारा 'तथा च लौकिकाः' नामक शब्दों द्वारा प्रस्तावित किया गया है। यह श्लोकार्ध वनपर्व (१।४९) का है, जिसमें 'श्रेयो न स्पर्शनं नृणाम्' ऐसा पाठान्तर है और दूसरा अर्ध भाग यह है—'धर्मार्थं यस्य वित्तेहा वरं तस्य निरीहता।' शांकरभाष्य ने इसे उद्धृत किया है (वे० सू० ३।२।२२)।

पदार्थप्राबल्याधिकरण—जै० (१।३।५-७) एवं शबर (जै० १।३।७)।

पदार्थानुसमय—जै० (५।२।१-२) एवं 'काण्डानुसमय' (देखिए ऊपर)।

परमतमप्रतिषिद्धमनुमतं भवति—'मौन से स्वीकृति प्रकट होती है' के समान यह है। देखिए दत्त० मी० (पृ० ८२) एवं शांकरभाष्य (वे० सू० २।४।१२)।

पर्णमयीन्याय—जै० (३।६।१-८); 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति' ऐसे वचन तै० सं० (३।५।७।२) में आये हैं, किन्तु किसी विषय की ओर कोई संकेत नहीं है। उनका प्रयोग केवल विकृतियों के लिए हुआ है। देखिए मी० न्या० प्र० (पृ० ११७) एवं भामती (वे० सू०, १।१।४, पृ० १२३-१२४)।

पशुन्याय—जै० (४।१।११) एवं टुप्टीका (पृ० १२०३-५, वैदिक वचन—'यो दीक्षितो यदग्नीषोमीयं पशुमालभते)। एकत्व एवं पुंस्त्व दोनों पर बल देना चाहिए, ऐसा बलपूर्वक कहा गया है।

पशुपुरोडाशन्याय—जै० (१२।१।१-६); देखिए प्रायश्चित्तप्रकरण (भवदेवकृत, पृ० २०); प्राय० वि० (पृ० ८५) एवं गोविन्दानन्द की तत्त्वार्थकौमुदी।

पिष्टपेषणन्याय—शबर (जै० ९।२।३, १२।२।१६); तन्त्रवा० (१।२।३१, पृ० १४७)। पिष्टपेषण का अर्थ है उसे पीसना जो पहले से ही पीसा जा चुका है, अतः अनावश्यक रूप से तर्कों को दुहराना।

पृष्ठाकोटन्याय—'पीठ को घुमाकर बार-बार पृथिवी पर पड़े पदार्थों में प्रत्येक को देखना।' देखिए शबर (जै० २।१।३२) एवं तन्त्रवा० (पृ० ४३४); मिता० (याज्ञ० ३।२१६)।

प्रकृतिप्रत्ययौ प्रत्ययार्थं सह ब्रूत—देखिए शबर (जै० ३।४।१२, पृ० ९२२ एवं ११।१।२२, पृ० २०१३); तन्त्रवा० (जै० २।१।१, पृ० ३८०, ३।१।१२, पृ० ६७४, ३।४।१२, पृ० ९०२, ३।७।१०, पृ० १०८०)। महाभाष्य (वार्तिक २, पा० ३।१।६७)।

प्रतिनिधिन्याय—जै० (६।३।१३-१७), स्मृतिच० (श्राद्ध, पृ० ४६०)। इसका अर्थ है 'श्रुतद्रव्यापचारे द्रव्यान्तरं प्रतिनिधाय प्रयोगः कर्तव्यः।'

प्रतिनिमित्तं नैमित्तिकशास्त्रमावर्तते—देखिए न्याय 'निमित्तावृत्तौ' आदि ऊपर; मिता० (याज्ञ० ३।२६३-२६४ एवं २८८।

प्रतिपदाधिकरण—मी० न्या० प्र० (पृ० ४७)। जै० (२।१।१) के प्रथम भाग को शबर ऐसा कहते हैं और दूसरा भाग 'भावार्थाधिकरण' कहा जाता है।

प्रतिप्रधानं गुणावृत्तिः—शबर (जै० ३।३।१४, पृ० ८४४); परा० मा० (१।१, पृ० ३९१)।

प्रथमातिक्रमे कारणाभावात्—जै० (१०।५।१ एवं ६), जिस पर शबर का कथन है—'ये क्रमवन्त आरब्ध-व्यास्ते प्रथमादुपक्रमितव्याः') तन्त्रवा० (जै० ३।२।२०, पृ० ७७२ एवं ३।४।५१, पृ० ९८८), व्य० म० (पृ० १३४)।

प्रधानमल्लनिबर्हणन्याय—'प्रधान मल्ल को हरा देना', भावना यह है कि यदि प्रधान मल्ल हरा दिया गया तो उससे कम शक्ति वाले प्रतियोगी हारे हुए समझे जाने चाहिए। शांकरभाष्य (वे० सू० १।४।२८ एवं २।१।१२)।

प्रधानस्य चोद्दिश्यमानस्य विशेषणमविवक्षितम्—देखिए टुप्टीका (जै० ७।१।२, पृ० १५२६)।

प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोपि प्रवर्तते—देखिए श्लोकवा० (सम्बन्धाक्षेप०, श्लोक ५५, पृ० ६५३)।

प्रस्तरप्रहरणन्याय—जै० (३।२।११-१५), दर्शपूर्णमास में निर्देश करते हुए 'सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति', अर्थात् पुरोहित सूक्तवाक मन्त्र के साथ, जो इस प्रकार एक अंग हो जाता है, प्रस्तर (कुशों का एक गुच्छा) को अग्नि में डालता है।

प्रासाददीपन्याय—'देहलीदीपन्याय' के समान। शबर (जै० १२।१।१ एवं ३)।

प्रियंगवन्याय—देखिए तन्त्रवा० (जै० २।१।१२, पृ० ४१५)। यह शबर (जै० १।३।८) के 'तत्र केचिद् दीर्घशूकेषु यव-शब्दं प्रयुञ्जते केचित्प्रियङ्गुषु' की ओर संकेत करता है।

फलवत्संनिधावफलं तदंगम्—जै० (४।४।३४, जो एक लम्बा सूत्र है) में हमें ये शब्द मिलते हैं—'तत्पुनर्मुख्यलक्षणं यत्फलवत्त्वं तत्संनिधावसंयुक्तं तदंगं स्यात्।' देखिए शबर (जै० ४।४।१६); कुल्लूक (मनु २।१०१-१०२) ने इसका प्रयोग किया है; शांकरभाष्य (वे० सू० २।१।१४)।

बर्हिर्न्याय—जै० (३।२।१)। शबर ने 'बर्हिर्देवसदनं दामि' (मैं देवता के निवास के लिए बर्हि काटता हूँ) का उद्धरण दिया है और कहा है कि मुख्य भाव लेना चाहिए न कि गौण (समानता के आधार पर अन्य अर्थ)।

ब्राह्मणकौण्डिन्यन्याय—देखिए 'तक्रकौण्डिन्यन्याय'। मिता० (याज्ञ० ३।२५७)।

ब्राह्मणपरिव्राजकन्याय—शबर (जै० २।१।४३) ने लिखा है—'इतो ब्राह्मणा भोज्यन्तामितः परिव्राजका इति।' भामती (वे० सू० ३।१।११) का कथन है कि यह न्याय 'गोबलीवर्दन्याय' सा ही है। शांकरभाष्य (वे० सू० १।४।१६, २।३।१५ एवं ३।१।११)। सुबोधिनी (याज्ञ० २।६६)।

ब्राह्मणवसिष्ठन्याय—मेधा० (मनु ७।३५)। 'वसिष्ठ' का अर्थ ब्राह्मण भी है, किन्तु उनका वर्णन पृथक् से हो सकता है, क्योंकि वे तप करने वालों में विशिष्ट थे, अर्थात् उनके तप महान् थे।

भावार्थाधिकरण—जै० (२।१।१), मी० न्या० प्र० (पृ० १२८)।

भूतभव्यसमुच्चारणन्याय या **भूतभव्यसमुच्चारणे भूतं भव्यायोपदिश्यते**—शबर ने इसका बहुधा प्रयोग किया है, यथा जै० (२।१।४, ३।४।४०, ४।१।१८, ६।१।१, ६।१।६। टुप्टीका (जै० ४।१।१८) ने व्याख्या की है—'भूतं द्रव्यं भव्यां क्रियां निर्वर्तयतीति क्रियातोऽदृष्टम्।' व्य० म० (पृ० १११)।

भूयसान्याय या **भूयसां स्यात्सधर्मत्वम्**—जै० (१२।२।२२) के 'विप्रतिषिद्धधर्माणां समवाये भूयसां स्यात् सधर्मत्वम्' पर आधृत है। जब कई कृत्यों का मिला-जुला (मिश्रित) यज्ञ होता है और उसके कई विस्तारों में विरोध उपस्थित हो जाता है तो वैसी स्थिति में जो विधि अपनायी जाती है वह ऐसी होती है कि विस्तार अधिक-से-अधिक संख्या में सभी में पाये जायें। देखिए स्मृतिच० (श्राद्ध, पृ० ४६८), व्य० नि० (पृ २०२)।

माषमुद्गन्याय—जै० (६।३।२०)। नियम ऐसा है कि जब किसी यज्ञ के लिए व्यवस्थित पदार्थ न प्राप्त हो सके तो कोई अन्य समान पदार्थ काम में लाया जा सकता है (सोम के लिए पूतीका, शबर, जै० ६।३।१४); किन्तु जो पदार्थ स्पष्ट रूप से निषिद्ध रहता है, उसको प्रतिनिधि के रूप में नहीं ग्रहण किया जा सकता, भले ही वह व्यवस्थित पदार्थ के अनुरूप ही क्यों न हो। यदि मुद्ग न प्राप्त हो सके तो माष का प्रयोग नहीं हो सकता,

क्योंकि तै० सं० (५।१।८।१) द्वारा माष-अन्न यज्ञ के लिए निषिद्ध ठहराया गया है। देखिए मिता० (याज्ञ० २।-१२६); दायभाग (१३।१६); प्राय० तत्त्व (पृ० ४८२), व्यव० प्र० (पृ० ५५५)।

मिथः-सम्बन्धन्याय—यह 'वार्त्रघ्नीन्याय' के समान है (जै० ३।१।२३)।

मिथो-सम्बन्धन्याय—जै० (३।१।२२) एवं शबर (उसी पर); मदनपारिजात (पृ० ८६)। एक गुण-वाक्य किसी अन्य गुणवाक्य का सहायक नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों प्रधान उद्देश्य के सहायक होते हैं और दोनों बराबर स्थिति के होते हैं। दो कृत्य हैं—अग्न्याधेय एवं पवमान आहुतियाँ और ऐसा कहा गया है कि इनमें से एक दूसरे के अधीन है। दोनों एक ही उद्देश्य की पूर्ति करते हैं, अर्थात् दोनों दर्शपूर्णमास एवं अन्य यज्ञों में प्रयुक्त होते हैं। ऐसा वैदिक वचन है कि वरण एवं वैकंकत लकड़ी के पात्र यज्ञों के योग्य होते हैं, किन्तु वरण का पात्र होम में प्रयुक्त नहीं होता, किन्तु वैकंकत का पात्र प्रयुक्त होता है। दोनों प्रकार के पात्र यज्ञों के लिए सहायक होते हैं, किन्तु वैदिक वचन में वरण का होम में निषेध एक सामान्य बात है। अतः दोनों में एक, दूसरे के अधीन नहीं है। इसी से वैकंकत के पात्र उन यज्ञों में प्रयुक्त होते हैं जिनमें होम आवश्यक है, किन्तु इन यज्ञों में वरण के पात्र प्रयुक्त नहीं होते।

मुख्यगौणयोश्च मुख्ये संप्रत्ययः—शबर (जै० ३।२।१)। देखिए ऊपर 'गौणमुख्ययोश्च...'।

मुख्यापचारे (या मुख्यालाभे) प्रतिनिधिः शास्त्रार्थः—जै० (६।३।१३-१७), तिथितत्त्व (पृ० १३), दत्त० मी० (पृ० २०६)

यथाशक्तिन्याय—जै० (६।३।१-७)। धर्मद्वैतनिर्णय (पृ० १०५); एका० तत्त्व (पृ० १८, २६)।

यववराहाधिकरण—जै० (१।३।६)।

यश्चोभयोः पक्षयोर्दोषो न तमेकश्चोद्यो भवति या 'यस्चोभ.... नासावेकं पक्षं निवर्तयति' या 'यश्चो... नासावेकस्य वाच्यः'—देखिए शबर (जै० ८।३।७ एवं १४, १०।३।२५, पृ० १८१६)।

यस्य येनार्थसम्बन्ध इति न्यायात्—यह 'यस्य येनाभिसम्बन्धो दूरस्थेनापि तस्य सः। अर्थतो ह्यसमर्थानामानन्तर्यमकारणम् ॥' का एक अंश है। न्यायसुधा (पृ० १०७६) ने इसे तन्त्रवार्तिक (३।१।२७) पर टीका करते हुए वृद्ध-श्लोक कहकर उद्धृत किया है; तन्त्रवा० (पृ० ७४४) में आया है—'यस्य सम्बन्ध... इति न्यायात्'। यह न्याय राजनीति-विषयक ग्रन्थों में भी प्रयुक्त हुआ है। व्यक्तिविवेक-व्याख्या (पृ० ३६) अभिनव-भारती द्वारा नाट्यशास्त्र में उद्धृत ('तथापि यस्य येनार्थसम्बन्ध इत्यर्थक्रम आदर्तव्यो न शब्द इति')।

यावद्वचनं वाचनिकम्—देखिए शबर (जै० ५।४।११, याव...कं न तत्र न्यायः क्रमते, एवं ५।३।१२ याव... कं न सदृशमुपसंक्रामति)। मतलब यह है—'किसी अधिकारी वचन के विषय में केवल उतना ही स्वीकार करना चाहिए जो प्रयुक्त शब्दों से व्यक्त हो और उसे समानता के आधार पर अन्य विषयों में प्रयुक्त नहीं मानना चाहिए।' देखिए तन्त्रवा० (जै० ३।५।१६); भामती (वे० सू० ४।१।१ एवं ४।३।४); मेधा० (मनु १०।१२७)।

युगपद्वृत्तिद्वयविरोधन्याय—किसी विधि में एक ही शब्द एक ही काल में मुख्य एवं गौण दोनों अर्थों में प्रयुक्त नहीं हो सकता। देखिए जै० ३।२।१ एवं शबर; व्य० म० (पृ० ६२); दायभाग (३।३०, पृ० ६७)।

योगसिद्ध्यधिकरण—जै० (४।३।२७-२८)। ज्योतिष्टोम सभी फलों को एक-साथ ही नहीं प्रकट करता, प्रत्युत एक-के-पश्चात्-एक प्रकट करता है। यह शब्द सूत्र २८ में आया है और 'योगसिद्धि' शब्द का अर्थ है 'पर्याय', जैसा कि शबर का कथन है। देखिए मेधा० (मनु ११।२२०); शुद्धितत्त्व (पृ० २३६), प्राय० वि० (पृ० ७८) एवं भवदेवकृत प्राय० प्रकरण (पृ० १८)।

रथकाराधिकरणन्याय—जै० (६।१।४४-५०); मी० न्या० प्र० (पृ० ११३) एवं परा० मा० (१।१, पृ० ४८)।

रात्रिसत्रन्याय—जै० (४।३।१७-१९); दत्त० मी० (पृ० २०७); भामती (शांकरभाष्य, वे० सू० १।१।४)।

रूढिर्योगमपहरति—इसका अर्थ यह है कि व्युत्पत्तिमूलक अर्थ की अपेक्षा रूढिगत अर्थ को अधिक मान्यता देनी चाहिए, यथा 'रथकार' (जै० ६।१।४४) के विषय में। देखिए परा० मा० (१।१, पृ० ३००)। इसके विरोध में एक दूसरा न्याय ग्रहण किया जाता है, यथा—'योगसम्भवे परिभाषाया अयुक्तत्वात्', जो मिता० (याज्ञ० २।१४३) द्वारा स्त्रीधन के अर्थ के विषय में प्रयुक्त किया गया है। मी० न्या० प्र० (पृ० ११२-११३)।

रेवत्यधिकरणन्याय—जै० (२।२।२७) एवं मी० न्या० प्र० (पृ० ४०-४२)।

लक्षणा ह्यदृष्टकल्पनाया ज्यायसी—देखिए शबर (जै० १।१, पृ० ७ एवं १।४।२, पृ० ३२४)।

वर्चोन्याय—जै० (३।८।२५-२७)। दर्शपूर्णमास में अध्वर्यु पुरोहित पाठ करता है—'ममाग्ने वर्चो विहवेष्वस्तु' (मै० सं० १।४।५)। फल यजमान को मिलता है न कि अध्वर्यु को, क्योंकि अध्वर्यु दक्षिणा पर कार्य करता है।

वाजपेयन्याय—जै० (१।४।६-८)। 'वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत' नामक वाक्य में 'वाजपेय' एक याग का नाम है, वह किसी यज्ञ के विषय में कुछ और नहीं बताता। मिता० (याज्ञ० १।८१)।

वार्त्रघ्नीन्याय—जै० (३।१।२३)। तै० सं० (२।५।२।५) में ऐसा आया है कि वार्त्रघ्नी मन्त्रों का वाचन पूर्णमासी पर तथा वृधन्वती मन्त्रों का अमावास्या पर होना चाहिए। ये दोनों उन यज्ञों के लिए व्यवस्थित हैं जिनमें दो अनुवाक्याओं के वाचन की आवश्यकता होती है। दर्श या पौर्णमास कृत्य पर केवल एक अनुवाक्या होती है, अतः ये दोनों दर्शपूर्णमास में प्रयुक्त नहीं हो सकते। किन्तु दो अनुवाक्याओं का प्रयोग आज्यभागों में (जो दर्शपूर्णमास की सहायक आहुतियाँ होते हैं), हुआ है, ऐसा प्रसिद्ध है। अतः 'वार्त्रघ्नी' एवं 'वृधन्वती' अनुवाक्याएँ केवल आज्यभागों से सम्बन्धित हैं न कि प्रमुख कृत्य से।

विधिवन्निगदाधिकरण—देखिए दायभाग (याज्ञ० २।३०, स्थावरं द्विपदं...न विक्रयः), जिसने टिप्पणी की है—'कर्तव्यपदमवश्यमत्राध्याहार्यम्'। यह एक विधि है, यद्यपि उत्साह व्यक्त करने के लिए कोई अन्य शब्द नहीं है।

विश्वजिन्न्याय—जै० (४।३।१५-१६)। जहाँ किसी यज्ञ के लिए कोई फल स्पष्ट रूप से व्यवस्थित न हो वहाँ 'स्वर्ग' को फल समझना चाहिए। यह विश्वजित् यज्ञ के लिए है, जिसमें यज्ञकर्ता यज्ञ के समय की अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति का दान कर देता है। मेधा० (मनु० २।२); परा० मा० (१।१, पृ० १४८); एका० तत्त्व (पृ० २३)।

विधौ लक्षणा अन्याय्या—देखिए शबर (जै० १।२।२६ एवं ४।४।१६)। देखिए ऊपर 'न विधौ परः शब्दार्थः।' मलमासतत्त्व (पृ० ७६०)।

वैश्वदेवन्याय—जै० (१।४।१३-१६)। चातुर्मास्यों के चार पर्वों में वैश्वदेव प्रथम पर्व है। यह नामधेय है न कि गुणविधि। दत्त० मी० (पृ० २३६) ने इसका प्रयोग किया है।

वैश्वानराधिकरणन्याय—देखिए 'जातेष्टिन्याय'।

शाखान्तरन्याय—जै० (२।४।८-३३)। यह आगे लिखित 'सर्वशाखाप्रत्ययन्याय' ही है।

श्रुतिलक्षणाविशये च श्रुतिर्ज्याय्या न लक्षणा—शबर (जै० ४।१।२३, ४।१।४६ एवं ४।२।३०)।

षोडशिन्याय—जै० (१०।८।६)। 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' तथा 'नातिरात्रे. . .गृह्णाति', अर्थसंग्रह (पृ० २४)।

संयोगपृथक्त्वन्याय—जै० (४।३।५-७)। मेधा० (मनु० २।१०७); परा० मा० (१।१, पृ० ६०); प्राय० तत्त्व (पृ० ४७४); एका० तत्त्व (पृ० २९-३०); तिथितत्त्व (पृ० ४४); नि० सि० (पृ० ८४)।

सकृत्कृते कृतः शास्त्रार्थः—शबर (जै० ११।१।२८ एवं १२।३।१०); एका० तत्त्व (पृ० ३२), उद्वाहतत्त्व (पृ० १३३); महाभाष्य (वार्तिक ४, पा० ४।१।८४)। इस न्याय का प्रयोग सीमित होता है और बहुधा 'निमित्तावृत्तौ. . .' नामक न्याय प्रयुक्त होता है।

सकृच्छ्रुतः शब्दस्तमेवार्थं गमयति—दायभाग (३।२९-३०, पृ० ६७); मद० पा० (पृ० ३६६)।

समं स्यादश्रुतित्वात्—यह जै० (१०।३।५३-५५) का पूर्वपक्षसूत्र है। यह बहुधा प्रयोग में लाया जाता है, किन्तु जब असमान विभाजन होता है तो विशिष्ट व्यवस्था कर दी जाती है। मिता० (याज्ञ० २।२६५), दायभाग (४।८, पृ० ८०, स्त्रीधनविभाग); स्मृतिच० (२, पृ० १५२ एवं २८५), कुल्लूक (मनु ३।१, समं स्यादश्रुतित्वादिति न्यायेन प्रति. . .द्वादशवर्षाणि व्रताचरणम्); परा० मा० (१।२, पृ० ३६२); मदनरत्न, (व्य०, पृ० २०४)।

सप्तदशसामिधेनीन्याय—जै० (३।६।९)। 'सप्तदश सामिधेनीरनुब्रूयात्' ऐसे ऐतरेय ब्राह्मण (१।१) के समान वचन जो किसी विशिष्ट यज्ञ में प्रयुक्त हुए बिना आये हैं, केवल विकृतियों के लिए ही प्रयुक्त होते हैं, प्रकृति के लिए नहीं। मिता० (याज्ञ० १।२५६)।

सर्वपरिदानाधिकरण—जै० (३।४।१७), जो तै० सं० (२।६।१०।१-२) पर आधृत है। तै० सं० की यह उक्ति ब्राह्मण को धमकाने या मार डालने को मना करती है। प्राय० तत्त्व (पृ० ४७९); प्राय० वि० (पृ० ६)।

सर्वशक्त्यधिकरणन्याय—देखिए 'यथाशक्तिन्याय' एवं एका० तत्त्व (पृ० १८, २६)।

सर्वशाखाप्रत्ययन्याय—जै० (२।४।८-३३)। मिता० (याज्ञ० ३।३२५); अपरार्क (पृ० १०५३); स्मृतिच० (१, पृ० ५); मदनपारिजात (पृ० ११ एवं ९१); शुद्धितत्त्व (पृ० ३७८, ३८०)।

सामान्यविशेषन्याय—शबर (जै० ७।३।१६, बाध्यते च सामान्यं विशेषेण) एवं तन्त्रवा० (पृ० १०३०, जै० ३।६।९, 'तत्र नाम विशेषेण सामान्यस्य निराक्रिया। प्रत्यक्षो यत्र सम्बन्धो विशेषेण प्रतीयते॥ तुल्यप्रमाणको हि विशेषो बाधको भवति न दुर्बलप्रमाणकः', एवं पृ० ११२०); स्मृतिचन्द्रिका (व्यव०, पृ० १४२, २९९, ३८१) एवं परा० मा० (१, पृ० २३३)।

सामर्थ्याधिकरण—जै० (१।४।२५)।

सारस्वतौ भवतः—जै० (५।१।७४); देखिए स्मृतिच० (व्य०, पृ० २९७); सुबोधिनी (पितरौ, पृ० ७२), पृ० १८३)।

सार्थक्यन्याय—जै० (१।२।१ एवं ७); शबर (जै० २।२।६ एवं ३।१।१८, आनर्थक्यात्तदंगेषु)। अनर्थक का अर्थ है 'अर्थहीन' या 'उद्देश्यहीन'।

सुवर्णधारणन्याय—जै० (३।४।२०-२४)। तै० ब्रा० (२।२।४।६) में एक वचन है जो किसी विशिष्ट यज्ञ से सम्बन्धित नहीं है, यथा—'सुवर्णं हिरण्यं धार्यम्' (चमकीला सोना पहनना चाहिए)। यह पुरुषधर्म है न कि सर्वप्रकरणधर्म। मिता० (याज्ञ० २।१३५-१३६)। यह 'सभी सम्पत्ति यज्ञ के लिए है' नामक मान्यता के विरोध में एक तर्क है।

सूक्तवाक्यन्याय—देखिए जै० (३।२।१६-१९ और 'प्रस्तरप्रहरणन्याय', जहाँ सूक्तवाक एवं प्रस्तर का अर्थ दिया हुआ है। इन सूत्रों में यह स्थापित किया गया है कि सम्पूर्ण सूक्तवाक पौर्णमास-इष्टि एवं दर्श-इष्टि में नहीं कहा जाना चाहिए, किन्तु केवल उतना ही जो इन दोनों इष्टियों के देवों से क्रम से सम्बन्धित है।

स्थालीपुलाकन्याय—'स्थालीपुलाक' शब्द जै० (७।४।१२) में आया है। शबर (जै० ८।१।११) एवं तन्त्रवा० (जै० ३।५।१९, पृ० ९९८)। महाभाष्य को यह ज्ञात था, (यथा वार्तिक १५, पा० ७।२।१)। शांकरभाष्य (वे० सू० २।१।३४ एवं ३।३।५३)।

स्वर्गकामाधिकरण—जै० (६।१।१-३)।

हेतुमन्निगदाधिकरण—जै० (१।२।२६-३०)। विश्वरूप (याज्ञ० ३।२६३); मलमासतत्त्व (पृ० ७६०)।

होलाकाधिकरण—जैमिनि (१।३।१५-२३)।

अध्याय ३१

धर्मशास्त्र एवं सांख्य

सांख्य प्रसिद्ध छह दर्शनों में एक दर्शन है।

शंकराचार्य ने वेदान्तसूत्र (२।२।१७) के शारीरक-भाष्य में कहा है[1] कि वेदविद् मनु आदि ने कुछ सीमा तक अपने ग्रन्थों में सांख्य के सिद्धान्त को ग्रहण किया है। विशेषतः यह सिद्धान्त के उस अंश पर निर्भर है, जहाँ यह कहा गया है कि कार्य पहले से ही कारण में उपस्थित रहता है। इसी प्रकार वे० सू० (१।४।२८) की व्याख्या में उन्होंने कहा है कि सूत्रकार एवं स्वयं उन्होंने सांख्य सिद्धान्तों के खण्डन में बड़ा परिश्रम किया है (उन्होंने परमाणुकारणवाद के सिद्धान्त का इस प्रकार खण्डन नहीं किया है), क्योंकि सांख्य सिद्धान्त वेदान्तवाद के पास आ जाता है और कारण एवं कार्य के अनन्यभाव के दृष्टिकोण को स्वीकार कर लेता है, तथा देवल जैसे कुछ धर्मसूत्रकारों ने अपने ग्रन्थों में इसका आश्रय लिया है। वे० सू० (२।१।३) की व्याख्या में शंकर ने टिप्पणी की है कि यद्यपि बहुत-सी स्मृतियों ने आध्यात्मिक बातों का निरूपण किया है, किन्तु सबसे अधिक उद्योग सांख्य एवं योग के सिद्धान्तों के खण्डन में ही लगाया गया है, क्योंकि मनुष्य के परम लक्ष्य की प्राप्ति के साधन के रूप में दोनों सिद्धान्त विश्व में प्रसिद्ध हैं, तथा उन्हें शिष्टों (आदरणीय एवं विद्वान् लोगों) ने स्वीकार किया है और उनके पक्ष में वैदिक संकेत मिलते हैं (यथा श्वेताश्वतरोपनिषद्---'तत्कारणं सांख्ययोगाभिपन्नम्' ६।१३)। यह आगे व्यक्त किया जायगा कि मनु एवं देवल ने कुछ सांख्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन भी किया है और उनका आधार भी लिया है।

सांख्य सिद्धान्त के उद्गम एवं विकास के विषय में कुछ शब्द लिख देना अनावश्यक नहीं माना जायगा। सांख्य के उद्गम की समस्या भारतीय दर्शन की कठिनतम समस्याओं में एक है। सांख्य सिद्धान्त पर बहुत-से ग्रन्थ एवं निबन्ध लिखे गये हैं।[2] वह आरम्भिक सांख्य शिक्षा क्या थी, जिसे ईश्वरकृष्ण ने 'सांख्यकारिका'

१. प्रधानकारणवादो वेदविद्भिरपि कैश्चिन्मन्वादिभिः सत्कार्यत्वाद्यंशोपजीवनाभिप्रायेणोपनिबद्धः। अयं तु परमाणुकारणवादो न कैश्चिदपि शिष्टैः केनचिदप्यंशेन परिगृहीत इत्यत्यन्तमेवानादरणीयो वेदवादिभिः। शंकर (वे० सू० २।२।१७–अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा); "ईक्षतेर्नाशब्दम्" इत्यारभ्य प्रधानकारणवादः सूत्रैरेव पुनः पुनराशङ्क्य निराकृतः, तस्य हि पक्षस्योपोद्बलकानि कानिचिल्लिङ्गाभासानि वेदान्तेष्वापातेन मन्दमतीन्प्रति-भान्तीति। स च कार्यकारणानन्यत्वाभ्युपगमात्प्रत्यासन्नो वेदान्तवादस्य। देवलप्रभृतिभिश्च कैश्चिद्धर्मसूत्रकारैः स्वग्रन्थेष्वाश्रितस्तेन तत्प्रतिषेधे यत्नोऽतीव कृतो नाण्वादिकारणवादप्रतिषेधे। शाङ्करभाष्य (वे० सू० १।४।२८)।

२. जो लोग सांख्य में अभिरुचि रखते हैं वे निम्नलिखित ग्रन्थों एवं निबन्धों को पढ़ सकते हैं। फिट्ज एडवर्ड हाल का 'इण्ट्रोडक्शन टु सांख्य-प्रवचन-भाष्य' (बिब्लियोथिका इण्डिका सीरीज, १८५६); 'सांख्य-कारिका' जिस पर जॉन डेवीज ने टिप्पणी की है, जिसका उन्होंने अनुवाद किया है तथा कपिल के सिद्धान्त को समझाया है (१८८१ में सर्वप्रथम प्रकाशित, दूसरा संस्करण १९५७, कलकत्ता); रिचर्ड गार्बे का 'डाई सांख्य फिलॉसॉफी',

में सुधारा ? इसके विषय में सामान्य रूप से स्वीकृत कोई सम्मति नहीं दी जा सकती। सन् ५४६ ई० में परमार्थ द्वारा, जो आरम्भ में भारद्वाज गोत्र के ब्राह्मण थे और फिर उज्जयिनी में श्रमण हो गये थे, सांख्यकारिका का अनुवाद एवं टीका चीनी भाषा में करायी गयी (देखिए बी० ई० एफ० ई० ओ०, १९०४, पृ० ६०)। शंकराचार्य ने वे० सू० (१।४।११) में सांख्यकारिका के तीसरे श्लोक का सम्पूर्ण अंश तथा वे० सू० (१।४।८) में इसका एक चौथाई अंश उद्धृत किया है। किन्तु सांख्य सिद्धान्त ने, ऐसा प्रतीत होता है, कई अवस्थाओं में प्रवेश किया। चीनी स्रोतों से पता चलता है कि इसके अठारह सम्प्रदाय थे (देखिए जान्सन का 'अर्ली सांख्य' जहाँ बी० ई० एफ० ई० ओ०, १९०४, पृ० ५८ से उद्धरण लिया गया है)।

कपिल द्वारा विरचित सांख्यसूत्र या सांख्यप्रवचनसूत्र भी प्रचलित है। इसकी दो टीकाएँ प्रकाशित हुई हैं, यथा—अनिरुद्ध कृत एवं वेदान्ती महादेव की टीका के कुछ भाग (बिब्लियोथिका इण्डिका सीरीज, १८८१, में गार्बे द्वारा सम्पादित)। यह सन् १४४० ई० में प्रणीत हुआ, जैसा कि श्री गार्बे एवं फिज-एडवर्ड हाल द्वारा कहा गया है। इसका एक अन्य संस्करण है जिसमें २३ सूत्र हैं और जिसे 'तत्त्वसमास' नाम दिया गया है। तत्त्वसमास की एक टीका 'क्रमदीपिका' है जो चौखम्बा संस्कृत सीरीज द्वारा प्रकाशित है। चौखम्बा संस्कृत सीरीज ने कुछ अन्य संक्षिप्त पश्चात्कालीन ग्रन्थ प्रकाशित किये हैं, जिन्हें यहाँ स्थानाभाव से हम नहीं दे पा रहे हैं। सांख्यकारिका पर बहुत-सी टीकाएँ प्रकाशित हुई हैं। अत्यन्त आरम्भिक टीका सम्भवतः परमार्थ कृत अनुवाद के रूप में है जो सन् ५४६ ई० में चीनी भाषा में प्रकाशित हुई थी। इसका संस्कृत रूपान्तर विद्वान् पं० ऐयस्वामी शास्त्री द्वारा किया गया है और वह श्री वेंकटेश्वर ओरिएण्टल सीरीज द्वारा एक मूल्यवान् भूमिका के साथ सन् १९४४ ई० में प्रकाशित हुआ है। सांख्यकारिका की दूसरी टीका 'माठरवृत्ति' चौखम्बा संस्कृत सीरीज द्वारा सन् १९२२ ई० में प्रकाशित हुई थी। डा० बेलवाल्कर (ए० बी० ओ० आर० आई०, खण्ड ५, पृ० १३३-१६१) ने माठरवृत्ति पर एक अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण लम्बा निबन्ध लिखा है और कहा है कि माठरवृत्ति ही वह मूल टीका है जिसका चीनी अनुवाद परमार्थ ने किया था, जिसमें कालान्तर में बहुत-सी

१८९४, विज्ञानभिक्षु, के 'सांख्य-प्रवचन-भाष्य' के संस्करण पर उनकी भूमिका (हारवर्ड ओरिएण्टल सीरीज़); प्रो० मैक्समूलर कृत 'सिक्स सिस्टेम्स आव फिलॉसॉफी' (१९०३ का संस्करण, पृ० २१९–३३०); पाल डूसेन कृत 'दी फिलॉसॉफी आव दी उपनिषद्स' (ए० एस् गेडेन द्वारा अनूदित, १९०६, पृ० २३९–२५५); प्रो० ए० बी० कीथ कृत 'सांख्य सिस्टेम' (१९२४); ई० एच्० जांस्टन कृत 'अर्ली सांख्य' (रॉयल एशियाटिक सोसाइटी आव ग्रेट ब्रिटेन, १९३७); दासगुप्त कृत 'इण्डियन फिलॉसॉफी', खण्ड १, पृ० २०८–२७३ (१९२२); डा० राधाकृष्णन् कृत 'इण्डियन फिलॉसॉफी' खण्ड–२, पृ० २४८–३३५ (१९२७) एवं 'फिलॉसॉफी, ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न', खण्ड–१, पृ० २४२–२५७; प्रो० ए० बी० कीथ कृत 'रेलिजन एण्ड फ़िलॉसॉफी आव दि वेद एण्ड उपनिषद्स', खण्ड–२, पृ० ५३५–५५१; डा० डब्लू० रूबेन कृत 'बिगनिंग आव एपिक सांख्य' (ए० बी० ओ० आर० आई०, खण्ड ३७, १९५६, पृ० १७४–१८९); श्री जयदेव योगेन्द्र कृत 'सांख्य इन दि मोक्षपर्व' (जर्नल आव बाम्बे यूनिवर्सिटी, १९५७, खण्ड–२६, न्यू सीरीज, आर्ट्स नम्बर, पृ० १२३–१४१; श्री वी० एम० बेदकर कृत 'स्टडीज इन सांख्य, पञ्चशिख एण्ड चरक' (ए० बी० ओ० आर० आई०, खण्ड–३८, पृ० १४०–१४७) एवं 'स्टडीज इन सांख्य, दि टीचिंग आव पञ्चशिख इन दि महाभारत' (ए० बी० ओ० आर० आई०, खण्ड ३८, पृ० २३३–२४४)।

अन्य बातें भी समाविष्ट हो गयी थीं। डा० बेलवाल्कर का यह भी कथन है कि गौड़पाद की टीका माठरवृत्ति का ही संक्षिप्त रूपान्तर है (पृ० १४८)। माठरवृत्ति को सन् ४५० ई० के उपरान्त नहीं रखा जा सकता (पृ० १५५) और ईश्वरकृष्ण को हम सन् २५० ई० के पश्चात् का नहीं मान सकते (पृ० १६८)। प्रो० ए० बी० कीथ ने अपने ग्रन्थ 'सांख्य सिस्टेम' (पृ० ५१) में कहा है कि ईश्वरकृष्ण सन् ३२५ ई० के पश्चात् नहीं रखे जा सकते। एक अन्य आरम्भिक टीका है युक्तिदीपिका, जिसके लेखक का नाम अज्ञात है और वह श्री पुलिन-विहारी चक्रवर्ती द्वारा केवल एक हस्तलिपि प्रति से सम्पादित की गयी है (कलकत्ता संस्कृत सीरीज, सन् १९३८ ई०)। यह एक अति मूल्यवान् टीका है जो बड़ी बुद्धिमत्ता के साथ केवल एक प्रति के आधार पर ही सम्पादित की गयी है, यद्यपि इसमें यत्र-तत्र स्थल-भंग भी पाया जाता है। इस टीका में बहुत-से उद्धरण एवं विवादात्मक विवेचन पाये जाते हैं, बहुत-से ऐसे आचार्यों के नाम आये हैं जिनके विचार एक-दूसरे से भिन्न हैं और यत्र-तत्र उनके विचार कतिपय विषयों पर दृष्टान्तस्वरूप उद्धृत किये गये हैं। उदाहरणार्थ, देखिए नीचे 'विन्ध्यवासी'। इसमें कुछ ऐसे आचार्यों के नाम आये हैं जो किसी अन्य सांख्य ग्रन्थ में उल्लिखित नहीं हैं। पञ्चाधिकरण नामक आचार्य का नाम बहुधा आया है (पृ० ६, १०८, ११४, १३२, १४४, १४७, १४८, जहाँ पर पञ्चाधिकरण की दो आर्याएँ उल्लिखित हैं)। एक अन्य आचार्य का नाम है पौरिक (पृ० १६९ एवं १७५), जिन्होंने एक आश्चर्यजनक दृष्टिकोण उपस्थित किया है कि प्रत्येक पुरुष के लिए एक पृथक् प्रधान होता है।[3] पतञ्जलि का उल्लेख बहुधा हुआ है, यथा पृ० ३२ (यहाँ अहंकार के अस्तित्व को उन्होंने अस्वीकार किया है), १०८, १३२ (१२ करण हैं न कि १३, जैसा कि सांख्यकारिका ने ३२वें श्लोक में कहा है), १४५, १४९, १७५। वार्षगणाः (बहुवचन में) का उल्लेख पृ० ३९, ६७, ९५, १०२, १४५, १७० पर हुआ है। वार्षगण का उल्लेख पृ० ६ एवं १०८ पर, वार्षगणवीर का पृ० ७२, १०८, १७५ पर (इन्हें पृ० ७२ पर भगवान् कहा गया है) तथा वृषगणवीर का पृ० १०३ (सम्भवतः इस शब्द का अर्थ है वृषगण का पुत्र) पर हुआ है, और ये सभी वार्षगणों के दृष्टिकोण की ओर निर्देश करते हैं। पञ्चशिख (पृ० ३१, बहुवचन में, पृ० ६१, १७५) का उल्लेख है और एक वचन का, जो व्यासभाष्य (योगसूत्र १।४) द्वारा उद्धृत है और जिसे वाचस्पति ने पञ्चशिख द्वारा लिखित माना है, उद्धरण युक्तिदीपिका द्वारा दिया गया है और पृ० ४१ पर उसे शास्त्र कहा गया है। पृ० ११३ एवं १२९ से प्रकट होता है कि टीका का लेखक वेदान्ती था। यह सम्भव है कि उनका काल ५०० एवं ७०० ई० के बीच कहीं रहा हो, क्योंकि उन्होंने (पृ० ३९ पर) दिङ्नाग की प्रत्यक्ष-सम्बन्धी परिभाषा को उद्धृत किया है और वाचस्पति तथा सांख्य के अन्य टीकाकारों ने उनका उल्लेख नहीं किया है।

गौड़पाद ने सांख्यकारिका पर एक टीका लिखी, किंतु केवल ६९ श्लोकों पर ही, जैसा कि चौखम्बा सीरीज में प्रकाशित हुआ है। प्रसिद्ध लेखक वाचस्पति मिश्र कृत सांख्यतत्त्वकौमुदी, चौखम्बा सं० सी० में सन् १९१९ ई० में प्रकाशित हुई। जयमंगला नामक टीका (जो शंकराचार्य द्वारा लिखित कही गयी है) कलकत्ता में सन् १९३३ में श्री एच० शर्मा द्वारा प्रकाशित हुई, जिसकी संक्षिप्त किन्तु मनोरंजक भूमिका प्रिंसिपल गोपीनाथ कविराज ने लिखी है (देखिए इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली, जिल्द ५, पृ० ४१७-४३१)। इसमें श्री एच० शर्मा ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि सांख्यकारिका की टीका जयमंगला वाचस्पति

३. प्रतिपुरुषमन्यत् प्रधानं शरीराद्यर्थं करोति। तेषां च माहात्म्यशरीरप्रधानं यदा प्रवर्तते तदेतराण्यपि, तन्निवृत्तौ च तेषामपि निवृत्तिरिति पौरिकः सांख्याचार्यो मन्यते। युक्ति०, पृ० १६९।

मिश्र से पुरानी है। विज्ञानभिक्षु ने लगभग १५५० ई० में सांख्यप्रवचनसूत्र पर एक भाष्य लिखा। सूत्रकार एवं विज्ञानभिक्षु ने यह असम्भव मान्यता स्थापित करने का प्रयास किया है कि सांख्य सिद्धान्त की बातें ईश्वरवादी सिद्धान्त या अद्वैत वेदान्त के विरोध में नहीं पड़ती हैं। माठरवृत्ति (सांख्यकारिका ७१) ने कुछ ऐसे आचार्यों के नाम लिये हैं जो पञ्चशिख एवं ईश्वरकृष्ण के बीच में हुए थे, यथा—भार्गव, उलूक (कौशिक?), वाल्मीकि, हारीत, देवल आदि, किन्तु जयमंगला ने पञ्चशिख के उपरान्त सांख्य के आचार्यों में गर्ग एवं गौतम को उल्लिखित किया है (देखिए पं० ऐयस्वामी के संस्करण की टिप्पणी १, पृ० ६६)। परमार्थ (पं० ऐयस्वामी के संस्करण का पृ० ६८) के चीनी संस्करण से उद्घरित संस्कृत टीका का कथन है कि पञ्चशिख के उपरान्त आचार्यों एवं शिष्यों की परम्परा इस प्रकार है—पञ्चशिख–गार्ग्य–उलूक –वार्षगण–ईश्वरकृष्ण। इससे स्पष्ट है कि कम-से-कम पाँच या छह आचार्य पंचशिख एवं ईश्वरकृष्ण के बीच में हुए। युक्तिदीपिका के एक स्थल-भंग से युक्त वचन[४] से प्रकट होता है कि कम-से-कम दस व्यक्ति पंचशिख एवं ईश्वरकृष्ण के बीच में हुए थे। यदि यह स्वीकार कर लिया जाय और यदि ईश्वरकृष्ण को २५० ई० प्रदान की जाय तो पंचशिख को ई० पू० प्रथम शताब्दी के उपरान्त किसी भी दशा में नहीं रखा जा सकता, प्रत्युत वे इससे भी प्राचीन हो सकते हैं। 'तेन च बहुधा कृतं तन्त्रम्' (सांख्यकारिका ७०) पर युक्तिदीपिका ने भगवान् पंचशिख को 'दशम कुमार' (प्रजापति ? का दसवाँ पुत्र) कहा है और ऐसा उद्घोषित किया है कि उन्होंने शास्त्र की व्याख्या बहुतों से की, यथा जनक एवं वसिष्ठ से, और इस प्रकार पञ्च-शिख को शान्तिपर्व (३०८।२४-२६) में उल्लिखित पंचशिख के समान माना है।

वाचस्पति मिश्र ने योगसूत्रभाष्य (२।२३) की अपनी टीका में सांख्य लेखकों के 'दर्शन' एवं 'अदर्शन' सम्बन्धी प्रश्न पर आठ वैकल्पिक दृष्टिकोण उपस्थित किये हैं और टिप्पणी की है कि इन आठ विकल्पों में चौथा सांख्य शास्त्र का वास्तविक सिद्धान्त है। लगभग पाँचवीं शताब्दी से सांख्यकारिका सांख्य सिद्धान्त पर एक प्रामाणिक ग्रन्थ मानी जाती रही है। सांख्यकारिका में आया है कि यह पवित्र शास्त्र कपिल मुनि द्वारा आसुरि को निरूपित किया गया, जिन्होंने इसे पञ्चशिख को दिया और पञ्चशिख ने इसे अन्य कई शिष्यों को दिया और यह आचार्यों एवं शिष्यों की परम्परा में ईश्वरकृष्ण के पास आया, जिन्होंने इसे आर्या श्लोकों में संक्षिप्त किया।[५] यहाँ पर कपिल मुनि को सांख्य सिद्धान्त का प्रथम उद्घोषक कहा गया है।

४. अस्य तु शास्त्रस्य भगवतोऽग्रे प्रवृत्तत्वात् न शास्त्रान्तरवत् वंशः शक्यो वर्षसहस्रैरप्याख्यातुम्। संक्षेपेण तु द्वाव... (छूट गया है) हारीत-बाद्धलि–कैरात–पौरिक–ऋषभेश्वर–पञ्चाधिकरण–पतंजलि–वार्षगण्य–कौण्डिन्य–मूकादिकशिष्यपरम्परयागतं...। युक्ति०, पृ० १७५।

५. एतत्पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ। आसुरिरपि पञ्चशिखाय तेन च बहुधा कृतं तन्त्रम्॥ शिष्यपरम्परयागतमीश्वरकृष्णेन चैतदार्याभिः। संक्षिप्तमार्यमतिना सम्यग्विज्ञाय सिद्धान्तम्॥ सां० का० (७०–७१)। यह द्रष्टव्य है कि गौड़पाद ने केवल ६९ श्लोकों की टीका की है और इन दोनों तथा आगे के एक अन्य श्लोक को छोड़ दिया है, जो यों है—'सप्तत्यां किल येऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य। आख्यायिकाविरहिताः परवादविवर्जिताश्चापि॥' जिसका तात्पर्य यह है कि (पंचशिख के) सम्पूर्ण षष्टितन्त्र के सभी विषय (सांख्यकारिका के) सत्तर श्लोकों में पाये जाते हैं, केवल उदाहरणस्वरूप दी गयी कहानियाँ एवं अन्य मत-मतान्तर छोड़ दिये गये हैं। सांख्यकारिका को सांख्यसप्तति एवं चीनी भाषा में 'सुवर्णसप्तति' कहा गया है।

आगे कुछ और कहने के पूर्व सांख्य की मौलिक धारणाओं पर प्रकाश डाल देना आवश्यक है। अत्यन्त मौलिक धारणा यह है कि अनन्त काल से ही एक-दूसरे से भिन्न दो सत्ताएँ पायी जाती हैं, यथा—**प्रकृति**, जिसे **प्रधान** एवं **अव्यक्त** भी कहा जाता है तथा **पुरुष** (आत्मा, ज्ञाता)। दूसरी मौलिक धारणा यह है कि पुरुष अनेक हैं। एक अन्य अत्यन्त विशिष्ट धारणा है तीन गुण (तत्त्व), यथा—**सत्त्व** (प्रकाश, बुद्धिमान्), **रज** (क्रियाशील, शक्तिशाली एवं प्रभविष्णु) एवं **तम** (अन्धकार, प्रमादी, भद्दा, ढँकने वाला)।[६] **प्रधान या प्रकृति या अव्यक्त** का निर्माण तीन गुणों से होता है, अतः वह त्रिगुणात्मक कहा जाता है (सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था, अर्थात् जब सत्त्व, रज एवं तम समरस होते हैं तब वह त्रिगुणात्मक होता है)। सांख्य ने सभी भौतिक (स्थूल) एवं मानस सूक्ष्म तत्त्वों का विश्लेषण किया है। अत्यन्त निम्नकोटि का तत्त्व है भारी अभेद्य पदार्थ तथा स्थूल एवं जड़ वृत्तियाँ, जो **तमस्** कही जाती हैं (गुरु, भारी, वरणक एवं ढँकने वाली)। पुनः एक ऐसा तत्त्व है जो स्थूल एवं सूक्ष्म विश्व में निरन्तर परिवर्तन का द्योतक है। इसे **रजस्** कहा जाता है (चल, परिवर्तनशील एवं उपष्टम्भक, उत्तेजक)। तीसरा पदार्थ या तत्त्व है चेतना से उद्भूत भिन्न-क्रिया-प्रकार जिससे ज्ञान एवं अनुभूति उत्पन्न होती है, इसे **सत्त्व** कहा जाता है (लघु, प्रकाश, जो स्थूल एवं केवल भौतिक पदार्थों के विरोध में होता है, प्रकाशक, प्रकाशमान जो तमस् का विरोधी होता है)। ये तीनों तत्त्व विभिन्न अनुपातों में मिल कर इस विकसित विश्व का निर्माण करते हैं। कई दृष्टिकोणों से इन्हें गुण की संज्ञा दी गयी है, ये विशेषताएँ हैं, वे मानो रस्सियाँ हैं, जो पुरुष को संसार से बाँधती हैं। इस विश्व का आधार गुणों में निहित है। **प्रधान** गुणों से भिन्न नहीं है। प्रत्युत वह विकास आरम्भ होने के पूर्व के बीज या मौल (आदि) पदार्थ का नाम है। प्रकृति को अनादि एवं अनन्त कहा गया है, अतः सांख्य सिद्धान्त ने स्रष्टा के रूप में ईश्वर की कल्पना नहीं की और ईश्वर को अनावश्यक या व्यर्थ माना है। सांख्य ने विश्व के विकास से सम्बन्धित जो सिद्धान्त प्रतिपादित किया है वह आधुनिक विकासवाद के सिद्धान्त के समान ही व्यावहारिक रूप से तर्कसंगत लगता है। सम्भवतः विश्व के उद्गम, मानव की प्रकृति एवं स्थूल जगत से उसके सम्बन्ध तथा मानव की भावी नियति के प्रश्नों के उत्तर में सांख्य सिद्धान्त सबसे प्राचीन प्रयास है जो केवल तर्क पर ही आधृत है। उन्नीसवीं शती में मन एवं प्रकृति को भिन्न तत्त्व माना गया और परमाणुओं को अविभाज्य ठहराया गया। आधुनिक भौतिक शास्त्रियों ने तत्त्व को शक्ति के रूप में परिवर्तित कर दिया है, किन्तु इस अन्तिम शक्ति का स्वरूप

६. सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः। गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः॥ सां० का० (१३)। 'गुण' इसलिए कहे जाते हैं कि वे कई गुना बढ़ते जाते हैं (गुणयन्तीति) और वस्तुओं को विकसित करते हैं। मिलाइए 'मोहात्मकं तमस्तेषां रज एषां प्रवर्तकम्। प्रकाशबहुलत्वाच्च सत्त्वं ज्याय इहोच्यते॥' वनपर्व (२१२।४) एवं गीता (१४।५-१८), जहाँ पर तीन गुणों पर विवेचन है, विशेषतः यह—'सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः (५।५।); तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम्। सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ॥' श्लोक ६; रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्। श्लोक ७। वे० सू० (२।२।१०) पर शंकराचार्य का कथन है कि वेदान्तसूत्र के काल में सांख्य सिद्धान्त ने परस्पर विरोधी बातें कहीं—'परस्परविरुद्धश्चायं सांख्यानामभ्युपगमः। क्वचित्सप्तेन्द्रियाण्यनुक्रामन्ति क्वचिदेकादश। तथा क्वचिन्महतस्तन्मात्रसर्गमुपदिशन्ति क्वचिदहङ्कारात्। तथा क्वचित्त्रीण्यन्तःकरणानि वर्णयन्ति क्वचिदेकमिति।' सात इन्द्रियाँ ये हैं—चर्म, पाँच कर्मेन्द्रियाँ एवं मन; तीन अन्तःकरण ये हैं—बुद्धि, अहंकार एवं मन। एक अन्तःकरण है बुद्धि।

अभी अज्ञात एवं रहस्यात्मक है। सांख्य सिद्धान्त के अन्तर्गत **पुरुष** या **प्रकृति** या दोनों कोई धार्मिक उद्देश्य नहीं उपस्थित करते, अर्थात् उनके पीछे कोई धार्मिक पहलू नहीं है। पुरुष कैसे प्रकृति के चंगुल में फँस जाता है, इस विषय में कोई निश्चित एवं विश्वसनीय उत्तर नहीं मिल पाता। सांख्य सिद्धान्त केवल इतना ही बताता है कि विवेकहीनता के कारण पुरुष किसी प्रकार चंगुल में फँस जाता है। वेदान्तसूत्र ने **प्रधान** को १।२।१६ में **स्मार्त** कहा है और १।४।१ में उसे **आनुमानिक** कहा है। **प्रकृति** से **महान्** (बुद्धि, चेतना) की उत्पत्ति होती है, जिससे अहंकार उत्पन्न हो जाता है, अहंकार से एक ओर पाँच तन्मात्राओं (सूक्ष्म तत्त्वों, यथा—शब्द, स्पर्श, गन्ध, रस एवं रूप) एवं दूसरी ओर मन एवं दस इन्द्रियों (ज्ञानेन्द्रियों) की उत्पत्ति होती है। पाँच तन्मात्राओं से पाँच महान् तत्त्वों (पृथिवी, जल, तेजस्, वायु एवं आकाश) की उत्पत्ति होती है। ये ही २४ तत्त्व हैं और **पुरुष** २५वाँ तत्त्व है।[७] **प्रधान पुरुष** से भिन्न है, वह पुरुष के उद्देश्य की पूर्ति करता है (पुरुष निष्क्रिय एवं साक्षी होता है); पुरुष प्रकृति के मूल तत्त्वों से भिन्न है, वह **भोक्ता** है (कर्ता नहीं)। सांख्य ईश्वर की अपेक्षा नहीं करता।[८] प्रकृति एवं पुरुष इसीलिए एक साथ होते हैं कि पुरुष उसकी क्रिया देखे; यह उसी प्रकार है जैसा कि हम एक अंधे एवं लँगड़े को पाते हैं (अंधा व्यक्ति लँगड़े को अपने कंधे पर ले जा सकता है, लँगड़ा व्यक्ति मार्ग दिखाता चलता है और इस प्रकार दोनों समन्वित प्रयत्न से अपने लक्ष्य तक पहुँच जाते हैं)।[९] जब पुरुष अपने एवं गुणों (जो प्रकृति में निहित होते हैं) के बीच का अन्तर जान लेता है तो उसे मुक्ति मिल जाती है।[१०] सांख्य एवं योग दोनों इस बाह्य संसार को वास्तविक मानते हैं। दोनों ने आत्मा की अनेकता (पुरुषों) की कल्पना की है, दोनों के अनुसार ये आत्मा नित्य एवं

७. वे० सू० (१।४।११) में बृहदारण्यकोपनिषद् (४।४।१७) के 'यस्मिन् पञ्च पञ्चजना' को उद्धृत करने के उपरान्त पूर्वपक्ष को इस प्रकार रखा गया है—तथा पञ्चविंशतिसंख्यया यावन्तः संख्येया आकांक्ष्यन्ते तावन्त्येव च तत्त्वानि सांख्यैः संख्यायन्ते—'मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्नविकृतिः पुरुषः॥' यह अन्तिम श्लोक सां० का० ३ है।

८. सांख्य-प्रवचनसूत्र (१।९२–९३) में आया है 'ईश्वरासिद्धेः, मुक्तबद्धयोरन्यतराभावान्न तत्सिद्धिः।'

९. पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य। पंग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः॥ सां० का० (२१)। युक्तिदीपिका (पृ० २, श्लोक १०–१२) एवं अपनी टीका सांख्यतत्त्वकौमुदी में उद्धृत राजवार्तिक के अनुसार षष्टितन्त्र में जो ६० विषय विवेचित हैं वे ये हैं—प्रधानास्तित्वमेकत्वमर्थवत्त्वमथान्यता। पारार्थ्यं च तथाऽनैक्यं वियोगो योग एव च॥ शेषवृत्तिरकर्तृत्वं मौलिकार्थाः स्मृता दश। विपर्ययः पञ्चविधस्तथोक्ता नव तुष्टयः॥ करणानामसामर्थ्यमष्टाविंशतिधा मतम्। इति षष्टिः पदार्थानामष्टभिः सह सिद्धिभिः॥ सांख्यतत्त्व-कौमुदी (गंगानाथ झा द्वारा सम्पादित, बम्बई, १८९६)। देखिए सां० का० (४७) जहाँ 'प्रधानास्ति०...' आदि में वर्णित १० के अतिरिक्त ५० विषयों का उल्लेख है। अहिर्बुध्न्यसंहिता (१२।२०–२९) ने सांख्य-तन्त्र के ६० विषयों का उल्लेख किया है, किन्तु उनमें एवं वाचस्पति द्वारा उद्धृत राजवार्तिक में उल्लिखित विषयों में अन्तर है।

१०. धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद् भवत्यधर्मेण। ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः॥ सां० का० (४४); मिलाइए गीता (१४।१८) 'ऊर्ध्वं गच्छन्ति...', शंकराचार्य (वे० सू० १।४।४) ने कहा है—'ज्ञेयत्वेन च सांख्यैः प्रधानं स्मर्यते गुणपुरुषान्तरज्ञानात्कैवल्यमिति वदद्भिः।'

अपरिवर्तनशील हैं। यह अन्तिम मत सांख्य एवं अद्वैत वेदान्त के विशिष्ट अन्तरों में एक है। हम यहाँ पर इन सब बातों के विशद विवेचन में नहीं पड़ेंगे। सांख्य का एक अन्य सिद्धान्त है **सत्कार्यवाद**, अर्थात् कार्य पहले से ही कारण में विद्यमान रहता है, यह अभाव से नहीं उत्पन्न होता (सां० का० ९)। मिलाइए छान्दोग्योपनिषद् (६।२।२ कथमसतः सज्जायेत) एवं गीता (२।१६, नासतो विद्यते भावः)।

सांख्यकारिका की तिथि निश्चित करना एक कठिन समस्या है। परमार्थ ने कारिका एवं उसकी टीका को चीनी भाषा में लगभग ५४६ ई० में अनूदित किया था, अतः कारिका को हम २५०-३०० ई० के पश्चात् नहीं रख सकते। यह इससे कई शतियों पूर्व की हो सकती है। कुमारिल के श्लोकवार्तिक की टीका में उम्बेक ने माधव नामक लेखक का उल्लेख 'सांख्यनायक' के रूप में किया है तथा युवाँ च्वाँग ने भी माधव नामक एक सांख्य-आचार्य का उल्लेख किया है। डा० राघवन ने अपनी 'सरूप भारती' (पृ० १६२-१६४) में दर्शाया है कि माधव सांख्य का एक विध्वंसक आलोचक था, वास्तव में शुद्ध पाठ है—'सांख्यनाशक-माधव' न कि 'सांख्यनायक-माधव' तथा वे सम्भवतः दिङ्नाग एवं धर्मकीर्ति के पूर्व हुए थे (अर्थात् ५०० ई० के पूर्व)।

शंकराचार्य (देखिए इस अध्याय की पाद-टिप्पणी १) का कथन है कि कुछ उपनिषद्-वचनों से ऐसा प्रकट होता है कि मानो वे सांख्य सिद्धान्त को स्पष्ट रूप से मानते हैं। हम यहाँ कुछ ऐसे उपनिषद्-वचनों को, जो या तो सांख्य सिद्धान्तों को ढँक लेते हैं या सांख्य सिद्धान्त के अनुसार पारिभाषिक अर्थ वाले हैं, उद्धृत करते हैं।[११] अथर्ववेद (१०।८।४३) का एक वचन अवलोकनीय है—'ब्रह्मविद् उस यक्ष को जानते हैं, जो आत्मा-युक्त है, जो नव द्वार वाले कमल (शरीर) में तीन गुणों से ढँका हुआ निवास करता है।' इसे श्वेताश्वतरोपनिषद् (३।१८) एवं गीता (५।१३ नवद्वारे पुरे देही) से मिलाया जा सकता है। मुण्डकोपनिषद् (२।१।३) ने कहा है—'उससे प्राण, मन, सभी इन्द्रियों, पञ्च तत्त्वों एवं आकाश, वायु, ज्योति (तेज), जल एवं पृथिवी का जन्म हुआ है।' कठोपनिषद् ने इन्द्रियों के पदार्थों, मन, बुद्धि, महान्, अव्यक्त, पुरुष का

११. पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्। तस्मिन्यद्यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः॥ अथर्ववेद (१०।८।४३)। यहाँ 'यक्ष' का क्या अर्थ है, कहना कठिन है। यह शब्द ऋग्वेद (४।३।१३, ५।१०।४, ७।६१।५) में भी आया है, जहाँ सायण ने विभिन्न अर्थ किये हैं। एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी॥ मुण्डकोपनिषद्, (२।१।३); इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः॥ महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥ कठोपनिषद् (३।१०-११)। कुछ हल्के अन्तरों के साथ ये बातें बृहद्योगियाज्ञवल्क्यस्मृति (९।१८४-१८६) में भी पायी जाती हैं। वे० सू० (१।४।१) में सांख्य विरोधी इस कठ-वचन पर निर्भर रहता है, क्योंकि इससे यह प्रकट होता है कि सांख्य सिद्धान्त वेद पर आधृत हैं। मिलाइए भगवद्गीता (३।४२-४३)। शांकरभाष्य (वे० सू०, १।२।१२) ने उल्लेख किया है—'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरेकः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥ मुण्डक० (३।१।१)' श्वेताश्वतरोप० (४।६) एवं ऋ० (१।१६४।२०), फिर कहा है—'अपर आह। द्वा सुपर्णा—इति। नेयमृगस्याधिकरणस्य सिद्धान्तं भजते पैङ्गिरहस्यब्राह्मणेनान्यथा व्याख्यातत्वात्। तयोरेकः पिप्पलं स्वाद्वत्तीति सत्त्वम्, अनश्नन्नन्यो. . .अभिपश्यति ज्ञस्तावेतौ सत्त्वक्षेत्रज्ञौ।' यह 'द्वा सुपर्णा' नामक मन्त्र वे० सू० (३।३।३४) का विषय है।

उल्लेख किया है, जो क्रमशः उच्च कोटि की ओर बढ़ते जाते हैं। यह सांख्य के समान ही है, किन्तु एक अपवाद है—यथा उपनिषद् ने अहंकार का उल्लेख नहीं किया है और बुद्धि एवं महान् को भिन्न माना है, किन्तु सांख्य ने उन्हें अभिन्न रखा है। अतः स्पष्ट है कि इन दोनों उपनिषदों में विकास का वही सिद्धान्त है जो सांख्य द्वारा भी प्रतिपादित है, अन्तर केवल यह है कि उपनिषदों ने एक परम स्रष्टा (जो अखिल ब्रह्माण्ड का विधाता है) की कल्पना की है, जिसे सांख्य ने छोड़ दिया है और केवल विकासशील कोटि की ओर ही संकेत कर मौन धारण कर लिया है। शंकराचार्य ने वे० सू० (१।२।१२) में 'द्वा सुपर्णा सयुजा' (जो मुण्डकोपनिषद् ३।१।१ एवं श्वेताश्वतरोपनिषद् ३।१ एवं ऋ० १।१६४।२० में पाया जाता है) का उद्धरण दिया है और इसकी व्याख्या इसे 'जीव' एवं 'परमात्मा' कहकर की है। आचार्य ने इसके उपरान्त अपने किसी पूर्ववर्ती के तर्क का उल्लेख किया है, जो पैङ्गीरहस्य-ब्राह्मण पर निर्भर रहते हैं, जहाँ मन्त्र के उत्तरार्ध की व्याख्या इस प्रकार की गयी है मानो उसमें सत्त्व (बुद्धि) एवं क्षेत्रज्ञ (आत्मा) की ओर संकेत हो। इससे कुछ लोग इस मन्त्र में सांख्य विचारों को पढ़ते हैं। कठोपनिषद् (३।४) में आया है कि आत्मा का भोक्ता के रूप में वर्णन आत्मा के उस संयोग (सम्मिलन) का फल है जो इन्द्रियों एवं मन के साथ होता है। श्वेताश्वतरोपनिषद् (६।१३) में स्पष्ट रूप से सांख्य एवं योग की ओर संकेत आया है और उसका कथन है कि 'उस कारण के परिज्ञान पर जो सांख्य एवं योग के अध्ययन द्वारा प्राप्त किया जाता है, वह (व्यक्ति) सभी बन्धनों से छुटकारा पा लेता है।'[१२] यह उपनिषद् उन शब्दों से भरी पड़ी है जो बहुधा सांख्य सिद्धान्त द्वारा प्रयुक्त हुए हैं, यथा—'अव्यक्त' (१।८); 'गुण' (५।७ 'स विश्वरूपस्त्रिगुणः, एवं ६।२, ४ एवं १६); 'ज्ञ' (५।२, ६।१७); 'प्रकृति' (मायां तु प्रकृतिं विद्यात् ४।१०); 'पुरुष' (१।२, ३।१२, १३, ४।७); 'प्रधान' (१।१०, ६।१० एवं १६); 'लिंग' (१।१३, ६।९)। श्वेताश्व० (६।११) ने एक ईश्वर को इस प्रकार कहा है—'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।' सांख्य ने ईश्वर को स्वीकार नहीं किया है और उसकी उपाधियाँ 'पुरुष' के लिए रख दी हैं। 'पुरुष' तो सांख्य के अनुसार केवल निष्क्रिय साक्षी है, शुद्ध बुद्ध है और वह गुणों से अप्रभावित है। प्रश्नोपनिषद् (४।८) ने पाँच तत्त्वों एवं उनकी मात्राओं (पृथिवी च पृथिवी-मात्रा च. . .), दस इन्द्रियों एवं उनके पदार्थों, मन, बुद्धि, अहंकार आदि का उल्लेख किया है। प्रकृति एवं तीन गुणों के संबंध में अपने सिद्धांत के लिए सांख्य लोग 'अजामेकाम्' (श्वेताश्व० ४।५)[१३]

१२. नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्। तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥ श्वेताश्व० (४।१३)। इसका प्रथम अर्धांश कठो० (५।१ ३०) में आया है। शंकराचार्य (वे० सू० २।१।३) ने टिप्पणी की है—'यत्तु दर्शनमुक्तं तत्कारणं सांख्ययोगाभिपन्नम् इति, वैदिकमेव तत्त्वज्ञानं ध्यानं च सांख्ययोगशब्दाभ्यामभिलप्यते प्रत्यासत्तेरित्यवगन्तव्यम्।' मिलाइए गीता (१३।१९ एवं २१) प्रकृतिं पुरुषं चैव ... जहाँ पुरुष, प्रकृति एवं गुण के सम्बन्ध का उल्लेख है। 'साक्षी' शब्द की व्याख्या पाणिनि द्वारा इस प्रकार की गयी है—'साक्षाद्द्रष्टरि संज्ञायाम्' (५।२।९१)। 'कैवल्य' शब्द, जो सांख्य का परमार्थ है, 'केवल' (जो श्वेताश्वतरोपनिषद् १।११ एवं ६।११ में आया है) से निष्पन्न हुआ है और उसका अर्थ है 'केवलस्य भावः'।

१३. अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥ श्वेताश्व० उप० (४।५)। यह मन्त्र आलंकारिक ढंग से प्रकृति, पुरुष एवं गुणों

मन्त्र का आशय लेते हैं (देखिए शांकरभाष्य, वे० सू० १।४।८)। इस मन्त्र का अर्थ यह है—'एक अजा (अजन्मा) है जो लाल, श्वेत एवं कृष्ण रंग से परिपूर्ण है, किन्तु जो एक-दूसरे से मिलती-जुलती बहुत-सी सन्तानें उत्पन्न करती है। एक अज (बिना जन्म वाला) है, जो उसके आश्रय में रहता है (अर्थात् उसे प्यार करता है), उसके पार्श्व में सोता है। एक अन्य भी है, जो उसे, आनन्द पाने के उपरान्त, छोड़ देता है।' इसी प्रकार, सांख्यवादियों का कथन है कि सांख्य सिद्धान्त के प्रवर्तक कपिल श्वेताश्वतरोपनिषद् (५।२) में उल्लिखित हैं—'यह वही है, जो आरम्भ में, कपिल मुनि का, जब वे उत्पन्न हुए, विचारों से लालन-पालन करता है, और जब वे उत्पन्न होते रहते हैं, उन्हें देखता है।' यदि कोई श्वेताश्वतरोपनिषद् के बहुत-से वचनों पर ध्यान दे, यथा—३।४, ४।१२ एवं ६।१८ पर, तो उसे यही मानना पड़ेगा कि ऋषि कपिल (अर्थात् लोहित मुनि), हिरण्यगर्भ (सोने के शिशु) ही हैं, जिन्हें प्रथम सृष्टि (हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे, ऋ० १०।१२१।१) कहा जाता है।[१४] वे० सू० (२।१।१) पर शंकराचार्य कहते हैं कि केवल 'कपिल' शब्द के आ जाने से ही यह नहीं समझ लेना चाहिए कि वे ही सांख्य के प्रवर्तक थे, क्योंकि एक अन्य कपिल भी थे जो वासुदेव कहे जाते थे, जिन्होंने अपनी क्रुद्ध दृष्टि से सगर के पुत्रों को भस्म कर दिया था।[१५] शंकराचार्य इतना मानने को सन्नद्ध हैं कि सांख्य एव योग दोनों उन बातों में वैदिक सीमा के अन्तर्गत आ जाते हैं, जो वेद के विरोध में नहीं पड़तीं। पञ्च तत्वों (महाभूतानि) का उल्लेख ऐत० उप० (३।३), प्रश्न० (४।४) में तथा इनकी पाँच विशेषताओं (गुणों) का उल्लेख कठोपनिषद् (३।१५) में हुआ है।

के विषय में (सांख्य-विरोधी के मत के अनुसार) बताता है। 'अजा' एवं 'अज' का साधारण अर्थ है 'बकरी' एवं 'बकरा'। इन शब्दों का यह भी अर्थ है जिसने जन्म नहीं ग्रहण किया है, अर्थात् 'अजन्मा' अतः 'अजा' प्रकृति के लिए तथा 'अज' पुरुष के लिए है, ये दोनों सांख्य के अनुसार नित्य हैं। 'लोहित' (लाल) 'रज' के लिए, 'शुक्ल' (श्वेत) 'सत्त्वगुण' (जो 'प्रकाशक' है) के लिए तथा 'कृष्ण' (काला) 'तम' के लिए प्रयुक्त हुआ है। प्रकृति से बहुत से पदार्थ उद्भूत होते हैं। मन्त्र का दूसरा अर्धांश उस आत्मा की ओर संकेत करता है जो अंधकार से ढँका हुआ है अतः वह बन्धन में रहता है, किन्तु वह व्यक्ति जो गुणों एवं पुरुष के अन्तर को समझ लेता है प्रकृति को छोड़ देता है, अर्थात् मोक्ष पा लेता है। इस श्लोक में एक प्रकृति (यहाँ पर 'अजा' अर्थात् बकरी के रूप में वर्णित) से बहुत से पुरुषों 'अजों' अर्थात् बकरों के सम्बन्धों का उल्लेख है। ये तीनों रंग वास्तव में, क्रम से तीन तत्त्वों, अर्थात् तेज, जल एवं अन्न (अर्थात् पृथिवी) के लिए प्रयुक्त हैं। देखिए छान्दोग्योपनिषद् (६।३।१)—'यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य'।

१४. या तु श्रुतिः कपिलस्य ज्ञानातिशयं प्रदर्शयन्ती प्रदर्शिता न तया श्रुतिविरुद्धमपि कापिलं मतं श्रद्धातुं शक्यं कपिलमिति श्रुतिसामान्यमात्रत्वात्। अन्यस्य च कपिलस्य सगरपुत्राणां प्रतप्तुर्वासुदेवनाम्नः स्मरणात्। भाष्य (वे० सू० २।१।१); येन त्वंशेन न विरुध्येते तेनेष्टमेव सांख्ययोगस्मृत्योः सावकाशत्वम्। शंकराचार्य (वे० सू० (२।१।३)।

१५. विष्णुपुराण (४।४।१२) में कपिल को भगवान् पुरुषोत्तम का एक अंश कहा गया है। कपिल ने सगर के उन ६० सहस्र पुत्रों को, जिन्होंने उनके पास चरते हुए अश्वमेध के घोड़े को उनके द्वारा चुराया गया समझ लिया था, भस्म कर दिया था (४।४।१६–२३)। वासुदेव कपिल के लिए देखिए वनपर्व (१०७।३१–३३, चित्रशाला संस्करण) जहाँ आया है—'ततः क्रुद्धो महाराज कपिलो मुनिसत्तमः। वासुदेवेति यं प्राहुः कपिलं मुनिपुंगवम्॥...ददाह सुमहातेजा मन्दबुद्धीन् स सागरान्। यह कथा वनपर्व (४७।७–१८) में भी आयी है।

'सांख्य' शब्द का उल्लेख श्वेताश्व० उप० में हुआ है, कठ एवं मुण्डक के कुछ सिद्धान्त सांख्य सिद्धान्त से मिलते हैं तथा श्वेताश्वतरोपनिषद् ने बहुत से ऐसे शब्द प्रयुक्त किये हैं जो सांख्य-सम्बन्धी ग्रंथों में आये हैं, अतः प्रश्न उठ खड़ा होता है कि उपनिषदों से सांख्य का क्या सम्बन्ध है? इस विषय में तीन दृष्टिकोण हैं—(१) उपनिषद् एवं सांख्य के विचार समानान्तर रूप में विकसित हुए, (२) सांख्य ने उपनिषदों के विचारों को बीज रूप में ग्रहण कर उन्हें विस्तृत किया, (३) कुछ उपनिषदों ने सांख्य से उधार लिया। स्थानाभाव से इन प्रश्नों का विवेचन यहाँ नहीं किया जायगा। प्रस्तुत लेखक की धारणा है कि सांख्य ने उपनिषदों के विचारों पर अपने को आधारित किया है। प्राचीन उपनिषदें, यथा बृहदारण्यकोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद् आदि सांख्य-सिद्धान्तों एवं प्रणाली के कुछ भी अंश प्रदर्शित नहीं करतीं, किन्तु कठ, मुण्डक, श्वेताश्वतर, प्रश्न (जो छान्दोग्य, बृहदारण्यक से अपेक्षाकृत पश्चात्कालीन हैं) में सांख्य के संकेत मिल जाते हैं। शुद्ध रूप से केवल सांख्य-सिद्धान्त-सम्बन्धी ग्रन्थ या लेखक ईसा से कुछ शतियों पूर्व भी नहीं पाये जाते, जब कि प्रमुख उपनिषदें (श्वेताश्वतर को लेकर लगभग बारह) ई० पू० ३०० के उपरान्त नहीं रखी जा सकतीं। वे० सू० (१।४।८ एवं २।३।२२) ने श्वेताश्वतरोपनिषद् को भी 'श्रुति' के अन्तर्गत रखा है। इन सब बातों से स्पष्ट है कि उपनिषदें सांख्य से अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन हैं। गार्बे ('डाई सांख्य फिलॉसफी, पृ० ३) ने कहा है कि अपने लम्बे इतिहास में सांख्य ने अपने मौलिक सिद्धान्तों में कोई परिवर्तन या परिष्कार नहीं देखा। किन्तु जैकोबी इससे सहमत नहीं हैं, उनका कथन है कि सांख्य का उद्भव समान सांस्कृतिक एवं दार्शनिक भाण्डार से हुआ। ओल्डेनबर्ग का कथन है कि सांख्य का उद्गम कठोपनिषद् एवं श्वेताश्वतरोपनिषद् में पाया जाता है और उनकी यह भी धारणा है कि मौलिक सांख्य एक स्वतन्त्र विकास है (डाई लेह्रे डर उपनिषदेन अण्ड डाई अंफांजे डेस बुद्धिज्मस', १९१५, पृ० २०६)। सांख्य एवं योग कौटिल्य को भी ज्ञात थे (सांख्यं योगो लोकायतं चेत्यान्वीक्षिकी, अर्थशास्त्र, १।२, पृ०६)। अतः हम कह सकते हैं कि दार्शनिक सम्प्रदाय के रूप में सांख्य का आरम्भ कम-से-कम ईसा पूर्व चौथी शती के पूर्व हो चुका था।

सांख्य सिद्धान्त के उद्गम के विषय में जानकारी के लिए अब हम संस्कृत के ग्रन्थों का अवलोकन करेंगे। सर्वप्रथम हम महाभारत को उठायेंगे।

शान्तिपर्व[१६] के बहुत से वचनों में सांख्य के कुछ सिद्धान्त, पारिभाषिक शब्द एवं व्यक्ति दृष्टिगोचर होते हैं। इस प्रकार के बहुत से स्थल हैं, अतः हम कुछ ही दृष्टान्त उपस्थित करेंगे। २०३वें अध्याय में एक चतुर शिष्य एवं उसके आचार्य की बातचीत पायी जाती है। आरम्भ इस बात से होता है कि वासुदेव ही यह सब हैं (वासुदेवः सर्वमिदम्)। इसके उपरान्त बात बढ़ती है—'जिस प्रकार एक दीपक से सहस्रों दीपक अग्रसरित हो सकते हैं, उसी प्रकार प्रकृति असंख्य वस्तुएँ उत्पन्न करती है, किन्तु ऐसा करने से वह (आकार में) कम नहीं हो जाती; अव्यक्त (प्रकृति) की क्रिया से बुद्धि स्फुरित होती है और (बुद्धि से) अहंकार की उद्भूति होती है, और अहंकार से आकाश निकलता है, जिससे वायु उठता है और तब तेज, जल एवं पृथिवी में प्रत्येक की इसके पूर्ववर्ती से उत्पत्ति होती है। ये आठ मूल प्रकृतियाँ हैं, और सम्पूर्ण विश्व इनमें केन्द्रित

१६. इस प्रकरण में शान्तिपर्व के वचन हम भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीच्यूट द्वारा प्रकाशित महाभारत से उद्धृत करेंगे। किन्तु अन्य पर्वों के वचन चित्रशाला प्रेस के संस्करण से लिये जायेंगे।

हैं (२४–२६)।[17] इसके उपरान्त ज्ञान के पाँच अंगों अर्थात् पञ्च ज्ञानेन्द्रियों (कर्ण, चर्म, चक्षु, जिह्वा एवं नासिका) एवं पञ्च कर्मेन्द्रियों (हाथ, पैर आदि), ज्ञानेन्द्रियों के पञ्च विषयों (शब्द, स्पर्श आदि) एवं १६वें मन (जो विभु है) का उल्लेख हुआ है (श्लोक २७–३१)। इसके पश्चात् अध्याय में पुरुष (आत्मा) का उल्लेख है, जो नव द्वार वाले नगर का निवासी है और अमर एवं अविनाशी है[18], जो सभी जीवों में दीपक के समान देदीप्यमान है, चाहे वह बड़ा हो या छोटा। २०४ वें अध्याय में वही कथनोपकथन आगे चलता है और प्रथम श्लोक में आया है कि सभी भूतों की उद्भूति अव्यक्त से होती है और वे पुनः अव्यक्त में ही समा जाते हैं। इसमें **क्षेत्र** (शरीर, देह) एवं **क्षेत्रज्ञ** (श्लोक १४) की ओर संकेत है और अन्त में निष्कर्ष रूप में यह कहा गया है कि जिस प्रकार अग्नि-दग्ध बीज नहीं जमते, आत्मा उन क्लेशों से, जो सम्यक् ज्ञान की अग्नि से जल जाते हैं, पुनः सम्बन्धित नहीं होता।[19] अध्याय १०५ में २२–२३ श्लोक तीन गुणों की विशेषता बताते हैं। अध्याय २०६ में आया है कि जब जीव क्रोध, लोभ, भय, दर्प को संयमित कर लेता है तो वह परमात्मा, अर्थात् विष्णु में, जो अव्यक्त रूप है, समाहित हो जाता है। अध्याय २०७ में उन उपायों का उल्लेख है जिनके द्वारा परम लक्ष्य की प्राप्ति की जा सकती है और ब्रह्मचर्य को प्रथम उपाय माना गया है। इन अध्यायों में जो सिद्धान्त कहे गये हैं और जिनमें कुछ सांख्यकारिका के अनुरूप हैं, वे वेदान्त के परब्रह्म की संगति में बैठ जाते हैं, किन्तु मौलिक सांख्य में तो परब्रह्म की बात ही नहीं उठती।

शंकराचार्य ने वे० सू० (२।२।३७) के भाष्य में स्पष्ट रूप से कहा है कि कुछ ऐसे दार्शनिक थे जिन्होंने सांख्य एवं योग के सिद्धान्तों को अपना लिया था, परमेश्वर की कल्पना कर ली थी और ऐसी धारणा रखते थे कि तीनों, अर्थात् **प्रधान**, **पुरुष** एवं **ईश्वर** एक-दूसरे से भिन्न हैं। अतः महाभारत में जो सांख्य की ओर संकेत मिलते हैं, सम्भवतः वे उन दार्शनिक सिद्धान्तों से सम्बन्धित हैं जिनमें तीनों, अर्थात् **प्रकृति**, **पुरुष** एवं **परमात्मा** को स्वीकार किया गया था, जिनसे उस पश्चात्कालीन सांख्य सिद्धान्त की उद्भूति हुई जिसने विश्व के परम शासक की धारणा को त्याग दिया। शान्ति पर्व के नारायणीय प्रकरण में सांख्य, योग, पाञ्चरात्र, वेदों एवं पाशुपत को 'ज्ञानानि' एवं 'नानामतानि' (विभिन्न दृष्टिकोण) की संज्ञा दी गयी है और कपिल

१७. मूलप्रकृतयोऽष्टौ ता जगदेतास्ववस्थितम्। ज्ञानेन्द्रियाण्यतः पञ्च पञ्च कर्मेन्द्रियाण्यपि। विषया पञ्च चैकं च विकारे षोडशं मनः॥ श्लोक २६–२७। मिलाइए सांख्यकारिका (३)।

१८. नवद्वारं पुरं पुण्यमेतैर्भावैः समन्वितम्। व्याप्य शेते महानात्मा तस्मात्पुरुष उच्यते॥ शान्तिपर्व (२०३।३५)। मिलाइए भगवद्गीता 'नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन् न कारयन्।' 'पुरुष' शब्द सामान्यतः इस प्रकार व्युत्पन्न किया जाता है, 'पुरि शेते इति पुरुषः', देखिए निरुक्त (१।१३): यथा चापि प्रतीतार्थानि स्युस्तथैतान्याचक्षीरन् पुरुषं पुरिशय इत्याचक्षीरन्; किन्तु २।३ में इसने इसको तीन व्युत्पत्तियाँ दी हैं 'पुरुषः पुरिषादः पुरिशय पूरयतेर्वा' (प्रथम है सद् अर्थात् बैठना धातु से उत्पन्न, पुरि+ष)। 'पुरि शेते' से व्युत्पन्न शब्द बृह० उप० (२।४।१८) में आया है 'स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयः।' 'नवद्वारे पुरे देही' श्वेताश्व० (३।१८) में आया है।

१९. योगसूत्र में 'क्लेश' एक पारिभाषिक शब्द है जहाँ यह अधिकतर आया है, यथा—१।२४, २।२ एवं ३, २।१२, ४।२८ एवं ३०। योगसूत्र (२।३) में पाँच क्लेशों को इस प्रकार बताया गया है—'अविद्या–अस्मिता–राग–द्वेष–अभिनिवेशाः क्लेशाः।' वे लोगों को तंग करते हैं, अतः क्लेश कहे जाते हैं (क्लिश्यन्ति पुरुषम्)।

को, जो परमर्षि कहे गये हैं, सांख्य का प्रवर्तक माना गया है। अध्याय २६४ (श्लोक २६–४६) में सांख्य के २५ तत्त्वों का उल्लेख है, यथा प्रकृति या अव्यक्त, महत्, अहंकार, अहंकार से उत्पन्न पञ्चतत्त्व (इन आठों को प्रकृतियाँ कहा गया है) एवं १६ विकार (श्लोक २६)। इन्हें क्षेत्र कहा जाता है, आत्मा को २५वाँ तत्त्व कहा गया है और उसे **क्षेत्रज्ञ** एवं **पुरुष** की संज्ञा मिली है (श्लोक ३७, 'अव्यक्ते पुरे शेते पुरुषश्चेति कथ्यते')। **ईश्वर** या **ब्रह्म** के विषय में इस अध्याय में कुछ नहीं आया है।

शान्तिपर्व के अध्याय २११–२१२ (जिनमें कुल १०० श्लोक हैं) में मिथिला के राजा जनक (जो यहाँ 'जनदेव' कहे गये हैं) द्वारा पञ्चशिख से ज्ञान ग्रहण करने का उल्लेख है। पञ्चशिख सम्पूर्ण विश्व का भ्रमण करते हुए मिथिला पहुँचे थे। पञ्चशिख को आसुरि का प्रथम एवं सर्वश्रेष्ठ शिष्य कहा गया है और ऐसा उल्लेख हुआ है कि उन्होंने पञ्चस्रोतों पर[२०] एक सहस्र वर्षों तक सत्र का सम्पादन किया था। वे कपिला नाम्नी ब्राह्मणी से उत्पन्न हुए थे और इसी से उन्हें कापिलेय (श्लोक १३–१५) कहा गया है। जनक के दरबार में एक सहस्र आचार्य रहते थे जो विभिन्न सम्प्रदायों के दृष्टिकोणों को उपस्थित करते थे। श्लोक ६ में आया है कि पञ्चशिख ने परमर्षि कपिल एवं प्रजापति के समान प्रकट होकर लोगों को आश्चर्य में डाल दिया और अपने तर्कों से सैकड़ों आचार्यों को भ्रमित कर दिया (श्लोक १७)। आगे चलकर जनक ने उन आचार्यों को छोड़ दिया और पंचशिख का अनुसरण किया (श्लोक १८)। जाति या कृत्यों एवं सभी कुछ के विषय में उन्होंने जनक के मन में वितृष्णा उत्पन्न कर दी और उनके समक्ष सांख्य द्वारा उद्घोषित परममोक्ष की व्याख्या उपस्थित की। अध्याय २१२ में पञ्चशिख ने पाँच तत्त्वों, पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियों, मन (श्लोक ७–२२) तथा सात्त्विक, राजस एवं तामस भावों के लिंगों (श्लोक २५–२८) की उद्घोषणा की है तथा वर्णन किया है कि किस प्रकार आत्मा को खोजने वाला व्यक्ति आनन्द एवं क्लेश के बन्धनों से मुक्त होता है और जरा तथा मृत्यु के भय के ऊपर उठकर अमरत्व को प्राप्त करता है। ये दोनों अध्याय स्पष्ट रूप से तारतम्य के साथ सिद्धान्त उपस्थित नहीं करते और ऐसे शब्दों का प्रयोग करते हैं जो २५ तत्त्वों की संगति में बैठ नहीं पाते। अध्याय २१२ (श्लोक १२) में 'एकाक्षर ब्रह्म को कतिपय रूपों का धारणकर्ता' कहा गया है। उदाहरणार्थ, 'पुरुषावस्थमव्यक्तम्' का क्या अर्थ है, कहना कठिन है। इन शब्दों से यही अर्थ निकाला जा सकता है कि पञ्चशिख ने उस अव्यक्त (अर्थात् प्रधान) के बारे में (जनक को) ज्ञान दिया, जो पुरुष पर निर्भर है (अर्थात् जो पुरुष के संयोग से क्रियाशील होता है) और वह पुरुष परम सत्य है। इसमें पुनः कहा गया है कि पञ्चशिख इष्टियों एवं सत्रों के सम्पादन से उत्पन्न ज्ञान में पूर्ण हो गये, तपों द्वारा उन्होंने ईश्वर का साक्षात्कार पाया, क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ के बीच के अन्तर का परिज्ञान किया तथा ओम् के प्रतीक के रूप में ब्रह्म की अनुभूति प्राप्त की।[२१] अतः शान्तिपर्व के इन अध्यायों में पञ्चशिख का जो सिद्धान्त प्रकट हुआ है,

२०. **पञ्चस्रोत सम्भवतः 'पञ्चनद' (पंजाब की पाँच नदियाँ) हैं। इस संस्करण में शान्तिपर्व ने अध्याय २११ में एक श्लोक छोड़ दिया है—'पञ्चस्रोतसि निष्णातः पञ्चरात्रविशारदः। पञ्चज्ञः पञ्चकृत् पञ्चगुणः पञ्चशिखः स्मृतः॥' यहाँ पञ्चशिख को पञ्चरात्र (वैष्णव) के सिद्धान्तों में निष्णात माना गया है, वे कापिलेय कहे गये हैं अतः सम्भवतः उनकी माता का नाम कपिला था।**

२१. **तं समासीनमागम्य मण्डलं कापिलं महत्। पुरुषावस्थमव्यक्तं परमार्थं न्यबोधयत्॥ इष्टिसत्रेण संसिद्धो भूयश्च तपसा मुनिः। क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्व्यक्तिं बुबुधे देवदर्शन॥ यत्तदेकाक्षरं ब्रह्म नानारूपं प्रदृश्यते। शान्ति०**

वह वास्तव में अद्वैत है, जिस पर पश्चात्कालीन सांख्य के कुछ समान सिद्धान्त बैठा दिये गये हैं, जिससे सृष्टि आदि की व्याख्या की जा सके।[22] शान्तिपर्व (३०६।५६–६६, चित्रशाला प्रेस संस्करण–३१८।५८–६२) में विश्वावसु याज्ञवल्क्य से कहते हैं कि उन्होंने २५ तत्त्वों के बारे में जैगीषव्य, असित-देवल, वार्षगण्य (पराशर गोत्र के), भृगु पञ्चशिख, कपिल, शुक, गोतम, आर्ष्टिषेण, गर्ग, नारद, आसुरि पुलस्त्य, सनत्कुमार, शुक्र एवं कश्यप से सुना है। पुनः ३३६।६५ (चित्रशाला सं० ३१८।६७) में आया है कि याज्ञवल्क्य ने सांख्य एवं योग दोनों पर पूर्ण रूप से अधिकार प्राप्त कर लिया था। शान्तिपर्व (३०६।४, चित्रशाला सं०) में आया है कि सांख्य एवं योग दोनों एक हैं।[23]

महाभारत में पञ्चशिख का बहुधा उल्लेख हुआ है। शान्तिपर्व (३०७ वाँ अध्याय, कुल १४ श्लोक) में युधिष्ठिर ने भीष्म से पूछा है कि किस प्रकार कोई जरा या मृत्यु के ऊपर उठ सकता है, क्या तपों द्वारा या कृत्यों द्वारा या वैदिक अध्ययन द्वारा या रसायन प्रयोगों के द्वारा कोई इनके ऊपर उठ सकता है? भीष्म

(२११।११–१३)। 'पुरुषावस्थं' का विग्रह करना चाहिए (जिससे कि इसका कुछ अर्थ निकल सके), यथा 'पुरुषे अवस्था' (अवस्थानं यस्य) या 'पुरुषे अवतिष्ठते इति'। 'मण्डलं कापिलं महत्' का अर्थ सर्वथा स्पष्ट नहीं हो पाता, किन्तु अहिर्बुध्न्यसंहिता (१२।१८–२९) के वचनों से ऐसा प्रकट होता है कि कपिल के सांख्य-तन्त्र के सिद्धान्त दो मण्डलों में विभाजित थे, यथा प्राकृत एवं वैकृत और दोनों में क्रम से ३२ एवं २८ विषय थे। 'सांख्यरूपेण संकल्पो वैष्णवः कपिलादृषेः। उदितो यादृशः पूर्वं तादृशं शृणु मेऽखिलम्॥ षष्टिभेदं स्मृतं तन्त्रं सांख्यं नाम महामुने। प्राकृतं वैकृतं चेति मण्डले द्वे समासतः॥' टीकाकार अर्जुन मिश्र ने इसे यों समझा है—'कपिल का महान् सिद्धान्त उनके (पञ्चशिख के) पास प्रकाश के पुञ्ज के रूप में आया और उनको परम सत्य का अर्थ बताया।' किन्तु यह बहुत खींचातानी वाला अर्थ है। 'न्यबोधयत्' के कर्ता के तथा 'समासीनम्' (किसकी ओर संकेत करता है?) के विषय में शंका है। प्रस्तुत लेखक को ऐसा जँचता है कि अर्थ यों होना चाहिए—'पंचशिख उनके (जनक के) पास आये और उन्हें महान् कापिल मण्डल का ज्ञान दिया, जो सबसे बड़ा सत्य है, अव्यक्त है. . .आदि।' संस्कृत वाक्य के नियम के अनुसार 'आगम्य' एवं 'न्यबोधयत्' का कर्ता एक ही (अर्थात् पञ्चशिख) होना चाहिए। 'समासीनं' जनक की ओर संकेत करता है। मिलाइए 'एकाक्षरं परं ब्रह्म' (मनु २।८३) एवं 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्' (गीता ८।१३)। अध्याय २११ का श्लोक १३ यह है—'आसुरिर्मण्डले तस्मिन् प्रतिपेदे तदव्ययम्।' (अव्यय एकाक्षर-ब्रह्म की ओर संकेत करता है)। अतः मण्डल का अर्थ यों किया जाना चाहिए—'सिद्धांतों का वह वृत्त या मण्डल जो सर्वप्रथम कपिल द्वारा विवेचित हुआ।'

२२. पञ्चशिख ने जनक को जो ज्ञान दिया, उसकी स्थिति शान्तिपर्व में इस प्रकार व्यक्त है (२१२।५०–५१)—'न खलु मम तुषोऽपि दह्यतेऽत्र स्वयमिदमाह किल स्म भूमिपालः। इदममृतपदं विदेहराजः स्वयमिह पञ्चशिखेन भाष्यमाणः॥' मिलाइए शान्ति० (१७१।५६) अनन्तं बत मे वित्तं यस्य मे नास्ति किञ्चन। मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किञ्चन॥ धम्मपद २००, उत्तराध्ययन सूत्र (९।१४) 'सुहं वसामो जीवामो जेसिं मोणत्थि किंचण। मिहिलाए डज्झमाणीए न मे डज्झइ किंचण॥' इमां तु यो वेद विमोक्षबुद्धिमात्मानमन्विच्छति चाप्रमत्तः। न लिप्यते कर्मफलैरनिष्टैः पत्रं बिसस्येव जलेन सिक्तम्॥ शान्ति० (२१२।४४)।

२३. यदेव योगाः पश्यन्ति तत्सांख्यैरपि दृश्यते। एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥

ने जनक एवं भिक्षु पञ्चशिख के संवाद का उदाहरण दिया है। पञ्चशिख का उत्तर है कि इन दोनों से छुटकारा कोई नहीं पा सकता; यह मार्ग में लोगों के मिलन सा है (अर्थात् क्षणिक है)। किसी ने स्वर्ग या नरक नहीं देखा है, अपना कर्त्तव्य है वेदों के आदेशों का उल्लंघन न करना, दान एवं यज्ञ करना। इस अध्याय में सांख्य सिद्धान्त की ओर कोई विशिष्ट संकेत नहीं है, यद्यपि पञ्चशिख के मत दिये गये हैं। अध्याय ३०८ (कुल १९१ श्लोक हैं, किन्तु केवल ३० श्लोकों में पञ्चशिख के सिद्धान्त का उल्लेख है) में युधिष्ठिर ने प्रश्न किया है—'किस व्यक्ति ने बिना गृहस्थाश्रम छोड़े मोक्ष प्राप्त किया है ?' इस पर भीष्म ने उत्तर दिया है जो जनक (धर्मध्वज) एवं भिक्षुकी सुलभा के संवाद के रूप में है। जनक वेदज्ञ थे, मोक्षशास्त्र एवं राजधर्म में पारंगत थे, उन्होंने अपनी इन्द्रियों पर संयम रखा था और वे पृथिवी के शासक थे। सुलभा ने संन्यासियों से राजा जनक के सदाचार की बातें सुन रखी थीं, अतः उसमें सत्य की जानकारी की प्यास थी। उसने योगबल से अपना भिक्षुकी रूप छोड़ दिया और एक अत्यन्त सुन्दर नारी का रूप धारण कर जनक से मिली। जनक ने उसे बताया कि वे पाराशर्य गोत्र के वृद्ध भिक्षु पञ्चशिख के शिष्य हैं, जो वर्षाऋतु में उनके साथ चार मास रहे और उन्हें (जनक को) सांख्य, योग एवं नीति-शास्त्र इन मोक्ष के तीन स्वरूपों के बारे में बताया, किन्तु शासक-पद छोड़ने के लिए कोई बात नहीं कही। जनक ने कहा—'सभी प्रकार की विषयासक्ति को त्याग कर तथा परमोत्तम पद पर स्थित (शासक) रहकर मैं मोक्ष के तीन मार्गों का अनुसरण करता हूँ, इस मोक्ष का सर्वोच्च नियम है 'विषयासक्ति से मुक्ति, विषयासक्ति का अभाव सम्यक् ज्ञान से होता है, जिसके द्वारा व्यक्ति (संसार के) बन्धन से छुटकारा पाता है।' जनक ने आगे प्रकट किया है कि उस भिक्षु द्वारा, जो अपनी शिखा के कारण पञ्चशिख कहे जाते हैं, ज्ञान प्राप्त करने के कारण वे सभी विषयों से मुक्त हैं, यद्यपि वे अपने राज्य का शासन करते जा रहे हैं, वे इस प्रकार अन्य संन्यासियों से पृथक् हैं। इसके उपरान्त जनक ने (३०८।३८-४१) मोक्ष के तीन प्रकारों का एक अन्य अर्थ किया है जो पञ्चशिख द्वारा उन्हें प्राप्त हुआ था, यथा—(१) लोकोत्तर ज्ञान एवं सर्वत्याग, (२) कर्मों के प्रति ज्ञाननिष्ठा एवं (३) ज्ञान तथा कर्म का समुच्चय, और ऐसा कहा गया है कि जो इस तीसरे मार्ग का अनुसरण करते हैं वे गृहस्थों से कई रूपों में मिलते-जुलते हैं। जनक ने अपना दृष्टिकोण यों उपस्थित किया है—काषायधारण, सिर-मुण्डन, कमण्डलु का प्रयोग केवल बाहरी चिह्न हैं, ये मोक्ष की ओर नहीं ले जाते, मोक्ष केवल अकिञ्चनता से नहीं प्राप्त होता, धन-प्राप्ति से ही बन्धन नहीं होता, यह ज्ञान ही है जिसके द्वारा मुक्ति प्राप्त होती है, चाहे पास में धन रहे या न रहे।[२४] श्लोक ४० से प्रकट होता है कि पञ्चशिख ने मोक्षनिष्ठा के तीसरे प्रकार (ज्ञान-कर्म-समुच्चय) पर बल दिया है और जनक ने इसे ही स्वीकार किया है। ३०८ वें अध्याय का शेषांश जनक द्वारा सुलभा पर लगाये गये अभियोग तथा जनक के विरोध में दिये गये सुलभा के मर्मघाती वाक्य-बाणों से सम्बन्धित है।[२५] अन्त में वह

२४. काषायधारणं मौण्ड्यं त्रिविष्टब्धः कमण्डलुः। लिङ्गान्यत्यर्थमेतानि न मोक्षायेति मे मतिः॥... आकिञ्चन्ये न मोक्षोऽस्ति कैञ्चन्ये नास्ति बन्धनम्। कैञ्चन्ये चेतरे चैव जन्तुर्ज्ञानेन मुच्यते॥ शान्ति० (३०८। ४७ एवं ५०)। 'अकिञ्चन' का अर्थ होता है वह जिसके पास कुछ भी न हो एवं आकैञ्चन्य का अर्थ है 'अकिञ्चन होने की स्थिति।'

२५. कुछ प्रत्युत्तर नीचे दिये जाते हैं—'यद्यात्मनि परस्मिश्च समतामध्यवस्यसि। अथ मां कासि कस्येति किमर्थमनुपृच्छसि। ... सर्वः स्वे स्वे गृहे राजा सर्वः स्वे स्वे गृहे गृही। निग्रहानुग्रहौ कुर्वंस्तुल्यो जनक

कहती है---'आपने अवश्य पञ्चशिख से मोक्ष के सम्पूर्ण सिद्धान्त को, उसकी प्राप्ति के साधनों के साथ, उन उपनिषदों के वाक्यों के साथ जो उसकी व्याख्या करते हैं या (ध्यान के) सहायकों के साथ और निश्चित निष्कर्षों के साथ सुन लिया है।'

उपर्युक्त अन्तिम वचन स्पष्ट रूप से मोक्ष के विषय में उपनिषदों की ओर संकेत करता है और पूर्ववर्ती बातें जनक के सम्बन्ध में विषयासक्ति से छुटकारे की ओर संकेत करती हैं (२०८।३७, मुक्तसंग)। बृहदारण्यकोपनिषद् (३।१) में विदेह के राजा जनक द्वारा सम्पादित यज्ञ का उल्लेख है। राजा जनक ने उपस्थित ब्राह्मणों के मध्य यह घोषणा की थी कि मैं उस ब्राह्मण को, जो अत्यन्त गम्भीर रूप से विद्वान् और ब्रह्मिष्ठ होगा, एक सहस्र गायें दूंगा। याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्य को यह आज्ञा दी कि वह गायों को हाँक ले चले, इस पर एक विद्वत्तापूर्ण प्रश्नोत्तर-विमर्श उठ खड़ा हुआ, जिसमें क्रुद्ध ब्राह्मणों एवं एक नारी ने भाग लिया और प्रश्नों की बौछार याज्ञवल्क्य को सहनी पड़ी। प्रश्नकर्ता थे---अश्वल (जनक के पुरोहित) जारत्कारव आर्तभाग, भुज्यु, लाह्यायनि, उषस्त चाक्रायण, कहोड़ कौषीतकेय, गार्गी वाचक्नवी, उद्दालक आरुणि, विदग्ध शाकल्य (३।१-९, जिसका अन्त 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' के साथ हुआ है)। बृह० उप(४।२) में ऐसा आया है कि जनक याज्ञवल्क्य के पास गये, श्रद्धा से उनके समक्ष झुके और प्रार्थना की---मुझे सिखाइए। याज्ञवल्क्य ने उनसे कहा---'आपने वेदाध्ययन किया है, आचार्यों ने आपके समक्ष उपनिषदों की व्याख्या की है, किन्तु जब आप इस शरीर का त्याग करेंगे, तो कहाँ जायेंगे ?' जनक ने कहा कि वे इस प्रश्न का उत्तर नहीं जानते और ऋषि से प्रार्थना कि वे उन्हें इस विषय में प्रकाश दें। इसके उपरान्त एक लम्बा विवेचन चल पड़ा है (बृ० उ० ४।२...) जिसमें प्रसिद्ध वचन 'स एष नेति नेत्यात्मा अगृह्यो न हि गृह्यते...असङ्गणो न हि सज्जते...अभयं वै जनक प्राप्तोसि' (४।२।४) आया है। प्रस्तुत लेखक को ऐसा लगता है कि किसी व्यक्ति ने सांख्य सिद्धान्तों के प्रचार के लिए शान्तिपर्व में उन सांख्य-सम्बन्धी वचनों का समावेश कर दिया जिनमें जनक के गुरु के रूप में याज्ञवल्क्य के स्थान पर पञ्चशिख को रख दिया गया है।

उपर्युक्त विवेचनों से यह प्रकट हो जाता है कि शान्तिपर्व के अध्यायों में जो सांख्य सम्बन्धी मत प्रकाशित हैं, वे सांख्य के मूल से मेल नहीं खाते, इतना ही नहीं, पञ्चशिख के मत जो अध्याय २११-२१२ में प्रकाशित हैं वे ३०८वें अध्याय के मतों से भिन्न हैं। अध्याय ३०८ में ज्ञान-कर्मसमुच्चय ही पञ्चशिख के मत के रूप में प्रकाशित है, जब कि हम जानते हैं कि सांख्य मुक्ति के लिए केवल ज्ञान को प्रधानता देता है। यह द्रष्टव्य है कि इन अध्यायों में पञ्चशिख के किसी ग्रन्थ की ओर संकेत नहीं है, वे केवल घूमने वाले संन्यासी के रूप में वर्णित हैं जिनके अपने कुछ विशिष्ट मत हैं। प्रस्तुत लेखक को प्रतीत होता है कि शान्तिपर्व के लेखक महोदय के समक्ष कोई ग्रन्थ नहीं था, प्रत्युत उन्होंने परम्परा से आयी हुई यह बात सुन रखी थी कि पञ्चशिख एक बड़े सांख्य प्रचारक थे। प्रो० कीथ का मत है कि शान्तिपर्व का पञ्चशिख वह पञ्चशिख नहीं है जो षष्टितन्त्र का लेखक है (सांख्य सिस्टेम, पृष्ठ ४८)।

राजभिः॥ ३०८। १२६-२७, १४७। ननु नाम त्वया मोक्षः कृत्स्नः पञ्चशिखाच्छ्रुतः। सोपायः सोपनिषदः सोपासङ्गः सनिश्चयः ॥ ३०८। १६३। टीकाकार नीलकण्ठ ने व्याख्या की है---उपासङ्गो ध्यानाङ्गानि यमादीनि।

शान्तिपर्व में कुछ अन्य अध्याय भी हैं जहाँ पर सांख्य सिद्धान्तों एवं तत्सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख हुआ है, किन्तु वे वासुदेव या परमात्मा की ओर संकेत करते हैं। उदाहरणार्थ, अध्याय ३४० (श्लोक २३, २४, २६-२७, ६४-६५) में नारद से स्वयं भगवान् ने सांख्य के कुछ सिद्धान्तों का विवेचन किया है, यथा २४ तत्त्व एवं पुरुष (२५वाँ तत्त्व), तीनों गुण, पुरुष (जो क्षेत्रज्ञ एवं भोक्ता है), आचार्य (जो सांख्य के विषय में निश्चित निष्कर्षों तक पहुँच गये हैं) लोग उसे ईश्वर कहते हैं जो सूर्य के मण्डल में कपिल के समान है, वह हिरण्यगर्भ, जो वेद में प्रशंसित है और योगशास्त्र का प्रणेता है, 'मैं' ही हूँ।

न-केवल शान्तिपर्व में प्रत्युत महाभारत के अन्य पर्वों में भी सांख्य सिद्धान्त का विवेचन हुआ है। उदाहरणार्थ, आश्वमेधिक (३५।४७-४८) ने सत्त्व, रज एवं तम का आत्मगुणों के रूप में उल्लेख किया है और उनके सन्तुलन की चर्चा की है। इसी अध्याय में, अन्यत्र २४ तत्त्वों का उल्लेख है, यथा—अव्यक्त, महान्, अहंकार आदि तथा तीनों गुणों की चर्चा है।

आसुरि का उल्लेख सांख्यकारिका द्वारा कपिल के शिष्य के रूप में हुआ है, योगसूत्र-भाष्य (१।२५) एवं शान्तिपर्व (अध्याय ३०६) में भी इनकी चर्चा उद्धरणों में हुई है। किन्तु इनके द्वारा लिखित कोई ग्रन्थ नहीं है और किसी लेखक ने इनका कोई उद्धरण भी नहीं दिया है (केवल एक जैन लेखक हरिभद्र ने इनका एक श्लोक उद्धृत किया है)। कपिल किंवदन्तीपूर्ण एवं पुराणकथात्मक व्यक्ति हैं। ऋग्वेद (१०।२७।१६) में कपिल दस अंगिरसों में परिगणित हैं। कपिल-सम्बन्धी भ्रामक गाथाओं के लिए देखिए सांख्य-प्रवचन-भाष्य पर हाल की भूमिका (पृ० १४)। महाभारत-सम्बन्धी संकेतों को हमने पहले ही देख लिया है। वनपर्व (२२१।२६) में कपिल को सांख्य-योग का प्रवर्तक कहा गया है, परमर्षि की उपाधि दी गयी है और अग्नि का अवतार माना गया है। मत्स्यपुराण (१०२।१७-१८) में आया है कि ब्रह्मा के सात पुत्रों, यथा—सनक, सनन्द, सनातन, कपिल, आसुरि, वोढु एवं पञ्चशिख को जल-तर्पण करना चाहिए। वामन-पुराण (६०।७०) ने कपिल (सांख्य के ज्ञाता के रूप में), वोढु, आसुरि, पञ्चशिख (योगयुक्त के रूप में) का उल्लेख किया है और कहा है कि सनत्कुमार ब्रह्मा के पास योग-विद्या सीखने के लिए गये।[२६]

कात्यायन के स्नानसूत्र (कण्डिका ३) में, जो पारस्करगृह्यसूत्र से सम्बन्धित है, निर्दिष्ट केवल ये ही ऐसे सात व्यक्ति हैं जिन्हें ऋषियों के साथ तर्पण किया जाता है। भागवतपुराण (१।३।१०) में कपिल को विष्णु का पाँचवाँ अवतार कहा गया है, उन्हें सिद्धेश की उपाधि दी गयी है तथा आसुरि का सांख्य-शिक्षक कहा गया है (उस सांख्य की शिक्षा देने वाला कहा गया है जो अब समय के फेर से पुराना पड़ गया)। गीता (१०।२६, सिद्धानां कपिलो मुनिः) ने कपिल को एक मुनि तथा सिद्धों में सर्वश्रेष्ठ माना है। सांख्यकारिका ने उन्हें एक मुनि के रूप में माना है। कूर्मपुराण (२।७।७) ने गीता की ही बात कही है।

२६. मनुष्यांस्तर्पयेद् भक्त्या ब्रह्मपुत्रानृषींस्तथा। सनकश्च सनन्दश्च तृतीयश्च सनातनः॥ कपिलश्चासुरिश्चैव वोढुः पञ्चशिखस्तथा। सर्वे ते तृप्तिमायान्तु मद्दत्तेनाम्बुना सदा॥ मत्स्य० (१०२।१७–१८)। ब्रह्माण्ड पुराण (४।२।२७२–२७४) ने ब्रह्मा के इन सात पुत्रों का उल्लेख किया है किन्तु भिन्न क्रम से। वामनपुराण (६०।६९–७०) ने सातों पुत्रों को इस क्रम में रखा है—सनत्कुमार, सनातन, सनक, सनन्दन, कपिल, वोढु एवं आसुरि और अन्त में पञ्चशिख को जोड़ दिया गया है। बृहद्योगियाज्ञवल्क्यस्मृति (७।६६) में ये सातों ब्रह्मा के मानव पुत्र कहे गये हैं।

बृहदारण्यकोपनिषद् (२।६।३ एवं ६।५।२-३) में, जिसमें आचार्यों एवं शिष्यों की सूचियों में अन्तर पाया जाता है, आसुरि को प्रथम सूची में भरद्वाज का शिष्य तथा दूसरी सूची में याज्ञवल्क्य का शिष्य कहा गया है। प्रत्येक सूची में ब्रह्मा के उपरान्त कम-से-कम ६० आचार्यों के नाम आये हैं। पहली बात तो यह है कि इन सूचियों में सचाई कितनी है यह कहना कठिन है, दूसरी बात यह है कि दोनों सूचियों में उल्लिखित आसुरि को कपिल का ही शिष्य कहना कहाँ तक ठीक होगा।

सांख्य सिद्धान्त में पञ्चशिख का एक महत्त्वपूर्ण नाम है। उस सिद्धान्त के विषय में उनका क्रमबद्ध ग्रन्थ है षष्टितन्त्र। सांख्यकारिका (७० एवं ७२) ने इस ग्रन्थ का उल्लेख किया है। इस ग्रन्थ में ६० विषयों एवं ६० सहस्र गाथाओं की चर्चा है।[२७] योगसूत्रभाष्य (४।१३) में एक ऐसे श्लोक का उद्धरण है जो वाचस्पति द्वारा षष्टि-तन्त्र का कहा गया है। प्रस्तुत लेखक को प्रो० कीथ की यह मान्यता स्वीकार्य नहीं है कि सांख्यकारिका (७२) में षष्टितन्त्र की ओर जो संकेत है वह किसी ग्रन्थ की ओर नहीं है, प्रत्युत वह ६० विषयों वाले एक दर्शन की ओर है। आर्या ७२ की एक संस्कृत टीका थी, जो सन् ५४६ ई० में चीनी भाषा में अनूदित की गयी, जिसमें यह कहा गया कि ग्रन्थ में ६० गाथाएँ थीं[२८], किन्तु भामती (वाचस्पतिकृत वे० सू० २।१।३ की टीका) ने इसे वार्ष-गण्य का माना है। यह वाचस्पति की त्रुटि हो सकती है, या यह सम्भव है कि उन्होंने पञ्चशिख एवं वार्षगण्य को एक ही व्यक्ति समझा हो—पहला 'पुकारू' नाम तथा दूसरा गोत्र नाम हो। योगसूत्र (१।४।२५, ३६; २।५।-६, १३, १७, १८, २०; ३।१३ एवं ४१; ४।१३—तथा च शास्त्रानुशासनं 'गुणानाम्...) में गद्यात्मक वचन आये हैं जिन्हें वाचस्पति ने पञ्चशिख के माना है। सांख्यकारिका (२) की टीका में वाचस्पति ने पञ्चशिखाचार्य के मत उद्धृत किये हैं। योगसूत्रभाष्य (१।२५) की टीका में एक सूत्र उद्धृत है जिसे वाचस्पति ने पञ्चशिख का माना है और उस सूत्र में कपिल को 'आदिविद्वान्' (सांख्य के प्रथम आचार्य) एवं 'परमर्षि' कहा गया है और ऐसा आया है कि कपिल ने आसुरि को तन्त्र एवं सांख्य-सिद्धान्त का ज्ञान दिया।

शान्तिपर्व (अध्याय ३०६) में विश्वावसु गन्धर्व तथा याज्ञवल्क्य का जो संवाद आया है उसमें उन मुनियों की सूची दी हुई है जिनसे विश्वावसु ने बहुत कुछ ज्ञान ग्रहण किया, किन्तु विश्वावसु ने याज्ञवल्क्य से सांख्य एवं योग की व्याख्या के लिए प्रार्थना की है। याज्ञवल्क्य बताते हैं कि प्रकृति को प्रधान भी कहते हैं, जिसे २५वें (अर्थात् पुरुष) का ज्ञान नहीं होता और २६वाँ (अर्थात् परमात्मा) भी होता है। उस सूची में निम्नलिखित नाम आये हैं—जैगीषव्य, असित, देवल, पराशर गोत्र के वार्षगण्य, भिक्षु पञ्चशिख, कपिल, शुक, गौतम, आर्ष्टि-षेण, गार्ग्य, नारद, आसुरि, पुलस्त्य, सनत्कुमार, शुक्र, कश्यप के पिता। ये मुनि तिथि-क्रम से नहीं रखे गये हैं और कतिपय मुनि सांख्य एवं योग के विषय में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। यह हम पहले ही देख चुके हैं कि पञ्च-शिख पराशर गोत्र के थे और उपर्युक्त सूची में वार्षगण्य महोदय भी उसी गोत्र के कहे गये हैं। वाचस्पति ने सांख्य-

२७. अयं पञ्चशिखः षष्टिसहस्रगाथात्मकं विपुलं तन्त्रमुक्तवान्। प० ऐयस्वामी का संस्करण, पृ० ६७; षष्टिपदार्था यस्मिन् शास्त्रे तन्त्र्यन्ते व्युत्पाद्यन्ते तत्षष्टि तन्त्रम्। माठरवृत्ति।

२८. लगता है, यहाँ पर 'गाथा' का अर्थ है, '१२ अक्षरों का एक दल' या 'एक इकाई के रूप में मात्राओं की एक निश्चित संख्या।' पंचशिख के जो उद्धरण मिलते हैं, वे अधिकांश में गद्य में हैं, केवल योगसूत्रभाष्य (४।१३) वाला पद्य में है और सांख्य-सूत्र वाले भावा-गणेश जैसे पश्चात्कालीन टीकाकार ही पंचशिख के श्लोक उद्धृत करते हैं।

कारिका (४७) की टीका में लिखा है कि वार्षगण्य के मतानुसार अविद्या के पाँच स्वरूप हैं।[२९] योगसूत्र-भाष्य ने ३।५३ पर वार्षगण्य के एक सूत्र को उद्धृत किया है। यह ऊपर दिखाया जा चुका है कि चीनी भाषा से जो टीका फिर से संस्कृत में लिखी गयी है, उसमें वार्षगण्य को पञ्चशिख के उपरान्त तथा ईश्वरकृष्ण के पूर्व का आचार्य कहा गया है। अतः पञ्चशिख एवं वार्षगण्य को एक ही व्यक्ति मानना कठिन है।

न केवल शान्तिपर्व ने ही सांख्यकारिका के सिद्धान्तों से सम्बन्धित सिद्धान्तों पर विचार-विमर्श उपस्थित किया है, प्रत्युत भगवद्गीता ने भी ऐसा किया है। कुछ उद्धरण यहाँ दिये जा रहे हैं। गीता (१३।५) में आया है—'महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च। इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥' इसमें २४ तत्त्वों का वर्णन है, और पुरुष को छोड़ दिया गया है तथा पञ्च तन्मात्राओं के स्थान पर पञ्च तत्त्वों का उल्लेख हुआ है। और देखिए (१३।१९-२०)—'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि। विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥ कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते। पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥' १४।५-६ 'सत्त्वं रजस् तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः...'; ७।४ 'भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥, ७।१३, २।२८।' गीता (७।६ एवं ८) ने बल देकर कहा है कि परमात्मा उस सम्पूर्ण विश्व का मूल है जो आगे चल कर उसमें समाहित हो जाता है। यहाँ गीता सांख्य से स्पष्ट रूप से अलग खड़ी हो जाती है। गीता ने स्पष्ट रूप से 'सांख्य-कृतान्त' (सिद्धान्त) का उल्लेख किया है (१८।१३), जिसका अर्थ यह होता है कि तब तक सांख्य ने एक सिद्धान्त का रूप धारण कर लिया था, किन्तु किसी ऐसे ग्रन्थ की ओर कोई स्पष्ट संकेत नहीं है, जैसा कि हम वेद या वेदान्त (१५।१५ में) या ब्रह्मसूत्र (१३।४) के विषय में पाते हैं।[३०]

तककुसु (बी० ई० एफ्० ई० ओ०, १९०४, पृ० ४८) एवं कीथ (सांख्य सिस्टेम, पृ० ७३-७६) ने विन्ध्य-वास या विन्ध्यवासी को ईश्वरकृष्ण के ही समान माना है। मनुष्य की मृत्यु के उपरान्त आतिवाहिक शरीर के नास्तित्व के विषय में उनके विचार को कुमारिल ने व्यक्त किया है।[३१] डा० बी० भट्टाचार्य (जे० आई०

२९. पञ्च विपर्ययभेदा भवन्त्यशक्तिश्च करणवैकल्यात्। सां० कारिका (४७); 'अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेशाः ...पञ्च विपर्ययविशेषाः। ...पञ्चपर्वा अविद्येत्याह भगवान् वार्षगण्यः। सां० तत्त्व-कौमुदी (वाचस्पतिकृत); अश्वघोष कृत बुद्धचरित (१२।३३) में आया है : 'इत्यविद्या हि विद्वांसः पञ्चपर्वा समीहते। तमो मोहं महामोहं तामिस्रद्वयमेव च ॥ श्वेताश्व० उप० (१।५) में भी 'पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वा-मधीमः' आया है। कूर्मपुराण (२।२।१२९) में ऐसा आया है कि कपिल ने जैगीषव्य एवं पञ्चशिख दोनों को पढ़ाया है। ऐसा कहना कठिन है कि इस पुराण के समक्ष कोई प्राचीन परम्परा इस विषय में थी अथवा नहीं।

३०. हमने पहले ही पांच सिद्धान्तों (कृतान्त-पञ्चक) का उल्लेख कर दिया है, यथा—सांख्य, योग, पञ्चरात्र, शैव एवं पाशुपत।

३१. अन्तराभवदेहस्तु निषिद्धो विन्ध्यवासिना। तदस्तित्वे प्रमाणं हि न किंचिदवगम्यते ॥ श्लोकवार्तिक, आत्मवाद (६२, पृ० ७०४) जिस पर न्यायरत्नाकर नामक टीका यों है—'यदपि आतिवाहिकं नाम शरीरं पूर्वो-त्तरदेहयोरन्तराले ज्ञानसन्तानसन्धारणार्थं कल्प्यते तदपि विन्ध्यवासिना निराकृतमित्यादि।' कमलशील ने सांख्य एवं उसके सत्कार्यवाद की आलोचना करते हुए 'विन्ध्यवासी' (जिसका एक अर्थ यह भी हो सकता है कि वह व्यक्ति जो विन्ध्य पर्वत की जंगली जाति का हो) शब्द को जो रुद्रिल के लिए प्रयुक्त है, खिल्ली उड़ायी है—'यदेव दधि तत् क्षीरं यत्क्षीरं तद्दधीति च। वदता रुद्रिलेनैव ख्यापिता विन्ध्यवासिता ॥'

एच्०, खण्ड ६, पृ० ३६-४६) ने विन्ध्यवास एवं ईश्वर कृष्ण की समानरूपता के प्रश्न पर विचार किया है। प्रस्तुत लेखक उनके मत को मानता है, किन्तु यह बात नहीं स्वीकार करता कि विन्ध्यवास ईश्वरकृष्ण से पूर्व हुए थे। श्री भट्टाचार्य ने ईश्वरकृष्ण को ३३०-३६० ई० का माना है। किन्तु इसके लिए कोई शक्तिशाली साक्ष्य नहीं है। तककुसु ने विन्ध्यवास को वृषगण का शिष्य कहा है (जे० आर० ए० एस्, १६०५, पृ० ४७) और परमार्थ के मत से वृषगण एवं विन्ध्यवास बुद्ध के निर्वाण के १० शतियों उपरान्त हुए थे। कमलशील (तत्त्व-संग्रह, पृ० २२) से प्रकट होता है कि विन्ध्यवास का एक नाम रुद्रिल भी था।

अभिनवगुप्त की अभिनवभारती ने दोनों में भेद किया है[३२], अतः यह सम्भव है कि विन्ध्यवास ने ईश्वरकृष्ण के उपरान्त सांख्य सिद्धान्त को केवल सुधारा। राजमार्तण्ड में भोजदेव (योगसूत्र ४।२२, दृष्टिदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्) ने विन्ध्यवासी का एक गद्यांश उद्धृत किया है। ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिका के अतिरिक्त कोई अन्य ग्रन्थ लिखा है, इसके विषय में हमें कोई साक्ष्य नहीं प्राप्त होता, अतः विन्ध्यवासी को ईश्वरकृष्ण से पृथक् व्यक्ति मानना चाहिए, जैसा कि भोजदेव का कथन है। युक्तिदीपिका ने विन्ध्यवासी के मतों का कई बार उल्लेख किया है, अतः वे सांख्यकारिका के लेखक ईश्वरकृष्ण से भिन्न व्यक्ति थे। देखिए पृ० ४, १०८, १४४ एवं १४८। इस ग्रन्थ में ऐसा आया है कि आचार्य (सांख्यकारिका के लेखक) ने 'जिज्ञासा' एवं शास्त्र के अन्य तत्त्वों का उल्लेख नहीं किया, किन्तु विन्ध्यवास जैसे अन्य आचार्यों ने उनका उल्लेख अपने ग्रन्थों में किया है। पृ० १४४-१४५ की टीका का कथन है कि विन्ध्यवासी के अनुसार इन्द्रियाँ 'विभु' (चारों ओर विस्तृत अर्थात् फैली हुई) हैं, विन्ध्यवासी ने सूक्ष्म शरीर का अस्तित्व नहीं माना, किन्तु ईश्वरकृष्ण ने इन्द्रियों को विभु नहीं माना है और कहा है कि सूक्ष्म शरीर होता है। युक्तिदीपिका (पृ० १४४) का कथन है कि पतञ्जलि ने सूक्ष्म शरीर की कल्पना की है।

अब हमें यह देखना है कि दर्शन के एक सिद्धान्त को 'सांख्य' शब्द से क्यों द्योतित किया गया। 'सांख्य' का अर्थ है 'संख्या', अतः यह गणना है। सांख्य सिद्धान्त ने २५ तत्त्वों की गणना की है तथा पञ्चशिख के षष्टितन्त्र ने ६० विषयों का विवेचन किया है, सम्भवतः इसी से इस दर्शन को सांख्य कहा गया है। श्वेताश्वतरोपनिषद् (१।४) संख्याओं से परिपूर्ण है।[३३] श्वेता० उप० का १।५ मन्त्र 'पञ्च' शब्द सात बार प्रयुक्त करता है और उसमें 'पञ्चाशद्भेदाम्' 'शतार्धारम्' के समान ही है। और देखिए (६।३)। इस अर्थ में सांख्य का तात्पर्य

३२. नाट्यशास्त्र (२२।८८-८६, गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज, खण्ड ३, पृ० १८४, मनसस्त्रिविधो भावः) में अभिनवगुप्त ने इस प्रकार कहा है—'कापिलदृशि तु विन्ध्यवासिनो मनस एव ईश्वरकृष्णादिमते मनःशब्देनात्र बुद्धिः।' मेधा० (मनु १।५५) ने कहा है—'कैश्चिदिष्यते अस्त्यन्यदन्तराभवं शरीरं यस्येयमुत्क्रान्तिः। ...सांख्या अपि केचिन्नान्तराभवमिच्छन्ति विन्ध्यवासप्रभृतयः।' देखिए सां० का० (३६-४१), जहाँ अन्तराभव शरीर का उल्लेख है।

३३. तमेकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तं शतार्धारं विंशतिप्रत्यराभिः। अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम्॥ श्वेताश्वतरोपनिषद् (१।४)। शतार्धारं का अर्थ है 'जिसमें ५० तीलियाँ हों।' सां० का० (४६-४७) ने बुद्धिसर्ग के ५० भेदों की ओर संकेत किया है। आठ मौलिक तत्त्व हैं, यथा—प्रकृति, महत्, अहंकार एवं पाँच तन्मात्राएं। 'सांख्यं संख्यात्मकत्वाच्च कपिलादिभिरुच्यते।' मत्स्य० (३।२६)। और देखिए शान्ति० (२६४।४१)।

है वह दार्शनिक पद्धति जिसमें २५ तत्त्वों (प्रकृति, पुरुष एवं अन्य) की धारणा है। इसी अर्थ में यह शब्द एक बार गीता (१८।१३ सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि...) में भी प्रयुक्त हुआ है। मत्स्य० ने भी सांख्य के इस स्वरूप पर बल दिया है।

अमरकोश के अनुसार 'संख्या' का एक अन्य अर्थ भी है (चर्चा संख्या विचारणा), यथा—बौद्धिक जाँच या विचार करना; और 'सांख्य' शब्द की व्युत्पत्ति इससे की जा सकती है 'बौद्धिक जाँच या विचारणा की पद्धति', इसका पुंल्लिंग में दार्शनिक अर्थ है, 'तदधीते तद्वेद' (पा० ४।२।४६), जिसका अर्थ है, 'सांख्यं वेद' ('संख्या सम्यग् बुद्धिर्वैदिकी तया वर्तन्ते इति सांख्याः' भामती, वे० सू० भाष्य, २।१।३)। भामती ने दूसरे अर्थ में इसे प्रयुक्त किया है। सामान्य अर्थ में सांख्य का अर्थ है 'तत्त्वविज्ञान' (अन्तिम तत्त्व का ज्ञान, जिसमें वेदान्त भी सम्मिलित है) या 'वह व्यक्ति जो अन्तिम तत्त्व को जानता है।' 'सांख्य' शब्द का प्रयोग भगवद्गीता में बहुधा तत्त्वविज्ञान (२।३९, ५।५, १३।२४) एवं तत्त्वज्ञानी (३।३, ५।५) के अर्थ में हुआ है।

कुछ अति प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में कारिका के सांख्यसिद्धान्तों के समान कुछ तत्त्वों का उल्लेख मिलता है। अश्वघोष के बुद्धचरित (अध्याय—१२।१७) में अराड़ एवं गौतम (भावी बुद्ध) की बातचीत में प्रकृति, पाँच तत्त्वों, अहंकार, बुद्धि, इन्द्रियों, ज्ञान के पदार्थों आदि का उल्लेख है। यद्यपि तत्त्वों का उल्लेख हुआ है किन्तु सांख्य के सिद्धान्तों से अन्य बातें मेल नहीं खातीं।

चरकसंहिता (शारीरस्थान, अध्याय १, श्लोक १७, ३६, ६३-६६) में कुछ ऐसे सिद्धान्त हैं जो सांख्यकारिका की पद्धति से मेल खाते हैं और श्लोक १५१ ने योगियों एवं सांख्यों की ओर संकेत किया है; वहाँ मुक्त आत्मा को ब्रह्म में विलीन होते बताया गया है। अतः वह कठ एवं श्वेताश्व० उपनिषदों के दर्शन के समान-सा है।

सुश्रुतसंहिता (शारीरस्थान, अध्याय १, ३, ४-६, ८-९) ने सांख्य पर प्रकाश डाला है और वह बुद्धचरित एवं चरकसंहिता की अपेक्षा सांख्य सिद्धान्त के बहुत सन्निकट है।[३४]

हमने इस अध्याय के आरम्भ में ही देख लिया है कि मनु आदि के ग्रन्थों में प्रधान के सिद्धान्त की ओर संकेत मिल जाता है। मनु (१।१५) ने सृष्टि की चर्चा करते हुए महान्, तीन गुणों, पाँच इन्द्रियों एवं उनके पदार्थों का उल्लेख किया है। मनु (१।२७) ने पाँच तत्त्वों की पाँच तन्मात्राओं का उल्लेख किया है। मनुस्मृति (१२।२४) में सत्त्व, रज एवं तम का उल्लेख है, और देखिए १२।२६, २९, ३०-३८, १२।४०, मनु में आया है कि जो सत्त्वगुणी होते हैं वे देव हो जाते हैं, जो रजोगुणी होते हैं वे मानव हो जाते हैं तथा जो तमोगुणी होते हैं वे हीन पशु हो

३४. सर्वभूतानां कारणमकारणं सत्त्वरजस्तमोलक्षणमष्टरूपमखिलस्य जगतः सम्भवहेतुरव्यक्तं नाम। तदेकं बहूनां क्षेत्रज्ञानामधिष्ठानं समुद्र इवौदकानां भावानाम्। सुश्रुत० १।३; तस्मादव्यक्तान्महानुत्पद्यते तल्लिङ्ग एव तल्लिङ्गाच्च महतस्तल्लक्षण एवाहङ्कार उत्पद्यते स त्रिविधो वैकारिकस्तैजसो भूतादिरिति। सुश्रुत १।४; तत्र बुद्धीन्द्रियाणि शब्दादयो विषयाः कर्मेन्द्रियाणां वचनादानानन्दविसर्गविहरणानि। सुश्रुत १।५; अव्यक्तं महानहंकारः पञ्च तन्मात्राणि चेत्यष्टौ प्रकृतयः, शेषाश्च षोडश विकाराः ॥६ ; तत्र सर्व एवाचे तन एष वर्गः पुरुषः पञ्चविंशतितमः कार्यकारणसंयुक्तश्चेतयिता भवति । सत्यप्यचैतन्ये प्रधानस्य पुरुषः कैवल्यार्थं प्रवृत्तिमुपदिशन्ति क्षीरादींश्चात्र हेतूनुदाहरन्ति। १।८; मिलाइए सां० का० (५७) 'वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य। पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य॥'

जाते हैं।[३५] मनु (१२।५०) ने महान् एवं अव्यक्त का उल्लेख किया है। याज्ञ० (३।९१-९२) ने ज्ञानेन्द्रियों के पाँच पदार्थों, पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियों एवं मन (कुल १६) का उल्लेख किया है; इन १६ को अहंकार, बुद्धि, पाँच तत्त्वों, क्षेत्रज्ञ एवं ईश्वर के साथ याज्ञ० (३।१७७-१७८) में उल्लिखित किया गया है तथा बुद्धि को अव्यक्त से, अहंकार को बुद्धि से, तन्मात्राओं को अहंकार से उत्पन्न माना गया है और इसी प्रकार पाँच तत्त्वों के पाँच गुणों (शब्द, स्पर्श आदि) की तथा तीन गुणों की चर्चा है।

इस अध्याय के आरम्भ में हमने देख लिया है कि शंकराचार्य के मतानुसार धर्म के सूत्रकार देवल ने सांख्य पद्धति को स्वीकार किया है। इस पर हम यहाँ पर संक्षेप में विवेचन उपस्थित करेंगे। अपरार्क (याज्ञ० ३।१०९) ने देवल से एक लम्बा उद्धरण लिया है, जो यह कहने के उपरान्त कि मानव जीवन के दो लक्ष्य (पुरुषार्थ) हैं, यथा अभ्युदय एवं निःश्रेयस तथा निःश्रेयस में सांख्य एवं योग का समावेश है, सांख्य की परिभाषा करता है कि सांख्य में २५ तत्त्व पाये जाते हैं तथा योग में मन को इन्द्रियों के पदार्थों से पृथक् खींचकर वांछित लक्ष्य पर स्थिर करना होता है। देवल ने पुनः कहा है कि दोनों का फल अपवर्ग ही है, जिसका तात्पर्य है जन्म एवं मरण के दुःखों से पूर्ण मुक्ति। उस उद्धरण में पुनः आगे आया है कि प्राचीन मुनियों द्वारा सांख्य एवं योग के विषय में युक्तिसंगत एवं परम्परानुगत विशाल एवं गम्भीर तन्त्र प्रणीत किये गये हैं। सांख्यों में ये तत्त्व पाये जाते हैं, यथा—मूल प्रकृति; सात कोटियाँ जो प्रकृतियाँ एवं विकृतियाँ दोनों हैं; पाँच तन्मात्राएँ; १६ विकार; पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच इन्द्रिय-पदार्थ, पाँच तत्त्व; १३ करण, जिनमें तीन तो अन्तःकरण हैं; पाँच प्रकार के विपर्यय; २८ प्रकार की अशक्ति; ९ प्रकार की तुष्टि; आठ प्रकारकी सिद्धियाँ; इस प्रकार कुल ५० प्रत्ययभेद हैं और दस मौलिक तत्त्व हैं, यथा—अस्तित्व आदि।

लक्ष्मीधर का निबन्ध कृत्यकल्पतरु भी, जो १२वीं शती के प्रथम-चरण में प्रणीत हुआ है, देवल के धर्मसूत्र से उद्धरण देता है जो अपरार्क के उद्धरण से बहुत कुछ मिलता है।

अपरार्क एवं कृत्यकल्पतरु (मोक्षकाण्ड) ने सांख्य पद्धति पर यम के उद्धरण लिये हैं। यम ने २५ तत्त्वों के उल्लेख के उपरान्त पुरुषोत्तम को २६वाँ तत्त्व माना है।

पुराणों में सांख्य सिद्धान्तों पर लम्बे-लम्बे विवेचन पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ, विष्णुपुराण (१।२।१९-२३, २५-६२, ६।४।१३-१५, १७, ३२-४०) में सांख्य सिद्धान्तों का उल्लेख है जिसे कृत्यकल्पतरु (मोक्ष-काण्ड, पृ० १०२-१०८) ने उद्धृत किया है। किन्तु इस पुराण में परमात्मा (यहाँ विष्णु) को सब तत्त्वों का आश्रय माना गया है। और देखिए विष्णुपुराण (१।२।२२-२३, २८-२९; ६।४।३९-४०)।

बहुत से पुराणों ने सांख्य सिद्धान्तों की विशद व्याख्या उपस्थित की है। किन्तु स्थानाभाव से हम उनकी चर्चा यहाँ नहीं कर सकेंगे। मत्स्य० (३।१४-२९) प्रकृति, गुणों एवं २५ तत्त्वों से आरम्भ करता है और कहता है कि ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश्वर हैं तो एक किन्तु वे गुणों की क्रिया के कारण पृथक् प्रकट हुए। अन्त में निष्कर्ष दिया गया है कि सांख्य का उद्घोष कपिल आदि ने किया। और देखिए ब्रह्मपुराण (१-३३-३५, ३३।३-४, २४२, ६०-७०, ७६-७५), पद्मपुराण (पातालखण्ड ८५।११-१८, सृष्टिखण्ड, २।८८-

३५. बुद्धेरुत्पत्तिरव्यक्तात्ततोहङ्कारसम्भवः। तन्मात्रादीन्यहंकारादेकोत्तरगुणानि च॥ याज्ञ० (३।७९); मिलाइए सत्त्वं ज्ञानं तमोऽज्ञानं रागद्वेषौ रजः स्मृतम्। मनु० (१२।२६) एवं सां० का० (१३) तथा गीता (१४।६-८) एवं याज्ञ० (३।१३७-१४०)।

१०३), कूर्मपुराण (१।४।१३-३५; २।७।२१-२६), मार्कण्डेयपुराण (४२।३२-६२), ब्रह्माण्डपुराण (४।३।३७-४६, २।३२।७१-७६), भागवतपुराण (प्रो० दासगुप्त की इण्डियन फिलॉसफी, खण्ड ४, पृ० २४-४८ एवं श्री सिद्धेश्वर भट्टाचार्य, जे० बी० आर० एस्, १९५०, पृ० ९-५०) के स्कन्ध ३ का अ० २६; वराह-पुराण (बिब्लियोथिका इण्डिका, १८९३) आदि। कवि कालिदास एवं बाण ने भी सांख्य सिद्धांतों एवं शब्दों का प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ, कुमारसम्भव (२।४, रघुवंश (१०।३८, ८।२१), कादम्बरी (प्रथम श्लोक)।

तन्त्र भी सांख्य सिद्धान्तों से प्रभावित हैं। देखिए शारदातिलक ।

जब शान्तिपर्व (२९०।१०३-१०४=३०१।१०८-१०९, चित्रशाला प्रेस संस्करण) यह उद्घोष करता है कि वेदों, सांख्य, योग, विभिन्न पुराणों, विशद इतिहासों, अर्थशास्त्र में जो कुछ ज्ञान पाया जाता है तथा इस विश्व में जो कुछ ज्ञान है वह सांख्य से निष्पन्न है, तो यह केवल दर्पोक्ति मात्र नहीं है। सांख्य सिद्धान्त के विकास एवं इसके स्वरूपों के निष्पक्ष अध्ययन के लिए देखिए डा० बेह्नन का ग्रन्थ 'योग' (अध्याय ४, पृ० ६३-९१) ।

अध्याय ३२

योग एवं धर्मशास्त्र

उपनिषदों, महाभारत, भगवद्गीता तथा पुराणों में सांख्य एवं योग का उल्लेख एक साथ हुआ है, और उनका पारस्परिक सम्बन्ध भी इन ग्रन्थों में समान ही रहा है। श्वेताश्व० उप० (६।१३), वनपर्व (२।१५), शान्तिपर्व (२२८।२८, २८९।१, ३०६।६५, ३०८।२५, ३२६।१००, ३३६।६९[1], अनुशासनपर्व (१४।३२३), भगवद्गीता (५।४-५), पद्मपुराण (पातालखण्ड, ८५।११) में दोनों एक साथ उल्लिखित हैं।

यद्यपि सांख्य ने विश्व-विकास के विभिन्न रूपों के सम्बन्ध में विवेचन करने वाले सभी ग्रन्थों को प्रभावित किया है, किन्तु इसे भारत में उतना सम्मान एवं आदर न प्राप्त हो सका, जितना योग को मिला अथवा अब भी मिलता है। योग शब्द 'युज्' (जोड़ना या मिलाना, रुधादि वर्ग की धातु) से निष्पन्न हुआ है। योग के बीज ऋग्वेद में भी पाये जाते हैं। ऋग्वेद (५।८१।१) में आया—'विज्ञलोग, पुरोहित एवं यजमान अपने मनों को केन्द्रित करते हैं और प्रार्थनाओं को विज्ञ, महान् (सविता) में वे लगाते हैं, जो सभी प्रार्थनाओं को जानने वाला है।' एक अन्य वैदिक मन्त्र भी मन के लगाने की बात करता है। 'योग' शब्द कई अर्थों में ऋग्वेद में प्रयुक्त हुआ है। सायण ने कई वचनों में 'योग' का अर्थ 'जो पहले से प्राप्त न हो उसे प्राप्त करना' के रूप में (ऋ० १।५२) लिया है। ऋ० (१।१८।७) में सदसस्पति (अग्नि) देव से यजमानों की प्रार्थनाओं (या विचारों) में विराजमान रहने को कहा गया है। ऋ० (१।३४।९) में इसका तात्पर्य है 'युग या जुआ में लगाना' (कदा योगो वाजिनो रासभस्य येन यज्ञं नासत्योपयाथः)। 'योग' शब्द बहुधा 'क्षेम' के साथ (ऋ० ७।५४।३, ७।८६।८ में पृथक् रूप से) आया है या सामासिक रूप में (ऋ० १०।१६६।५, योगक्षेमं व आदायाहं भूयासमुत्तमः)। प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद में प्रयुक्त 'योग' शब्द के अर्थ तथा कुछ उपनिषदों एवं उत्तम संस्कृत-ग्रन्थों में प्रयुक्त 'योग' के अर्थ में बहुत लम्बे काल की दूरी पड़ जाती है। ऋ० (१०।१३६।२-३) में वातरशन के पुत्रों, मुनियों की चर्चा है, जो गन्दे एवं पिंगल वस्त्र धारण करते थे और कहते थे कि 'हम अपने जीवन के ढंग से अति आह्लादित हैं, उसी प्रकार प्रसन्न हैं जैसे कि मुनि लोग वायुओं का आश्रय लेते हैं, हे मरणशील लोगो, तुम केवल हमारे शरीर को देखते हो।' यह प्रकट करता है कि अति प्राचीन काल में भी कुछ लोग तप करते थे, वे अपने वस्त्रों की चिन्ता नहीं करते थे और ऐसा सोचा करते थे कि उनका आत्मा वायु में विलीन हो जायगा (अर्थात् आत्मा अरूप है और अदृश्य होता है)। ऋ० (८।१७।१४) में इन्द्र को मुनियों का मित्र कहा गया है और मुनि को प्रत्येक देवता का मित्र कहा गया है (१०।१३६।४)। किन्तु 'यतियों' की स्थिति कुछ पृथक् थी। 'यति' शब्द ऋग्वेद में कई बार आया है, किन्तु अधिकांश में वह शब्द 'संन्यासी' से

१. पञ्चविंशतितत्त्वानि तुल्यान्युभयतः समम्। योगे सांख्येपि च तथा विशेषांस्तत्र मे शृणु॥ शान्ति० (२२८।२८-२३६।२९, चित्रशाला)।

कोई सम्बन्ध नहीं रखता। ऋ० (८।३।९) में ब्रह्मा पुरोहित का कथन है—'जिसके द्वारा यतियों से भृगु को धन दिया गया, और जिसके द्वारा तुमने प्रस्कण्व की सहायता (या रक्षा) की।' यहाँ पर इन्द्र यतियों के विरोध में है। ऋ० (८।६।१८) में ऋषि का कथन है—'हे वीर इन्द्र, यतियों एवं भृगुओं में, जिन्होंने तुम्हारी प्रार्थना की है, केवल मेरी ही प्रार्थना सुनो।' यहाँ सायण ने व्याख्या की है—'यतयः अंगिरसः।' जो भी हो, यहाँ यति लोग इन्द्र के भक्त की भाँति प्रदर्शित हैं। किन्तु अन्य संहिताओं में ऐसा कहा गया है कि इन्द्र ने यतियों को भेड़ियों या वृकों के लिए फेंक दिया। आगे चलकर 'यति' शब्द के अर्थ में परिवर्तन हो गया। इन संहिता-वचनों में 'यति' लोग वैदिक कृत्यों के विद्वेषी-से लगते हैं, किन्तु उन्होंने क्या किया, जिसके कारण इन्द्र को उनकी हत्या करने वाला कहा गया, यह स्पष्ट नहीं हो पाता। अथर्ववेद (२।५।३) में इन्द्र को वृत्र का वैसा ही घातक कहा गया है जैसा कि यतियों का। कुछ उपनिषदें ऐसा प्रकट करती हैं कि 'यति' ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने सांसारिक कर्म छोड़ दिये थे, जो योगाभ्यास करते थे और आत्मज्ञान के लिए प्रयास करते थे तथा ब्रह्मज्ञानी होते थे। देखिए इस विषय में मुण्डकोपनिषद् (३।१।५, यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः, एवं ३।२।६, संन्यास योगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः)। हावर (डाई अन्फैंजे डर योग-प्रैक्सिसे, १९२२, पृ० ११) के समान कुछ लोगों का कथन है कि अथर्ववेद (मण्डल १५) में वर्णित व्रात्य लोग क्षत्रिय जाति के आनन्दी जीव थे और योगियों के पूर्वभावी थे।

कुछ उपनिषदों में 'योग' शब्द उसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है जैसा वह योगसूत्र में प्रयुक्त है। कठोपनिषद् (२।१२) में ऐसा आया है[२] 'विज्ञ लोग योग द्वारा परमात्मा का ध्यान करके तथा मन को अन्तरात्मा में स्थिर करके आनन्द एवं चिन्ता से मुक्त हो जाते हैं' (अध्यात्मयोगाधिगमेन)। वही उपनिषद् कहती है कि ६।२ में वर्णित स्थिति को ही योग कहते हैं, क्योंकि उसमें इन्द्रियाँ (तथा मन एवं बुद्धि) स्थिर एवं संयमित रहती हैं। कठोपनिषद् (६।१८) में आया है कि नचिकेता ने यम द्वारा प्रवर्तित योगविधि एवं विद्या को जानकर ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया। 'योग' शब्द तै० उप० (२।४) में भी आया है, जहाँ विज्ञानमय आत्मा के विषय में कहते हुए योग को इसका आत्मा कहा गया है (जिसका वास्तविक अर्थ संदिग्ध है)। और देखिए श्वेताश्वतरोपनिषद् (२।२ एवं ४।१३)। प्रश्नोपनिषद् (५।५-६) ने 'ओम्' की तीन मात्राओं (अ, उ, म्) का उल्लेख किया है। श्वेताश्व० उप० (१।३) में 'ध्यानयोग' शब्द आया है। श्वेताश्व० उप० (२।८-१३) में 'आसन' एवं 'प्राणायाम' का उल्लेख है तथा सफल योगाभ्यास के लक्षण प्रकट किये गये हैं। छान्दोग्योपनिषद् (८।१५) ने सम्भवतः 'प्रत्याहार' (यद्यपि यह शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ है) की ओर निर्देश किया है, यथा—'आत्मनि सर्वेन्द्रियाणि प्रतिष्ठाप्य' (सभी इन्द्रियों को आत्मा में प्रतिष्ठापित करके)। प्रतीत होता है, बृ० उप०' (१।५।२३) ने प्राणायाम की ओर संकेत किया है—(तस्मादेकमेव व्रतं चरेत् प्राण्याच्चैव अपा-

२. तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्। कठोपनिषद् (६।२); मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम्। ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युरन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव॥ कठ० ६।१८। इस अन्तिम में महत्त्वपूर्ण शब्द हैं 'कृत्स्नं योगविधिम्', भावना यह है कि कठोपनिषद् के काल तक योग का पूर्ण विकास हो चुका था, किन्तु उस उपनिषद् ने इसे विस्तार से उल्लिखित नहीं किया। आगे यह भी द्रष्टव्य है कि 'एतां विद्यां' 'ब्रह्मविद्या' की ओर निर्देश करता है और 'योगविधि' पृथक् रूप से, सम्भवतः ब्रह्मज्ञान-प्राप्ति के साधन के रूप में वर्णित है।

न्याच्च) 'उसे एक व्रत करना चाहिए, यथा साँस लेना एवं साँस छोड़ना।' वेदान्तसूत्र (२।१।३) में आया है कि सांख्य सिद्धान्त को हराने के लिए प्रयुक्त तर्क द्वारा योग भी हरा दिया गया है (एतेन योगः प्रत्युक्तः)। शंकराचार्य द्वारा उपस्थापित सांख्य-योग सम्बन्धी धारणा पहले ही व्यक्त कर दी गयी है (गत अध्याय में)। उन्होंने पूर्वपक्ष में यह व्यक्त किया है कि वेद ने सम्यक् ज्ञान के लिए योग को एक साधन माना है (बृ० उप० २।४।५)। उन्होंने पुनः कहा है कि श्वेताश्व० उप० में योग की व्याख्या विस्तार से हुई है, जिसमें सर्वप्रथम (योगाभ्यास के लिए) उचित आसन का उल्लेख है, यथा—'शरीर को सीधा रखकर तीन स्थानों को ऊँचा रखना, यथा छाती, गले एवं सिर को' (२।८)। शंकराचार्य के इन शब्दों से कि योगशास्त्र में भी योग को सम्यक् ज्ञान का साधन बताया गया है, यह प्रकट होता है कि उनके समक्ष योगशास्त्र का ग्रन्थ था, जिसमें 'अथ...योगः' शब्द आये थे, किन्तु उन्होंने 'योगसूत्र' शब्द का उल्लेख नहीं किया है, अतः सम्भवतः उन्होंने योगसूत्र की ओर संकेत नहीं किया है। यदि कल्पना करने की छूट दी जाय तो यह कहा जा सकता है कि सम्भवतः शंकराचार्य ने 'योगशास्त्र' शब्द से याज्ञवल्क्य द्वारा लिखे गये तथाकथित योगशास्त्र (याज्ञ० स्मृति ३।११०, योगशास्त्रं च मत्प्रोक्तं...) की बात कही है। शंकराचार्य (वे० सू० २।१।३) ने यह स्वीकार किया है कि योग का एक भाग उन्हें मान्य है, किन्तु अन्य भागों का वेद से विरोध है। मुण्डकोपनिषद् (२।२।६) ने शंकराचार्य के मत से 'ओमिति ध्यायथ आत्मानम्' शब्दों में 'समाधि' की व्यवस्था दी है। उपनिषदों में 'मुनि' एवं 'यति' शब्दों का एक ही अर्थ है, यथा—बृ० उप० (४।४।२२) में आया है—'इस आत्मा के ज्ञान के उपरान्त व्यक्ति मुनि हो जाता है', किन्तु मुण्डकोपनिषद् (३।१।५) में आया है—'सत्य, तप, सम्यक् ज्ञान तथा सभी समयों में ब्रह्मचर्य व्रत से इस आत्मा की अनुभूति होती है, आत्मा इस शरीर के भीतर (अन्तः में) (प्रकाश के समान) निवास करता है, वह पवित्र है, उसे केवल पवित्र मुनि ही जानते हैं।[3] कठोपनिषद् (३।१३) में आया है कि विज्ञ व्यक्ति को मन में वाणी (वाणी एवं मन, जैसा कि मूल में आया है) को संयमित करना चाहिए, उसे महान् आत्मा के भीतर ज्ञान को रखना चाहिए, और जो शान्त है उस महान् को आत्मा के भीतर रखना चाहिए। इस प्रकार उपनिषदें 'योग' शब्द का न केवल प्रयोग

३. एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति। एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्राजन्ति। बृह० उप० (४।४।२२); देखिए कठ० (४।१५)—'यथोदकं... मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम।' कौषीतकि-उप० (२।१५) में 'परि वा व्रजेत्' आया है। अन्य उपनिषदों में 'परिव्राजक' शब्द नहीं आया है। पाणिनि के काल में यह शब्द सबको ज्ञात था, यथा—'मस्कर-मस्करिणौ वेणुपरिव्राजकयोः' (६।१।१५४), जिसमें ऐसा कहा गया है कि 'मस्कर' का अर्थ है बाँस का दण्ड (डण्डा) और 'मस्करिन्' का परिव्राजक। महाभाष्य ने टीका की है कि 'मस्करिन्' को वैसा इसलिए नहीं कहा जाता कि वह अपने हाथ में बाँस का दण्ड लेकर चलता है, प्रत्युत इसलिए कि वह लोगों को उपदेश देता है कि वे अपने वांछित पदार्थों की प्राप्ति के लिए क्रियाएँ न करें, लोगों के लिए निश्चलता अपेक्षाकृत अच्छी है—'मा कृत कर्माणि मा कृत कर्माणि शान्तिर्वः श्रेयसीत्याहातो मस्करी परिव्राजकः।' कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्। अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥ गीता (५।२६); यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि। ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥ कठ० (३।१३)। शंकराचार्य (वे० सू० १।४।) ने व्याख्या की है—'वाचं मनसि संयच्छेद् वागादिबाह्येन्द्रियव्यापारमुत्सृज्य मनोमात्रेणावतिष्ठेत्।' वे 'मनसी' को 'मनसि' के समान आर्षप्रयोग मानते हैं।

करती हैं, प्रत्युत योग के कुछ स्तरों एवं उसकी पद्धति की भी व्यवस्था करती हैं, जिनके द्वारा परमात्मा की अनुभूति होती है। अड्यार से श्री ए० महादेव शास्त्री (१६२०) द्वारा लगभग २० योग-उपनिषदों का प्रकाशन हुआ है, किन्तु उनका तिथि-क्रम बहुत ही अनिश्चित है और उनमें अधिकांश महाभारत, मनु और सम्भवतः योगसूत्र के पश्चात् प्रणीत हुई हैं, अतः हम उन पर कुछ नहीं लिखेंगे। उनकी ओर बहुत ही कम संकेत किया जायगा।[४]

पाणिनि ने 'यम' एवं 'नियम' (जो योग के दो अंग हैं) दो शब्दों, योग एवं 'योगिन्' को 'युज्' धातु से 'घिनुण्' '(अर्थात् इन्) प्रत्यय के साथ निष्पन्न माना है।'[५]

आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।८।२३।३-६) ने एक श्लोक उद्धृत किया है, जिसका अर्थ यों है—इस जीवन में दोषों का सम्पूर्ण नाश योग से होता है, विज्ञ व्यक्ति उन दोषों का जो सभी प्राणियों को हानि पहुँचाते हैं, मूलोच्छेद करके शान्ति (मोक्ष) की प्राप्ति करते हैं। इस धर्मसूत्र ने १५ दोषों का उल्लेख किया है, यथा क्रोध, काम, लोभ, कपट आदि, जिनका नाश योग से होता है। उसमें इन दोषों के विरोधी गुणों का भी उल्लेख है। इससे प्रकट होता है कि ई० पू० चौथी या पाँचवीं शताब्दी में मन को अनुशासित करने के लिए योग नाम का अनुशासन पर्याप्त रूप से विकसित हो चुका था।

वे०सू० (२।१।३) से झलकता है कि सूत्रकार के समक्ष योग-सिद्धान्तों का एक वर्ग उपस्थित था, जिनमें कुछ सांख्य के अनुरूप थे। सूत्रकार को 'समाधि' का ज्ञान था (वे० सू० २।३।३६)। इतना ही नहीं, वे० सू० (४।२।२१) ने योगियों का उल्लेख किया है और सांख्य एवं योग को स्मार्त (श्रौत नहीं) रूप में पृथक् माना है। शंकराचार्य ने वे० सू० (१।३।३३) की टीका में योगसूत्र (२।४४—स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः) को उद्धृत किया है और वे० सू० (२।४।१२) में सम्भवतः उन्होंने स्वीकार किया है कि योगसूत्र वेदान्तसूत्र के पहले प्रणीत हुआ। उन्होंने उस सूत्र की दूसरी व्याख्या में योगसूत्र (१।६) को उद्धृत किया है।

४. योग-उपनिषदें पश्चात्कालीन कृतियाँ हैं; इस पर संक्षेप में यहाँ कहा जा रहा है। गोरक्षशतक के श्लोक १०-१४ (जो आधार एवं स्वाधिष्ठान चक्रों का वर्णन करते हैं) ध्यानबिन्दु० (श्लोक ४३-४७) एवं योगचूडामणि (श्लोक ४-६) में थोड़े अन्तर के साथ पाये जाते हैं। प्राणायाम के वर्णन में शाण्डिल्य उपनिषद् ने 'तदेते श्लोका भवन्ति' के साथ कुछ ऐसे श्लोक उद्धृत किये हैं, जिनमें कुछ गोरक्षशतक में पाये जाते हैं। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि शाण्डिल्य ने गोरक्षशतक से उधार लिया है, किन्तु ऐसा सम्भव है। योग की विभिन्न शाखाओं पर सभी प्राचीन एवं मध्यकालीन ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हो सके हैं और इसलिए इस बात की सम्भावना हो सकती है कि शाडिल्य एवं अन्य योग उपनिषदों ने किसी ऐसे प्राचीन ग्रन्थ से उद्धरण लिये हों जो अभी तक प्रकाश में नहीं आ सका है।

५. यमः समुपनिविषु च पा० (३।३।६३); एषु अनुपसर्गे च यमेरप् वा।...नियमः नियामः। यमः यामः। सि० कौ०। 'याम' का अर्थ है प्रहर (पूरे दिन का १/८ भाग), जब कि 'यम' का अर्थ है 'नियन्त्रण' 'यम्यते चित्तं अनेन।' पाणिनि (३।२।१४२) पर काशिका की टिप्पणी है—'युज् समाधौ दिवादिः। युजिर योगे रुधादिः। द्वयोरपि ग्रहणम्।'

एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता है--क्या वेदान्तसूत्र के लेखक ने योगसूत्र की ओर संकेत किया है? प्रस्तुत लेखक का मत है कि ऐसी बात नहीं है। किन्तु वेदान्तसूत्र ने योग के सिद्धान्तों की ओर अवश्य संकेत किया है, जो कठ, मुण्डक, श्वेताश्वतर एवं अन्य उपनिषदों के पूर्व विकसित हो चुके थे।

शान्तिपर्व में उल्लिखित है कि सांख्य के वक्ता परमर्षि (सबसे बड़े ऋषि) कपिल थे, हिरण्यगर्भ योग के प्राचीन ज्ञाता थे, कोई अन्य इसे जानने वाला नहीं था; अपान्तरतमा वेदाचार्य थे जिन्हें कुछ लोग प्राचीनगर्भ ऋषि कहते थे।[6] गत अध्याय में कहा गया है कि सांख्य, योग, वेदारण्यक एवं पञ्चरात्र एक हैं और एक-दूसरे के अंग हैं। शान्ति० (३२६।६५) में हिरण्यगर्भ को योगशास्त्र से सम्बन्धित कहा गया है। अनुशासन० (१४।३२३, जहाँ उपमन्यु ने महादेव से कहा है) में सनत्कुमार को योग का उसी प्रकार प्रवर्तक कहा गया है जिस प्रकार कपिल को सांख्य का।[7] अहिर्बुध्न्यसंहिता (१२।३२-३) में आया है कि हिरण्यगर्भ ने सर्वप्रथम दो योग संहिताओं की व्याख्या की, जिनमें एक का नाम था 'निरोधयोग' तथा दूसरी का कर्मयोग; निरोधयोग को पुनः १२ भागों में बाँटा गया था। भामती ने वे० सू० (२।७।३) पर लिखा है कि इस सूत्र ने हिरण्यगर्भ एवं पतञ्जलि के योगशास्त्र की प्रामाणिकता को पूर्णरूपेण समाप्त नहीं किया है। विष्णुपुराण ने सम्भवतः हिरण्यगर्भ के दो श्लोक उद्धृत किये हैं। वाचस्पति ने अपनी टीका (योगसूत्र १।१) में कहा है कि योगी-याज्ञवल्क्य ने हिरण्यगर्भ को योग का उद्घोषक माना है। वाचस्पति ने पतञ्जलि के योगसूत्र को योग-याज्ञवल्क्य-स्मृति से पश्चात्कालीन माना है। अतः यह प्रायः निश्चित-सा है कि वे० सू० ने उस योग-पद्धति के, जो शान्तिपर्व को विदित थी, सिद्धान्तों का खण्डन किया है।

शल्यपर्व (अध्याय ५०) में महान् भिक्षु योगी जैगीषव्य की तथा सारस्वत-तीर्थ पर रह रहे असित नामक गृहस्थ की गाथा कही गयी है। शान्तिपर्व (अध्याय २२२, चित्रशाला २२८) में जैगीषव्य एवं असित के बीच संयोग के विषय में एक लम्बा संवाद पाया जाता है, जिसका एक श्लोक यहाँ उद्धृत किया जाता है—'निन्दाप्रशंसे चात्यर्थं न वदन्ति परस्य ये। न च निन्दाप्रशंसाभ्यां विक्रियन्ते कदाचन', जिसका अर्थ है 'योगी लोग अन्य लोगों की निन्दा एवं प्रशंसा के रूप में बातचीत नहीं करते और न अन्य लोगों द्वारा की गयी निन्दा एवं प्रशंसा से उनके मन कभी प्रभावित ही होते हैं।' उसी अध्याय में जैगीषव्य को ऐसे व्यक्ति के रूप में उल्लिखित किया गया है जो न तो कभी क्रोधी होता और न कभी आह्लादित होता है। वराहपुराण (४।१४) में आया है कि कपिल एवं योगिराज जैगीषव्य राजा अश्वशिरा के पास, जिन्होंने अश्वमेध के उपरान्त अवभृथ स्नान कर लिया था, आये और

६. सांख्यं योगं... नाना मतानि वै॥ सांख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षिः स उच्यते। हिरण्यगर्भो योगस्य वेत्ता (वक्ता) नान्यः पुरातनः॥ अपान्तरतमाश्चैव वेदाचार्यः स उच्यते। प्राचीनगर्भं तमृषिं प्रवदन्तीह केचन॥ शान्ति० (३३७।५९-६१, चित्रशाला प्रेस संस्करण ३४९।६४-६५)। और देखिए 'सांख्यं योगः पञ्चरात्रं वेदारण्यकमेव च॥ ज्ञानान्येतानि ब्रह्मर्षे लोकेषु प्रचरन्ति हि॥ शान्ति० (३३७।१); एवमेकं सांख्ययोगं वेदारण्यकमेव च॥ परस्पराङ्गान्येतानि पञ्चरात्रं च कथ्यते। एष एकान्तिनां धर्मो नारायणपरात्मकः॥ शान्ति० (३३६।७६, चित्रशाला संस्करण ३४८।८१-८२)। सम्भवतः 'वेदारण्यक' बृहदारण्यक एवं छान्दोग्य उपनिषदों की ओर संकेत करता है, जिनमें 'निदिध्यास', जीव एवं ब्रह्म की अभिन्नता, यथा—'तत्त्वमसि' जैसे वचन आये हैं। वायुपुराण में परमर्षि की परिभाषा यों दी हुई है—'निवृत्तिसमकालं तु बुद्धयाऽव्यक्तमृषिः स्वयम्। परं हि ऋषते यस्मात्परमर्षिस्ततः स्मृतः॥ (५९-६०), देखिए यही श्लोक ब्रह्माण्ड० (३।३२।८६) में।

(७) सनत्कुमारो योगानां सांख्यानां कपिलो ह्यसि। अनुशासन० (१४।३२३)।

क्रम से विष्णु एवं गरुड़ के रूपों में परिवर्तित हो गये। यह द्रष्टव्य है कि योगसूत्र (२।५५) के भाष्य ने कतिपय मत प्रकाशित किये हैं, किन्तु जैगीषव्य के मत को प्रमुखता दी है। यो० सू० (३।१८) के भाष्य ने आवट्य एवं जैगीषव्य के संवाद का उल्लेख किया है और वहाँ जैगीषव्य का मत प्रकाशित किया गया है कि कैवल्य के दृष्टिकोण से सन्तोष का सुख भी दुःख ही है, यद्यपि इन्द्रियवासनाओं की तुलना में सन्तोष सुख ही कहा जा सकता है।[८]

बुद्धचरित (अध्याय १२) में आया है कि जब गौतम (भावी बुद्ध) अराड नामक दार्शनिक के पास पहुँचे तो उन्होंने गौतम से मोक्ष-सम्बन्धी अपनी भावना का उल्लेख किया और जैगीषव्य, जनक एवं वृद्ध-पराशर को उन व्यक्तियों में उल्लिखित किया जो उस मार्ग की सहायता से मुक्त हो चुके थे।

उपर्युक्त उक्तियों से प्रकट होता है कि जैगीषव्य ईसा के बहुत पूर्व ही योग के एक महान् आचार्य हो चुके थे और सम्भवतः उन्होंने योग पर कोई ग्रन्थ लिखा जो अभी अनुपलब्ध है।

योगसूत्र (सम्पूर्ण का कुछ अंश), पातंजल भाष्य एवं वाचस्पति की टीका के बहुत-से अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं, यथा—डा० राजेन्द्रलाल मित्र द्वारा, जिसमें मूल एवं राजमार्तण्ड नामक टीका है (बिब्लियोथिका इण्डिका, १८८३); स्वामी विवेकानन्द का राजयोग (खण्ड १, १९४६), जिसमें अनुवाद एवं सूत्रों की व्याख्या है; डा० गंगानाथ झा (बम्बई, १९०७); रामप्रसाद (पाणिनि आफिस, इलाहाबाद, १९१०); प्रो० जे० एच० वुड्स (हार्वर्ड ओरिएण्टल सीरीज, १९१४); जेराल्डाइन कोस्टरकृत 'योग एण्ड वेस्टर्न साइकोलॉजी (लन्दन, १९३४); पुरोहित स्वामीकृत अनुवाद (डब्लू० बी० यीट्स की भूमिका, फेबर एण्ड फेबर, लन्दन, १९३७); जिसमें सिद्धासन, बद्धपद्मासन, पश्चिमोत्तानासन, भुजङ्गासन, विपरीतकरणी एवं मत्स्येन्द्रासन के चित्र दिये हुए हैं; कृष्णजी केशव कोल्हटकर कृत 'भारतीय मानस-शास्त्र' या 'पातञ्जल-योग-दर्शन' (प्रकाशक—के० बी० धवले, बम्बई, १९५१), जो एक विस्तृत ग्रन्थ है (१०५१ पृष्ठों में)।

योग पर लिखे गये भारतीय एवं पाश्चात्य लेखकों के ग्रन्थों की संख्या बहुत अधिक है। उनमें बहुत-से प्रस्तुत लेखक द्वारा पढ़े नहीं जा सके हैं। कुछ पठित ग्रन्थों की सूची नीचे दी जा रही है। राजयोग (विवेकानन्द के ग्रन्थों का पूर्ण संग्रह, १९४६, मायावती, खण्ड १, पृ० ११९-३१३); डब्लू हॉप्किन्स कृत 'योग टेकनीक इन दि ग्रेट एपिक' (जे० ए० ओ० एस्, खण्ड २२, १९०१, पृ० ३३३-३७९), प्रो० एस्० एन्० दासगुप्त कृत 'योग ऐज ए फिलॉसॉफी एण्ड रिलिजन' (लन्दन, १९२४) एवं 'योग फिलॉसॉफी' (कलकत्ता यूनि०, १९३०); डा० जे० डब्लू० हावर कृत 'डाई आन्फांजे डर योगप्रेक्सिस इम अल्टेन इण्डीन' (स्टुटगार्ट, १९२२); एवं 'डर योग अल्स हील्वेग नच डेन इण्डीश्चेन क्वेलेन डर्गेस्तेल्त' (स्टुटगार्ट, १९३२), यह एक बड़ी सावधानी से लिखा गया क्रमबद्ध ग्रन्थ है; डा० राधाकृष्णन कृत 'इण्डियन फिलॉसॉफी (खण्ड २, पृ० ३३६-३७३, लन्दन, १९३१); डा० जे० जी० रेले कृत 'दि मिस्टिरिएस कुण्डलिनी (तारापोरवाला एण्ड संस, बम्बई, १९२७); फेलिक्स गुयोत कृत 'योग, दि साइस आव हेल्थ' (अंग्रेजी अनुवाद, लन्दन १९३७, जिसमें हठयोग के सिद्धान्त प्रतिपादित हैं), डा० के० टी० बेहनन कृत 'योग, ए साइण्टिफिक इवैलुएशन' (मैकमिलन एण्ड कम्पनी, न्यूयार्क, १९३७); डब्लू० वाई० इवांस-वेंट्ज कृत' 'टिबेटन योग एण्ड सिक्रेट डॉक्ट्रिन' (आक्सफोर्ड, १९२७); पाल ब्रण्टनकृत 'ए सर्च इन सीक्रेट इण्डिया'

८. भगवाञ्जैगीषव्य उवाच। विषयसुखापेक्षयैवेदमनुत्तमं सन्तोषसुखमुक्तम्। कैवल्य सुखापेक्षया दुःखमेव। भाष्य (यो० सू० ३।१८)। सन्तोष पाँच नियमों में एक है (यो० सू० २।३२)। यो सू० (२।४२) में आया है—सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभः।

(लन्दन, १९४७); पाल ट्क्सेन कृत 'दि रिलिजंस आव इण्डिया' (कोपेन हैगेन, १९४९); 'बर्नार्ड बूमेज कृत 'टिबेटन योग'; एलैन डैनीलू कृत 'योग दि मेथड आव री-इण्टीग्रेशन' (लन्दन, १९४९); डब्लू० जी० इवांस-वेट्ज कृत 'दि टिबेरेटन बुक आव दि ग्रेट लिबरेशन' (आक्सफोर्ड, १९५४); डा० राधाकृष्णन एवं सी० ए० मूर कृत 'सोर्स बुक आव इण्डियन फिलॉसॉफी'; मेसिया इलियादे कृत 'योग, इम्मॉर्टैलिटी एण्ड फ्रीडम' (लन्दन १९५८); प्रो० एस० एस्० गोस्वामी कृत 'हठयोग, ऐन एडवांस्ड मेथड आव फिजिकल ऐजूकेशन एण्ड कॉसेण्ट्रेशन' (एल० एन० फाउलर, लन्दन १९५९); मौनी साधु कृत 'कॉन्स्ट्रेशन' (लन्दन, १९५९); ए० कोयेस्लर कृत 'दि लोटस एण्ड दि रॉबॉट' (लन्दन, १९६०)।

पतञ्जलि के योगसूत्र के बहुत-से संस्करण छपे हैं, जिनमें व्यास का भाष्य एवं वाचस्पति की टीका (तत्त्व-वैशारदी) भी सम्मिलित है। प्रस्तुत लेखक सूत्र के केवल दो या तीन संस्करणों एवं टीकाओं की ही चर्चा करेगा, जिनमें एक है पं० राजाराम शास्त्री बोडस कृत संस्करण (निर्णयसागर प्रेस में सुन्दर ढंग से मुद्रित) और दूसरा है आनन्दाश्रम संस्करण, जिसमें वाचस्पति और राजा भोज की टीकाएँ हैं। काशी संस्कृत सीरीज में योगसूत्र का प्रकाशन ६ टीकाओं के साथ हुआ है, यथा—भोजराज कृत **राजमार्तण्ड**, भावा-गणेश कृत **प्रदीपिका**, नागोजि भट्टकृत **वृत्ति**, रामानन्दयतिकृत **मणिप्रभा**, अनन्त-देवकृत **चन्द्रिका** एवं सदाशिवेन्द्र सरस्वतीकृत **योगसुधाकर**। अन्य दर्शनों के सूत्रों की अपेक्षा योगसूत्र अति संक्षिप्त है। यह चार पादों में विभाजित है, यथा—समाधि, साधना, विभूति एवं कैवल्य। इसमें कुल १९५ सूत्र (५१+५५+५५+३४) हैं।

डा० राधाकृष्णन ने 'इण्डियन फिलॉसॉफी (खण्ड २, १९३१, पृ० ३४१-३४८) में मत प्रकाशित किया है कि योगसूत्र का लेखक ३०० ई० के पश्चात् का नहीं हो सकता। प्रो० एस्० एन् दासगुप्त ने 'हिस्ट्री आव इण्डियन फिलॉसॉफी' (खण्ड १, पृ० २२६-२३८) में दोनों पतञ्जलियों को एक माना है और कहा है कि योगसूत्र का लेखक ई० पू० दूसरी शती में हुआ। जैकोबी एवं उनकी बात को स्वीकार करने वाले कीथ का कथन है कि योगसूत्र (१।४०)[९] का वचन 'योगी का स्वामित्व परमाणु से लेकर महत्तत्त्व तक विस्तृत होता है' आज के विश्व के परमाणु-सिद्धान्त की ओर संकेत करता है। यह एक ऐसा उदाहरण है जो यह सिद्ध करता है कि पश्चिम के बड़े बड़े लेखक भी सीधे-सादे शब्दों में पश्चात्कालीन सिद्धान्तों की गन्ध पाते हैं, जिसके फलस्वरूप वे प्राचीन ग्रन्थों को पश्चात्कालीन रचित कह देते हैं। उपनिषदों ने आत्मा को अणु से भी छोटा कहा है और उसे महान् से भी महान् कहा है, और यही बात महाभारत ने भी उसी शब्दावली में कही है। यह समझने के लिए कोई प्रतीत्यात्मक प्रमाण नहीं है कि योगसूत्र ने उसी अणु-सिद्धान्त की ओर संकेत किया है जिसे वैशेषिक सिद्धान्त में प्रतिपादित किया गया है और न यही कहा जा सकता कि इसने उपनिषदों एवं महाभारत के शब्दों का अन्वय मात्र किया है।

हमें उस आरम्भिक परम्परा पर भी विचार करना है जो भोजदेव की टीका (सन् १०५५ ई० के पश्चात्

९. अणोरणीयान् महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्। कठोपनिषद् (२।२०), श्वे० उप० (३।२०); 'अणोरणीयो महतो महत्तरं तदात्मना पश्यति युक्त आत्मवान्। शान्तिपर्व (२३२।३३); योगसूत्र (१।४०)—'परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः।' शब्दानामनुशासनं विदधता पातञ्जले कुर्वता, वृत्तिं राज-मृगांकसंज्ञकमपि व्यातन्वता वैद्यके। वाक्चेतोवपुषां मलः फणिभृतां भर्त्रेव येनोद्धृतस्तस्य श्रीरणरंग मल्लनृपतेर्वाचो जयन्त्युज्ज्वलाः॥ योगसूत्र पर राजमार्तण्ड नामक वृत्ति का पाँचवाँ भूमिका-श्लोक।

को नहीं) में वर्णित है तथा चरकसंहिता की टीका (लगभग १०६० ई०) चक्रपाणि में उल्लिखित है कि पतञ्जलि ने (जो शेष के अवतार कहे जाते हैं) व्याकरण, योग एवं औषधि पर ग्रन्थ लिखे ।[१०]

हम यहाँ पर दोनों पतञ्जलियों की समानुरूपता एवं दोनों की तिथियों के प्रश्नों पर प्रकाश नहीं डाल सकते, क्योंकि वह विषयान्तर हो जायगा। वास्तव में दोनों को पृथक्-पृथक् सिद्ध करने के लिए अभी तक सुपुष्ट प्रमाण उपस्थित नहीं किये जा सके हैं। चरक के ग्रन्थ का सुधार पतञ्जलि द्वारा हुआ कि नहीं, यह अभी संदेहात्मक है। शान्तिपर्व में चिकित्सा के प्रवर्तक कृष्णात्रेय कहे गये हैं न कि चरक या पतञ्जलि। चरकसंहिता ने अध्यायों के आरम्भ में 'इति ह स्माह भगवानात्रेयः' लिखा है। चरक (१।१।२३) में लिखित है कि मुनि भरद्वाज ने इन्द्र से आयुर्वेद का अध्ययन किया। उनके शिष्य थे पुनर्वसु आत्रेय, जिनके छह शिष्य थे, यथा—अग्निवेश, भेड, जातुकर्ण, पराशर, हारीत एवं केशरपाणि। सर्वप्रथम अग्निवेश ने आयुर्वेद पर एक ग्रन्थ लिखा और उसे आत्रेय को सुनाया, ऐसा ही भेड आदि ने भी किया। चरकसंहिता (१।११।७५) के 'त्रिस्रैषणीय' नामक अध्याय में कृष्णात्रेय के तम विशेषतः वर्णित हैं। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि कृष्णात्रेय उन आत्रेय से भिन्न हैं जो चरक के अध्यायों में श्रद्धा-पूर्वक उल्लिखित हैं।[११] यहाँ तक कि अश्वघोष के बुद्धचरित में आत्रेय को वैद्यक शास्त्र का प्रथम प्रवर्तक कहा गया है।[१२]

पतञ्जलि ने योग एवं व्याकरण पर ग्रन्थ लिखे, यह एक परम्परा है जो भर्तृहरि के वाक्यपदीय से अपेक्षा-कृत पुरानी है। इस बात को तर्क द्वारा सिद्ध किया जा सकता है। इस ग्रन्थ ने अपने प्रथम विभाग (ब्रह्मकाण्ड) में लिखा है कि काय, वाणी एवं बुद्धि में जो मल (दोष) उपस्थित होते हैं वे वैद्यक (चिकित्सा), व्याकरण (लक्षण) एवं अध्यात्म-शास्त्र द्वारा दूर किये जा सकते हैं।[१३] इसके उपरान्त इसने महाभाष्य की प्रशंसा में लिखा है—'अलब्धगाधे गाम्भीर्यादुत्तान इव सौष्ठवात्' (वाक्यपदीय २।४८५), जिस पर टीकाकार ने टिप्पणी की है कि ब्रह्म-काण्ड के श्लोक में महाभाष्य का लेखक प्रशंसित है और दूसरे श्लोक में स्वयं भाष्य की प्रशंसा है। इससे प्रकट होता है कि टीकाकार के मत से वाक्यदीय ने वैद्यक, व्याकरण एवं अध्यात्म (अर्थात् योग) शास्त्रों को पतञ्जलि द्वारा लिखित माना है।

१०. पातञ्जल-महाभाष्य-चरकप्रतिसंस्कृतैः। मनोवाक्कायदोषाणां हर्त्रेऽहिपतये नमः ।। चरक की टीका का आरम्भिक श्लोक। इसी प्रकार का दूसरा श्लोक है—योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन। योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि ।। विज्ञानभिक्षु के योग वार्तिक में उल्लिखित।

११. वेदविद्वेद भगवान् वेदाङ्गानि बृहस्पतिः। भार्गवो नीतिशास्त्रं च जगाद जगतो हितम् ।। गान्धर्वं नारदो वेद भरद्वाजो धनुर्ग्रहम्। देवर्षि चरितंगार्ग्यः कृष्णात्रेयश्चिकित्सितम्। न्यायतन्त्राण्यनेकानि तैस्तैरुक्तानि वादिभिः ।। शान्ति० (२०३।१८–२०, चित्रशाला २१०।२०–२२)।

१२. चिकित्सितं यच्च चकार नात्रिः पश्चात्तदात्रेय ऋषिर्जगाद ।। बुद्धचरित (१।५०)। अश्वघोष को ईसा के पश्चात् दूसरी शती का माना जाता है।

१३. कायवाग्बुद्धिविषया ये मलाः समवस्थिताः। चिकित्सा-लक्षणाध्यात्मशास्त्रैस्तेषां विशुद्धयः ।। वाक्य-पदीय (१।१४८); अलब्धगाधे गाम्भीर्यादुत्तान इव सौष्ठवात्। वाक्यपदीय (२।४८५); तदेवं ब्रह्मकाण्डे 'काय-वाग्बुद्धिविषया ये मलाः'—इत्यादिश्लोकेन भाष्यकारप्रशंसा उक्ता, इह चैव भाष्यप्रशंसेति शास्त्रस्य शास्त्रकर्तुश्च टीकाकृता महत्सोपवर्णिता। हेलाराज की टीका।

यदि यह माना जाय कि योगसूत्र एवं महाभाष्य के लेखक भिन्न व्यक्ति हैं, तो यह मानने के लिए हमारे पास कोई स्पष्ट तर्क नहीं है कि योगसूत्र के लेखक की तिथि ईसा के पश्चात् दूसरी या तीसरी शती के उपरान्त की है। योगसूत्र की तिथि की जानकारी के लिए व्यास के योगभाष्य की तिथि अधिक महत्त्वपूर्ण है। किन्तु योगभाष्य की तिथि का प्रश्न भी विवादास्पद है। योगभाष्य के रचयिता व्यास महाभारत के व्यास से भिन्न व्यक्ति हैं।

वाचस्पति मिश्र जैसे आरम्भिक टीकाकारों के मतानुसार योगसूत्र के लेखक पतञ्जलि कहे गये हैं। उन पतञ्जलि के काल और पाणिनि-व्याकरण के वार्तिकलेखक एवं उस पर लिखे गये महाभाष्य लेखक पतञ्जलि की समानुरूपता के विषय में महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठते हैं। वैयाकरण पतञ्जलि सामान्यतः ई० पू० लगभग १५० में वर्तमान कहे जाते हैं। इसी से योगसूत्र की तिथि के लिए समानुरूपता का प्रश्न महत्त्वपूर्ण हो जाता है। कुछ विद्वान्, यथा— प्रो० बी० लाइबिख, डा० हावर एवं प्रो० दासगुप्त दोनों पतञ्जलियों को एक ही मानते हैं, किन्तु कुछ अन्य विद्वान्, यथा—जैकोबी, कीथ, वुड्स, रेनौ इस मत के विरुद्ध हैं। प्रो० रेनौ (इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली, जिल्द १६, पृ० ५८६-५६१) ने इस प्रश्न पर व्याकरण की दृष्टि से प्रकाश डाला है और कहा है कि 'प्रत्याहार', 'उपसर्ग', 'प्रत्यय' के समान योगसूत्र में कुछ ऐसे शब्द हैं जो महाभाष्य द्वारा निर्धारित अर्थों से भिन्न हैं। किन्तु दोनों ग्रन्थों के विषय भिन्न हैं, एक ही प्रकार के शब्द विभिन्न अर्थ रख सकते हैं। इसी प्रकार प्रो० रेनौ व्याकरण-सम्बन्धी नियमों के उल्लंघन की बात भी कहते हैं (योगसूत्र १।३४ में), जब कि महाभाष्य के पतञ्जलि पाणिनि के नियमों के परिपालन में बड़े कठोर हैं (स्वयं पाणिनि ने कहीं-कहीं अपने नियमों का पालन नहीं किया है, यथा—१।४।५५ एवं २।२।१५)। किन्तु बात ऐसी नहीं है। पतञ्जलि ने भी 'अव्यविकन्याय' के स्थान पर 'अविरविक न्याय' प्रयोग किया है, जिसके लिए उनकी आलोचना की गयी है। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि योगसूत्र ने ही सर्वप्रथम योग के परिभाषिक शब्दों को निश्चित कर दिया था। योग के पारिभाषिक शब्द उपनिषद्-काल से ही विकसित हो रहे थे और पतञ्जलि ने उन्हें उन्हीं अर्थों में प्रयुक्त किया जो कई शतियों से प्रयोग में चले आ रहे थे। प्रो० रेनौ ने यह निष्कर्ष निकाला है कि योगसूत्र महाभाष्य से कई शतियों उपरान्त लिखा गया। जैकोबी ने योगसूत्र को पाँचवीं शती की रचना माना है (जे० ए० ओ० एस०, जिल्द ३१, पृ० १-२६) और गार्बे के अनुसरण में ऐसा सोचा है कि व्यासभाष्य सम्भवतः ७वीं शती में प्रणीत हुआ। ज्वालाप्रसाद ने जैकोबी की आलोचना की है (जे० आर० ए० एस०, १६३०, पृ० ३६५-३७५)। प्रस्तुत लेखक रेनौ एवं जैकोबी के मतों को स्वीकार नहीं करता।

योगभाष्य की तिथि का योगसूत्र की तिथि से गहरा सम्बन्ध है। योगभाष्य से पता चलता है कि योग पर पर्याप्त साहित्यिक क्रियाएँ एवं प्रतिक्रियाएँ हुई थीं। इसने योगसूत्र (२।५५ एवं ३।१८) पर जैगीषव्य का उल्लेख किया है, और जैगीषव्य का महाभारत में महत्त्वपूर्ण उल्लेख है, जैसा कि हमने इसी अध्याय में पहले ही देख लिया है। और देखिए उस असित देवल का वृत्तान्त, जिसके साथ जैगीषव्य, भिक्षु एवं योग में दक्ष के रूप में वर्षों रहे (शल्य-पर्व, अध्याय ५०)। यह अवलोकनीय है कि एक ही सूत्र की कई व्याख्याएँ भाष्य में पायी जाती हैं (यथा २।५५ पर)। योगसूत्र में विवेचित कतिपय विषयों पर श्लोकों एवं कारिकाओं को योगभाष्य ने उद्धृत किया है, यथा—१।२८, ४८; २।५, २८ (विवेकख्याति के ६ कारण), २।३२, ३।६, ३।१५ (अपरिदृष्ट कोटि के सात चित्त-धर्मों पर)। इसके अतिरिक्त भाष्य में कतिपय गद्यात्मक उद्धरण पाये जाते हैं, जिनमें बहुत-से वाचस्पति द्वारा पञ्चशिख-कृत कहे गये हैं। इससे स्पष्ट है कि योगसूत्र एवं भाष्य में कई शतियों का अन्तर है।

भाष्य ने योगसूत्र (२।४२) पर 'तथा चोक्तम्' के साथ एक श्लोक उद्धृत किया है, जो शान्ति-पर्व के एक श्लोक (१७१।५१, १७७।५१ चित्रशाला प्रेस) से मिलता है। यह असम्भव-सा प्रतीत होता है कि कोई लेखक अपने किसी प्रस्ताव के समर्थन में अपने किसी अन्य ग्रन्थ से तर्क उपस्थित करे। इसके अतिरिक्त योगभाष्य (यो० सू०

१।२८) ने एक श्लोक उद्धृत किया है जो विष्णुपुराण (६।६।२) का है । विद्यमान पुराणों में विष्णुपुराण आरम्भिक पुराणों में परिगणित है और वह तीसरी शती के आस-पास की रचना कहा जा सकता है, इसके पश्चात् नहीं। अतः योगभाष्य, जो महाभारत एवं विष्णुपुराण को उद्धृत करता है, चौथी शती की रचना कहा जा सकता है। इसी से योगसूत्र को हम दूसरी या तीसरी शती के पश्चात् का नहीं मान सकते। यद्यपि प्रस्तुत लेखक के मत से वह योग, जिसका खण्डन वे० सू० (२।१।३) में हुआ है, योगसूत्र का नहीं है, प्रत्युत वह शान्तिपर्व वाला है, तथापि योगसूत्र का काल ई० पू० दूसरी शती के पूर्व रखना संभव नहीं है।

न-केवल कुछ उपनिषदों ने योग की पद्धति एवं व्यवहारों (आचरणों) पर प्रकाश डाला है, प्रत्युत महाभारत ने भी योग-सम्बन्धी विषयों का विवेचन किया है। यहाँ कुछ उदाहरण उपस्थित किये जाते हैं। शान्ति० (अध्याय २३२, २४१ चित्रशाला प्रेस संस्करण) में ऐसा आया है कि योग के मार्ग में काम, क्रोध, लोभ, भय एवं स्वप्न (निद्रा) पाँच दोष पाये जाते हैं।[१४] इसके उपरान्त उसमें इन दोषों के शमन के उपाय भी बताये गये हैं। इस अध्याय में एक महत्त्वपूर्ण बात यह कही गयी है कि हीन वर्ण का पुरुष या नारी भी धर्मानुकूल आचरण करने से इस मार्ग (योग) के द्वारा परम लक्ष्य की प्राप्ति कर सकता है (शान्ति० २३२।३२)। इसी अध्याय में (श्लोक २५) योगाभ्यास के लिए योगी के निवास का उल्लेख है, ऐसे पर्वत एवं गुफाएँ, जहाँ कोई न रहता हो, मन्दिर, सूने घर, जिससे कि एकाग्रता स्थापित हो सके। योगी को अपनी प्रशंसा या निन्दा करने वालों को समान दृष्टि से देखना चाहिए और किसी पर अच्छा या बुरा प्रभाव डालने का प्रयास नहीं करना चाहिए। शान्ति० के अध्याय २८९ (श्लोक ३७) ने 'धारणा' का उल्लेख किया है और कहा है कि वह योगी, जिसने आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त कर ली है, अपने को सहस्रों शरीरों में स्थानान्तरित कर सकता है और उन शरीरों के माध्यम से इस विश्व में भ्रमण कर सकता है, और यह योग-मार्ग विज्ञ ब्राह्मणों के लिए भी दुर्गम है, इस पर कोई सरलतापूर्वक नहीं चल सकता; कोई व्यक्ति छुरे की तीक्ष्ण धार पर भले ही खड़ा हो जाय किन्तु योग-धर्म के अनुसार चलना उनके लिए, जिनका आत्मा पवित्र नहीं है, कठिन है।[१५] शान्तिपर्व (३०४।१) में ऐसा आया है कि सांख्य के समान कोई

१४. योगदोषान् समुच्छिद्य पञ्च यान् कवयो विदुः। कामं क्रोधं च लोभं च भयं स्वप्नं च पञ्चमम्॥ क्रोधं शमेन जयति कामं संकल्पवर्जनात्। सत्त्वसंवेदनाद्धीरो निद्रामुच्छेत्तुमर्हति॥ अप्रमादाद् भयं जह्याल्लोभं प्रज्ञोपसेवनात्। शान्ति० (२३२।४-७)। शान्ति० (२८६, ३०१ चित्रशाला) में भीष्म एवं युधिष्ठिर का संवाद है जिसमें पाँच दोष कुछ भिन्न ढंग से रखे गये हैं, यथा—रागं मोहं तथा स्नेहं कामं क्रोधं च केवलम्। योगाच्छित्त्वादितो दोषान्पञ्चैतान् प्राप्नुवन्ति तत्॥ (श्लोक ११)। २९०वें अध्याय में पाँच दोष यों हैं—कामक्रोधौ भयं निद्रा पञ्चमः श्वास उच्यते। एते दोषाः शरीरेषु दृश्यन्ते सर्वदेहिनाम्॥ उन पर नियन्त्रण करने के उपाय वैसे ही हैं जैसे अध्याय २३२ में, किन्तु श्वास के विषय में ऐसा आया है—'छिन्दन्ति पञ्चमं श्वासं लघ्वाहारतया नृप' (५५)। मिलाइए आप० ध० सू० (१।८।२३।३-६)।

१५. आत्मनां च सहस्राणि बहूनि भरतर्षभ। योगी कुर्याद्बलं प्राप्य तैश्च सर्वैर्महीं चरेत्॥ शान्ति० (२८९।२६)। शंकराचार्य (वे० सू० १।३।२७) ने इसे स्मृतिवाक्य समझकर उद्धृत किया है और टिप्पणी की है 'स्मृतिरपि... एवं जातीयका प्राप्ताणिमाद्यैश्वर्याणां योगिनामपि युगपदनेकशरीरयोगं दर्शयति।' दुर्गस्त्वेष मतः पन्था ब्राह्मणानां विपश्चिताम्। न कश्चिद् व्रजति ह्यस्मिन् क्षेमेण भरतर्षभ॥ सुस्थेयं क्षुरधारासु निशितासु महीपते। धारणासु तु योगस्य दुःस्थेयमकृतात्मभिः॥ शान्ति० २८९।५० एवं ५४। मिलाइए 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति।' कठोप० (३।१४)।

ज्ञान नहीं है और योग के समान कोई आध्यात्मिक शक्ति नहीं है। इसने पुनः कहा है कि योग आठ प्रकार (श्लोक ७) का होता है; और श्लोक ६ में धारणा एवं प्राणायाम का उल्लेख है। आश्वमेधिकपर्व (१६।१७) में सम्भवतः प्रत्याहार की ओर संकेत है।[१६]

भगवद्गीता एवं योगसूत्र में विलक्षण समानता दृष्टिगोचर होती है।[१७] उदाहरणार्थ, योगसूत्र में योग की परिभाषा है कि चित्तवृत्ति का निरोध ही योग है। मिलाइए गीता (६।२०)। गीता योगी को अपरिग्रही बनने के लिए बल देती है (६।१०) और योगसूत्र (२।३०) में अपरिग्रह पाँच यमों में परिगणित है। इसी प्रकार वह आसन या स्थान, जहाँ योगी को अभ्यास करना होता है, स्थिर और आरामदायक होना चाहिए (योगसूत्र), यही बात गीता विस्तार से कहती है। ८।१२ में गीता ने योगधारणा का उल्लेख किया है। गीता ६।२५ में आया है कि मन वास्तव में अस्थिर होता है, उसे संयमित करना बड़ा कठिन है, किन्तु अभ्यास एवं वैराग्य से उसे नियन्त्रण में रखा जा सकता है। यही बात योगसूत्र (१।१२) ने भी कही है और इन्हीं दो साधनों की ओर संकेत किया है। गीता (५।४-६) का कथन है कि अज्ञ लोग ही सांख्य एवं योग को भिन्न मानते हैं, किन्तु जो इनमें से किसी एक का आश्रय लेता है वह दोनों द्वारा उद्घाटित फल की प्राप्ति करता है, और जो दोनों को समान समझता है, वह सत्यावलोकन करता है। यहाँ पर 'सांख्य' का अर्थ है 'संन्यास' और 'योग' का अर्थ है 'कर्मयोग'।

पतञ्जलि के योगसूत्र ने कहीं भी विश्व के विकास की योजना पर स्पष्ट रूप से प्रकाश नहीं डाला है। किन्तु इसमें पर्याप्त सामग्री है, जिसके आधार पर हम यह कह सकते हैं कि यह सांख्य-पद्धति के कुछ सिद्धान्तों को स्वीकार करता है, यथा—प्रधान का सिद्धान्त, तीन गुण एवं उनकी विशेषताएँ, आत्मा का स्वरूप एवं कैवल्य (अन्तिम मुक्ति में आत्मा की स्थिति)। यह बात योगसूत्र के कुछ निर्देशों से स्थापित की जा सकती है। यो० सू० (३।४८) ने इन्द्रियों के निरोध से उत्पन्न हुए फलों का उल्लेख किया है, जिनमें एक है प्रधानजय (विश्व के प्रथम कारण प्रधान का जीतना, जैसा कि सांख्य ने कहा है)। योगसूत्र ने कहीं भी प्रधान एवं इसके विकास या उद्भव की चर्चा नहीं की है। अतः ऐसा प्रकट होता है कि सांख्य ने प्रधान के विषय में जो कहा है, योग उसे ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लेता है।[१८] आत्मा के विषय में योगसूत्र का कथन है—'शुद्ध चेतन-

१६. मिलाइए 'स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।' योगसूत्र (२।५४); और देखिए शान्ति० २३२।१३—'मनसश्चेन्द्रियाणां च कृत्वैकाग्र्यं समाहितः। प्राग्रात्रापररात्रेषु धारयेन्मन आत्मना॥

१७. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। योगसूत्र (१।२); मिलाइए गीता—(६।२०) यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया; स्थिरसुखमासनम्। योगसूत्र (२।४६); मिलाइए गीता ६।११–१२ शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः। नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥ ...समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः। असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्। अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥ गीता ६।३५; मिलाइए 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।' योगसूत्र १।१२।

१८. ततो मनोजवित्वं विकरणाभावः प्रधानजयश्च। यो० सू० (३।४८)। ये तीन पूर्णताएँ हैं। 'प्रधानजय' के विषय में व्यासभाष्य यों है—सर्वप्रकृतिविकारवशित्वं... प्रधानजयः। इति एतास्तिस्रः सिद्धयो मधुप्रतीका उच्यन्ते।'

सामर्थ्य के रूप में द्रष्टा (पुरुष) पाया जाता है[19] और यद्यपि वह शुद्ध है (अर्थात् परिवर्तनहीन, या दोष-रहित) तथापि प्रतीत होता है मानो वह सभी अनुभूतियों का द्रष्टा है (जो केवल बुद्धि से ही सम्भव है)।' सत्त्व, रज एवं तम नामक तीन गुणों की विशेषताएँ स्पष्ट एवं संक्षिप्त ढंग से योगसूत्र एवं सां० का० (१३) में दी हुई हैं।[20] ऐसा कहा गया है—'जो दृश्य है वह प्रकाश (सत्त्व), क्रिया (रज) एवं स्थिति अर्थात् प्रमाद या आलस्य (तम) के रूप में है, यही तत्त्वों एवं इन्द्रियों का सार है और इसका अस्तित्व आत्मा को अनुभव प्रदान करने एवं मुक्ति प्राप्त करने के उद्देश्य से है।' गुणों का बहुधा उल्लेख हुआ है, यथा यो० सू० (१।१६, ४।१३, ३२, ३४) एवं सत्त्वगुण (यो० सू० २।४१, ३। ३५, ४९ एवं ५५)। यो० सू० ने तीन प्रमाणों की बात उठायी है (१।७), किन्तु उनकी परिभाषा नहीं की गयी, सांख्यकारिका (४-६) ने तीनों का उल्लेख किया है एवं परिभाषाएँ की हैं। वे दोनों आत्मा की अनेकता को स्वीकार करते हैं। यह द्रष्टव्य है कि व्यास-भाष्य (योगसूत्र) में सांख्य-सिद्धान्तों की भरमार है और उसमें वाचस्पति के अनुसार पञ्चशिख का उल्लेख बारह बार तथा षष्टितंत्र का उल्लेख एक बार हुआ है।

यद्यपि योग ने सांख्य के कुछ मौलिक सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया है, तथापि दोनों में कुछ अन्तर भी है। सांख्या में ईश्वर को स्थान नहीं प्राप्त है, किन्तु योग में ईश्वर के अस्तित्व की बात पायी जाती है (यो० सू० १।२३-२९), यद्यपि वह केवल गौण रूप में ही प्रतिष्ठापित है और सम्भवतः यह केवल सर्वसाधारण के विश्वास पर ही आधारित है, क्योंकि योगसूत्र ने कहीं भी स्पष्ट रूप से यह नहीं कहा है कि ईश्वर विश्व का स्रष्टा है; वह जो कुछ कहता है वह यह है कि उसमें सर्वोच्च सर्वज्ञता पायी जाती है। वह आदि ऋषियों का आचार्य है और 'ओम्' के जप एवं उस पर ध्यान लगाने से योगी आत्मा के सत्य स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करता है। सांख्य एवं योग दोनों में परमार्थ है कैवल्य (सां० का० ६४, ६८ एवं योगसूत्र ३।५०, ५५ एवं ४।३४), किन्तु सांख्य सम्यक् ज्ञान के अतिरिक्त किसी अन्य अनुशासन की व्यवस्था नहीं करता, अर्थात् वह आध्यात्मिक एवं बौद्धिक है। किन्तु योग ने इस विषय में एक विशद मानस अनुशासन की व्यवस्था की है, केवल ज्ञान की अपेक्षा अभ्यास एवं प्रयास को अधिक महत्त्व एवं प्रधानता दी है तथा प्राणायाम एवं ध्यान पर विशेष बल दिया है।

सांख्य ने आत्मा के उद्धार एवं जन्म से छुटकारा (मुक्ति) पाने के लिए पुरुष एवं प्रकृति (या गुण) एवं दोनों के अन्तर को भली भाँति समझ लेना पर्याप्त माना है, किन्तु योग, दूसरी ओर, केवल इस दार्शनिक सरल मानसिक स्थिति तक पहुँच जाने पर ही सन्तोष नहीं करता, प्रत्युत वह इच्छा एवं संवेगों के क्रमबद्ध प्रशिक्षण एवं संयमन पर बल देता है। सांख्य एवं योग दोनों में प्रत्येक आत्मा नित्य है और व्यक्ति की नियति है प्रकृति एवं उसके विभिन्न स्वरूपों से मुक्ति पाना तथा सदैव वही (अर्थात् शुद्ध स्वरूप में) बना रहना। यहीं

१९. द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः। यो० सू० (२।२०); व्यासभाष्य में आया है—'प्रत्ययानुपश्यो यतः प्रत्ययं बौद्धमनुपश्यति। तमनुपश्यन्नतदात्मापि तदात्मक इव प्रत्यवभासते।' मिलाइए सांख्यकारिका (१९)—तस्माच्च विपर्यासात्सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य। कैवल्यं माध्यस्थं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च॥

२०. प्रकाश-क्रिया-स्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्। यो० सू० (२।१८); प्रकाशशीलं सत्त्वं क्रियाशीलं रजः स्थितिशीलं तम इति। एते गुणाः प्रधानशब्दवाच्या भवन्ति। एतद् दृश्यमित्युच्यते। व्यास-भाष्य, मिलाइए सां० का० (१३) सत्त्वं लघु...।

पर दोनों अद्वैत वेदान्त से पृथक् हैं। अद्वैत वेदान्त के अनुसार आत्मा की अन्तिम नियति है उसी एक ब्रह्म में समाहित या निमग्न हो जाना।

एक अन्य बात पर विचार करना है। याज्ञवल्क्यस्मृति में याज्ञवल्क्य ने कहा है कि हृदय में दीपक के समान प्रकाशित होते हुए आत्मा की अनुभूति की जानी चाहिए, इस अनुभूति से आत्मा का पुनर्जन्म नहीं होता। याज्ञवल्क्य ने इतना और जोड़ दिया है कि योग की प्राप्ति के लिए मनुष्य को वह आरण्यक[२१] समझना चाहिए जिसे 'मैंने सूर्य से प्राप्त किया, तथा मेरे द्वारा उद्घोषित योगशास्त्र समझना चाहिए।' कूर्मपुराण में आया है कि याज्ञवल्क्य ने योगशास्त्र का प्रणयन किया और ऐसा करने के लिए उन्हें भगवान् हर के द्वारा आदेश प्राप्त हुआ था। विष्णुपुराण (४।४।१०७) में उल्लिखित है कि हिरण्यनाभ ने जैमिनि के शिष्य तथा महान् योगीश्वर याज्ञवल्क्य से योग का ज्ञान प्राप्त किया। बृहदारण्यकोपनिषद् (२।४) में याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी मैत्रेयी (जो अमरत्व की ओर उन्मुख थी तथा जिसे भौतिकता से किसी प्रकार का लगाव अथवा मोह नहीं था) से यही कहते हैं कि वे उसे अमरत्व के मार्ग की व्याख्या बतायेंगे और प्रथम वाक्य में ही वे उससे 'निदिध्यास' (अर्थात् ध्यान) प्राप्त करने एवं अभ्यास करने की बात बताते हैं और उनके प्रथम व्याख्यान का प्रथम भाग इस प्रकार स्मरणीय शब्दों के साथ पूरा होता है—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृ० उप० २।४।५)। याज्ञवल्क्य द्वारा प्रणीत योगशास्त्र के ग्रन्थ का क्या तात्पर्य है, यह अभी विवादास्पद ही है। याज्ञवल्क्यस्मृति के अतिरिक्त तीन अन्य ग्रन्थ हैं, जो याज्ञवल्क्य से सम्बन्धित हैं, यथा—वृद्ध-याज्ञवल्क्य, योग-याज्ञवल्क्य एवं बृहद्-योगि-याज्ञवल्क्य। अन्तिम ग्रन्थ में महान् योगी याज्ञवल्क्य, गार्गी तथा अन्य मुनियों एवं विद्वान् ब्राह्मणों के बीच हुई बातचीत का विवरण है। याज्ञवल्क्य ने जो कुछ ब्रह्मा से प्राप्त किया है अथवा पढ़ा है, उसे सुनाया है। शूलपाणि की दीपकलिका (याज्ञ० ३।११० पर) में कहा गया है कि 'योगशास्त्र' 'योगि-याज्ञवल्क्य' ही है। किन्तु यह बात अभी संदिग्ध है। स्थानाभाव से हम यहाँ अधिक नहीं कह सकेंगे। वास्तव में, 'योगि-याज्ञवल्क्य' उस ग्रन्थकार का ग्रन्थ नहीं हो सकता जिसने बृहदारण्यक एवं योगशास्त्र (जैसा कि याज्ञ० ३।११० में वर्णित है) तथा याज्ञवल्क्यस्मृति का प्रणयन किया है। बृ० उप० (२।४।१ एवं ४।५।१—याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतुर्मैत्रेयी च कात्यायनी च) में यह स्पष्ट रूप से आया है कि याज्ञवल्क्य की दो पत्नियाँ थीं, जिनमें एक थी मैत्रेयी, जिसका झुकाव दर्शन अथवा अध्यात्म-शास्त्र की ओर था और दूसरी थी कात्यायनी, जो सांसारिक मोह में संलग्न थी। मैत्रेयी अमरत्व की प्राप्ति के ज्ञान के पीछे पड़ी हुई थी और वह जितने प्रश्न पूछती है उन सभी में वह याज्ञवल्क्य को 'भगवान्' कहती है

२१. ज्ञेयं चारण्यकमहं यदादित्यादवाप्तवान्। योगशास्त्रं च मत्प्रोक्तं ज्ञेयं योगमभीप्सता॥ याज्ञ० (३।११०); याज्ञवल्क्यो महायोगी दृष्ट्वात्र तपसा हरम्। चकार तन्नियोगेन कायशास्त्रमनुत्तमम्॥ कूर्म० (१।२५।४४)। एह्यास्स्व व्याख्यास्यामि ते व्याचक्षाणस्य तु मे निदिध्यासस्वेति।...आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः। बृह० उप० (२।२।४–५)। मिलाइए बृ० उप० (४।५।५–६), वे० सू० (४।१।१), छा० उप० (८।७।१): 'य आत्मापहतपाप्मा...सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः।' यह सम्भव है कि याज्ञ० (३।११०) एक प्रारम्भिक क्षेपक हो। किन्तु विश्वरूप से चलकर आगे के सभी टीकाकार इस उद्धरण को सच्चा मानते आये हैं, इसे याज्ञ० स्मृ० का एक अभिन्न एवं शुद्ध अंग मान लेना होगा, जब तक कि इसके विरोध में कोई अन्य साक्ष्य न मिल जाय।

(बृ० उप० २।४।३।१३, ४।५।४.१४), कहीं भी केवल 'याज्ञवल्क्य' नाम नहीं सम्बोधित हुआ है। दूसरी ओर बृह० उप० में गार्गी को वाचक्नवी (३।६।१, ३।८।१ एवं १२) कहा गया है, वह याज्ञवल्क्य की पत्नी नहीं है, प्रत्युत वह एक प्रगल्भ एवं बौद्धिक नारी है जिसे हम जनक की राजसभा में उपस्थित अश्वल, आर्तभाग, भुज्यु लाह्यायनि, उषस्त चाक्रायण, कहोड़ के समान ही जिज्ञासु नारियों में गिनते हैं। गार्गी ने अन्य लोगों के समान ही याज्ञवल्क्य के ब्रह्मिष्ठ होने के अधिकार पर विरोध प्रकट किया था। बृ० उप० (३।६।१) में आया है कि जब गार्गी अपनी वितर्कना को और आगे बढ़ा ले जाती है तो याज्ञवल्क्य उसकी भर्त्सना करते हैं और कहते हैं कि यदि वह उसी प्रकार तर्क का आश्रय लेती चली जायेगी तो उसका सिर भ्रमित हो जायेगा। अन्य प्रश्नकर्ता याज्ञवल्क्य को बिना भगवान् की उपाधि के पुकारते हैं और गार्गी भी ऐसा ही कहती है (बृ० उप० ३।६।१, ३।८।२-६)। याज्ञवल्क्यस्मृति (३।११०) एवं बृ० उप० के अनुसार योगशास्त्र एवं स्मृति दोनों एक ही व्यक्ति की कृतियाँ हैं (उस याज्ञवल्क्य की, जिसकी दो पत्नियाँ थीं, मैत्रेयी एवं कात्यायनी) और उस व्यक्ति की जिसके साथ गार्गी वाचक्नवी का दार्शनिक शास्त्रार्थ हुआ था। योग-याज्ञ० के सम्पादक श्री पी० सी० दीवानजी ने गार्गी को याज्ञवल्क्य की पत्नी कहा है।[२२] बृ० उप० ने केवल दो पत्नियों का उल्लेख किया है, किन्तु अब प्रश्न उठता है—क्या याज्ञवल्क्य की तीन पत्नियाँ थीं? श्री पी० सी० दीवानजी ने इस भारी प्रश्न को कुछ हल्का कर दिया है और कहा है कि गार्गी का एक अन्य नाम मैत्रेयी भी था। हमारा सम्बन्ध यहाँ पर योग-सिद्धान्त से नहीं है, प्रत्युत इस प्रश्न से है कि क्या हम उस ग्रन्थ को, जो याज्ञवल्क्य का लिखा हुआ कहा गया है और जिसमें गार्गी को प्राचीन याज्ञवल्क्य की पत्नी कहा गया है (जब कि उपनिषद् उसे केवल एक प्रगल्भ या वाचाल नारी के रूप में प्रकट करती है), उसी याज्ञवल्क्य का लिखा हुआ मानें जिसने बृ० उप० में ब्रह्मविद्या की उद्घोषणा की है और जो याज्ञवल्क्यस्मृति का भी प्रणेता कहा गया है, अथवा नहीं? यह एक ऐसी स्थिति है जो योग-याज्ञवल्क्य (जिसकी ओर श्री दीवान्जी ने संकेत किया है) को मात्र मनगढ़न्त सिद्ध करती है। यदि समानुरूपता की वास्तविकता थी तो श्लोक में बिना किसी मात्राभाव के 'मैत्रेय्याख्या महाभागा' पढ़ा जा सकता था। अतः यह मानना सम्भव नहीं जँचता कि योग-याज्ञवल्क्य वही योगशास्त्र है जिसे याज्ञवल्क्य ने अपने नाम वाली स्मृति के पूर्व रचा था। कुछ अन्य बातें भी कही जा सकती हैं। श्री दीवानजी द्वारा सम्पादित ग्रन्थ ने तन्त्रों (५।१०) एवं तान्त्रिकों (८।४ एवं २५) का उल्लेख किया है। किन्तु याज्ञवल्क्यस्मृति ने इन दोनों का कहीं भी कोई उल्लेख नहीं किया है प्रत्युत उसमें कहीं भी तान्त्रिक शब्दों या प्रणाली का उल्लेख नहीं हुआ है। अतः श्री दीवानजी द्वारा सम्पादित योग-

२२. योगयाज्ञ० (१।६-७) में आया है—तमेवं गुणसम्पन्नं नारीणामुत्तमा वधूः। मैत्रेयी च महाभागा गार्गी च ब्रह्मविद्वरा॥ सभामध्यगता चेयमृषीणामुग्रतेजसाम्। प्रणम्य दण्डवद् भूमौ गार्ग्येतद् वाक्यमब्रवीत्॥ यहाँ दो 'च' द्रष्टव्य हैं, जो सामान्यतः यह व्यक्त करेंगे कि मैत्रेयी एवं गार्गी भिन्न हैं। ऐसा तर्क किया जा सकता है कि याज्ञवल्क्य से पढ़ लेने के उपरान्त (बृ० उप० में जैसा आया है) मैत्रेयी वहाँ (सभा में) उपस्थित थी, किन्तु वाद-विवाद में कोई भाग नहीं लिया, केवल गार्गी ने ही प्रश्नों की बौछार की थी। अध्याय १ के श्लोक ६ में मैत्रेयी के लिए 'उत्तमा वधूः' तथा गार्गी के लिए 'महाभागा' एवं 'ब्रह्मविद्वरा' का प्रयोग हुआ है। किन्तु १।४३ एवं ४।५ में गार्गी को याज्ञ० की भार्या कहा गया है और उसे 'प्रिये' (४।७) एवं 'वरारोहे' आदि शब्दों से सम्बोधित किया गया है।

याज्ञवल्क्य, याज्ञ० स्मृति के प्रणयन के बहुत काल उपरान्त, सम्भवत: ८वीं शती में या और चलकर जब कि तान्त्रिक क्रियाएँ एवं ग्रन्थ प्रकाश में आ चुके थे, लिखा गया होगा। एक अन्य बात भी विचारणीय है। याज्ञवल्क्यस्मृति एवं योग-याज्ञवल्क्य (दीवानजी द्वारा सम्पादित) में दस यमों एवं दस नियमों का उल्लेख है, किन्तु दोनों ग्रन्थ नामोल्लेख में एक दूसरे से मेल नहीं खाते, जैसा कि पादटिप्पणी से पता चल जायगा।[२३] विभिन्न ग्रन्थों में यमों एवं नियमों की संख्या में अन्तर पाया जाता है, किन्तु यदि याज्ञ० स्मृ० एवं योगयाज्ञ० के लेखक एक ही हैं तो इन दस नामों में कोई अन्तर नहीं पाया जाना चाहिए था। अत: याज्ञ० स्मृ० एवं योग-याज्ञ० के ग्रन्थकार अलग-अलग हैं। हमें इसके लिए कोई प्रमाण नहीं प्राप्त होता कि योग-याज्ञवल्क्य ८वीं या ९वीं शती के पूर्व हुए थे।

श्री दीवानजी द्वारा 'बृहद्योगि-याज्ञवल्क्य एवं योग-याज्ञवल्क्य के विषय में एक निबन्ध प्रस्तुत किया गया है (ए० बी० ओ० आर० आई०, जिल्द ३४, १९५३, पृ० १-२९; भूमिका—योग-याज्ञ०, जे० बी० बी० आर० ए० एस्०, जिल्द ३८ एवं ३९, पृ० १०३-१०६) और स्वामी कुवलयानन्द ने उस निबन्ध का उत्तर दिया है (ए० बी० ओ० आर० आई०, जिल्द ३७, १९५७, पृ० २५७-२८९; योगमीमांसा, जिल्द ७, सं० २, पृथक् रूप से प्रकाशित १९५८)। विषयान्तर हो जाने के भय से अन्य मत-मतान्तर यहाँ नहीं दिये जा रहे हैं। श्री दीवानजी तथा स्वामी कुवलयानन्द के मतों में गहरा मतभेद है। श्वेताश्वतरोपनिषद् के भाष्य में, जो शंकराचार्य का कहा जाता है[२४], साढ़े चार श्लोक योगि-याज्ञ० से उद्धृत हैं, जिनमें कोई भी बृहद्योगि-याज्ञ० या योग-याज्ञ० में नहीं पाया जाता। श्वेताश्वतरोपनिषद् (२।९) की व्याख्या में भाष्य ने योग पर २९ श्लोक उद्धृत किये हैं, किन्तु वहाँ न तो किसी ग्रन्थ का और न किसी ग्रन्थकार का नामोल्लेख हुआ है। श्री दीवानजी के संस्करण में एक भी श्लोक पूर्णरूपेण उद्धृत नहीं है, उन्होंने ५ या ६ श्लोक योग-याज्ञ० से उद्धृत किये हैं तथा बृ० उप० (८।३२) का एक श्लोक भाष्य में उद्धृत है। यह ज्ञातव्य है कि अपरार्क एवं स्मृतिचन्द्रिका ने कुल मिलाकर लगभग १०० श्लोक योगी (या योग)—याज्ञवल्क्य से उद्धृत किये हैं जो केवल बृहद्योगि-याज्ञवल्क्य में पाये जाते हैं, किन्तु योग-याज्ञवल्क्य में नहीं। कृत्यकल्पतरु (केवल मोक्षकाण्ड ही) ने लगभग ७० श्लोक योगि-याज्ञ० से लिये हैं जो बृहद्योगि-याज्ञ० के अध्याय २, ८, ९

२३. ब्रह्मचर्यं दया शान्तिर्दानं सत्यमकल्कता। अहिंसा स्तेयमाधुर्ये दमश्चेति यमाः स्मृताः॥ स्नानं मौनोपवासेज्यास्वाध्यायोपस्थनिग्रहाः। नियमा गुरुशुश्रूषा शौचाक्रोधप्रमादताः॥ याज्ञ० ३।३१२-३१३; मिलाइए अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयार्जवम्। क्षमा धृतिर्मिताहारः शौचं त्वेते यमा दश॥ तपः सन्तोष आस्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम्। सिद्धान्तश्रवणं चैव ह्रीर्मतिश्च जपो व्रतम्। एते तु नियमाः प्रोक्तास्तांश्च सर्वान् पृथक् पृथक्॥ योगयाज्ञ० (१।५०-५१)। दोनों में विशिष्ट अन्तर यों है—याज्ञ० स्मृ० में 'शौच' नियम है जब कि वही योगयाज्ञ० में यम है। अन्य अन्तर अपने आप स्पष्ट हैं।

२४. यह भाष्य शंकराचार्य का है; इस विषय में गहरा सन्देह है। ब्रह्मसूत्र के विशद भाष्य में शंकराचार्य किसी पुराण से नाम लेकर कोई उद्धरण नहीं देते, प्रत्युत 'इति पुराणे' कहकर कुछ श्लोकों का उदाहरण देते हैं। किन्तु श्वेताश्वतरोपनिषद् के भाष्य में, केवल ७६ मुद्रित पृष्ठों में ३० श्लोक ब्रह्मपुराण से, ३० श्लोक विष्णुपुराण से, लगभग १२ श्लोक लिंगपुराण से तथा लगभग ६ श्लोक शिवधर्मोत्तरपुराण से उद्धृत किये गये हैं।

एवं ११ में पाये जाते हैं। श्री दीवानजी अपने सम्पादित योग-याज्ञ० में उपर्युक्त तीनों निबन्धों में उद्धृत श्लोक नहीं दिखा सके हैं। श्री भवतोष भट्टाचार्य ने अपने निबन्ध (जर्नल आव गंगानाथ झा रिसर्च इंस्टीच्यूट, जिल्द १५, १९५८ ई०, पृ० १३५-१४०) में यह दर्शाया है कि बंगाल के राजा बल्लालसेन (११५८-११७९ ई०) ने अपने दानसागर में बृहद्योगि-याज्ञ० से बहुत-से उद्धरण लिये हैं। लगता है, विश्वरूप (नवीं शती के पूर्वार्ध में) ने बृहद्योगि-याज्ञ० का आधा श्लोक उद्धृत किया है ('प्रभूते विद्यमाने तु उदके सुमनोहरे' ७।९) और कहा है कि यह ग्रन्थ याज्ञवल्क्यस्मृति के लेखक द्वारा प्रणीत है। इससे सिद्ध होता है कि बृहद्योगियाज्ञ० बहुत प्राचीन ग्रन्थ है और वह सातवीं शती के पश्चात् का नहीं हो सकता, जब कि योगि-याज्ञ० पश्चात्कालीन है और उसे ८वीं या ९वीं शती में रख सकते हैं। प्रस्तुत लेखक यह मानने को सन्नद्ध नहीं है कि बृहद्योगि-याज्ञवल्क्य वही योगशास्त्र है जिसका उल्लेख याज्ञवल्क्यस्मृति (३।११०) में याज्ञवल्क्य के योगशास्त्र के रूप में हुआ है, क्योंकि उसमें योग-सम्बन्धी सामग्री उतनी भी नहीं है जितनी कि स्मृति में पायी जाती है।

योगवासिष्ठ एक विशद ग्रन्थ है। इसमें ३२००० श्लोक (३२ अक्षर का अनुष्टुप्) हैं। यह निर्णयसागर प्रेस द्वारा दो खण्डों में आनन्दबोध की टीका के साथ प्रकाशित हुआ है। यह एक समन्वयवादी ग्रन्थ है।[२५] इसमें अनासक्ति पर गीता के सिद्धान्तों, कश्मीर के त्रिक पद्धति के सिद्धान्तों, अद्वैत वेदान्त आदि का विवेचन है। इसमें समय-समय पर मिश्रण होता गया है। इसके काल एवं दार्शनिक महत्त्व पर मत-मतान्तर हैं। प्रस्तुत लेखक के मत से यह ग्रन्थ ११वीं एवं १२वीं शतियों के बीच में कभी लिखा गया होगा।[२६]

अब हम संक्षेप में योगसूत्र की प्रमुख बातों का उल्लेख करेंगे। हम केवल अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी विषयों का ही उल्लेख करेंगे।

योग को चित्तवृत्तियों का निरोध कहा गया है, अर्थात् मन (चित्त) की चंचलताओं या क्रियाओं पर स्वामित्व स्थापन (नियन्त्रण) या उनको हटाना (यो० सू०--'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' १।२)। इसे व्यास ने कुछ काल के लिए 'समाधि' माना है। मन की विभिन्न भूमियाँ पाँच हैं, यथा--**क्षिप्त, मुग्ध** (या मूढ), **विक्षिप्त, एकाग्र** एवं **निरुद्ध**। इसी सिलसिले में स्वामी कुवलयानन्द के एक निबन्ध (योगमीमांसा, जिल्द ६, संख्या ४) की ओर संकेत कर देना आवश्यक है। व्यास आदि भाष्यकारों ने पातञ्जल-योगसूत्र ३।२ को इस प्रकार पढ़ा है--'सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः।' किन्तु स्वामीजी ने इसे अशुद्ध मानकर

२५. योगवासिष्ठ में योग पर कोई सिलसिलेवार आलेखन नहीं है, केवल यत्र-तत्र योग पर कुछ टिप्पणियाँ मात्र हैं। उदाहरणार्थ--उपशमप्रकरण (७८।४) में आया है--द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं च राघव। योगस्तद्वृत्तिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम्॥

२६. देखिए डा० आत्रेय का निबन्ध 'फिलॉसफी आव योगवासिष्ठ' (थियोसॉफिक पब्लिशिंग हाउस, अड्यार, १९३६), डा० आत्रेय के अनुसार योगवासिष्ठ ६ठी शती का है। और देखिए प्रो० एस० पी० भट्टाचार्य (इ० हिस्टॉ० क्वार्टर्ली, जिल्द २४, पृ० २०१--२१२); डा० डी० सी० सरकार (वही, जिल्द २५, पृ० १३२--१३४) आदि।

यों पढ़ा है[२७] 'सर्वार्थतकार्थयोः . . .'। उनके अनुसार भूमियाँ ६ हैं, और छठी भूमि है 'एकार्थ'। इस बात पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना है। आश्चर्य तो यह है कि इस कठिनाई पर योगसूत्र के भाष्यकार व्यास ने भी ध्यान नहीं दिया। अतः निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए सावधानी की परम आवश्यकता है। इस सूत्र ने योग के लक्ष्य का उल्लेख किया है, अर्थात् आत्मा, जो द्रष्टा है, तब (जब कि चित्त की वृत्तियाँ नियन्त्रित रहती हैं) अपने रूप में अवस्थित होता है, जब कि सामान्य जीवन में आत्मा चित्त की चञ्चलताओं के रूपों में प्रकट होता है। **वृत्तियाँ** पाँच हैं[२८], जिनमें कुछ **क्लेश** नामक बाधाओं से अभिभूत रहती हैं और कुछ इस प्रकार बाधित या अभिभूत नहीं होतीं। जो बाधित होती हैं, उन पर स्वामित्व स्थापित करना होता है या उन्हें हटाना होता है और अन्य वृत्तियों को, जो इस प्रकार बाधित या अभिभूत नहीं रहतीं, स्वीकार करना होता है। पाँच वृत्तियाँ इस प्रकार हैं--**प्रमाण** (शुद्ध ज्ञान के साधन), **विपर्यय** (त्रुटिपूर्ण धारणाएँ), **विकल्प**, **निद्रा**[२९] एवं **स्मृति**। प्रमाण तीन हैं--**प्रत्यक्ष, अनुमान** एवं **आगम** (शाब्दिक साक्ष्य)। वृत्तियों पर अधिकार

२७. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्। वृत्तिसारूप्यमितरत्र। यो० सू० (१।२-४)। कुछ अन्य ग्रन्थों द्वारा उपस्थापित योग-परिभाषाओं को भी जान लेना आवश्यक है। विषयेभ्यो निवर्त्याभिप्रेतेऽर्थे मनसोऽवस्थापनं योगः। देवल-धर्मसूत्र; वृत्तिहीनं मनः कृत्वा क्षेत्रज्ञं (ज्ञः ५।१) परमात्मनि। एकीकृत्य विमुच्येत योगोयं मुख्य उच्यते॥ दक्षस्मृति (७।१५); आत्मप्रयत्नसापेक्षा विशिष्टा या मनोगतिः। तस्या ब्रह्मणि संयोगो योग इत्यभिधीयते॥ विष्णुपुराण (६।७।३१)। इन तीनों परिभाषाओं को अपरार्क (याज्ञ० ३।१०६, पृ० ६८६) एवं कृत्यकल्प० (मोक्ष पर पृ० १६५) ने उद्धृत किया है। स्वयं अपरार्क ने कहा है--'जीव-परमात्मनोरभेदविज्ञानं विषयान्तरासम्भिन्नं योगः।'

२८. वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः। प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः। प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि। . . . अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा। अनुभूतविषयासंप्रमोषः स्मृतिः। यो० सू० १।५-७ एवं १०-११। क्लेश (अर्थात् बाधाएँ या रुकावटें) पाँच हैं--अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेशाः क्लेशाः (योगसूत्र २।३)। इस पर भाष्य इस प्रकार है--सेयं पञ्चपर्वा भवत्यविद्या अविद्यास्मिता. . . . निवेशाः क्लेशा इति। एत एव स्वसंज्ञाभिस्तमो मोहो महामोहस्तामिस्रोऽन्धतामिस्र इति। अविद्या के पाँच स्वरूप हैं, यथा--अविद्या आदि जो क्रम से मोह. . . आदि कहे जाते हैं। वाचस्पति ने इन पाँचों की व्याख्या की है। अस्मिता के विषय में उनका कथन यों है--'योगिनामष्टस्वणिमादिकेष्वैश्वर्येष्वश्रेयःसु श्रेयोबुद्धिरष्टविधो मोहः पूर्वस्माज्जघन्यः। स चास्मितोच्यते। बुद्धचरित (१२।३३) में ये भावनाएँ पायी जाती हैं--इत्यविद्या हि विद्वांसः पञ्चपर्वा समीहते। तमो मोहं महामोहं तामिस्रद्वयमेव च॥ विभिन्न प्रकार के दुःखों में निमज्जित मनुष्यों को ये कष्ट देते हैं इसी लिए उन्हें क्लेश कहा जाता है। 'अविद्यादयः क्लेशाः क्लिश्नन्ति खल्वमी पुरुषं सांसारिकं विविधदुःखप्रहारेणेति' वाचस्पति (योगसूत्र १।२४)।

२९. योगभाष्य (योगसूत्र १।१०) के अनुसार निद्रा एक विशिष्ट भावात्मक अनुभूति (प्रत्यय) है, यह केवल मन की क्रियाओं अथवा चञ्चल गतियों का अभाव मात्र नहीं है, क्योंकि जब व्यक्ति निद्रा से जागता है तो वह सोचता है--'मैं भली भाँति सोया हूँ। मेरा मन प्रसन्न है और मेरी चेतना या ज्ञान को स्पष्ट करता है।' इस प्रकार का सोचना या विचारना सम्भव नहीं होता यदि (निद्रा के समय) इस प्रकार के भाव के कारण की अनुभूति न होती। जिस प्रकार समाधि में व्यक्ति को अन्य विचारों (यथा--भ्रामक धारणाओं

प्राप्त करने के साधन हैं **अभ्यास** एवं **वैराग्य** (जो एक साथ किये जाते हैं); **अभ्यास** वह यत्न है जिसके द्वारा वृत्तियों पर नियन्त्रण करके मन को दीर्घकाल के लिए निरन्तर एवं इच्छापूर्वक शान्तिमय प्रवाह दिया जाता है और दूसरा **वैराग्य** है जो देखे हुए पदार्थों (यथा नारी, भोजन, पेय, उच्च पद आदि) पर स्वामित्व-स्थापन की चेतना (अर्थात् उनकी तृष्णा से छुटकारा पाना) तथा उन पदार्थों (यथा—स्वर्ग, वैदेह्य, प्रकृतिलयत्व आदि) से विरक्ति की भावना है।[30] वैराग्य के दो प्रकार हैं—**अपर** (यो० सू० १।१५) एवं **पर** (यो० सू० १।१६)। **पर** अर्थात् उच्च कोटि के वैराग्य में योगी (जो **स्व** एवं **गुणों** के भेद को जानता है) न केवल इन्द्रिय-पदार्थों से उत्पन्न तृष्णा से मुक्त होता, प्रत्युत वह गुणों से भी मुक्त हो जाता है और उस बाधारहित चेतना के स्तर को प्राप्त करता है जो योगी को यह अनुभूति देता है कि जो प्राप्त करना था मैंने उसे प्राप्त कर लिया है, जिन्हें नष्ट करना था उन क्लेशों (अविद्या आदि) को मैंने नष्ट कर दिया है, जन्मों एवं मरणों की शृंखला काट डाली है। भाष्य में आया है—'ज्ञान की पराकाष्ठा वैराग्य है और इससे अपृथक् रूप से कैवल्य सम्बन्धित है' (ज्ञानस्य पराकाष्ठा वैराग्यम्। एतस्यैव हि नान्तरीयकं कैवल्यमिति)। वाचस्पति का कथन है कि इस अन्तिम को 'धर्ममेघसमाधि' (यो० सू० ४।२९) कहा जाता है। प्रथम पाद के सूत्र १७ एवं १८ **सम्प्रज्ञात समाधि** (सचेत ध्यान) या **सालम्बनसमाधि, असम्प्रज्ञात समाधि** (वह ध्यान, जिसमें स्थूल एवं सूक्ष्म पदार्थों की चेतना न हो) का उल्लेख करते हैं। इनमें प्रथम के चार प्रकार हैं, यथा—**सवितर्क** (शालग्राम या चतुर्भुज भगवान् आदि स्थूल वस्तु पर ध्यान जमाना या उसकी अनुभूति करना), **सविचार** (जिसमें सूक्ष्म पदार्थों, यथा तन्मात्राओं आदि का विचार हो), **सानन्द** (जिसमें सत्त्व से पूर्ण मन का विचार हो, इसे आनन्द की समाधि कहा जाता है) एवं **सास्मितारूप** (जिसमें केवल व्यक्तिता का ही ज्ञान हो, अर्थात् जिसमें ज्ञाता ही प्रत्यक्ष का पदार्थ होता है)।[31] इन चार प्रकारों से

आदि) पर स्वामित्व-स्थापन करना होता है उसी प्रकार योगी को समाधि-प्राप्ति में बाधा के रूप में निद्रा पर भी नियन्त्रण करना होता है।

३०. अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः। तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः। स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः। दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्। तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्। योगसूत्र (१। १२-१६)। १।१५ पर भाष्य का कथन है—'स्त्रियोऽन्नपानमैश्वर्यमिति दृष्टविषये विरक्तस्य स्वर्गवैदेह्यप्रकृतिलयत्वप्राप्तावानुश्रविकवितृष्णस्य दिव्यादिव्यविषयसंप्रयोगेऽपि चित्तस्य विषयदोषदर्शिनः प्रसंख्यानबलादनाभोगात्मिका हेयोपादेयशून्या वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।' वाचस्पति ने व्याख्या की है—'अनुश्रवो वेदस्ततोऽधिगता आनुश्रविकाः स्वर्गादयः। . . . न वैतृष्ण्यमात्रं वैराग्यम् अपि तु दिव्यादिव्यविषयसंप्रयोगेऽपि चित्तस्यानाभोगात्मिका। 'दृष्ट' एवं 'आनुश्रविक' शब्दों के लिए देखिए सां० का० (२)—दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः। तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्॥ भाष्य का १।१६ पर यह कथन है—'तद्द्वयं वैराग्यम्। तत्र यदुत्तरं तज्ज्ञानप्रसादमात्रम्। . . . ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम्। एतस्यैव हि नान्तरीयकं कैवल्यमिति।' वैराग्य के दूसरे प्रकार में केवल अबाधित एवं शान्तिमय चेतना का ज्ञान (किसी भी प्रकार के पदार्थ से असम्बद्ध) पाया जाता है और उसके साथ कैवल्य (जो योग का लक्ष्य है) अविभक्त रूप से सम्बन्धित रहता है।

३१. वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात् संप्रज्ञातः। विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः। योगसूत्र (१। १७-१८)। इन दोनों को सबीज एवं निर्बीज या सालम्बन एवं निरालम्बन या सविकल्प एवं निर्विकल्प समाधि कहा

असंप्रज्ञात समाधि की उद्भूति होती है जो वृत्तियों की समाप्ति के परिणाम की द्योतक है। इस स्थिति का निरन्तर अभ्यास होता रहता है और मन में केवल हलकी प्रतिच्छायाएँ आती रहती हैं। प्रथम पाद के सूत्र १९-५१ में समाधि के विभिन्न प्रकारों, प्राप्ति के विभिन्न रूपों, योग पद्धति में ईश्वर की स्थिति, योग-साधन के नौ अन्तरायों (विघ्नों) तथा उनके साथ चलने वाले अन्य सहयोगियों, बाधाओं को दूर करने के साधनों, यथा—एक देवता पर ही ध्यान लगाना, पवित्र लोगों के प्रति मित्रता, दया, आनन्द की उत्पत्ति तथा अपवित्र लोगों के प्रति उदासीनता आदि का विवेचन किया गया है।

पातञ्जलसूत्र (१।१९-२३) में असंप्रज्ञात समाधि के लिए योगियों को नौ कोटियों में बाँटा गया है, जिन पर हम यहाँ विचार नहीं करेंगे। योगसूत्र (१।२३-२८) में ऐसी व्यवस्था है कि ईश्वर की भक्ति द्वारा भी समाधि एवं मुक्ति (समाधि का परिणाम) प्राप्त की जा सकती है।[३२] ईश्वर एक विशिष्ट पुरुष है,

जाता है। १।१८ पर भाष्य में आया है—तदभ्यासपूर्वकं हि चित्तं निरालम्बनमभावप्राप्तमिव भवतीत्येष निर्बीजः समाधिः। १।२ परभाष्य में यों आया है—स निर्बीज समाधिः। न तत्र किंचित्संप्रज्ञायत इत्यसंप्रज्ञातः। द्विविधः स योगश्चित्तवृत्तिनिरोध इति। अस्मिता पांच क्लेशों में एक है और अविद्या को शेष चार क्लेशों का आधार कहा गया है। (२।४) और २।६ में इसकी परिभाषा यों है—'अस्मिता द्रष्टा (अर्थात् व्यक्ति या आत्मा) एवं देखने के यन्त्र (अर्थात् बुद्धि) की समानुरूपता है।' यह कुछ विलक्षण-सा है कि अस्मिता को समाधि का एक प्रकार कहा गया है। सम्भवतः यहाँ पर 'अस्मिता' का अर्थ है 'मैं हूँ' की अर्थात् व्यक्तिता की चेतना। यह अवलोकनीय है कि बौद्ध ग्रन्थों में संप्रज्ञातसमाधि के चार प्रकारों के समानान्तर विचार पाये जाते हैं (मज्झिमनिकाल, जिल्द १, पृ० २१-२२, (ट्रेंकनर संस्करण, १८८८)।

३२. ईश्वरप्रणिधानाद्वा। क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः। तत्र निरतिशयं सर्वज्ञत्वबीजम्। स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। तस्य वाचकः प्रणवः। तज्जपस्तदर्थभावनम्। ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च। योगसूत्र (१।२३-२९)। व्यासभाष्य द्वारा 'ईश्वरप्रणिधान' की व्याख्या दो प्रकार से की गयी है—(१) भक्ति-विशेष (१।२३ पर) एवं (२) परमगुरु को सभी क्रियाओं का अर्पण या सभी क्रियाओं (कर्मों) के फलों का त्याग अथवा संन्यास (ईश्वरप्रणिधानं सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणं तत्फलसंन्यासो वा, २।१ की टीका में)। भावागणेशवृत्ति ने इस पर ब्रह्मार्पण के अर्थ के लिए कूर्मपुराण उद्धृत किया है—'नाहं कर्ता सर्वमेवैतद् ब्रह्मैव कुरुते तथा। एतद् ब्रह्मार्पणं प्रोक्तमृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः॥' योगसूत्र (१।२२-२३ एवं २।४५) का कथन है कि ईश्वरभक्ति द्वारा समाधि की प्राप्ति शीघ्र हो सकती है। यह द्रष्टव्य है कि बृहद्योगियाज्ञवल्क्य (लोनावाला, कैवल्यधाम द्वारा प्रकाशित) ने, ऐसा प्रतीत होता है, योगसूत्र के १।२४, २८-२९ को श्रुति के रूप में निम्नलिखित श्लोकों में रखा है—क्लेशकर्मविपाकैश्च वासनाभिस्तथैव च। अपरामृष्टमेवाहु पुरुषं ह्रीश्वरं श्रुतिः॥ वाच्यो यज्ञेश्वरः (वाच्यः स ईश्वर ?) प्रोक्तो वाचकः प्रणवः स्मृतः। वाचकेन तु विज्ञातो वाच्य एव प्रसीदति॥ तदर्थं प्रणवं जप्यं ध्यातव्यं सततं बुधैः। ईश्वरः पुरुषाख्यस्तु तेनोपास्तुः प्रसीदति॥ बहद्योगि० (२।४३-४५)। योगसूत्र (१।२८) की व्याख्या में भाष्य ने यों कहा है—'तदस्य योगिनः प्रणवं जपतः प्रणवार्थं च भावयतश्चित्तमेकाग्रं सम्पद्यते।' तथा वाचस्पति ने 'भावनम्' का अर्थ 'पुनः पुनश्चित्ते निवेशनम्' के रूप में किया है। 'ओम्' की प्रशंसा के विषय में देखिए इस महाग्रन्थ का मूल खण्ड २, पृ० ३०१-३०२, जहाँ 'जप' (धीरे-धीरे या केवल मन में कहना) का उल्लेख है; और देखिए मनु (२।८५-८७), विष्णुधर्मसूत्र

वह क्लेशों, कर्म (अच्छे या बुरे) या कर्म-परिणामों, तृष्णाओं से अछूता है। उसमें सर्वज्ञता (जो अन्य लोगों में थोड़ी-सी होती है) असीम होती है। वह काल से घिरा नहीं है, वह प्राचीन गुरुओं का भी आचार्य है। उसका वाचक प्रणव (ओम्) है। उस ओम् के जप करने और उसके अर्थ पर निरन्तर रूप से भावना करने से एकाग्रता की प्राप्ति होती है। ईश्वर-भक्ति से योगी आत्मा के स्वरूप का सम्यक् ज्ञान एवं मन को चञ्चल करने वाले अन्तरायों (बाधाओं) का अभाव पाता है (१।२९)। ये बाधाएँ या अन्तराय ९ हैं, यथा—रोग, आलस्य, भ्रम आदि, और इन्हें **योगमल** एवं **योगप्रतिपक्ष** (योगशत्रु) कहा जाता है। इन अन्तरायों से पीड़ा, मानसिक कष्ट, शरीर-कम्पन, श्वास-प्रश्वास की अनियमितता की उत्पत्ति होती है (१।३१)। इन अन्तरायों एवं उनके साथ चलने-वाले तत्वों को, जो समाधि के लिए शत्रु-स्वरूप हैं, कई प्रकारों एवं ढंगों से रोका जा सकता है, यथा—ईश्वर या किसी अन्य देवता का ध्यान करने से, मित्रता, करुणा, प्रसन्नता एवं उदासीनता द्वारा, जो क्रम से प्रसन्न या दुःखित, अच्छे एवं बुरे (१।३३) के प्रति प्रदर्शित की जाती हैं, या प्राणायाम द्वारा। जब चित्त एकाग्र हो जाता है तो संप्रज्ञात समाधि के चार प्रकारों (यथा सवितर्क आदि, १।१७) का उदय होता है। संप्रज्ञात समाधि के अन्तिम प्रकार (सास्मितारूप) से जिस ज्ञान की उद्भूति होती है वह शास्त्र या अनुमान से प्राप्त ज्ञान से अधिक श्रेष्ठ है, और इस समाधि में जो प्रतिच्छाया बनती है वह अन्य प्रतिच्छायाओं के विपरीत होती है और जब यह अन्तिम अनुभूति भी समाप्त हो जाती है या दमित हो जाती है तो निर्बीज समाधि (असंप्रज्ञात समाधि) की उद्भूति होती है। इस अन्तिम स्थिति में स्वयं मन अपना कार्य बन्द कर देता। और योगी का आत्मा स्वयं में (निज स्वरूप में) निवास करने लगता है, अपने प्रकाश से ही प्रकाशित हो उठता है और शुद्ध, केवल (सबसे पृथक्) एवं मुक्त कहलाता है।[33] ईश्वरप्रणिधान ईश्वर से साक्षात्कार नहीं कराता, प्रत्युत यह आत्मा को इस योग्य बनाता है कि वह ईश्वर के समान हो जाय। योगसूत्र में ईश्वर की भक्ति के विषय में बहुत कम उल्लेख हुआ है।

योगसूत्र का प्रथम पाद समाधि एवं मुक्ति के विवेचन के साथ समाप्त होता है, अर्थात् यह उस व्यक्ति के लिए, जो ध्यान में सफल होता है, योग का वर्णन करता है। द्वितीय पाद उस व्यक्ति के लिए, जिसका मन ध्यान में प्रयुक्त नहीं होता, प्रत्युत चंचल रहता है, विमोहित रहता है या व्युत्थित (संक्षुब्ध या विक्षिप्त) रहता है, और जो विधि को सीखने की इच्छा रखता है, एक प्रणाली (विधि) उपस्थित करता है। यह पाद आज के भारतीय एवं पश्चिमी विद्यार्थियों के लिए चार पादों में अत्यन्त महत्वपूर्ण है और इसने धर्मशास्त्र के ग्रन्थों को अधिक प्रभावित किया है। योग की मौलिक भावना यह है कि आत्मा वास्तविक, नित्य एवं शुद्ध होता है, किन्तु यह भौतिक विश्व में आसक्त रहता है और यद्यपि यह नित्य है तथापि अनित्य अर्थात् नाशवान् पदार्थों के पीछे पड़ा

(५१।१९), वसिष्ठ (२६।९)। और देखिए इस महाग्रन्थ का मूल खण्ड २, पृ० ६८६। माण्डूक्योपनिषद् ने, जिसमें शंकराचार्य के अनुसार वेदान्त का सारतत्त्व पाया जाता है (वेदान्तार्थसारसंग्रहभूत), 'ओम्' का विवेचन किया है। उपनिषदों में एवं उनके पूर्व 'ओम्' अखिल विश्व एवं इन्द्रियातीत ब्रह्म का प्रतीक था और उसका आध्यात्मिक उपयोग होता था। योग ने इसका प्रयोग उपनिषदों से लिया और इसे ध्यान के मनोविज्ञान का साधन बनाया। मिलाइए माण्डूक्योपनिषद् (२।२।४)—'प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते। अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥'

३३. तस्मिन् (चित्ते) निवृत्ते पुरुषः स्वरूपमात्रप्रतिष्ठोऽतः शुद्धः केवलो मुक्त इत्युच्यते। भाष्य (यो० सू० १।५१—तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः)।

रहता है। पतञ्जलि एक महान् मनोवैज्ञानिक थे। लक्ष्य स्थापित (अविद्या एवं गुणों से आत्मा को पृथक् रखकर कैवल्य प्राप्त करना तथा आत्मा के अपने शुद्ध स्वभाव की प्राप्ति) हो जाने के उपरान्त योगसूत्र उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए एक दृढ अनुशासन की व्यवस्था करता है।

फ्रायड जैसे आधुनिक मनोवैज्ञानिकों की स्थापनाओं एवं पतञ्जलि की धारणाओं में दो मौलिक अन्तर हैं।[३४] पहली बात यह है कि पतञ्जलि बन्धन से मुक्त आत्मा की मुक्ति एवं स्वतन्त्रता पर सम्पूर्ण बल देते हैं, सामान्य संवेगों एवं इच्छा को प्रशिक्षित करने के साधनों एवं कतिपय आरम्भिक उपक्रमों या परिपाटियों के रूप में मन की क्रियाओं के निग्रह की व्यवस्था बतलाते हैं, किन्तु कतिपय आधुनिक मनोवैज्ञानिक इस प्रकार के मानस दमन की भर्त्सना करते हैं। दूसरी बात यह है कि पतञ्जलि **कर्म** एवं **आवागमन** के सिद्धान्त (२।१२--१५) में पूर्ण विश्वास करते हैं और मत प्रकाशित करते हैं कि ऐसे सत्कर्म भी, जो सुख एवं आनन्द से परिपूर्ण भावी जीवन की उत्पत्ति करते हैं, सद्बुद्ध लोगों के लिए कष्टकारक हैं, किन्तु आधुनिक मनोवैज्ञानिक कतिपय मौलिक प्रवृत्तियों की चर्चा करते हैं और उनके वास्तविक रूप के विवेचन में एकमत नहीं हो पाते, वे कर्म एवं आवागमन के सिद्धान्त पर विचार नहीं करते और न उनके एवं सहज मूल प्रवृत्तियों के सम्बन्ध पर ही प्रकाश डालते हैं। यदि आत्मा की पूर्व-स्थिति नहीं होती, जैसा कि ईसाई एवं अन्य लोग विश्वास करते हैं, तो मानवीय मूल प्रवृत्तियों का उदय कैसे होता है? इस प्रश्न का समीचीन एवं सन्तोषप्रद उत्तर आज तक नहीं प्राप्त हो सका है।

द्वितीय पाद के प्रथम सूत्र का कथन है कि क्रियायोग या ऐसी क्रियाएँ या अभ्यास, जो योग की प्राप्ति के लिए आवश्यक हैं, ये हैं---**तप**[३५], **स्वाध्याय** एवं **ईश्वरप्रणिधान** (ईश्वर-भक्ति) जो कार्यरूप में परिणत

३४. फ्रायड ने काम (मिथुन)-सम्बन्धी शक्ति को 'लिबिडो' की संज्ञा दी है। युंग ने, जो एक समय फ्रायड के शिष्य थे, अपना विरोध प्रकट किया है और उस शक्ति को सभी मानसिक, मानस-दैहिक या क्रियात्मक शक्ति के लिए प्रयुक्त माना है। 'इडिपस काम्प्लेक्स' (पुत्र का माता पर एवं पुत्री का पिता पर असाधारण प्रेम) के सिद्धान्त को फ्रायड-प्रणाली का केन्द्र-बिन्दु माना जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि आगे चलकर फ्रायड ने अपने 'इडिपस काम्प्लेक्स' को परिमार्जित किया, और यद्यपि उन्होंने ऐसी परिकल्पना की कि इडिपस काम्प्लेक्स सभी शिशुओं में पाया जाता है, किन्तु उन्हें यह स्वीकार करना पड़ा कि स्वाभाविक विकास में यह काम्प्लेक्स (ग्रन्थि या गाँठ) आगे के आरम्भिक बचपन में समाप्त हो जाता है। देखिए विलियम मैक्डूगल कृत 'एन आउट लाइन आव ऐबनॉर्मल साइकॉलोजी' (लन्दन, १९५२ का संस्करण, पृ० ४१८)।

प्रो० जे० बी० वाट्सन ने 'बिहेवियरिज्म' का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है, जो मन या मानस आचरणों, झुकावों एवं वृत्तियों के अस्तित्व को अमान्य ठहराता है। इस मत के अनुसार मनोविज्ञान का विषय 'मन' नहीं है प्रत्युत वह मानव प्राणी का आचरण या क्रियाएँ है। इस मत के अनुसार मूल प्रवृत्तियों (इंस्टिंक्ट्स) की धारणा, जिस पर अधिकांश मनोवैज्ञानिक मानस व्याख्याएँ उपस्थित करते हैं, निरर्थक सिद्ध हो जाती है।

३५. तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः। समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च। अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः। योगसूत्र (२।१-३)। धर्मशास्त्र-ग्रन्थों तथा अन्य ग्रन्थों में 'तप' की कतिपय परिभाषाएँ दी हुई हैं। 'तपस्' शब्द एक दर्जन से अधिक बार ऋग्वेद में प्रयुक्त हुआ है। देखिए ऋ० (६।५।४, ८।५९।६, ८।६०।१९, १०।१६।४, १०।८७।१४) जहाँ सभी स्थानों पर 'तपस्' शब्द का अर्थ उष्णता हो सकता है। किन्तु ऋ० १०।१०९।४, १०।१५४।२, ४ (पितॄन् तपस्वतः), ५ (ऋषीन् तपस्वतः), १०।१८३।१, १०।१९०।१ में

किये जाने पर समाधि की उत्पत्ति करते हैं, उन क्लेशों को कम करते हैं जो **अविद्या** (अज्ञान, जिससे अन्य चारों की उत्पत्ति होती है), **अस्मिता** (व्यक्तित्व का भाव), **राग** (वासनाओं के प्रति मोह), **द्वेष** (जो क्रोधपूर्वक पीड़ा एवं उसके कारणों में पाया जाता है) एवं **अभिनिवेश** (जीने की इच्छा या जीवन से चिपकना) के रूप में प्रकट होते हैं। व्यासभाष्य में तप की व्याख्या (यो० सू० २।३२) द्वन्द्वों को सह लेने के रूप में हुई है, यथा—भूख एवं प्यास, शीत एवं उष्ण, खड़ा रहना एवं बैठा रहना; स्थाणु (थून्ही) की भाँति स्थिर रहना (संकेतों द्वारा भी मन में उठती भावनाओं को न व्यक्त करना), देह की स्थिरता (सर्वथा मौन रहना) तथा कृच्छ्, चान्द्रायण एवं सान्तपन जैसे व्रत भी तप में परिगणित होते हैं।

व्यासभाष्य ने 'स्वाध्याय' की व्याख्या की है और कहा है कि यह ओम् एवं अन्य पवित्र वचनों का जप

'तपस्' का अर्थ है 'तपस्या, वैराग्य या दैहिक संयम।' तपसा येऽनाधृष्यास्तपसा ये स्वर्ययुः। तपो ये चक्रिरे महस्तांश्चिदेवापि गच्छतात्। ऋ० १०।१५४।२ (यह मृत व्यक्ति के आत्मा को सम्बोधित है)—'जो तपों के कारण दुष्प्रधर्ष (अधृष्य, अर्थात् जिन पर आक्रमण नहीं किया जा सकता) हैं, जो तपों के कारण स्वर्ग को गये और जिन्होंने महान् तप किये उन्हें मिला दो।' अन्य ज्ञात लोगों की अपेक्षा भारतीयों में ही सर्वप्रथम तप पर इतना बल दिया गया। ऋ० (१०।१९०।१) में आया है कि उचित (न्याय्य) एवं सत्य तथा सूर्य एवं चन्द्र और विश्व तपों से ही उत्पन्न हुए हैं। ऋ० (१०।१०९।४) में सप्तर्षियों को तपस्या के लिए बैठे हुए कहा गया है। ऋ० (१०।१३६।२) में मुनियों को लम्बी-लम्बी जटा वाले एवं गन्दे पीत वस्त्र पहने मार्गों पर चलते हुए व्यक्त किया गया है। शतपथब्राह्मण (६।१।१।१३) एवं ऐतरेयब्राह्मण (११।६।४) में ऐसा व्यक्त किया गया है कि यज्ञ के समान तप सब कुछ प्रदान करेगा। उपनिषदों (यथा—तै० उप० ३।५—'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व', बृह० उप० ४।४।२२) ने बलपूर्वक कहा है कि तप ब्रह्मज्ञान के साधनों में एक साधन है। छान्दोग्योपनिषद् (२।२३) ने तप को तीन धर्मस्कन्धों में दूसरा स्थान दिया है। आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।२।५।१) में ऐसा कहा गया है कि वैदिक विद्यार्थियों के लिए जो कठोर व्रत या नियम व्यवस्थित किये गये हैं, वे तप कहे जाते हैं (नियमेषु तपःशब्दः)। गौतमधर्मसूत्र (१९।१५) ने व्यवस्था दी है कि काम-सम्बन्धी शुद्धता, सत्यता दिन में तीन बार स्नान, गीला वस्त्र-धारण, यज्ञिय भूमि पर शयन एवं उपवास तप कहे जाते हैं, मनु० (१०।७०) ने व्यवस्था दी है कि यदि व्यवस्थित नियमों के अनुसार एवं सात व्याहृतियों एवं प्रणव के साथ तीन प्राणायाम सम्पादित किये जायं तो वे सभी ब्राह्मणों के लिए सर्वोत्तम तप हैं। मनु० (११।२३४-२४४) में तपों की बड़ी सुन्दर स्तुति की गयी है, श्लोक २३८ में आया है—'तप द्वारा सभी कुछ सम्पादित हो सकता है, क्योंकि तप में दुर्जेय शक्ति पायी जाती है। याज्ञ० (१।१९८-२०२) ने भी तप की प्रभूत महत्ता गायी है। जैमिनि (पू० मी० सू० ३।८।९) में 'उपवास' के लिए 'तपस्' शब्द का प्रयोग किया गया है। महाभारत में भी तप की प्रशंसा की गयी है, देखिए—वनपर्व २५९।१३।१७, शान्ति० ५।१२ (देवों एवं मुनियों ने तप द्वारा अपना स्थान प्राप्त किया)। अनुशासन (१२२।५-११)। शान्ति० (७९।१८) में यों आया है—'अहिंसा सत्यवचनमानृशंस्यं दमो घृणा। एतत्तपो विदुर्धीरा न शरीरस्य शोषणम्॥ यहाँ पर महाभारत के सभी श्लोक चित्रशाला प्रेस के संस्करण से लिये गये हैं। योगियों से 'अजपा जप' करने को कहा गया है, अर्थात् जब वे भीतर साँस लेते हैं तो 'सोहं' ध्वनि होती है और जब वे साँस बाहर करते हैं तो 'हंसः' ध्वनि, तथा मिश्रित शब्द हैं 'सोहं हंसः' अर्थात् 'मैं वह हंस (नित्य आत्मा) हूँ।' मिलाइए बृहद्योगियाज्ञवल्क्य (२।११५)—'हंसं तुर्यं परं ब्रह्म।'

या मोक्षशास्त्रों का अध्ययन है।[३६] शतपथब्राह्मण (११।५।७) में स्वाध्याय की प्रशंसा की गयी है और 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' (वेद का अध्ययन करना चाहिए) जैसे शब्दों का प्रयोग बहुधा हुआ है। 'ओम्' उन प्रतीकों में अत्यन्त महत्वपूर्ण है जिनके द्वारा ब्रह्म की उपासना की जाती है। देखिए छान्दोग्योपनिषद् (१।१।१ 'ओमित्येदक्षरमुद्गीथमुपासीत'), तै० उप० (१।८ 'ओमिति ब्रह्म ओमितीदं सर्वम्), मुण्डकोपनिषद् (२।२।४ 'प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते', अर्थात् 'ओम् धनुष है, आत्मा तीर है, ब्रह्म लक्ष्य है), प्रश्न उप० (५।५ 'यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत)। योगसूत्र ने ओम् की यह महत्ता उपनिषदों से ली है। अनित्य को नित्य, अशुद्ध को शुद्ध, क्लेश (पीड़ा) को आनन्द एवं अनात्मा को आत्मा समझना **अविद्या** है। जब द्रष्टा को देखने के यन्त्र के अनुरूप (यथा मन एवं इन्द्रियों के अनुरूप) समझा जाता है तो **अस्मिता** (अर्थात् व्यक्तिता की अनुभूति) होती है। **अभिनिवेश** (जीवन से चिपके रहना) का अर्थ है ऐसी कांक्षा या ईहा (क्या मैं जीना नहीं चाहता, क्या मैं जीता रहूँगा?) जो अपनी शक्ति से ही बढ़ती रहती है और विद्वानों में भी उसी रूप से स्थापित रहती है। ईश्वरप्रणिधान की व्याख्या ऊपर हो चुकी है। योगसूत्र (२।११ एवं १२) का कथन है कि क्लेशों की सूक्ष्म दशाएँ (अर्थात् अविद्या एवं अस्मिता) होती हैं और वृत्तियों के रूप में (मन की चंचलता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश) स्थूल परिणाम होते हैं; सूक्ष्म दशाओं से छुटकारा वास्तविक ज्ञान से होता है और स्थूल परिणाम ध्यान से नियन्त्रित होते हैं। **कर्म** का सञ्चित संग्रहण पाँच क्लेशों से उत्पन्न होता है, उनका भोग दृष्ट जन्म (वर्तमान जन्म) एवं अदृष्ट जन्म (अर्थात् भविष्य) में होता है। जब तक जड़ (मूल अर्थात् क्लेश) विद्यमान रहती है संचित कर्म तीन रूपों में प्रकट होता है, अर्थात् जन्म, जीवन (लम्बा या छोटा) एवं भोग के रूप में, और ये तीनों रूप अच्छे या बुरे कर्मों के अनुसार क्रम से आनन्द या क्रोध की उत्पत्ति करते हैं। योगसूत्र में आया है कि योगशास्त्र में चिकित्साशास्त्र की भाँति चार व्यूह (स्वरूप) होते हैं, यथा—**संसार** (जन्मों एवं पुनरागमन का चक्र), संसार का **कारण**, संसार से **मुक्ति**, मुक्ति के **साधन** (सम्यक् दर्शन, वास्तविकता में पहुँच अथवा त्रुटिपूर्ण ज्ञान से रहित पुरुष एवं प्रकृति में अन्तर्भेद करना)।[३७] योगसूत्र

३६. स्वाध्यायः प्रणवादिपवित्राणां जपो मोक्षशास्त्राध्ययनं वा। योगसूत्र (२।१)। गौतमधर्मसूत्र (१९। १२ = बौधायनधर्मसूत्र ३।१०।१०, वसिष्ठ० २२।९) ने उपनिषदों, वेदान्त एवं कुछ वैदिक वचनों को पवित्र वचन (या वाक्य) की संज्ञा दी है जिनके जप से व्यक्ति पापों का प्रायश्चित्त करता है। वसिष्ठधर्मसूत्र (२८।१०-१५ = विष्णुधर्मसूत्र ५६, गद्य में = शंखस्मृति १०।१२ एवं अध्याय ११) ने सभी वेदों के पवित्र वचनों (पवित्राणि) को उल्लिखित किया है। 'प्रणव' शब्द तैत्तिरीयसंहिता (३।२।९।५-६) में आया है— 'उद्गीथ एवोद्गातॄणामृचः प्रणव उक्थशंसिनाम्', जिसे शबर (पू० मी० सू० ३।७।४२) ने उद्धृत किया है।

३७. यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहम्—रोगो रोगहेतुरारोग्यं भैषज्यमिति, एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहमेव तद्यथा—संसारः संसारहेतुः मोक्षः मोक्षोपायः इति। तत्र दुःखबहुलः संसारो हेयः। प्रधानपुरुषयोः संयोगो हेयहेतुः संयोगस्यात्यन्तिकी निवृत्तिर्हानम्। हानोपायः सम्यग्दर्शनम्। योगभाष्य (यो० सू० २।१५ पर)। हेयं दुःखमनागतम्। द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः। . . . तस्य हेतुरविद्या। तदभावात्संयोगाभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम्। विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः। योगसूत्र (२।१६, १७, २४-२५)। मिलाइए बुद्ध के चार आर्य सत्य—दुःख, दुःखसमुदय, दुःखनिरोध, दुःखनिरोधगामिनी पटिपदा, देखिए महावग्ग (१।६।१९-२२)। वाचस्पति के अनुसार 'विप्लव' का अर्थ है मिथ्याज्ञान।

(२।१६-२७) में इन चारों का उल्लेख है और इनकी परिभाषा में दिये गये कुछ शब्दों का अर्थ भी बताया गया है। सूत्र २८ में कहा गया है कि जब योग के अंगों के अभ्यास से अशुद्धियाँ दूर होती जाती हैं तो ज्ञान चमकने लगता है और इस प्रकार क्रमशः अन्तर्भेद करने की शक्ति पूर्णता प्राप्त कर लेती है। इसके उपरान्त २९वें सूत्र में योग के आठ अंगों का उल्लेख है, यथा—**यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान** एवं **समाधि**।[३८] वैखानसस्मार्तसूत्र ने योग के आठ अंगों का उल्लेख किया है। द्वितीय पाद के शेष सूत्र (३० से ५५ तक) यमों एवं नियमों, उनकी व्याख्याओं, आसनों, प्राणायाम एवं प्रत्याहार का उल्लेख करते हैं। शान्ति० (३०४।७=३१६।७, चित्रशाला प्रेस संस्करण) ने योग को 'अष्टगुणित' या 'अष्टगुणी' कहा है। योग के आठ अंगों में प्रथम पाँच अप्रत्यक्ष रूप से समाधि के लिए उपयोगी हैं, क्योंकि वे समाधि-विरोधी (यथा—हिंसा, असत्य आदि) वृत्तियों को दूर भगाते हैं और योग के **बहिरंग साधन** कहे जाते हैं। किन्तु **धारणा, ध्यान** एवं **समाधि** योग के **अन्तरंग साधन** कहे जाते हैं (योगसूत्र ३।७, 'त्रयमन्तरंगं पूर्वेभ्यः')। अन्तिम तीन का विवेचन तृतीय पाद में हुआ है। **धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में द्वितीय पाद के इन्हीं सूत्रों पर बल दिया गया है।** अतः इन बातों पर कुछ अधिक लिखना आवश्यक है।

कुछ ग्रन्थों (यथा—गोरक्षसंहिता) में योग के केवल छह अंगों का उल्लेख है, वहाँ यम एवं नियम या कुछ अन्य छोड़ दिये गये हैं। यही बात मैत्रायणी उप० (६।१८), ध्यानबिन्दु उप०, अत्रिस्मृति (११।६), दक्ष० (७।३४), स्कन्दपुराण (काशीखण्ड, ४१।५६) एवं बौद्धों में पायी जाती है।[३९] मनु० (४।२०४) में आया

३८. योगांगानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः। यम-नियमासन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधयोऽष्टावंगानि॥ यो० सू० (२।२८-२९)। २।२९ पर भाष्य यों है—'तेषाम् (योगांगानाम्) अनुष्ठानात् पञ्चपर्वणो विपर्ययस्याशुद्धिरूपस्य क्षयो नाशः।..यथा यथा च साधनान्यनुष्ठीयन्ते तथा तथा तनुत्वमशुद्धिरापद्यते यथा यथा च क्षीयते तथा तथा क्षयक्रमानुरोधिनी ज्ञानस्यापि दीप्तिर्वर्धते। सा खल्वेषा विवृद्धिः प्रकर्षमनुभवत्याविवेकख्यातेः, आगुणपुरुषस्वरूपविज्ञानादित्यर्थः।' योगसूत्र (२।३) में उल्लिखित पाँच क्लेश ही विपर्यय कहे जाते हैं। यह विलक्षण बात है कि कृत्यकल्प० (मोक्षकाण्ड, पृ० १६७) एवं अपरार्क० (पृ० १०२२) द्वारा आठ अंग 'यम... समाधयोऽष्टावंगानि' महाभारत से उद्धृत किये गये हैं। वैखानसस्मार्तसूत्र (८।१०) ने योगियों को, उनके अभ्यासों एवं संयमों के अनुसार, तीन श्रेणियों में बाँटा है, यथा—सारंग, एकार्ध्य एवं विसरग, जिनमें प्रत्येक पुनः कई कोटियों में बाँटे गये हैं। उसमें पुनः आया है कि 'अनिरोधक' नामक योगी प्राणायाम नहीं करते, 'मार्गग' नामक योगी केवल प्राणायाम करते हैं, शेष तथा 'विमार्गग' नामक योगी सभी आठ अंगों का अभ्यास करते हैं, किन्तु वे ईश्वर का ध्यान नहीं भी करते। मौलिक शब्द ये हैं—'ये विमार्गगास्तेषां यमनियम...त्यष्टांगं कल्पयन्तो ध्येयमप्यन्यथा कुर्वन्ति।' अन्तिम अंश का अर्थ करना कठिन है। सम्भवतः इस वाक्य में कुछ ऐसी कोटि के योगियों का उल्लेख है जो ईश्वर का ध्यान नहीं करते और ऐसा विश्वास करते हैं कि बिना ईश्वर का ध्यान किये वे कैवल्य (मुक्ति) प्राप्त कर सकते हैं।

३९. तथा तत्प्रयोगकल्पः। प्राणायामः प्रत्याहारो ध्यानं धारणा तर्कः समाधिः षडंग इत्युच्यते योगः। मैत्रा० उप० (२।१८)। अत्रिस्मृति (९।६) एवं दक्षस्मृति ने भी ऐसा ही उल्लेख किया है। 'आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा। ध्यानं समाधिरेतानि योगांगानि भवन्ति षट्॥' ध्यानबिन्दु उप० (श्लोक ४१, अडयार संस्करण), गोरक्षशतक (१।४) एवं स्कन्दपु० (काशीखण्ड ४१।५६)। अपरार्क (याज्ञ० ३।११०, पृ० ९९०) ने एक

है—'विज्ञ व्यक्ति को सदैव यमों का भी पालन करना चाहिए, केवल नियमों का ही पालन नहीं होना चाहिए; जो व्यक्ति केवल नियमों का पालन करता है और यमों का नहीं, वह पाप करता है (अर्थात् नरक में पड़ता है)।' इसका अर्थ यह नहीं है कि नियम वर्जित हैं, प्रत्युत यह कहा गया है कि यम नियमों से अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। शान्ति० (३२६।१५ = ३३९।१६ चित्रशाला प्रेस संस्करण) में 'यम' एवं 'नियम' दोनों का उल्लेख हुआ है। कुछ स्मृतियाँ उन्हें योग के अंगों के रूप में छोड़ देती हैं, क्योंकि वे मनु० याज्ञ० आदि द्वारा सामान्यतः सभी लोगों के लिए व्यवस्थित किये गये हैं। मनु यमों एवं नियमों को गिनाते नहीं, किन्तु याज्ञ० ने दस यमों एवं दस नियमों का उल्लेख किया है (याज्ञ० ३।३१२–३१३)। देखिए ऊपर पाद-टिप्पणी २३। योगसूत्र के पाँच यम ये हैं—**अहिंसा, सत्य, अस्तेय** (न चुराना, अर्थात् जो शास्त्रविहित न हो उसे दूसरों से न लेना), **ब्रह्मचर्य** (अन्य ज्ञानेन्द्रियों के साथ जननेन्द्रिय पर नियन्त्रण रखना) एवं **अपरिग्रह** (शरीर की रक्षा के लिए जितना आवश्यक हो उससे अधिक किसी अन्य से न प्राप्त करना)। जब ये जाति, देश, काल एवं अवसरों की चिन्ता (परवाह) न करके किये जाते हैं (अर्थात् अभ्यास या प्रयोग में लाये जाते हैं) तो ये योगी के लिए **महाव्रत** कहे जाते हैं। जैसा कि मनु का कथन है, यमों का पालन सबको करना है, किन्तु कुछ अपवाद भी हैं। यमों का पालन **व्रत** है किन्तु उनका कठोर पालन (बिना किसी अपवाद के) **महाव्रत** कहलाता है, जिसे योगी लोग सभी दशाओं में बिना किसी अपवाद के करते हैं। यमों एवं नियमों का पालन कैवल्य या मुक्ति की प्राप्ति के लिए पहला सोपान है, क्योंकि जब तक आत्मा सभी प्रकार की कामजनित एवं अहंभावी इच्छाओं से दूर हो शुद्ध नहीं हो पाता तब तक वह उस दिव्य या आध्यात्मिक जीवन को नहीं प्राप्त कर सकता जिसकी योग की उच्चतर दशा में आवश्यकता होती है। इसका क्या तात्पर्य है, इसे हम अधोलिखित ढंग से समझ सकते हैं—सामान्य लोगों के लिए इन बातों में स्मृतियाँ कुछ छूट देती हैं। उदाहरणार्थ, क्षत्रिय का कर्तव्य है युद्ध करना और मनु (७।८७, ८९) ने इसी से व्यवस्था दी है कि क्षत्रिय को युद्धस्थल से भाग नहीं आना चाहिए और वे क्षत्रिय जो दोनों पक्षों में लड़ाई करते हैं और ऐसा करते हुए मर जाते हैं, वे स्वर्ग में पहुँचते हैं। और देखिए याज्ञ० (१।३२४)। अतः क्षत्रिय के लिए हिंसा की अनुमति है, किन्तु यदि कोई क्षत्रिय योग का अनुसरण करना चाहता है तो उसे हिंसा का परित्याग करना पड़ता है। इसी प्रकार स्मृतियों ने पाँच अवसरों पर असत्य-भाषण क्षम्य ठहराया है (गौतम २३।२९, वसिष्ठ १६।३६, आदिपर्व ८२।१६, शान्ति० ३४।२५ एवं १६५।३०, और देखिए इस महाग्रन्थ का मूल खण्ड ३, पृ० ३५३ एवं पाद-टिप्पणियाँ ५३६ एवं ५३७)। मनु (४।१३८) ने सामान्य लोगों के लिए एक छूट दी है—'अप्रिय सत्य नहीं बोलना चाहिए' (न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्)। किन्तु जो योग के अनुशासन में आता है उसे सदा सत्य बोलना चाहिए, केवल एक अपवाद यह है कि सत्य बोलने से प्राणियों का नाश न हो। मिताक्षरा (याज्ञ० ३।३१२) में आया है कि विवाह पक्का कराने में असत्य भाषण (जो स्मृतियों द्वारा क्षम्य माना गया है) का त्याग करना चाहिए, तथा व्रतधारी व्यक्ति को चाहिए कि वह पुत्र या शिष्य को दण्डित न करे। याज्ञ० (१।७९) एवं मनु (४।१२८) में आया है कि वह

स्मृति को उद्धृत करते हुए योग के ६ अंग (यम, नियम एवं आसन छोड़ दिये गये हैं और तर्क जोड़ दिया गया है) दिये हैं। बृहद्योगियाज्ञवल्क्य (९।३५) एवं लिंगपुराण (१।८।८-९) ने आठ अंगों का उल्लेख किया है। अपरार्क० (पृ० ९९०) ने व्याख्या की है—'ततो मनोबुद्धिपरित्यागेनात्मनि विमर्शस्तर्कः।' वायुपुराण (१०। ७६) ने पाँच के नाम दिये हैं—प्राणायाम, ध्यान, प्रत्याहार, धारणा एवं स्मरण।

गृहस्थ जो मासिक धर्म के उपरान्त कुछ विशिष्ट दिनों में अपनी पत्नी के पास जाता है और पर्व के दिनों में ऐसा नहीं करता (देखिए इस महाग्रन्थ का मूल खण्ड ३, पाद-टिप्पणी १४२५), उसे ब्रह्मचर्य व्रत का पालक कहना चाहिए, किन्तु जब वह योगमार्ग पर आरूढ होता है तो उसे यह छूट छोड़ देनी होगी और सभी प्रकार की नारियों से, यहाँ तक कि अपनी पत्नी से भी, सभी प्रकार के सम्बन्ध छोड़ देने होंगे। इस बात पर लिंगपुराण ने बहुत बल दिया है।[४०] युक्तिदीपिका ने, जो सांख्यकारिका की एक प्राचीनतम टीका है, उल्लिखित किया है कि यम पाँच हैं, किन्तु उसने 'अपरिग्रह' के स्थान पर 'अकल्कता' (दुष्टता अथवा वक्र व्यवहार का अभाव) रखा है। विष्णु पु० (६।७।३६-३७) ने पाँच यमों एवं पाँच नियमों का वैसा ही उल्लेख किया है, किन्तु 'ईश्वरप्रणिधान' के स्थान पर 'परब्रह्म में संलग्न मन' को रखा है (कुर्वीत ब्रह्मणि तथा परस्मिन् प्रवणं मनः)। योगसूत्र (२।३२) के अनुसार पाँच नियम ये हैं—**शौच** (शुद्धता), **सन्तोष, तप, स्वाध्याय** (वेदाध्ययन) एवं **ईश्वरप्रणिधान** (ईश्वर-भक्ति या अपने सभी कर्मों का ईश्वर को समर्पण)। इनमें तीन, यथा—तपस्या, स्वाध्याय एवं ईश्वरप्रणिधान को **क्रियायोग** कहा जाता है, जैसा कि योगसूत्र (२।१) में उल्लिखित है। कर्तव्य की वस्तुगत परिभाषा करना अत्यन्त कठिन है, किन्तु आत्मगत आधार पर इसकी परिभाषा की जा सकती है। कर्तव्यों पर बल देने का उद्देश्य यह है कि व्यक्ति छोटी-छोटी इच्छाओं से ऊपर उठे और उच्चतर व्यक्तित्व को प्रकाशित करे। ये कर्तव्य या नियम अधिक या कम उपनिषदों पर आधृत हैं, देखिए छान्दोग्योपनिषद् (३।१७।४) जहाँ **तप, अहिंसा, सत्यभाषण, दान** एवं **आर्जव** यजमान द्वारा प्राप्त किये जाने वाले शील-गुण कहे गये हैं। और देखिए बृह० उप० (५।२।३) जहाँ सभी लोगों को **दम** (आत्म-निग्रह), **दान, दया** अपने में उत्पन्न करने को कहा गया है। उपर्युक्त विवेचन से प्रकट होता है कि योगसूत्र द्वारा व्यवस्थित **यम** ऐसे कर्तव्य हैं जो निषेध के रूप में हैं, यथा—किसी को कष्ट न दो, झूठ न बोलो, किसी को लूटो नहीं, (दान ग्रहण न करो) तथा **नियम** ऐसे कर्तव्य हैं जिनका सम्बन्ध ऐसे व्यक्ति से है जिसने योगमार्ग का अनुसरण कर लिया हो, और वे भावात्मक रूप में प्रतिपादित हैं, यथा—शुद्ध रहो, सन्तुष्ट रहो, तप में लगे रहो, वेदों का अध्ययन करते रहो और ईश्वर-भक्त बनो। अमरकोश[४१] के अनुमार **यम** नित्य कर्म हैं और वे शरीरसाधनापेक्ष (शरीर द्वारा किये जानेवाले) हैं, किन्तु **नियम** ऐसे हैं जो अनित्य हैं (अर्थात् प्रतिदिन या निरन्तर न किये जानेवाले) और वे शरीर से बाहर के साधनों पर आश्रित हैं (यथा जल आदि)। **शौच** के दो प्रकार हैं—**बाह्य** (जल, मिट्टी, पंचगव्य, पवित्र भोजन आदि द्वारा प्रभावित शरीर का), एवं **आभ्यन्तर** (आन्तरिक या मानसिक)। देखिए इस महाग्रन्थ का मूल खण्ड २, पृ० ६५१-५२ एवं मूल खण्ड ४, पृ० ३१०-३११। मनु० (५।१०६) का एक श्लोक अवलोकनीय है—सभी शौचों में वह सर्वोत्तम है जो अर्थ से सम्बन्धित है (अनुचित साधनों से दूर रहकर तथा दूसरों को वञ्चित न करके धन की कामना करनी चाहिए), वह व्यक्ति 'शुचि' (पवित्र) है जो अर्थ के मामले में पवित्र हो, वह नहीं जो मिट्टी या जल से

४०. **कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा। सर्वत्र मैथुनत्यागं ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते॥ कूर्म०** (२।२।१८), **योगियाज्ञवल्क्य** (१।५५); **अंगारसदृशी नारी घृतकुम्भसमः पुमान्। तस्मान्नारीषु संसर्गं दूरतः परिवर्जयेत्॥ लिंगपु०** (१।८।२३)।

४१. **शरीरसाधनापेक्षं नित्यं यत्कर्म तद्यमः। नियमस्तु स यत्कर्मानित्यमागन्तुसाधनम्॥ अमरकोश** (**द्वितीय काण्ड, ब्रह्मवर्ग**)। **क्षीरस्वामी ने योगसूत्र की परिभाषाएँ उद्धृत की हैं और व्याख्या की है—'आगन्तु बाह्यं मृज्जलादि साधनं यत्रेति, अत एव कृत्रिमकर्म नियमः।'**

पवित्र किया गया हो।'[४२] द्वितीय पाद के सूत्र ३३-३४ में आया है कि जब योगाभ्यासी विपरीत विचारों से आक्रमित हो जाय (यथा—जिसने मेरी हानि की है, मैं उसे मार डालूँगा, मैं असत्य भाषण करूँगा, मैं दूसरे का धन ले लूँगा, मैं दूसरे की पत्नी के साथ बलात्कार करूँगा) तो उसे दृढ़प्रतिज्ञ हो जाना चाहिए और मन में इन विचारों के विपरीत विचारों की उत्पत्ति करनी चाहिए और ऐसे दुष्कर्मों के परिणामों पर विचार करना चाहिए, यथा—ऐसे कर्मों से असीम दुःख मिलता है और यह सम्यक् ज्ञान के अभाव का परिचायक है। यम एवं नियम योग के अभिलाषी के लिए आरम्भिक आचार-शास्त्र की बातें हैं, जिनका पालन परमावश्यक है और मनु एवं याज्ञवल्क्य के अनुसार इनके कुछ भाग का पालन सभी लोगों को करना चाहिए।

द्वितीय पाद के सूत्र ३५-४५ में कतिपय यमों एवं नियमों के निरन्तर पालन के परिणाम रखे गये हैं, यथा—जब अभिलाषी अहिंसा में दृढ़स्थित हो जाता है तो सभी प्राणी (मानव एवं पशु) उसकी उपस्थिति में वैर का त्याग कर देते हैं।[४३] जब योग का अभिलाषी असत्यभाषण से दूर रहने के अभ्यास में दृढ़ हो जाता है तो उसकी वाणी बड़ी प्रभावशाली हो जाती है और वह जो कुछ किसी से कहता है, लोग उसे मान लेते हैं। (यथा—यदि वह किसी से कहे 'तुम पवित्र या साधुवृत्ति वाले बनो' या 'तुम्हें स्वर्ग की प्राप्ति हो जाय' तो वह व्यक्ति साधुवृत्ति वाला हो जाता है या स्वर्ग प्राप्ति करता है)। यदि वह चौर्य कर्म से सर्वथा दूर हट जाता है तो सभी रत्न, सभी दिशाओं से आकर, उसका चरण-चुम्बन करते हैं (अर्थात् वह भले ही धन या साधनों के पीछे न पड़े, किन्तु धन-सम्पत्ति अपने-आप उसके पास चली आती है)। जब योगी ब्रह्मचर्य में दृढ़ रूप से प्रतिष्ठित हो जाता है[४४] तो उसे शक्ति-लाभ होता है (जिसके द्वारा वह अणिमा की शक्ति भी पा लेता है) और जब वह

४२. सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्। योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः॥ मनुस्मृति (५।१०६); विष्णुधर्मसूत्र (२२।८९) में भी यही बात है, किन्तु वहाँ 'अर्थ' के स्थान पर 'अन्न' है। विष्णुधर्मोत्तर० (३।२७५।१३) में आया है—'तस्माद्धि सर्वशौचानां मनःशौचं परं स्मृतम्।' मिलाइए 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः (छान्दोग्योपनिषद् ७।२६।२) एवं 'आहार . . . शुद्धिरित्याचार्याः' (अपरार्क द्वारा याज्ञ० १।१५४ की व्याख्या में हारीतधर्मसूत्र से उद्धृत)।

४३. अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः। योगसूत्र (२।३५); वाचस्पति का कथन है—'शाश्वतिकविरोधा अप्यश्व-महिष-मूषक-मार्जाराहि-नकुलादयोऽपि भगवतः प्रतिष्ठिताहिंसस्य संनिधानात्तच्चित्तानुकारिणो वैरं त्यजन्ति।' संस्कृत के कवियों ने मुनियों के आश्रमों के इस स्वरूप का मनोहर वर्णन किया है। देखिए कादम्बरी (पूर्वभाग जहाँ जाबालि के आश्रम का वर्णन है)—'अस्य भगवतः प्रसादादेवोपशान्तवैरमपगतमत्सरं तपोवनम्। अहो प्रभावो महात्मानाम्। अत्र हि शाश्वतिकमपहाय विरोधमुपशान्तात्मानस्तिर्यञ्चोऽपि तपोवनसुखमनुभवन्ति। तथाहि एष. . . विशति शिखिनः कलापमातपाहतो निःशंकमहिः। अयमुत्सृज्य मातरं. . .प्रक्षरत्क्षीरधारमापिबति कुरंगशावकः सिंहीस्तनम्।'

४४. देखिए छा० उप० (८।२।१०) 'यं यमन्तमभिकामो भवति यं कामं कामयते सोऽस्य संकल्पादेव समुत्तिष्ठति तेन सम्पन्नो महीयते।' ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः। योगसूत्र (२।३८); १।२० में यों आया है—'श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्।' अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथंतासम्बोधः। योगसूत्र २।३९, 'कथंता' का अर्थ है 'किंप्रकारता।'

इसमें पूर्णता प्राप्त कर लेता है तो वह योग-ज्ञान एवं योग के अंगों को अपने शिष्यों में स्थानान्तरित करने के योग्य हो जाता है। योगसूत्र (१।२०) में ऐसा आया है कि असंप्रज्ञात-समाधि तभी आती है जब योगी में विश्वास, वीर्य (शक्ति) एवं अन्य गुण पाये जाते हैं। योगी या ब्रह्मज्ञान के अन्वेषक के लिए मन, वचन एवं कर्म की पवित्रता पर बहुत बल दिया गया है ('माण्डूक्य० ३।१।५—'सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्')। वास्तव में बात यह है कि यदि योगी पूर्णतया पवित्र एवं इन्द्रियनिग्रही है तो वह समाधि के अन्तिम ध्येय एवं कैवल्य के पास पहुँचने में शीघ्रता करता है और बिना जितेन्द्रिय हुए राजयोग का अभ्यास व्यर्थ एवं भयंकर है। जो लोग ब्रह्मचर्य की महत्ता को विशेष रूप से जानना चाहते हैं उन्हें महात्मा गान्धी लिखित 'सेल्फ-रेस्ट्रेण्ट वर्सेस सेल्फ-इण्डल्जेंस' (तृतीय संस्करण, १९२८, विशेषतः अनुक्रमणिका—१, पृ० १३७-१३८, जहाँ श्री डब्लू० एल० इर्रे का निबन्ध भी है) का अध्ययन करना चाहिए। जब योगी दृढ रूप से अपरिग्रह में प्रतिष्ठित हो जाता है तो उसमें अपने अतीत, वर्तमान एवं भविष्य के जीवनों के ज्ञान की इच्छा जागती है (और उनसे उसे प्रकाश प्राप्त होता है)।

अपने शरीर को स्वच्छ एवं शुद्ध कर लेने के उपरान्त योगी अपने शरीर से मोह छोड़ देता है और अन्य लोगों के संस्पर्श का त्याग कर देता है। मन की शुद्धता के अन्य परिणाम हैं सत्त्वगुण की शुचिता (अर्थात् उस पर रज एवं तम का प्रभाव नहीं पड़ता), इन्द्रियों पर अधिकार एवं आत्मा के परिज्ञान के लिए समर्थता की प्राप्ति। सन्तोष से परम सुख मिलता है। तप से शरीर की पूर्णता की प्राप्ति होती है (अणिमा के समान गुप्त शक्तियों की उपलब्धि होती है) और उससे क्लेश एवं पाप नष्ट हो जाने के उपरान्त ज्ञानेन्द्रियों की पूर्णता प्राप्त होती है। लगातार वेदाध्ययन ('ओम्' के जप आदि) से अपने मनचाहे देवता की अनुभूति होने लगती है। ईश्वर की भक्ति से समाधि में पूर्णता प्राप्त होती है।

अब हम **आसन** का अध्ययन करेंगे। योगसूत्र में इसकी परिभाषा दी हुई है—'आसन वह है जो स्थिर हो और सरल हो' (स्थिरसुखमासनम् २।४६)। आसन वह है जो कुश घास से आवृत हो, उस पर मृगचर्म या वस्त्र बिछा हो, जैसा कि गीता (६।११) में उल्लिखित है। यह **बाह्य आसन** है। किन्तु योग में आसन शारीरिक अवस्थिति का द्योतक है। यह द्रष्टव्य है कि योगसूत्र उन आसनों को, जो हठयोगप्रदीपिका एवं हठयोग-सम्बन्धी अन्य ग्रन्थों में उल्लिखित हैं, स्पष्ट रूप से व्यवस्थित नहीं करता और उसमें आया है कि ये आसन पातञ्जल योग के अभ्यास के लिए आवश्यक नहीं हैं, प्रत्युत कोई भी आसन जो सरल हो, स्थिर हो एवं सुखद हो, योगी के लिए पर्याप्त है। योगसूत्र यहाँ पर श्वेताश्वतरोपनिषद् (२।८ एवं १०) का अनुसरण करता है न कि किसी हठयोग-सम्बन्धी ग्रन्थ का (यदि वह योगसूत्र के काल में उपस्थित रहा हो)। ऊपर वर्णित आसन की प्राप्ति के लिए योगी को अपने शरीर की स्वाभाविक गतियों को ढीला कर लेना होगा (प्रयत्नशैथिल्य) और मन को ब्रह्म में केन्द्रित कर लेना होगा। आसन पर पूर्ण स्वामित्व-स्थापन के फलस्वरूप वह द्वन्द्वों (उष्णता एवं शीत, भूख एवं प्यास आदि) से विमोहित नहीं होता।

जो लोग आसनों के विषय में विशिष्ट जानकारी प्राप्त करना चाहते हैं वे पूना के पास लोनावाला के कैवल्यधाम के श्री कुवलयानन्द द्वारा प्रणीत एवं प्रकाशित ग्रन्थ 'आसन्स' पढ़ सकते हैं। यह ग्रन्थ कुल १८८ पृष्ठों में है, इसमें ८१ चित्र (विभिन्न आसनों के ७८ चित्र एवं नौलि के ३ चित्र) हैं। दक्षस्मृति (७।५) में पद्मासन का उल्लेख है और लगता है याज्ञ० (३।१९८) ने भी इसकी ओर संकेत किया है। डा० के० टी० बेहनान ने अपने ग्रन्थ 'योग, ए साइण्टिफिक इवैलुएशन' में कतिपय आसनों के १६ चित्र दिये हैं। यद्यपि योगसूत्र ने किसी आसन का नाम नहीं लिया है तथापि व्यासभाष्य ने इनके नाम लिये हैं और उसके 'आदि' शब्द से कुछ अन्य आसनों

की ध्वनि मिलती है।[४५] रघुवंश (१३।५२) में वीरासन का उल्लेख है, शंकराचार्य (वेदान्तसूत्र ४।१।१० पर) ने कहा है कि पद्मकासन एवं अन्य विशिष्ट आसनों का उद्घोष योगशास्त्र में हुआ है। शंकराचार्य के मतानुसार वे० सू० (४।१।७-१०) ने गीता (६।११) में उल्लिखित आसन की ओर संकेत किया है; उसने शारीरिक क्रियाओं की शिथिलावस्था एवं शरीरावस्थिति को 'ध्यायतीव पृथिवी' (छान्दोग्योपनिषद् ७।६।१) नामक शब्दों द्वारा व्यक्त किया है। हठयोगप्रदीपिका (१।१७) के अनुसार आसन हठयोग का प्रथम अंग है। शिव ने ८४ आसनों की चर्चा की है, जिनमें सिद्ध, पद्म, सिंह एवं भद्र नामक चार आसन अत्यन्त आवश्यक (सारभूत) हैं, और इसने सिद्धासन को सर्वश्रेष्ठ आसन माना है और उसका वर्णन किया है (१।३५)। हठयोगप्रदीपिका ने १।१६-५५ में १५ आसनों के नाम लिये हैं और उनका वर्णन किया है। ध्यानबिन्दु उप० का कथन है कि आसनों की संख्या लम्बी है, किन्तु उसने केवल चार के नाम लिये हैं और उन्हें ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना है। शिवसंहिता (३।१००) एवं घेरण्ड-संहिता (२।१) में आया है कि आसन ८४ हैं, किन्तु गोरक्षशतक का कथन है कि आसन उतने हैं, जितनी जीवित जातियाँ हैं, और वे सभी शिव को ज्ञात हैं, किन्तु ८४ लाख आसनों में शिव ने केवल ८४ को चुना है जिनमें सिद्धासन एवं पद्मासन सर्वोत्तम हैं (१।५-६)।

'योग' शब्द का प्रयोग विस्तृत अर्थ में कई मामलों में होता है। भगवद्गीता में, जो स्वयं योगशास्त्र है और जिसका प्रत्येक अध्याय योग कहा जाता है, यह बात पायी जाती है, विशेषतः उस विधि या विधियों के विषय में जिससे या जिनके द्वारा परम ब्रह्म से तादात्म्य बढ़ाया जाता है। उदाहरणार्थ, गीता में ऐसे प्रयोग हुए हैं, यथा—अभ्यासयोग (८।८, १२।९), कर्मयोग (३।३ एवं ७), ज्ञानयोग (३।३), भक्तियोग (१४।२६)। कुछ अन्य ग्रन्थों में भी यही बात पायी जाती है। कुछ पाश्चात्य लेखकों ने योग के कई प्रकारों का उल्लेख किया है, यथा—मन्त्र-योग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग, राजयोग एवं हठयोग। देखिए एफ्० यीट्स-ब्राउन कृत 'बंगाल लैंसर' (१९३०, पृ० २८४), आर० सी० ओमन कृत 'दि मिस्टिक्स् ऐसेटिक्स एण्ड सेण्ट्स आव इण्डिया' (१९०५ का संस्करण, पृ० १७२), जेराल्डाइन कॉस्टर कृत 'योग एण्ड वेस्टर्न साइकॉलॉजी' (पृ० १०), ऐलेन डैनीलो का ग्रन्थ (पृ० ८३, जहाँ मन्त्रयोग, लययोग, कुण्डलिनीयोग आदि का उल्लेख है)। कुछ पश्चात्कालीन ग्रन्थ, यथा—योगतत्त्वोपनिषद्[४६] एवं शिवसंहिता (५।९) ने मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग एवं राजयोग नामक चार योगों की चर्चा की है। इन

४५. तद्यथा पद्मासनं वीरासनं भद्रासनं स्वस्तिकं दण्डासनं सोपाश्रयं पर्यंकं क्रौञ्चनिषदनं हस्तिनिषदन-मुष्ट्रनिषदनं समसंस्थानं स्थिरसुखं यथासुखं चेत्येवमादीनि। भाष्य (योगसूत्र २।३४६ पर)। क्रौञ्चनिषदन एवं उसके आगे के दो आसनों के विषय में वाचस्पति का कथन है—'क्रौञ्चादीनां निषण्णानां संस्थानदर्शनात् प्रत्येत-व्यानि।' सोपाश्रयं (किसी पीठोपधान के सहारे) 'योगपट्टकयोगात् सोपाश्रयम्' (वाचस्पति)। एपि० इण्डिका (जिल्द २१, पृ० २६०) में राष्ट्रकूट राजा खोट्टिग के कोलागल्लु शिलालेख (शक संवत् ८८९, फरवरी १७, सन् ९६७ ई०) में दण्डासन एवं 'लोहासनी' नामक आसनों का उल्लेख है। योग का प्रभाव समाज में इतना अधिक था कि बहुत-से शिलालेखों में योग पद्धतियों का उल्लेख है।

४६. योगो हि बहुधा ब्रह्मन् भिद्यते व्यवहारतः। मन्त्रयोगो लयश्चैव हठोसौ राजयोजकः॥ मातृकादियुतं मन्त्रं द्वादशाब्दं तु यो जपेत्। क्रमेण लभते ज्ञानमणिमादिगुणान्वितम्॥ अल्पबुद्धिरिमं योगं सेवते साधकाधमः॥ लययोगश्चित्तलयः कोटिशः परिकीर्तितः। गच्छंस्तिष्ठन् स्वपन् भुञ्जन् ध्यायन्निष्कलमीश्वरम्॥ स एव लययोगः स्यात्....आदि। योगतत्त्वोपनिषद् (१९।२१-२३)।

सभी योगों में पतञ्जलि की ही प्रणाली प्रचलित है, किन्तु प्रत्येक में योग के किसी विशिष्ट स्वरूप का ही निदर्शन है। वास्तव में योग की केवल दो प्रमुख प्रणालियाँ हैं, एक वह जो योगसूत्र द्वारा प्रतिपादित है और जिसका भाष्य व्यास ने किया है और दूसरी प्रणाली वह है जो गोरक्षशतक तथा स्वात्मारामयोगी की हठयोगप्रदीपिका में (जिस पर ब्रह्मानन्द द्वारा ज्योत्स्ना नामक टीका है) में वर्णित है।[४७] संक्षेप में दोनों योगप्रणालियों में यह अन्तर है कि जहाँ पातञ्जल योग चित्तानुशासन पर ही सारा प्रयास लगाता है, वहाँ हठयोग का प्रमुख सम्बन्ध है शरीर, उसके स्वास्थ्य, शुद्धता एवं रोगरहितता से। इस तथ्य का उद्घाटन इसी से हो जाता है कि जहाँ पतञ्जलि ने आसन की परिभाषा किसी ऐसी शरीरावस्थिति से की है जो 'स्थिरसुख' (स्थिर एवं सरल अथवा सुखकर) हो, वहाँ हठयोग-सम्बन्धी ग्रन्थ बहुत-से आसनों का उल्लेख करते हैं, यथा—मयूरासन, कुक्कुटासन, सिद्धासन आदि, जिनसे रोगों का निवारण होता है (१।३१) और इस प्रकार कुल ८४ आसन हैं। इतना ही नहीं, हठयोग ने कुछ क्रियाओं का भी उल्लेख किया है, यथा—**नेति** (नासा-मार्ग निर्मल करना), **धौति** (आमाशय स्वच्छ करना), **वस्ति** (यौगिक एनिमा) एवं **नौलि** (पेट की नलिका हिलाना), जिनके विषय में पतञ्जलि मौन हैं।[४८] यदि उचित निर्देशन एवं धैर्य के साथ हठयोग

४७. स्वात्माराम योगी कृत हठयोगप्रदीपिका का अंग्रेजी अनुवाद श्री श्रीनिवास आयंगर द्वारा हुआ है (थियॉसॉफिकल पब्लिशिंग हाउस, मद्रास, तीसरा संस्करण, १९४९)। ग्रन्थ का नाम हठप्रदीपिका है, जैसा कि 'हठप्रदीपिका धत्ते स्वात्मारामः कृपाकरः' (१।३) से प्रकट होता है। प्रत्येक 'उपदेश' के अन्तिम तथा ब्रह्मानन्द कृत 'हठप्रदीपिका-ज्योत्स्ना' के प्रथम श्लोक से भी यही बात झलकती है। टीका के अनुसार 'ह' एवं 'ठ' का अर्थ क्रम से सूर्य एवं चन्द्र है और वे क्रम से दक्षिण एवं वाम नासिका-श्वास के द्योतक हैं। शिवसंहिता का अनुवाद राय-बहादुर श्रीचन्द्र विद्यार्णव द्वारा (पाणिनि ऑफिस, दूसरा संस्करण, १९२३) तथा घेरण्डसंहिता का अनुवाद श्रीचन्द्र वसु द्वारा हुआ है (बम्बई, १८९६)।

४८. हठयोग की ६ क्रियाएँ ये हैं—धौतिर्बस्तिस्तथा नेतिस्त्राटकं नौलिकं तथा। कपालभातिश्चैतानि षट् कर्माणि प्रचक्षते॥ ह० यो० प्र० (२।२२)। योगमीमांसा नामक जर्नल के खण्ड २, पृ० १७०-१७७ में धौति, खण्ड १, पृ० १०१-१०४ में वस्ति, खण्ड १, पृ० २५-२६ एवं खण्ड ४, पृ० ३२०-२४ में नौलि का तथा श्री कुवलयानन्द कृत 'प्राणायाम' नामक पुस्तिका (भाग १, पृ० ७९-१००) में कपालभाति का वर्णन है। नेति में नासिका को स्वच्छ किया जाता है। त्राटक में जब तक आँसू न गिरने लगें तब तक किसी अति सूक्ष्म लक्ष्य (पदार्थ) पर आँखों को बिना पलक गिराये रखा जाता है (निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः। अश्रुसम्पातपर्यन्त-माचार्यैस्त्राटकं स्मृतम्॥ ह० यो० प्र० (२।३१)। त्राटक के कई प्रकार हैं, यथा—नक्षत्रत्राटक, सूर्यत्राटक, आदर्शत्राटक, भ्रूमध्यत्रा०, नासाग्रत्रा०। जिसके नेत्र दुर्बल हों, उसे त्राटक नहीं करना चाहिए, केवल प्रवीण व्यक्ति के निर्देशन में ही ऐसा करना चाहिए। एकाग्रता एवं ध्यान के लिए त्राटक एक आरम्भिक आवश्यकता है। जो लोग हठयोग के विषय में अभिरुचि रखते हैं, उन्हें थेयोस बर्नार्ड का ग्रन्थ 'हठयोग, दि रिपोर्ट आव ए परसनल एक्स्पीरिएंस' (कोलम्बिया यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क, द्वितीय संस्करण, १९४५) पढ़ना चाहिए। थेयोज बर्नार्ड महोदय ने सम्पूर्ण भारत की यात्रा की, अपने गुरु की आज्ञा से उन्हीं के साथ राँची में निवास करते रहे और उनकी आज्ञा से तिब्बत भी गये। उनके ग्रन्थ में ३६ चित्र हैं, जिनमें २८ आसनों के चित्र हैं, ७, २६-२७ महामुद्रा, वज्रोलि-मुद्रा एवं पाशिणीमुद्रा के चित्र हैं, ३२वें एवं ३३वें चित्र में उड्डीयान-बन्ध के प्रथम एवं द्वितीय स्वरूप हैं, ३४ से ३६ तक के चित्र नौली-मध्यमा, नौली-वामा एवं नौली-दक्षिणा के चित्र हैं। हठयोगप्रदीपिका (३।६-७) में दस

का अभ्यास किया जाय तो व्यक्ति न केवल स्वस्थ, शक्तिशाली, शुद्ध एवं सक्रिय बन जाता है, प्रत्युत वह आन्तरिक शक्ति एवं सुख पाता है। हठयोग की पद्धति से तीन परिणाम प्रकट होते हैं—(१) रोगों एवं मन की अव्यवस्थाओं का अच्छा हो जाना, (२) सिद्धियों की प्राप्ति जिससे (३) **राजयोग** एवं **कैवल्य** की उपलब्धि हो जाती है। स्वयं हठयोगप्रदीपिका में कहा गया है कि हठयोग का उद्घोष राजयोग के लिए ही हुआ है[४९], अर्थात् राजयोग ही हठयोग का प्रमुख फल है न कि सिद्धियाँ और राजयोग से **कैवल्य** की उपलब्धि होती है। हठयोगप्रदीपिका ने पतञ्जलि की भाँति आठ अंगों का उल्लेख किया है, किन्तु इसमें यम १० हैं, जिनमें हलका भोजन करना प्रमुख है और नियमों में अहिंसा प्रथम स्थान रखती है। आठ अंगों के अतिरिक्त इसमें विशेषत: महामुद्रा, खेचरी, जालन्धर, उड्डीयान तथा मूलबन्ध, वज्रोली, अमरोली एवं सहजोली का उल्लेख है (१।२६-२७)। हठयोगप्रदीपिका (१।५-८) के अनुसार हठयोग का आरम्भ आदिनाथ (अर्थात् शिव) से हुआ। इसने मत्स्येन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ से लेकर आगे के ३५ महासिद्धों के नाम लिये हैं। ज्ञानदेव की भगवद्गीता-सम्बन्धी टीका ज्ञानेश्वरी ने अन्त में गुरुपरम्परा का उल्लेख यों किया है—आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ, गहिनीनाथ, निवृत्तिनाथ, ज्ञानदेव।

हठयोग एवं पातञ्जलयोग के ग्रन्थों में अन्य भेद भी पाये जाते हैं। गोरक्षशतक एवं हठयोगप्रदीपिका के अनुसार आसन एवं प्राणायाम का प्रमुख उद्देश्य है कुण्डलिनी (व्यक्ति की मार्मिक शक्ति जो सुषुम्ना के मूल में सर्प के समान कुण्डली या गेंडुर लगाये रहती है) को जगाना तथा उसे कतिपय चक्रों से पार कराना तथा सुषुम्ना नाड़ी को ब्रह्मद्वार तक ले जाना, जब कि योगसूत्र चक्रों एवं नाड़ियों की कदाचित् ही चर्चा करता है।[५०] बहुत-से लोग कुण्डलिनी पर लिखे गये ग्रन्थों के आधार पर कुण्डलिनी जगाने का प्रयास कर बैठते हैं। यह एक भयंकर प्रयोग है। श्री पुरोहित स्वामी ने अपने ग्रन्थ 'एफोरिज्मस आव योग' में लिखा है कि कुण्डलिनी का जागरण एक भयंकर अनु-

मुद्राओं के नाम आये हैं। सर पॉल ड्यक्स लिखित 'दि योग आव हेल्थ, यूथ एवं ज्वॉय' हाल का लिखा एक ग्रन्थ है जो पाश्चात्य लोगों के लिए हठयोग पर लिखा गया है (कैसेल, लंदन, १९६०)। यह अति उपयोगी ग्रन्थ है, इसमें लगभग ७० अतीव सुन्दर चित्र हैं और व्यक्तिगत अभ्यास के आधार पर अत्यन्त सावधानी से यह लिखा गया है। लेखक वर्षों तक सेना में सैनिकों के समक्ष योगाभ्यास की उपयोगिता पर भाषण किया करते थे।

४९. केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते। हठ० (१।२), जिस पर ज्योत्स्ना की टिप्पणी है—'राजविद्या एव मुख्यं फलं न सिद्धयः। राजयोगद्वारा कैवल्यं फलम्।' बहुत-से सिद्धों, यथा—मत्स्येन्द्रनाथ, शाबरानन्द, भैरव, गोरक्ष आदि का उल्लेख करने के उपरान्त हठयोगप्रदीपिका (५।८) ने यों अन्त किया है—'इत्यादयो महासिद्धा हठयोग-प्रभावतः।'

५०. योगसूत्र ने नाभिचक्र (यह केवल नाभि है, जिसका आकार वृत्तवत् है) एवं कूर्मनाड़ी का क्रम से ३।२९ एवं ३।३१ में उल्लेख किया है। देखिए गोरक्षशतक (श्लोक १०-२३, ५४-६७) जहाँ चक्रों, नाड़ियों, ब्रह्मद्वार आदि का उल्लेख है। हठयोगप्रदीपिका (३) में कुण्डलिनी के जागरण का उल्लेख है। गोरक्षशतक का मूल एवं अनुवाद डब्लू० जी० ब्रिग्स कृत 'गोरखनाथ एण्ड दि कनफटास' (पृ० २८४-३०४) में है जो अभी हाल में स्वामी कुवलयानन्द द्वारा अनुवाद एवं टिप्पणी के साथ प्रकाशित हुआ है (१९५९)। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'नाथ सम्प्रदाय' (१९५०) नामक एक ग्रन्थ लिखा है। डा० मोहनसिंह ने भी 'गोरखनाथ एण्ड मेडीवल हिन्दू मिस्टिसिज्म' नामक एक ग्रन्थ लिखा है। यदि ज्ञानेश्वरी में उल्लिखित गुरुपरम्परा को ठीक माना जाय तो गोरखनाथ लगभग ११०० ई० में या इससे कुछ ही काल पश्चात् हुए थे। और देखिए श्री आर० सी० धेरे कृत मराठी ग्रन्थ 'गोरखनाथ की जीवनी एवं शिष्यों की परम्परा' (पृ० २२४)।

मूर्ति है, प्रथम दिन में, जब कुण्डलिनी का जागरण हो गया तो ऐसा प्रतीत होता था कि मानो सम्पूर्ण शरीर अग्नि में हो, और उन्होंने समझा कि मैं मर रहा हूँ, और वे तीन मासों में कई मन दूध एवं घृत पी गये और दो निम्ब-वृक्षों की सारी पत्तियाँ खा गये। नाड़ियों एवं तन्त्रों के सिद्धान्त का बीज (मूल) कठोपनिषद् (६।१६) एवं छान्दोग्योपनिषद् (८।६।६) के एक मन्त्र में पाया जाता है—'हृदय की १०१ नाड़ियाँ हैं, उनमें से एक मस्तक में प्रवेश करती है, इसके द्वारा कोई ऊपर चढ़कर अमरता की उपलब्धि करता है; अन्य नाड़ियाँ विभिन्न दिशाओं की ओर जाने का कार्य करती हैं।' प्रश्न उप० (३।६-७) में आया है कि १०१ नाड़ियों में प्रत्येक में ७२ उप-नाड़ियाँ हैं, जिनमें पुनः १००० और (सूक्ष्म) नाड़ियाँ होती हैं। देखिए मुण्डक उप० (२।२।६)। छान्दोग्योप-निषद् (८।६।१) में आया है कि हृदय की नाड़ियों में एक सूक्ष्म पदार्थ होता है जिसका रंग भूरा, श्वेत, नील, पीत या लाल होता है। सम्भवतः यही पिङ्गला नामक नाड़ी के विषय की चर्चा का मूल है। मैत्रायणी उप० (६।२१) ने सुषुम्ना नाड़ी का उल्लेख किया है, जो ऊपर को जाती है।

विष्णुपुराण (६।७।३९) ने भद्रासन का उल्लेख किया है, जिसे वाचस्पति ने उद्धृत किया है। अन्य पुराणों में वायु (११।१३), मार्कण्डेय (३६।२८), कूर्म (२।११।४३), लिंग (१।८।८६), गारुड़ (१।२३८।११) ने स्वस्तिक, पद्म एवं अर्धासन नामक तीन आसनों की चर्चा की है। विष्णुधर्मोत्तर-पुराण (३।२८३।६) ने स्वस्तिक, सर्वतोभद्र, कमल (पद्म) एवं पर्यंक नामक आसनों को ध्यान के लिए व्यवस्थित किया है। भागवत०(३।२८।८) ने आसन-सम्बन्धी गीता (६।११) के शब्दों (शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य) का प्रयोग किया है।

आसनों के दो प्रकार हैं, जिनमें एक प्राणायाम, ध्यान एवं एकाग्रता के लिए उपयोगी है, यथा—पद्म, सिद्ध एवं स्वस्तिक। आसनों का दूसरा प्रकार शारीरिक रोगों के निवारण एवं स्वास्थ्य के लिए उपयोगी होता है। किन्तु इनमें अधिकांश में विभिन्न शारीरिक आयासों की आवश्यकता होती है और इन आसनों द्वारा उपस्थापित अन्तिम शरीर-दशा गम्भीर ध्यान को असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य बना देती है। देखिए शीर्षासन, सर्वांगासन, हलासन, विपरीतकरणी, मयूरासन। तेजोबिन्दु उपनिषद् (१।२३) का कथन है कि वही आसन (उचित) आसन है जो ब्रह्म में निरन्तर ध्यान लगाना सम्भव करता है; अन्य आसन केवल कठिनाई उत्पन्न करते हैं। ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि उस व्यक्ति को, जो उच्चतर योग-अनुशासन के पीछे पड़ा हुआ है, आसनों में कुछ समय देना चाहिए, क्योंकि तभी वह आगे के योग-स्तर को प्राप्त कर सकेगा। वास्तव में आसनों का प्रारम्भिक उद्देश्य है रोगों का निवारण करना एवं स्वस्थ शारीरिक संस्कार की प्राप्ति करना। यदि कोई योगी अपेक्षाकृत स्वस्थ शरीर वाला है तो वह प्राणायाम एवं अन्य अंगों का अभ्यास कर सकता है। आसनों के अतिरिक्त योगाभ्यासी को अपनी नाक के अग्रभाग पर (त्राटक) अपलक देखते रहना होता है (गीता, ६।१३)।

योगी को क्या खाना चाहिए, क्या नहीं खाना चाहिए तथा उसे कहाँ पर योगाभ्यास करना चाहिए, इस विषय में बहुत-से नियम प्रतिपादित किये गये हैं। शान्तिपर्व[51] में आया है कि योगी को चावल के छोटे-छोटे कण

५१. कणानां भक्षणे युक्तः पिण्याकस्य च भक्षणे। स्नेहानां वर्जने युक्तो योगी बलमाप्नुयात् ॥ भुञ्जानो यावकं रूक्षं दीर्घकालमरिन्दम। एकारामो विशुद्धात्मा योगी बलमवाप्नुयात् ॥ पक्षान् मासानृतूंश्चैतान् सञ्चरंश्च गुहांस्तथा। अपः पीत्वा पयोमिश्रा योगी बलमवाप्नुयात् ॥ शान्ति० (२८९।४३-४५, ३००। ४३-४५ चित्रशाला प्रेस संस्करण)। और देखिए मार्कण्डेय० (३६।४८-५०), ब्रह्मपुराण (२३४-।७-९), कूर्म० (२।११।४७-५२), स्कन्द० (काशीखण्ड ४१।६५-६६), लिंगपु० (१।८।७९-८४), जहाँ योगाभ्यास के लिए वर्जित स्थानों का उल्लेख है।

पकाकर या पिण्याक (खली) खाना चाहिए, तैलयुक्त पदार्थों का सेवन नहीं करना चाहिए, यदि वह यावक (अर्थात् कुल्माष या जौ का दलिया) पर ही रहे तब भी बलवान् रहेगा; उसे जल एवं दूध मिलाकर पीना चाहिए और गुफाओं में निवास करना चाहिए। मार्कण्डेय (कृत्यकल्पतरु, पृ० १६७-१७७, मोक्ष खण्ड) में आया है—'योगी को सूने स्थलों, वनों, गुहाओं में ध्यान का अभ्यास करना चाहिए; कोलाहलपूर्ण स्थानों में, अग्नि एवं जल के पास, पुरानी गोशालाओं में, चौराहों में, सूखी पत्तियों के ढूह के पास, नदी के तट पर, श्मशान में, जहाँ रेंगने वाले जीवों का निवास हो, भयंकर स्थानों में, कूप के पास, चैत्य (जहाँ चिता लगायी गयी हो) या दीमक के ढूह पर योगाभ्यास नहीं करना चाहिए।' उसी पुराण में यह भी आया है कि उसे तब योगाभ्यास नहीं करना चाहिए जब पेट में वायु हो या वह भूखा हो या थका-माँदा हो या जब मन से अव्यवस्थित हो या जब अधिक शीत या उष्ण हो, तीक्ष्ण वायु-वेग हो। देवलधर्मसूत्र में व्यवस्था है कि योगी को योगाभ्यास देवतायतन (मन्दिर), खाली घर, गिरि-कन्दरा, नदी-पुलिन (नदी की बालुका-भूमि), गुफाओं या वनों तथा भयरहित पवित्र एवं शुद्ध स्थल में करना चाहिए।[५२] हठयोगप्रदीपिका (१।६१) में भक्ष्याभक्ष्य का उल्लेख है। गोरक्षशतक[५३] में व्यवस्था है कि योगी को कटु, अम्ल, लवण युक्त भोजन का त्याग करना चाहिए, उसे केवल दुग्ध भोजन पर रहना चाहिए। गीता में आया है—'जो अधिक खाता है, या पूर्ण उपवास करता है, वह योग में सफल नहीं हो सकता, योग उसके कष्ट को दूर करता है, जो उचित भोजन-व्यायाम करता है।' छान्दोग्योपनिषद् (७।२६।२) में, जहाँ सनत्कुमार नारद को वास्तविक तत्त्व के विषय में उपदेश करते हैं, आया है कि आहार की शुद्धता से मन की शुद्धता आती है (आहार-शुद्धौ सत्त्वशुद्धिः)। और देखिए अपरार्क (याज्ञ० १।१५४, पृ० २२१)।

प्राणायाम योग का वह अंग है जो आरम्भिक कालों से ही धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में आता रहा है। शाब्दिक रूप में इसका अर्थ है 'प्राण का नियन्त्रण या विराम।' इसके अन्य पर्याय हैं 'प्राणसंयम' (याज्ञ० १।२२) एवं 'प्राण-संरोध'। महत्त्वपूर्ण विवादवस्तु है—'प्राण' का अभिप्राय क्या है? यह शब्द 'अन्' (साँस लेना) धातु से निष्पन्न है और 'प्र' उपसर्ग पहले जोड़ दिया गया है, यथा—प्र+अन्। यह क्रिया एवं इसके रूप ऋग्वेद में आये हैं (१।१०१।५, १०।१२१।३, १०।१२५।४)। ऋग्वेद में कई स्थानों पर 'प्राण' का अर्थ केवल 'साँस लेना' है, यथा—१।६६।१, ३।५३।२१ एवं १०।६६।६ में। ऋ० (१०।९०।१३ 'प्राणाद्वायुरजायत') में ऐसा आया है कि आदि-पुरुष के प्राण से वायु (हवा) प्रकट हुई। ऋग्वेद में 'असु' शब्द भी 'प्राण' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है (१।११३।१६।। 'उधीर्ध्वं जीवो असुर्न आगात्' एवं १।१६४।४)। 'प्राणन' (श्वास) एवं 'जीवन' दोनों ऋ० (१।४८।१०, जो उषा को सम्बोधित है) में आये हैं। सम्भवतः ऋ० (१०।१८९।२) में 'अपान' की ओर निर्देश है, यथा—'अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणादपानती।' तैत्तिरीय संहिता (१।६।३।३) में प्राणों के पाँच प्रकार जोड़े में आलिखित

५२. देवतायतनशून्यागारगिरिकन्दरनदीपुलिनगुहारण्यानाम्अन्यतमे शुचौ निराबाधे विभक्ते... मनसा तच्चिन्तनं ध्यानम्। देवल (कृत्यकल्प०, मोक्ष, पृ० १८१)। मिलाइए श्वेताश्वतरोपनिषद् (२।१०)।

५३. कट्वम्ललवणत्यागी क्षीरभोजनमाचरेत्। गोरक्षशतक (५०); कट्वम्लतीक्ष्णलवणोष्णहरीतशाकसौवीरतैलतिलसर्षपमद्यमत्स्यान्। आजादिमांसदधितक्रकुलत्थकोलपिण्याकहिङ्गुलशुनाद्यमपथ्यमाहुः ।। गोधूमशालियवषाष्टिकशोभनान्नं क्षीराज्यखण्डनवनीतसितामधूनि। शुंठीपटोलकफलादिकपंचशाकं मुद्गादि दिव्यमुदकं च यमीन्द्रपथ्यम्।। पुष्टं सुमधुरं स्निग्धं गव्यं धातुप्रपोषणम्। मनोभिलषितं योग्यं योगी भोजनमाचरेत्।। ह० यो० प्र० (१।६४-६५)।

है।[५४] तै० सं० (१।७।६।२) में 'प्राण', 'अपान' एवं 'व्यान' नामक तीन शब्द प्रयुक्त हुए हैं। अथर्ववेद (८।१।१) में 'प्राणाः' एवं 'अपानाः' को बहुवचन में प्रयुक्त किया गया है। इन दोनों के अतिरिक्त 'असु', 'प्राण' एवं 'आयुः' (८।१।३) का भी प्रयोग हुआ है। सम्भवतः इन पाँचों का अर्थ 'जीवन' (प्राण) ही है। उपनिषदों में प्राण सभी जीवों की प्रमुख शक्ति का रूप धारण कर लेता है और ब्रह्म का प्रतिनिधि या प्रतीक हो जाता है। देखिए बृ० उप० (१।६।३ प्राणो वा अमृतं नामरूपे सत्यं ताभ्याम् अयं प्राणश्चन्नः), बृ० उप० (१।५।२३) में जहाँ एक श्लोक उद्धृत है कि सूर्य प्राण से उदित होता है और प्राण में ही अस्त हो जाता है, ऐसा आया है—'तस्मादेकमेव व्रतं चरेत्, प्राण्याच्चैवापान्याच्च, नेन्मा पाप्मा मृत्युराप्नवदिति', 'अर्थात् इसलिए व्यक्ति को एक ही व्रत लेना चाहिए, उसे उच्छ्वास एवं निःश्वास इस (भयपूर्ण) विचार के साथ लेना चाहिए कि दुष्ट मृत्यु मुझे पकड़ लेगी।' यहीं हमें प्राणायाम की महत्ता का सिद्धान्त दृष्टिगोचर हो जाता है। छान्दोग्योपनिषद् (५।१८-२४) में कहा गया है कि भोजन के समय प्राण, व्यान, अपान, समान एवं उदान को पाँच आहुतियाँ दी जानी चाहिए (यथा—'प्राणाय स्वाहा' आदि) और जो व्यक्ति अग्निहोत्र एवं आहुतियों का सच्चा अर्थ जानता है वह सभी लोकों, जीवों एवं आत्माओं में इसे करता है। आज भी भोजन के पूर्व ब्राह्मण लोग इन आहुतियों का कृत्य करते हैं, केवल पाँच के क्रम में अन्तर पड़ गया है। प्रश्नोपनिषद् (२।१३) में आया है—'यह सब जो तीनों लोकों में प्रतिष्ठापित है, प्राण के अधिकार के अन्तर्गत है।' छान्दोग्योपनिषद् (४।३।३) में भी प्राण के पाँच नाम लिये गये हैं जो शरीर के विभिन्न भागों में अवस्थित होने के कारण प्राण, अपान, व्यान, समान एवं उदान कहे जाते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि ईसा की शती के बहुत पूर्व से ही पाँच प्राणों की क्रिया के अन्तर का परिज्ञान लोगों को हो गया था।

इस ग्रन्थ में उपनिषदों की प्राण-सम्बन्धी व्याख्या एवं विशद विवेचन में जाना आवश्यक नहीं है। 'प्राण' एवं 'अपान' के अर्थ के विषय में एक विवाद चलता रहा है। कैलैण्ड, कीथ, ड्यूमाण्ट आदि के मतानुसार प्राचीन वैदिक साहित्य में प्राण का अर्थ था 'निःश्वास' (अर्थात् साँस निकालना) एवं अपान का 'उच्छवास' (साँस लेना), जो आगे चलकर सुधारा गया। दूसरी ओर अधिकांशतः सभी टीकाकारों, लेखकों तथा जी० डब्लू० ब्राउन, एडगर्टन आदि ने इसका उलटा प्रतिपादित किया है। प्रस्तुत लेखक दूसरे मत का समर्थन करता है, अर्थात् 'प्राण' का अर्थ था और अब भी है 'साँस लेना' तथा 'अपान' का अर्थ है 'पेट की वायु' (जो बाहर निकलती है)। सभी विद्वान् इस विषय में एकमत हैं कि संस्कृत साहित्य में 'प्राण' एवं 'अपान' के अर्थ ये ही थे। विरोधी मत केवल इतना ही कहता है कि प्राचीन काल में (प्राचीन वैदिक काल में) ही 'प्राण' एवं 'अपान' के अर्थ थे क्रम से 'निश्वास' (साँस निकालना) एवं 'उच्छ्वास' (साँस लेना)। जहाँ तक सम्भव हो हमें ऐसा जानने का प्रयत्न करना चाहिए कि उपनिषदों के वचन हमारे अर्थ का ही समर्थन करते हैं। प्रश्नोपनिषद् (जो एक प्राचीन उपनिषद् है, किन्तु अत्यन्त प्राचीन उपनिषदों में नहीं है) में एक अति मनोरम एवं निश्चयात्मक वचन आया है—"जिस प्रकार राजा अपने कर्मचारियों की नियुक्ति यह कहकर करता है कि तुम लोग इन ग्रामों

५४. प्राणापानौ मे पाहि समानव्यानौ मे पाह्युदानव्यानौ में पाहि। तै० सं० (१।६।३।३)। इस पर सायण ने अपनी टीका में स्पष्ट एवं मनोरम टिप्पणी की है—एक एव वायुः शरीरगतस्थानभेदात् कार्यभेदाच्च प्राणादिनामभिर्भिद्यते। स्थानभेदः कैश्चिदुक्तः। हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिसंस्थितः। उदानः कण्ठदेशस्थो व्यानः सर्वशरीरगः॥ इति। उच्छ्वास-निश्वासौ प्राणव्यापारः। मलमूत्रयोरधःपातनमपानव्यापारः। भुक्तस्यान्नरसस्य शरीरे साम्येन नयनं समानव्यापारः। उद्गारहिक्कादिरुदानव्यापारः। कृत्स्नासु शरीरनाडीषु व्याप्य प्राणापानधृत्योः सन्धि-

के शासनाधिकारी बनो, उसी प्रकार यह प्राण अन्य प्राणों का पृथक्-पृथक् कार्यक्षेत्र निर्धारित करता है। अपान को पायु (गुदा) एवं उपस्थ (जननेन्द्रिय) के अंगों में नियोजित करता है, प्राण मुख एवं नासिका से प्रवेश करके अपने को (राजा के समान) आँखों एवं कानों में प्रतिष्ठापित करता है, समान को मध्य में (अर्थात् प्राण एवं अपान के कार्यक्षेत्र के बीच में) अर्थात् नाभि में (प्रतिष्ठापित करता है), क्योंकि यही (समान ही) है जो दिये हुए (अग्नि में अर्थात् आमाशय में) भोजन को समान रूप से (सभी शरीर-भागों में) ले जाता है।"[५५]

कैलैण्ड, ड्यूमाण्ट आदि, जो 'प्राण' शब्द को प्राचीन संस्कृत साहित्य में 'निःश्वास' (साँस बाहर निकालना) के अर्थ में प्रयुक्त मानते हैं, वे मुख्यतः शंकराचार्य की उस व्याख्या का आश्रय लेते हैं जो उन्होंने छान्दोग्योपनिषद् (१।३।३) पर की है।[५६] वे लोग शांकर भाष्य (छा० उप० १।३।३) के 'अन्तराकर्षति वायुम्' को श्वास लेने (उच्छ्वास) के अर्थ में लेते हैं; किन्तु उसका अर्थ यों भी हो सकता है—'वह शरीर के भीतर वायु खींचता है' (शरीर का भीतर का अर्थ है पेट में), और अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कैलैण्ड, ड्यूमाण्ट आदि ने शंकराचार्य के शब्दों का जो अर्थ लगाया है वह स्वयं शंकराचार्य की उपनिषद् सम्बन्धी अन्य व्याख्याओं से मेल नहीं खाता, यथा—बृ० उप० (१।५।३, ३।४।१), छा० उप० (३।१३।१-६), कठ० (५।३), प्रश्न० (३।४-५)। शांकर भाष्य (बृ० उप० १।५।३) में आया है[५७]—'प्राण हृदय की क्रिया है जो मुख एवं नासिका में सञ्चालित होती है और वह इस नाम से इसलिए पुकारा जाता है क्योंकि इसका 'प्रणयन' होता है (अर्थात् यह आगे बढ़ाया जाता है); अपान अधोवृत्ति (नीचे जाने वाली क्रिया) है, जो नाभि से आरम्भ होता है और इसलिए ऐसा कहा जाता है कि यह 'मल-मूत्र' बाहर करता है।' केवल शंकराचार्य ने ही नहीं, प्रत्युत उनके पूर्ववर्ती देवल के धर्मसूत्र ने भी ऐसी ही व्याख्या की है।

काले शरीरस्य बलप्रदानं व्यानव्यापारः। इसके उपरान्त सायण ने छान्दोग्योपनिषद् (१।३।३) का सहारा लिया है—'यद्वै प्राणिति स प्राणः यदपानिति सोऽपानः। अथ यः प्राणापानयोः सन्धिः स व्यानः। यो व्यानः सा वाक्। और देखिए तै० सं० (३।४।१।३-४) एवं प्रश्नोपनिषद् (३।४-५)।

५५. यथा सम्राडेवाधिकृतान् विनियुङ्क्ते। एतान् ग्रामानेतान् ग्रामानधितिष्ठस्वेति। एवमेवैष प्राण इतरान् प्राणान् पृथक् पृथगेव संनिधत्ते। पायूपस्थेऽपानम्। चक्षुःश्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रातिष्ठते मध्ये तु समानः। एष ह्येतद्धुतमन्नं समं नयति। प्रश्नोपनिषद् (३।४-५)।

५६. छा० उप० (१।३।३) पर शंकराचार्य ने व्याख्या की है:—यद्वै पुरुषः प्राणिति मुखनासिकाभ्यां वायुं बहिर्निःसारयति स प्राणाख्यो वायोर्वृत्तिविशेषः। यदपानित्यपश्वसिति ताभ्या-मेवान्तराकर्षति वायुं साऽपानाख्या वृत्तिः; और देखिए शांकरभाष्य (वे० सू० २।४।१२—पञ्चवृत्तिर्मनोवद् व्यपदिश्यते)—'प्राणः प्राग्वृत्तिरुच्छ्वासादिकर्मा। अपानोऽर्वाग्वृत्तिर्निश्वासादिकर्मा। व्यानस्तयोः सन्धौ वर्तमानो वीर्यवत्कर्महेतुः। उदान ऊर्ध्ववृत्तिरुत्क्रान्त्यादिहेतुः। समानः समं सर्वेष्वङ्गेषु योऽन्नरसान्नयतीति।' गीता (४।२९) में आया है—'अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे। प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥' यहाँ दोनों शब्द विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त हैं।

५७. अथ प्राण उच्यते। प्राणो मुखनासिकासञ्चार्या हृदयवृत्तिः प्रणयनात्प्राणः। अपनयनान्मूत्रपुरीषादेरपानोऽधोवृत्तिः आनाभिस्थानः' (बृ० उप० १।५।३ के भाष्य में)। प्रश्न० (३।५) के भाष्य में 'अपान' की व्याख्या यों है: 'अपानमात्मभेदं मूत्रपुरीषाद्यपनयनं कुर्वंस्तिष्ठति संनिधत्ते।' कठोप० (५।३) के 'ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति' पर भाष्य यों है—'ऊर्ध्वं हृदयात्प्राणं प्राणवृत्तिं वायुमुन्नयत्यूर्ध्वं गमयति तथा अपानं प्रत्यगधो अस्यति

योगपद्धति में, जो उपनिषदों पर आधृत है, प्राण का अर्थ केवल साँस ही नहीं है, प्रत्युत और कुछ है। यह जीवनी शक्ति एवं उन शक्तियों का द्योतक है जो शरीर में वाणी, आँख, कान एवं मन में तथा विश्व में विभिन्न रूपों में विद्यमान हैं। इसकी अत्यन्त प्रत्यक्षीकरणयोग्य अभिव्यञ्जना मानवीय फेफड़ों की गति में परिलक्षित होती है। योगसूत्र ने योगाभ्यासी के समक्ष यह सिद्धान्त रखा है कि शरीर में प्राण के वैज्ञानिक संयमन से योगी मानव-चेतना एवं बाह्य विश्व में सामान्यतः न दिखाई पड़ने वाली शक्ति पर अधिकार पा सकता है।

प्रमुख उपनिषदों में प्राणायाम शब्द नहीं आता।[५८] सूत्रों में इसका प्रयोग हुआ है। आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।५।१२।१४-१५) में आया है कि यदि गृहस्थ सूर्योदय के समय सोता रहे तो उसे उस दिन (रात्रि तक) व्रत रखना एवं मौन रहना चाहिए। उसमें ऐसा भी आया है कि कुछ आचार्यों के कथनानुसार उसे प्रायश्चित्तस्वरूप प्राणायाम तब तक करते रहना चाहिए जब तक कि वह थक न जाय। गौतमधर्मसूत्र (१।६१) में आया है कि जब छात्र अपने गुरु के समक्ष विद्याध्ययन के लिए बैठ जाय और उसके तथा गुरु के बीच से कुत्तों, सर्पों, मेढ़कों, बिल्लियों के अतिरिक्त यदि कोई अन्य पशु पार कर जाय तो शिष्य को तीन प्राणायाम करने चाहिए और (प्रायश्चित्तस्वरूप) थोड़ा घी खा लेना चाहिए। इसी प्रकार उसमें (२३।६ एवं २२) पुनः आया है कि यदि उसे किसी ऐसे व्यक्ति के मुख से, जिसने मद्य पी रखी है, गन्ध मिल जाय तो उसे (प्रायश्चित्तस्वरूप) तीन प्राणायाम करने चाहिए और घृतप्राशन करना चाहिए और यदि वैदिक विद्यार्थी किसी अशुचि (चाण्डाल आदि) को देख ले तो उसे एक प्राणायाम करके सूर्य की ओर देखना चाहिए। इसी प्रकार बौधायनधर्मसूत्र (४।१।४-११) ने कतिपय दोषों के लिए प्राणायामों की व्यवस्था दी है।

उपर्युक्त उदाहरणों से यह व्यक्त होता है कि सूत्रों (ईसा से कई शतियों पूर्व) के काल में प्राणायाम की धारणा का इतना विकास हो चुका था कि समाज द्वारा भर्त्सना किये जाने वाले कर्मों के लिए धार्मिक कृत्यों एवं प्रायश्चित्तों के रूप में प्राणायाम का उपयोग होने लगा था। उन दिनों प्राणायाम एक धार्मिक कृत्य-सा था न कि योग के आठ अंगों में उसकी परिगणना होती थी।

वैदिक साहित्य में पाँच प्राण परिगणित थे, किन्तु पुराणों तथा अन्य मध्यकालीन ग्रन्थों में विभिन्न नामों वाले पाँच अन्य प्राण सम्मिलित कर लिये गये।[५९]

क्षिपति यः इति वाक्यशेषः।' इससे स्पष्ट होता है कि भाष्य में 'प्राण' का अर्थ है 'साँस लेना या कण्ठ की साँस, और 'अपान' का अर्थ है 'पेट की वायु या हवा को बाहर करना।' तत्र ऊर्ध्वं नाभेर्गतो रेचनोच्छ्वासक्षरणोद्गारकर्मा प्राणः। अधो नाभेरुत्सर्गानन्दकर्माऽपानः। देवल (कृत्यकल्पतरु द्वारा उद्धृत, मोक्षकाण्ड, पृ० १७०)। वनपर्व (२१३।७-चित्रशाला प्रेस संस्करण) में आया है—'बस्तिमूलं गुदं चैव पावकं समुपाश्रितः। वहन् मूत्रं पुरीषं चाप्यपानः परिवर्तते॥'

५८. एक श्लोक में दस प्राचीन एवं मुख्य उपनिषदें इस प्रकार उल्लिखित हैं—'ईश-केन-कठ-प्रश्न-मुण्ड-माण्डूक्य-तित्तिरि। ऐतरेयं च छान्दोग्यं बृहदारण्यकं तथा॥'

५९. प्राणोऽपानः समानश्च उदानो व्यान एव च। नागः कूर्मस्तु कृकलो देवदत्तो धनञ्जयः॥ उद्गारे नाग आख्यातः कूर्म उन्मीलने तु सः। कृकलः क्षुतकार्ये च देवदत्तो विजृम्भणे॥ धनञ्जयो महाघोषः सर्वगः स मृतेपि हि। इति यो दशवायूनां प्राणायामेन सिध्यति॥ लिंगपुराण (१।८।६१, ६५-६६)। मिलाइए योगयाज्ञवल्क्य (४।६४-७१, श्री दीवानजी द्वारा सम्पादित) जहाँ दस वायुओं एवं उनकी क्रियाओं का उल्लेख है। वनपर्व (२१२।१५—

अब हम यह देखें कि योगसूत्र ने किस प्रकार प्राणायाम की परिभाषा और उसकी व्याख्या की है। जब आसन की स्थिरता की उपलब्धि हो जाय तो श्वास लेने एवं छोड़ने की गति में जो विराम (विच्छेद) होता है उसे प्राणायाम कहते हैं (श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः) । भाष्य ने 'श्वास' का अर्थ यों लगाया है—'उस वायु को भीतर खींचना जो शरीर के बाहर रहती है' और 'प्रश्वास' का अर्थ यों लगाया है—'कोष्ठ या छाती की वायु को बाहर फेंकना' (बाह्यस्य वायोराचमनं श्वासः कौष्ठस्य वायोर्निःसारणं प्रश्वासः) । इन दोनों का अभाव प्राणायाम है (तयोर्गतिविच्छेदः उभयाभावः प्राणायामः। भाष्य, २।४९ पर)। इससे प्रकट है कि प्राणायाम में मुख्य तत्त्व है श्वास एवं प्रश्वास का अभाव, जिसे योग के ग्रन्थों में कुम्भक कहा गया है। आगे के सूत्र में आया है कि प्राणायाम (गतिविच्छेद) के तीन प्रकार हैं—बाह्य, आभ्यन्तर एवं स्तम्भ। तात्पर्य यह है कि कुम्भक (श्वास रोकना या विच्छेद या विराम) बाहर से वायु खींचने पर भी किया जाता है (प्रथम प्रकार) या भीतर की वायु बाहर छोड़ देने पर भी किया जाता है (द्वितीय प्रकार) या जब सामान्य दशा हो (अर्थात् न तो बाहर से वायु खींची जाय, और न भीतर की वायु बाहर फेंकी जाय) तब विराम किया जाय (तृतीय प्रकार)। कालों या मात्राओं या संख्याओं के अनुसार इन प्रकारों में प्रत्येक को नियमित किया जा सकता है। जब विराम ३६ मात्राओं तक होता है तो प्राणायाम मृदु कहलाता है, जब ७२ मात्राओं तक किया जाता है तो उसे मध्यम तथा जब १०८ मात्राओं तक होता है तो तीव्र कहा जाता है। जब प्राणायाम बहुत दिनों, पक्षों एवं मासों तक किया जाता है तो उसे दीर्घ कहा जाता है, जब उसे बड़ी दक्षता से किया जाता है तो वह सूक्ष्म कहलाता है।

प्राणायाम के विषय में हमें योगसूत्र (१।३४) पर भी ध्यान देना चाहिए (प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य)। इस सूत्र में आया है कि मन की अबाधित शान्ति के लिए एक उपाय है साँस को बाहर करना एवं रोकना। इस सूत्र एवं इसके भाष्य से प्रकट होता है कि विधारण (कुम्भक—श्वास को रोक रखना) प्राणायाम है।[६०]

प्राणायाम की व्याख्या के सिलसिले में देश, काल एवं संख्या की व्याख्या भी आवश्यक है। सामान्यतः एक स्वस्थ विकसित व्यक्ति ४ सेकण्डों में एक बार श्वास लेता और छोड़ देता है (अर्थात् १ मिनट में १५ बार या दिन रात्रि में २१६०० बार)। रेचक की गति को मापने के लिए रुई का एक अंश या एक पतला सूत नासिका-छिद्रों से कुछ दूरी पर रख दिया जाता है और वह नाक के श्वास से जितनी दूर उड़ जाता है या जहाँ जाकर रुक जाता है उस दूरी को अँगुली की चौड़ाई से नाप लिया जाता है। जहाँ तक काल का प्रश्न है, कई काल-इकाइयाँ वर्णित हैं, क्योंकि उन प्राचीन कालों में कोई वैज्ञानिक यन्त्र नहीं था। एक बार पलक गिरने (निमेष) में जो समय लगता है वह एक स्वर के उच्चारण में लगता है, और उसे मात्रा कहा जाता है। अपने हाथ से घुटने को तीन बार छूने तथा अँगूठे एवं तर्जनी को छूने में जो समय बीत जाता है उसे भी मात्रा कहा जाता है। अन्य काल-इकाइयों की चर्चा हम यहाँ छोड़ दे रहे हैं। सामान्य नियम यह है कि रेचक एवं पूरक दोनों

वहन्त्यग्ररसान् नाड्यो दशप्राणप्रचोदिताः) ने भी दस प्राणों का उल्लेख किया है। देखिए डा० ब्रजेन्द्रनाथ सील का ग्रन्थ 'दि पॉजिटिव साइंस आव दि ऐंश्येण्ट हिन्दूज' (लांगमैंस, ग्रीन, १९१५, पृ० २२८-२३१) जहाँ इन दस प्राणों की व्याख्या की गयी है।

६०. प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य। यो० सू० (१।३४); कौष्ठस्य वायोर्नासिकापुटाभ्यां प्रयत्नविशेषाद् वमनं प्रच्छर्दनं विधारणं प्राणायामस्ताभ्यां वा मनसः स्थितिं सम्पादयेत्। भाष्य।

को एकविध एवं शान्तिपूर्वक होना चाहिए, और पूरक में रेचक का आधा काल (समय) लगना चाहिए। पूरक, रेचक एवं कुम्भक की अवधि के विषय में तीन मत हैं, यथा—१ : ४ : २ या १ : २ : २ के अनुपात में या तीनों में समान। पुराणों ने प्राणायाम के लिए विभिन्न मात्राएँ निर्धारित की हैं, यथा—मार्कण्डेय (३६।१३, १४) में आया है कि लघु (भाष्य में मृदु) में १२ मात्राएँ हैं, मध्यम में इसकी दूनी तथा उत्तरीय (भाष्य में तीव्र) में १२ मात्राओं का तिगुना। गरुड़पुराण (१।२२६।१४-१५) ने क्रम से १०, २०, ३० मात्राएँ निर्धारित की हैं और कूर्मपुराण ने मार्कण्डेय की बात मान ली है। मिताक्षरा (याज्ञ० ३।२००-२०१) ने व्यवस्था दी है कि प्राणायाम की तीन कोटियाँ हैं—अधम (१५ मात्राएँ), मध्यम (३० मात्राएँ) एवं उत्तम (४५ मात्राएँ)। लिंगपुराण (१।८। ४७-४८) ने नीच उद्‌घात, मध्यम उद्‌घात एवं मुख्य के लिए क्रम से १२, २४ एवं ३६ मात्राओं का काल माना है और कहा है कि तीनों का स्पष्ट परिणाम है क्रम से प्रस्वेद आना, कम्पन होना एवं उत्थान होना (प्रसाद-कम्पनोत्थानजनकश्च यथाक्रमम्)। मिलाइए मार्कण्डेय० (३६।१६) जिसमें आया है कि इनमें प्राणायाम की विभिन्न मात्राओं के अनुसार क्रम से प्रवीणता प्राप्त करनी चाहिए (प्रथमेन जयेत् स्वेदं मध्यमेन च वेपथुम्। विषादं हि तृतीयेन जयेद्दोषान् अनुक्रमात्॥)

यह द्रष्टव्य है कि पतञ्जलि एवं व्यासभाष्य ने **पूरक, रेचक** एवं **कुम्भक** नामक विख्यात शब्दों का प्रयोग नहीं किया है, प्रत्युत **श्वास, प्रश्वास** एवं **गतिविच्छेद** शब्दों का प्रयोग किया है।[61] इतना ही नहीं, पतञ्जलि एवं व्यास ने प्राणायाम में ओम्, गायत्री या व्याहृतियों के जप के विषय में कुछ नहीं कहा है, जैसा कि स्मृतियों एवं पश्चात्कालीन या मध्यकालीन ग्रन्थों में पाया जाता है। एक तीसरी बात पर विचार करना है कि कुछ अन्य पश्चात्कालीन ग्रन्थों में **रेचक, पूरक** एवं **कुम्भक** को प्राणायाम के तीन प्रकारों में गिना गया है और योगसूत्र में प्राणायाम के चार प्रकार हैं जिनमें तीन की व्याख्या योगसूत्र २।५० में तथा चौथे की २।५१ में हुई है।

'रेचक', 'पूरक' एवं 'कुंभक' शब्दों को पर्याप्त प्राचीन माना जाना चाहिए। इनका उल्लेख एवं परिभाषा देवलधर्मसत्र में है, जैसा कि शंकराचार्य का कथन है (देखिए गत अध्याय २१ की प्रथम पाद-टिप्पणी)।[62]

६१. तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः। बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः। बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः। यो० सू० (२।४६-५१); सत्यासनजये बाह्यस्य वायोराचमनं श्वासः कौष्ठस्य वायोर्निःसारणं प्रश्वासः तयोर्गतिविच्छेदः उभयाभावः प्राणायामः। भाष्य (२।४६ पर)। 'वृत्ति' शब्द का सम्बन्ध बाह्य, आभ्यन्तर एवं स्तम्भ से होना चाहिए। यहाँ पर कुम्भक, जो रेचक के उपरान्त होता है, बाह्यवृत्ति है और वह जो पूरक के उपरान्त होता है, आभ्यन्तरवृत्ति कहलाता है। जब न तो रेचक होता है और न पूरक तब स्तम्भवृत्ति कहलाती है। देखिए श्री कुवलयानन्द कृत योगमीमांसा (खण्ड ६, पृ० ४४-५४, १२६-१४५, २२५-२५७)।

६२. देवल। त्रिविधः प्राणायामः। कुम्भो रेचनं पूरणमिति। निश्वासनिरोधः कुम्भः। अजस्रनिःश्वासो रेचनम्। निश्वासाध्मानं पूरणमिति। स पुनरेकद्वित्रिभिरुद्घातैः (उद्‌घातैः) मृदुर्मन्दस्तीक्ष्णो वा भवति। प्राणापानव्यानोदानसमानानां सकृदुद्गमनं मूर्धानमाहत्य निवृत्तिश्चोद्घातः (उद्‌घातः)। कृत्यकल्प० (मोक्षकाण्ड, पृ० १७०) एवं अपरार्क (पृ० १०२३)। मिलाइए व्यासभाष्य 'संख्याभिः परिदृष्टा एतावद्भिः श्वासप्रश्वासैः प्रथम उद्‌घातस्तद्वन्निगृहीतस्यैतावद्भिर्द्वितीय उद्‌घातः। एवं तृतीयः। एवं मृदुरेवं मध्य एवं तीव्र इति संख्यापरिदृष्टः। योगसूत्र (२।५०) पर। राजमार्तण्ड में व्याख्या की गयी है: 'उद्‌घातो नाम नाभिमूलात्प्रेरितस्य वायोः शिरस्यभि-

बृहद्योगियाज्ञवल्क्य एवं वाचस्पति ने इनका उल्लेख किया है। विष्णुपुराण (५।१०।१४) ने शरद् ऋतु के काव्यात्मक वर्णन में श्लेष के रूप में इनका उल्लेख किया है।[६३] प्राणायाम करने के विभिन्न ढंग बतलाये गये हैं। सरल ढंगों में एक यह है—अँगूठे से दाहिना नासिका-छिद्र बन्द कर लें, बायें नासिका-छिद्र से अपनी शक्ति भर साँस खींच लें; इसके उपरान्त दाहिने नासिका-छिद्र से साँस बाहर फेंकें; पुनः दाहिने नासिका-छिद्र से साँस लें और बायें नासिका-छिद्र से साँस बाहर फेंकें। इसे कम-से-कम तीन बार करें। इसे प्रतिदिन दो बार अभ्यास में लायें, विशेषतः प्रातःकाल स्नान करने के उपरान्त या सन्ध्याकाल या चार बार (सूर्योदय के पूर्व, मध्याह्न के समय, सन्ध्याकाल और अर्धरात्रि में)। आरम्भ में कुम्भक नहीं करना चाहिए। पूरक एवं रेचक में कुछ अभ्यास हो जाने के उपरान्त कुम्भक को रेचक के पश्चात् करना चाहिए। पूरक के उपरान्त कुम्भक का अभ्यास बड़ी सावधानी से करना चाहिए और किसी दक्ष गुरु के निर्देशन में ही ऐसा करना चाहिए।

मनुस्मृति में प्राणायाम की महत्ता गायी गयी है—'एक ब्राह्मण के लिए नियमों के अनुसार एवं व्याहृतियों तथा प्रणव के साथ किये गये तीन प्राणायाम परम तप के समान हैं। जिस प्रकार धातुओं के गलाने से उनके मल जल जाते हैं, उसी प्रकार इन्द्रियों के दोष प्राण (वायु) के निग्रह से मिट जाते हैं। व्यक्ति को प्राणायामों द्वारा दोषों को, धारणा द्वारा पापों को मिटाना चाहिए तथा प्रत्याहार द्वारा संसर्गों को दूर करना चाहिए तथा क्रोध, लोभ, ईर्ष्या आदि दोषों को (ब्रह्म का) ध्यान करके मिटाना चाहिए' (मनुस्मृति ६।७०-७२)। और देखिए बृहद्योगियाज्ञ० (८।२६, ३०, ३२), शंखस्मृति (७।१३), वायुपुराण (१०।६३), भागवत० (३।२८), मार्कण्डेयपु० (३६।१०)। योगसूत्र (२।५२-५३) में आया है कि प्राणायाम के अभ्यास से प्रकाश के आवरण (अर्थात् क्लेश) क्षय को प्राप्त होते हैं और योगी का मन धारणा करने के योग्य हो जाता है (ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्।

हननम्।' विभिन्न लेखकों ने विभिन्न ढंगों से इस शब्द की व्याख्या की है; देखिए योगमीमांसा (खण्ड २, भाग ३, पृ० २२५-२३४)। कभी-कभी पूरक, रेचक एवं कुम्भक को तीन प्राणायाम भी कहा जाता है, और कभी-कभी इन तीनों को मिलाकर एक प्राणायाम कहा गया है। इनमें प्रत्येक पुनः मृदु, मन्द (या मध्यम) एवं तीव्र कहा गया है। देखिए बृहद्योगियाज्ञवल्क्य (८।७)—'त्रिविधं केचिदिच्छन्ति तथा च नवधा परे। मृदु मध्याधिमात्रत्वादेकैकं त्रिविधं भवेत्॥' देखिए विष्णुधर्मोत्तर (३।२८०।१)—'रेचकं पूरकं चैव कुम्भकं च तथा द्विजाः। एकस्त्र्यवस्थो विज्ञेयः प्राणायामो महाफलः॥ रेचक-पूरक-कुम्भकेष्वस्ति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेद इति प्राणायामसामान्यलक्षणमेतदिति। तथाहि। यत्र बाह्यो वायुराचम्यान्तर्धार्यते पूरके तत्रास्ति श्वास-प्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः। यत्रापि कौष्ठ्य वायुर्विरेच्य बहिर्धार्यते तत्रास्ति श्वासप्रश्वासयोर्गतिर्विच्छेदः। एवं कुम्भकेपीति। वाचस्पति (योगसूत्र २।५० पर); पूरकः कुम्भकश्चैव रेचकस्तदनन्तरम्। प्राणायामस्त्रिधा ज्ञेयः कनीयो मध्यमोत्तमः॥ पूरकः कुम्भको रेच्यः प्राणायामस्त्रिलक्षणः। बृहद्योगियाज्ञ० (८।६।१०)। कुम्भक का नाम इसलिए पड़ा है क्योंकि इसमें जलपूर्ण कुम्भ (घड़ा) से समानता है (जल कुम्भ में स्थिर रहता है)। राजमार्तण्ड में व्याख्या है 'तस्मिञ्जलमिव कुम्भे निश्चलतया प्राणा अवस्थाप्यन्ते इति कुम्भकः।' देखिए पाणिनि (५।३।९७), 'प्रतिकृतौ च', इवार्थे कन् स्यात् समुदायेन चेत्संज्ञा गम्यते। अतः कुम्भक का अर्थ है 'कुम्भ इव कुम्भकः, कुम्भसदृशस्य संज्ञा।'

६३. प्राणायाम इवाम्भोभिः सरसां कृतपूरकैः। अभ्यस्यतेऽनुदिवसं रेचकाकुम्भकादिभिः॥ विष्णुपु० (५।१०।१४)।

धारणासु च योग्यता मनसः ।) गोरक्षशतक (५४) में आया है—'योगी सदा आसन से रोगों को मिटाता है, प्राणायाम से पातकों को काटता है तथा प्रत्याहार से मनोविकार दूर करता है।'[६४] स्मृतियों में आया है कि पातकों को दूर करने में प्राणायामों से सहायता प्राप्त होती है। देखिए मनु (११।२४८=वसिष्ठ २६।४), बौधायनधर्मसूत्र (१।३१) एवं शंखस्मृति (१२।१८-१६), जहाँ यह आया है कि यदि व्याहृतियों एवं प्रणव (ओम्) के साथ प्रतिदिन १६ प्राणायाम किये जायें तो एक मास में ब्रह्महत्या के पाप से भी छुटकारा मिल जाता है। मनु (११।१६६ एवं २०१) में आया है कि एक प्राणायाम कर लेने से हलके-फुलके दोष दूर हो जाते हैं या गधे या ऊँट की सवारी करने का दोष दूर हो जाता है या कुत्ता, सियार, अश्व, ऊँट, सूअर या मानव के काटने से उत्पन्न अशुद्धि दूर हो जाती है। याज्ञ० (३।३०५) ने व्यवस्था दी है कि एक सौ प्राणायाम कर लेने से सभी पापों, उपपातकों तथा ऐसे पापों से, जिनके लिए किसी प्रायश्चित्त की कोई व्यवस्था नहीं है, छुटकारा मिल जाता है। मनु (२।८३=वसिष्ठ १०।५) एवं विष्णुधर्मसूत्र (५५।८२) में आया है—'एक अक्षर (ओम्) परब्रह्म (का प्रतिनिधि) है तथा प्राणायाम परम तप है।'

यह द्रष्टव्य है कि जैनों के महान् आचार्य हेमचन्द्र ने प्राणायामों की भर्त्सना की है और कहा है कि उनसे मन को आराम नहीं प्राप्त होता। पूरक, कुम्भक एवं रेचक में परिश्रम होता है और प्राणायाम से मुक्ति में रुकावट आती है। देखिए हेमचन्द्र का योगशास्त्र (६ठा प्रकाश, श्लोक ४-५, जैन ग्रन्थमाला, सूरत, संवत् १६६५ में प्रकाशित)।

पूरक के उपरान्त कुम्भक करने से नाड़ियों, हृदय एवं फेफड़ों पर दबाव पड़ता है और असावधानी तथा शीघ्रता से ऐसा अभ्यास करने से इन शरीरांगों को ऐसी हानि प्राप्त हो जा सकती है जो कभी मिटायी नहीं जा सकती। जो लोग फेफड़ों एवं हृदय के रोगी हैं उन्हें अपने से ही प्राणायाम नहीं आरम्भ कर देना चाहिए, प्रत्युत उन्हें किसी दक्ष व्यक्ति से परामर्श ले लेना चाहिए। बहुत पहले स्वामी विवेकानन्द ने योग के विद्यार्थियों से यह कहा है कि उन्हें यह जान लेना चाहिए कि गुरु से सीधा सम्पर्क स्थापित करके ही वे योगाभ्यास करें। कुछ अपवाद हो सकते हैं, किन्तु बिना गुरु के योग का ज्ञान प्राप्त करना अच्छा नहीं है। योगसूत्र में कुल १६५ सूत्र हैं, जिनमें केवल ५ सूत्र (२।४६-५३) प्राणायाम-सम्बन्धी हैं, और ये ५ सूत्र भी सामान्य रूप वाले ही हैं। इससे प्रकट होता है कि पतञ्जलि ने यह चाहा है कि योगी केवल इन सूत्रों को पढ़कर या सुनकर ही प्राणायाम का अभ्यास न आरम्भ कर दे, प्रत्युत किसी प्रवीण एवं दक्ष योगी के निर्देश में ही ऐसा करे।

यह द्रष्टव्य है कि पतञ्जलि ने प्राणायाम के लिए यह नहीं व्यक्त किया है कि उसके साथ ओम् या गायत्री मन्त्र का मौन या मन्द जप हो। किन्तु स्मृतियों ने सन्ध्यावन्दन के बीच में प्रतिदिन प्राणायाम की व्यवस्था दी है। याज्ञ० (१।२२) में आया है कि तीन उच्च वर्णों के लोगों को प्रतिदिन स्नान करना चाहिए, मन्त्रों (ऋ० १०।६।१-३), आपो हिष्ठा आदि) के साथ मार्जन करना चाहिए, प्राणायाम करना चाहिए, सूर्य की पूजा एवं गायत्री का जप (ऋ० ३।६२।१०) करना चाहिए, प्राणायाम में व्याहृतियों के साथ गायत्री का तीन बार जप करना चाहिए, प्रत्येक गायत्री पाठ के पूर्व ओम् और उपरान्त शिरस् होना चाहिए। याज्ञ० द्वारा

६४. आसनेन रुजो हन्ति प्राणायामेन पातकम्। विकारं मानसं योगी प्रत्याहारेण सर्वदा ॥ गोरक्षशतक (५४)।

व्यवस्थित प्राणायाम आजकल प्रातः एवं सायं काल की संध्या में किया जाता है। ओम् या मन्त्र के मौन जप के साथ प्राणायाम **सगर्भ** या **सबीज** कहलाता है। बिना ओम् एवं मन्त्र के जो प्राणायाम होता है उसे **अगर्भ** या **अबीज** कहा जाता है। सबीज दोनों में अधिक अच्छा माना गया है। शान्ति० (३०४।९=३१६।६-१० चित्रशाला संस्करण) ने **सगुण** एवं **निर्गुण** प्राणायाम का उल्लेख किया है। योगभाष्य (योगसूत्र २।५२) ने एक उद्धरण दिया है—'प्राणायाम से बढ़कर कोई तप नहीं है, इससे मलों की विशुद्धि होती है और ज्ञान की दीप्ति चमक उठती है' (तपो न परं प्राणायामात्ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्य)।

हठयोगप्रदीपिका (२।४४) ने प्राणायाम के आठ प्रकार बतलाये हैं। दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, यथा—**उज्जायी** एवं **भस्त्रिका** का वर्णन श्री कुवलयानन्द ने अपनी पुस्तक 'प्राणायाम' के अध्याय ४ (पृ० ६७-६८) एवं अध्याय ६ (पृ० १०१-११५) में किया है और अन्य छह, यथा—**सूर्यभेदन, शीत्कारी, शीतली, भ्रामरी, मूर्च्छा** एवं **प्लाविनी** का उल्लेख उस पुस्तक के भाग २ में हुआ है। हठयोगप्रदीपिका (२।४८-७०) ने इन आठ प्राणायामों का विस्तृत वर्णन उपस्थित किया है। हम यहाँ पर स्थानाभाव से उनका उल्लेख नहीं करेंगे।

डा० रेले ने अपने ग्रन्थ 'मिस्टिरिएस कुण्डलिनी' में स्वयंसंचालित स्नायु-मण्डल का चित्र खींचा है, जो पाश्चात्य शरीर-विज्ञान के अनुरूप है। उसी चित्र में उन्होंने ६ चक्र भी प्रदर्शित किये हैं और उनके स्थान भी बतलाये हैं। इतना ही नहीं, उन्होंने सहस्रारचक्र भी बनाया है। उन्होंने प्रतिपादित किया है कि कुण्डलिनी दाहिनी 'वेगस' स्नायु है, जो उनकी मौलिक धारणा है। उनकी पुस्तक बड़ी मनोरम है और उन्होंने योगाभ्यास से सम्बन्धित एक विशद क्षेत्र की खोज की है। उन्होंने पाश्चात्य शरीर-विज्ञान का गम्भीरता से अध्ययन किया है, किन्तु भूमिका में उन्होंने यह स्वीकार किया है कि भारतीय योगाभ्यास-सम्बन्धी उनकी व्याख्याएँ सम्भावित निर्देश मात्र हैं। किन्तु यह अवलोकनीय है कि सर जॉन वुड्रौफ महोदय ने, जिन्होंने भारतीय योग एवं तन्त्र ग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन किया है और जिन्होंने डा० रेले के ग्रन्थ पर प्राक्कथन लिखा है, यह स्पष्ट कह दिया है कि डा० रेले की कुण्डलिनी-सम्बन्धी स्थापना उनको स्वीकार्य नहीं हो सकती। डा० उड्रौफ का कथन है कि कुण्डलिनी कोई स्नायु नहीं है और न कोई शारीरिक या मानसिक पदार्थ ही है, प्रत्युत वह दोनों के लिए एक आधार मात्र है। श्री कुवलयानन्द ने डा० रेले की पुस्तक की चर्चा करते हुए (प्राणायाम, भाग १ पृ० ५७) यह लिखा है कि डा० रेले ने प्रयोगशाला में कोई प्रयोग नहीं किया और न उन्होंने योग के विद्यार्थियों से परामर्श ही ग्रहण किया, अतः उनकी बातें सन्दिग्ध हैं। श्री कुवलयानन्द ने यह भी कहा है कि स्वामी विवेकानन्द के राजयोग-सम्बन्धी भाषण भी डा० रेले के ग्रन्थ में पाये जाने वाले दोषों से खाली नहीं हैं। स्वामी कुवलयानन्द (पृ० १२१-१२६) ने स्वास्थ्य, फेफड़ों की स्वस्थ क्रियाओं, पाचन-सम्बन्धी अंगों, हृदय, प्लीहा, वृक्क आदि की स्वस्थ क्रियाओं के लिए प्राणायाम को बहुत उपयोगी ठहराया है। उनके मत से प्राणायाम का आध्यात्मिक महत्त्व बहुत बड़ा है।

प्रत्याहार की परिभाषा योगसूत्र २।५४ में हुई है [६५] — 'जब इन्द्रियों का अपने विषयों से संयोग या सम्पर्क नहीं होता (अर्थात् वे उनसे पृथक् कर ली जाती हैं या लौटा ली जाती हैं, क्योंकि मन का निरोध

६५. स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः। ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्। यो० सू० (२।५४-५५)। 'प्रत्याहार' शब्द प्रति+आ+हृ से बना है। राजमार्तण्ड में व्याख्या है—'इन्द्रियाणि विषयेभ्यः प्रतीपमानीयन्तेस्मिन्निति प्रत्याहारः।' प्रत्याहार का शाब्दिक अर्थ है 'पीछे ले आना, लौटा लाना।' भाष्य में व्याख्या

हो चुका है) और इस प्रकार वे स्वयं चित्त (मन) के अनुरूप हो उठती हैं, तब प्रत्याहार होता है।' जब चित्त, योगी द्वारा निरुद्ध कर लिये जाने पर, इन्द्रिय-विषयों, यथा—स्वर (शब्द), स्पर्श, रूप, रस (स्वाद) एवं गन्ध से संयुक्त नहीं रहता और ज्ञानेन्द्रियाँ भी उससे पृथक् हो जाती हैं (या असम्बन्धित हो जाती हैं) तो इन्द्रियाँ स्वयं चित्त के अनुरूप हो उठती हैं (इसी से सूत्र में 'अनुकार इव' शब्दों का प्रयोग हुआ है)। इस (असंप्रयोग) से इन्द्रियों पर पूर्ण अधिकार प्राप्त हो जाता है। भावना यह है कि इन्द्रियविषयों से चित्त को हटाने पर इन्द्रियाँ भी उनके संयोग से हट जाती हैं। जब चित्त एकाग्र हो जाता है तो इन्द्रियाँ चित्त के साथ ही विषयों (अर्थात् पदार्थों) का परिज्ञान नहीं करतीं। प्रत्याहार चित्त की बाह्य क्रियाओं (बहिर्गामी गतियों) का निरोध है और इन्द्रियों के दासत्व से इसे स्वतन्त्र करना है। शान्ति० (१८८।५–७=१९५।६–७ चित्रशाला) में भी ऐसा आया है। विष्णुपुराण (५।१०।१४) ने प्रत्याहार की ओर संकेत किया है ('इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः प्रत्याहार इवाहरत्', अर्थात् जिस प्रकार प्रत्याहार इन्द्रियों को उनके विषयों से दूर हटाता है उसी प्रकार शरद ने जलों की मलिनता दूर कर दी)।[६६] वाचस्पति ने विष्णुपुराण से दो श्लोक उद्धृत किये हैं जिनमें योगसूत्र के ही विशिष्ट शब्द प्रयुक्त हैं, सम्भवतः इस पुराण ने योगसूत्र से ही आधार लिया है। देवलधर्मसूत्र ने प्रत्याहार की व्याख्या की है—'जब मन अपने अणुत्व (सूक्ष्मत्व), चापल्य, लाघव (विचारशून्यता) या अपनी शक्ति के फलस्वरूप योगभ्रष्ट हो जाता है तो उसे (चित्त या मन को) पुनः आत्मा की ओर लाकर उसमें (आत्मा में) प्रतिष्ठापित करना ही प्रत्याहार है।' कूर्मपुराण (२।११।३८) ने इसकी परिभाषा यों की है—'प्रत्याहार उन इन्द्रियों का निग्रह है जो स्वभावतः इन्द्रियविषयों से आकृष्ट हो उठती हैं।'[६७] देखिए शान्ति० (२३२।१३)।

है—'स्वविषयसंप्रयोगाभावे चित्तस्वरूपानुकार इवेति चित्तनिरोधे चित्तवन्निरुद्धानीन्द्रियाणि नेतरेन्द्रियजयवदुपायान्तरमपेक्षन्ते। यथा मधुकरराजं मक्षिका उत्पतन्तमनूत्पतन्ति निविशन्तमनु निविशन्ते तथेन्द्रियाणि चित्तनिरोधे निरुद्धानीत्येष प्रत्याहारः।' मधुकरराज एवं मधु निकालने वाली मक्षिकाओं का उदाहरण प्रश्नोपनिषद् (२।४) में भी आया है—'तद्यथा मक्षिका मधुकरराजानमुत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रातिष्ठन्ते। एवं वाङमनश्चक्षुःश्रोत्रं च।' यह सूत्र कई प्रकार से विवेचित हुआ है, किन्तु भाष्य ने जैगीषव्य के मत का अनुसरण किया है।

६६. शब्दादिष्वनुषक्तानि निगृह्याक्षाणि योगवित्। कुर्याच्चित्तानुकारीणि प्रत्याहारपरायणः॥ वश्यता परमा तेन जायते निश्चलात्मनाम्। इन्द्रियाणामवश्यैस्तैर्न योगी योगसाधकः॥ विष्णुपु० (६।७।४३-४४); कृत्यकल्प० (मोक्षकाण्ड, पृ० १७३) एवं अपरार्क (पृ० १०२५) ने भी इसे उद्धृत किया है। मार्कण्डेय पु० (३९।४१, कलकत्ता संस्करण, ३६।४१-४२, वेंक० संस्करण) में आया है—'शब्दादिभ्योऽनिवृत्तानि यदक्षाणि यतात्मभिः। प्रत्याह्रियन्ते योगेन प्रत्याहारस्ततः स्मृतः॥ कृत्यकल्प० (मोक्षकाण्ड, पृ० १७३)।

६७. अणुत्वाच्चापल्याल्लाघवाद्बलवत्त्वाद्वा योगभ्रष्टस्य मनसः पुनः प्रत्यानीयात्मनि योजनं प्रत्याहारः। देवल (कृत्यकल्प० मोक्ष०, पृ० १७३); अपरार्क (पृ० १०२५) ने इसे हारीत का माना है। इन्द्रियाणां विचरतां विषयेषु स्वभावतः। निग्रहः प्रोच्यते सद्भिः प्रत्याहारस्तु सत्तम॥ कूर्मपुराण (२।११।३८)। स्कन्द०, काशीखण्ड (४१।१०१); इन्द्रियाणां हि चरतां विषयेषु यदृच्छया। यत्प्रत्याहरणं युक्त्या प्रत्याहारः स उच्यते॥ 'युक्त्या' का अर्थ है 'विषयदोषदर्शनेन'।

योगसूत्र का तृतीय पाद **विभूति-पाद** (वह पाद जो योगी की अलौकिक शक्तियों का विवेचन करता है) कहलाता है। 'विभूति' शब्द प्रश्नोपनिषद् (५।४) में आया है और वहाँ कहा गया है कि जो व्यक्ति द्विमात्र ओम् का ध्यान करता है वह चन्द्रलोक में जाता है, जहाँ वह विभूति का आनन्द लेता है और पुनः इस पृथिवी पर चला आता है। यहाँ 'विभूति' शब्द का अर्थ सम्भवतः समृद्धिमय जीवन है। तृतीय पाद में सर्वप्रथम योग के आठ अंगों में अन्तिम तीन का विवेचन है। आठ अंगों में प्रथम पाँच को **बहिरंग** (संप्रज्ञात समाधि के परोक्ष सहायक) कहा जाता है और अन्तिम तीन को **अन्तरंग** (किन्तु ये भी निर्बीज योग के सन्दर्भ में बहिरंग कहे जाते हैं। क्योंकि निर्बीज योग इन तीनों अर्थात् धारणा आदि के अभाव में भी स्थापित हो सकता है) कहा जाता है। ये तीनों हैं—**धारणा, ध्यान** एवं **समाधि** और जब इन तीनों का अभ्यास एक ही विषय या पदार्थ पर किया जाता है तो इन्हें **संयम** कहा जाता है जो योगशास्त्र का एक पारिभाषिक शब्द है। कई प्रकार के संयम के परिणाम ही विभूतियाँ हैं। तृतीय पाद में १६ से ५२ तक के अधिकांश सूत्रों में पतञ्जलि ने इन तीन शब्दों के स्थान पर 'संयम' शब्द का ही प्रयोग किया है।

धारणा, ध्यान एवं **समाधि** योग के अन्तरंग अंग हैं और वे एक-के पश्चात् एक आने वाली अवस्थाए हैं, पूर्ववर्ती के पश्चात् उत्तरवर्ती अंग आता है। किसी एक स्थल या बिन्दु या पदार्थ पर चित्त को बाँधना **धारणा** है (देशबन्धश्चित्तस्य धारणा)। भाष्य में व्याख्या हुई है [६८] कि चित्त को शरीर के कुछ विशिष्ट अंगों पर लगाना चाहिए, यथा नाभिचक्र, हृदय-पुण्डरीक (कमल), सिर, ज्योति (आँख में), नासिका का अग्रभाग, जीभ का अग्रभाग आदि तथा उसे (चित्त को) बाह्य वस्तुओं (यथा—देवों की विभिन्न आकृतियों अथवा प्रतीकों) पर लगाना चाहिए। इस अवस्था में चित्त को स्थिर रूप से वरण की हुई वस्तु पर योगाभ्यास करने वाले की इच्छा-शक्ति द्वारा निश्चित किये हुए काल तक लगाना चाहिए। इस अवस्था में तीन तत्त्व हैं, यथा—कर्ता, विषय एवं धारणा की क्रिया। दूसरी अवस्था है **ध्यान**, जिस पर हम थोड़ी देर के पश्चात् विवेचन उपस्थित करेंगे। मार्कण्डेयपुराण (३६।४४–४५=३९।४४–४५ कलकत्ता संस्करण) ने योगी के शरीर के विभिन्न अंगों पर की गयी इन धारणाओं का उल्लेख किया है जो पतञ्जलि द्वारा प्रयुक्त बहुवचनान्त धारणाओं (धारणासु च योग्यता मनसः, योगसूत्र २।५३) का मानो समर्थन किया है। आश्वमेधिकपर्व (१९।३७) एवं शान्तिपर्व

६८. देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। योगसूत्र (३।१-२); इस पर भाष्य इस प्रकार है—नाभिचक्रे हृदयपुण्डरीके मूर्धि: ज्योतिषि नासिकाग्रे जिह्वाग्र इत्येवमादिषु देशेषु बाह्ये वा विषये चित्तस्य वृत्तिमात्रेण बन्ध इति धारणा। तस्मिन्देशे ध्येयालम्बनस्य प्रत्ययस्यैकतानता सदृशः प्रवाहः प्रत्ययान्तरेणापरामृष्टो ध्यानम्। लिंगपु० (१।८।४२-४३) में योगसूत्र के शब्दों की प्रतिध्वनि है—'चित्तस्य धारणा प्रोक्ता स्थानबन्धः समासतः।... तत्रैकचित्तता ध्यानं प्रत्ययान्तरवर्जितम्। उपनिषदों ने हृदय को कमल (पुण्डरीक) कहा है (देखिए छा० उप० ८।१।१; वे० सू० १।३।१४-२१ पर शंकराचार्य का भाष्य—दहर उत्तरेभ्य... आदि)। 'ज्योतिषि' सम्भवतः आँख के पुरुष की ओर अथवा अपने हृदयस्थ भगवान् की ओर संकेत करता है (छान्दोग्य० ८।७।४ या ६।१५।१—य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाच)। वाचस्पति ने 'बाह्ये वा विषये' की व्याख्या विष्णुपुराण (६।७।७७-८२) के कतिपय श्लोकों को उद्धृत कर के की है, जहाँ विष्णु के रूप के ध्यान करने का उल्लेख है; विष्णु के स्वरूप की यों चर्चा है—सदय मुख, कमल के समान आँखें, कानों में कुण्डल, छाती पर श्रीवत्स रत्नाभूषण, चार या आठ लम्बे-लम्बे हाथ, पीत वस्त्र, हाथों में शंख, धनु एवं गदा।

(१८८।८-१२=१६५।८ चित्रशाला संस्करण) में भी ऐसा आया है। याज्ञवल्क्यस्मृति (३।१६८-२०१) ने संक्षेप में ही आसन से लेकर धारणा एवं ध्यान तक के अंगों का उल्लेख किया है, यथा—'योगी को न अधिक उच्च और न अधिक नीचे आसन पर विराजमान होकर, अपने पाँवों को उत्तान करके दोनों जाँघों पर रखकर एवं बायीं हथेली (जो उत्तान दाहिने पाँव पर रखी हुई है) पर दूसरी (दायीं) हथेली (जो उत्तान है) को रखकर, मुख को थोड़ा ऊपर रखकर एवं शरीर को छाती से मिलाकर, आँखें बन्द करके, रज एवं तम से छुटकारा पाकर, ऊपरी एवं निचली दन्तपंक्तियों को पृथक्-पृथक् रखकर, जिह्वा को तालु में सटाकर, शरीर में किसी प्रकार का कम्पन न लाकर (अर्थात् शरीर को निश्चल रखकर), मुख को बन्द कर, इन्द्रियों को विषयों से दूर रखकर, दो प्रकार का या तीन प्रकार का २४ या २६ मात्राओं वाला प्राणायाम करना चाहिए, उस प्रभु की, जो हृदय में दीप के समान स्थित है, चिन्ता करनी चाहिए (अर्थात् ध्यान करना चाहिए) तथा उस प्रभु में धारणा के रूप में चित्त को लगाना (टिकाना) चाहिए।' देवल का कथन है कि शरीर, इन्द्रियों, मन, बुद्धि एवं आत्मा का निरोध करना ही धारणा है (अपरार्क पृ० १०२५ एवं कृत्यकल्प०, मोक्ष०, पृ० १७४ द्वारा उद्धृत)।

जिसकी चिन्तना की जाय उस विषय के परिज्ञान की एकाग्रता (निरन्तर प्रवाह अथवा चलते रहने वाली स्थिति) ही, जिसमें किसी अन्य भावना या परिज्ञान का अभाव हो **ध्यान** है। उपनिषदों ने ध्यान पर बल दिया है, यथा—माण्डूक्योपनिषद् (२।२।६) में आया है—'ओम् के रूप में आत्मा का ध्यान करो'; बृ० उप० (२।४) में प्रसिद्ध वचन है—'आत्मा द्रष्टव्य (देखे जाने योग्य) है, श्रोतव्य (सुने जाने योग्य) है, मन्तव्य (समझा जाने वाला) एवं निदिध्यासितव्य (जिसकी चिन्तना की जाय) है।' छा० उप०। (७।६।२) में ध्यान शब्द 'एक ही विषय पर सभी विचारों को केन्द्रित करने' के अर्थ में प्रयुक्त है।[६९] श्वेताश्वतरोपनिषद् (१।३) एवं गीता (१८।५२) ने ध्यानयोग का उल्लेख किया है। और देखिए शान्ति० (१८८।१३=१६५। १३-१८ चित्रशाला), देवलधर्मसूत्र (कृत्यकल्प०, मोक्ष०, पृ० १८१), विष्णुपुराण (६।७।६१,' वाचस्पति, कृतकल्प०, मोक्ष० पृ० १७५)। अपरार्क (पृ० १०२५-२७) ने विष्णुधर्मसूत्र के अध्याय ९७ से उद्धरण दिया है, जिसमें कहा गया है कि योगी को उस सर्वज्ञ, विभु एवं सर्वशक्तिमान् प्रभु का ध्यान करना चाहिए, जो तीनों गुणों (सत्त्व, रज एवं तम) से हीन है, २४ तत्त्वों के ऊपर है, जो इन्द्रियातीत है और यदि वह एक बार रूपहीन प्रभु पर ध्यान लगाने में असमर्थ हो तो उसे क्रमशः पृथिवी एवं अन्य तत्त्वों, मन, बुद्धि, आत्मा, अव्यक्त से ऊपर उठना चाहिए; यदि वह इतना भी न कर सके तो उसे उस व्यक्ति का ध्यान करना चाहिए जो उसके हृदय (कमल) में दीप के समान है; यदि यह असम्भव हो तो उसे उस वासुदेव का ध्यान करना चाहिए जिसकी छाती (वक्ष) पर वनमाला है, जिसके हाथों में शंख, चक्र, गदा एवं पद्म हैं। विष्णुधर्मसूत्र ने इतना

६९. आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः। बृह० उप० (२।४।५); ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्। मुण्डक० (२।२।६)। नि के साथ ध्यै मिलकर निदिध्यासितव्य बना है। छा० उप० (७।६।२) में आया है—ध्यानं वाव चित्ताद् भूयः। ध्यायतीव पृथिवी . . . ध्यायन्तीव देवमनुष्याः, तस्माद्य इह मनुष्याणां महत्तां प्राप्नुवन्ति ध्यानापादांशा इवैव ते भवन्ति। . . .ध्यानमुपास्स्वेति। पृथिवी उसी प्रकार गतिहीन है जिस प्रकार गम्भीर ध्यान में एक योगी निश्चल (गतिहीन) रहता है, और इसी से ऐसा कहा गया है: 'पृथिवी मानो ध्यान में मग्न है।'

और जोड़ दिया है कि वह (योगी) जिसका ध्यान करता है उसकी उपलब्धि करता है, और यही ध्यान का रहस्य है। इससे प्रकट होता है कि ध्यान या तो **सगुण** होता है या **निर्गुण**, जैसा कि पद्मपुराण के ४।८४।-८०–८६ (निर्गुण) एवं ४।८४।८८–९६ (सगुण) में आया है, या **साकार** एवं **निराकार** होता है, जैसा कि पद्मपुराण (२।८०।७०, ७०–७८) में व्यक्त किया गया है। और देखिए विष्णुपुराण (६।७।७८–९०), स्कन्द० (काशीखण्ड ४१।१९), नरसिंहपुराण (१७।११–२८, २६।१७); कृत्यकल्पतरु, मोक्ष० (पृ० १९१–१९२); शंख-स्मृति (७।१६)। ध्यान की अवस्था में केवल कर्ता (योगी) एवं विषय (ध्यान के विषय) में द्वैध पाया जाता है, विषय पर मन को बाँधने के प्रयास की चेतनता नहीं पायी जाती, जैसा कि धारणा में होता है।

समाधि वह अवस्था है जिसमें केवल ध्येय ही प्रकाशित रहता है और ध्यान, ऐसा प्रतीत होता है, स्वयं शून्य हो गया है, क्योंकि उस स्थिति में ध्यान का ध्येय से पृथक् कोई ज्ञान या भास नहीं रहता।[७०] समाधि में ध्यान उस स्थिति तक पहुँच जाता है कि केवल ध्येय की प्रतीति होने लगती है और ध्यानकर्ता को ध्यान करने की भावना की चेतनता नहीं रहती, क्योंकि ध्येय पूर्णरूप से ध्यानकर्ता को अपने में विलीन कर लेता है। योगी ध्येय से इस प्रकार घुल-मिल जाता है कि उसे इसका भास ही नहीं होता कि वह किसी वस्तु या विषय पर सोच रहा है या ध्यान दे रहा है। 'स्वरूपशून्यमिव' (योगसूत्र ३।३) का यही तात्पर्य है। समाधि में ध्यानकर्ता एवं ध्येय, व्यक्ति एवं परमात्मा पूर्णतया एक हो जाते हैं और ध्येय से ध्यानकर्ता की पृथक् भावना का लोप हो जाता है। 'समाधि' शब्द प्राचीन उपनिषदों में कहीं भी उल्लिखित नहीं है, केवल मैत्रायणी उपनिषद् में इसका उल्लेख है (२।१८)। गीता (२।५३–५४), वनपर्व (३।११) एवं शान्तिपर्व (१९५।१९–२०, चित्रशाला) में यह शब्द आया है। विष्णुपुराण (६।७।९२) में कहा गया है कि वही समाधि कहलाती है जब मन ध्यान के फलस्वरूप उसके (परमात्मा के) वास्तविक स्वरूप को धारित कर लेता है और जिसमें (ध्येय, ध्यानकर्म एवं ध्यानकर्ता के) पृथक् भास का अभाव हो जाता है।[७१] **संप्रज्ञात समाधि** में

७०. तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः। त्रयमेकत्र संयमः। तदपि बहिरंगं निर्बीजस्य। योग-सूत्र (३।३, ४,८)। ध्यानमेव ध्येयाकारनिर्भासं प्रत्ययात्मकेन स्वरूपेण शून्यमिव यदा भवति ध्येयस्वभावावेशात् तदा समाधिरित्युच्यते। तदेतद् धारणा-ध्यान-समाधित्रयमेकत्र संयमः। एकविषयाणि त्रीणि साधनानि संयम इत्युच्यते। तदस्य त्रयस्य तान्त्रिकी परिभाषा संयम इति। तदप्यन्तरंगं साधनत्रयं निर्बीजस्य ययोगस्य बहिरंगं भवति। कस्मात्, तदभावे भावात्। १।७ योगसुधाकर, १।६ असंप्रज्ञात। राजमार्तण्ड ने 'समाधि' शब्द की व्याख्या की है—'सम्यगाधीयते एकाग्रीक्रियते विक्षेपान् परिहृत्य मनो यत्र स समाधिः। योगसूत्र (३।३) पर सदाशिवेन्द्र सरस्वती के योगसुधाकर (पृ० ११८) में संप्रज्ञात एवं असंप्रज्ञात समाधि का अन्तर इस प्रकार समझाया गया है—'ब्रह्माकारमनोवृत्तिप्रवाहोऽहंकृतिं विना। संप्रज्ञातसमाधिः स्यात् ध्यानाभ्यासप्रकर्षतः॥ इति।.... पर-वैराग्यपूर्वकं निरोधप्रयत्नेन तस्यापि निरोधे सर्ववृत्तिनिरोधान्निर्बीजः समाधिर्भवति। तदुक्तम्। मनसो वृत्तिशून्यस्य ब्रह्माकारतया स्थितिः। याऽसंप्रज्ञातनामासौ समाधिरभिधीयते॥ इत्येष विभागो द्रष्टव्यः।

७१. तस्यैव कल्पनाहीनं स्वरूपग्रहणं हि यत्। मनसा ध्याननिष्पाद्यं समाधिः सोऽभिधीयते॥ विष्णुपु० (६।७।९२); वाचस्पति, कृत्यकल्प० (मोक्ष० पृ० १७५) एवं अपरार्क (पृ० १०२६, जिसने व्याख्या की है—'तस्य ब्रह्मणः कल्पनाहीनं ध्येयं ध्यानं ध्यातेति भेदप्रत्यय रहितं...आदि) ने उद्धृत किया है। लिंगपुराण (१।८।४४) में आया है—'चिद्भासमर्थमात्रस्य देहशून्यमिव स्थितम्। समाधिः सर्वहेतुश्च प्राणायाम इति स्थितः॥'

ये तीनों (धारणा, ध्यान एवं समाधि) प्रत्यक्ष सहायक हैं, किन्तु **असंप्रज्ञात समाधि** में परोक्ष रूप से सहायक हैं, क्योंकि यह इनके अभाव में भी हो जाती है। हठयोगप्रदीपिका (४।७) में आया है--'समाधि वह कहलाती है जब कि जीवात्मा एवं परमात्मा में ऐक्य स्थापित हो जाता है और सभी संकल्पों का लोप हो जाता है।'[७२] **सबीज** एवं **निर्बीज** समाधि **सविकल्प** एवं **निर्विकल्प** समाधि के सदृश ही है, जैसा कि वेदान्तसार द्वारा परिभाषित है। संप्रज्ञात समाधि की चार कोटियाँ हैं, यथा--**सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार** एवं **निर्विचार**। देखिए इस अध्याय की पाद-टिप्पणी सं० ३१ 'गौ' शब्द के द्वारा निर्देशित 'गौ' नामक वस्तु एवं धारणा या भावना (ज्ञान) कि 'यह गौ है', वास्तव में तीन पृथक् विषय हैं, किन्तु उनका मिश्रित भास होता है। यदि कोई योगी किसी विषय पर एकाग्र होता है और उसकी बुद्धि इन उपर्युक्त तीन बातों से सचेत है तो यह **सवितर्क समाधि** कही जायगी (योगसूत्र १।४२)। अन्य प्रकारों के लिए देखिए पाद-टिप्पणी ३१ एवं नीचे। असंप्रज्ञात समाधि में योगी के अन्दर अन्तिम सत्ता उदित होती है, प्रकृति उसे किसी भी प्रकार से प्रभावित नहीं करती, उसका आत्मा स्वयं अपने में स्थित रहता है और व्यक्तित्व के विषय में सचेत भी नहीं रहता और न आनन्द की ही अनुभूति करता है, सब कुछ चित् या चित्शक्ति होती है और कुछ नहीं। हम यहाँ पर समाधि की विभिन्न अवस्थाओं का विशद विवेचन नहीं करेंगे, क्योंकि हमारा सम्बन्ध है धर्मशास्त्र पर होने वाले योग के प्रभाव से, न कि योग सम्बन्धी विस्तृत विवेचन से। गोरक्षशतक में समाधि की अन्तिम अवस्था का वर्णन इस प्रकार है--- 'समाधि में समायुक्त योगी को गन्ध, रस, रूप, स्पर्श या स्वर का भास नहीं होता और न उसे अपने एवं अन्यों में कोई अन्तर दीखता है; ब्रह्मवित् लोग इसे निर्मल, निश्चल, नित्य, निष्क्रिय, निर्गुण, विशाल व्योम के समान विस्तृत, विज्ञान एवं आनन्द समझते हैं; योगवित् परम पद में उस नित्य अद्वयता को प्राप्त होता है, जैसा कि दुग्ध में दुग्ध, घृत में घृत एवं अग्नि में अग्नि डालने से ऐक्य होता है।'[७३]

यह द्रष्टव्य है कि धारणा, ध्यान एवं समाधि में जो प्रमुख बल लगाया जाता है वह मानसिक है। बाह्य दशाएँ अभ्यास में अवश्य सहायक होती हैं, किन्तु हैं वे गौण ही। जैसा कि हमने ऊपर देख लिया है, शौच, सन्तोष, तप, ब्रह्मचर्य, कुछ सरल आसन, वैराग्य, भोजन के विषय में उसके गुण एवं मात्रा सम्बन्धी रोक---ये सब मुख्य बाह्य या शारीरिक दशाएँ हैं। धारणा, ध्यान एवं समाधि के अभ्यास के साथ योगी कुछ अलौकिक शक्तियों (विभूतियों) का विकास कर सकता है, जिनकी उसे उपेक्षा करनी होती है, क्योंकि वे ध्येय की प्राप्ति में रुकावटें उत्पन्न करती हैं (योगसूत्र ३।३६)। ऐसा पतञ्जलि का कथन है, किन्तु अधिकांश योगियों की दृष्टि में सिद्धियाँ योग के महत्त्वपूर्ण अंग हैं और योगसूत्र के १९५ सूत्रों में ३५ सूत्र (३।१६--५०) सिद्धियों

७२. तत्समं च द्वयोरैक्यं जीवात्मपरमात्मनोः। प्रनष्टसर्वसंकल्पः समाधिः सोऽभिधीयते॥ ह० यो० प्र० (४।७)। और देखिए स्कन्द० (काशीखण्ड, ४७।१२७), जहाँ यही बात दी गयी है।

७३. न गन्धं न रसं रूपं न स्पर्शं न च निःस्वनम्। आत्मानं न परं वेत्ति योगी युक्तः समाधिना॥ निर्मलं निश्चलं नित्यं निष्क्रियं निर्गुणं महत्। व्योम विज्ञानमानन्दं ब्रह्म ब्रह्मविदो विदुः॥ दुग्धे क्षीरं घृते सर्पिरग्नौ वह्निरिवार्पितः। अद्वयत्वं व्रजेन्नित्यं योगवित्परमे पदे॥ गोरक्षशतक (श्लोक ९७,९९--१००)। प्रथम श्लोक हठयोगप्रदीपिका (४।१०८) में भी है। मिलाइए श्वेताश्वतरोपनिषद् (६।१९) 'निष्कलं निष्क्रियं'; कठोपनिषद् (३।१५): अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं; विज्ञानमानन्दं ब्रह्म, बृह० उप० (३।९।२८) एवं श्वेताश्व० उप० (१।१५): 'तिलेषु तैलं... वाग्निः' एवं 'दुग्धे क्षीरं... आदि।'

के उल्लेख में लगे हैं, तो ऐसा प्रतीत होता है कि सिद्धियाँ योग के महत्त्वपूर्ण अंग अवश्य हैं। वैखानसस्मार्तसूत्र में आया है कि योगी लोगों के बीच से अचानक अदृश्य हो सकता है, बहुत दूर की वस्तुओं को देख सकता है तथा बहुत दूर का स्वर सुन सकता है।

योगसूत्र के पाद ३ में उल्लिखित सभी संयमों के परिणामों का उल्लेख अनावश्यक है। उदाहरणस्वरूप कुछ दिये जा रहे हैं। हाथी की शक्ति पर संयम करने से व्यक्ति हाथी की शक्ति प्राप्त कर सकता है (३।२४), सूर्य पर संयम करने से सात लोकों का ज्ञान हो सकता है (३।२६), चन्द्र के संयम से तारों की व्यवस्था का ज्ञान हो सकता है (३।२७), नाभिचक्र के संयम से शरीर की व्यवस्था (३।२९ यथा तीन दोष—वात, पित्त एवं कफ तथा सात धातुएँ—चर्म, रक्त, मांस, स्नायुओं, अस्थियों, मज्जा एवं वीर्य) का ज्ञान हो सकता है। स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म (तन्मात्राएँ), अन्वय एवं पञ्चभूतों के संयम से तत्त्वों पर जय होती है और इस जय से अणिमा आदि सिद्धियों का उदय होता है और शरीर में सिद्धि की उपलब्धि होती है (यथा—पृथिवी अपने कठोर पाषाण-खण्डों से योगी को भीतर जाने से रोक नहीं सकती, अग्नि जला नहीं सकती आदि-आदि)।[७४] ४।१ में पतञ्जलि का कथन है कि सिद्धियाँ पाँच रूपों में उदित होती हैं, यथा—(१) कुछ शरीरों में जन्म लेने (यथा पक्षी के रूप में जन्म लेकर, जो आकाश में बहुत ऊँचाई तक जा सकता है), (२) कुछ ओषधियों के प्रयोग से, (३) कुछ मन्त्रों के जप से, (४) तप से (जो नियमों में एक है) तथा (५) समाधि द्वारा, जिनमें प्रत्येक अपने पूर्ववर्ती से श्रेष्ठ है।[७५]

७४. स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतत्वजयः। ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च। रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पत्। योगसूत्र (३।४४-४६)। 'स्वरूप' में पाँच तत्त्वों के गुण पाये जाते हैं और उसकी व्याख्या पृथिवी की कठोरता, जल की द्रवता (रसता), अग्नि की उष्णता, वायु की गतिशीलता तथा आकाश की विभुता से की गयी है। तत्त्वों का चौथा रूप 'अन्वय' ख्याति (प्रकाश), क्रिया एवं स्थिति के गुणों का द्योतक है। भाष्य में आया है—'अन्वयिनो गुणाः प्रकाशप्रवृत्तिस्थितिरूपतया सर्वत्रैवान्वयित्वेन समुपलभ्यन्ते।' देखिए योगसूत्र (२।१८): 'प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्।' 'प्रकाश', 'क्रिया' एवं 'स्थिति' क्रम से सत्त्व, रज एवं तम नामक गुणों के द्योतक हैं। और देखिए सांख्यकारिका (१३)। पाँचवा 'अर्थवत्त्व' पाँच तत्त्वों में पाया जाता है और अनुभूति एवं आत्मा की उपलब्धि में उपयोगी होता है। 'वज्रसंहननत्व' वज्र के समान शरीर की कठोरता की प्राप्ति, 'वज्रस्य इव संहननं संहतिः स्स्य, तस्य भावः वज्रसंहननत्वम्।' भाष्य ने 'तद्धर्मानभिघातश्च' को इस प्रकार समझाया है—'पृथ्वी मूर्त्या न निरुणद्धि योगिनः शरीरादिक्रियां, शिलामप्यनुविशतीति। नापः स्निग्धाः क्लेदयन्ति। नाग्निरुष्णो दहति... आदि।'

७५. जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः। योगसूत्र (४।१)। अर्नेस्ट वुड ('योग', १९५९, पेंगुइन ग्रन्थमाला) ने लघिमा के विषय में (पृ० १०४) लिखा है—'मुझे स्मरण है, एक बूढ़ा योगी पार्श्वशायी रूप में या लेटे हुए खुली भूमि पर लगभग ६ फुट ऊपर उठ गया और उसी रूप में आधा घण्टा रुका रहा और दर्शक लोग उसके और भूमि के बीच में अपनी छड़ियाँ आर-पार करते रहे।' वुड ने आगे लघिमा का एक और उदाहरण दिया है, जिसे सिक्किम की राजकुमारी ने अपनी आँखों से देखा था। ए० कोयेस्टलर ने अपने ग्रन्थ 'दि लोटस एण्ड दि रॉबॉट' (लन्दन, १९६०, पृ० ११४) में लिखा है कि उन्हें श्री वुड का उदाहरण सन्देहपूर्ण लगता है, क्योंकि वुड ने निश्चित तिथि एवं स्थान की सूचना नहीं दी है। उन्होंने यह बल देकर कहा है कि लघिमा पर कोई भी प्रयोग

इस खण्ड के अध्याय २६ में सिद्धियों का उल्लेख हुआ है। देवलधर्मसूत्र ने सिद्धियों पर एक लम्बी टिप्पणी की है, जिसका उद्धरण कल्पतरु (मोक्ष०, पृ० २१६-२१७) द्वारा दिया गया है।[७६] याज्ञ० (३।२०२-२०३) ने योगसिद्धि के कुछ विशिष्ट लक्षणों का उल्लेख किया है, यथा—अन्तर्धान होना, पूर्व जीवन की बातों को स्मरण कर लेना, सुन्दर रूप धारण कर लेना, अतीत एवं भविष्य की घटनाओं एवं दूर के विषयों को देख लेने की समर्थता प्राप्त कर लेना, दूर पर क्या कहा जा रहा है उसे जान लेना, अपने शरीर को छोड़कर अन्य के शरीर में प्रवेश कर जाना, अपने मन के अनुरूप बिना किसी साधन एवं उपकरण के वस्तु की सृष्टि कर लेना।

तन्त्र वाले अध्याय में हमने मन्त्रों के विषय में विशद रूप से पढ़ लिया है। देखिए इस खण्ड का अध्याय २६। मन्त्रों के विषय में दो सिद्धान्त हैं, जिनमें एक है कम्पन सिद्धान्त (वाइब्रेशन थ्योरी), अर्थात् मन्त्र के शब्द मौलिक प्रणेता एवं प्रयोगकर्ता की कुछ शक्तियों से अभिभूत रहते हैं और जब मन्त्र का पाठ किया जाता है तो कुछ अज्ञात कम्पन उठ खड़े होते हैं जिनसे उस उद्देश्य की पूर्ति होती है जिसके लिए वह मन्त्र कहा जाता है। दूसरा सिद्धान्त यह है कि मन्त्र प्राचीन काल से किसी महान् मुनि के अन्तःकरण से निर्गत होकर आया रहता है, निर्देश करने की इसकी शक्ति महान् होती है। किन्तु प्रस्तुत लेखक के मत से मन्त्र की वास्तविक शक्ति उसे उच्चारण करने वाले व्यक्ति के ज्ञान, उसकी प्रतिक्रियाशीलता एवं उसकी आध्यात्मिक शक्ति पर निर्भर रहती है। इस विषय में कोई वैज्ञानिक प्रयोग नहीं किया गया है और विभिन्न ग्रन्थ विभिन्न ढंगों से उपर्युक्त सिद्धान्तों में किसी एक को अतिशयोक्ति के साथ महत्त्व देते हैं। सभी कुछ मात्र कल्पना या वितर्कना है। वास्तव में, दूसरे सिद्धान्त पर अधिक बल दिया जा सकता है, क्योंकि इसमें मानव-मनोविज्ञान की स्पष्ट झलक है। पहले सिद्धान्त के विषय में उतना अतिचार (असीम माहात्म्य) बढ़ गया कि प्रसिद्ध मन्त्र 'ओम् मणिपद्मे हुम्' (जो अवलोकितेश्वर देवता का है) बहुत लाभकारी माना जाने लगा, जब कि उसे किसी वस्तु पर लिखकर और किसी चक्र (पहिया) पर सटा कर सैकड़ों बार घुमाया जाये! दूसरे सिद्धान्त से गुरु एवं दीक्षा की महत्ता बढ़ गयी, और इस विषय में भी अतिचार का महत्त्व अधिक हो गया। किन्तु इस सिद्धान्त में एक विशिष्ट बात यह पायी जाने लगी कि शिष्य को तदनुरूप योग्यता के लिए प्रयत्नशील होना पड़ा, अर्थात् उसे गुरु के प्रति श्रद्धा प्रवाहित करनी पड़ी, उसे आध्यात्मिक बातों में अभिरुचि लेनी पड़ी। शास्त्रों के सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त करना पड़ा तथा गुरु की दी हुई शिक्षा में अभ्यासमग्न होना पड़ा। गुरु एवं शिष्य के सम्बन्ध में विशिष्ट जानकारी के लिए देखिए शिवसंहिता (३।१०-१६)।

तिथि एवं स्थान के साथ नहीं प्रकाशित हुआ है। डा० अलेक्जेण्डर कैनन ने अपनी पुस्तक 'दि इनविजिबल इंफ्लुएंस (१६३५, पृ० ३६-४१) में लघिमा पर एक व्यक्तिगत अनुभव का उल्लेख किया है। पता नहीं श्री ए० कोयेस्टलर महोदय इस कथन से परिचित हैं या नहीं।

७६. देवलधर्मसूत्र की लम्बी टिप्पणी का कछ अंश यों है—'अणिमा महिमा लघिमा प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं यत्रकामावसायित्वं चाष्टावैश्वर्यगुणाः। तेषामणिमा महिमा लघिमा त्रयः शारीराः॥ प्राप्त्यादयः पञ्चैन्द्रियाः।... शरीराशुगामित्वं लघिमा। तेनातिदूरस्थानपि क्षणेनासादयति। विश्वविषयावाप्ति प्राप्तिः। प्राप्त्या सर्वप्रत्यक्षदर्शी भवति।... अप्रतिहतैश्वर्यमीशित्वम्। ईशित्वेन दैवतान्यपितिशेते।... यत्रकामावसायित्वं त्रिविधम्—छायावेशः, अवध्यानावेशः, अंगप्रवेश इति। यत् परस्य अंगप्रवेशमात्रेण चित्तं वशीकरोति स छायावेशः। यद् दूरस्थानामपि अनुध्यायेन चित्ताधिष्ठानं सोऽवध्यानावेशः। यत्सजीवस्योभिस्ते (?) जीवस्य वा शरीरानुप्रवेशनं सोऽङ्गप्रवेशः; अन्तर्धानं स्मृतिः कान्तिर्दृष्टिः श्रोत्रज्ञता तथा। निजं शरीरमुत्सृज्य परकायप्रवेशनम्। अर्थानां छन्दतः सृष्टिर्योगसिद्धेश्च लक्षणम्॥ याज्ञ० (३।२०२-२०३)।

योगसूत्र के **चौथे पाद** में **कैवल्य** का विवेचन है—वह योगी जो समाधि तक की सारी अनुशासन सम्बन्धी क्रियाएँ कर चुका है और पुरुष एवं गुणों (सत्त्व, रज एवं तम) के अन्तर को भली भाँति समझ गया है, तीनों गुणों के प्रभाव से छुटकारा पा जाता है, क्योंकि वे (गुण) आत्मा के उद्देश्य की पूर्ति करके **प्रधान** (प्रकृति) में समाहित हो जाते हैं। यही **कैवल्य** है अथवा यही (कैवल्य) उस चेतना का द्योतक है जो स्वयं उपस्थित रहती है (और यहाँ तक कि सत्त्वगुण से भी सम्बन्धित नहीं रहती)।[७७] यही स्थिति योगसूत्र (२।२५) में भी वर्णित है; उसमें आया है कि जब अविद्या अन्तर्भेद (विवेकज्ञान) करने से दूर हो जाती है तो जीवात्मा (जो प्रत्यक्षीकरण करने वाला है) गुणों के सम्पर्क में नहीं आता, यही स्थिति कैवल्य की है।[७८] योगसूत्र (४।३४) में कैवल्य दो दृष्टि-कोणों के आधार पर समझाया गया है। जब कोई पुरुष गुणों (जिनसे प्रकृति बनी रहती है) द्वारा किसी प्रकार प्रभा-वित होना बन्द कर देता है, क्योंकि वह पूर्णतया वृत्तिहीन हो गया रहता है, तो प्रकृति, जहाँ तक पुरुष का सम्बन्ध है, तटस्थ **(केवल)** हो जाती है। जब पुरुष को पूर्ण ज्ञान हो जाता है और वह गुणों से प्रभावित होना बन्द कर देता है तो वह 'चितिशक्ति' (केवल चेतनता) रह जाता है और **केवल** बच रहता है अर्थात् तटस्थ हो जाता हैं, यही कैवल्य के विषय में दूसरा दृष्टिकोण है। कैवल्य या मोक्ष की स्थिति में हम उसके लिए किसी आनन्द या परमसुख (सुखातिशय या प्रहर्ष) का निर्देश नहीं कर सकते, किन्तु हम केवल इतना कह सकते हैं कि वह चिति-शक्ति (केवल या मात्र चेतनता) की अवस्था में है। उपनिषदों ने घोषणा की है कि ऐसी अवस्था में मुक्तात्मा में न तो सुख की और न दुःख की ही अनुभूति पायी जाती, ऐसे आत्मा को सुख या इसका विरोधी भाव स्पर्श तक नहीं करता, क्योंकि वह उस स्थिति में पहुँच गया रहता है जहाँ उसका शरीर से कोई सम्बन्ध (रुचि या लगाव) नहीं रहता। योग का आदर्श है **जीवन-मुक्त** हो जाना (अर्थात् जीवन एवं व्यक्तित्व को त्याग देना; इस विश्व के लिए मर जाना, भले ही शरीर कुछ काल तक चलता रहे)।[७९]

योग के आठ अंगों का अधिक या कम वर्णन कई पुराणों में हुआ है। देखिए अग्निपु० (अध्याय २१४-२१५ एवं ३७२-७६); भागवत०। (३।२८); कूर्म० (२।११); नरसिंह० (६१।३-१३, कल्पतरु, मोक्ष० पृ० १६४-१६५ में उद्धृत); मत्स्य० (अध्याय ५२); मार्कण्डेय० (अध्याय ३६-४०, वेंक० संस्करण एवं ३६-४३ कलकत्ता संस्करण, इसमें लगभग २५० श्लोक हैं, जिनमें बहुत-से कृत्यकल्पतरु, मोक्ष० में, अपरार्क आदि द्वारा उद्धृत हैं); लिङ्ग०;

७७. पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति। योगसूत्र (४।३४); भाष्य है—'कृतभोगापवर्गाणां पुरुषार्थशून्यानां यः प्रतिप्रसवः कार्यकारणात्मकानां गुणानां तत्कैवल्यं, स्वरूपप्रतिष्ठा पुनर्बुद्धिसत्त्वानभिसम्बन्धात्पुरुषस्य चितिशक्तिरेव केवला, तस्याः सदा तथैवावस्थायां कैवल्यमिति।' वाचस्पति ने 'प्रतिप्रसवः' का अर्थ 'स्वकारणे प्रधाने लयः' लगाया है।

७८. तस्य हेतुरविद्या। तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्। यो० सू० (२।२४-२५)। तस्यादर्शन-स्याभावाद् बुद्धिपुरुषसंयोगाभाव आत्यन्तिको बन्धनोपरम इत्यर्थः। एतद्धानम्। तद्दृशेः पुरुषस्यामिश्रीभावः पुनरसंयोगो गुणैरित्यर्थः। दुःखकारणनिवृत्तौ दुःखोपरमो हानं तदा स्वरूपप्रतिष्ठः पुरुष इत्युक्तम्। भाष्य। कैवल्य का अर्थ है 'एकाकिता', अर्थात् स्वयं अकेला रहना।

७९. अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः। छा० उप० (८।१२।१); अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति। कठ० (२।१२)। वेदान्तसूत्र का (४।४।२ मुक्तः प्रतिज्ञानात्) छा० उप० (८।१२।१) पर आधृत है।

(१।८); वायु० (अध्याय १०-१५); विष्णु० (६।७, जो विचार एवं शब्दों में योगसूत्र के समान है); विष्णु-धर्मोत्तर० (३।२८०-२८४); स्कन्द० (काशीखण्ड, अध्याय ४१)।

श्री जेराल्डिन कॉस्टर महोदय ने अपने ग्रन्थ 'योग एण्ड वेस्टर्न साइकॉलॉजी' (आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९३४) में योग की प्रशंसा की है जो पठनीय है। उन्होंने लिखा है—'मुझे विश्वास है कि वे विचार, जिन पर योग आधृत है, मानव के लिए सार्वभौम रूप में सत्य हैं और योगसूत्र में इतनी सामग्री है जिसका हमें पता चलाना चाहिए और उपयोग करना चाहिए (पृ० २४४)'...'मेरा तो यह कहना है कि पूर्व में योग का जो अनुसरण किया जाता है वह मानसिक विकास की व्यावहारिक प्रणाली एवं विश्लेषणात्मक शान्तिकर अर्थात् रोग निवारक है, वह सामान्य विश्वविद्यालयीय पाठ्यक्रम की अपेक्षा अधिक व्यावहारिक है एवं वास्तविक जीवन से कहीं अधिक सम्बन्धित है। मुझे इसकी प्रतीति एवं विश्वास है कि पतञ्जलि के योगसूत्र में सचमुच ऐसी व्यापना है जिसे अर्वाचीन काल के अति विकसित एवं प्रवीण मनश्चिकित्सक बड़ी निष्ठा के साथ खोजने में संलग्न हैं (पृ० २४५)।'

डा० बेहनन की पुस्तक 'योग, एक वैज्ञानिक मूल्यांकन' का अन्तिम अध्याय बड़ा महत्वपूर्ण एवं मनोरम है। उन्होंने योग के कतिपय स्वरूपों का मूल्यांकन किया है जो स्वयं अपने पर किये गये प्रयोगों पर आधृत है। डा० बेहनन ने लोनावाला (पूना) के स्वामी कुवलयानन्द के निर्देशन में एक वर्ष बिताया और स्वयं प्राणायाम में वे तीन वर्षों तक संलग्न रहे। यहाँ स्थानाभाव से हम उनके मूल्यांकन की सभी बातों को नहीं रख सकते, किन्तु उनके कुछ निष्कर्षों को बिना दिये रह भी नहीं सकते। उन्हें इसकी अनुभूति हुई है कि योगाभ्यास से चित्त (मन) अन्तर्मुख हो जाता है और बाह्य संसार से वह तटस्थ हो जाता है (पृ० २३२)। उन्हें पता चला है कि सम्भवतः प्राणायाम से ऐसी विश्राम-स्थिति आती है कि मन अन्तर्मुखता की ओर उन्मुख हो जाता है (पृ० २३४)। सामान्य रूप से साँस लेने की प्रक्रिया की तुलना करने के पश्चात् उन्हें पता चला है कि **उज्जायी** में आक्सीजन की वृद्धि २४.५%, **भस्त्रिका** में १८.५% एवं **कपालभाति** में १२% हुई। नासिका के अग्र भाग पर अनिमिष रूप से ध्यान लगाने से मन की चंचल वृत्तियों का निरोध होता है (पृ० २४२)। यौगिक अभ्यासों से संवेगात्मक स्थिरता आती है। डा० बेहनन ने लगभग आधे दर्जन से अधिक योगाभ्यासियों को बहुत सन्निकट से देखा, उनके जीवन का अवलोकन किया और अन्त में यही निष्कर्ष निकाला कि उन्होंने अपने जीवन में जितने लोगों को देखा है उनमें ये योगाभ्यासी ही अत्यन्त सुखी व्यक्ति हैं जिनकी प्रसन्न मुद्रा संपर्कीय हो उठती है अर्थात् अन्य लोगों में फैल जाती है (पृ० २४५)।

डा० पी० ए० सोरोकिन ने, जो हार्वर्ड यूनिवर्सिटी में हैं और आज के महान् समाज-शास्त्रियों में परिगणित हैं, एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण निबन्ध ('योग एण्ड मैस ट्रांसफिगरेशन') भारतीय विद्या भवन के जर्नल (नवम्बर, १९५८, पृ० १११-१२०) में प्रकाशित किया है, जिसका प्रथम वाक्य यों है—'योग की प्रणालियों एवं विधियों, विशेषतः राजयोग की प्रणालियों एवं विधियों में आज के मनोविश्लेषण, मानस चिकित्सा शास्त्र, मानस नाट्य, नैतिक शिक्षा एवं चरित्र-शिक्षा की अधिकांश सभी सारगर्भित प्रणालियाँ एवं विधियाँ समाहित हो जाती हैं।'

योगाभ्यास में संलग्न व्यक्ति के गुणों की अभिव्यक्ति से यह प्रकट हो जाता है कि वह क्रमशः आध्यात्मिक स्तरों में विकसित होने में सफलता प्राप्त करता जा रहा है। श्वेताश्वतरोपनिषद् (२।१३) में योगाभ्यास के प्रथम अनुकूल लक्षण इस प्रकार व्यक्त किये गये हैं—'लघुत्व अर्थात् शरीर का हलकापन, आरोग्य, अलोलुपता (लोभ-हीनता), शरीर के रंग का प्रसार या दीप्ति (चमक), स्वर-सौष्ठव, शुभ या सुखद शरीर-गन्ध, मूत्र एवं मल की

अल्पता।'[८०] सर्वथा ये ही शब्द वायुपुराण एवं मार्कण्डेयपुराणों में आये हैं। मार्कण्डेयपुराण में कुछ और भी कहा है—'लोग योगी की चाहना या उसे पसन्द करते हैं और उसके पीछे उसके गुणों की प्रशंसा करते हैं, सभी पशु उससे भय नहीं रखते; वह अति शीत या उष्ण से प्रभावित नहीं होता और न किसी से भय रखता है; इससे प्रकट होता है कि योग में सिद्धि आ रही है।' वायुपुराण में आया है कि 'यदि योगाभ्यासी पृथिवी या अपने को मानो अग्नि में जलता देखे और यदि वह अपने को सभी भूतों (या सभी प्राणियों) में प्रवेश करता देखे तो उसे समझना चाहिए कि योग में सिद्धि (सफलता) उपस्थित है' (११।६४, कृत्यकल्प, मोक्ष०, पृ० २११)।

मार्कण्डेयपुराण (३८।२६) एवं विष्णुपुराण (२।१३) में विस्तार के साथ **योगी-चर्या** (योगी के व्यवहार या आचरण या चरित्र) का उल्लेख है। यहाँ पर सभी बातें नहीं दी जा सकतीं, केवल दो महत्त्वपूर्ण श्लोकों का अर्थ दिया जा रहा है। मार्कण्डेयपुराण[८१] में आया है—मनुष्यों में (सामान्यतः) मान एवं अपमान प्रीति एवं उद्वेग (क्लेश) उत्पन्न करते हैं; किन्तु ये दोनों योगी में विपरीत अर्थवाले होते हैं और उसके लिए सिद्धिकारक सिद्ध होते हैं; ये क्रम से विष एवं अमृत कहे जाते हैं; अपमान योगी के लिए अमृत है और मान विष।' विष्णुपुराण ने बल दिया है कि योगी को ऐसा व्यवहार करना चाहिए कि लोग उसका अपमान करें और उसका संग न करें। मनुस्मृति (६।२८-८५) ने संन्यासियों के कर्तव्यों का विवेचन किया है जिनमें कुछ योगियों के लिए भी सटीक बैठते हैं। मनु (६।६५) ने योग के साधनों द्वारा परमात्मा की सूक्ष्मता की जानकारी के लिए संन्यासियों को प्रबोधित किया है और दूसरे स्थान (६।७३) पर उनसे ध्यानयोग के अभ्यास की बात कही है। और देखिए याज्ञ० (३।५६-६७)।

शान्तिपर्व (२९४।१४-१७ = ३०६।१४-१७ चित्रशाला) में आया है कि योग की विधि एवं विधानों (नियमों) को जानने वाले उसी को योगी कहते हैं जो मन से इन्द्रियों को स्थिर कर देता है, बुद्धि से अपने मन को निश्चल बना देता है, पाषाण की भाँति अडिग हो जाता है, स्थाणु (पेड़ के तने) की भाँति अकम्पित हो जाता है तथा पर्वत की भाँति गतिहीन (निश्चल) एवं शक्तिशाली होता है। समझदार (विज्ञ) लोग उसी को युक्त (योगी) कहते हैं जो न सुनता है, न गन्ध लेता है, न स्वाद लेता है, न देखता है और न स्पर्श करता है; जिसके मन में (परिवर्तन-शील) संकल्प नहीं उठते हैं, जो किसी भी वस्तु को अपनी नहीं कहता, जो बाह्य जगत् की वस्तुओं को नहीं पहचानता, अर्थात् जो मानो काठ के समान है, और जिसने आत्मा के वास्तविक एवं मौलिक रूप की अभिज्ञता प्राप्त कर ली है। देवलधर्मसूत्र (कल्पतरु, मोक्षप्रकरण, पृ० ९०-९१) ने व्यवस्था दी है कि अहंकार एवं ममत्व के फलस्वरूप सभी प्राणी बन्धन में आ जाते हैं, किन्तु जो इनसे मुक्त है वह मुक्त है।[८२]

८०. लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादः स्वरसौष्ठवं च। गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति॥ श्वेताश्वतरोपनिषद् (२।११); वायु० (११।६३); मार्कण्डेय० (३६।६३=३९।६३, कलकत्ता संस्करण)। और देखिए कृतकल्प० (मोक्ष०, पृ० २११)।

८१. मानापमानौ यावेतौ प्रीत्युद्वेगकरौ नृणाम्। तावेव विपरीतार्थौ योगिनः सिद्धिकारकौ॥ मानापमानौ यावेतौ तावेवाहुर्विषामृते। अपमानोऽमृतं तत्र मानस्तु विषमं विषम्॥ मार्क० (३८।२-३); मिलाइए विष्णुपुराण (२।१३।४२-४३) 'संमानना परां हानिं योगर्द्धेः कुरुते...।'

८२. इदं ममेति यत्स्वाम्यमात्मनोऽर्थेषु मन्यते। अजानंस्तदनित्यत्वं ममत्वमिति तद्विदुः॥ अहमित्यभिमानेन यः क्रियासु प्रवर्तते। कार्यकारणयुक्तासु तदहंकारलक्षणम्॥ अहंकारममत्वाभ्यां बध्यन्ते सर्वदेहिनः। संसारविनियोगेषु ताभ्यां मुक्तस्य (मुक्तस्तु ?) मुच्यते॥ देवल (कल्पतरु, मोक्ष०, पृ० ९०-९१)।

शताब्दियों से भारत में संन्यासियों एवं योगियों की अत्यन्त सम्मानपूर्वक पूजा होती रही है। श्राद्ध के अवसर पर योगी को विशिष्ट रूप से आमन्त्रित करने की परम्परा रही है और कहा गया है कि एक योगी सैकड़ों एवं सहस्रों ब्राह्मणों के समान है। देखिए इस महाग्रन्थ का मूल खण्ड ४, पृ० ३८८, ३९८-३९९। कुछ परिस्थितियों में जब धर्म के विषय में शंका उत्पन्न हो जाती थी तो विवादग्रस्त विषय का निर्णय दस विद्वान् ब्राह्मणों या कम से कम तीन ब्राह्मणों की परिषद् पर छोड़ दिया जाता था, किन्तु एक व्यक्ति भी परिषद् का कार्य कर सकता था यदि वह वेदज्ञ हो तथा धर्म को जानने वाला हो (मनु १२।१०८-११३)। किन्तु याज्ञ० (१।९) आदि ने कहा है कि चार वेदज्ञ एवं धर्मशास्त्रज्ञ या उसी प्रकार के तीन या केवल एक, जो आध्यात्मिक विषयों के जानकारों में सर्वश्रेष्ठ हो, परिषद् का कार्य कर सकता है और वह जो घोषित करेगा वह आचरण करने (धर्म) की सच्ची विधि होगी। इस विषय में देखिए इस महाग्रन्थ का मूल खण्ड २, पृ० ९६९। भगवद्गीता में आया है—'योगी (जो वास्तव में कर्मयोगी है और जिसने कर्मफल भगवान् को समर्पित कर दिये हैं) तप करने वालों (व्रत आदि या हठयोग करने वालों) से उत्तम होता है, वह उनसे भी उत्तम होता है जो दार्शनिक ज्ञान (सांख्य आदि) पर अधिकार रखते हैं, और वह उनसे भी उत्तम होता है जो वैदिक कृत्य (स्वर्ग प्राप्त करने के लिए) करते हैं, अतः हे अर्जुन, वैसे योगी बनो, जो कर्म करता है (क्योंकि ऐसा करना उसका धर्म है, कर्तव्य है और जो किये गये कर्मों के फलों के पीछे नहीं रहता)।

मनु (१२।८३) का कथन है—'वेदाध्ययन, तप, सत्य ज्ञान (ब्रह्म के विषय में) इन्द्रिय-निग्रह, अहिंसा, गुरुसेवा ये निःश्रेयस (अर्थात् मोक्ष) के सर्वोच्च साधन हैं।' श्लोक ८५ में पुनः आया है—'इन छह साधनों में आत्मा का सत्य ज्ञान सर्वोत्तम है, यह सभी विद्याओं का सिरमौर है, क्योंकि इसके द्वारा अमरता (मोक्ष) की प्राप्ति होती है।'

याज्ञवल्क्य स्मृति (१।८) ने योग को वेदान्त के अभिन्न भाग के रूप में सर्वोच्च स्थान दिया है और कहा है कि योग द्वारा आत्मदर्शन सर्वोच्च धर्म है (अयं तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्)। इसी स्मृति में पुनः आया है—'वेदाध्ययन, यज्ञ, ब्रह्मचर्य, तप, दम (इन्द्रिय-निग्रह), श्रद्धा, उपवास एवं स्वातन्त्र्य (सांसारिक विषयों से दूर रहना) आत्मज्ञान के हेतु हैं।'[८३] यह द्रष्टव्य है कि इन हेतुओं में कुछ यम, नियम एवं प्रत्याहार के अन्तर्गत आ जाते हैं। दक्षस्मृति ने दृढतापूर्वक कहा है—'वह देश, जहाँ ऐसा योगी रहता है जो योग में पारंगत है और ध्यान करने वाला है, पवित्र हो जाता है; तो उसके बन्धुओं के विषय में क्या कहना है!' (अर्थात् वे अवश्य ही पवित्र हो जायेंगे)।[८४]

योगसूत्र कठिन हैं और योगाभ्यास की कतिपय अवस्थाओं की पूर्ण व्याख्या नहीं उपस्थित करते। वे संक्षिप्त टिप्पणी के रूप में हैं, मानो यह निर्देश करते हैं कि लोग उत्सुक होकर योगाभ्यासों की जानकारी के लिए किसी समर्थ गुरु के चरणों में जायें। कुछ उदाहरण दिये जा सकते हैं, यथा—योगसूत्र (२।५०) ने तीन प्राणायामों की ओर संकेत किया है जब कि २।५१ ने एक चौथा प्रकार भी उल्लिखित किया है (बाह्याभ्यन्तर विषयाक्षेपी चतुर्थः)। इस चौथे प्रकार की कोई व्याख्या नहीं है। ४।१ में पतञ्जलि ने एक साथ ही जन्म, ओषधि, मन्त्र, तप

८३. वेदानुवचनं यज्ञो ब्रह्मचर्यं तपो दमः। श्रद्धोपवासः स्वातन्त्र्यमात्मनो ज्ञानहेतवः॥ याज्ञ० (३।१९३); मिलाइए बृह० उप० (४।४।२२)।

८४. यस्मिन्देशे वसेद्योगी ध्यायी योगविचक्षणः। सोऽपि देशो भवेत्पूतः किं पुनस्तस्य बान्धवाः॥ दक्षस्मृति (७।४५)।

एवं समाधि से उत्पन्न सिद्धियों को लाकर रख दिया है। ओषधि से उत्पन्न सिद्धि तथा समाधि से उत्पन्न सिद्धि में महान् अन्तर है। पतञ्जलि का कथन है कि 'ओम्' ईश्वर का प्रतीक है और इसके जप से और इसके अर्थ पर ध्यान देने से एकाग्रता की उद्भूति होती है, किन्तु इसकी कोई व्याख्या नहीं है कि ओम् ईश्वर की अभिव्यक्ति किस प्रकार है और न ओम् की महत्ता के विषय में उपनिषदों की ओर कोई संकेत ही है और न यही बताया गया है कि जप किस प्रकार किया जाय। सम्भवतः यह उस अति प्राचीन परम्परा का द्योतक है कि आध्यात्मिक ज्ञान गुप्त रखना चाहिए, सभी प्रकार के लोगों को इसकी शिक्षा नहीं दी जानी चाहिए, केवल उसी शिष्य को इसका ज्ञान देना चाहिए जिसमें कुछ विशिष्ट गुण हों। हमने इस खण्ड के अध्याय २६ में उपनिषदों के उद्धरणों से व्यक्त कर दिया है कि किस प्रकार गूढ़ ज्ञान केवल किसी गुरु द्वारा ही शिष्य को दिया जाना चाहिए। याज्ञवल्क्य एवं आर्तभाग के संवाद (बृह० उप० ३।२।१३) में ऐसा आया है कि जब आर्तभाग ने याज्ञवल्क्य से यह कहने के उपरान्त कि 'मृत्यु के उपरान्त व्यक्ति की वाणी अग्नि में चली जाती है, उसकी साँस वायु में प्रविष्ट हो जाती है, आँखें सूर्य में विलीन हो जाती हैं, शरीर पृथिवी में समाविष्ट हो जाता है', यह पूछा कि 'तब व्यक्ति कहाँ बच रहता है', तो याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—'मेरा हाथ पकड़ो, इस विषय में केवल हम दोनों ही किसी समाधान पर पहुँचें, किन्तु यहाँ इस भीड़ में नहीं।' तब दोनों एक ओर गये और एक-दूसरे से बातें करते रहे। इससे यह प्रकट होता है कि मृत्यु के उपरान्त क्या होता है उसका विवेचन सर्वसाधारण के मध्य में करना उचित नहीं समझा जाता था। छान्दोग्योपनिषद् (३।२।५) में आया है—'अतः पिता उस ब्रह्म-सिद्धान्त को अपने ज्येष्ठ पुत्र से या किसी योग्य शिष्य से कह सकता है, किसी अन्य से नहीं, चाहे कोई उसे समुद्रों से घिरी एवं धन से पूर्ण पृथिवी ही क्यों न दे दे, क्योंकि यह सिद्धान्त उससे भी अधिक मूल्यवान् है।' बृह० उप० (६।३।१२) में आया है—'इस (ब्रह्म) के विषय में किसी अन्य से जो अपना पुत्र या शिष्य नहीं है, नहीं बोलना चाहिए।' और देखिए श्वेताश्वतरोपनिषद् (६।२२) एवं मैत्रा० उप० (६।२९)। शान्तिपर्व (२४६।१६-१८, चित्रशाला संस्करण) में कहा गया है कि आध्यात्मिक ज्ञान अपने प्यारे पुत्र एवं आज्ञाकारी शिष्य को देना चाहिए, उस व्यक्ति को नहीं जिसका चित्त शान्त या संयमित न हो, उसको भी नहीं जो ईर्ष्यालु है, दुष्ट प्रकृति का है, चुगलखोर है या तर्कशास्त्र-दग्ध (तर्कना करने वाला, बाल की खाल निकालने वाला) है। हठयोगप्रदीपिका में आया है—'सिद्धि प्राप्त करने की इच्छा वाले योगी को हठविद्या गोपनीय रखनी चाहिए; जब यह गोप्य (गोपनीय) रहती है तो वीर्यवती (शक्तिशाली) रहती है, किन्तु जब प्रकाशित हो जाती है तो निर्वीर्य अर्थात् दुर्बल (प्रभावहीन) हो जाती है; गुरु द्वारा उपदेशित मार्ग से ही इसका अभ्यास किया जाना चाहिए।'[८५] यह बात प्राचीन काल में न केवल गूढ़ या अलौकिक ज्ञान के विषय में लागू थी, प्रत्युत अन्य विद्यालयीन विद्याध्ययन के विषय में भी प्रचलित थी। निरुक्त (२।३) में आया है कि इसका अध्यापन उसको नहीं होना चाहिए जो व्याकरण न जानता हो, उसको भी नहीं जो ज्ञान के लिए गुरु के पास नहीं जाता, या जो शास्त्र की महत्ता नहीं जानता, क्योंकि अबोध (अज्ञानी) व्यक्ति ज्ञान के विषय में दुष्ट इच्छा रखता है; और निरुक्त (२।४) ने इस विषय में विद्यासूक्त नामक चार मन्त्र उद्धृत किये हैं। भगवद्गीता

८५. तदिदं नाप्रशान्ताय नादान्तायातपस्विने। नासूयकायानृजवे न चानिर्दिष्टकारिणे। न तर्कशास्त्र दग्धाय तथैव पिशुनाय च।। शान्ति० (२४६।१६-१८ चित्रशाला संस्करण)। 'असूयकायानृजवे' शब्दों में निरुक्त (२।४) में आये 'विद्या ह वै....असूकायानृजवे...आदि' की प्रतिध्वनि मिलती है। हठविद्या परं गोप्या योगिना सिद्धिमिच्छता। भवेद्वीर्यवती गुप्ता निर्वीर्या तु प्रकाशिता।। गुरूपदिष्टमार्गेण योगमेव समभ्यसेत्। ह० यो० प्र० (१।११,-१६)।

में श्री कृष्ण ने भक्तियोग के ज्ञान को अत्यन्त गोपनीय माना है (६।२), १७।६३ में जो ज्ञान अर्जुन को दिया गया है वह सभी गुप्त ज्ञानों से अधिक गुप्त (गोपनीय) माना गया है तथा १८।६४-६५ में कृष्ण ने अर्जुन से अपने अत्यन्त गोप्य शब्दों को सुनने के लिए कहा है—'चित्त को मुझमें लगाओ, मेरे भक्त बनो, मेरे लिए यज्ञ करो, मेरे समक्ष साष्टांग प्रणत हो; तुम मेरे पास आओगे, मैं तुमसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, क्योंकि तुम मेरे प्रिय हो।' यह वचन ६।३४ से लेकर पुनः दुहराया गया है। १५ वें अध्याय के अन्त में यह कहा गया है—हे निरपराधी, यह अत्यन्त गोप्य (गुप्त) सिद्धान्त मेरे द्वारा तुम्हारे लिए घोषित किया गया है।'

इस विषय में यहाँ विवाद नहीं उठाया जा सकता कि योग का मार्ग उचित या सम्भाव्य (साध्य, सुकर या करणीय) है या नहीं। किन्तु सहस्रों वर्षों तक भारतवर्ष में महान् व्यक्तियों ने योग के मार्ग का अनुसरण किया है, जिससे वे योग द्वारा अविद्या से आत्मा की स्वतन्त्रता के एवं जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त होने के वाञ्छित लक्ष्य को प्राप्त कर सके थे। शान्तिपर्व (२८६।५० एवं ५४) के युग में भी योगमार्ग कठिन था और यह छुरे की धार पर चलना था; जिनका आत्मा शुद्ध नहीं हो सका वे धारणाओं के अभ्यास को कठिन एवं कष्टप्रद समझते थे। कालिदास ने रघुवंश (८।१६-२४) में राजा रघु द्वारा किये गये योगाभ्यास का सुन्दर वर्णन उपस्थित किया है। कालिदास ने (८।१६ में) संन्यासी रघु के **अपवर्ग** प्राप्ति के लक्ष्य की ओर संकेत किया है और उसकी तुलना **महोदय** (**अभ्युदय** या **भोग**) से की है। ये दोनों शब्द योगसूत्र (२।१८, 'प्रकाशयोगापवर्गार्थं दृश्यम्') में आये हैं। कालिदास ने **धारणा** का उल्लेख किया है (८।१८) उन्होंने **प्रणिधान-अभ्यास एवं पञ्चप्राणों** पर स्वामित्व-स्थापन का उल्लेख किया है (रघुवंश ७।२१, योगसूत्र ३।४८ 'प्रधान-जय') तथा योगविधि को परमात्मदर्शन का साधन माना है (रघु० ८।२२, याज्ञ० १।८)।

राजयोग ने **प्रकृति** (या अद्वैतवाद की माया) से **मुक्ति** को परम लक्ष्य माना है और इसने इस पर बल दिया है कि हम इन्द्रिय-सुख एवं अविद्यामूलक जीवन का त्याग कर दें। मुक्ति का अर्थ है वेदान्तियों के लिए **ब्रह्म** में लीन हो जाना या **कैवल्य** (शुद्ध योग के अनुसार यह जीवात्मा का जन्म-मरण एवं प्रकृति से पृथक् हो जाना या छुटकारा पा लेना है)। असंख्य नर-नारियों के लिए पातञ्जल योग या अद्वैत वेदान्त का मार्ग एवं अन्तिम लक्ष्य दुर्लंघ्य एवं अप्राप्य है, जैसा कि स्वयं गीता ने कहा है—'जिनका चित्त अव्यक्त पर लगा है वे अपेक्षाकृत (उन लोगों की अपेक्षा जो किसी व्यक्तिगत देव की पूजा करते हैं) अधिक भारी कठिनाइयों का सामना करते हैं, क्योंकि शरीरधारी प्राणियों द्वारा अव्यक्त के लक्ष्य तक पहुँचना बड़ा कठिन है।' **कर्मयोग** (शास्त्रविहित अच्छे कर्मों का बिना फल की इच्छा के सम्पादन) का एवं **भक्तियोग** (जहाँ ईश्वर के प्रति गम्भीर भक्ति एवं आत्म-समर्पण होता है) का मार्ग सामान्य मानव प्राणियों के लिए, अपेक्षाकृत अधिक योग्य लगता है। गीता के अध्याय १३ में (श्लोक १३-१७) ईश्वर सम्बन्धी सर्वोत्तम वर्णन हैं (उसे सर्वातिरिक्त एवं अन्तःस्थ रूप में व्यक्त किया गया है) और श्लोक १८ में इतना जोड़ दिया गया है कि जो ईश्वर का भक्त इसे समझता है वह ईश्वर की उपलब्धि करता है।

जो लोग श्री अरविन्द घोष, उनके पांडिचेरी स्थित आश्रम एवं उनके विशाल साहित्य से परिचित होंगे, वे इस बात से आश्चर्य प्रकट कर सकते हैं कि प्रस्तुत लेखक ने योग एवं धर्मशास्त्र पर इसके प्रभाव से सम्बन्धित इस भाग में श्री अरविन्द (जो अपने शिष्यों एवं प्रशंसकों द्वारा **महायोगी** कहे जाते हैं) के विषय में कुछ भी उल्लेख नहीं किया। कारण स्पष्ट है। पहली बात यह है कि श्री अरविन्द ने योग से सम्बन्धित धर्मशास्त्र के विषय में कदाचित् ही कुछ कहा है। दूसरी बात यह है कि श्री अरविन्द ने स्वयं स्वीकार किया है कि उन्हें किसी 'गुरु से स्पर्श' नहीं प्राप्त हुआ है, उन्हें भीतर से ही स्पर्श प्राप्त हुआ और उन्होंने योगाभ्यास किया।

उन्हें ग्वालियर के श्री लेले से कुछ सहायता प्राप्त हुई, वे जब पांडिचेरी में आये, उन्हें भीतर से साधना करने का एक कार्यक्रम प्राप्त हुआ, उन्हें अन्य लोगों को सहायता देने में कोई अधिक सफलता नहीं प्राप्त हो सकी और जब माता (मीरा रिचर्ड) सन् १९२० में आश्रम में आयीं, उन्हें इनकी सहायता से अन्य लोगों को सहायता देने की विधि का पता चला। एक अन्य बात यह है कि वे योग पर लिखने वाले बहुत से चमत्कारी संस्कृत लेखकों की शिक्षाओं को अस्वीकार करते हैं, यथा योगी को नारियों से दूर रहना चाहिए (कूर्मपुराण २।११।१८, योगियाज्ञवल्क्य १।५५, लिंगपुराण १।८।२३), जब कि उनके चरित-लेखक श्री दिवाकर का कथन है कि अरविन्द आश्रम की स्थापना २४ नवम्बर, सन् १९२६ में हुई और माताजी (मदर) पर ही उसका सम्पूर्ण भार तब से अब तक रहा है और श्री अरविन्द ने तब से सभी प्रकार के सम्पर्क तोड़ दिये और उनसे केवल मदर के द्वारा सम्पर्क स्थापित हो सकता था (पृ० २५७)। इस बात में श्री अरविन्द ने एक पृथक् ही नयी रीति निकाली और प्रस्तुत लेखक तथा अन्य सामान्य लोगों की दृष्टि में उन्होंने इस प्रकार प्राचीन योग द्वारा चलाये गये मार्ग का उल्लंघन किया और 'मुरारेस्तृतीयः पन्थाः' नामक विख्यात उक्ति के समान बन गये।

श्री अरविन्द रहस्यवादी हैं, रहस्यवादियों की अनुभूतियाँ विलक्षण होती हैं और उनकी अपनी, सामान्य शब्दों एवं वाणी की पद्धति से वे उन लोगों पर व्यक्त नहीं की जा सकतीं, जो इस प्रकार की अनुभूतियों से परिचित नहीं हैं। श्री अरविन्द नवम्बर सन् १९२६ से अपनी महासमाधि की तिथि ५ दिसम्बर, सन् १९५० तक एकान्तसेवी बने रहे, वर्ष में वे केवल चार दिन दर्शन देते थे, यथा—अगस्त १५ (जन्म-दिन), नवम्बर २४ (उनके शब्दों में उनकी विजय का दिन); फरवरी २१ (मदर का जन्म दिन) एवं अप्रैल २४ (वह दिन जब मदर आश्रम में पधारी थीं) (देखिए श्री दिवाकर-कृत 'लाइफ आव महायोगी, पृ० २६५)। अरविन्दजी पांडिचेरी में ४० वर्षों तक रहे। उनका आश्रम समन्वित योग की शिक्षा का एक केन्द्र बन गया और उनके लिए घर बन गया जो वास्तविक जीवन एवं प्रकाश की खोज में थे और उनकी शिक्षाओं से अभिप्रेरित नर-नारियों के लिए एक तीर्थस्थान बन गया।

अगस्त १५, सन् १९४७ को जब भारत स्वतन्त्र हो गया (वह तिथि उनकी जन्मतिथि भी थी) तो उन्होंने एक लम्बा वक्तव्य प्रकाशित किया, जिसमें उनकी युवावस्था के सपने व्यक्त किये गये थे और कहा गया था कि अब वे सफल हो रहे हैं अथवा सफलता के मार्ग पर अग्रसर हो रहे हैं। उन्होंने कहा—'मेरे सपनों में प्रथम था क्रान्तिकारी आन्दोलन जो एक स्वतन्त्र एवं संयुक्त भारत का निर्माण करेगा। दूसरा सपना यह था कि एशिया के लोग मुक्त होंगे और एशिया मानव-संस्कृति के विकास में महत्त्वपूर्ण योग देगा। तीसरा सपना यह था कि एक विश्व-संघ का निर्माण होगा जो सम्पूर्ण मानव-समाज के लिए अपेक्षाकृत सुन्दर, प्रकाशमय एवं भद्र जीवन का बाह्य आधार सिद्ध होगा। कोई विप्लव खड़ा हो सकता है, वह विरोध खड़ा कर सकता है और जो कुछ हो रहा है उसे विनष्ट भी कर सकता है किन्तु तब भी अन्तिम परिणाम निश्चित है। एकता प्रकृति की आवश्यकता है और है एक अवश्यम्भावी गति। एक अन्य सपना था, विश्व के लिए भारत द्वारा आध्यात्मिक उपहार, जिसका आरम्भ हो चुका है। भारतीय आध्यात्मिकता का यूरोप एवं अमेरिका में प्रवेश सतत उन्मेषशाली गति से हो रहा है। अन्तिम सपना था विकास में एक चरण-चाप जो मानव को उच्च से उच्चतर चेतना की ओर ले जायेगा और उन समस्याओं का समाधान उपस्थित कर देगा जिन्होंने उन्हें तब से व्यामोहित एवं परेशान कर रखा था जब से उन्होंने व्यक्तिगत पूर्णता एवं पूर्ण समाज के विषय में चिन्तन करना एवं सपना देखना आरम्भ किया था। यहाँ भी, यदि विकास होना ही है, क्योंकि इसे आत्मा एवं आन्तरिक

चेतनता के विकास के द्वारा आगे बढ़ना ही है, आरम्भ भारत से ही हो सकता है और, यद्यपि क्षेत्र को सार्वभौम होना ही है, केन्द्रीय क्रान्ति यहीं पायी जा सकती है।'

निःसन्देह ऊपर की संवेगात्मक एवं ललित शब्दों में कही गयी बातें भारतीयों के लिए गर्व करने योग्य हैं, किन्तु यह सम्भव है कि श्री अरविन्द की ये गर्वोक्तियाँ अधिकांश अभारतीय जनता को हास्यास्पद लग सकती हैं। इसमें संदेह नहीं कि भारत १२वीं शती से लगभग सात शतियों तक बाह्य विजेता लोगों से पदाक्रान्त होता रहा और उसका मानमर्दन होता रहा (किन्तु कुछ भागों में अल्पकाल के लिए भारतीय राज्य अवश्य संस्थापित थे, यथा विजयनगर साम्राज्य या मराठों के अन्तर्गत लगभग १५० वर्षों तक तथा पंजाब में लगभग ५० वर्षों तक महाराज रणजीत सिंह का राज्य)। अब भारतीय पाठक स्वयं इसका पता लगायें कि प्रथम सपने को छोड़कर (भारतीय स्वतन्त्रता[८६]) श्री अरविन्द के अन्य कौन-से सपने पूरे हुए। क्या स्वतन्त्रता की प्राप्ति के इतने वर्षों के उपरान्त भारत आध्यात्मिकता के क्षेत्र में कोई विकास कर सका है? क्या सामान्य जनता के मन में इस प्रकार की भावना घर कर सकी है? क्या विभिन्न जातियों एवं राष्ट्रों के बीच भावनात्मक एकता का कोई चिह्न दृष्टिगोचर हो रहा है? क्या निकट भविष्य में इसकी कोई आशा है? या संपूर्ण संसार विनाश के कगार पर खड़ा है?

श्री अरविन्द ने मानव जाति की एकता की स्थापना के लिए आन्तरिक एकता एवं उद्देश्य पर बल दिया है; उनके मतानुसार यह अभिरुचियों के बाह्य सम्मिलन से सम्भव नहीं है। २४ वर्षों तक श्री अरविन्द ने बाह्य जगत से अपने को खींच लिया था और वर्ष में केवल चार बार लोगों को दर्शन देते थे। उन्होंने ग्रन्थों के प्रणयन के अतिरिक्त मानव जाति की एकता के लिए क्या किया, यह स्पष्ट नहीं हो पाता और न उन नर-नारियों में, जो उनके नेतृत्व में पांडिचेरी में एकत्र हुए, किसी ने महत्त्व का कोई पद सुशोभित किया और न अपने गुरु द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर शक्तिशाली ढंग से सफलतापूर्वक चलने का प्रयत्न ही किया और न आज कोई अपने गुरु के उस कार्य को कर रहा है, जिसका उन्होंने स्वप्न देखा था और जो आज भी अनारम्भित एवं अपूर्ण पड़ा हुआ है। अपनी साधना के विषय में श्री अरविन्द ने लिखा है—'मैंने अपना योग सन् १९०४ में आरम्भ किया। मेरी साधना ग्रन्थों पर आधृत नहीं थी, वह उन व्यक्तिगत अनुभूतियों पर आधृत थी जो अन्तर से उमड़ कर मेरे चतुर्दिक् छा गयीं... यह तथ्य है कि मैं जेल में विवेकानन्द की वाणी एक पक्ष तक निरन्तर सुनता रहा' (पृ० १३१, श्री दिवाकर द्वारा लिखित 'महायोगी का जीवन-चरित')।

श्री अरविन्द ने अपने भाई बारीन्द्र को ७ अप्रैल, १९२० में एक पत्र लिखा था, जिसमें उन्होंने प्राचीन योगों के मुख्य दोषों को बताया था। उनके अनुसार 'प्राचीन योग में केवल मन, बुद्धि एवं आत्मा की बात थी, लोग मानसिक धरातल पर ही आध्यात्मिक अनुभूति प्राप्त करके सन्तुष्ट हो जाते थे। उनके मत से मन केवल आंशिक ज्ञान ही प्राप्त कर सकता है, यह केवल अंशों का ही परिज्ञान कर सकता है न कि सम्पूर्ण का। मन केवल समाधि, मोक्ष या निर्वाण द्वारा ही असीम एवं सम्पूर्ण वास्तविकता का ज्ञान प्राप्त कर सकता है, किसी अन्य साधन से नहीं। हाँ, कुछ लोग इस प्रकार का मोक्ष अवश्य प्राप्त करते हैं जिसे केवल अन्ध मार्ग या द्वार कहा जा सकता है। तो इसकी क्या उपयोगिता है? किन्तु भगवान् मानव को इस योग्य

८६. स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त संयुक्त भारत की कल्पना टूट-फूट कर छिन्न-भिन्न हो गयी। देश का विभाजन हो गया। पाकिस्तान एक नया राष्ट्र बन गया जो निरन्तर भारत के लिए शिर-पीड़ा बना हुआ है।

बनाना चाहता है कि मानव उसे इसी जीवन में, व्यक्ति एवं सम्पूर्ण समाज के भीतर जान ले । योग के प्राचीन सिद्धान्त आध्यात्मिकता एवं जीवन में संश्लेषण एवं एकता ला न सके । उन्होंने जगत् को माया या भगवान् की क्षणभंगुर लीला कहकर छोड़ दिया और इसका परिणाम यह हुआ कि जीवन से शक्ति एवं आश्रय की परिसमाप्ति हो गयी और भारत का अधःपतन हो गया।' उपर्युक्त शब्दों में श्री अरविन्द अपने संश्लिष्ट योग एवं प्राचीन तथा मध्यकालीन भारतीयों के योग के अन्तर को बताते हैं। योग के इस **सिद्धान्त में कोई नवीन बात नहीं है**। गीता में यही बात युगों पूर्व कह दी गयी है, यथा—गीता ५।१५ 'अज्ञानेनावृतम्', 'उत्सीदेयुरिमे लोकाः' (गीता २।२४-२५, २।४७, ३।८, १९, ९।२७, १८।४५-४६, ये सब इसी पर बल देते हैं कि निष्काम कर्म ही भगवान की पूजा है) । श्री अरविन्द को अपनी इच्छा के अनुसार कुछ शिष्यों को इस कार्य में लगा देना चाहिए था । पातञ्जल योग ने 'माया' शब्द का प्रयोग नहीं किया है और न उसमें यही कहा गया है कि यह जगत् ईश्वर की लीला है। वेदान्तसूत्र ने ही एक विरोध को दूर करने के रूप में ऐसा कहा था (२।१।३३, 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्') । पातञ्जल योग में ईश्वर का संसार-सृष्टि से कोई सम्बन्ध नहीं है, प्रत्युत इसने अविद्या की चर्चा की है जिससे जीवात्मा जकड़ा रहता है (योगसूत्र २।३-५ एवं २४) न कि ईश्वर या परमात्मा । इतना ही नहीं, स्वयं श्री अरविन्द के प्रश्न पर प्रतिप्रश्न किया जा सकता है—'संश्लिष्ट योग, मन, प्रमन एवं अतिमन की आवश्यकता या उपयोगिता क्या है ?' क्या कोई कम से कम केवल आधे दर्जन श्री अरविन्द के अनुयायियों की ओर संकेत कर सकता है, जिन्होंने उनके सिद्धान्त या संकल्पों के अनुसार देश एवं मानव-समाज के पुनरुद्धार के लिए अपनी शक्तियाँ लगायी हों ? इस विषय में कुछ और कहना यहाँ समीचीन नहीं है।

श्री अरविन्द के कई ग्रन्थ हैं जो आकार एवं प्रकार में विशद एवं विस्तृत हैं। उनके ग्रन्थों की तालिका के लिए देखिए श्री दिवाकर का ग्रन्थ 'महायोगी' (पृ० २६७-२६९)। प्रस्तुत लेखक ने उनके निम्नलिखित ग्रन्थ पढ़े हैं, यथा—'योग एण्ड इट्स आब्जेक्टस' (१९३८, जिसमें यह दर्शाया गया है कि अध्यात्म योग हठयोग एवं राजयोग से अपेक्षाकृत उच्च है), 'दि मदर' (१९३७), 'एसेज ऑव दि गीता' (पाँचवाँ संस्करण, १९४९), 'दि सिंथेसिस आव योग' (१९४८), जिसमें यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि ज्ञानयोग, भक्तियोग एवं कर्मयोग नामक तीनों मार्गों का समन्वय हो सकता है, 'दि प्राब्लेम आव रीबर्थ' (आश्रम द्वारा प्रकाशित, १९५२); 'फाउण्डेशन्स आव इण्डियन कल्चर' (कई निबन्ध हैं, जिनका सुधार स्वयं अरविन्द ने किया है, न्यूयार्क, १९५३), 'लाइफ डिवाइन' (मौलिक तीन खण्डों में, किन्तु अब १२७२ पृष्ठों में प्रकाशित, अरविन्द इण्टरनेशनल यूनिवर्सिटी सेण्टर, पांडिचेरी, १९५५)। प्रस्तुत लेखक ने अन्तिम पुस्तक का प्रथम खण्ड ही पढ़ा है । किन्तु सामान्य लोगों की बुद्धि इन ग्रन्थों को पढ़ने एवं समझने में असमर्थ है । 'लाइफ डिवाइन' के शब्द, शब्द-विन्यास एवं भाव बड़े गूढ़ एवं अलौकिक अर्थ वाले हैं, जिन्हें प्रस्तुत लेखक जैसे सामान्य जन समझ सकने में असमर्थ हैं। प्रस्तुत लेखक के मत से 'फाउण्डेशंस ऑव इण्डियन कल्चर' उनकी सर्वश्रेष्ठ पुस्तक है जिसे उसने पढ़ लिया है। प्रो० आर० डी० रानाडे ने 'भगवद्गीता ऐज ए फिलॉसॉफी ऑव गॉड रीयलाइजेशन' (नागपुर, १९५९, पृ० १६३-१७६) में श्री अरविन्द के ग्रन्थ 'एसेज आन दि गीता' की जाँच की है और कई स्थलों पर अपना मतभेद प्रकट किया है। श्री अरविन्द के दर्शन की बृहत् जानकारी के लिए देखिए डा० हरिदास चौधरी एवं डॉ० फ्रेडरिक स्पीगेलबर्ग द्वारा सम्पादित ग्रन्थ 'इण्टीग्रल फिलॉसॉफी आव अरविन्द' (एलेन एवं अन्विन, १९६०), जिसमें भारतीय एवं पाश्चात्य लेखकों के ३० निबन्ध संगृहीत हैं। पृ० ३२ पर 'माइण्ड' (मन) एवं सुपरमाइण्ड (अतिमन) की व्याख्या उपस्थित की गयी है।

अध्याय ३३

तर्क एवं धर्मशास्त्र

याज्ञवल्क्यस्मृति (१।३) ने न्याय (तर्कशास्त्र)[1] को चौदह विद्याओं में परिगणित किया है और उसे धर्म के ज्ञान का एक साधन माना है। मिताक्षरा (याज्ञ० पर भाष्य) ने न्याय को 'तर्कविद्या' की संज्ञा दी है और कहा है कि चौदह विद्याएँ धर्म के हेतु (साधन) हैं।

न्यायसूत्र एवं वैशेषिक सूत्र दोनों ने यह स्वीकार किया है कि दोनों दर्शनों के पदार्थों के सम्यक् ज्ञान से निःश्रेयस की उद्भूति होती है।[2]

'तर्क' शब्द के आरम्भिक प्रयोगों में एक प्रयोग कठोपनिषद् (२।६) का भी है—'(आत्मा का) यह ज्ञान (केवल) तर्क से ही नहीं प्राप्त किया जा सकता,' इसके पूर्व के मन्त्र में आया है कि आत्मा सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर है और केवल अनुमान या तर्क से नहीं समझा जा सकता ('अणीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात्') । और देखिए शब्द 'मन्तव्यः' ('आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यः', बृ० उप० २।४।५ एवं ४।५।६) जिसे भाष्य (वे० सू० १।१।२) में विरोधी ने एवं शंकराचार्य (वे० सू० २।१।४) ने तर्क के अर्थ में लिया है। मैत्रा० उप० (२।१८) ने तर्क को योग के अंगों में सम्मिलित किया है (प्राणायामः प्रत्याहारो ध्यानं धारणा तर्कः समाधिः षडंग इत्युच्यते योगः।) और उसमें यह भी आया है कि वाणी, मन एवं प्राण के निरोध से व्यक्ति तर्क की सहायता से ब्रह्म को देखता है (६।२०) । गौतमधर्मसूत्र (२।२३-२४) में आया है —'न्याय की प्राप्ति के लिए तर्क एक उपाय (साधन) है' (न्यायाधिगमे तर्कोऽभ्युपायः। तेनाभ्यूह्य यथास्थानं गमयेत्) । यक्ष ने युधिष्ठिर से जितने प्रश्न पूछे हैं, उनमें एक यह है—'तर्क अस्थिर होता है, वह अप्रतिष्ठ है, उससे निष्कर्ष नहीं प्राप्त होते, वैदिक वचन (आपस में) एक-दूसरे से भिन्न हैं (उनमें अन्तर है), कोई ऐसा मुनि नहीं है जिसकी सम्मति (अन्य लोगों या मुनियों द्वारा) प्रामाणिक मानी जाय; धर्म का तत्त्व गुहा में पड़ा हुआ है (वह अंधकार से आवृत है और स्पष्टता एवं सुगमता से नहीं जाना जा सकता), वही मार्ग है (जिसके द्वारा अग्रसर होना चाहिए) जिसके द्वारा अधिकांश लोग चलें' (वनपर्व ३१३।११७, चित्रशाला प्रेस संस्करण—तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्नाः नैको मुनिर्यस्य मतं प्रमाणम्। धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः।।) । उपसंहार के अन्त में मनुस्मृति में आया

१. पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्रांगमिश्रिताः। वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥ याज्ञ० (१।३) कुछ लोग 'पुराणतर्कमीमांसा . . .' ऐसा पढ़ते हैं।

२. अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः। यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानं निःश्रेयसहेतुः। वैशेषिकसूत्र (१।१।२ एवं ४); प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्तावयवतर्क-निर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः। न्यायसूत्र (१।१।१) । निःश्रेयस ('अचतुर०', एक लम्बा सूत्र) शब्द पाणिनि एवं कौषीतक्युपनिषद् (२।१४ एवं ३।२) में आया है।

है—'जो व्यक्ति शुद्ध धर्म जानना चाहता है उसे इन तीनों का अवश्य ज्ञान होना चाहिए—प्रत्यक्ष, अनुमान एवं विभिन्न परम्पराओं पर आधृत शास्त्र; केवल वही व्यक्ति धर्म जानता है जो आर्ष वचन (अर्थात् मुनियों के वचन या वेद), (स्मृतियों में वर्णित) धर्मोपदेश को उस तर्क के साथ विचारता है जो वेद एवं शास्त्रों के विरोध में नहीं पड़ता है (१२।१०५)।' संस्कृत के अधिकांश कट्टर लेखकों का तर्क के विषय में यही कथन है। यदि कोई केवल तर्क पर ही निर्भर रहे तो परिणाम अनिश्चित एवं विप्लवकारी होगा। प्रत्येक सिद्धान्तवादी यही कहता है कि उसका सिद्धान्त तर्क पर आधृत है, किन्तु सामान्य लोगों के लिए महत्त्वपूर्ण प्रश्नों के विषय में तर्क पर आधृत उत्तर विभिन्न प्रकार से व्यामोह में डालने वाले होते हैं। विभिन्न वातावरणों में पले हुए विभिन्न अनुभवों वाले विचारक विभिन्न तर्क रखते हैं और यहाँ तक कि विभिन्न नैतिक विधानों का उद्घोष कर डालते हैं। सामान्य व्यक्ति किसका अनुसरण करे ? वेद एवं स्मृतियाँ सहस्र वर्षों से चले आये हुए, महान् एवं स्वार्थरहित मुनियों द्वारा अनुभूत एवं निर्णीत तथा जीवन के सभी क्षेत्रों से सम्बन्धित आचरण सम्बन्धी सिद्धान्तों से परिपूर्ण हैं, अर्थात् उनमें बहुत-से विज्ञ लोगों के अनुभव एवं तर्क पाये जाते हैं। अतः यदि आज कोई व्यक्ति यह कहता है कि तर्क के आधार पर वह वेद-विरोधी मत रखता है तो अधिकांश लोग उस अकेले एक व्यक्ति की बातें, जो कतिपय प्राचीन ऋषियों द्वारा प्रकाशित मतों के विरोध में पड़ती हैं, मानने को किसी प्रकार सन्नद्ध नहीं हो सकते। इस बात को और बढ़ाकर कहने की आवश्यकता नहीं है। बहुत-से ऐसे प्रश्नों के विषय में, यथा—क्या परमात्मा का अस्तित्व है, क्या कोई परम बुद्धि है जो इस विश्व का निर्देशन कर रही है, क्या आत्मा का अस्तित्व है, मर जाने के उपरान्त मनुष्य का भविष्य क्या है; अति विज्ञ लोगों ने अति विभिन्न उत्तर दिये हैं।[३] इन प्रश्नों के ऐसे उत्तर जो सबको या अधिकांश लोगों को स्वीकार्य हों, केवल तर्क से ही नहीं दिये जा सकते। यद्यपि यही शास्त्र-सम्मत स्थिति है, किन्तु समय-समय पर वैदिक आचार जनमत के कारण त्याग दिये गये हैं। स्वयं स्मृतिकारों ने ऐसी व्यवस्था दी है कि शास्त्रीय वचनों के अन्धानुकरण से धर्म की हानि होती है और जब स्मृतियों की व्यवस्थाओं में विरोध उपस्थित हो जाय तो तर्क का आश्रय लेना चाहिए तथा लोकमत एवं लोकाचारों पर विचार करना चाहिए। इस विषय में देखिए इस खण्ड का अध्याय २९ एवं इस महाग्रन्थ के मूल खण्ड ३ के पृ० ८६६-८६८। महाभारत में आया है—'अचिन्त्य विषयों के समाधान में तर्क का सहारा नहीं लेना चाहिए।'[४] भूख से पीड़ित मुनि विश्वामित्र (जो एक कुत्ते की पूँछ खाना चाहते थे) एवं चाण्डाल के बीच हुई वार्ता के सिलसिले में महाभारत में आया है—'अतः धर्म एवं अधर्म के विषय में विज्ञ व्यक्ति को, जिसका आत्मा पवित्र हो, अपनी बुद्धि पर आश्रय लेकर कार्य करना चाहिए।' किन्तु ऐसा नहीं समझना चाहिए कि शंकराचार्य एवं अन्य महान् भारतीय लेखकों ने तर्क का आश्रय लेना सर्वथा छोड़ दिया था। उनके कहने का तात्पर्य इतना ही है कि यदि निष्कर्ष सीधे वेद एवं स्मृति-वचनों के विरोध में पड़ते हों तो केवल एक या दो व्यक्तियों के तर्क का अनुसरण नहीं करना चाहिए। शंकराचार्य ने अपनी स्थिति स्पष्ट रूप से व्यक्त कर दी है (वे० सू० २।१।१ एवं ११)। जैनों एवं बौद्धों के विश्वास धर्मविरुद्ध थे, क्योंकि वे वेद तथा अन्य पवित्र परम्पराओं की प्रामाणिकता स्वीकार नहीं करते थे, यद्यपि वे हिन्दू

३. ई० पी० मार्गन ने 'दिस आई बिलीव' (लन्दन १९५३) के पृ० ६० में पिशेल का एक वचन उद्धृत किया है—'हृदय के अपने तर्क हैं जिन्हें तर्क नहीं समझ पाता।'

४. अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्। प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्॥ भीष्मपर्व (शंकराचार्य, वे० सू० २।१।६, स्मृति के रूप में उद्धृत)। यह मत्स्यपुराण (११३।६), पद्मपुराण (आदि ३।१२), ब्रह्माण्ड० (२।१३।७-८) में भी आया है। 'प्रकृति' का अर्थ है भौतिक कारण।

आचारों का व्यवहार करते थे और हिन्दुओं के यहाँ विवाह संबन्ध करते थे। किन्तु इतना होने पर भी विश्वासों, रीतियों और परम्पराओं में बहुत अधिक विरोध की सम्भावना थी। कुछ उपनिषदों की प्रवृत्तियों के अवगाहन से इसे समझाया जा सकता है। उदाहरणार्थ, मुण्डकोपनिषद् (१।१।४-५) ने विद्या को परा एवं अपरा नामक दो कोटियों में बाँटा है, अपरा के अन्तर्गत चार वेदों, छह अंगों को सम्मिलित किया है और परा (सर्वोत्तम) के अन्तर्गत उस विद्या को, जिसके माध्यम से अनश्वर ब्रह्म की प्राप्ति हो सकती है। छा० उप० (७।१।१-५) में आया है कि जब नारद सनत्कुमार के पास सीखने के लिए गये तो सनत्कुमार ने जो कुछ पढ़ा था उनसे कह दिया, यथा—चारों वेद, इतिहास-पुराण एवं अन्य विद्याएँ; सनत्कुमार ने यह भी बतलाया कि उन्होंने जो कुछ पढ़ा है वह केवल नाम मात्र है और आगे उन्होंने वह बताया जो सब कुछ से उत्तम है। मुण्डक० (१।२।७) ने यज्ञों को फूटे हुए (छिद्रयुक्त) पात्रों के समान माना है। यह अत्यन्त आश्चर्यजनक है कि छा० उप० (१।१२।२-५) ने पाँच पुरोहितों एवं यजमान के एक-दूसरे के स्पर्श करने की विधि की तथा 'सदस्' से 'चात्वाल' तक, जहाँ बहिष्पवमान मन्त्र का गायन होता रहता है, उनके रेंगकर जाने की तुलना कुत्तों की उस पंक्ति (कतार) से की है जिसमें कुत्तों ने एक दूसरे की पूंछ अपने मुँह से पकड़ रखी हो। देखिए पुरोहितों के मौन रूप से रेंगने वाली बात के लिए, ताण्ड्य ब्राह्मण (६।७।६-१२) एवं आप० श्रौ० सू० (१२-१७।१-४) आदि। ऐसी बात है, तब भी उपनिषदें वेदान्त कही जाती हैं और वैदिक धर्म एवं साहित्य के सर्वोत्तम 'अन्त' के रूप में धार्मिक ग्रन्थ मानी जाती हैं। अधिकांश उपनिषदें भी वैदिक संहिताओं को प्रामाणिक मानती हैं। उदाहरणार्थ, बृ० उप० (१।४।१०) एवं ऐतरेय उप० (२।५) ने ऋ० (४।२६।१ एवं ४।२७।१) को क्रम से उद्धृत किया है; बृह० उप० (२।५।१६-१७) ने ऋ० (१।११६।२ एवं १।११७।२२) को तथा उसी (२।५।१६) ने पुनः ऋ० (६।४७।१८) को उद्धृत किया है; कठोपनिषद् (४।६) सर्वथा अथर्ववेद (१०।८।१६) है, प्रश्न० (१।११) ऋ० (१।१६४।१२) है। मुण्डकोपनिषद् (३।२।१०) में आया है कि श्रोत्रियों (वेदज्ञों) को ब्रह्मविद्या का ज्ञान दिया जाना चाहिए। इस विषय में उपनिषदें अधिकारभेद नामक सिद्धान्त पर निर्भर हैं।

प्राचीनतम दार्शनिक समस्याओं में एक है विश्वास (आप्तवचन या प्रमाण) एवं तर्क की समस्या, और प्राचीन काल से ही दोनों में निरन्तर संघर्ष चलता आ रहा है। अधिकांश लोग किसी प्रमाण का आश्रय लेते हैं या उस पर निर्भर रहते हैं अथवा किसी ऐसे व्यक्ति पर विश्वास करते हैं जो उनसे अपेक्षाकृत उच्च होता है। अधिकांश लोगों के लिए यह प्रामाणिकता (विश्वास की भावना) अथवा वह 'कुछ' जो उनसे अधिक महत्त्वपूर्ण है श्रुतिप्रकाश (ऐश-उन्मेष) एवं ईश्वर है। ईश्वर के अस्तित्व, आत्मा के अस्तित्व, स्वतन्त्र इच्छा एवं निश्चिततावाद, आचार-सम्बन्धी सामान्य सिद्धान्त, भौतिक शरीर की मृत्यु के उपरान्त अन्तिम नियति आदि निगूढ़ प्रश्नों के विषय में स्वयं तर्कनापूर्ण ढंग से सोचने के लिए उनके पास न तो इतना अवकाश ही है, न प्रवृत्ति ही है और न है उस प्रकार की बौद्धिक योग्यता। सामाजिक विषयों में मानव-निर्णय बहुधा प्रचलित रूढ़ियों एवं दुराग्रहों से आवृत होते हैं। ऐसे प्रश्नों पर जो धार्मिक कहे जाते हैं (और भारत में धार्मिक विषयों का क्षेत्र सदा विशद रहा है) निर्व्याज विवेचन बिना क्रोध एवं अमर्ष अथवा विद्वेष उत्पन्न किये अधिकांश में असम्भव होता है। तलाक, सन्तति-निरोध ऐसे नैतिक प्रश्न परम्परानुगत धार्मिक उक्तियों (रूढ़ियों) की स्थिति में आ जाते हैं और जब उन पर कोई खुला विवेचन आरम्भ हो जाता है तो क्रोधाग्नि उत्पन्न हो जाती है। आज के बहुत-से लोकतान्त्रिक देशों में तार्किक विवेचन सबसे अन्त में आता है और बड़े-बड़े महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का निर्णय दल-विशेष की आसक्ति या व्यक्ति-विशेष के प्रति पक्षपात या शक्ति-प्राप्ति के प्रति लोलुपता तथा व्यक्तिगत वृद्धि के प्रति मोह के आधार पर किया जाता है। ऐसा नहीं समझना चाहिए कि प्राचीन एवं मध्यकालीन भारत में बुद्धिवादी (तार्किक) एवं अनस्तित्ववादी नहीं थे।

वास्तव में कतिपय बुद्धिवादी सदा पाये जाते रहे हैं। इस विषय में देखिए इस महाग्रन्थ का मूल खण्ड २, पृ० ३५८—३५९, टिप्पणी ८७५ एवं खण्ड ३, पृ० ४६-४७५ टिप्पणी ५७ (लोकायत एवं उनके मत आदि।[५] बहुत-से बुद्धिवादियों की धारणा है कि ईश्वर के अस्तित्व के विषय में कोई प्रमाण नहीं है, वे आत्मा के विषय में भी ऐसी ही धारणा रखते हैं, वे अमरता में विश्वास नहीं करते और न यही स्वीकार करते कि इस विश्व में मनुष्य की बुद्धि से बढ़कर कोई अन्य उच्च बुद्धि है, वे इसे नहीं मानते कि इस विश्व के पीछे कोई विशिष्ट उद्देश्य या प्रयोजन है, उनका विश्वास है कि सभी धर्मों में कुछ-न-कुछ सत्य है जो अत्यधिक भ्रम से युक्त है। बुद्धिवादियों (तर्कवादियों) का कथन है कि उन्हें इस बात को सिद्ध करने के लिए विवश नहीं करना चाहिए कि ईश्वर नहीं है (जो कि एक अस्वीकारार्थक या अभावात्मक प्रस्ताव है), प्रत्युत अस्तित्ववादियों को ही यह सिद्ध करना है कि ईश्वर है अर्थात् उसका अस्तित्व है और वह सर्वशक्तिमान् एवं सर्वज्ञ है (जो एक भावात्मक प्रस्ताव अथवा प्रमेय या प्रतिज्ञा है)। उनका कथन है कि ईश्वर को क्रोध, प्रेम या करुणा नामक गुणों से युक्त करना ईश्वर के सर्वशक्तित्व को निर्विवाद रूप से समाप्त कर देना है। इस विश्व में दुराचार की जो समस्या विराजमान है, वह बुद्धिवादियों की दृष्टि में, ईश्वर को अच्छा, दयालु, सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् मानने के मार्ग में एक बाधा है। नास्तित्ववादी (अथवा बुद्धिवादी) अस्तित्ववादी के साथ सम्भवतः यह मान लें कि मनुष्य एक सत्ता के रूप में अपने से उच्च उस सत्ता पर निर्भर रहता है जो उसे मार्ग-निर्देशन देने में तथा आज्ञा अथवा निर्देशन के उल्लंघन पर दण्ड देने में समर्थ है। बुद्धिवादी अथवा तर्कवादी का दृष्टिकोण है कि मानव किसी प्रकार के ऐसे समुदाय या ऐसे समाज में रहता है या सत्ता रखता है जो उससे अपेक्षाकृत अधिक महान् है। यह दृष्टिकोण इस बात की ओर संकेत करता है कि ईश्वर-पूजा के स्थान पर मानव-समुदाय या संयुक्त मानव-शक्ति की पूजा होनी चाहिए। ईश्वर के स्थान पर किस मानव-समुदाय को रखा जाय ? क्या यह सम्पूर्ण मानव-समाज (जिसमें मनुष्यों की संख्या आज लगभग तीन अरब तक है) होगा या इसके कुछ बड़े या छोटे दल ? आज स्पष्ट रूप से दो दल हैं जिनमें विचारधारा-सम्बन्धी संघर्ष है, यथा—साम्यवादी दल (गुट) जिसके नेता रूस एवं चीन हैं, तथा पूँजीवादी दल जिसका नेता अमेरिका है। इंग्लैण्ड तथा यूरोप के कुछ अन्य देश तथा एक तीसरा दल, जो तथाकथित तटस्थ देशों का दल कहा जाता है, जिसमें भारत भी एक है, और जो अभी उतना सुव्यवस्थित नहीं है, इन दोनों दलों में किसी में सम्मिलित नहीं हैं।

वर्तमान काल में साम्यवाद सचमुच एक प्रकार की पूजा है, अर्थात् ईश्वर-पूजा के स्थान पर मनुष्य या मनुष्यों की पूजा है। यह बात स्वीकार्य होगी कि सम्भवतः वर्तमान रूस की जनता भौतिक आवश्यकताओं के विषय में ज़ारों के काल के प्रजाजनों से कहीं अधिक समृद्ध एवं उत्तम जीवन बिता रही है। जनता में साम्य-वाद के प्रति भक्ति है। किन्तु यह भक्ति वास्तव से अधिक दिखावटी है, शीघ्र (क्षिप्र) लाभों की आशा पर या अविलम्ब दण्ड के भय पर आधृत है तथा शिक्षा एवं वातावरण पर राज्य के कठोर नियन्त्रण का प्रतिफल या परिणाम है। निम्नोक्त शब्दों में साम्यवादियों का नारा बड़ा आकर्षक है—"विश्व के श्रमिको! संयुक्त होओ,

५. लोकायत या लौक्यायतिक के लिए देखिए जयराशिभट्ट कृत 'तत्त्वोपप्लवसिंह' नामक ग्रन्थ (गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज़, बड़ोदा)। 'लोकायत' शब्द 'उक्थादि गण' में आया है (पाणिनि ४।२।६०, 'क्रतूक्थादिसूत्रान्ताट् ठक्')। देखिए डा० दक्षिणारञ्जन शास्त्री कृत 'शार्ट हिस्ट्री आव इण्डियन मैटिरियलिज्म' (कलकत्ता, द्वितीय संस्करण, १९५७)।

तुम्हें शृंखलाओं के अतिरिक्त कुछ नहीं खोना है।" कुछ अन्य ध्यानाकर्षक शब्द ये हैं—"कृषक-श्रमिकों की अधिनायकता या अनन्य शासन।" किन्तु वास्तव में, यह तानाशाही कृषक-श्रमिकों पर साम्यवादी दल की तानाशाही के रूप में परिणत होती है। भौतिक कल्याण प्राप्ति के बदले में सामान्य जनता अपनी कई स्वतन्त्रताओं का विनिमय करती है (अर्थात् भौतिक कल्याण की वेदी पर कई स्वतन्त्रताओं की आहुतियाँ देती है), यथा—अपने विषय में सोचने की स्वतन्त्रता, बोलने की स्वतन्त्रता, बाह्य देशों के लोगों से मिलने-जुलने की स्वतन्त्रता, अपनी जीवन-वृत्तियों (पेशों) के चुनाव की स्वतन्त्रता आदि। इस विषय में साम्यवादी लोग कुछ भी गुप्त नहीं रखते कि वे सम्पूर्ण विश्व को साम्यवाद के अन्तर्गत लाना चाहते हैं। अतएव वे उद्घोषणा करते हैं कि वे सम्पूर्ण संसार के सामान्य नरों एवं नारियों के त्राता या उद्धारक हैं, और उन्हें कोई आक्रान्त नहीं कर सकता, क्योंकि वे पूँजीवाद या उपनिवेशवाद आदि के बन्धन से लोगों को मुक्त करना चाहते हैं। उनके मत में उन्मत्तता, असहिष्णुता या अन्य के प्रति विद्वेष की भावना पायी जाती है। ईश्वर विहीन समाज के विषय में एक मात्र प्रयोग विशाल पैमाने पर रूस में हुआ है, किन्तु यह बाह्य लोगों की दृष्टि में सुखद एवं सफल नहीं सिद्ध हुआ है। सोवियत रूस के बड़े-बड़े नेताओं (जिनमें कुछ को उनके उत्तराधिकारियों ने हत्यारे की उपाधि दी है) के चित्रों का सार्वभौम प्रदर्शन स्पष्ट रूप से ईश्वरविहीन समाज में भी पूजा की आवश्यकता की उद्घोषणा करता है। तानाशाहों ने न केवल सम्पत्ति की उत्पत्ति के साधनों का राष्ट्रीयकरण किया है, प्रत्युत देश के सम्पूर्ण 'श्रम' (लेबर) के साथ ऐसा किया है। तानाशाहों ने अपने को ईश्वर के स्थान पर प्रतिष्ठापित किया है और अपने प्रजाजनों के शरीरों एवं मनों पर भी पूर्ण नियन्त्रण स्थापित करना चाहा है। रूसी साम्यवादियों का ऐसा विश्वास है कि उनका देश इस पृथिवी पर स्वर्ग है और उनका कहना है कि लोगों को उनके शब्दों को, बिना जाँच-पड़ताल किये तथा वस्तुस्थिति का स्वयं परिचय प्राप्त किये, ज्यों-का-त्यों अवश्य मान लेना चाहिए। साम्यवादियों की इतिहास, अर्थशास्त्र एवं विज्ञान-सम्बन्धी विचारधाराएँ उनकी अपनी हैं। किसी को इस विषय में किसी प्रकार का प्रश्न उठाने का अधिकार नहीं है।

जूडावाद (यहूदियों का धर्म), ईसाई धर्म एवं इस्लाम (सभी एक ईश्वर में एवं एक ग्रन्थ में विश्वास करते हैं) के अनुयायियों ने अपने सिद्धान्तों एवं आचारों को फैलाने के लिए शतियों तक रक्तरञ्जित युद्धों एवं हत्याओं का आश्रय लेने में किसी प्रकार की हिचक नहीं प्रदर्शित की। जो लोग हिन्दू धर्म एवं बौद्ध धर्म की परम्पराओं में पले हुए हैं उनकी दृष्टि में यह व्यवहार अथवा इस प्रकार का धार्मिक आवेश आकस्मिक क्षोभ उत्पन्न करने वाला है। यदि बुद्धिवादी अथवा अनीश्वरवादी लोग ईश्वर-पूजा के स्थान पर मानव-समाज के दल स्थापित करते हैं या पूजा एवं शासन के लिए ऐसे दलों के नेताओं को प्रतिष्ठापित करते हैं तो इसमें सन्देह नहीं कि स्वयं मानवता ही विलुप्त हो जायगी। यह मानते हुए भी कि तथाकथित बुद्धिवादियों को हम सर्वशक्तिमान् एवं सर्वज्ञ ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के विषय में सन्तुष्ट नहीं कर सकते, प्रस्तुत लेखक ऐसा अनुभव करता है कि अधिकांश समाजों के लिए, जिनमें करोड़ों-करोड़ मानव रहते हैं, ईश्वर एवं आत्मा में विश्वास करना, अपेक्षाकृत अच्छा है। अधिकांश लोग ईश्वर के भय से सदाचार एवं अच्छाइयों की ओर झुकते हैं, क्योंकि उनका अन्तःकरण उन्हें कोसता रहता है, उन्हें लोक-लज्जा रहती है और उन्हें राज्य के राजा से दण्ड मिलने का भय लगा रहता है। जो लोग ईश्वर-भय, सदाचार का पथ एवं दूसरी बात अर्थात् अन्तःकरण (ईश्वर द्वारा मनुष्य में डाली हुई आन्तरिक शक्ति) की बात छोड़ देते हैं, उन्हें तीसरा (अर्थात् लोक-लज्जा का भाव) भी छोड़ देना होता है और इस प्रकार वे **सुखवादी** (अपने ही लिए सबसे अधिक सुख की भावना—हेडोनिज्म) हो उठते हैं। ऐसे लोग 'अधिक से अधिक लोगों का अधिक से अधिक लाभ हो' वाले सिद्धान्त या कल्पना द्वारा किसी आदर्श समाज के विषय में

सोचने लगते हैं। हिन्दू धर्म एवं सभी उच्च धर्मों के आदर्शों एवं सिद्धान्तों के समक्ष केवल धर्मनिरपेक्ष या भौतिक सुख के ही पीछे पड़ा रहना असंगत-सा है। बुद्धिवाद उन स्वीकृत पक्षों को, जिन्हें विज्ञान सुविधाजनक एवं उपयोगी मानता है, स्वीकार कर लेता है। यद्यपि ये स्वीकृत पक्ष (स्वयंसिद्ध प्रमाण) कुछ सीमाओं तक भली भाँति चलते हैं, किन्तु यह अवश्य कहा जाना चाहिए कि ये सीमाएँ बहुत सँकरी होती हैं। विज्ञान का उद्देश्य है सामान्य नियमों एवं विधानों को स्थापित करना। इन नियमों से हम केवल प्रकृति के आचरण या व्यवहार से परिचित हो पाते हैं और यह जान पाते हैं कि किस प्रकार मानव प्राकृतिक शक्तियों का उपयोग मानवीय उद्देश्यों की पूर्ति में कर सकता है। किन्तु विज्ञान यह नहीं बता पाता कि उन उद्देश्यों (ध्येयों) को क्या होना चाहिए। विज्ञान नैतिक वृत्तिविहीन विद्या है, इसका नैतिकता एवं आध्यात्मिकता से कोई सम्बन्ध नहीं है। बुद्धिवाद, ऐसा लगता है, मानव मन के बहुत-से ऐसे अनुभवों को नियन्त्रित करता है, जो आज के विज्ञान के यन्त्रों के ऊपर की गतियाँ हैं। जब वैज्ञानिक प्रणालियों का प्रयोग सामाजिक अध्ययनों में भी प्रयुक्त होता है तो ऐसा प्रतीत होता है, वे जीवन के मूल्यों के विषय में किसी प्रकार के ज्ञान की वृद्धि करने में पूर्णतया असमर्थ हैं। बुद्धिवाद इस पर बल देता है कि हमारे सभी विश्वास स्पष्ट एवं निश्चित भूमियों पर आधृत हों और वह इस बात पर विश्वास करता है कि आधुनिक वैज्ञानिक प्रणाली ही एक मात्र प्रणाली है जिसके द्वारा सभी प्रकार के ज्ञान की उपलब्धि हो सकती है। किन्तु मनुष्यों में बहुत-सी उपचेतन एवं अतार्किक (अबुद्धिवादी) वृत्तियाँ, विश्वास एवं प्रज्ञाएँ होती हैं जिन्हें वे अपेक्षाकृत अधिक सत्य मानते हैं और उन्हें बुद्धिवादी स्तरों की अपेक्षा अधिक उच्च समझते हैं (देखिए डब्लू० जेम्स कृत 'वेराइटीज आव रिलिजिएस एक्सपीरिएंस', पृ० ७४, सन् १९२० का संस्करण)। प्रत्येक पीढ़ी के चिन्तक नेताओं का यह प्रयास होना चाहिए कि वे परम्परा एवं रूढ़ि में जो अत्यावश्यक एवं गुरु है (परम्पराओं की अमोघता में बिना विश्वास किये) उसका पता चलायें और ऐसे तर्कयुक्त मत या व्यवस्थाएँ दें जो परम्परा के सार तत्त्वों के साथ, आधुनिक चिन्तन, परिस्थितियों एवं वातावरण की आवश्यकताओं एवं पृच्छाओं की पूर्ति कर सकें। आधुनिक बुद्धिवाद के विषय में कुछ और कहना यहाँ आवश्यक नहीं है।

हमने इस ग्रन्थ में बहुधा इस तथ्य की ओर संकेत कर दिया है कि लगभग दो सहस्र वर्षों तक हमारे प्राचीन लेखकों एवं मनुस्मृति (१२।१०५-१०६) जैसी अन्य स्मृतियों ने धर्म के अन्वेषण में तर्क को स्थान दिया है (स्वयं कुमारिल ने उस पर विश्वास किया है), विरोधी मतों के प्रति सहिष्णुता प्रदर्शित की है और धार्मिक कृत्यों, दार्शनिक मतों, सामाजिक रीतियों एवं आचारों में परिवर्तन किये हैं और ऐसा करने में कहीं भी किसी प्रकार की हत्याएँ या अनाचार नहीं किये गये हैं। कोई व्यक्ति एक-ईश्वरवादी हो सकता है या बहुदेवतावादी हो सकता है या मूर्ति-पूजक हो सकता है, अस्तित्ववादी, नास्तित्ववादी या दोनों के बीच में हो सकता है, या निर्गुण ब्रह्म को मानने वाला आदर्शवादी दार्शनिक हो सकता है तब भी वह, यदि वेद तथा सामाजिक प्रयोगों के प्रति एक सामान्य झुकाव रखता हो तो वह पूर्ण हिन्दू कहा जायगा। इस प्रकार की सहिष्णुता जो सैकड़ों-सहस्रों वर्षों से हमारी भारतीय जनता ने प्रदर्शित की है वह अन्यत्र दुर्लभ एवं अचिन्त्य रही है। पाश्चात्य लेखक जहाँ एक ओर धार्मिक दृष्टिकोणों एवं व्यवहारों में हमारी सहिष्णुता की प्रशंसा करते हैं, वहीं भोजन, विवाह आदि में जाति-सम्बन्धी नियमों के पालन की खिल्ली भी उड़ाते हैं। किन्तु जाति धार्मिक होने की अपेक्षा सामाजिक अधिक है, अतः जिस प्रकार पाश्चात्य देशों में आचार-सम्बन्धी नियमों (यथा १३ की संख्या और सैब्बथ पर कार्य करने, थियेटर जाने, ताश खेलने तथा चलने के अतिरिक्त अन्य शारीरिक व्यायामों के विरुद्ध नियम) का पालन साशंक होता रहा है, उसी प्रकार भारत में जाति-सम्बन्धी नियमों के प्रति व्यवहार होता रहा है। इतना ही नहीं, जाति-नियमों के भंग करने पर दोषी को अपनी जाति के बन्धु-बान्धवों की सभा (पंचायत) में अपनी त्रुटि माननी पड़ती थी, जाति को

या ग्राम-मन्दिर को दण्ड रूप में कुछ देना होता था, तब कहीं उसे अपनी जाति की सुविधाएँ प्राप्त हो सकती थीं। ईसाइयों के चर्च थोड़ी-सी भी मार्ग-भ्रष्टता के प्रति बहुत ही असहिष्णु रहे हैं (विशेषतः धार्मिक विषयों एवं विशिष्ट कालों में) अतः यूरोप में अपने मतों के प्रति दुराग्रह प्रकट करने की प्रवृत्ति एवं बुद्धिवाद पर विशेष बल दिया गया। सरकारों ने प्रभावपूर्ण ढंग से शिक्षा पर नियन्त्रण करके अपनी प्रजा के मतों को जिधर चाहा घुमाया, ऐसा करने में उन्होंने ग्रन्थों पर अधिकार किया और उन लोगों को यातनाएँ दीं जिन्होंने उनकी मान्यताओं के विरुद्ध मत व्यक्त किये। रोम के चर्च ने ऐसी अनभीष्ट पुस्तकों की सूची बनवायी जो वर्जित थीं, तथा एक सूची बनवायी जिसमें अभीष्ट ग्रन्थों के वे वचन संगृहीत थे जो वर्जित ठहरा दिये गये थे। इस विषय में पाश्चात्य धार्मिक इतिहास बड़ा क्रूर एवं कठोर चित्र उपस्थित करता है। देखिए लेकी का ग्रन्थ 'हिस्ट्री आव दि राइज एण्ड इंफ्लुएंस आव रेशनलिज्म इन यूरोप', आर्चीबाल्ड राबर्टसन कृत 'रेशनलिज्म इन थ्योरी एण्ड प्रैक्टिस' (वाट्स एण्ड को० द्वारा प्रकाशित, १६५४) एवं ह्यू टी० ऐंसन फॉसेट कृत 'दि फ्लेम एण्ड लाइट' (लन्दन, १६५८)। इन ग्रन्थों में ऐसी बातों का पूर्ण विवेचन है। लेकी ने बताया है कि किस प्रकार जापान से ईसाई धर्म, स्पेन से प्रोटेस्टेण्टवाद, फ्रांस से ह्यूजेनॉट्स तथा इंग्लैण्ड से अधिकांश कैथोलिकों का मूलोच्छेद हो गया। जेसुइटों ने इस सिद्धान्त का कार्यान्वियन किया कि ध्येय के अनुसार ही साधन चलते हैं। उनका ध्येय था 'ईश्वर का महत्तर गौरव' जिसका उनके लिए अर्थ था रोमन कैथोलिकवाद के अनुसार मनुष्यों एवं राज्यों का धार्मिक परिवर्तन, साधन थे मारकाट एवं युद्ध के लिए निजधर्मावलम्बियों को उभारना। गैलिलिओ को ज्योतिष में कोपर्निकस के सिद्धान्त के अनुसरण के कारण यातना दी गयी। सूर्य पृथिवी के चतुर्दिक् घूमता है या पृथिवी सूर्य के, इससे धर्म के लिए विशेष अन्तर नहीं होता। इसी विषय में एक बात यह बता दी जाय कि भारत में 'आर्यभट (सन् ४७६ ई० में जन्म) ने यह घोषित किया कि नक्षत्र पृथिवी के चतुर्दिक् चक्कर नहीं काटते प्रत्युत पृथिवी ही अपने चारों ओर घूमती है और इसे समझाने के लिए एक चलती हुई नाव में बैठे हुए पुरुष का उदाहरण दिया, जिसे ऐसा भास होता है कि तट पर स्थित पदार्थ ही पीछे की ओर दौड़ते दृष्टिगोचर होते हैं।[६] वराहमिहिर की पञ्चसिद्धान्तिका (१३।६) में इस मत का उल्लेख है और इसे त्याग दिया गया है, किन्तु इसलिए नहीं कि यह वेदविरुद्ध है, प्रत्युत इस तर्क पर कि यदि यह मत ठीक होता तो चील आदि पक्षी, जो आकाश में इतनी दूर उड़ते रहते हैं, अपने घोंसलों में पुनः सफलता-पूर्वक नहीं आ सकते थे। उन्हें यह नहीं ज्ञात था कि पृथिवी के साथ वायुमण्डल भी चलता रहता है। यह बात गैलिलिओ से ११०० वर्ष पहले की है और हमारे पास कोई ऐसा प्रमाण नहीं है कि आर्यभट को अपने मतों के कारण कोई पीड़ा उठानी पड़ी। देखिए डब्लू० ई० क्लार्क कृत 'आर्यभटीयम्' (चिकागो, १६३०), पृ० ६४। जैसा कि आर्चीबाल्ड रॉबर्टसन ने अपने ग्रन्थ में लिखा है, यूरोप में तार्किक (अथवा बौद्धिक) क्रान्ति का इतिहास बहुत बड़ी सीमा तक उन मतों के मानने एवं उन्हें प्रसारित करने के अधिकार के युद्ध का इतिहास है, जो कुछ कालावधि तक अप्रचलित रहे हैं, और यूरोप में धार्मिक सहिष्णुता की भावना का विकास परम्परागत धार्मिक विश्वासों के नाश के साथ-साथ चलता रहा है। एक ही विषय पर तर्क कई युगों में कई प्रकार के निष्कर्षों को उपस्थित करता है और कभी-कभी एक ही युग में जो किसी एक दल विशेष को तर्कयुक्त लगता है, अन्य दल के लोगों को

६. अनुलोमगतिर्नौस्थः पश्यत्यचलं विलोमगं यद्वत्। अचलानि भान्ति तद्वत्समपश्चिमगानि लंकायाम्॥ आर्यभटीय (गोलपाद, श्लोक ६)।

वही अतार्किक एवं अनुचित-सा प्रतीत होता है। देखिए रॉबर्ट ब्रिजेज कृत 'टेस्टामेण्ट आव ब्यूटी' (बुक १, पंक्तियाँ ४६५-४७०), जहाँ जो उचित अथवा तर्कसंगत है उस पर लिखा गया है। करोड़ों लोगों ने फलों को पृथिवी पर टपकते हुए देखा था किन्तु यह न्यूटन की ही प्रज्ञा एवं तर्क था जिसके द्वारा उन्होंने आकर्षण के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर दिया।

बृहदारण्यकोपनिषद् (१।५।३) ने संशय (अथवा सन्देह) को मन की एक उचित वृत्ति कहा है, यथा---'कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाश्रद्धाधृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत् सर्वं मन एव', अर्थात् इच्छा, संकल्प, संदेह, श्रद्धा, अश्रद्धा, धैर्य (स्थिरता), अधैर्य, लज्जा, समझ (धी) एवं भय---ये सभी मन के स्वरूप हैं। ऋग्वेद (२।१२।५) ने भी इन्द्र के विषय में संशय करने वालों की ओर संकेत किया है ('उतेमाहुर्नैषोस्तीत्येनम्')। कठोपनिषद् में नचिकेता का कथन है---"जब मनुष्य मर जाता है, वहाँ सन्देह है, कुछ लोग कहते हैं, 'वह (आत्मा) रहता है', अन्य लोग कहते हैं, 'वह रहना समाप्त कर देता है'", इस प्रकार कहकर नचिकेता यम से प्रार्थना करते हैं कि वे (यम) उसके तीसरे वरदान के रूप में इसी सन्देह को दूर करें।

डेकार्ट का कथन है कि केवल एक ही सत्य सन्देहातीत है, यथा 'कॉगितो इर्गो सम', अर्थात् 'मैं विचार करता हूँ, अतः मैं हूँ।' १८वीं एवं १९वीं शतियों में, जहाँ तक विचारशील व्यक्तियों का सम्बन्ध है, यूरोप में तर्क एवं विकास के प्रति असीम श्रद्धा पायी जाती थी। किन्तु दो महायुद्धों के (विशेषतः द्वितीय के) कारण एवं उनके परिणामों के फलस्वरूप दो शक्तिशाली साम्यवादी देशों के अभ्युत्थान ने तर्क एवं आचार-शास्त्र द्वारा निर्देशित विकास के प्रति श्रद्धा को धक्का पहुँचाया है, व्यक्ति की प्रतिष्ठा (अथवा माहात्म्य) एवं समानता के प्रति श्रद्धा-भावना का ह्रास हुआ है और उस पर कतिपय क्षेत्रों से आक्रमण हो रहा है और इस मत को कि शक्ति से अधिकार की उत्पत्ति होती है या शक्ति ही अधिकार है, प्रधानता मिलती जा रही है।

उपनिषदों का कथन है कि सत्य वेदान्तवादी धारणा के लिए विशुद्ध नैतिकता की सन्नद्धता आवश्यक है। बृह० उप० में आया है---'अतः जो शान्ति की प्राप्ति, इन्द्रिय-निग्रह, विषय वासनाओं से दूर हट जाने, सभी प्रकार के द्वन्द्वों (शीत एवं उष्णता आदि) को सह लेने के उपरान्त इसे (आत्मा को) जानता है, वह आत्मा में आत्मा देखता है, सभी वस्तुओं को आत्मा समझता है।' कठोपनिषद् (२।२४) का कथन है---'जिसने दुष्कर्म करना नहीं छोड़ा है, जो शान्त नहीं है, जिसने अपने मन को एकाग्र नहीं किया है और न उसे शान्त ही किया है, वह सत्य ज्ञान से आत्मा का परिज्ञान नहीं कर सकता।' प्रश्नोपनिषद् (१।१६) में आया है---'जो कुटिलता, असत्य एवं वञ्चनापूर्ण आचरण से मुक्त हैं वे ब्रह्म के पवित्र लोक की प्राप्ति करते हैं।' श्वेताश्वतरोपनिषद् (६।२२) में आया है---'यह अत्यन्त निगूढ़ वेदान्त ज्ञान उस व्यक्ति को नहीं दिया जाना चाहिए जिसका मन अशान्त है अथवा जो अपना पुत्र या शिष्य नहीं है।' 'तत्त्वमसि' अर्थात् 'वह तुम हो' नामक मन्त्र प्रत्येक व्यक्ति को यह बताता है कि वह सभी मनुष्यों में आत्मा को देखे या जैसा कि गीता (६।२९-३०) में कहा गया है---'जो योगयुक्त है और आत्मा को ही सब कुछ समझता है और प्रत्येक वस्तु को आत्मा में अवस्थित मानता है, परमात्मा से बिछुड़ नहीं सकता और न परमात्मा ही उसे छोड़ सकते हैं।' छान्दोग्योपनिषद् (३।१६।१) में मनुष्य को प्रतीक रूप में यज्ञ माना गया है और (३।१७।४ में) ऐसा आया है कि तप, दान, आर्जव (अकुटिलता), अहिंसा एवं सत्य दक्षिणा है।

उपर्युक्त उदाहरणों से यह व्यक्त होता है कि वेदान्त अपने सर्वोत्तम रूप में व्यक्तियों को शुद्ध नैतिकता का अत्युत्तम आश्रय प्रदान करता है। इसी शिक्षा के कारण बहुत-से मुनियों ने आश्रमों में इन गुणों की उपलब्धि की और प्राचीन काल में राजाओं एवं सामान्य लोगों द्वारा पूजित हुए थे, किन्तु मध्य काल में ऐसे मुनियों की कमी

हो गयी[७] और सामान्य जनता परम्परानुगत रीतियों, लोकाचारों एवं जाति से बँधी रही, बहुत कम लोगों ने सभी लोगों को उनकी सामान्य आवश्यकताओं की सुरक्षा के लिए एकता के सूत्र में बाँधने के कठिन प्रयत्न किये; और इतने महान् एवं उत्कृष्ट दार्शनिक सिद्धान्तों के रहते हुए भी हमारे देश ने अधिकांश जनता में अधमता, दारिद्रय एवं क्रूर आक्रामकों द्वारा राजनीतिक प्रभुत्व-स्थापन देखा! कई शतियों से हमारे इतिहास में वेदों के ऊपर निर्भरता तथा ऐसा विश्वास एवं तर्क पाया जाता रहा है कि जो कुछ अतीत में था वह सर्वोत्तम था, तथा अतीत के प्रति एक विलक्षण मोहकता की भावना हममें भरती रही है। हमारा आदर्शवाक्य 'वेदों की ओर' नहीं होना चाहिए, प्रत्युत वह 'वेदों के साथ आगे की ओर' होना चाहिए। वेद तथा आप्त वचन को मूल्य देते हुए हमें विचार-स्वातन्त्र्य की भर्त्सना कभी भी नहीं करनी चाहिए।

बेंथम, जेम्स मिल एवं जॉन स्टुअर्ट मिल जैसे कुछ पाश्चात्य बुद्धिवादियों ने 'उपयोगितावाद' (यूटिलिटेरियनिज्म) का सिद्धान्त प्रचारित किया है, जो संक्षेप में यह है कि कर्मों की जाँच उनके परिणामों से की जानी चाहिए और वे उसी अनुपात में ठीक हैं जिस अनुपात में वे अधिक-से-अधिक लोगों को अधिक-से-अधिक सुख देते हैं। इस सिद्धान्त में बड़े-बड़े दोष हैं, जिनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि यह वास्तव में, नैतिक सिद्धान्त नहीं है, क्योंकि वह यह नहीं बताता कि मनुष्य या समाज को क्या होना चाहिए। धर्म अपने अनुयायियों को बताते हैं कि उन्हें क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। यह पता नहीं चल पाता कि अधिक-से-अधिक लोग किस बात को अच्छी या सुखद मानते हैं। एक व्यक्ति की दृष्टि में जो अधिकतम लोगों के लिए अधिकतम अच्छा है वह अन्य लोगों को स्वीकार्य नहीं भी हो सकता। यही एक अन्य कठिनाई है। इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि बहुत-से लोग अन्य लोगों के सुख के लिए कुछ भी नहीं करते। इस सिद्धान्त द्वारा नैतिक, राजनीतिक एवं अर्थशास्त्रीय कर्म अस्पष्ट एवं संकुल हो उठते हैं। व्यवहार में यह सिद्धान्त, सुख पर बल दिये जाने के कारण, सुखवाद एवं भौतिक पदार्थों में लवलीन हो जाने की छूट देने लगा है।

प्रस्तुत लेखक विचार-स्वातन्त्र्य का विरोध नहीं करता, किन्तु वह जिस बात का विरोधी है, वह है बुद्धिवाद की बद्धमूलता, जिसने करोड़ों सामान्य नर-नारियों को विश्वासरहित बना दिया है और उन्हें नास्तित्ववादी एवं अनात्मवादी बनाती जा रही है। बुद्धिवादी एवं उपयोगितावादी लोग सामान्य लोगों के लिए आचार के मूल्यों एवं सिद्धान्तों के विषय में कुछ कहते ही नहीं। यदि ईश्वर एवं आत्मा का निष्कासन करना ही है तो उन्हें इसके स्थान पर अपेक्षाकृत कोई अधिक मूल्यवान् एवं उपयोगी तत्त्व रखना चाहिए था जिसके लिए आज की नयी पीढ़ी कुछ करती और अपना उत्सर्ग करती। यद्यपि हम ऐसा नहीं कह सकते कि धार्मिक एवं सामाजिक विषयों के अन्तिम ज्ञान की बातें वेद में या प्राचीन ऋषियों एवं लेखकों के ग्रन्थों में पायी जाती हैं, किन्तु आज के विज्ञ व्यक्ति यह निर्णय देने के पूर्व हिचकेंगे कि ईश्वर एवं अमर आत्मा वाले सिद्धान्त में विश्वास करने के विरोध में हमें कोई नारा उठाना चाहिए। गीता ने अधिकांश लोगों को सावधान किया है (३।२६)—'ज्ञानी (या विद्वान्) लोगों को उन अबोध लोगों के मनों को, जो (आचरण द्वारा विशिष्ट) कर्मों में लिप्त हैं, अस्तव्यस्त नहीं करना चाहिए; प्रबुद्ध व्यक्ति को स्वयं एक योगी के समान सभी कर्म करते हुए अन्य लोगों को सभी कर्म करने के लिए प्रवृत्त करना चाहिए।'

७. आजकल भी रमण महर्षि (अरुणाचल के मुनि, १८७९-१९५०) जैसे मुनि पाये जाते हैं जिनमें अद्वैत वेदान्त की सच्ची लगन है। श्री आर्थर ऑसबॉर्न ने 'रमन महर्षि एण्ड दि पाथ आव सेल्फ नालेज' (राइडर एण्ड को०, १९५४) नामक मनोरम ग्रन्थ लिखा है।

दोनों महायुद्धों के परिणामस्वरूप, जिनमें अवर्णनीय अनाचार एवं असभ्य कृत्य[८] अत्यधिक पढ़े-लिखे लोगों एवं ऐसे देशों द्वारा जिनमें लोग ईसाई धर्मावलम्बी रहे हैं, सम्पादित किये गये, एक प्रकार की विराग अथवा जुगुप्सा की भावना उत्पन्न हुई, और कतिपय महान् व्यक्ति इस विषय में तर्कना करने लगे हैं कि यह सब धार्मिक विश्वास के अभाव के कारण हुआ है और वे यही चाहते हैं कि मानव समाज पुनः धर्म की ओर झुके। किन्तु समस्या-सम्बन्धी कठिनाई तो यह है कि आज के युग में कौन-से धार्मिक विश्वास एवं व्यवहार लोगों में भरे जायँ और लोग मानें तथा प्रयोग में लायें। प्रस्तुत लेखक की दृष्टि में विश्व के रोगों को दूर करने के लिए धर्म कभी भी रामबाण नहीं सिद्ध हो सकता। आज के शिक्षित मानव-समुदाय में बहुत-से लोग कतिपय प्रचलित धार्मिक सिद्धान्तों एवं प्रयोगों तथा उनके बौद्धिक या प्रामाणिक ग्रन्थों से असन्तुष्ट हैं। प्रश्न के समाधान में कठिनाई तो यह है कि धर्म या विश्वास में कैसी बातों का समावेश होना चाहिए जो आज के अधिकांश लोगों या सभी अच्छे लोगों या पढ़े-लिखे आधुनिक बौद्धिक लोगों के मन में उतर सकें। विभिन्न युगों में विभिन्न सदाचारों एवं गुणों (यथा—मठवास या संसारत्याग या आरण्यकवृत्ति, दान, विनम्रता या अनहंकार, देशभक्ति, समाज-सेवा या लोक हितेच्छा) को विशेष महत्त्व दिया जाता रहा है। यूरोपीय देशों में देश-भक्ति के गुण एवं राष्ट्रीयता की भावना का विकास ईसाई धर्म की शिक्षा के फलस्वरूप नहीं हुआ, प्रत्युत वह यूरोप के राजनीतिक एवं अर्थशास्त्रीय इतिहास में किन्हीं अन्य कारणों से हुआ। वास्तव में, सदाचार एवं शालीनता-सम्बन्धी कतिपय गुण हैं, यथा—धार्मिक, वीरता-सम्बन्धी, सुशीलता-सम्बन्धी आदि। यूरोप एवं अमेरिका के लोगों ने गत चार शतियों में महात्मा ईसा मसीह द्वारा 'पर्वत पर दिये गये उपदेशों' से सम्बन्धित सदाचारों अथवा शील-गुणों को हवा में फेंक दिया और अतुल सम्पत्ति एवं समृद्धि का अर्जन किया; उन्होंने अपने उपनिवेशों का विस्तार किया, वहाँ के लोगों का शोषण किया, पिछड़ी जातियों को पद दलित किया, पशुओं की भाँति मनुष्यों का आखेट किया, उन्हें दासता की बेड़ियों में कसा, चारों ओर प्रतिद्वन्द्विता के नारे लगाये, मानो वे ईश्वर की पूजा के लिए सदुपदेश कर रहे हों![९] दो महायुद्धों की आहुतियों के उपरान्त बहुत से चिन्तक, न-केवल धार्मिक लोग, प्रत्युत वे लोग भी जो प्रशासन में उच्च पदों पर आसीन हैं, नैतिक ज्ञान की शिक्षा की आवश्यकता का अनुभव करते हैं और चाहते हैं कि लोगों में अनुशासन, निःस्वार्थ भावना आदि सद्गुणों का उद्रेक हो और लोग जीवन के सत् पदार्थों के बँटवारे में एक-दूसरे से सहयोग करें। इस प्रकार के सदाचारों पर बृह० उप० (५।२।१-३) में बहुत बल दिया गया है।

८. देखिए लिवरपुल के लार्ड रसेल कृत 'स्कॉरेज आव दि स्वस्तिक', जहाँ पर (पृ० १७१) उन्होंने हॉस के अंगीकृत वक्तव्य को प्रकाशित किया है कि आश्त्रिविज में कम से कम ३० लाख व्यक्ति मारे गये, जिनमें २५,००,००० गैस चेम्बर से मारे गये थे। पृ० २५० में लेखक ने टिप्पणी की है कि जर्मनों द्वारा ५० लाख से अधिक यूरोपीय यहूदियों की हत्या विश्व-इतिहास में सबसे बड़ी हत्या एवं निकृष्ट अपराध है।

९. आर्चीबाल्ड रॉबर्टसन ने 'रेशनलिज्म इन थ्योरी एण्ड प्रैक्टिस' (वाट्स एण्ड को०, लन्दन, १९५४) में कहा है (पृ० ४१) कि ईसा के धर्म-सम्बन्धी नैतिक गुण प्रयोग में कभी नहीं लाये गये हैं और जो समाज 'माउण्ट के सर्मन' (उपदेश) पर आधृत होगा, वह एक मास तक भी नहीं चल सकता। अपने ग्रन्थ 'काइस्ट' (लन्दन, १९३९) में श्री डब्लू० आर० मैथ्यूज ने पृ० ७६ पर प्रो० ह्वाइटहेड के मत के साथ सहमति प्रकट की है कि यदि पर्वत पर दिये गये सर्मन (ईसा-उपदेश) के सिद्धान्तों को, जैसा कि शब्दों द्वारा समझा जाता है,

भारत में सम्राट् अशोक ने ई० पू० तीसरी शती में ब्राह्मण धर्म एवं बौद्ध धर्म के लिए अपने अनुशासनों द्वारा सहिष्णुता की भावना की शिक्षा दी है (देखिए इसी खण्ड के अध्याय २५ को)। अशोक ने किसी धर्म-विशेष के सिद्धान्तों की चर्चा नहीं की है, प्रत्युत उन्होंने अपने को अपने प्रजाजनों का पिता मान कर उनके लिए ऐसी नैतिकता की व्यवस्था की है जो व्यावहारिक है और सबको स्वीकार्य हो सकती है, यथा—सहिष्णुता, मानवता, भिक्षुओं एवं दरिद्रों को दान तथा मूक पशुओं के प्रति करुणा की भावना। आगे चल कर, यह प्रदर्शित करना अत्यन्त आवश्यक था कि तर्क द्वारा उपस्थित सिद्धान्त वेद द्वारा स्थापित सिद्धान्त या वचन के सीधे विरोध में न पड़ें। यहाँ एक ही उदाहरण पर्याप्त है—यद्यपि उपनिषद् ऐसे वचनों द्वारा, यथा—'अहं ब्रह्मास्मि' (छा० उप० ३।१४।१), 'तत्त्वमसि' (छा० उप० ६।८।७) अद्वैत की अभिव्यक्ति करते हैं, किन्तु मध्वाचार्य भी अपना द्वैत सिद्धान्त प्रतिपादित कर सके और उन्होंने अपनी तर्कना से उपर्युक्त वचनों की व्याख्या की, और अपने को ही वेद का सच्चा व्याख्याता कहा तथा अद्वैत सिद्धान्त को प्रच्छन्न बौद्ध धर्म की संज्ञा देकर उसका तिरस्कार किया। किन्तु ऐसा करने में किसी पक्ष को कोई यातनाएँ नहीं सहनी पड़ीं। याज्ञवल्क्य (२।१९२) ने वणिक समुदायों (विदेशी व्यापारियों), पाषण्डियों (अन्य धर्मियों) तथा उनके जीवन-निर्वाह के ढंगों की सुरक्षा के लिए राजा को उत्तरदायी ठहराया है। विभिन्न प्रकार के धार्मिक रूपों एवं उनके आचारों तथा एक-दूसरे के सर्वथा विरुद्ध दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रति सहिष्णुता की भावना से एक दुर्बलता भी आती गयी है, यथा—इससे धार्मिक विश्वासों, रीतियों एवं दार्शनिक मतों में असंख्य रूप-भेदों की सृष्टि होती गयी है, कई प्रकार के दोष उत्पन्न हो गये हैं जिनमें कुछ तो अत्यन्त गर्हित एवं अस्वस्थ हैं।

कार्यान्वित किया जाये तो इसका तात्पर्य होगा सभ्यता की अचानक मृत्यु। अपने ग्रन्थ 'ऐक्विजिटिव सोसाइटी' (१९२१) में भी सी० एच० टॉनी ने दृढ़तापूर्वक यह कहा है कि ईसाई धर्म में जो ईसाईपन था वह लगभग १७वीं शती के उपरान्त समाप्त हो गया है (पृ० १२-१३)।

अध्याय ३४

विश्व-विद्या

ईश्वर के अस्तित्व के विषय में सभी धर्मशास्त्रकारों की सहमति है। ईश्वर के अस्तित्व के विषय में तर्क अथवा प्रमाण उपस्थित करने के काय में कदाचित् ही कोई अभिरुचि उनकी ओर से प्रकट की गयी हो। ईसाई धर्मावलम्बियों ने सैकड़ों वर्षों तक ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में बहुत-से तर्क उपस्थित किये हैं। विलियम जेम्स ने अपने ग्रन्थ 'वैराइटीज आव रिलिजियस एक्स्पीरिएंस' (पृ० ४३७) में उन तर्कों को संक्षिप्त ढंग से रखा है। इस व्यवस्थित विश्व को देखकर विश्वविद्या-सम्बन्धी प्रथम तर्क यह उपस्थित होता है कि इसका **प्रथम कारण** ईश्वर है, जिसको कम-से-कम इतनी पूर्णता अवश्य प्राप्त है जितनी इस विश्व में विद्यमान है। हेतु-विद्या-विषयक तर्क यह है कि स्वयं प्रकृति के पीछे एक उद्देश्य या हेतु या अभिप्राय है, जिसके आधार पर ऐसी परिकल्पना सार्थक है कि **प्रथम कारण** (अर्थात् ईश्वर) अवश्य ही एक निर्माणकारी बुद्धि या मन है। तब अन्य तर्क भी आ उपस्थित होते हैं, यथा 'नैतिक तर्क' (नैतिक कानून अथवा नैतिक व्यवस्था के पीछे कोई-न-कोई कानून या व्यवहार का प्रणेता अथवा व्यवस्था देने वाला अवश्य होता है), 'एक्स कांसेंसू जेण्टियम का तर्क (अर्थात् सारे संसार में ईश्वर के विषय में विश्वास फैला हुआ है, और यह बात यों ही नहीं है, इसमें कुछ वज़न है अर्थात् इसका कुछ अर्थ होना चाहिए)।[1]

१. और देखिए डब्लू० एफ्० वेस्टावेकृत 'ऑब्सेसंस एण्ड कन्विक्शंस आव दि ह्यूमन इण्टेलेक्ट' (ब्लैकी एण्ड संस, १९३८) जिसमें जेम्स की चार बातों में एक पाँचवीं बात जोड़ दी गयी है, यथा—सत्त्वविद्या-सम्बन्धी तर्क (आण्टॉलॉजिकल आर्गूमेण्ट—ईश्वर के विषय में भावना या धारणा ईश्वर के अस्तित्व को आवश्यक बना देती है), पृ० ३७८-८०। विलियम जेम्स ने, 'प्रैग्मैटिज्म' (पृ० १०९, १९१० संस्करण) में लिखा है कि ईश्वर के अस्तित्व के विषय में प्रमाण या साक्ष्य व्यक्तिगत आन्तरिक अनुभूति में पाया जाता है। श्री वेस्टावे (पृ० ३७४) ने स्पष्ट उत्तर दिया है कि ईश्वर के अस्तित्व के विषय में कोई प्रमाण नहीं है, किन्तु (पृ० ३८७) उन्होंने स्वीकार किया है कि उद्देश्य (प्रयोजन या अभिप्राय या अर्थ) सम्बन्धी तर्क से एक सम्भावना की अत्यन्त ऊँची मात्रा उठ खड़ी होती है और उन्होंने विश्वास किया है कि यह विश्व कोई दैवयोग घटना मात्र नहीं है, जैसा कि कुछ दार्शनिकों ने विश्वास प्रकट किया है। ईश्वर के अस्तित्व के लिए उपस्थित उद्देश्य का तर्क विकासवादी सिद्धान्त द्वारा खण्डित हो चुका है। यदि प्रत्येक वस्तु के पीछे कोई कारण है तो, ऐसा तर्क उपस्थित किया जाता है कि ईश्वर के पीछे भी तो कोई कारण होना चाहिए। और यह कुछ लोगों द्वारा उपस्थित किया जाता है कि इस कल्पना के पीछे कोई तर्क नहीं है कि विश्व का कोई आरम्भ भी था। कुमारिल ऐसे मीमांसकों ने ऐसा मत प्रकाशित किया है। एच्० जी० वेल्स ने अपने ग्रन्थ 'यू काण्ट बी टू केयरफुल' (लण्डन १९४२, पृ० २८२) में मत प्रकाशित किया है कि ईश्वर के सर्वज्ञत्व, सर्वविश्वव्यापकत्व एवं सर्वशक्तित्व से सम्बन्धित विचार का अवश्य त्याग हो जाना चाहिए, क्योंकि ये, उनके मत से, असंगत स्थापनाएँ हैं। दूसरी ओर डा० एफ्० डब्लू० जौंस ने अपने ग्रन्थ 'डिजाइन एवं परपज़' (लण्डन,

उपनिषदों ने परम ब्रह्म को भूतों (जीवों या तत्त्वों या दोनों) का स्रष्टा, पोषक एवं संहारक माना है। उदाहरणार्थ, तैत्तिरीयोपनिषद् (३।१, भृगु अपने पिता वरुण द्वारा उपदेशित किये गये हैं) में आया है[2]—'यह जानने की इच्छा करो कि किससे सभी भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न हो जाने के उपरान्त किसके द्वारा वे जीते हैं (पालित-पोषित) होते हैं तथा किसमें वे पुनः लौट जाते हैं और उसमें समा जाते हैं; वह ब्रह्म है।' यह वह आधार-भूत वचन है जिस पर वे० सू० (१।१।२, 'जन्माद्यस्य यतः') आधृत है। इसका अर्थ है 'जिससे इस (विश्व) का जन्म (सृष्टि, जीवन एवं विलयन) होता है' (वही ब्रह्म है)। तैत्तिरीयोपनिषद् (२।१) में पुनः आया है—'इस आत्मा से आकाश निकला, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी, पृथिवी से ओषधियाँ (वृक्ष-पौधे), ओषधियों से भोजन तथा भोजन से मनुष्य।' छान्दोग्योपनिषद् (३।१४।१) में भी आया है[3]—'यह सभी, वास्तव में, ब्रह्म है; मनुष्य को, मन का नियन्त्रण करके उस (विश्व) पर, उससे उत्पन्न होता हुआ समझ कर, उसी में (ब्रह्म में) समाप्त हुए तथा साँस लेते हुए, ध्यान करना चाहिए।' यह वे० सू० (१।२।१, सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्) का आधार है। यहाँ ब्रह्म की तीन उपाधियाँ हैं : विश्व का स्रष्टा, पालक एवं संहारक।

बादरायण के वेदान्तसूत्र में आगे आया है कि ब्रह्म के सत्य ज्ञान के लिए शास्त्र ही उपकरण हैं (शास्त्रयोनित्वात्, वे० सू० १।१।३)। इसके विरोध में कि वेद का सम्बन्ध कृत्यों (क्रिया-संस्कारों) से है, इसके कुछ भाग केवल क्रियाओं की प्रशंसा के लिए हैं, वैदिक मन्त्र यज्ञकर्ता को केवल यज्ञ के कतिपय अंगों का स्मरण दिलाते हैं, अतः वेदान्त वचनों का या तो कोई उद्देश्य ही नहीं है या अधिक-से-अधिक वे यज्ञकर्ता के आत्मा के विषय में सूचना दे देते हैं या पूजित होने वाले देवता के बारे में बतला देते हैं; वेदान्तसूत्र (१।१।४, तत्तु समन्वयात्) द्वारा उत्तर दिया जाता है, जिसका अर्थ यह है कि वेदान्त वचन इस विषय में स्वीकार करते हैं कि उनका तात्पर्य है उस ब्रह्म की स्थापना करना जो वे० सू० (१।१।२) में इस विश्व के स्रष्टा, पालक एवं संहारकर्ता के रूप में परिकल्पित है और जिसका स्वरूप वैसा है और जो सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् है।

१९४२) में मत उपस्थित किया है कि बहुत-से लोग इस विश्वास को छोड़ रहे हैं कि यह विश्व एक व्यवस्थित अस्तित्व है और बहुत-से लोगों ने मानव-जीवन के उद्देश्य के विश्वास को त्याग दिया है (पृ० १३)। प्रयोजनवादी अथवा उद्देश्यवादी तर्क उस व्यक्ति के विश्वास को शक्तिशाली बना सकता है, जो ईश्वर में पहले से विश्वास करता है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यह उस व्यक्ति में, जो वैसा मत नहीं रखता, अर्थात् जो ईश्वर में विश्वास नहीं करता, ईश्वर के प्रति विश्वास नहीं उत्पन्न कर सकता। एबेल जोंस ने अपने ग्रन्थ 'इन सर्च आव ट्रुथ' (१९४५) में कहा है कि ईश्वर के अस्तित्व के विषय में जो तीन प्रमुख तर्क उपस्थित किये जाते हैं वे हैं—विश्वविद्याविषयक (कॉस्मोलॉजिकल), हेतुविद्याविषयक (टेलियोलॉजिकल) एवं सत्त्वविद्याविषयक (ऑण्टॉलॉजिकल)।

२. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद् विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति।। तै० उप० (३।१)।

३. सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। छा० उप० (३।१४।१)। ब्रह्म के लिए प्रयुक्त 'तज्जलान्' शब्द विलक्षण है; शंकराचार्य ने इसे इस प्रकार समझाया है : 'तज्जलानिति। तस्माद् ब्रह्मणो जातं तेजोबन्नादिक्रमेण सर्वम्। अतस्तज्जम्। तथा तेनैव जननक्रमेण प्रतिलोमतया तस्मिन्नेव ब्रह्मणि लीयते तदात्मतया श्लिष्यते इति तल्लम्। तथा तस्मिन्नेव स्थितिकाले अनिति प्राणिति चेष्टते इति। और देखिए छा० उप० (१।९।१) : सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्त आकाशं प्रत्यस्तं यन्त्याकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायान्। आकाशः परायणम्।

वेदान्त के उद्‌घोषकों के मनों में प्रयोजन अथवा उद्देश्य-सम्बन्धी तर्क उपस्थित था, यह इस बात से प्रकट है कि वेदान्तसूत्र (२।२।१, 'सेनानूपपत्तेश्च नानुमानम्') ने इसे अस्वीकार किया है कि सांख्य के प्रधान (जिसे अचेतन कहा गया है) से विश्व का कारण समझा जा सकता है।[४]

यह द्रष्टव्य है कि शंकराचार्य के मत से जो सृष्टि-सम्बन्धी विस्तृत विवेचन जो उपनिषदों में पाया जाता है उसे ज्यों-का-त्यों नहीं ग्रहण करना चाहिए, उस पर आधृत कोई विशिष्ट उद्देश्य नहीं प्राप्त होता और न ऐसा उद्देश्य श्रुति (वेद) द्वारा ही व्यवस्थित किया गया है, किन्तु उन सभी विवेचनों अथवा वक्तव्यों का तात्पर्य है ब्रह्म-ज्ञान की ओर बढ़ना तथा ब्रह्म से जगत् की अभिन्नता घोषित करना।[५] अति आरम्भिक कालों से दार्शनिक लोग 'प्रथम सिद्धान्त' अर्थात् मूलतत्त्व या बीज तत्त्व के जो कि विश्व में अन्तरस्थ हैं तथा उस सिद्धान्त के, जिसके अनुसार ईश्वर स्रष्टा एवं सर्वोत्तम (परम) कहा जाता है, बीच दोलायमान रहे हैं। ऋग्वेद एवं उपनिषदें, प्रथम सिद्धान्त की कल्पना करती सी प्रतीत होती हैं, जिसके अनुसार परम तत्त्व जब विश्व की सृष्टि करता है, उसी में प्रवेश कर जाता है (तै० उप० २।६, 'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'; छा० उप० ६।२।१, ६।३।२; बृह० उप १।४।१०)। वे भी ईश्वर को विश्व का शासन करते हुए प्रकट करती हैं (अन्तर्यामी, यथा—बृ० उप० ३।७, कौषीतकि उप० ३।८)। उन दिनों परमाणु-सिद्धान्त नहीं था। आरम्भिक यूनानी विचार भी इन्हीं दो सिद्धान्तों के बीच दोलायमान था। आगे चलकर विश्व-विद्या का सिद्धान्त प्रचारित हुआ जिसमें अणुओं का विशेष महत्त्व था, जो डेमॉक्रिटस (मृत्यु ई० पू० ३७०) द्वारा, विलियम जेम्स के मतानुसार, उद्‌घोषित हुआ था तथा लुकेटियस द्वारा व्याख्यायित हुआ था। भारत में भी वैशेषिकों ने एक सिद्धान्त प्रतिपादित किया जिसके अनुसार विश्व परमाणुओं का पुञ्ज है। कणाद या कणभुक् (जो कणों, अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थों को खाता है अर्थात् उन के विचार पर जीता है) को वैशेषिक सिद्धान्त का प्रवर्तक कहा जाता है। कणाद ने स्पष्ट रूप से ईश्वर के बारे में कुछ नहीं कहा। किन्तु न्याय-वैशेषिक के पश्चात्कालीन लेखकों ने ईश्वर एवं परमाणुओं को एक में मिला दिया। तर्कदीपिका (पृ० ६) ने इस सिद्धान्त को इस प्रकार रखा है—जब ईश्वर सृष्टि करना चाहता है तो परमाणुओं में क्रिया उत्पन्न हो जाती है, दो परमाणु मिल जाते हैं, द्वयणुक (द्यद्) की उत्पत्ति होती है, त्र्यणुक की उत्पत्ति तीन द्वयणुकों से होती है और अन्त में यह बड़ी पृथिवी उत्पन्न हो जाती है; सृष्ट पदार्थों को जब ईश्वर समाप्त कर देना चाहता है तो परमाणुओं में क्रिया उत्पन्न हो जाती है। परमाणु नित्य हैं और संख्या में अनन्त हैं।[६]

४. अतो रचनानुपपत्तेश्च हेतोर्नाचेतनं जगत्कारणमनुमातव्यं भवति। शांकरभाष्य (वे० सू० २।२।१)।

५. वैदिक वचनों में पायी जाने वाली विश्व-विद्या के विषय में निम्नलिखित ग्रन्थ पढ़े जा सकते हैं: एच्० डब्लू० वालिस कृत 'कॉस्मॉलॉजी आव दि ऋग्वेद' (१८८७); मेक्डॉनेल कृत 'वैदिक माइथोलॉजी' (पृ० ८-१५); ए० एस्० गेडेन द्वारा अनूदित 'फिलॉसॉफी आव दि उपनिषद्स' (१९०६, पृ० १८०-२५३); ए० बी० कृत 'रिलिजन एण्ड फिलॉसॉफी आव दि वेद एण्ड दि उपनिषद्स' (पृ० ५७०-५८४)। अभी हाल में मिल्टन के० म्यूनिज ने 'थ्योरीज आव दि यूनिवर्स' नामक ग्रन्थ प्रकाशित कराया है (फ्री प्रेस, ग्लेंको, १९५७) जिसमें बेबिलोनिया से लेकर सभी देशों तथा आज के विज्ञान में पायी जाने वाली विश्व-विद्याओं का उल्लेख है। किन्तु भारतीय सामग्री से कोई लाभ नहीं लिया गया है।

६. ईश्वरस्य चिकिर्षावशात्परमाणुषु क्रिया जायते। ततः परमाणुद्वय संयोगे सति द्वयणुकमुत्पद्यते त्रिभि-र्द्व्यणुकैस्त्र्यणुकम। एवं चतुरप्रकादिक्रमेण महती पृथिवी. . .वायु-रुत्पद्यते।. . . एवमुत्पन्नस्य कार्यद्रव्यस्य सञ्जिहीर्षा-वशात् परमाणुषु क्रिया। तर्कदीपिका (पृ० ६, अथल्ये का द्वितीय संस्करण, १९१८)।

यद्यपि धर्मशास्त्रकारों ने एक मत से सार्वभौम रूप से ईश्वर के अस्तित्व के विषय में अपनी स्वीकृति दी थी, तथापि ईश्वर के नामों, स्वरूप एवं उपाधियों के विषय में विभिन्न मत थे। ऐसी ही बात पश्चिम में भी थी।[७] अधिकांश लोगों ने यही माना कि ईश्वर एक है, उसके बराबर कोई अन्य नहीं, वह आध्यात्मिक (दैहिक नहीं, यद्यपि बहुत-से लोगों ने उसे शिव या विष्णु या देवी के रूप में पूजा), निर्विकार (निर्विकल्प, अपरिवर्तनीय), सर्वगत (सर्वात्मक, सर्वव्यापी), सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, स्रष्टा, पूत, सत् एवं न्यायकर्ता आदि है। ईश्वर के विश्वास के विषय में कठिन प्रश्न उठते हैं। दो-एक का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है—क्या ईश्वर पूर्णरूप से, जैसा कहा गया है, वैसा ही सर्वज्ञ है, अर्थात् वह जो चाहे कर सकता है या कुछ बातें वह नहीं भी कर सकता है? दूसरा प्रश्न यों है—'क्या उसके अतिरिक्त जितनी वस्तुएँ हैं वे सब उसके द्वारा निर्मित हुई हैं या कुछ ऐसी भी वस्तुएँ हैं जो ईश्वर के समान ही चरम या अनन्त हैं? सभी धर्म कठिनाइयों से आपन्न हैं अतः धर्म विश्वास पर ही आधृत है।

यद्यपि ऋग्वेद विभिन्न देवों (यथा—अग्नि, इन्द्र, मित्र, वरुण, सोम) के कृत्यों एवं स्तुतियों से परिपूर्ण है, तथापि इसमें कुछ ऐसे स्तोत्र एवं मन्त्र हैं जो यह प्रकट करते हैं कि 'मौलिक सिद्धान्त' अर्थात् मूल तत्त्व या बीज तत्त्व केवल एक ही है, जो अपने में से ही विश्व की सृष्टि करता है, उसमें प्रविष्ट होता है और उसे प्रेरित करता है। ऋ० (१।१६४।४६) में ऋषि ने कहा है—'विज्ञ एक को (सिद्धान्त या 'प्रिंसिपुल' अर्थात् मूल तत्त्व या बीज तत्त्व को) कई नामों से कहते हैं, वे उसे अग्नि, यम, मातरिश्वा (वायु देव) के नाम से पुकारते हैं।' यह कोई अकेला मन्त्र नहीं है। इसी के समान कई अन्य मन्त्र भी हैं। उदाहरणार्थ, ऋग्वेद (८।५८।२, बालखिल्य स्तोत्रों में एक) में आया है—'एक ही अग्नि कई स्थानों में प्रज्वलित होती है, एक ही सूर्य सम्पूर्ण संसार में चमकता है, एक ही उषा सम्पूर्ण विश्व के ऊपर ज्योतित होती है और एक ही (मूल तत्त्व या आत्मा) यह सब हुआ (अर्थात् एक ही से इतने प्रकट हुये)।' ऋ० (१०।९०।२) में ऐसा घोषित है: 'जो हो चुका है, और जिसका भविष्य में अस्तित्व होगा (दोनों) यह सम्पूर्ण विश्व, वास्तव में, केवल पुरुष है।' ऋ० (२।१।३-७) में अग्नि को इन्द्र, विष्णु, ब्रह्मा, वरुण, मित्र, आर्यमा, त्वष्टा, रुद्र, द्रविणोदा, सविता एवं भग कहा गया है। ये सभी श्लोक यह स्थापित करते हैं कि अन्ततोगत्वा यह अनेकता केवल शब्दों का खेल है, केवल नाम है ('वाचारम्मणं विकारो नामधेयम्', जैसा कि छा० उप० ६।१।४ में आया है) तथा एकता ही केवल वास्तविकता है और ऐसा प्रकट होता है कि उपनिषदों की मूल शिक्षा का बीज ऋग्वेद में विद्यमान है।

ऋग्वेद के दसवें मण्डल (१०।७२, १०।८१ एवं ८२, १०।९०; १०।१२१; १०।१२९) में विश्व की उत्पत्ति के विषय में कई स्तोत्र हैं। स्थानाभाव से हम सबका उद्धरण नहीं दे पायेंगे, केवल कुछ महत्वपूर्ण वचन ही उल्लि-

७. प्रसिद्ध वैज्ञानिक एवं साहित्यकार श्री जींस ने अपने ग्रन्थ 'मिस्टीरियस युनिवर्स' (कैम्ब्रिज, १९३१) में कहा है कि पश्चिम में 'इस विश्व का निर्माता (विधायक) एक शुद्ध गणितज्ञ के समान प्रकट होता है' (पृ० १३४)। आइंस्टीन ने, जो आधुनिक काल के सबसे बड़े वैज्ञानिक कहे जाते रहे हैं, न्यूयॉर्क के रब्बी एच् एस्० गोल्डस्टीन (जिसने तार से पूछा था: 'क्या आप ईश्वर में विश्वास करते हैं?) को लौटते तार से उत्तर दिया था कि 'मैं स्पिनोज़ा के ईश्वर में विश्वास करता हूँ, जो अपने को पदार्थों की समरसता में अभिव्यक्त करता है, उस ईश्वर में नहीं जो मनुष्यों के कर्मों की नियति से अपना सम्बन्ध रखता है।' अपने ग्रन्थ 'आउट आव माई लेटर इयर्स' में उन्होंने मत प्रकाशित किया है कि विज्ञान एवं धर्म का प्रमुख संघर्ष व्यक्तिगत ईश्वर की धारणा से सम्बन्धित है। और देखिए, ई० डब्लू० मार्टिन द्वारा सम्पादित विस्काउण्ट सैमुयल का भाषण 'इन सर्च आव फेथ' (पृ० ७८), जहाँ विश्व एवं ईश्वर के सम्बन्ध के विषय में चार मत प्रकाशित किये गये हैं।

खित किये जायेंगे। १०।७२ का प्रमुख प्रयोजन है, 'आठ आदित्यों के जन्म का उल्लेख करना।' ऋ० (१०।७२।२) में आया है कि ब्रह्मणस्पति ने शिल्पी (जो भाथी से काम करता है, यथा लोहकार) की भाँति देवों को जन्म दिया और देवों के पूर्व कालों में असत् से सत् की उत्पत्ति हुई।[८] ऋ० (१०।७२।४-५ एवं ८) में ऐसा आया है कि दक्ष की उत्पत्ति अदिति से हुई और अदिति की दक्ष से, और देव उस (अदिति) से उत्पन्न हुये और अदिति से आठ पुत्र उत्पन्न हुए। १०।८१ एवं ८२ नामक दो सूत्र विश्वकर्मा की चर्चा करते हैं, जिसने लोगों की सृष्टि की। १०।८१।२ एवं ४ में प्रश्न आये हैं: 'आधार (जिससे उसने विश्व रचा) क्या था? सामग्री (जिससे उसने पृथिवी बनायी) क्या थी? वह वन एवं वृक्ष क्या था जिससे स्वर्ग एवं पृथिवी का तक्षण हुआ?' तीसरे श्लोक में एक ईश्वर का वर्णन यों है: 'वह एक ईश्वर जो चारों ओर देखता है, जिसका मुख सभी दिशाओं में घुमा हुआ है, जिसके हाथ एवं पैर सभी स्थानों में हैं, जो स्वर्ग एवं पृथिवी को बनाते हुए अपने (दोनों) हाथों से उसी प्रकार आगे भेजते हैं, जिस प्रकार भाथियों एवं पंखों से भेजा जाता है (जिस प्रकार एक पक्षी संचारित होता है या आगे बढ़ाया जाता है)।' ऋग्वेद का यह स्तोत्र (१०।९०, जिसमें १६ श्लोक हैं) बहुत प्रसिद्ध है और **पुरुषसूक्त** कहलाता है। इसमें सहस्रों शिरों, नेत्रों एवं पैरों वाले पुरुष (जिसे सायण ने आदि पुरुष कहा है) के रूप में परम स्रष्टा की कल्पना की गयी है और कहा गया है कि जो कुछ अस्तित्व में आ चुका है और जो कुछ आने वाला है वह **पुरुष** है। पुरुष से विराट् की उत्पत्ति हुई, विराट् से (जिसे दूसरा पुरुष कह सकते हैं) उस पुरुष (हिरण्यगर्भ) की उद्भूति हुई। जिसे देवों ने एक प्रतीकात्मकयज्ञ के रूप में हवि (आहुति या पशु) दी, जिसमें वसन्त, ग्रीष्म एवं शरद् तीन ऋतुएँ क्रम से घृत, ईंधन एवं हवि है। सम्भवतः यह सूक्त उस समय प्रणीत हुआ था जब, प्रतीत होता है, यह दृढ़ विश्वास हो गया था (जैसा शत० ब्रा० ५।२।४।७, ६।१।१।३ एवं तै० सं० ७।४।२।१ में) आया है कि यज्ञ या तप के बिना कुछ भी उपलब्ध नहीं किया जा सकता है। इस सूक्त में पुनः आया है कि उस आदियज्ञ से सभी पशु (घोड़े गाय आदि), चारों वर्ण, सूर्य, चन्द्र, अग्नि, इन्द्र, वेद, स्वर्ग एवं पृथिवी की उत्पत्ति हुई। अथर्ववेद (१९।६) में भी ऐसे १६ मन्त्र हैं। प्रथम पन्द्रह पुरुषसूक्त के समान हैं, किन्तु मन्त्र-क्रमों में अन्तर हैं, और कुछ शब्दों में भी अन्तर है। वाजसनेय संहिता (३१) में पुरुषसूक्त के सभी मन्त्र हैं, प्रत्युत पाँच अन्य मन्त्र एवं एक गद्यांश भी अन्त में

---

८. ब्रह्मणस्पतिरेता सं कर्मार इवाधमत्। देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत ॥ ऋ० (१०।७२।२) यहाँ पर 'असत्' को 'अविकसित' (अव्यक्त) के अर्थ में लेना चाहिए न कि 'जिसका अस्तित्व न हो' के अर्थ में। बृह० उप० (१।४।७) का कथन है: 'यह सब तब (सृष्टि के प्रारम्भ होने के पूर्व) अविकसित (अव्यक्त) था और यह नाम एवं रूप में विकसित (व्यक्त हुआ)।' इसी प्रकार तै० उप० (२।७) में ऐसा कहा गया है—'असद्वा इदमग्र आसीत् ततो वै सदजायत।' किन्तु छा० उप० (६।२।१-३) में दृढ़तापूर्वक कहा गया है—"आरम्भ में केवल वही था, जो सत् था, केवल वही जिसका कोई दूसरा नहीं था; कुछ लोग कहते हैं 'आरम्भ में केवल वही था, जो असत् था, जिससे सत् निष्पन्न हुआ;' किन्तु यह कैसे हो सकता था, किस प्रकार सत् (जो है) असत् (जो नहीं है) से उत्पन्न हो सकता था? यह सत् ही था जो आरम्भ में था, जिसके समान कोई दूसरा नहीं था। इसने विचारा: 'क्या मैं अनेक हो सकता हूँ, क्या मैं उत्पन्न कर सकता हूँ;' इसने अग्नि... आदि उत्पन्न की।" शंकराचार्य (वे० सू० १।४।१५) ने तै० उप० (२।७) के 'असद् वा इदमग्र आसीत्' एवं छा० उप० (३।१९।१) के 'असदेवरमग्र आसीत्' की ओर संकेत किया है और इस बात को समझाया है कि इन वचनों में असत् का क्या अर्थ है, यथा—'नामरूपव्याकृतवस्तुविषयः प्रायेण सच्छब्दः प्रसिद्ध इति तद्व्याकरणाभावापेक्षया प्रागुत्पत्तेः सदेव ब्रह्मासदिवासीदित्युपचर्यते।'

सम्मिलित कर लिया गया है। ऋ० (१०।१२१।१) ने घोषित किया है[९] कि आरम्भ में हिरण्यगर्भ (सोने के एक अण्ड) की उत्पत्ति हुई; और १०वें मन्त्र में उसकी तुलना प्रजापति से की गयी है तथा ८वें एवं १०वें मन्त्र घोषित करते हैं कि उसके द्वारा जलों की उत्पत्ति हुई जिनसे हिरण्यगर्भ (सोने का अण्ड) निष्पन्न हुआ, जो स्वयं प्रजापति था। ऋग्वेद का १०।१२५ सूक्त वाक् के मुख से कहा गया है जिसमें वाक् को शक्ति के रूप में चित्रित किया गया है जो देवों से भी ऊँची है और निर्माण करने वाली है। आठ मन्त्रों में तीन का अनुवाद नीचे दिया जाता है—'मैं रुद्रों एवं वसुओं तथा आदित्यों एवं विश्वदेवों के साथ घूमती हूँ; मैं दोनों मित्र एवं वरुण, इन्द्र एवं अग्नि तथा दोनों अश्विनों को आश्रय देती हूँ। मैं रुद्र का धनु ब्रह्म (पवित्र स्तुति) से घृणा करने वाले शत्रु को मारने के लिए तानती हूँ। मैं मनुष्यों में युद्ध भड़काती हूँ। मैंने द्यावा (स्वर्ग) एवं पृथिवी में प्रवेश किया। मैं सभी लोकों को उत्पन्न करती हुई वायु के समान चलती हूँ। मैं द्यावा (स्वर्ग) के ऊपर हूँ एवं पृथिवी के ऊपर हूँ। अपनी महत्ता (शक्ति) से मैं ऐसी हो सकी हूँ।' यह कहा जा सकता है कि ऋषि ने यहाँ केवल सामान्य वाणी या भाषा की ही ओर संकेत नहीं किया है, प्रत्युत उस धारणा की ओर संकेत किया है जिसके अनुसार यह कहा जा सकता है कि शब्द में निर्माणात्मक शक्ति है और वह ईश्वर के साथ एक है या ब्रह्म द्वारा उच्चरित विचार है।

ऋग्वेद के दसवें मण्डल का १२९ वाँ सूक्त (जो आरम्भिक शब्दों के कारण 'नासदीय सूक्त' कहलाता है) एक विलक्षण सूक्त है। इसके बहुत-से मन्त्र अब भी निगूढ़ एवं क्लिष्ट हैं, जिनका अर्थ निकालने में प्रसिद्ध विद्वानों के दाँत खट्टे हो गये हैं।[१०] इस सूक्त में मूल तत्त्व (बीज तत्त्व या 'फर्स्ट प्रिंसिपल') को कोई संज्ञा नहीं दी गयी

९. हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। ऋ० (१०।१२१।१)। तै० सं० (५।५।१।२) में आया है: 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे इत्याधारमाधारयति प्रजापतिर्वै हिरण्यगर्भः प्रजापतेरनुरूपत्वाय।' य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः। यस्य छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ऋ० (१०।-१२१।२): 'वह जीवन एवं बल देता है, जिसकी आज्ञाएँ सभी देवों द्वारा सम्मानित होती हैं, जिसकी छाया अमरता है और मृत्यु भी; वह कौन देव है जिसकी पूजा हम अन्य आहुतियों से करते हैं (या हम किस देव को हवियों के साथ पूजा दें?)।

१०. नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्। किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्॥ न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः। आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चन नास॥ तम आसीत्तमसा गूळहमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।... कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।... को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।... इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न। यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् सो अंग वेद यदि वा न वेद॥ ऋ० (१०।१२९।१-७) शतपथब्राह्मण (१०।५।३।१-२) ने इस सूक्त की ओर एक मनोरम संकेत किया है—नेव वा इदमग्रेऽसदासीन्नेव) सदासीत्। आसीदिव वा इदमग्रे नेवासीत्तद्ध तन्मन एवास। तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तम्। नासदासीन्नो सदासीत्तदानीमिति नेव हि सन्मनो नेवासत् तदिदं मनः सृष्टमाविरबुभूषत्। इस ब्राह्मण ने यह स्पष्ट किया है कि यह (विश्व) न तो पहले असत् था और न सत् और इसने आगे कहा है—'प्रारम्भ में यह (विश्व), जैसा कि इसका अस्तित्व था, नहीं था। उस समय केवल मन था और वह मन मानो न तो सत् था और न असत्।' यह द्रष्टव्य है कि भागवतपुराण (२।९।३२-३६) ने भगवान् के विषय कहा है कि वे गुह्य सत्य की ओर संकेत करते हैं। इसका ३२वाँ श्लोक ऋग्वेद (१।१२९।१) का स्मरण दिलाता है—'अहमेवासमेवाग्रे नान्यद्यत्सदसत्परम्। पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥'

है और न उसे स्रष्टा (या निर्माणकर्ता) ही कहा गया है, केवल उसे 'तदेकम्' कहा गया है, जैसा कि उपनिषदों में आया है (छा० उप० ६।१।१-२, 'तत्त्वमसि' या 'एकमेवाद्वितीयम्')। महत्त्वपूर्ण एवं अपेक्षाकृत स्पष्ट मन्त्र यहाँ अनूदित किये जा रहे हैं—'उस समय न तो असत् (जो नहीं है, अर्थात् जिसका अनस्तित्व है) था और न सत् (जो है, अर्थात् जिसका अस्तित्व है); न आकाश था और न स्वर्ग जो बहुत दूर है; वह क्या था जिसने सबको आवृत कर रखा था ? वह कहाँ और किसके आश्रय में था ? क्या गम्भीर एवं गहन (अतलस्पर्शी) जल था ? ; (२) मृत्यु नहीं थी, अतः कुछ भी अमर नहीं था; रात्रि एवं दिन में कोई चेतना (अन्तर) नहीं थी; वायु नहीं थी, अपने स्वभाव (शक्ति) से ही लोग साँस लेते थे, वास्तव में, उसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं था; (४) इच्छा (काम) प्रकट हुई, वह मन का प्रथम प्रवाह (बीज, सन्तति) था; (५) (जब यह सृष्टि प्रकट हुई तो) इसे सीधे ढंग से (स्पष्ट या सरल ढंग से) कौन जानता है, और कौन इसकी उद्घोषणा कर सकता है कि यह (वहाँ पर) कहाँ से आयी ? ; (६) जिससे यह सृष्टि हुई, चाहे उसने इसे बनाया या नहीं बनाया, और सर्वोच्च (परम) व्योम में। इसका सर्वोच्च अध्यक्ष है, क्या वह वास्तव में जानता है या वह भी नहीं जानता है ?'

यह अवलोकनीय है कि इस सूक्त के ऋषि ने, जो कवि एवं दार्शनिक था, उद्घोषित किया कि वह एक था, जो सभी देवों, दशाओं एवं सीमाओं से ऊपर था; उसने (ऋषि ने) विश्व की सृष्टि के पूर्व की स्थिति के विषय में अपनी धारणा व्यक्त की है। रात्रि एवं दिन, मृत्यु एवं अमरता द्वन्द्व कहे जाते हैं। इनका अस्तित्व तभी होता है जब सृष्टि हो गयी रहती है और इसी से ऋषि ने कहा है—'न तो मृत्यु थी और न कोई अमरता (थी)।' यह सूक्त यह नहीं कहता कि पहले असत् था और उससे सत् की उद्भूति हुई। इसके कहने का अभिप्राय यही है कि केवल वही अकेला साँस लेता था, द्वन्द्व, सत् (अस्तित्व) एवं असत् (अनस्तित्व) का अस्तित्व ही नहीं था। इस सूक्त के अनुवादों एवं टिप्पणियों के लिए देखिए मैक्समूलर कृत 'हिस्ट्री आव ऐंश्येण्ट संस्कृत लिटरेचर' (१८५९), पृ० ५३९-५६६ एवं 'सिक्स सिस्टेम्स आव इण्डियन फिलॉसॉफी' (१९१९ का संस्करण), पृ० ४९-५२, डा० राधाकृष्णन कृत 'इण्डियन फिलॉसॉफी' (१९२३, खण्ड १) पृ० १००-१०४। प्रो० ह्विटनी (प्रोसीडिंग्स आव अमेरिकन ओरिएण्टल सोसाइटी, खण्ड ११, पृ० ६१) ने अपनी विशिष्ट अत्युद्धत प्रणाली में टिप्पणी की है कि इस सूक्त के विषय में जो प्रशंसा-सूत्र गाये गये हैं वे उन्हें बहुत बुरे लगते हैं। ड्यूसन ने ह्विटनी के कुत्सात्मक लेख के बहुत दिनों के उपरान्त लिखा है—'अपनी उत्कृष्ट सरलता एवं दार्शनिक दृष्टि की महत्ता में, सम्भवतः यह प्राचीन काल के दर्शन-शास्त्र का अत्यन्त प्रशंसनीय एवं श्लाघ्य अंश है,' 'कोई अनुवाद इसके मूल अंश की सुन्दरता के बराबर नहीं आ सकता' (देखिए ब्लूमफील्ड कृत 'दि रिलिजिन आव दि वेद', पृ० २३४, १९०८ का संस्करण)। और देखिए कीथकृत 'रिलिजिन एण्ड फिलॉसॉफी आव दि वेद एण्ड उपनिषद्स' (खण्ड २, पृ० ४३५-४३६)। ऋग्वेद के कई वचनों में विभिन्न देव स्रष्टा के रूप में वर्णित हैं। देव प्रजापति ने, ऐसा कहा गया है, स्वर्ग एवं पृथिवी की रचना की, जो चौड़ी, गहरी और सुन्दर ढंग से निर्मित है और उन्हें अपनी शक्ति द्वारा बिना किसी आश्रय के आगे बढ़ा दिया है अथात् उन्हें गति दी है (देखिए ऋ० ४।५६।३)। इन्द्र ने सूर्य एवं उषा को बनाया, ऐसा कहा गया है (ऋ० २।१२।७) और उसने स्वर्ग को बिना स्थाणु (थून्ही) के आश्रय के टिका रखा है, और उसे आश्रय दिया है और पृथिवी को फैला दिया है (ऋ० २।१५।२)।

उपर्युक्त सूक्त उस काल की धारणा है जब विश्व के उद्भव के विषय में कोई सामान्य ढंग से स्वीकृत सिद्धान्त निरूपित नहीं हो सकता था। किन्तु इतना तो स्पष्ट ही है कि अत्यन्त प्राचीन काल में, कम से कम कुछ वैदिक ऋषियों ने इस सिद्धान्त की स्थापना कर ली थी कि केवल एक ही 'प्रिंसिपुल' या 'स्पिरिट' (आत्मा या मूल

तत्त्व या बीज तत्त्व) था, जो विभिन्न नामों से पुकारा जाता था और उसने विश्व की रचना करनी चाही और उसे अपने में से ही रचा।

उपर्युक्त सूक्त के मन्त्रों के अतिरिक्त, जिन्हें सृष्टिसूक्त की संज्ञा दी जा सकती है, ऋग्वेद में कतिपय देवों द्वारा द्यावा (स्वर्ग) एवं पृथिवी की रचना या आश्रय तथा अन्य पदार्थों की रचना के विषय में निर्देश अथवा संकेत मिलते हैं।[११] ऋ० (१०।८९।४) में इन्द्र को स्वर्ग एवं पृथिवी से सभी दिशाओं में वैसा ही निर्माण करने वाला कहा गया है जैसा कि धुरी पहियों के साथ करती है। ऋ० (१।१५४।४) में विष्णु के विषय में आया है कि वे अकेले ही तीनों को, यथा पृथिवी, स्वर्ग (एवं अन्तरिक्ष) तथा सभी लोकों को आश्रय (सहारा) देते हैं (या सँभालते हैं)। मित्र के बारे में ऐसा आया है कि वह स्वर्ग एवं पृथिवी को सँभालता है (ऋ० ३।५९।१) तथा सभी देवों को आलम्बन देता है (ऋ० ३।५९।८)। ब्रह्मणस्पति (स्तुति के पति या स्वामी, बृहस्पति) के विषय में ऐसा आया है कि उसने लोहकार की भाँति देवों को जन्म दिया.... देवों के आदि काल में सत् की उत्पत्ति असत् से हुई।[१२] ऋ० (६।४७।४) में सोम के लिए आया है कि उसने पृथिवी की चौड़ाई, स्वर्ग की ऊँचाई बनायी तथा विस्तृत अन्तरिक्ष को सँभाला। ऋ० (२।४०, जो सोम एवं पूषा को सम्मिलित रूप से सम्बोधित है) में ऐसा आया है कि उनमें एक (सोम) ने सभी लोकों (भुवनों) को उत्पन्न किया और दूसरा (अर्थात् पूषा, सूर्य) सम्पूर्ण विश्व के कामों को देखता या उनका निरीक्षण करता जाता है (मन्त्र ५)।

ऋग्वेद (७।७८।३) में उषाओं (बहुवचन) को सूर्य, यज्ञ एवं अग्नि की स्रष्टा कहा गया है; यह केवल लाक्षणिक है, क्योंकि प्रत्येक उषा के उपरान्त सूर्य उदित होता है, यज्ञिय अग्नि प्रज्वलित की जाती है तथा यज्ञ किया जाता है। ऋ० (१।९६।२) में अग्नि को मनुष्यों का पिता (पूर्वज) कहा गया है। ऋ० (२।३५।२) में (अपां नपात्, जलों का पौत्र अर्थात् अग्नि) अग्नि को सभी लोकों का स्रष्टा कहा गया है।

ऋग्वेद में द्यावा-पृथिवी (स्वर्ग एवं पृथिवी, युग्म देवों के रूप में) के लिए ६ सूक्त हैं, यथा—१।१५९-१६०, १८५, ४।५६, ६।७० एवं ७।६३, और उन्हें 'रोदसी' एवं 'बहिनें' (ऋ० १।१८५।५) कहा गया है। उन्हें देवों के जनक-जननी कहा गया है (ऋ० ८।९७।८, १०।२।७)।

'अन्तरिक्ष' (वायुमण्डलीय क्षेत्र) शब्द ऋग्वेद में कम-से कम एक सौ बार आया है। कभी-कभी 'तिस्रः पृथ्वीः' जैसे शब्द-विन्यास आते हैं, जिनका अर्थ है पृथिवी के सहित तीन लोक (ऋ० १।३४।८), और कहीं-कहीं नीचे वाली, बीच वाली एवं सबसे ऊपर वाली पृथिवी की चर्चा है (यद् इन्द्राग्नी अवमस्यां पृथिव्यां मध्यमस्यां परमस्यां उत स्थः। ऋ० १।१०८।९), जिसका अर्थ है पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं स्वर्ग। अन्तरिक्ष को बहुधा 'रजस्' (वह क्षेत्र, जहाँ धूल हो, कुहरा हो और जहाँ बादल हों) कहा गया है (ऋ० १।३५।२ एवं ९)।

११. य उ त्रिधातु पृथिवीमुत द्यामेको दाधार भुवनानि विश्वा। ऋ० १।१५४।४। 'त्रिधातु' शब्द ऋग्वेद में कम-से-कम दो दर्जन बार प्रयुक्त हुआ है, किन्तु इसका अर्थ स्पष्ट नहीं हो सका है। ऋ० (८।४०।१२) में आया है—'त्रिधातुना शर्मण पातमस्मान्' (तीन प्रकार की रक्षा से हमारी रक्षा करो), किन्तु 'त्रिधातु' रक्षा क्या है, कहना कठिन है।

१२. ब्रह्मणस्पतिरेता... समजायत। ऋ० (१०।७२।२)। प्रथम मन्त्र (देवानां नु वयं जाना प्रवोचाम विपन्यया) में 'एता' शब्द 'जाना' (जन्मानि) की ओर संकेत करता है। 'सत्' एवं 'असत्' के अर्थ के लिए देखिए पाद-टिप्पणी ८।

ऋ० (१।३५।६) में ऐसा आया है—'तीन द्यौ' हैं (अर्थात् स्वर्ग, अन्तरिक्ष एवं पृथिवी); दो (अर्थात् स्वर्ग एवं पृथिवी) सविता की गोद में हैं और एक (अर्थात् अन्तरिक्ष) यमलोक में है। ऋषि ने ऋ० (१०।८८।१५) में व्याख्या की है—'मैंने दो मार्गों के विषय में सुना है, यथा—पितरों एवं देवों का मार्ग तथा मनुष्यों का भी; सम्पूर्ण लोक जो घूमता है उस (क्षेत्र) में पहुँचता है जो पिता (स्वर्ग) एवं माता (पृथिवी) के बीच में है।'

वरुण के बारे में कहा गया है कि उसने अन्तरिक्ष को वनों पर, सूर्य को स्वर्ग पर तथा सोम को पर्वतों पर बिछा (फैला) दिया (ऋ० ५।८५।२)। ऋग्वेद के काल में भी स्वर्ग एवं पृथिवी के बीच की दूरी के विषय में कल्पना आरम्भ हो गयी थी। ऋ० (१।१५५।५) में कवि का वचन है कि विष्णु के तीसरे पद (अर्थात् स्वर्ग) तक पहुँचने का साहस कोई नहीं करता, यहाँ तक कि पक्षी भी, जो पंखों पर उड़ते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण (७।७।या २ १७) में पृथिवी एवं सूर्य के बीच की दूरी एक अश्व के लिए एक सहस्र दिनों की कही गयी है।[१३]

तैत्तिरीय संहिता में प्रजापति को बहुधा देवों एवं असुरों (३।३।७ १) की सृष्टि करते हुए, यज्ञों (१।६।६।१) का निर्माण करते हुए, मनुष्यों (२।१।२१) को बनाते हुए, पशुओं (१।५।६।७) की रचना करते हुए तथा प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा करते हुए और उसके लिए तप करते हुए (३।१।१।१) उल्लिखित किया गया है। उसमें (५।६।४।२) आया है कि यह सब आरम्भ में जल था, एक समुद्र—और प्रजापति वायु बनकर कमलदल पर क्षिप्र गति से तैर रहे थे।

सृष्टि पर अथर्ववेद में भी कुछ सूक्त आये हैं। किन्तु वे वाग्बहुल हैं, पुनरुक्तियों से परिपूर्ण हैं और उनमें उपर्युक्त ऋग्वेदीय गम्भीरता, दार्शनिकता एवं संक्षिप्तता नहीं पायी जाती। १०वें काण्ड के ७वें एवं ८वें सूक्तों में इसने स्कम्भ को आधार रूप में रखा है और उसे प्रजापति के अनुरूप समझा है और सभी लोकों के स्रष्टा एवं आश्रयदाता के रूप में उल्लिखित किया है, जिसमें सभी ३३ देव पाये जाते हैं; इसने पूछा है—'परम उच्च, परम नीच एवं मध्यम प्रकारों में, जिन्हें प्रजापति ने रचा, स्कम्भ ने कितना प्रवेश किया; वह कितना है जिसमें वह (स्कम्भ) नहीं पहुँचा?' ऋ० (९।८६।४६) में यज्ञ के लिए निर्मित सोम को स्कम्भ कहा गया है। अथर्ववेद के १०वें काण्ड के ८वें सूक्त को ज्येष्ठ-ब्रह्म (परम या सबसे बड़े ब्रह्म) के वर्णन वाला सूक्त कहा गया है। इससे दो मन्त्र उद्धृत किये जा रहे हैं—'उस ज्येष्ठ ब्रह्म को प्रणाम जो सब पर, चाहे वह उत्पन्न हो चुका है या उत्पन्न होने वाला है, शासन करता है, और स्वर्ग उसी का, केवल उसी का है। ये दोनों, स्वर्ग एवं पृथिवी स्कम्भ द्वारा सँभाले गये हैं; यह सब जो आत्मा वाला है, जो साँस लेता है एवं पलक गिराता-उठाता है, वह स्कम्भ है।' स्कम्भ का शाब्दिक अर्थ है 'आश्रय' या 'स्तम्भ' (खम्भा)। इसका क्रियारूप 'स्कम्नाति' ऋ० (१०।६।३) में आया है और 'स्कम्भ' शब्द भी कई बार आया है, किन्तु स्रष्टा या निर्माता के रूप में नहीं। और देखिए अथर्ववेद (१०।८।२ एवं १०।७, जिसमें ४४ मन्त्र हैं)।[१४] अथर्ववेद

१३. सहस्रमनूच्यं स्वर्गकामस्य सहस्राश्वीने वा इतः स्वर्गो लोकः। ऐ० ब्रा० (७ वाँ अ०, ७वाँ खण्ड या द्वितीय पञ्चिका १७)।

१४. यस्मिन् स्तब्ध्वा प्रजापतिर्लोकान्सर्वान् अधारयत्। स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥ यत्परममवमं यच्च मध्यमं प्रजापतिः ससृजे विश्वरूपम्। कियता स्कम्भः प्रविवेश तत्र यन्न प्राविशत्कियत्तद् बभूव॥ यस्य त्रयस्त्रिंशद्

का १०।२, जिसमें ३३ मन्त्र हैं, ब्रह्मप्रकाशन सूक्त कहा जाता है। एक से उन्नीस मन्त्रों तक बहुत-से प्रश्न पूछे गये हैं। २०,२२ एवं २४वें मन्त्रों में प्रश्न पूछे गये हैं और २१, २३ एवं २५वें में उत्तर दिये गये हैं। एक प्रश्न एवं एक उत्तर यहाँ उपस्थित किया जा रहा है—'किसके द्वारा पृथिवी बनायी गयी (या व्यवस्थित हुई)? किसके द्वारा यह ऊँचा स्वर्ग रखा गया? किसके द्वारा आकाश ऊपर व्यस्त रेखा-द्वय रूप में एवं विभिन्न दिशाओं में रखा गया?' 'ब्रह्म ने पृथिवी बनायी, ब्रह्म ही स्वर्ग है जो ऊपर रखा हुआ है, यही ब्रह्म आकाश है जो ऊपर, एक-दूसरे को काटती हुई दो रेखाओं के रूप में एवं विभिन्न दिशाओं में है।' अथर्ववेद (१०।८) का मन्त्र २७ श्वेताश्वतरोपनिषद् (४।३) के समान ही है, जिसमें स्रष्टा को युवा एवं बूढ़े, पुरुष एवं नारी तथा लड़का एवं लड़की के अनुरूप कहा गया है। अथर्ववेद (१०।८) में कतिपय अन्य देवों का उल्लेख है, किन्तु उन्हें परम तत्व में समाहित माना गया है। अथर्ववेद (९।२, इसमें २५ मन्त्र हैं) में काम को देवतातुल्य माना गया है; प्रथम १८ में शत्रुओं को भगाने के लिए काम की स्तुति की गयी है, और १९ से २४ तक के सभी मन्त्रों के अन्तिम चरण में 'तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि' (हे काम, मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ) आया है। इन ६ मन्त्रों में ऐसी घोषणा है कि काम सर्वप्रथम प्रकट हुआ, वह स्वर्ग, पृथिवी, जलों, अग्नि, दिशाओं, सभी पलक गिराने वाले प्राणियों और समुद्र से बड़ा है, काम के पास न तो देवगण, न पितर लोग और न मनुष्य ही पहुँच सके; वात, अग्नि, सूर्य एवं चन्द्र काम के पास नहीं पहुँचते। अथर्ववेद के १९।५० नामक सूक्त में काम को ५ मन्त्र सम्बोधित हैं, और काम को आरम्भ में उत्पन्न होने वाला कहा गया है तथा यह भी कि वह मन का प्रथम प्रवाह था।[१५]

अथर्ववेद में (११।४, कुल २६ मन्त्र) 'प्राण' को सम्बोधित किया गया है और उसे सर्वशक्तिमान् माना गया है। प्रथम मन्त्र इस प्रकार है—'उस प्राण को प्रणाम, जिसके शासन के अन्तर्गत यह सब (विश्व) है; वह सबका स्वामी है और उसमें सभी कुछ स्थापित है।' मन्त्र १२ में ऐसा आया है—'प्राण विराट है, प्राण ही निर्देशन करने वाली शक्ति है, प्राण की सब उपासना करते हैं, प्राण वास्तव में सूर्य एवं चन्द्रमा है और वे (ऋषि) उसे प्रजापति कहते हैं।'

१९वें काण्ड के सूक्त ५३ एवं ५४ में अथर्ववेद ने काल को मूल तत्त्व (फर्स्ट प्रिंसिपल) कहा है, ऐसा प्रतीत होता है। तीन मन्त्रों का अनुवाद इस प्रकार है—'तप काल में अवस्थित है, काल में ही ज्येष्ठ

देवा अङ्गे सर्वे समाहिताः। स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥ अथर्ववेद (१०।७।७, ८, १३); केनेयं भूमिर्विहिता केन द्यौरुत्तरा हिता। केनेदमूर्ध्वं तिर्यक् चान्तरिक्षं व्यचो हितम्॥ ब्रह्मणा भूमिर्विहिता ब्रह्म द्यौरुत्तरा हिता। ब्रह्मेदमूर्ध्वं तिर्यक्चान्तरिक्षं व्यचो हितम्॥ अथर्ववेद (१०।२।२४-२५)।

१५. कामस्तदग्रे समवर्तत मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्। स कामः कामेन बृहता सयोनी रायस्पोषं यजमानाय धेहि॥ अथर्ववेद (१९।५२।१)। 'मनसो रेतः' के लिए मिलाइए ऋ० (१०।१२९।४), जो ऊपर पाद-टिप्पणी १० में उद्धृत है। प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे। यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितम्। प्राणो विराट् प्राणो देष्ट्री प्राणं सर्व उपासते। प्राणो ह सूर्यश्चन्द्रमाः प्राणमाहुः प्रजापतिम्॥ अथर्ववेद (११।४।१ एवं १२); काले तपः काले ज्येष्ठं काले ब्रह्म समाहितम्। कालो ह सर्वस्येश्वरो यः पितासीत्प्रजापतेः॥ कालः प्रजा असृजत कालो अग्रे प्रजापतिम्। स्वयम्भूः कश्यपः कालात्तपः कालादजायत॥ अथर्व० (१९।५३।८ एवं १०); कालादापः समभवन् कालाद् ब्रह्म तपो दिशः। कालेनोदेति सूर्यः काले नि विशते पुनः॥ अथर्व० (१९।५४।१)।

ब्रह्म है; काल सबका ईश्वर है, वही प्रजापति का पिता है; काल ने प्रजा की सृष्टि की, आरम्भ में काल ने प्रजापति को उत्पन्न किया; स्वयम्भू (ब्रह्मा), कश्यप एवं तप काल से ही उद्भूत हुए; काल से जल, ब्रह्म, तप एवं दिशाएँ उत्पन्न हुईं; काल के कारण सूर्योदय होता है और वह उसी में (रात्रि में) समा जाता है।'

शतपथ ब्राह्मण ने कतिपय स्थानों पर सृष्टि के विषय में कहा है। इसमें (६।१।१) आया है—'यहाँ पर आरम्भ में असत् था', पुनः दृढतापूर्वक कहा है कि असत् ही ऋषि था, और प्राण-वायु था; इसके उपरान्त कल्पना की गयी है कि जिन्होंने कामना की,—'मैं और हो जाऊँ, मेरी सन्तानें हों । उन्होंने परिश्रम किया और थक जाने पर उन्होंने सर्वप्रथम 'ब्रह्म' एवं तीन विद्याएँ (तीनों वेद) उत्पन्न कीं; उन प्रजापति ने वाक् (जो विश्व है) से जल उत्पन्न किया; वे (प्रजापति) तीनों वेदों के साथ जल में प्रविष्ट हो गये और तब उसमें से हिरण्यगर्भ (सोने का अण्ड) निकला; उन्होंने उसका स्पर्श किया, तब पृथिवी उत्पन्न हुई. . .।'

शतपथब्राह्मण (११।१।६।१) में आया है—'आरम्भ में यह जल था, केवल एक समुद्र । जलों ने कामना की—हमें सन्तति की प्राप्ति कैसे होगी ? 'उन्होंने परिश्रम किया, तप किये; जब वे ऐसा कर रहे थे तो हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति हुई, जो लगभग एक वर्ष तक तैरता रहा, एक वर्ष की अवधि में एक पुरुष, प्रजापति उपन्न हुए; उन्होंने वह अण्ड फोड़ा, उन्होंने अपने मुख (की साँस) से देवों की सृष्टि की; उन्होंने अग्नि, इन्द्र, सोम की उत्पत्ति की' . . .आदि-आदि ।

शतपथ ब्राह्मण (११।२।३।१२) में पुनः आया है—'आरम्भ में यह (विश्व) ब्रह्म था, इसने देवों, अग्नि, वायु, सूर्य की रचना की'; इसके उपरान्त नाम-रूप की ओर संकेत मिलता है जिसके द्वारा वह लोकों में उतरता है और ऐसा कहा गया है—'ये दोनों (नाम-रूप) ब्रह्म की बड़ी अभिव्यक्तियाँ हैं।'

हिरण्यगर्भ वाली अनुश्रुति ऋग्वेद (१०।१२९।३ एवं १०।१२१।१ हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे) से छान्दोग्य०-(३।१९।१-२) में विकसित हुई है—'आरम्भ में यह विश्व असत् (आवृत) था, यह सत् हुआ (अनावृत होने लगा), इसने जन्म लिया (इसने रूप धारण किया); तब एक अण्ड बना, दो अर्धांशों में एक चाँदी का था और दूसरा सोने का; चाँदी वाला अर्धांश यह पृथिवी है और सोने वाला स्वर्ग है ।' यही मनुस्मृति में भी आया है, जिसका उल्लेख हम आगे करेंगे ।

शतपथ ब्राह्मण (१०।४।२।२२-२३) में कहा गया है कि प्रजापति ने ऋग्वेद को इस प्रकार व्यवस्थित किया कि इसके अक्षरों की संख्या १२,००० बृहती मात्राओं (प्रत्येक बृहती में ३६ अक्षर होते हैं) में हो गयी।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में आया है—'प्रजापति ने देवों एवं असुरों की सृष्टि की (२।२।३), किन्तु उन्होंने इन्द्र को नहीं बनाया; देवों ने उनसे कहा—'हमारे लिए इन्द्र की उत्पत्ति करें'; जिस प्रकार हमने तप से आप को उत्पन्न किया उसी प्रकार आप इन्द्र को उत्पन्न करें; उन्होंने तप किया और इन्द्र को अपने में (अपने हृदय में निवास करते) देखा, उन्होंने कहा 'उत्पन्न हो जाइए' ।' तै० ब्रा० (२।२।९।१) में आया है[16]—'आरम्भ में यह विश्व कुछ भी नहीं था। न स्वर्ग था, न पृथिवी और न अन्तरिक्ष। उस असत् ने

१६. इदं वा अग्रे नैव किंचनासीत् । न द्यौरासीत् । न पृथिवी । नान्तरिक्षम् । तदसदेव सन् मनोऽकुरुत स्यामिति (तै० ब्रा० (२।२।९।१) । ब्रह्म देवानजनयत्, ब्रह्म विश्वमिदं जगत् । ब्रह्मणा क्षत्रं निर्मितम् । ब्रह्म ब्राह्मणा आत्मना ।। अन्तरस्मिन्निमे लोकाः । ब्रह्मैव भूतानां ज्येष्ठम् । तेन कोऽर्हति स्पर्धितुम् । ब्रह्मन्देवास्त्रयस्त्रिंशत् । ब्रह्मन्निन्द्र प्रजापती । ब्रह्मन्ह विश्वा भूतानि । नावीवान्तः समाहिता ।। तै० ब्रा० (२।८।८।९-१०) ।

मन की सृष्टि 'मैं ऐसा हो जाऊँ' इस विचार के साथ की।' उसी ब्राह्मण (२।६।२।३) ने पुनः कहा है—'प्रजापति ने वेद की सहायता से 'सत्' एवं 'असत्' दो रूप बनाये।' तै० ब्रा० (२।८।८।९-१०) ने पुरोडाश की पुरोनुवाक्या एवं याज्या तथा हवि की पुरोनुवाक्या को इस प्रकार उल्लिखित किया है—'ब्रह्म ने देवों एवं इस विश्व को उत्पन्न किया; ब्रह्म से क्षत्रियों की उत्पत्ति हुई और ब्रह्म ने अपने रूप से ब्राह्मणों को उत्पन्न किया; (याज्य) 'ये लोक ब्रह्म के भीतर रहते हैं। उसी प्रकार यह सारा लोक इसमें निवास करता है; ब्रह्म सभी भूतों में सर्वोत्तम है; इससे कौन स्पर्धा करता है, ब्रह्म ३३ देवों के रूप में है और सभी भूत (प्राणी) इसमें उसी प्रकार हैं जैसे किसी नाव में।'

कौषीतकि ब्राह्मण में प्रजापति के विषय में संक्षिप्त इंगित हैं। इसमें (६।१) आया है—'प्रजापति ने सन्तति की कामना से तप किया, वे जब इस प्रकार तपस्या कर रहे थे तो पाँच, यथा—अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्र एवं उषा की उत्पत्ति हुई'; पुनः (६।१०) आया है—'प्रजापति ने तप किया, तप करने के उपरान्त उन्होंने प्राण से यह विश्व (पृथिवी), अपान से यह अन्तरिक्ष तथा व्यान से सामने का लोक (स्वर्ग) बनाया; इसके उपरान्त उन्होंने पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं स्वर्ग से क्रम से अग्नि, वायु एवं आदित्य की रचना की, और उन्होंने अग्नि से ऋग्वेद की ऋचाएँ, वायु से यजुर्वेद के वचन तथा आदित्य से साम के वचन उत्पन्न किये।' पुनः (१३।१) ऐसा आया है—'प्रजापति ही वास्तव में यज्ञ है, जिसमें सभी काम (इच्छाएँ या कामनाएँ), सभी अमृतत्व (अमरता) केन्द्रित हैं।' पुनः (२८।१) उसमें ऐसा आया है—'प्रजापति ने यज्ञ की सर्जना की, देवों ने यज्ञ के द्वारा, जब इसकी उत्पत्ति हुई, पूजा की और इसके द्वारा सभी इच्छित पदार्थों की उपलब्धि की।'[१७]

वेद के ब्राह्मणों का प्रधान ध्येय एवं उद्देश्य है विभिन्न यज्ञों से सम्बन्धित क्रिया-संस्कारों के कृत्यों एवं अंशों की व्यवस्था उपस्थित करना, उनके उद्भव से सम्बन्धित कथा-वार्ताओं, किंवदन्तियों आदि को उपस्थित करना तथा बहुत से यज्ञों के सम्पादन पर कतिपय पुरस्कारों अथवा फलों की स्वीकृति देना।

ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रजापति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं प्रमुख हो गये हैं। प्रजापति का उल्लेख ऋग्वेद में बहुत ही कम हुआ है। ऋ० (४।५३।२) में सविता को प्रजापति, ऋ० (९।५।९) में सोम को प्रजापति कहा गया है। ऋ० (१०।८५।४) के विवाहसूक्त में प्रजापति का आह्वान सन्तान देने के लिए किया गया है। ऋ० (१०।१६९।४) में गौओं के लिए प्रजापति का आह्वान किया गया है। ऋ० (१०।१८४।१) में विवाहित नारी के गर्भाधान के लिए अन्य देवों एवं देवियों के साथ प्रजापति का भी आह्वान किया गया है। ऐतरेयब्राह्मण में गाथा आयी है कि वृत्र को मारने के उपरान्त जब इन्द्र प्रजापति के स्थान पर उच्च एवं सम्मानित होना चाहते थे तो प्रजापति ने पूछा (यदि तुम बड़े होना चाहते हो तो) 'मैं क्या होऊँगा?' (कोहमिति) और इसी कारण प्रजापति को 'क' की संज्ञा मिली।[१८]

१७. प्रजापतिर्वै यज्ञस्तस्मिन्सर्वे कामाः सर्वममृतत्वम्। कौषी० ब्रा० (१३।१); प्रजापतिर्ह यज्ञं ससृजे तेन ह सृष्टेन देवा ईजिरे तेन हेष्ट्वा सर्वान्कामानापुः। वही (२८।१, लिण्डनर का संस्करण, जेना, १८८७)।

१८. ऋग्वेद के १०।१२१ में ९वें मन्त्र का अन्तिम चरण यों है—"कस्मै देवाय हविषा विधेम" (अर्थात् किस देवता को हम हवि देंगे?)। इसके उपरान्त दसवाँ मन्त्र एवं अन्तिम मन्त्र प्रजापति को इस प्रकार सम्बोधित करता है—'आपके अतिरिक्त कोई अन्य देवता ऐसा नहीं है जिसने इन सभी सृष्टियों को परिवृति कर रखी हो

ऐतरेय ब्राह्मण में आया है कि प्रजापति ने अपने को बढ़ाने (विस्तृत करने) और अधिक होने के लिए तप करने के उपरान्त तीन लोकों की रचना की, यथा—पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं स्वर्ग, जिनसे तीन ज्योतियाँ प्रकट हुईं—अग्नि, वायु एवं आदित्य, जिनसे तीन वेदों की उत्पत्ति हुई, आदि-आदि।

वैदिक संहिताओं एवं ब्राह्मणों से यह प्रकट होता है कि आत्मा के विषय में सामान्य प्रचलित विश्वास यह था कि अच्छे कर्मों के कारण वह स्वर्ग में पहुँचता है, अमर हो जाता है और भाँति-भाँति के आनन्दों एवं सुखों का उपभोग करता है। देखिए ऋ० (९।११३।७-११, १।१२५।४-६), अथर्व० (४।३४।२ एवं ५, ६।१२०।३)। एक व्यक्ति द्वारा अन्य व्यक्ति के प्रति कृत दुष्कर्मों एवं हानिप्रद कर्मों के प्रतिकार एवं निष्कृति की धारणा उन दिनों विद्यमान थी। उदाहरणार्थ, शतपथब्राह्मण (१२।९।१।१) में आया है—'व्यक्ति जो कुछ इस लोक में खाता है, उस वस्तु द्वारा वह दूसरे लोक में स्वयं खाया जाता है।' और देखिए शत० ब्रा० (११।६।१)। किन्तु जब हम उपनिषदों के युग में पहुँचते हैं तो सम्पूर्ण बौद्धिक वातावरण ही परिवर्तित दृष्टिगोचर होता है। उपनिषदें बहुधा कहती हैं कि केवल आत्मा ही वास्तविक (तत्त्व) है, अन्य कुछ नहीं और आत्मा को ही हम इस प्रकार उल्लिखित कर सकते हैं (अथवा उसकी चर्चा कर सकते हैं) —'नेति-नेति' (अर्थात् यह नहीं—यह नहीं), अर्थात् आत्मा को नहीं जाना जा सकता। **यही वेदान्त का प्रथम एवं प्रमुख स्वरूप है।** किन्तु इस उच्च आध्यात्मिक धारणा एवं सामान्य लोगों के विचारों के बीच संघर्ष उपस्थित हो गया और सामान्य लोगों ने यही समझा कि वास्तविक विश्व स्रष्टा से पृथक् अवस्थित है। अपेक्षाकृत अधिक उच्च दार्शनिक मनस्वियों ने सामान्य लोगों के लिए विश्व की वास्तविकता की बात मान ली। वे यह कहने को सन्नद्ध थे कि विश्व का अस्तित्व होता है; किन्तु वस्तुतः वह कुछ नहीं है, बल्कि विश्व में आत्मा समाया हुआ है। उपनिषदों ने यह बताया कि यह विश्व दृग्विषय है अथवा गोचर होने वाला है, मिथ्या नहीं है और न 'न कुछ' है, किन्तु विश्व के पीछे आत्मा है। **यह वेदान्त का द्वितीय स्वरूप है,** अर्थात् वेदान्त के अनुसार विश्व मूल तत्त्व ब्रह्म से विकसित हुआ है। उपनिषदों ने सगुण ब्रह्म एवं निर्गुण ब्रह्म में अन्तर बताया, सगुण ब्रह्म में प्रार्थना, उपासना तथा व्यवहार का स्थान है। अपेक्षाकृत अधिक उच्च चिन्तन ने यह भी दृढ़ता-पूर्वक कहा कि पारमार्थिक सत्य यह है कि ब्रह्म एक है, विश्व में प्रत्येक वस्तु (यथा—मनुष्य, पशु, निर्जीव पदार्थ) ब्रह्म है ('सर्वं खल्विदं ब्रह्म', छा० उप० ३।१४।१, अहं ब्रह्मास्मीति तस्मात् तत्सर्वमभवत्' बृ० उप० १।४।१०)। ऐतरेयोपनिषद् ने अति दृढ़तापूर्वक कहा है कि मूल तत्त्व से मनुष्यों, पशुओं, अचल जीवों का तादात्म्य है।[१९]

(इतनी सृष्टियों पर छा गया हो)।' सम्भवतः इसी कारण 'कस्मै' (जो प्रथम ९ मन्त्रों में पाया जाता है) से प्रजापति को 'क' कहा जाने लगा।

१९. आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किंचन मिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति। स इमाँल्लोकान-सृजताम्भो मरीचीर्मरमापः।...स ईक्षत इमे नु लोकाः। लोकपालान्नु सृजा इति। सो अद्भ्य एव पुरुषं समुद्धृत्यामूर्च्छ-यत्।...स ईक्षत कथं न्विदं मदृते स्यादिति। स ईक्षत कतरेण प्रपद्या इति।...स एतमेव सीमानं विदार्येतया द्वारा प्रापद्यत। ऐ० उप० (१।१-३, १।३।११-१२)। यह वचन वे० सू० (३।३।१६) में विवेचित हुआ है, वहाँ ऐसी स्थापना है कि 'आत्मा' शब्द 'परमात्मा' के लिए तथा 'अम्भ', 'मरीची', 'मर' एवं 'आप' क्रम से स्वर्ग, अन्तरिक्ष, पृथिवी एवं पृथिवी के नीचे जल के लिए प्रयुक्त हैं।

तत्त्वों के विषय में बृ० उप० (३।७।२-२३) में एक लम्बी उक्ति आयी है[२०], जिसमें याज्ञवल्क्य ने उद्दालक आरुणि से एक अति उत्कृष्ट सिद्धान्त कहा है। यथा—यह आत्मा पृथिवी तथा अन्य तत्त्वों में निवास करता पाया जाता है, जिसे वे (तत्त्व) नहीं जानते, जिसकी (आत्मा की) देह पृथिवी एवं तत्त्व हैं, जो पृथिवी के अन्तर एवं अन्यों द्वारा शासन करता है, यह आत्मा तुम्हारा (मेरा एवं अन्यों का) है, आन्तरिक शासक है और अमर है। इस उक्ति का अन्तिम अंश यों है—'आन्तरिक शासक अदृष्ट है, किन्तु देखता रहता है, अश्रुत है किन्तु सुनता रहता है, अमत (अप्रत्यक्ष) है किन्तु प्रत्यक्षीकरण करता रहता है, अज्ञात (अविज्ञात) है किन्तु जानता रहता है, उसके अतिरिक्त कोई अन्य देखने वाला (द्रष्टा) नहीं है, उसके अतिरिक्त कोई अन्य सुननेवाला (श्रोता) नहीं है, उसके अतिरिक्त कोई अन्य परिज्ञान या प्रत्यक्षीकरण करने वाला (मन्ता) नहीं है। उसके अतिरिक्त कोई अन्य जानने वाला (विज्ञाता) नहीं है। यही आत्मा, अन्तर्यामी एवं अमृत (अमर) है। अन्य कुछ क्लेश (आर्तम्) है।' यह सम्पूर्ण भाग, जिसे **अन्तर्यामी ब्राह्मण** कहा जाता है, बृ० उप० (२।५) में वर्णित **मधुविद्या** के समान ही है।

स्रष्टा के रूप में ब्रह्म-सम्बन्धी सामान्य धारणा का उपनिषदों के चिन्तकों द्वारा सम्पूर्ण त्याग नहीं किया गया, यद्यपि ऐसा घोषित किया गया कि ऐसी धारणा **अविद्या** (वास्तविक तत्त्व के प्रति अज्ञान) के कारण है। स्रष्टा के रूप में अवधारित ब्रह्म ईश्वर (देह वाला **ईश्वर** या भगवान्) कहलाया, यद्यपि पूजक को यह अवश्य ज्ञात होना चाहिए कि ब्रह्म सारतत्व रूप में व्यक्तित्व (शारीरिक रूपत्व) की दशाओं एवं सीमाओं से ऊपर है। यही **ईश्वरवाद या आस्तिक्यवाद** है जो तीन अस्तित्वों को स्वीकार करता है—वास्तविक विश्व, परमात्मा (सृष्टि करने वाला आत्मा) एवं आत्मा (जीव) जो परमात्मा पर अवलम्बित है। किन्तु उपनिषदों का वास्तविक चिन्तन ब्रह्म एवं आत्मा तथा भौतिक विश्व की अन्तरहीनता में केन्द्रित है, अर्थात् इन तीनों में तादात्म्य है। यह विचार (चिन्तना) कि ब्रह्म विभिन्न आत्माओं एवं भौतिक विश्व में प्रविष्ट हो गया, **वेदान्त का तीसरा स्वरूप है**। वेदान्तसूत्र (२।३।४३) की व्याख्या में शंकराचार्य ने अथर्ववेद वाले ब्रह्मसूक्त[२१]

२०. यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः।... अदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता। ...एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः। अतोऽन्यदार्तम्। बृह० उप० (३।७।३ एवं २३)। मिलाइए इस अन्तिम से बृह० उप (३।४।२) 'कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरः। न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः... एष त आत्मा सर्वान्तरः। अतोऽन्यदार्तम्'; एवं ३।५।२। ऐत० उप० (३।२) में १७ शब्द ऐसे हैं जो प्रज्ञान (अर्थात् ब्रह्म) के नाम कहे गये हैं। ऐत० उप० (३।३) यों है—'एष ब्रह्मा, एष इन्द्रः, एष प्रजापतिः, एते सर्वे देवाः, इमानि च पञ्च महाभूतानि पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतींषि, एतानीमानि च क्षुद्रमिश्राणीव बीजानीतराणि चेतराणि चाण्डजानि च जारुजानि स्वेदजानि चोद्भिज्जानि चाश्वा गावः पुरुषा हस्तिनो यत्किंचेदं प्राणि जंगमं च पतत्रि च यच्च स्थावरं सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितम्। प्रज्ञानेत्रो लोकः। प्रज्ञा प्रतिष्ठा। प्रज्ञानं ब्रह्म।' यह पुरुषसूक्त (१०।९०।६, ८, १०) वाले विचार का मानो तार्किक निष्कर्ष है।

२१. एके शाखिनो दाशकितवादिभावं ब्रह्मण आमनन्त्याथर्वणिका ब्रह्मसूक्ते—ब्रह्म दाशा ब्रह्म दासा ब्रह्मैवेमे कितवा इत्यादिना।... इति हीनजन्तूदाहरणेन सर्वेषामेव नामरूपकृतकार्यकरणसंघातप्रविष्टानां जीवानां ब्रह्मत्वमाह। तथान्यत्रापि ब्रह्म प्रक्रियायामेवायमर्थः प्रपञ्च्यते। त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी। त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः॥ इति। यह अन्तिम अथर्व० (१०।८।२७) एवं श्वे० उप० (४।३) में है।

से तथा श्वेताश्वतरोपनिषद् से ऐसे वचन उद्धृत किये हैं जो यह अभिव्यक्त करते हैं कि ब्रह्म का तादात्म्य मछुवों एवं दासों, जुआरियों, पुरुषों एवं नारियों, लड़कों एवं लड़कियों तथा लकड़ी के सहारे चलते हुए बूढ़ों तक से है। यह विश्वास कि एक ही आत्मा सम्पूर्ण विश्व को, पाषाण, कीट-पतंगों, पशुओं से लेकर मनुष्य तक को अनुप्राणित करता है, एक ऐसी उन्मेषशाली धारणा है जो इस बात की ओर इंगित करती है कि सभी जीव भाई-भाई हैं और स्रष्टा की खोज कर रहे हैं। यह विश्वास साधारण विश्वास नहीं है। आज के विश्व में, जो अहंकार एवं स्वार्थभावना से परिपूर्ण है, जहाँ प्रत्येक व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत समृद्धि की उन्नति में लगा हुआ है, यह धारणा एवं विश्वास मधुर एवं सन्तोषप्रद है। देखिए डुइशेन कृत 'दि फिलॉसॉफी आव दि उपनिषद्स' (ए० एस० गेडेन द्वारा अनूदित, १९०६, इडिनबरो में प्रकाशित) एवं जे० रॉयसकृत दि वर्ल्ड एण्ड दि इण्डिविडुअल' (विशेषतः पृ० १५६-१५७)।

उपनिषदें सृष्टि एवं मूल तत्त्व के रूप से सम्बन्धित सिद्धान्तों से परिपूर्ण हैं। सृष्टि के विषय में कुछ वचन दिये जा रहे हैं। बृ० उप० (१।४।३-४, ७) में सृष्टि पर मौलिक एवं महत्त्वपूर्ण वचन है, जिसका एक अंश यह है—'आरम्भ में पुरुष के रूप में केवल यही आत्मा था; उसे (अकेला होने के कारण) आनन्द न मिला; उसे एक अन्य (साथी) की कामना हुई; वह आलिंगन में बद्ध एक पुरुष एवं नारी के फैलाव में आ गया; उसने इसी आत्मा को दो भागों में अलग-अलग हो जाने दिया जो पति एवं पत्नी बन गये; इनसे मनुष्य उत्पन्न हुए और उस (पुरुष) ने चींटियों तक के छोटे-छोटे जीव उत्पन्न किये; यह (विश्व) तब अविकसित (या अनावृत नहीं) था, तब यह नामों एवं रूपों में विकसित हुआ; वह (आत्मा) उसमें अँगुली के पोरों तक उस प्रकार प्रविष्ट हो गया, जिस प्रकार छुरा आवेष्टन (कोष) में छिपा रहता है या सबको आश्रय देने वाली (अग्नि) काष्ठ में नहीं दिखाई पड़ती।' इस वचन में सृष्टि-सम्बन्धी प्रचलित धारणा उठायी गयी है और वह एक वास्तविक तत्त्व आत्मा से सम्बन्धित रखी गयी है और इस सिद्धान्त पर बल दिया गया है कि इस वस्तु-जगत् के मायाजाल में एक मात्र वास्तविकता आत्मा ही है। छा० उप० (७।१०।१) में आया है—'यह पृथिवी, ये मध्य में स्थित क्षेत्र या स्थल, स्वर्ग, देव एवं मनुष्य, पशु एवं पक्षीगण, घास एवं ओषधियाँ तथा कीटों, पतंगों (तितलियों), चींटियों से संयुक्त अन्य पशु—कुछ नहीं हैं प्रत्युत वे अद्रव रूप में जल ही हैं।' छा० उप० (६।२।३-४ एवं ६।३।२-३) में आया है—'आरम्भ में केवल सत् ही था, केवल एक, जिसके साथ कोई दूसरा नहीं, उसने विचारा, 'मैं बहुत होऊँगा, मैं सन्तति प्राप्त करूँगा', उसने तेज उत्पन्न किया, तेज से जलों की उत्पत्ति हुई, जल से भोजन (अन्न); उस देवता ने संकल्प किया, 'मैं इन तीन देवों (अग्नि, जल एवं अन्न) में इस जीवित आत्मा के साथ प्रवेश करूँगा और नाम एवं रूप को अनावृत करूँगा (खोलूँगा)।' यहाँ पर तीन तत्त्वों, **तेज, जल** एवं **पृथिवी** (अन्न की उत्पत्ति पौधों से होती है और पौधे पृथिवी से प्रस्फुटित होते हैं) की ओर इंगित है। ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि केवल तीन ही तत्त्वों को स्वीकार किया गया था। वास्तव में ये तीनों अत्यन्त प्रकट एवं स्पष्ट थे, अन्य दो, यथा—**वायु** एवं **आकाश** को, जो ऐत० उप० एवं तै० उप० में उल्लिखित हैं, अन्तर्हित रूप में मान लेना होगा। ऐत० उप० (देखिए ऊपर पाद-टिप्पणी २०) में आया है—"आरम्भ में यहाँ पर केवल आत्मा था, कोई अन्य ऐसा नहीं था जो गतिशील हो (अर्थात् जो आँखें खोलता या बन्द करता हो); उसने विचारा, 'मैं लोकों की सृष्टि करूँगा।' उसने इन लोकों की रचना की, अम्भ (स्वर्ग के ऊपर जल), मरीचि ('किरणें') वायुमण्डीय क्षेत्र, मृत्यु, जल।" उपनिषद् और आगे कहती है—उसने लोकों के रक्षकों की रचना की और उनके लिए भोजन की आकांक्षा की। तब उसने विचारा—'यह ढाँचा (आवेष्टन) मुझसे पृथक् कैसे रह सकता है?', तब उसने पुनः सोचा—'मैं किस ढंग से या किस मार्ग से इसमें प्रवेश करूँ?' इसके उपरान्त ऐसा आया है कि उसने सिर को खोला और उस द्वार से प्रविष्ट हो गया। तै० उप (२।६) में कथित है—"उसने (आत्मा ने) कामना की

'मैं अधिक हो जाता, मैं सन्तति प्राप्त करना चाहता हूँ;' तप करके उसने यह (विश्व), जो कुछ है, उत्पन्न किया; इसे उत्पन्न करके वह इसी में प्रविष्ट हो गया।" उसमें (२।७) पुनः आया है—'आरम्भ में यह 'असत्' (आवृत) था, इसके उपरान्त यह 'सत्' (व्यक्त या विकसित) हुआ, इसने अपने को अनावृत किया।' यही वेदान्तसूत्र (१।४।-२६) का आधार है (आत्मकृतेः परिणामात्), जो यह स्थापित करता है कि ब्रह्म सृष्टि का **कर्ता** एवं **कर्म** दोनों है। इसी उपनिषद् (२।१) ने आत्मा से आकाश की, आकाश से वायु की, वायु से अग्नि की, अग्नि से जल की तथा जल से पृथिवी की रचना की बात कही है। यहाँ पर पाँच तत्त्वों का उल्लेख है न कि छान्दोग्योपनिषद् की भाँति केवल तीन का, जैसा कि अभी ऊपर निर्देश किया जा चुका है। ऐतरेयोपनिषद् (३।३) ने पाँच तत्त्वों के नाम लि हैं और उन्हें 'महाभूतानि' की संज्ञा दी है (यद्यपि वहाँ पर सामान्य क्रम नहीं रखा गया है)। प्रश्नोपनिषद् (६।४), श्वेताश्वतरोपनिषद् (२।१२), कठोपनिषद् (३।१५) ने भी पाँच तत्त्वों का उल्लेख किया है। कठोपनिषद् (३।१५) में पाँच तत्त्वों (आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी) के नाम है और साथ-ही-साथ उनके विशिष्ट गुणों (क्रम से शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध) के नाम भी दिये गये हैं।

हमने यह पहले ही देख लिया है कि भूत (जीव) ब्रह्म से निकलते हैं और उसी में समाहित हो जाते हैं (देखिए, तै० उप० ३।१, पाद-टिप्पणी २, एवं छा० उप० ३।१४।१, पाद-टिप्पणी ३)। प्रलय का क्रम सृष्टि का प्रतिलोम (उलटा) है। यह वेदान्तसूत्र (२।३।१४) में उल्लिखित है ('विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च')। शंकराचार्य ने अपने भाष्य में इसके पक्ष में शान्तिपर्व का एक श्लोक उद्धृत किया है।[२२]

इस महाग्रन्थ के खण्ड ३ के मूल पृष्ठ ८८५-८९६ में हमने युगों, महायुगों, मन्वन्तरों एवं कल्पों के विषय में पढ़ लिया है। खण्ड ५ के अध्याय १९ में भी (मूल पृ० ६८६-६९२) इस विषय में अध्ययन किया गया है। विश्व के विलयन को **प्रलय** कहा जाता है, जो चार प्रकार का होता है, यथा—**नित्य** (जो जन्म लेते हैं उनमें बहुतों का प्रतिदिन मरना), **नैमित्तिक** (जब ब्रह्मा का एक दिन समाप्त होता है और विश्व का प्रलय हो जाता है), **प्राकृतिक** (जब प्रत्येक वस्तु प्रकृति में समाप्त हो जाती है) तथा **आत्यन्तिक** (मोक्ष, सत्य ज्ञान के उपरान्त जब आत्मा परमात्मा में समाहित हो जाता है)। नैमित्तिक प्रलय ब्रह्मा के एक दिन के उपरान्त होता है और ब्रह्मा का एक दिन बराबर होता है १००० महायुगों के। प्राकृतिक प्रलय में प्रकृति के साथ प्रत्येक वस्तु परमात्मा में लीन हो जाती है। गीता (८।१७-१८) में आया है और मनु (१।७३) में भी इसका उल्लेख है कि ब्रह्मा का एक दिन एक सहस्र युगों के बराबर होता है और ब्रह्मा की रात्रि की अवधि भी इतनी ही लम्बी होती है; यह भी आया है कि ब्रह्मा के दिन के आरम्भ में सभी व्यक्त वस्तुएँ अव्यक्त (मूल तत्त्व) से प्रस्फुटित होती हैं और ब्रह्मा की रात्रि के आगमन पर वे सभी उसी अव्यक्त में समा जाती हैं।

प्रस्तुत लेखक अन्य धर्मों के शास्त्रों में पाये जाने वाले विश्व-विद्या-सम्बन्धी सिद्धान्तों के विवेचन में नहीं पड़ना चाहता; कुछ पाश्चात्य लेखकों के तत्सम्बन्धी ग्रन्थों की ओर इंगित कर देना ही पर्याप्त होगा। श्री रेने

२२. स्मृतावप्युत्पत्तिक्रमविपर्ययेणैवाप्ययस्तत्र तत्र प्रदर्शितः—'जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे पृथिव्यप्सु प्रलीयते। ज्योतिष्यापः प्रलीयन्ते ज्योतिर्वायौ प्रलीयते॥ इत्यादौ। यह श्लोक शान्तिपर्व (३४०।२९=३२९।२८) का है। अगले तीन श्लोक इस प्रकार हैं—खे वायुः प्रलयं याति मनस्याकाशमेव च। मनो हि परमं भूतं तदव्यक्ते प्रलीयते॥ अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन् निष्क्रिये संप्रलीयते। नास्ति तस्मात्परतरं पुरुषाद्वै सनातनात्॥ नित्यं हि नास्ति जगति भूतं स्थावरजंगमम्। ऋते तमेकं पुरुषं वासुदेवं सनातनम्॥

ग्रौसेट ने अपने ग्रन्थ 'दि सम आव हिस्ट्री' एवं 'इन दि फूटस्टेप्स आव बुद्ध' में भारतीय विश्व-विद्या तथा अन्य बातों की चर्चा की है। उनका ग्रन्थ 'सिविलिज़ेशन आव दि ईस्ट' भी इस सिलसिले में पठनीय है । और देखिए जेराल्ड हर्ड कृत 'इज़ गॉड एविडेण्ट' , जिसमें संस्कृत वाली विश्व-विद्या को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है।

उपनिषदों में दो धारणाएँ साथ-साथ बहती हैं। पहली है वह उच्च आध्यात्मिक धारणा जिसके अनुसार वास्तव में ब्रह्म के बाहर कोई विश्व नहीं है, अर्थात् केवल ब्रह्म ही ब्रह्म है, जो **निर्गुण** है। दूसरी है वह लोकप्रसिद्ध एवं प्रयोगसिद्ध धारणा जिसके अनुसार एक दैहिक ईश्वर है जो सृष्टि करता है, और **सगुण ब्रह्म** कहलाता है और एक वास्तविक विश्व भी है। प्रश्न उप० (५।२) में आया है कि 'ओम्' **पर** (सर्वोच्च) ब्रह्म एवं **अपर** (दूसरा, अधस्थ) **ब्रह्म** दोनों है। शंकराचार्य (वे० सू० १।१।१२, आनन्दमयोऽभ्यासात्) का कथन है कि उपनिषदों में ब्रह्म का उल्लेख दो प्रकार का है, प्रथम वह है जिसके अनुसार ब्रह्म की कई उपाधियाँ हैं, यथा—उसका नाम है, रूप है, उसने पदार्थों की सृष्टि की है और वह पूजित होता है, तथा दूसरा वह है जिसके अनुसार ब्रह्म गुणरहित अथवा निर्गुण है (जिसका परिज्ञान रहस्यवादी ढंग से होता है)। दूसरे प्रकार (**निरुपाधिक या निर्गुण ब्रह्म**) के लिए शंकराचार्य ने कतिपय वचनों के उदाहरण दिये हैं, यथा—बृ० उप० (४।५।१५, ३।९।२६ = ४।४।२२, ३।८।८); छा० उप० (७।२४।१); श्वेताश्वतरोपनिषद् (६।१९)। अन्य वचन हैं बृ० उप० (४।४।१९ नेह नानास्ति किंचन), कठ उप० (४।१०-११, मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति)। उपनिषद् अर्थात् वेदान्त का चौथा स्वरूप है शरीर की मृत्यु के उपरान्त आत्मा की नियति तथा अन्य बातें, जो उसके साथ चलती हैं (अर्थात् आचार-शास्त्र एवं पर-लोक-सम्बन्धी बातें)।

उपर्युक्त वचन यह बताते हैं कि ब्रह्म का वर्णन करना असम्भव है, अर्थात् ब्रह्म वर्णनातीत है, हम केवल वही कह सकते हैं जो वह नहीं है। शंकराचार्य (वे० सू० ३।२।१७) ने बाष्कलि एवं बाध्व के संवाद का उदाहरण दिया है, जहाँ बाध्व ने मौन रहकर ब्रह्म की विशिष्टता प्रकट की है। बाष्कलि ने कहा,—'महोदय, मुझे ब्रह्म के विषय में बतायें;' तब बाध्व मौन रह गये; जब बाष्कलि ने दूसरी एवं तीसरी बार भी पूछा तो बाध्व ने उत्तर दिया,—'हम वास्तव में कह रहे थे; किन्तु तुम समझ नहीं रहे हो; यह आत्मा उपशान्त है (बिना किसी क्रिया वाला)।' शंकराचार्य ने **पर-ब्रह्म** एवं **अपर-ब्रह्म** (दैहिक ईश्वर) में अन्तर बताया है[२३]—'जहाँ नामों एवं रूपों से, जो अविद्या से उत्पन्न होते हैं, ब्रह्म के सम्बन्ध को छोड़ दिया जाता है (अर्थात् उस सम्बन्ध को ठीक नहीं माना जाता अथवा उसका त्याग किया जाता है) और ब्रह्म को अभावात्मक ढंग से, यथा अस्थूल आदि शब्दों से व्यक्त किया जाता है तो वहाँ 'पर ब्रह्म' है (अर्थात् उसका अर्थ है **पर ब्रह्म**), किन्तु जहाँ ऐसे वचन हैं, यथा—'वह मनोमय है, प्राणरूप है, शरीर-रूप है, प्रकाश रूप है, जिसके विचार सत्य हैं, जिसका स्वभाव आकाश के समान (सब स्थानों में उपस्थित) है, जो सब कुछ की सृष्टि करता है. . . आदि,' वहाँ ब्रह्म का उल्लेख उपासना के लिए है और वह **अपर ब्रह्म** है

२३. किं पुनः परं ब्रह्म किमपरमिति। उच्यते। यत्राविद्याकृतनामरूपादिविशेषप्रतिषेधादस्थूलादिशब्दैर्ब्रह्मोपदिश्यते तत्परम्। तदेव यत्र नामरूपादिविशेषेण केनचिद्विशिष्टमुपासनायोपदिश्यते 'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः' (छा० उप० ३।१४।२) इत्यादिशब्दैस्तदपरम्। भाष्य (वे० सू० ४।३।१४)। एवमेकमपि ब्रह्मापेक्षितोपाधिसम्बन्धं निरस्तोपाधिसम्बन्धं चोपास्यत्वेन ज्ञेयत्वेन च वेदान्तेषूपदिश्यत इति। शंकराचार्य (वे० सू० १।१।१२)। यह द्रष्टव्य है कि याज्ञवल्क्य की ब्रह्म-सम्बन्धी व्याख्या में 'नेति नेति' शब्द चार बार आये हैं (बृ० उप० ४।२।४, ४।४।२२, ४।५।१५, ३।९।२६)। पर ब्रह्म को देश, काल एवं कारण-नियम से अतीत माना गया है।

विश्व की सृष्टि एवं प्रलय का वर्णन तभी सयुक्तिक कहा जायगा जब वह व्यावहारिक क्षेत्र पर आधृत हो। अद्वैत वेदान्त में सत्ता के तीन प्रकार हैं, यथा—**पारमार्थिकी** (सर्वोच्च, परम, केवल वही), **व्यावहारिकी** (व्यावहारिक जीवन वाली) एवं **प्रातिभासिकी** (अवास्तव)। इनमें प्रथम (अर्थात् **पारमार्थिकी सत्ता**) **परा विद्या** विषयक है जिससे यह प्रकट किया जाता है कि आत्मा का ही केवल अस्तित्व है, विश्व उसी आत्मा में निवास करता है और इससे ऊपर किसी अन्य वस्तु की यथार्थता या सत्यता नहीं है। इस उच्च आध्यात्मिक दृष्टिकोण से, वास्तव में न तो कोई सृष्टि है और न प्रलय, जीवात्मा वास्तव में बन्धन में नहीं है, अतः कोई मुक्ति नहीं होता (मुक्त होने की बात ही नहीं उठती)। दूसरे प्रकार की सत्ता (अर्थात् **व्यावहारिकी सत्ता**) केवल व्यावहारिक है, प्रयोग-सिद्ध है; विश्व की सृष्टि एवं प्रलय के तथा जीवात्मा एवं उसके बन्धन, आवागमन एवं अन्तिम मुक्ति के सिद्धान्त केवल अपरा विद्या के लिए युक्तिसंगत (अथवा सयुक्तिक) हैं। अधिकांश धर्म तीन प्रकार की सत्ताओं की परिकल्पना करते है, यथा—**ईश्वर, जीवात्मा** एवं **बाह्य संसार**। ये तीनों सत्य हैं किन्तु एक निश्चित सीमा तक ही (केवल तभी तक, जब तक व्यक्ति अहंकारवश अपनी सत्ता स्वीकार करता है), किन्तु ये तीनों अन्तिम सत्ता के द्योतक नहीं हैं। किन्तु इस निम्न स्तर वाली सत्ता में भी वह व्यक्ति जो गम्भीर निद्रा में रहता है (कुछ देर के लिए) सत्य सत्ता में लीन हो जाता है, जैसा छा० उप० (६।८।१, यत्रैतत् पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति) में कहा गया है। तीसरी सत्ता (**प्रातिभासिकी सत्ता**) स्वप्न की अवस्था की द्योतक है। स्वप्न में सुख, दुःख एवं दुर्दशा की अनुभूति होती है और इन मानसिक स्थितियों का सम्बन्ध स्वप्न में दिखाई पड़ने वाले दृश्यों से होता है, जो स्वप्न के चलते समय तक वास्तविक लगते हैं, किन्तु जब व्यक्ति जग जाता है तो ये सभी दृश्य अदृश्य हो जाते हैं। विश्व की सृष्टि के वर्णनों में केवल यही बात पायी जाती है कि कारण एवं कार्य में कोई भेद नहीं है और वे सभी ब्रह्म के विषय में सच्चा ज्ञान कराते हैं। शंकराचार्य ने यही तर्क अन्य आत्माओं के विषय में भी दिया है (वे० सू० २।३।३०) जिसे हम आगे के अध्याय में उद्धृत करेंगे।

उपनिषदों में जो सृष्ट अथवा रचित है उसके विषय में तथा सृष्ट वस्तुओं के क्रम के विषय में स्पष्ट विरोध पाया जाता है।[२४] बृ० उप० (५।५।१) में आया है—'आरम्भ में केवल जल थे; जलों ने सत्य की रचना की, जो ब्रह्म है, ब्रह्म ने प्रजापति को बनाया, जिसने देवों की सृष्टि की।' छा० उप० (६।२।३) में प्रथम सृष्टि (रचना) के रूप में जो स्पष्ट रूप से उल्लिखित है, वह है तेज और आकाश का तो कोई उल्लेख ही नहीं है। किन्तु तै०

२४. यह द्रष्टव्य है कि उपनिषदों में विश्व-उत्पत्ति-सम्बन्धी धारणा बहुत प्राचीन है, उसके लिए कोई निश्चित तिथि नहीं दी जा सकती, जैसा कि बाइबिल-सम्बन्धी शास्त्रीय तिथि-क्रम निर्धारित किया गया है (४००४ ई० पू०)। देखिए प्रिंगिल-पैटिसन कृत 'आइडिया आव गॉड' (१९१७ का संस्करण, पृ० २९९)। एच० डी० एँथॉनी कृत 'साइंस एण्ड इट्स बैकग्राउण्ड (मैकमिलन, १९४८, पृ० २) में आया है 'कि आर्माघ के प्रधान पादरी जेम्स उश्शर ने १७वीं शती में 'एँग्लिकन चर्च' में ई० पू० ४००४ नामक वर्ष निश्चित किया, अर्थात् सृष्टि ई० पू० ४००४ वर्ष पहले हुई। मध्यकालीन ईसाई सिद्धान्त यह है कि सृष्टि केवल ईश्वर के अस्तित्व में एक घटना मात्र है और मानव ईश्वर की प्रतिमूर्ति के अनुरूप ही बना है और ईश्वर की साँस से ही मानव जीवित प्राणी बना (जेनेसिस १।२७ एवं २।७)। मनुष्य के विषय में ईसाई एवं वेदान्त-सिद्धान्तों में एक अन्य महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि जहाँ ईसाई सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य का गर्भाधान एवं जन्म पाप की दशा में होता है, वहीं वेदान्त के अनुसार मानव आत्मा दिव्य है।

उप० (२।१) में आकाश को प्रथम रचित माना गया है और उसके उपरान्त वायु (आकाश से उत्पन्न) एवं अग्नि (वायु से उत्पन्न) को माना गया है। इसी प्रकार छा० उप० (४।२) में, जहाँ तेज, जल एवं अन्न (अर्थात् पृथिवी) की रचना का स्पष्ट उल्लेख है, वायु (जो तै० उप० २।१ में वर्णित है) की रचना के विषय में कुछ भी नहीं कहा गया है। तत्त्वों की सृष्टि एवं उनके क्रम के विषय में वे० सू० (२।३।१-११) में व्याख्या की गयी है। शंकराचार्य (वे० सू० २।३।६ पर भाष्य) का उत्तर यह है कि छा० उप० में पाये जाने वाले श्रुतिवचन का सम्बन्ध केवल तेज ऐसे तत्त्वों की सृष्टि से है, इसका कोई अन्य उद्देश्य नहीं है। यह ऐसा नहीं प्रदर्शित करना चाहता कि तै० उप० में आकाश की सृष्टि त्रुटिपूर्ण है और इसलिए त्याज्य है।

सृष्टि के विषय में चर्चा करते हुए एक प्रश्न उठ खड़ा होता है कि क्या जीवात्मा भी पृथिवी, वृक्षों एवं लता-गुल्मों की भाँति एक सृष्टि है। उपनिषदों ने इस विषय में विस्तार से कहा है। यहाँ भी हमें दो प्रकार के वचनों पर ध्यान देना होगा। प्रथम प्रकार के ऐसे वचन हैं जो यह कहते हैं कि विभिन्न आत्मा पर-ब्रह्म से उद्भूत होते हैं। कुछ वचन पाद-टिप्पणी में उद्धृत किये जा रहे हैं।[२५] बृ० उप० में आया है—'जिस प्रकार अग्नि से छोटी-छोटी चिनगारियाँ छूटती हैं उसी प्रकार इस आत्मा से सभी प्राण, सभी लोक, सभी देव एवं जीव उद्भूत होते हैं।' मुण्डकोपनिषद् ने भी यही विचार इस प्रकार बढ़ाकर कहा है—'जिस प्रकार भली भाँति जलायी गयी अग्नि से उसके स्वभाव वाले सहस्रों स्फुलिंग (चिनगारियाँ) फूटते हैं, उसी प्रकार इस अक्षर (अनाशवान्) से विभिन्न जीवित प्राणी निकलते हैं, और वहीं लौट आते हैं।' याज्ञवल्क्य-स्मृति में भी अग्नि एवं स्फुलिंग वाला उदाहरण उल्लिखित है। कठोपनिषद् में एक अपेक्षाकृत अधिक उचित उदाहरण पाया जाता है—'जिस प्रकार एक शुद्ध जल दूसरे शुद्ध जल में डाले जाने पर एक समान हो जाता (पृथक्-पृथक् नहीं किया जा सकता) है उसी प्रकार विज्ञ का आत्मा भी (पर ब्रह्म से अपरिच्छेद्य या अलक्ष्य) हो जाता है। द्वितीय प्रकार के ऐसे उपनिषद्-वचन हैं जो स्पष्ट रूप से कहते हैं कि जीवात्मा अजन्मा है, अमरणशील है, वह कोई सृष्टि नहीं है, पर ब्रह्म जीवात्मा रूप में ही प्रवेश करता है, पर ब्रह्म एवं जीवात्मा में कोई भेद नहीं है। इनमें से कुछ वचन देखिए नीचे पाद-टिप्पणी में।[२६] शंकराचार्य (वे० सू० २।३।१७) ने इन वचनों को उद्धृत किया है और इनके आधार पर दो प्रमेय उपस्थित

---

२५. **यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिंगा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति। बृहदारण्यकोपनिषद् (२।१।२०); यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिंगाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः। तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति॥ मुण्डकोपनिषद् (२।१।१)। मिलाइए कौषीतक्युपनिषद् 'यथाग्नेर्ज्वलतः सर्वा दिशो विस्फुलिंगा विप्रतिष्ठेरन्नेवमेवैतस्मादात्मनः प्राणा यथा यतनं विप्रतिष्ठन्ते। प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः' (४।१८) एवं मैत्री० (६।२६ एवं ३१) जिसमें ऐसा ही श्लोक आया है। याज्ञ० (३।६७) में ऐसा आया है—'निःसरन्ति यथा लोह पिण्डात्तप्तात्स्फुलिंगकाः। सकाशादात्मनस्तद्वदात्मानः प्रभवन्ति हि॥'; यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति। एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम॥ कठोपनिषद् (४।१५)।**

२६. **जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियत इति। छा० उप० (६।११।३); स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म। बृ० उप (४।४।२५); न जायते म्रियते वा विपश्चित्... अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे। कठोपनिषद् (२।१८); तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। तै० उप० (२।६); अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि। छा० उप० (६।३।२); स एष इह प्रविष्ट आ नखाग्रेभ्यः। बृह० (१।४।७); तत्त्वमसि (छा० उप० ६।८।७); अहं ब्रह्मास्मि (बृ० उप० १।४।१०); अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः। बृ० उप० (२।५-१९)।**

किये हैं, यथा (१) जीवात्मा अजन्मा है तथा (२) यह श्रुतिवचनों के आधार पर नित्य है (नात्माश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः)। यह पर ब्रह्म किस प्रकार बहुसंख्यक विश्व में फैलता है और विभु रूप में समाहित रहता है, यह एक बड़ा रहस्य है, जिसे हम उदाहरणों से समझा सकते हैं। कुछ ऐसे वचनों को, जिनमें जीवात्माओं की सृष्टि एवं प्रलय का उल्लेख-सा प्रतीत होता है, हम उन उपाधियों की ओर इंगित करते हुए समझ सकते हैं जिनसे आत्मा प्रभावित हो जाता है। मैत्रेयी को समझाते हुए याज्ञवल्क्य ने अन्तिम निष्कर्ष निकाला है और इस प्रकार का उत्तर दिया है—'यह आत्मा अविनाशी एवं अक्षय है, किन्तु (जब कोई मृत्यु की बात करता है तो उसका तात्पर्य यह है कि) आत्मा का भौतिक पदार्थों से कोई सम्बन्ध नहीं होता।'[२७] यही बात शान्तिपर्व (१८०।२६-२८=१८७।२७-२९, चित्रशाला संस्करण) एवं गीता (२।२०, २१, २४, २५) में भी कही गयी है।[२८]

केवल थोड़े ही लोग सर्वोच्च आध्यात्मिक दृष्टिकोण को समझ सकते हैं। कोटि-कोटि लोगों के लिए प्रयोग-सिद्ध दृष्टिकोण ही बच रहता है, और उन्हीं के लिए उपनिषद्-वचन दैहिक-ईश्वर, क्रिया-संस्कार एवं यज्ञों की व्यवस्था देते हैं; ऐसे लोग प्रकाश की सीढ़ी के प्रथम चरण पर ही अवस्थित हैं और ईश्वर के विषय में अल्पांश ही जानते हैं; उपरि-वर्णित लोगों की अपेक्षा थोड़े से अन्य लोग हैं, जो ईश्वर की पूजा करते है, उसे खोजते हैं और अन्त में इसकी अनुभूति करते हैं कि ईश्वर अन्तःस्थ एवं सर्वोत्तम है; बहुत थोड़े लोगों की एक तीसरी कोटि भी है, जिसमें बड़े-बड़े ऋषि-मुनि, आध्यात्मिक विशिष्ट लोग हैं, यथा शंकराचार्य जैसे विशिष्ट लोग, जो शुद्ध अद्वैतवाद के शिखर पर पहुँच पाते हैं, जो अहंकार का त्याग कर देते हैं, जो पर ब्रह्म से संयुक्त हो जाने की पूर्ण अवस्था में हैं और वे ऐसा नहीं कह सकते और न उन्हें ऐसा कहना ही चाहिए कि जीवात्मा एवं भौतिक संसार अवास्तविक (माया) हैं। बादरायण (वे० सू० २।२।२९, 'वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्') एवं शंकराचार्य दोनों इस बात में एकमत हैं कि सामान्य भौतिक संसार स्वप्नों से पूर्णतया भिन्न है और जाग्रत् अवस्था के प्रभाव में स्थित पदार्थों से पृथक् नहीं है। इस प्रश्न के रहते हुए भी कि क्या **माया** शब्द (वे० सू० ३।२।३ में प्रयुक्त—'मायामात्रं तु. . .) बादरायण द्वारा उसी अर्थ में प्रयुक्त है जिसे शंकराचार्य ने समझा है, ऐसा नहीं कहा जा सकता कि कठोपनिषद् (२।४।२), प्रश्नोपनिषद् (१।१६), छान्दोग्योपनिषद् (८।३।१-२) के वचन तथा बृहदारण्यकोपनिषद् (१।३।२८) की प्रार्थना ('असतो मा सद् गमय. . .') से बड़ी सरलतापूर्वक माया के सिद्धान्त का निर्देश मिल जाता है और वह एक बुद्धियुक्त विकास का द्योतक है। अतः अधिकांश में सभी मनुष्यों के लिए ही उचित है कि वे विश्व को माया न कहें। यदि जीवात्मा एवं संसार अवास्तविक हैं तब तो उस व्यक्ति द्वारा जो मायावाद को स्वीकार नहीं करता, ऐसा तर्क किया जा सकता है कि मायावादी ऐसी शिक्षा दे रहा है कि अवास्तविक आत्मा को अवास्तविक संसार से छुटकारा प्राप्त करना है और प्राप्त करना

२७. अविनाशी वा अरे आत्मानुच्छित्तिधर्मा मात्रासंसर्गस्त्वस्य भवति। बृह० उप० (४।५।१४)। यह शंकराचार्य द्वारा (वे० सू० २।३।१७) उद्धृत है।

२८. न जीवनाशोऽस्ति हि देहभेदे मिथ्यैतदाहुर्मृत इत्यबुद्धाः। जीवस्तु देहान्तरितः प्रयाति दशार्धतैवास्य शरीरभेदः॥ एवं सर्वेषु भूतेषु गूढश्चरति संवृतः। दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया तत्त्वदर्शिभिः॥ तं पूर्वापररात्रेषु युञ्जानः सततं बुधः। लघ्वाहारो विशुद्धात्मा पश्यत्यात्मानमात्मनि॥ शान्ति० (१८०।२६-२,८ १८७। २७-२९, चित्रशाला)। 'दशार्ध' का अर्थ है पाँच एवं दशार्धता का अभिप्राय है 'पञ्चत्व'। 'न जीवनाशोऽस्ति' को मिलाइए छा० उप० (६।११।३)—जीवापेतं... इति (देखिए ऊपर पाद-टिप्पणी २६) तथा कठोपनिषद् (३।१२)।

है उसे जिसे वह मोक्ष कहता है और वह भी ऐसे साधनों द्वारा जो स्वयं अवास्तविक हैं (यथा उपनिषद् का अध्ययन), अतः मोक्ष स्वयं अवास्तविक है। किस प्रकार एक ही सत्ता बहुत हो जाती है और अपने को सतत परिवर्तनशील भौतिक लोक के रूप में अभिव्यक्त करती है, वास्तव में यह एक अव्याख्येय एवं दुर्बोध रहस्य है। किन्तु इससे हम लोग यह कहने का अधिकार नहीं पा जाते कि यह जगत् अवास्तविक या स्वप्न है। बहुत थोड़े से अत्यन्त उच्च दार्शनिक लोग ही ऐसा कह सकते हैं कि जो वास्तविक है वह है एक, परम, केवल एक, अन्य सब कुछ उस केवल का आभास या छाया मात्र है। सामान्य लोग ऐसा कह सकते हैं कि इन दार्शनिकों ने जो व्याख्याएँ उपस्थित की हैं वे उन्हें सन्तोष नहीं दे पातीं और उनकी समझ के बाहर की हैं।

जब इस पर बल देना होता है कि संसार के पीछे क्या सत्ता है, तो उस पर ब्रह्म का उल्लेख किया जाता है। किन्तु जब उस एक सत्ता का अन्य आत्माओं एवं भौतिक संसार के सम्बन्ध में उल्लेख किया जाता है तो दैहिक ईश्वर की चर्चा हो उठती है। जब वेदान्तसूत्र (२।१।१४) यह कहता है कि यह लोक ब्रह्म से अन्वित (पृथक् नहीं) है, तो इसका तात्पर्य यह नहीं है कि दोनों अभिन्न हैं; प्रत्युत उसका अर्थ यह है कि आत्माओं एवं लोक ब्रह्म से पूर्णतया भिन्न नहीं हैं। जब ऐसा कहा जाता है कि ब्रह्म की अनुभूति से मोक्ष की प्राप्ति होती है तो लोक के नाश का प्रश्न नहीं उठता, प्रत्युत बात यह है कि उस विषय में जो मिथ्या भावना या झुकाव है, वह दूर हो गया है या किसी सत्य भावना द्वारा हटा दिया गया है। यह परिमित (सीमित या नियत) संसार किस प्रकार अपरिमित या असीम से उत्पन्न होता है, यह एक रहस्य है, जिसके लिए शंकराचार्य 'माया' शब्द का प्रयोग करते हैं। किन्तु वे इस विषय में असंदिग्ध हैं कि जब तक व्यक्ति एक आत्मा की अनुभूति करता है, सभी धार्मिक एवं सांसारिक जीवन-गतियाँ (वास्तविक या अवास्तविक) बिना किसी बाधा के चलती रहती हैं। शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित माया का सिद्धान्त वेदान्त के उन तत्त्वों में एक है जिन्हें लोगों ने अत्यन्त मिथ्यापूर्ण ढंग से समझा है। यह नहीं भूलना चाहिए कि बहुत से दार्शनिक रुचि वाले हिन्दू इस सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं करते कि यह जगत् मिथ्या है; अद्वैतवादी लोग जो कुछ कहते हैं वह यही है कि संसार वैसा वास्तविक नहीं है जैसा ब्रह्म है। शंकराचार्य ने अपनी स्थिति व्यक्त की है (वे० सू० २।१।१४)। उनका कहना है कि अपने विभिन्न अन्तर्भेदों के साथ यह संसार दीखता है, किन्तु इसका कोई अन्य आधार होना चाहिए, जहाँ यह अवस्थित हो सके; वही कोई अन्य आधार **पर ब्रह्म** है। दोनों का सम्बन्ध अव्याख्येय (जिसकी व्याख्या न की जा सके) है, इसीसे इसे **माया** कहते हैं। इस रीति से शंकराचार्य निरीश्वरवादी भी कहे जाते हैं, जब कि अन्य धार्मिक दार्शनिक विश्व एवं परमात्मा के सम्बन्ध में सामान्य रूप से मान्य एवं तार्किक सिद्धान्त को रखने में सिद्धान्तों की अयथार्थता या अपनी असहायता को स्वीकार करने को सन्नद्ध नहीं होते।

इसे नहीं विस्मृत करना चाहिए कि हमारे शास्त्रों के अनुसार मानव-जीवन के चार ध्येय (**पुरुषार्थ**) हैं—**धर्म** (जो उचित या ठीक हो उसी को करने का नैतिक जीवन), **अर्थ** (सम्पत्ति एकत्र करने का जीवन या न्याय पर आधृत आर्थिक जीवन), **काम** (निर्दोष आनन्दों एवं उचित कामनाओं के उपभोग का जीवन) एवं **मोक्ष** (मुक्ति)। यह अन्तिम ध्येय (लक्ष्य) सर्वोत्तम है और यह बहुत ही थोड़े लोगों द्वारा प्राप्त किया जाता है। इसे **परम पुरुषार्थ** कहा जाता है। ऋग्वेद (१।८९।८) में भी ऋषि ने शारीरिक स्वास्थ्य, सुख एवं शत वर्षों के जीवन के लिए प्रार्थना की है—'हे देवगण, हम लोग कल्याण (भद्र) के शब्दों को सुनने के योग्य हों (अर्थात् हम लोग मृत्यु तक बहरेपन से ग्रसित न हों), अपनी आँखों से सुन्दर दृश्यों को देखते रहें,

तुम्हारी स्तुति करने में संलग्न एवं शक्तिशाली अंगों एवं शरीरों को धारण करते हुए हम ईश्वर द्वारा स्थिर किये हुए (लम्बे) जीवन को भोगें (१००, ११६ या १२० वर्ष)।[२९] और भी देखिए ऋ० (७।६६।१६)। मनुस्मृति ने मानव-जीवन के कई ध्येयों की ओर इंगित करने के उपरान्त अन्त में अपना निष्कर्ष उपस्थित किया है (२।२२४); उसके अनुसार सभी मनुष्यों के लिए तीन लक्ष्य (पुरुषार्थ) हैं—धर्म, अर्थ एवं काम; उसने निम्नलिखित शब्दों में समय से पहले ही संन्यास लेने की वृत्ति की भर्त्सना की है (६।३६-३७)—'शास्त्रों में व्यवस्थित वेदों के अध्ययन के उपरान्त, पुत्रों की उत्पत्ति एवं अपनी योग्यता के अनुसार यज्ञों के सम्पादन के उपरान्त व्यक्ति को मोक्ष में मन लगाना चाहिए; यदि व्यक्ति बिना इन कर्तव्यों को किये ही मोक्ष की कामना करता है तो वह नरक में गिरता है।' मनु ने इस बात पर बल दिया है कि व्यक्ति को संसार त्यागने अर्थात् संन्यास लेने के पूर्व अपने कर्तव्यों (तीनों ऋणों को चुकाना) का पालन अवश्य करना चाहिए (जैसा कि तै० सं० (६।३।१०।५) में उल्लिखित है)। स्त्री-पुरुष-सम्बन्धी जीवन तथा अन्य आनन्द जो सदाचार के विरोध में नहीं पड़ते, मनु एवं अन्य शास्त्रों द्वारा गर्हित नहीं ठहराये गये हैं और भगवद्गीता (७।११) में स्वयं भगवान् कृष्ण ने अपने को काम के समान माना है, जो साधुवृत्त अथवा सदाचार के विरोध में नहीं हो। सामान्य मानव-जीवन के तीन लक्ष्यों में कोई भी ऐसी बात नहीं है जो आश्चर्य की उत्पत्ति करे। गीता ने सक्रिय जीवन का गुणगान किया है, और स्वकर्तव्यपालन को पूजा ठहराया है (३।८, १९, २०, २५; ४।१८, १८।६५-६६)। चौथा लक्ष्य (पुरुषार्थ) अर्थात् मोक्ष प्रथम तीनों के विरोध में पड़ता है। जब व्यक्ति अपने कर्तव्यों का पालन कर लेता है तो प्रथम ध्येय उसे मोक्ष प्राप्त करने के योग्य बनाते हैं।

चौथा पुरुषार्थ (ध्येय) अर्थात् मोक्ष केवल थोड़े ही व्यक्तियों द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। उपनिषदों में जो सिद्धान्त प्रतिपादित है वह यह है कि आत्मा (जो प्रत्येक वस्तु में सत्ता रूप में विराजमान है) के विषय में सत्य ज्ञान की तैयारी के रूप में वेदाध्ययन, यज्ञ, दान, तप एवं उपवास आवश्यक हैं (बृ० उप० ४।४।२२)। उपनिषदों में बहुधा ये शब्द "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" (यथा मुण्डकोपनिषद् ३।२।९) आये हैं, जिनसे यह भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए कि केवल ब्रह्म का ज्ञान (ग्रन्थों या गुरु से प्राप्त) ही पर्याप्त है। 'विद्' (जानना) शब्द का प्रयोग हुआ है, किन्तु उपनिषदों ने यह दृढ़तापूर्वक प्रतिपादित किया है कि अनुभूति होने के पूर्व अलिप्तता का जीवन, शान्ति, आत्म-निग्रह आदि का होना आवश्यक है। उदाहरणार्थ, बृ० उप० (४।४।२३) में याज्ञवल्क्य ने जनक से कहा है—"अतः जो इसे जानता है, दुष्कर्म (पाप) उस पर विजय नहीं पाता, वह सभी पापों को जीत लेता है और इस प्रकार पापरहित हो जाता है, रज (कामनाओं) से दूर हो जाता है, संदेहरहित हो जाता है, वह सच्चे अर्थ में (सत्य) ब्राह्मण हो जाता है। यही ब्रह्म-लोक है। हे राजा, तुम उस लोक में पहुँचने योग्य बना दिये गये हो। ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा।" इस उक्ति में तीन अवस्थाओं पर बल दिया गया है, यथा—(१) ब्रह्म के विषय में (एवंविद्) शाब्दिक या मौखिक ज्ञान, (२) व्यक्ति शान्त एवं दान्त आदि हो जाता है, एवं (३) वह परम ब्रह्म से अपनी एवं संसार की अभिन्नता की अनुभूति कर लेता है।

२९. *भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥* ऋ० १।८९।८ = वाज० सं० (२५।२१)।

इसी प्रकार मुण्डकोपनिषद् (१।२।१२-१३)३० में भी व्यवस्था है—'कर्मों द्वारा संगृहीत (उपलब्ध या प्राप्त किये हुए) लोकों की परीक्षा करके ब्राह्मण को इस प्रकार के निर्वेद में आना चाहिए कि क्रियाओं (जो अस्थिर हैं) द्वारा अविनाशी नहीं प्राप्त हो सकता; विशिष्ट रूप से उसको समझने के लिए उसे समिधा लेकर उस गुरु के पास पहुँचना चाहिए जो विद्वान् हो और पूर्णतया ब्रह्म में निवास करता हो; विज्ञ (गुरु) उसी के समक्ष ब्रह्मविद्या का उद्घोष करता है जो इस प्रकार उचित ढंग से (गुरु के पास) आता है, और जिसका मन शान्त है (अर्थात् अहंकार आदि से विचलित नहीं होता)। जिसका मन अब इन्द्रिय-विषयों के पीछे नहीं भागता, उसके द्वारा शिष्य उस अक्षर पुरुष को जानेगा।' यहाँ पर 'परीक्ष्य' शब्द यह प्रदर्शित करता है कि ब्रह्मविद्या की उपलब्धि केवल उसी को हो सकती है जो इन्द्रिय-सुखों से थक चुका हो, अर्थात् जिसमें अब संसार से विराग उत्पन्न हो गया हो। ऐसा आगे कहा गया है (कठोपनिषद् ६।१४ एवं बृह० उप० ४।४।७) कि जब व्यक्ति उन सभी वासनाओं से मुक्त हो जाता है जो मनुष्य के हृदय में चिपकी रहती हैं, तो वह अमर हो जाता है और इसी जीवन में ब्रह्म की उपलब्धि कर लेता है।[३१] और देखिए बृह० उप० (४।४।६) जहाँ उसके बारे में आया है जो कामना नहीं करता, जो कामना न करते हुए सभी कामनाओं से मुक्त है, जो इसकी अनुभूति करता है कि उसे केवल आत्मा की कामना है और इस प्रकार (इस कामना से) सारी कामनाओं की उपलब्धि कर लेता है, जीवनोच्छ्वास अन्य उच्च लोकों (स्वर्ग आदि) की ओर नहीं जाता, क्योंकि वह (वास्तव में) ब्रह्म हो जाने के कारण ब्रह्म में ही लीन हो जाता है कठोपनिषद् (२।२४) में आया है—'जिसने कदाचरण नहीं छोड़ा है, जिसका मन शान्त नहीं है, जो ध्यान नहीं लगाता, वह केवल ज्ञान की सहायता से आत्मा की अनुभूति नहीं कर सकता।'

उपनिषदों के सिद्धान्त के अनुसार ऐसा प्रतीत होता है, व्यक्ति जब सत्कर्म करता है तो उससे जो अच्छे फल प्राप्त होते हैं उन्हें भोगने के लिए वह नये जन्म प्राप्त करता जाता है और इस प्रकार मोक्ष विलम्बित हो जाता है। अतः संन्यासियों का कर्मों एवं फलों से पूर्ण विराग ले लेना आवश्यक माना गया है। जब तक देह जीवित है तब तक उसे सम्पत्ति, सन्तति एवं उच्चतर लोकों की कामनाएँ छोड़नी पड़ती हैं और भिक्षा पर ही निर्भर रहना पड़ता है। संन्यासियों के लिए कोई अन्य आचार-संहिता यहाँ व्यवस्थित नहीं है, अतः यह मानना पड़ेगा कि उपनिषदों ने केवल यही शिक्षा संन्यासियों के लिए उपयुक्त ठहरायी है। अन्य वचनों से भी यही दृष्टिकोण झलकता है। ऐसा आया है कि मुक्त लोग सुकृत (सत्कर्म एवं उनके फल) एवं दुष्कृत (असत्कर्म एवं उनके फल) के ऊपर होते हैं। छान्दोग्योपनिषद् (८।४।१)[३२] में आया है—'यह आत्मा सेतु है जिससे ये लोक

३०. परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन। तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्। तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय। येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्म विद्याम्॥ मुण्डकोप० (१।२।१२-१३); नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः। नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥ कठोप० (२।२४)।

३१. यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥ कठोप० (४।-१४) एवं बृह० उप० (४।४।७)।

३२. अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसम्भेदाय। नैनं सेतुमहोरात्रे तरतो न जरा न मृत्युर्न शोको न सुकृतं न दुष्कृतम्। सर्वे पाप्मानो ऽतो निवर्तन्ते। अपहतपाप्मा ह्येष ब्रह्मलोकः। छा० उप० (८।४।१); स एष विसुकृतो विदुष्कृतो ब्रह्म विद्वान्ब्रह्मैवाभिप्रैति। कौषी० उप० (१।४)।

दूर-दूर पड़ जाते हैं, और एक-दूसरे से व्यामोहित नहीं हो पाते, दिन एवं रात्रि इसके ऊपर नहीं हो पाते (नहीं तैर पाते), और न जरा न मृत्यु, न शोक और न सुकृत एवं दुष्कृत ही (इसके ऊपर हो पाते); सभी दुष्कृत अथवा पापमय कर्म इससे दूर भाग जाते हैं, क्योंकि ब्रह्मलोक सभी पापमय कृत्यों से मुक्त है।' इसी प्रकार कौषीतकि उप० (१।४) में भी आया है—'अच्छे कर्मों एवं बुरे कर्मों से युक्त होने पर यह ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म की ओर बढ़ता है' (ब्रह्म से एक हो जाता है या ब्रह्म में समाहित हो जाता है अथवा ब्रह्मलीन हो जाता है)।

उपर्युक्त वचनों से प्रकट है कि उपनिषदों के अनुसार संन्यासी को केवल जीने के लिए, जब तक शरीर चलता रहता है, छोड़कर सभी प्रकार के कर्मों का पूर्णतया त्याग करना होता है। जाबालोपनिषद् (४ : 'यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्') में आया है—'जिस दिन विराग हो जाय उसी दिन संन्यासी (परिव्राजक, घूमने वाला संन्यासी) हो जाना चाहिए।' इससे प्रकट है कि केवल ज्ञान ही नहीं, प्रत्युत सांसारिक जीवन से विराग हो जाना भी संन्यास ग्रहण के लिए आवश्यक है। और देखिए कठोपनिषद् (२।२४)। प्रश्नोपनिषद् (१।१६) में दृढ़तापूर्वक कहा गया है कि 'केवल उन्हीं के पास ब्रह्म का पवित्र लोक आता है, जिनमें वक्रता नहीं होती, झूठ नहीं होती और माया या द्वैधीभाव नहीं होता।'[३३] उपनिषदें कभी-कभी कहती हैं कि 'जो ब्रह्म को जानता है वह स्वयं ब्रह्म हो जाता है' (मुण्डकोप० २।३।६), किन्तु वे ही पुनः कहती हैं (मुण्डकोप० १।२।१२-१३) कि ब्रह्मज्ञान के अतिरिक्त महान् नैतिक एवं आत्मिक उपलब्धियाँ आवश्यक हैं।

संस्कृत-साहित्य में मोक्ष के लिए कतिपय शब्दों का प्रयोग हुआ है। अमरकोश ने **मुक्ति, कैवल्य, निर्वाण, श्रेयस्, निःश्रेयस्, अमृत, मोक्ष** एवं **अपवर्ग** को एक दूसरे का पर्याय माना है। उपनिषद् एवं गीता ने बहुधा मुक्ति, मोक्ष एवं अमृत (या अमृतत्व) का प्रयोग किया है। कई दृष्टिकोणों से उन्होंने मोक्ष की अवस्था का उल्लेख किया है। मानव में वासनाओं के प्रति गम्भीर पिपासा एवं तृष्णा होती है और वह जन्मों एवं मरणों के चक्र में पिसता रहता है, अतः जब आत्मा इन सबसे छुटकारा पा लेता है और ब्रह्म की अनुभूति कर लेता है तो ऐसा कहा जाता है कि यह अमर हो गया है या इसने अमरता प्राप्त कर ली है। देखिए बृ० उप० (६।४।७ एवं १४, ५।१५-१७, 'विद्ययामृतमश्नुते') छा० उप० (२।२३।२, जो ब्रह्मज्ञान को भली भाँति जानता है वह अमरता प्राप्त करता है), कठोप० (६।२ एवं ६), श्वे० उप० (४।१७ एवं २०, ३।१, १०,१३), गीता (१२।१३, १४।२०)। 'मुक्ति' एवं 'मोक्ष' दोनों 'मुच्' (स्वतन्त्र हो जाना) धातु से निकले हैं और मुच् के क्रियारूप बहुधा 'अमरता' के साथ प्रयुक्त होते हैं, यथा—कठोप० (६।८, यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति एवं १४), बृ० उप० (४।४।७), श्वे० उप० (१।८ एवं ४।१६, ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः)। **'मोक्ष'** शब्द का प्रयोग श्वे० उप० (४।१६) एवं गीता (५।२८, ७।२९, १८।३०) में हुआ है। निःश्रेयस (मोक्ष, इससे बढ़कर अन्य कुछ नहीं) का प्रयोग कौषीतकि उप० (३।२), गीता (५।२) में हुआ है। **श्रेयस्** शब्द का अर्थ है 'उससे अपेक्षाकृत अच्छा' और इसका प्रयोग उपनिषदों (तै० उप० १।११ एवं छा० उप० ४।६।५) एवं गीता (२।७,३१, ३।३५, १८।४७ आदि) में हुआ है, किन्तु कठोपनिषद् (२।१ एवं २ 'श्रेयस्' जिसका प्रतिलोम है 'प्रेयस्' अर्थात् आनन्द) में इसका अर्थ है 'निःश्रेयस (मुक्ति)।

३३. नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः। नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥ कठोप० (२।२४); तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति। प्रश्नोप० (१।१६)।

पाणिनि (५।४।७७, ने 'निःश्रेयस' शब्द को उन पचीस शब्दों में गिना है जो अनियमित कहे जाते हैं और महाभाष्य ने इसकी व्याख्या की है 'निश्चितं श्रेयः'। **कैवल्य** शब्द का प्रयोग उपनिषदों में नहीं हुआ है, किन्तु 'केवलः' (अर्थात् गुणों से रहित, शुद्ध चेतना के रूप में पृथक्) का प्रयोग श्वे० उप० (४।१८ एवं ६।११—साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च) में हुआ है। **निर्वाण** शब्द गीता (६।१५, वह योगी, जिसने मन पर अधिकार कर लिया है, और सदा योगाभ्यास करता रहता है, मुझमें अवस्थित शान्ति पाता है, वही सर्वोच्च निर्वाण है) में आया है; गीता (२।७२ एवं ५।२४-२५) में 'ब्रह्मनिर्वाणम्' आया है जिसका अर्थ है 'ब्रह्म में परमसुख।' **अपवर्ग** का प्रयोग केवल मैत्री उप० (६।३०) में हुआ है और न्यायदर्शन के प्रथम सूत्र द्वारा यह लक्ष्य के रूप में निर्धारित है।

यह द्रष्टव्य है कि विश्वविद्या, उपनिषदों में या पश्चात्कालीन ग्रन्थों में, भूकेन्द्रीय सिद्धान्त पर आधृत है और इसका अधिकांश में सम्बन्ध है—सामान्य रूप में (बिना किसी विस्तृत उल्लेख के) पृथिवी, तत्त्वों, सूर्य, चन्द्र, ग्रहों एवं नक्षत्रों से।

मनुस्मृति में सृष्टि-सम्बन्धी कई सिद्धान्त हैं। १।५-१६ में **प्रथम सिद्धान्त** पाया जाता है—यह विश्व अन्धकार के रूप में अवस्थित था, अज्ञात था, और था स्पष्ट संकेतों से रहित, तर्कहीन, न जानने योग्य, मानो गम्भीर निद्रा में निमग्न हो। इसके उपरान्त देव स्वयम्भू दुर्निवार शक्तियों के साथ अन्धकार को हटाते हुए तथा महान् तत्त्वों के साथ इन सभी को स्पष्ट करते हुए प्रकट हुए; वे अपनी इच्छा से ही चमक उठे; उन्होंने विभिन्न प्रकार की वस्तुओं को अपने शरीर से उत्पन्न करने की इच्छा से तथा सोचने (सृष्टि करने की भावना करने) के उपरान्त सर्वप्रथम जल की उत्पत्ति की और उसमें अपना बीज लगाया। वह बीज सोने का एक अण्डा (हिरण्यगर्भ) बन गया, जो दीप्ति में सूर्य के समान था, और उस अण्डे में वे ब्रह्मा के रूप में उत्पन्न हुए, जो सम्पूर्ण संसार के पूर्वज रूप में थे। वे नारायण कहे जाते हैं।[३४] क्योंकि जल (बहुवचन में प्रयुक्त) जो नारा (नर की सन्तानें) कहे जाते हैं, उनके निवास का प्रथम स्थल बने। उस प्रथम कारण से, जो अभी व्यक्त नहीं था, जो न तो सत् कहा जा सकता और न असत्, एक पुरुष उत्पन्न हुआ, जिसे लोग ब्रह्मा कहते हैं। उस अण्डे में वह दैवी शक्ति एक वर्ष तक निवास करती रही; उन्होंने उस विषय में सोचने-विचारने के उपरान्त उस अण्डे को दो भागों में विभाजित कर दिया; इन दोनों में से उन्होंने स्वर्ग एवं पृथिवी का निर्माण किया, इन दोनों के बीच में अन्तरिक्ष, आठ दिशाएँ एवं जलों का निवास (अर्थात् समुद्र) बनाया। उन्होंने अपने में से मन को निकाला (बनाया) जो न तो सत् है और न असत्; मन से अहंकार (आत्म-चेतना) एवं

३४. आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः। ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥ मनु (१।१०), शान्तिपर्व (३४२।४० चित्रशाला संस्करण) में इसकी प्रथम अर्धाली है और दूसरी अर्धाली यों है—'अयनं मम तत्पूर्वमतो नारायणो ह्ययम्।' विष्णु पु० (१, ४।५-६), ब्रह्माण्ड पु० (१।५।५-६), कूर्म पु० (१।६।४-५); इमं चोदाहरन्त्यत्र श्लोकं नारायणं प्रति।...आपो नारा...सूनवः। अयनं तस्य ताः पूर्वं..स्मृतः॥ यह स्पष्ट है कि दोनों पुराणों ने किसी एक ग्रन्थ से उधार लिया है, जो सम्भवतः मनुस्मृति ही है। मार्कण्डेय पु० (४४।४-५) में विष्णु पु० के ही श्लोक हैं, यथा—इमं चोदा० एवं आपो...सूनवः। तासु शेते स यस्माच्च तेन नारायणः स्मृतः॥ वराह पु० (२।२५-२६) में विष्णु पु० (१।४।५-६) के समान ही पाया जाता है। ब्रह्म पु० (१।३८-३९) में आया है: 'आपो नारा...सूनवः। अयनं तस्य ता...स्मृतः॥

'महत्-आत्मान्', सभी उत्पन्न वस्तुएँ तीन गुणों के सम्मिलन से बनीं, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ बनीं जो इन्द्रिय-विषयों का प्रत्यक्षीकरण करती हैं। उन्होंने ६ (अहंकार एवं पाँच तन्मात्राओं) के सूक्ष्म भागों को मिलाकर और अपने अंशों के सम्मिश्रण से सभी जीवों को बनाया, पाँच तत्त्व सभी जीवों के ढाँचे के निर्माता में प्रवेश कर गये। इस सिद्धान्त में ऋ० (१०।१२६ के विशेषतः १-३ मन्त्र), शत० ब्रा० (११।१।६।१) एवं छान्दोग्योप० (३।१६।१-२, हिरण्यगर्भ के विषय वाली) एवं सांख्य सिद्धान्त की (तत्त्व एवं गुण, यद्यपि महत्, अहंकार एवं पंच तत्त्वों के क्रम में समानता नहीं है) बातों का समावेश है। मनुस्मृति के १।२१ में ऐसा आया है कि हिरण्यगर्भ ने सृष्टि के आरम्भ में वेद के शब्दों द्वारा सभी रचित जीवों को नाम दिये तथा उनकी विशिष्ट क्रियाएँ एवं अवस्थाएँ (परिस्थितियाँ) निर्धारित कीं। इस विषय में मनुस्मृति ने एक श्रुति वचन का अनुसरण किया है, यथा ऋ० ६।६२।१, जिसे शंकराचार्य ने (वे० सू० १।३।२८) उद्धृत किया है।

सृष्टि-सम्बन्धी दूसरा सिद्धान्त मनुस्मृति (१।३२-४१) में यों आया है—ब्रह्मा ने अपने शरीर को दो भागों में विभाजित किया, एक अर्धांश पुरुष के रूप में और दूसरा नारी के रूप में। नारी के रूप से उन्होंने विराट् की सृष्टि की, जिसने तप किया और एक पुरुष उत्पन्न किया जो स्वयं मनु (जिसने मनुस्मृति का उद्घोष किया है) था। मनु ने सृष्टि की कामना से जीवों की सृष्टि की, सर्वप्रथम उन्होंने, दस ऋषियों को प्रजापतियों के रूप में बनाया जिन्होंने सात ऋषियों, देवों, देवों की कोटियों, महान् ऋषियों, यक्षों, राक्षसों, गन्धर्वों, अप्सराओं, सर्पों, पक्षियों, पितरों की श्रेणियों (वर्गों), बिजली, मेघों, बड़े-छोटे नक्षत्रों, बन्दरों, मछलियों, हरिणों, गायों, मनुष्यों, सिंहों, कीटों, मक्षिकाओं, अचल पदार्थों आदि की रचना की। यह वर्णन ऋ० के पुरुषसूक्त (ऋ० १०।-९०) से, विशेषतः ५ एवं ८-१० ऋचाओं से प्रभावित है।

सृष्टि-सम्बन्धी तीसरा सिद्धान्त मनुस्मृति (१।७४-७८) में संक्षिप्त रूप से आया है। निद्रा से जागने पर ब्रह्मा ने अपने मन को रचा (अर्थात् नियुक्त किया), जिसने ब्रह्मा से प्रेरित होकर आकाश बनाया, जिसका विलक्षण गुण है स्वर। उस आकाश ने अपने को परिमार्जित करके वायु की रचना की जिसका गुण है स्पर्श। वायु से देदीप्यमान (भास्वत्) प्रकाश का उदय हुआ, जिससे जल की उत्पत्ति हुई। जल से पृथिवी की उत्पत्ति हुई जिसका विशिष्ट गुण है गन्ध। यह सिद्धान्त सांख्य सिद्धान्त का परिमार्जन है, जिसके अनुसार (सांख्यकारिका २५) पाँच तत्त्व अहंकार से उद्भूत होते हैं। यहाँ ब्रह्मा (जिनका सांख्य सिद्धान्त में कोई स्थान नहीं है) को बैठा दिया गया है। एक ही विषय पर मनुस्मृति ने कई विरोधी मत प्रतिपादित किये हैं। उदाहरणार्थ मिलाइए मांस-प्रयोग पर मनु (५।२७-४६) एवं मनु (५।४८-५६); मनु (३।१३) एवं मनु (३।१४-१९) जहाँ ब्राह्मण द्वारा शूद्र नारी से विवाह की बात की ओर इंगित है, मनु (९।५९-६२) एवं मनु (९।६४-६८) जहाँ पर नियोग-प्रथा की चर्चा है।

महाभारत में (विशेषतः शान्तिपर्व में) सृष्टि-सम्बन्धी बातों का बहुधा उल्लेख हुआ है। यहाँ पर सभी बातें नहीं दी जा सकतीं। कुछ का उल्लेख हो रहा है। शान्तिपर्व (१७५।११-२१ = १८२।११-२१, चित्रशाला संस्करण) में आया है कि अव्यक्त से सभी जीवों का जन्म हुआ। उन्होंने सर्वप्रथम 'महान्' (जिसे आकाश भी कहा जाता है) की रचना की, आकाश से जल उत्पन्न हुआ, जल से अग्नि एवं वायु की उत्पत्ति हुई, इन दोनों के मिश्रण से, पृथिवी बनी। तब स्वयम्भू ने एक कमल बनाया, जिससे ब्रह्मा उदित हुए, जिन्हें अहंकार कहा जाता है और उन्होंने सम्पूर्ण विश्व को रचा। अध्याय १७६ (चित्रशाला का १८३) में आया है कि ब्रह्मा ने सर्वप्रथम जल बनाया, जल से वायु उठी, जल एवं वायु के मिश्रण से अग्नि की उत्पत्ति हुई और अग्नि, वायु एवं आकाश के सम्मिलन से पृथिवी बनी। अध्याय १७७ (१८४, चित्रशाला संस्करण) में व्याख्या है कि महाभूत (महान् तत्त्व)

पाँच हैं, यथा—**वायु, आकाश, अग्नि, जल** एवं **पृथिवी**; इन्हीं से सभी जीव बने हैं, पाँच इन्द्रियाँ है, ज्ञानेन्द्रियों के पाँच पदार्थ या विषय हैं और पाँच गुण हैं—शब्द, स्पर्श, रूप (रंग), रस (स्वाद) एवं गन्ध; इसके उपरान्त इनके कतिपय उप-भागों का उल्लेख है। अध्याय १७८ (=१८६, चित्रशाला) में पाँच प्राणों एवं उनके कार्य-क्षेत्रों का वर्णन है। अध्याय १७६-१८० (=१८६-१८७, चित्रशाला) में 'जीव' की चर्चा है और अन्त में कहा गया है कि शरीर (देह) नाशवान् है, आत्मा एक देह से दूसरी देह में जाता है और योग द्वारा व्यक्ति परमात्मा में आत्मा को देख सकता है। अध्याय २०० (=२०७ चित्रशाला) में आया है कि पुरुषोत्तम ने पाँच तत्त्व निर्मित किये, वे जलों पर लेट गये, उनकी नाभि से सूर्य के समान देदीप्यमान एक कमल निकला, जिससे ब्रह्मा प्रकट हुए जिन्होंने अपने मन से सात पुत्र उत्पन्न किये, यथा—दक्ष, मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह एवं क्रतु। दक्ष की कई पुत्रियाँ थीं (सबसे बड़ी थी दिति), इन पुत्रियों से दैत्यों, आदित्यों, अन्य देवों, काल एवं इसके भागों, पृथिवी, चार वर्णों, सभी प्रकार के मनुष्यों, आन्ध्रों, पुलिन्दों, शबरों एवं अन्यों की उत्पत्ति दक्षिणापथ में तथा उत्तरापथ में योनों (यवनों), काम्बोजों, गान्धारों, किरातों, बर्बरों आदि की उत्पत्ति हुई। अध्याय २२४ (२३१ चित्र०) में कहा गया है कि आरम्भ में ब्रह्म था, जो अनादि एवं अनन्त है तथा बोधगम्य नहीं है और वह निमेष से लेकर युगों तक एवं उनकी विशेषताओं तक काल का विभाजन करने वाला है। यहीं पर वे श्लोक आते हैं जो मनुस्मृति (१।६५-६७, ६६-७०, ७५-७७, ८१-८३, ८५-८६) के समान हैं। यह बताना कठिन है कि किसने किसका अनुकरण किया है, क्योंकि मनुस्मृति (१०।४४) ने भी पौण्ड्रकों, औंड्रों, द्रविड़ों, काम्बोजों, यवनों, शकों, पारदों, पह्लवों, चीनों, किरातों, दरदों एवं खशों का उल्लेख किया है जो मौलिक रूप में क्षत्रियों के उप विभाजन या उपजातियाँ (क्षत्रिय जातयः) थे, किन्तु अब ब्राह्मणों से सभी प्रकार के सम्पर्क टूट जाने तथा धार्मिक संस्कारों (यथा, उपनयन आदि) के बन्द हो जाने के कारण शूद्रों की श्रेणी में परिगणित हो गये हैं। शान्ति० के अध्याय ३११ में सृष्टि का उल्लेख सांख्य के पारिभाषिक शब्दों में हुआ है, केवल ब्रह्मा को रख दिया गया है। **ब्रह्मा** (जो **महान्** कहे गये हैं) हिरण्यगर्भ में उत्पन्न हुए, वे अण्ड के भीतर एक वर्ष तक रहे, इसके उपरान्त उन्होंने अण्ड के दो भागों (स्वर्ग एवं पृथिवी) में अन्तरिक्ष की रचना की, अहंकार से पञ्च तत्त्वों की उत्पत्ति हुई, इसके उपरान्त उनके पाँच गुण उल्लिखित हैं। आश्वमेधिक पर्व (अध्याय ४०-४२) शान्ति० (अध्याय ३११) के समान है और उसमें सृष्टि-क्रम यों है—अव्यक्त-महत्-अहंकार-पञ्चतत्त्व। अन्तर केवल यही है कि श्लोक २ में महान् को विष्णु, शम्भु, बुद्धि के नाम से कहा गया है और बहुत से उनके पर्यायवाची शब्द आ गये हैं।

याज्ञवल्क्यस्मृति (३।६७-७०) में ऐसा उल्लिखित है कि एक आत्मा से बहुत-से आत्मा उसी प्रकार निकलते हैं जिस प्रकार एक प्रज्वलित लौहपिण्ड से स्फुलिंग फूटते हैं और अजन्मा एवं अविनाशी आत्मा देह के सम्पर्क में आने पर ही जन्म लेता है। सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा पञ्च तत्त्वों की रचना करता है, यथा—आकाश, वायु, तेज, जल एवं पृथिवी, जिनमें आगे आने वाला प्रत्येक तत्त्व गुणों का आधिक्य ग्रहण करता जाता है, (परमात्मा) जब जीवात्मा के रूप में प्रकट होता है तो वह (अपने शरीर के लिए) ये ही तत्त्व ग्रहण करता है। इसके उपरान्त स्मृति गर्भाधान, भ्रूण आदि का उल्लेख करती है, मानव-शरीर में स्थित अस्थियों, स्नायुओं, मांसपेशियों की संख्या बताती है और घोषित करती है कि सम्पूर्ण विश्व परमात्मा से ही प्रकट होता है तथा जीवात्मा तत्त्वों से ही प्रकट होता है (अर्थात् उसका शरीर इन्हीं तत्त्वों से बना हुआ है)। आत्मा अनादि है, अजन्मा है, किन्तु यह शरीर के घनिष्ठ संपर्क में आता है जो असत्य भावनाओं, तृष्णाओं एवं द्वेषों से प्रभावित कर्मों के कारण है (३।१२५)। कतिपय रूप धारण करने वाले मूल तत्त्व परमात्मा के कतिपय भागों (मुख, बाहुओं, जाँघों, पाँवों आदि) से क्रम से चारों वर्णों, पृथिवी, स्वर्ग, प्राणों, दिशाओं, वायु, अग्नि, चन्द्र (मन से), सूर्य (उसकी आँखों से), आकाश तथा

सम्पूर्ण चल एवं अचल विश्व की उत्पत्ति होती है (३।१२६-१२८)। यहाँ पर पुरुषसूक्त (ऋ० १०।९०।१ एवं १२-१४) का पूर्ण अनुसरण है।

पुराणों ने विश्व-विद्या एवं विश्व-विवरण-सम्बन्धी सिद्धान्तों के विषय में सहस्रों श्लोकों की रचना की है। यहाँ हम बहुत संक्षेप में कतिपय अति प्राचीन पुराणों, यथा—मत्स्य, वायु, ब्रह्माण्ड, विष्णु एवं मार्कण्डेय से विवरण उपस्थित करेंगे। पुराणों में पाँच विषयों पर चर्चा होती है, यथा—**सर्ग** (सृष्टि), **प्रतिसर्ग** (पुनः सृष्टि एवं प्रलय), **वंश** (राजकुलों का उल्लेख), **मन्वन्तर** (काल की विशद अवधियाँ) तथा **वंशानुचरित** (सूर्य, चन्द्रवंशी तथा अन्य वंशी कुलों का इतिहास)। इस प्रकार बहुत से पुराण विशद रूप में सृष्टि का उल्लेख करते हैं। यहाँ हम थोड़े-से अति प्रसिद्ध एवं विलक्षण सिद्धान्तों एवं वचनों का उल्लेख कर सकेंगे।

मत्स्यपुराण ने सृष्टि के विषय में मनुस्मृति के सदृश ही उल्लेख किया है और उसके बहुत-से श्लोक सर्वथा अनुरूप हैं या वही हैं। मत्स्य० (२।२७) में आया है—आरम्भ में सर्वप्रथम नारायण ही प्रकट हुए और विविध रूपी विश्व के निर्माण की कामना रखने के कारण उन्होंने अपने शरीर से जलों की उत्पत्ति की, उनमें बीज डाला और एक सोने का अण्डा प्रकट हुआ; उस अण्डे के भीतर सूर्य प्रकट हुआ जो सूर्य एवं ब्रह्मा कहलाया उसने उस अण्डे के दो भागों को स्वर्ग एवं पृथिवी के रूपों में परिणत किया और उन दोनों के बीच सभी दिशाएँ बनायीं तथा आकाश बनाया। इसके उपरान्त मेरु एवं अन्य पर्वतों तथा सात समुद्रों (लवण, ईख के रस आदि वाले समुद्रों) का निर्माण हुआ। नारायण प्रजापति बन गये, जिन्होंने देवों एवं असुरों सहित यह विश्व बनाया[4]। मत्स्य० के तृतीय अध्याय ने वेदों, पुराणों एवं विद्याओं को उनके अधरों से निकला हुआ कहा है और कहा है कि उन्होंने अपने मन से मरीचि, अत्रि आदि दस ऋषि उत्पन्न किये (३।५-८)। इसके उपरान्त मत्स्य० ने सांख्य सिद्धान्त-सम्बन्धी विश्व-रचना का उल्लेख किया है (३।१४-२९) और उसमें आया है: गुण तीन हैं, यथा—**सत्त्व**, **रज** एवं **तम** और उनके सन्तुलन की स्थिति **प्रकृति** कहलाती है, जिसे कुछ लोग **प्रधान** कहते हैं, अन्य लोग **अव्यक्त** कहते हैं यह प्रधान सृष्टि करता है। तीन गुणों से ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश्वर प्रकट हुए। प्रधान से **महान्** का उदय हुआ, महान् से **अहंकार** की उत्पत्ति हुई और तब **पाँच ज्ञानेन्द्रियों** एवं **पाँच कर्मेन्द्रियों** की उद्भूति हुई और मन एक ग्यारहवीं इन्द्रिय बना और **पाँच तन्मात्राएं** (सूक्ष्म तत्त्व) बनीं। **आकाश** की उत्पत्ति शब्द नामक तन्मात्रा से हुई, आकाश से **वायु**, वायु से **तेज** तथा तेज से **जल** की उत्पत्ति हुई, और जल से **पृथिवी** बनी और पुरुष २५वाँ तत्व है। इसके उपरान्त मत्स्य० (३।३०-४४) एक विलक्षण गाथा कहता है कि ब्रह्मा ने अपने में से एक स्त्री (शतरूपा, सावित्री, सरस्वती, गायत्री या ब्रह्माणी नाम से पुकारी जाने वाली) की रचना की, और उससे मोहित हो गये और एक लम्बे समय के उपरान्त उससे एक पुत्र प्राप्त किया जिसका नाम था मनु (स्वायम्भुव नामक), एक अन्य पुत्र भी हुआ, जिसका नाम था विराट्। इसके उपरान्त ब्रह्मा ने अपने पुत्रों से लोगों को उत्पन्न करने के लिए कहा। मत्स्य० ने अध्याय ४ में कहा है कि ब्रह्मा को शतरूपा से सात पुत्र उत्पन्न हुए, यथा मरीचि आदि (श्लोक २५-२६, जो ३।५-८ के विरोध में आ जाते हैं); उसने स्वायम्भुव मनु के दो पुत्रों तथा उनके वंशजों का उल्लेख किया है। पाँचवें अध्याय के उपरान्त कुछ अध्याय दक्ष, कश्यप, दिति के वंशजों की तथा पृथु के राज्याभिषेक, सूर्य एवं चन्द्र के कुलों तथा पितरों के विभिन्न वर्गों की चर्चा करते हैं।

वायुपुराण ने सृष्टि-विषयक बातों पर पाँच अध्याय (४-९) लिखे हैं, जिनमें ६०० से अधिक श्लोक हैं। अध्याय ४ (श्लोक २२-६१) में सांख्य सिद्धान्त के अनुसार प्रधान, महत्, अहंकार, तन्मात्रा का उल्लेख है और उसके साथ हिरण्यगर्भ सिद्धान्त जोड़ दिया गया है (श्लोक ६६ तथा आगे)। अध्याय ६ में लगता है

पुरुषसूक्त (ऋ० १०।९०।१-२) की ओर इंगित है (श्लोक २-३); उसमें ऐसी व्याख्या है कि नारायण का नाम इसलिए पड़ा है कि वे जलों पर लेटते हैं; इसमें कूर्म अवतार की ओर संकेत है, सृष्टि के नौ प्रकारों का उल्लेख है। इसमें एक नया सिद्धान्त यह आया है कि ब्रह्मा ने आरम्भ में मनु से उत्पन्न पुत्रों तथा सनन्दन एवं सनक की रचना की (६।६५)। अध्याय ७ में फिर से हुई सृष्टि की ओर संकेत है। अध्याय ८ में (जिसमें १९८ श्लोक हैं) युगों, उनकी अवधियों, ८ देवयोनियों, पशुओं, मात्राओं (छन्दों) आदि तथा ब्रह्मा के विभिन्न पुत्रों की चर्चा है।

ब्रह्माण्डपुराण (१ के अध्याय ३-५) में हिरण्यगर्भ के प्रकट होने तथा विभिन्न प्रकार की सृष्टियों (रचनाओं) का उल्लेख है। चौथे अध्याय में **प्रधाना**, एवं **गुणों** का उल्लेख है और ऐसा आया है कि प्रधान में पाये जाने वाले गुणों के असमान मिश्रण से सृष्टि होती है। उसमें ब्रह्मा के मनस पुत्रों का भी उल्लेख है। इस पुराण के अनुषंगपाद (द्वितीय परिच्छेद) के अध्याय ८ एवं ११ में देवों, पितरों, मनुष्यों एवं महान् ऋषियों, भृगु आदि की सृष्टि की चर्चा है।

ब्रह्मपुराण के प्रथम तीन अध्याय (जिनमें लगभग २४० श्लोक हैं) सृष्टि का उल्लेख करते हैं। प्रथम अध्याय (श्लोक ३४ तथा इसके आगे के श्लोक) में ब्रह्मा को भूतों का स्रष्टा एवं नारायण का भक्त कहा गया है, इसमें आगे आया है कि **महत्** से **अहंकार** का उदय हुआ और अहंकार से **पाँच तत्त्वों** की उत्पत्ति हुई। मत्स्यपु० के समान ब्रह्मपु० (१।३७-४१) भी मनु (१।५-१३) का अनुसरण करता है। इसमें मरीचि, अत्रि आदि सप्तर्षियों की जो सप्त 'ब्राह्मणः' थे, उत्पत्ति का उल्लेख है तथा साध्यों, देवों, ऋग्वेद एवं अन्य वेदों, पक्षियों एवं सभी प्रकार के जीवों की सृष्टि की भी चर्चा है। इसमें (१।५३) आया है कि विष्णु ने विराज की सृष्टि की, जिसने **पुरुष** की रचना की (यह पुरुषसूक्त, ऋ० १०।९०।५ पर आधृत है) और पुरुष ने लोगों को उत्पन्न किया। अध्याय २ में आया है कि पुरुष ने शतरूपा से विवाह किया, इस पुरुष को स्वायंभुव मनु कहा जाता है। पुरुष (स्वायम्भुव मनु) एवं शतरूपा को वीर नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। वीर के दो पुत्र थे—प्रियव्रत एवं उत्तानपाद। इसके उपरान्त इनके वंशजों का उल्लेख है, जिनमें दक्ष की ५० पुत्रियाँ थीं, जिनमें १० धर्म को, १३ कश्यप को एवं २७ (नक्षत्र) राजा सोम को ब्याही गयीं। तीसरे अध्याय में देवों एवं असुरों की रचना का उल्लेख है।

विष्णुपुराण के प्रथम **अंश** के अध्याय २,४,६,एवं ७ में सृष्टि के कई प्रकारों का उल्लेख है। अध्याय २ का आरम्भ विष्णु से होता है और ऐसा आया है कि **प्रधान** एवं **पुरुष** उसके रूप हैं और श्लोक ३४-५० में सांख्य सिद्धान्त की सविस्तार चर्चा है और श्लोक ५४ में **महत्** एवं अन्य तत्त्वों द्वारा हिरण्यगर्भ (सोने का अण्डा) की रचना का उल्लेख है। अध्याय ३ में आया है कि किस प्रकार ब्रह्म ने, जो गुणरहित है, बोधगम्य नहीं है, शुद्ध है, निष्कलंक है, सृष्टि की, और इसका उत्तर दिया हुआ है कि सभी पदार्थों में कुछ स्वाभाविक शक्तियाँ हैं, जो बोधगम्य नहीं हैं, अतः ब्रह्म में विश्व की सृष्टि करने की शक्ति है। अध्याय ५ में नौ प्रकार की सृष्टियों, यथा—महत्, तन्मात्राओं, भूतों (तत्त्वों), वैकारिक (अर्थात् ऐन्द्रियक), मुख्य (अर्थात् अचल पदार्थ), निम्नश्रेणी के पशुओं, ऊर्ध्वरेतों (दैवी जीवों), मानवों, कुमारों (अर्थात् सनत्कुमार आदि) का उल्लेख है।

मार्कण्डेयपुराण के अध्याय ४२ में प्रधान, महत्, अहंकार, तन्मात्राओं की सृष्टि का उल्लेख है, किन्तु ब्रह्मा द्वारा ही इनकी सृष्टि कही गयी है। अध्याय ४४ में विष्णुपु० की भाँति ९ सृष्टियों की चर्चा है। अध्याय

४५,४६ एवं ४७ में देवों, पितरों, मानवों, चार वर्णों, पशुओं, पक्षियों, वृक्षों, गुल्मों आदि की रचना का वर्णन है। इसमें अन्य पुराणों के वचन उद्धृत हैं, जिन्हें स्थानाभाव से नहीं दिया जा रहा है।[३५]

उपनिषदों में भौगोलिक बातें बहुत कम हैं और वे हिमालय एवं विन्ध्य के मध्य के भूमिक्षेत्र से ही सम्बन्धित हैं (कौषीतक्युपनिषद् २।१३ ने दो पर्वतों का, जो उत्तर एवं दक्षिण में हैं, उल्लेख किया है, बृह० उप० १।१।१-२ ने पूर्वी एवं पश्चिमी समुद्रों की ओर इंगित किया है, ऐसा प्रतीत होता है)। सुन्दर एवं भव्य अश्व सिन्धु देश से लाये जाते थे (बृ० उप० ६।१।१३), गान्धार देश (छा० उप० ६।१४।२) का सम्भवतः पता था और वह उपनिषद् के प्रणयन-स्थल से कुछ दूरी पर था। मद्र देश का उल्लेख बृ० उप० (३।३।१७ एवं ३।७।१) में हुआ है। विदेह के राजा जनक थे, जिनकी राजसभा में कुरु, पञ्चाल से ब्राह्मण आते थे और याज्ञवल्क्य से शास्त्रार्थ करते थे (बृह० उप० ३।१।१)। काशी (वाराणसी) के राजा अजातशत्रु ने बालाकि गार्ग्य का गर्व चूर कर दिया (बृह० उप० २।१।१ एवं कौषीतकि उप० ४।१।१)। कौषीतकि उप० (४।१।१) ने तो वश, उशीनर, कुरु, पञ्चाल एवं विदेह का उल्लेख किया है। कुरु का उल्लेख छा० उप० (१।१०।१, ४।१७।१०) में हुआ है। पञ्चाल की चर्चा भी छा० उप० (५।३।१) एवं बृ० उप० (६।२।१) में हुई है। केकय (सुदूर उत्तर-पश्चिम) के राजा अश्वपति ने ब्राह्मणों को वैश्वानर-विद्या का ज्ञान दिया।

पुराणों ने जगत् का विवरण विशद रूप से दिया है[३६], अर्थात् उनमें द्वीपों (पृथिवी के भागों), वर्षों, पर्वतों, समुद्रों, नदियों, उनके पास के देशों एवं उनके विस्तार, सूर्य, चन्द्र एवं नक्षत्रों की गतियों, युगों, मन्वन्तरों एवं कल्पों का उल्लेख पाया जाता है।[३७] धर्मशास्त्र-ग्रन्थों ने इस विषय में पुराणों का आधार

३५. बहुत-से पुराणों ने एक ही प्रकार के श्लोक दिये हैं। उदाहरणस्वरूप थोड़े-से श्लोक यहाँ दिये जा रहे हैं—अव्यक्तं कारणं यत्तत्प्रधानमृषिसत्तमैः। प्रोच्यते प्रकृतिः सूक्ष्मा नित्यं सदसदात्मकम्॥... त्रिगुणं तज्जगद्योनिरनादिप्रभवाप्ययम्।...वेदवादविदो विद्वन्नियता ब्रह्मवादिनः। पठन्ति चैतमेवार्थं प्रधानप्रतिपादकम्॥ नाहो न रात्रिर्न नभो न भूमिर्नासीत्तमो ज्योतिरभूच्च नान्यत्। श्रोत्रादिबुद्ध्यानुपलभ्यमेकं प्राधानिकं ब्रह्म पुमांस्तदासीत्॥ विष्णोः स्वरूपात्परतोदिते द्वे रूपे प्रधानं पुरुषश्च विप्र। विष्णु पु० (१।२।१९, २१-२४); ब्रह्माण्ड पु० (१।३।१-९) 'अव्यक्तकारणं... दात्मकम्। प्रधानं प्रकृतिं चैव यमाहुस्तत्त्वचिन्तकाः॥; वायु पु० (४।१७) में आया है—'अव्यक्तं कारणं यत्तु नित्यं सदसदात्मकम्। प्रधानं ... तत्त्वचिन्तकाः॥' ब्रह्म पु० (१।३३) में आया है—'अव्यक्तं...त्मकम्। प्रधानं पुरुषस्तस्मान्निर्ममे विश्वमीश्वरः॥ मार्कण्डेय पु०, अध्याय ४२।३६-५२ एवं ५९-६३ सर्वथा विष्णु पु० (१।२।३४-४९, ५१-५५) के समान ही है।

३६. पुराणों में प्राचीन भारत के समय का जो भौगोलिक उल्लेख मिलता है उस पर अत्यन्त पूर्ण एवं क्रमबद्ध ग्रन्थ है श्री डब्लू किर्फेल कृत 'डाई कॉस्मोग्रैफी डर इण्डर' (बॉन, १९२०, पृ० ४०१) जिसमें चित्र भी उपस्थित किये गये हैं। उस ग्रन्थ में पौराणिक बातें पृ० १-१७७ में हैं, बौद्ध पृ० १७८-२०७ में तथा जैन पृ० २०८-२३९ में। इतना ही नहीं, प्रत्युत एक नाम-तालिका भी अनुक्रमणिका (पृ० ३४०-४०१) में दी हुई है।

३७. द्वीपों के विषय में ऋषियों ने सूत से जो प्रश्न किये हैं, वे अधिकांश पुराणों में उल्लिखित हैं—'ऋषयः ऊचुः। कति द्वीपाः समुद्रा वा पर्वता वा कति प्रभो। कियन्ति चैव वर्षाणि तेषु नद्यश्च काः स्मृताः॥

लिया है। जम्बूद्वीप कम-से-कम ई० पू० ३०० में ज्ञात था, जैसा कि अशोक के शिलालेख (रूपनाथ प्रस्तर लेख) से पता चलता है। 'द्वीप' शब्द ऋग्वेद (१।१६९।३ एवं ७।२०।४, 'वि द्वीपानि पापतन्,') में भी आया है। पाणिनि (६।३।९७) ने इसे 'द्वि' एवं 'आप:' से निष्पन्न माना है। हम यहाँ पर केवल संक्षिप्त वर्णन उपस्थित करेंगे। मत्स्यपुराण (११३।४-५) ने कहा है कि सहस्रों द्वीप हैं, किन्तु सबका वर्णन सम्भव नहीं है, अतः केवल सात द्वीपों का वर्णन उपस्थित किया जायगा।[३८] इस पुराण के अध्याय १२१-१२३ में सात द्वीप ये हैं—जम्बूद्वीप, शकद्वीप, कुश, क्रौञ्च, शाल्मलि, गोमेदक एवं पुष्कर, जिनमें प्रत्येक आगे वाला अपने से पीछे वाले से दुगुना है, प्रत्येक समुद्र से आवृत है, प्रत्येक में सात वर्ष, सात प्रमुख पर्वत एवं सात मुख्य नदियाँ हैं। सात द्वीपों को घेरने वाले सात समुद्र क्रम से सब **लवण** (नमकीन) **जल, दुग्ध, घृत** (गला हुआ), दधि, सुरा, ईखरस एवं शुद्ध जल से परिपूर्ण हैं।[३९] विभिन्न पुराणों में नाम-क्रम विभिन्न हैं, यथा विष्णु पु० (२।१।१२-१४, २।२।५) एवं ब्रह्म पु० (१८।११) ने उन्हें प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौञ्च, शक एवं पुष्कर नाम से अभिहित किया है। वायु पु० (३३।११-१४), कूर्म पु० (१।४५।३), मार्कण्डेय पु० (५०।१८-२०) ने इन सातों को उसी क्रम में रखा है।

कल्प, मन्वन्तर, युग से सम्बन्धित पुराण-वृत्तान्त हम इस महाग्रन्थ के खण्ड ३ एवं इस खण्ड (अर्थात् ५) में विस्तारपूर्वक पढ़ चुके हैं। इन विषयों पर पुराणों में सहस्रों श्लोक पाये जाते हैं।

विष्णुपु० (२।२।१३-२४) ने निम्नोक्त वर्ष गिनाये हैं—भारत (सब में प्रथम) किम्पुरुष, हरि, रम्यक, हिरण्मय, उत्तर-कुरु, इलावृत एवं केतुमाल। वामन पु० (१३।२-५) ने भी यही उल्लिखित किया है, किन्तु रम्यक के स्थान पर चम्पक रखा है। विष्णु पु० (२।१।१६-१७) में आया है कि नाभि, किम्पुरुष, हरिवर्ष, इलावृत, रम्य, हिरण्वान्, कुरु, भद्राश्व, केतुमाल नौ राजा थे, जो आग्नीध्र के पुत्र, प्रियव्रत के पौत्र, स्वायम्भुव मनु के प्रपौत्र थे। आग्नीध्र के नौ पुत्रों को दिये गये वर्षों के नाम क्रम से यों हैं—हिमाह्व (अर्थात् भारत), हेमकूट, नैषध, इलावृत, नीलाचल, श्वेत, शृंगवान्, मेरु के पूर्व में एक वर्ष, गन्धमादन। अतः राजाओं

महाभूमिप्रमाणं च लोकालोकस्तथैव च। पर्याप्तिपरिमाणं च गतिश्चन्द्रार्कयोस्तथा॥ एतद् ब्रवीहि नः सर्वं विस्तरेण यथार्थवित्। त्वदुक्तमेतत्सकलं श्रोतुमिच्छामहे वयम्॥ सूत उवाच। द्वीपभेदसहस्राणि सप्त चान्तर्गतानि च। न शक्यन्ते क्रमेणेह वक्तुं वै सकलं जगत्। सप्तैव तु प्रवक्ष्यामि चन्द्रादित्यग्रहैः सह॥ मत्स्य० (११३।१-५), वायु० (१३४।१-३, ६-७), ब्रह्माण्ड० (२।१५।२-३, ५-६), मार्कण्डेय० (५१।१-३)।

३८. द्वीप सामान्यतः सात की संख्या में परिगणित होते रहे हैं, परन्तु कभी-कभी वे १८ भी कहे गये हैं, यथा वायु पु० (१।१५) में—'अष्टादश समुद्रस्य द्वीपानश्नात् पुरूरवाः' तथा कालिदास (रघुवंश ६।३८): 'अष्टादशद्वीप-निखातयूपः।' द्वीप को यहाँ पर 'महाद्वीपों' (कण्टीनेण्ट्स) के अर्थ में न लेकर केवल 'द्वीप' (आइलैण्ड) के ही अर्थ में लेना सम्भव लगता है। पाणिनि (४।३।१०) के 'द्वीपादनुसमुद्रम् यञ्' से पता चलता है कि 'द्वीप समुद्र-तट के पास के आइलैण्ड (द्वीप) के लिए प्रयुक्त हुआ है। देखिए शशिभूषण चौधुरी का लेख 'नाइन द्वीपज आव भारतवर्ष' (इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, जिल्द ५९, पृ० २०४-२०८ एवं २२४-२२६)।

३९. एते द्वीपाः समुद्रैस्तु सप्त सप्तभिरावृताः। लवणेक्षुसुरासर्पिर्दधिदुग्धजलैः समम्॥ विष्णु पु० (२।२।६), ब्रह्मपु० (१८।१२), मार्क० (५१।७), लवणे... दधिक्षीरजलादिभिः। द्विगुणैर्द्विगुणैर्वृद्धया सर्वतः परिवेष्टिताः॥)

के एवं वर्षों के नामों में सन्दिग्धता पायी जाती है। वायुपु० (३०।३८-४०) में पुत्रों के ये ही नाम आये हैं और ३३।४१-४५ में उन्हीं वर्षों का उल्लेख है, केवल भद्राश्व के स्थान पर माल्यवत् नाम आया है।[४०]

वायुपुराण (४५।७५-८१) में ऐसा आया है कि भारतवर्ष समुद्र के उत्तर और हिमालय के दक्षिण में है और मनु को भरत कहा गया क्योंकि उन्होंने अपनी प्रजा अर्थात् या लोक का भरण किया और इसी से इस वर्ष को भारत कहा गया। यही बात ब्रह्माण्डपु० (२।१६।७) में भी है। वायुपु० ने स्वयं विरोधी बात लिखी है (३३।५०-५२) कि नाभि का पुत्र ऋषभ था, जिसका पुत्र था भरत, जिसके नाम पर भारतवर्ष नाम पड़ा। यही बात ब्रह्माण्डपु० (२।१४।६०-६२) में भी है। वायुपु० (९९।१३४) में यह भी आया है कि दुष्यन्त एवं शकुन्तला से भरत उत्पन्न हुए और उनके नाम पर भारत पड़ा।[४१] भारत-

४०. उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्। वर्षं तद्भारतं नाम भारती यत्र संततिः॥ नवयोजनसाहस्रो विस्तारश्च द्विजोत्तमाः। कर्मभूमिरियं स्वर्गमपवर्गं च गच्छताम्॥ महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमानृक्षपर्वतः। विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तात्र कुलपर्वताः॥ विष्णुपु० (२।३।१-३), ब्रह्मपु० (१९।१-३); देखिए अग्नि० (११८। १-३, जहाँ ऋक्षपर्वत के स्थान पर हेमपर्वत आया है), मार्कण्डेयपु० (५४।१०-११), ब्रह्माण्ड० (२।१६-५ एवं १८-१९)। यह द्रष्टव्य है कि पाणिनि ने स्पष्ट रूप से इन पर्वतों में केवल 'हिमवत्' (४।४।११२) का नाम लिया है जब कि उन्हें किंशुलुकगिरि ऐसे अन्य पर्वतों के नाम विदित थे (६।३।११७)। अत्रापि भारतं श्रेष्ठं जम्बूद्वीपे महामुने। यतो हि कर्मभूरेषा यतोऽन्या भोगभूमयः॥ ब्रह्म० (१९।२३), विष्णुपु० (२।३।२२), इस श्लोक के उपरान्त दोनों में कई श्लोक एक समान हैं। भीष्मपर्व (९।११) में 'महेन्द्रो...' नामक श्लोक है, किन्तु वहाँ 'ऋक्षवान्' नाम आया है, किन्तु अध्याय ६ (श्लोक ४-५) में केवल ६ पर्वतों के ही नाम आये हैं।

४१. विष्णुपु० (२।१।३२) की वायुपु० (३३।५०-५२) से सहमति है। शाकुन्तल (अंक ७) में कालिदास ने एक पात्र से कहलवाया है कि शकुन्तला का पुत्र, जो कण्व के आश्रम में सर्वदमन कहा जाता था, भरत के नाम से प्रसिद्ध होगा (इहायं सत्त्वानां प्रसभदमनात्सर्वदमनः पुनर्यास्यत्याख्यां भरत इति लोकस्य भरणात्)। यह सम्भव है कि कालिदास के काल तक शकुन्तला का पुत्र भारतवर्ष के नाम से सम्बन्धित नहीं था, अन्यथा कवि को एक अन्य भविष्यवाणी करने में कि उसके नाम से एक वर्ष भी सम्बन्धित होगा, कौन रुकावट थी। पाणिनि ने 'प्राच्यों' एवं 'भरतों' (२।४।६६ एवं ४।२।११३) का उल्लेख किया है। भरत लोग प्राचीन थे और उनका ऋग्वेद (३।३३।११-२२) में कई बार उल्लेख हुआ है। भरतों को 'ग्राम' अर्थात् एक दल या संघ के रूप में भी कहा गया है जिसने 'विपाश्' एवं शुतुद्रि (आधुनिक व्यास एवं सतलज) के संगम को पार किया था (३।२३।२), भरतों ने घर्षण से अग्नि उत्पन्न की थी (३।५३।१२, जहाँ पर ऐसा आया है कि विश्वामित्र की स्तुति ने भारत-जन की रक्षा की थी)। बहुत-से मन्त्रों में अग्नि को 'भारत' कहा गया है (ऋ० २।७।१ एवं ५, ४।२५।४, ६।१६।१९ एवं ४५) ऐतरेयब्राह्मण (३९।९) में ऐसा आया है कि दीर्घतमा मामतेय ने भरत दौष्पन्ति (दौष्यन्ति) को ऐन्द्र महाभिषेक द्वारा मुकुट दिया (राजा बनाया) और उसके उपरान्त भरत ने चारों ओर राज्य जीता, कई अश्वमेध किये। इसके उपरान्त पाँच ऐसे श्लोक उद्धृत हैं जो यह बताते हैं कि भरत ने मस्नार देश में असंख्य हाथियों का दान किया, उन्होंने यमुना एवं गंगा के तट पर यज्ञ किये। अन्तिम श्लोक (पाँचवाँ) में आया है: 'महाकर्म भरतस्य न पूर्वे नापरे जनाः।

वर्ष के सात प्रमुख पर्वत हैं—महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्तिमत्, ऋक्षपर्वत, विन्ध्य एवं पारियात्र। पुराणों का कथन है कि जम्बूद्वीप में भारत सर्वश्रेष्ठ वर्ष है (ब्रह्म० १९।२३-२४, विष्णुपु० ३।३।२२, ब्रह्माण्डपु० २।१६।१७)। कुछ पुराणों में भारत के विषय में सुन्दर प्रशस्तियाँ हैं (ब्रह्म० २७।२।६ एवं ६६-७६, विष्णुपु० २।३।२३-२६)।

कुछ पुराणों में भारतवर्ष के ९ भागों के नाम आये हैं, यथा—इन्द्रद्वीप, कशेरु, ताम्रपर्ण, गभस्तिमत्, नागद्वीप, सह्य, गन्धर्व, वारुण, और नवाँ १,००० योजन उत्तर से दक्षिण तक लम्बा है, जिसके पूर्व में किरात लोग, पश्चिम में यवन लोग तथा मध्य में चार वर्णों के लोग रहते हैं। यह द्रष्टव्य है कि यद्यपि भारतवर्ष जम्बूद्वीप का एक भाग मात्र है किन्तु नव भागों में कुछ इन्द्रद्वीप एवं नागद्वीप के नाम से विख्यात हैं। एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मत्स्य० (११४।१०), वायु० (४५।८१), वामन० (१३।११) एवं ब्रह्माण्ड० (२। १६।११) ने ९वें द्वीप को कुमार कहा है या गंगा के स्रोत-स्थल से कुमारिकी तक विस्तृत माना है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि भारतवर्ष का ९वाँ भाग आज का भारतवर्ष है और अन्य आठ भाग, ऐसा लगता है, वे देश तथा द्वीप हैं जो आज के भारत के दक्षिण-पूर्व में पड़ते हैं। यह सम्भव है कि प्रारम्भिक ग्रन्थों ने भारतवर्ष को आज के भारत की सीमा तक ही सीमित समझा, किन्तु जब भारतीय संस्कृति दक्षिण-पूर्व एशिया में फैल गयी तो भारतवर्ष के अन्तर्गत सम्पूर्ण भारत एवं सुदूर भारत भी सम्मिलित हो गया।

शबर (भाष्य, जैमिनी १०।१।३५) ने व्यक्त किया है कि हिमवत् से कुमारी अंतरीप तक भद्र लोगों की भाषा एक-सी है (प्रसिद्धश्च स्थाल्यां चरुशब्दः आ हिमवतः आ च कुमारीभ्यः प्रयुज्यमानोदृष्टः)। और देखिए वही भाष्य (जै० १०।१।४२) जहाँ वैसे ही शब्द प्रयुक्त हैं। हिमाच्छादित पर्वतों का ज्ञान ऋग्वेद के ऋषियों को भी था (१०।१२१।४, यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहु)। 'यस्य' का संकेत हिरण्यगर्भ की ओर है। अथर्ववेद (५।४।२ एवं ८) ने हिमवत् को एकवचन में प्रयुक्त किया है। पर्वत (बहुवचन में) कई बार आये हैं (ऋ० १।३७।७, ५।५६।४)। महाभारत, शबर, पुराणों एवं बृहत्संहिता से प्रकट है कि प्राचीन भारत के लोगों ने अपनी संस्कृति को भारतवर्ष से समन्वित माना, अर्थात् उन्होंने देश एवं संस्कृति को न कि जाति एवं संस्कृति को एक माना। ब्रह्मपुराण एवं मार्कण्डेयपुराण ने भारत को आज के भारत के रूप में ही चित्रित किया है, क्योंकि इसकी सीमा के विषय में ऐसा आया है कि उत्तर में हिमालय है और तीन ओर समुद्र है। और देखिए इस महाग्रन्थ का मूल खण्ड २, पृ० ११-१६ एवं १७-१८।[४२]

दिवं मर्त्य इव हस्ताभ्यां नोदापुः पञ्चमानवाः॥' देखिए शतपथब्राह्मण (१३।५।४।११-१३), जहाँ ऐसा आया है कि भरत दौष्यन्ति शकुन्तला से उत्पन्न हुए थे, वहीं उनके विषय में चार गाथाएँ आयी हैं। जिनमें तीन तो ज्यों-की-त्यों ऐतरेयब्राह्मण वाली हैं, और ऐसा आया है कि उन्होंने वही महत्ता एवं कीर्ति कमायी जो भरतों को उसके कालों में प्राप्त हुई थी। अथर्ववेद ने बहुधा 'हिमवत्' की चर्चा की है (यथा ५।२।८, १९। ३९।१ में) और ऐसा कहा गया है कि कुष्ठ ओषधि (पौधा) उत्तर में पाया जाता है और वह हिमवत् से पूर्व की ओर ले जाया जाता है, और ऐसा आया है (अथर्व० ६।२४।१ एवं ३) कि सभी नदियाँ हिमवत् से निकलती हैं और सिन्धु में मिलती हैं। महाभाष्य (पाणिनि २।४।६६) ने टिप्पणी दी है कि भरत लोग पूर्व को छोड़ कर किन्हीं अन्य देशों में नहीं पाये जाते।

४२. दक्षिणापरतो यस्य पूर्वे चैव महोदधिः। हिमवानुत्तरेणास्य कार्मुकस्य यथा गुणः। तदेतद्भारतं वर्षं सर्वबीजं द्विजोत्तमाः। ब्रह्मपु० २७।६५-६६, मार्कण्डेयपुराण (५४।५९)।

वायुपु० ने लगभग १००० श्लोक (अध्याय ३६-४९) भुवनविन्यास (विश्व-संगठन) के विषय में, ब्रह्मपु० ने (अध्याय १८-२१) उसी विषय में (अर्थात् भुवनकोष के विषय में), मत्स्यपु० (अध्याय ११४) ने भुवनकोष के विषय में लिखे हैं तथा कर्मपु० (१।४०) ने भुवनविन्यास पर लिखा है तथा द्वीपों एवं वर्षों का उल्लेख किया है ।

प्राचीन एवं मध्यकालीन देशों का उल्लेख विष्णुपु० (२।३।१५-१८) वायुपु० (४५।१०९-१३६), ब्राह्माण्डपु० (२।१६।४०-६८), मत्यपु० (११४।३४-५६), मार्कण्डेयपु० (५४), पद्मपु० (आदि ६।३४-५९), वामनपु० (१३।३६ तथा आगे के श्लोक) में हुआ है ।[४३] भीष्मपर्व (अध्याय ९) में भी देशों एवं लोगों का उल्लेख है । बृहत्संहिता के नक्षत्रकूर्माध्याय (१४।१-३३) में भारतवर्ष के मध्य में स्थित कई देशों के नाम आये हैं और इसकी आठों दिशाओं में स्थित देशों के नाम भी आये हैं । ऋग्वेद में बहुत-सी नदियों के नाम आये हैं । (ऋ० १०।७५।५-६) में गंगा से कुभा (काबुल नदी) गोमती, क्रुमु (आधुनिक कुर्रम) तक की १८ या १९ नदियों के नाम आये हैं । इक्कीस नदियों (तीन दलों में विभाजित तथा प्रत्येक दल में सात) की ओर संकेत मिलते हैं (ऋ० १०।६४।८, १०।७५।१ एवं ९९ । ऋ० (१।३२।१२ एवं १०।१०४।८) में सात सिन्धुओं का उल्लेख है । और देखिए (ऋ० २।१२।१२,४।२८।१, १०।४३।३) । नदियों को मुख्य-मुख्य पर्वतों से निकली कहा गया है, देखिए इस विषय में मत्स्यपु० (११४।२०-३३), कूर्मपु० (१।४७।२८-३९), ब्रह्माण्ड पु० (२।१६।२४-३९), वामनपु० (१३।२०-३५ एवं ३४।६-८), ब्रह्मपु० (१९।१०-१४ एवं २७। २५-४०) पद्मपु० (आदि खण्ड, ६।१०-३२) । अनुशासनपर्व (१६५।१९-२९) में भी बहुत-सी नदियों का उल्लेख है ।

४३. पाणिनि में जनपदों एवं अन्य भौगोलिक आंकड़ों के लिए देखिए जर्नल (उत्तर प्रदेश की हिस्टॉरिकल सोसाइटी, जिल्द १६, पृ० १०-५१, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल) एवं इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली, जिल्द २१, पृ० २९७-३१४ जहाँ पुराणों में उल्लिखित देशों का व्यौरा उपस्थित किया गया है, और देखिए डा० डी० सी० सरकार कृत 'टेक्स्ट आव दि पुराणिक लिस्ट आव पिपुल्स' (इण्डि० हिस्टॉ० क्वा०, जिल्द १९, पृ० २९७-३१४) । पाणिनि से ऐसा लगता है कि वे सम्पूर्ण भारत से अवगत थे, सुदूर उत्तर-पश्चिम से कलिंग तक तथा अश्मक (अजन्ता एवं पैठान के आसपास का क्षेत्र) एवं आधुनिक कच्छ तक, क्योंकि उन्होंने स्पष्ट रूप से ये नाम लिये हैं, यथा—गान्धार (४।१।१६९), सुवास्तु (४।२।७७, आधुनिक स्वात), कम्बोज (४।१।१७५) एवं तक्षशिला (४।३।९३), सिन्धु (४।३।९३), शलातुर (४।३।९४, जहाँ पर पाणिनि का जन्म हुआ था, जिसके कारण भामह ऐसे 'पश्चात्कालीन लेखकों ने उन्हें शलातुरीय कहा है), सौवीर (४।१।१४८), कच्छ (४।२।१३३), मगध, कलिंग, सूरमास (सूर्मा घाटी) (४।१।१७०), अश्मक ।(४।१।१७३) । देखिए कानिङघम कृत 'ऐंश्येण्ट जियॉग्रैफी' आव इण्डिया' (१८७२), नन्दलाल डे कृत 'दि जियोग्रैफिकल डिक्शनरी आव ऐंश्येण्ट एण्ड मेडिवल इण्डिया (१९२७), सुरेन्द्रनाथ मजुमदार कृत 'बिब्लियोग्रैफी आव ऐंश्येण्ट जियॉग्रैफी ऑव इण्डिया' (इण्डियन ऐंटीक्वेरी, जिल्द ४८, १९१९, पृ० १५-२३) एवं तीर्थों की तालिका', जो इसी महाग्रन्थ से संलग्न है (हिन्दी संक्षिप्त संस्करण के खण्ड २ में प्रकाशित है) ।

पुराणों में पातालों की संख्या बहुधा सात मानी गयी है, किन्तु उनके नामों में कुछ अन्तर पाया जाता है। इस विषय में देखिए वायुपु० (५०।११-१२), ब्रह्मपु० (२१।२-३ एवं ५४।२० तथा आगे के श्लोक), ब्रह्माण्डपु० (२।२०।१० तथा आगे के श्लोक), कूर्मपु० (१।४४।१५-२५) एवं विष्णुपु० (२।५।२-३)।

योगसूत्र (३।२५, कहीं-कहीं २६ की संख्या आयी है; 'भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्') के व्यासभाष्य में सात लोकों (भूर्, भुवः, स्वः, महः, जन, तपः एवं सत्य)[४४], सात नरकों (अवीचि आदि), सात पातालों सात दीपों के सात पृथिवी, पृथिवी के मध्य में मेरु के साथ सात पर्वतों, वर्षों, सात द्वीपों, यथा—जम्बु, शक, कुश, क्रौंच, शाल्मलि, गोमेध (गोमेधक नहीं, जैसा कि मुद्रित पुराणों में पाया जाता है) एवं पुष्कर, सात समुद्रों, देवों की वाटिकाओं, उनके सभा-भवन (जिसका नाम सुधर्मा था, नगर का नाम था सुदर्शन, प्रासाद का नाम था वैजयन्त), महेन्द्रलोक, प्रजापत्य लोक, जनलोक, तपःलोक एवं सत्य लोकों में देवों के दलों का संक्षिप्त किन्तु बहुत ही महत्त्वपूर्ण उल्लेख है। इनमें से बहुत-सी बातें पुराणों में वर्णित बातों से मिलती-जुलती हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि चौथी शती के बहुत पहले से ही पुराणों में पाये जानेवाले जगत्-सम्बन्धी विवरण लोगों में विख्यात हो गये थे।

४४. तीन या सात व्याहृतियों के लिए प्रयुक्त शब्द लोकों के द्योतक माने जाते हैं। देखिए तै० ब्रा० (२।२।४।३)—'एता वै व्याहृतय इमे लोकाः' एवं तै० उप० (१।५)—'भूरिति वा अयं लोकः। भुव इत्यन्तरिक्षम्। सुवरित्यसौ लोकः। मह इत्यादित्यः। आदित्येन वाव सर्वे लोका महीयन्ते।'; कूर्मपुराण (१।४४।१-४) ने महः से सत्य तक के लोकों का उल्लेख किया है।

अध्याय ३५

कर्म एवं पुनर्जन्म का सिद्धान्त

कर्म एवं पुनर्जन्म का सिद्धान्त भारतीय धर्म एवं दर्शन के अत्यन्त मौलिक सिद्धान्तों में परिगणित है। यह उस प्रश्न के समाधान का प्रयास है जो सभी विचारशील व्यक्तियों के मन में उठा करता है, यथा शरीर की मृत्यु के उपरान्त मनुष्य का क्या होता है? इस सिद्धान्त ने सहस्रों वर्षों तक अथवा कम-से-कम उपनिषदों के काल से सम्पूर्ण भारतीय चिन्तन एवं सभी हिन्दुओं, जैनों एवं बौद्धों को प्रभावित कर रखा है। यह एक विशाल विषय है और गत कुछ दशकों से पश्चिम के लेखकों के मनों को इसने आकृष्ट कर रखा है। पुनःशरीर धारण पर पश्चिम में अब एक बृहत् साहित्य की रचना हो चुकी है।

प्राचीन ऐतिहासिक कालों में बहुत-से देश पुनर्जन्म में विश्वास करते थे। हेरोडोटस का कथन है कि कुछ यूनानियों ने (जिनके नाम उसे ज्ञात थे, किन्तु उसने उन्हें गुप्त रखा) उस सिद्धान्त का प्रयोग अपना समझ कर किया, किन्तु सर्वप्रथम मिस्र देश के निवासियों ने ऐसा कहा और विश्वास किया कि मानव आत्मा अमर है और शरीर की मृत्यु हो जाने पर यह किसी अन्य जीवित वस्तु में, जो जन्म लेने वाली होती थी, प्रवेश कर जाता है। लगता है, पैथागोरस ने इस पर विश्वास किया है किन्तु उसने इस विश्वास को भारत से ग्रहण किया, इस विषय में विभिन्न मत प्रकाशित हुए हैं। प्रो० ए० बी० कीथ (जे० आर० ए० एस०, १९०९, पृ० ५६९-६०६) ने एक लम्बे विवेचन के उपरान्त ऐसा मत प्रकाशित किया है कि पैथागोरस ने यह सिद्धान्त भारत से उधार नहीं लिया। विषयान्तर हो जाने के भय से प्रस्तुत लेखक इस विषय में अपना मत नहीं रखना चाहता। हाप्किंस एवं मैक्डोनेल ने पैथागोरस के ऊपर पड़ने वाले भारतीय प्रभाव को स्वीकार किया है किन्तु ओल्डेनबर्ग एवं कीथ ने नहीं।

केवल पैथागोरस ने ही नहीं, प्रत्युत एम्पीडॉकिल्स (जिसने यहाँ तक कहा था कि वह पहले लड़का, लड़की, झाड़ी, पक्षी एवं मछली था) एवं प्लेटो ने आत्मा के पूर्वजन्म एवं उत्तर-जन्म में विश्वास किया है। देखिए केनेथ वाकर का ग्रन्थ 'दि सर्किल आव लाइफ' (जिसमें उन्होंने लिखा है कि ईसा मसीह के काल में पुनर्जन्म का सिद्धान्त भारत में भलीभाँति विख्यात था, पृ० ९३) तथा गफ कृत 'फिलॉसॉफी आव दि उपनिषद्' (लन्दन, १८८२), पृ० २९-३१। गफ ने प्रतिपादित किया है कि उपनिषदों के पूर्व वैदिक साहित्य में पुनर्जन्म की बात नहीं पायी जाती अतः हिन्दुओं ने इस सिद्धान्त को भारतीय आदिवासियों से ग्रहण किया होगा। देखिए इसी विषय में जी० डब्ल्यू० ब्राउन का मत 'स्टडीज़ इन ऑनर आव ब्लूमफील्ड' नामक ग्रन्थ में (पृ० ७६-८८)। यह अत्यन्त निर्मूल कल्पना है, इसके पीछे कोई प्रमाण नहीं है। यदि पुनर्जन्म का सिद्धान्त मिस्रवासियों तथा अन्य आदिजातियों में पाया जा सकता है तो ऐसी कल्पना के लिए कोई तर्क नहीं है कि इस सिद्धान्त का प्रतिपादन स्वयं भारतीयों ने नहीं किया, विशेषतः जब इस विश्व में कहीं भी इतना विस्तृत कर्म एवं पुनर्जन्म का सिद्धान्त नहीं पाया जाता जितना कि संस्कृत साहित्य में विद्यमान है। अतः गफ एवं ब्राउन की (जिसने यहाँ तक लिख डाला है कि योग, सांख्य एवं उपनिषद् शब्द द्रविड़ भाषा के शब्दों

के आधार पर बने हैं) कल्पनाएँ एवं अनुमान निराधार एवं निर्मूल्य हैं। विद्वानों, विशेषतः पाश्चात्य विद्वानों को पूर्व के विषय में लिखते समय मल्लिनाथ के 'नामूलं लिख्यते किञ्चित्' नामक शब्दों को स्मरण रखना चाहिए। प्रस्तुत लेखक अनुमानों के विरुद्ध नहीं है, किन्तु उनके पीछे कोई तथ्य एवं प्रमाण अवश्य होना चाहिए। भय तो इसका रहता है कि पहले के विद्वानों के अनुमान आगे के लेखकों के लिए युक्तिसंग निष्कर्ष-से लगने लगते हैं। वास्तव में हमें भारी-भरकम नामों के रौबदाब से अपनी रक्षा करनी चाहिए, बिना किसी जाँच के विश्वास नहीं कर लेना चाहिए, जैसा कि विद्वान् लेखक एवं विचारक एक्टन ने लिखा है। इस महाग्रन्थ के खण्ड ४ के मूल पृष्ठ ३८-४० में कर्म एवं पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर संक्षेप में कुछ लिखा जा चुका है (पापों एवं उनके प्रायश्चित्तों आदि के विषय में चर्चा करते समय)। किन्तु विस्तार आगे के लिए छोड़ दिया गया था।

इस अध्याय में हम इस सिद्धान्त के उद्गम एवं विकास के लिए वैदिक साहित्य की जाँच करेंगे और देखेंगे कि आगे चल कर इसमें क्या संशोधन, परिवर्तन एवं विरोध उपस्थित किये गये और आधुनिक काल में इसके विरोध में क्या तर्क उपस्थित किये जाते हैं। यह महत्त्वपूर्ण बात है कि यद्यपि कतिपय दर्शनों (यथा—सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्वमीमांसा एवं वेदान्त) ने एक-दूसरे के सिद्धान्तों की कड़ी आलोचनाएँ की हैं, किन्तु उन्होंने कर्म एवं पुनर्जन्म के सिद्धान्त को एक स्वर से स्वीकार किया है, केवल भौतिकवादियों (यथा चार्वाक) ने इसे अमान्य ठहराया है। बौद्धों एवं जैनों ने इसे अपने ढंग से अपना लिया है (जब कि वे वैदिक एवं स्मृति साहित्य के बहुत-से विषयों से असहमत हैं)। कर्म एवं पुनर्जन्म-सम्बन्धी सभी विश्वासों के साथ कुछ सम्भावनाएँ एवं ऊहापोह चलते हैं, यथा—(१) मनुष्य का एक आत्मा होता है, जो नित्य और भौतिक शरीर से पृथक है, (२) अन्य जीवों यथा—पशुओं, ओषधियों (पौधों) एवं सम्भव निर्जीव पदार्थों में भी आत्मतत्त्व होता है, (३) मनुष्य एवं निम्नस्तर के पशुओं का आत्मा एक भौतिक शरीर से दूसरे में प्रविष्ट हो जा सकता है, (४) आत्मा कर्म करने वाला एवं दुःख सहने वाला होता है।

हमने इस महाग्रन्थ के खण्ड ४ के मूल पृ० १५४-१७१ में विस्तार के साथ देख लिया है कि किस प्रकार स्वर्ग एवं नरक की भावनाएँ वैदिक काल से आगे तक चलीं और किस प्रकार कर्म एवं पुनर्जन्म के सिद्धान्त से वे परिमार्जित हुईं।

'कर्म' शब्द ऋग्वेद में ४० बार से अधिक प्रयुक्त हुआ है। कहीं-कहीं इसका अर्थ है 'पराक्रम' या 'वीर कार्य', यथा ऋ० (१।२२।१६, विष्णु के कर्म (पराक्रम) का निरीक्षण करो), प्रशंसा के योग्य उसके (इन्द्र के) प्राचीन कर्मों की घोषणा अपने शब्दों (या श्लोकों) से करो (ऋ० १।६१।१३)[1] और देखिए ऋ० (१।६२।६, १।१०१।४, १०।५४।४, १०।१३१।४)। ऋग्वेद के कुछ स्थलों पर 'कर्म' का अर्थ है 'धार्मिक कृत्य' (यज्ञ, दान आदि), यथा 'देव लोग इस कवि के सभी कर्मों को स्वीकार करते (या चाहते) हैं, जो तुम्हें स्तुति देता है (तुम्हारी वन्दना करता है) यह ऋ० (१।१४८।२) है।[2] और देखिए ऋ० (८।३६।७,

१. अस्येदु प्र ब्रूहि पूर्व्याणि तुरस्य कर्माणि नव्य उक्थैः। ऋ० (१।६१।१३); तदु प्रयक्षतमस्य कर्म दस्मस्य चारुतममस्ति दंसः। उपह्वरे यदुपरा अपिन्वन मध्वर्णसो नद्यश्चतस्रः॥ ऋ० (१।६२।६); युवं सुरामश्विना नमुचावासुरे सचा। विपिपाना शुभस्पती इन्द्रं कर्मस्वावतम्॥ ऋ० (१।१३१।१)

२. जुषन्त विश्वान्यस्य कर्मोपस्तुतिं भरमाणस्य कारोः। ऋ० (१।१४८।२): श्यावाश्वस्य सुन्व-

९।९६।११)। प्राचीन काल में स्वर्ग ऐसा स्थल माना जाता था, जहाँ अधिक से अधिक कर्मों के फल का आनन्द लिया जाता है। इस लोक के फल (यथा—सम्पत्ति, वीर पुत्रों) के लिए स्तुति निःसन्देह की जाती थी, किन्तु अमृतत्व एवं स्वर्ग के आनन्द को सर्वाधिक मूल्य दिया जाता था। ऋ० (१०।१६।४) में अग्नि से प्रार्थना की गयी है कि वह मृत को उन लोगों के लोक में ले जाये जिन्होंने अच्छे कर्म किये हैं (ताभिर्वहैनं सुकृतां उलोकम्)। 'सुकृतां लोकम्' शब्द अथर्ववेद (३।२८।६, १८।२।७१) एवं वाज० सं० (१८।५२) में भी आये हैं। ऋ० (९।११३।७-१०) में वह यजमान जो इन्द्र को सोम अर्पण करता है, प्रार्थना करता है कि वह स्वर्ग में अमर रूप में रख दिया जाय, जहाँ अनन्त प्रकाश रहता है, विवस्वान के पुत्र यम राजा हैं, जहाँ आनन्द एवं आह्लाद है और जहाँ कामनाएँ और उनकी पूर्ति है। अमरत्व के लिए सभी देवों की स्तुतियाँ की गयी हैं, यथा अग्नि की (ऋ० १।१३।७, ४।५८।१, ५।४।१०, ६।७।४), मरुतों की (ऋ० ५।५५।४), मित्र एवं वरुण की (ऋ० ५।६३।२), विश्वेदेवों की (ऋ० १०।५२।५ एवं १०।६२।१), सोम की (१।९१।१, ९।९४।४, ९।१०८।३)। किन्तु दुष्कृत्य करने वालों के भाग्य के लिए ऋग्वेद में कुछ नहीं कहा गया है।

ब्राह्मण-ग्रन्थों में सत्कर्मों के फलों एवं दुष्कर्मों के प्रतिकार के विषय में पर्याप्त वर्णन मिलता है। शत० ब्रा० (१२।९।१।१) में प्रतिकार की भावना व्यक्त की गयी है।[3] यही बात मांस-भक्षण के विषय में मनु एवं विष्णुधर्मसूत्र में कही गयी है, जिससे ऐसा अभिव्यक्त है—"वह जीव जिसका मांस मैं यहाँ खाता हूँ, दूसरे लोक में मुझे खायेगा, विज्ञ लोग 'मांस' शब्द के मूल या उद्भव के विषय में ऐसा घोषित करते हैं।" शतपथब्राह्मण (११।६।१।३-६) में एक विलक्षण कथा आयी है। भृगु से, जो अपनी विद्या के कारण गर्वीले हो गये थे और अपने को पिता से भी अधिक विद्वान् समझते थे, उसके पिता वरुण ने चारों दिशाओं में पूर्व से उत्तर तक जाने को कहा और लौट आने पर देखी हुई सभी घटनाओं का विवरण माँगा। सभी दिशाओं में भृगु को भयंकर दृश्य देखने को मिले, पूर्व में उन्होंने लोगों को एक-दूसरे को छिन्न-भिन्न करते देखा, एक-एक कर हाथ उखाड़ते यह कहते सुना, 'यह तुम्हारे लिए, यह मेरे लिए।' उन्होंने कहा, 'यह भयंकर है।' उन लोगों ने कहा, 'इन लोगों ने हमारे साथ सामने के लोक में किया, अतः हम लोग प्रतिकार में ऐसा कर रहे हैं।' तब उन्होंने उत्तर में देखा कि चिल्लाते एवं रोते हुए लोगों द्वारा चिल्लाते एवं रोते हुए लोग पीटे जा रहे हैं। जब उन्होंने कहा, 'यह तो भीष्म (भयंकर या भीषण) है' तो उन लोगों ने उत्तर दिया, 'इन लोगों ने हमारे साथ ऐसा ही... यह प्रतिकार है।' यह एक लम्बी गाथा है, जिसका वर्णन यहाँ अनावश्यक है। यह कथा सम्भवतः 'जैसे को तैसा' वाली कहावत चरितार्थ करती है। इतना तो स्पष्ट है कि शतपथब्राह्मण के काल तक यह धारणा बँध चुकी थी कि जो व्यक्ति एक जीवन में दुष्कृत्य करता है वह दूसरे जीवन में उसी व्यक्ति द्वारा, जिसका अनभल वह किये रहता है, दुष्कृत्य का उत्तर अथवा प्रतिकार पाता है। शत० ब्रा० एवं तै० ब्रा० ने कई बार 'पुनर्मृत्यु' (बार-बार मरना, अर्थात् बार-बार जन्म लेना एवं मरना) को जीत लेने अथवा उसको दूर कर

तस्तथा शृणु यथा शृणोरत्रेः कर्माणि कृण्वतः। ऋ० (८।३६।७); यही पुनः ८।३७।७ में आया है (सुन्वतः के स्थान पर रेभतः आया है); त्वया हि नः पितरः सोम पूर्वे कर्माणि चक्रुः पवमान धीराः ऋ० (९।९६।११)।

३. एतस्माद्वै यज्ञात्पुरुषो जायते। स यद्धवा अस्मिँल्लोके पुरुषोऽन्नमत्ति तदेनममुष्मिँल्लोके प्रत्यत्ति शतपथ (१२।९।१।१); मांस भक्षयितामुत्र यस्य मांस मिहाद्म्यहम्। एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः॥ मनु (५।५५), विष्णुधर्मसूत्र (५१।७८); 'मां' का अर्थ है मुझको एवं 'सः' का अर्थ 'वह जीव' और मांस शब्द (जिसमें दोनों मिले हैं) का अर्थ यह है जो ऊपर कहा गया है।

देने की बात कही है। शत० ब्रा० (१०।४।४) में आया है कि देव लोग अमर हो गये, क्योंकि उन्होंने प्रजापति की सम्मति से अग्नि चयन का उचित सम्पादन किया, यथा---३६० घेरने वाली ईंटों, ३६० यजुष्मती ईंटों, तथा उन पर ३६ और ईंटों तथा १०,८०० लोकम्पृणा ईंटों से उसे सम्पादित किया। (१०।४।४।६) में आया है---'जो व्यक्ति विद्या द्वारा तथा पवित्र कर्मों द्वारा अमर होना चाहता है, वह इस शरीर से पृथक् होने पर अमर हो जायेगा' और पुनः (१०।४।४।१०) में आया है---'जो व्यक्ति इसे जानते हैं या जो यह पवित्र कर्म करते हैं, वे पुनः मरने के उपरान्त इस जीवन में आते हैं और जीवन में आने के उपरान्त अमर जीवन प्राप्त करते हैं; किन्तु वे लोग जो इसे नहीं जानते या इस पवित्र कर्म का सम्पादन नहीं करते, मरने पर पुनर्जीवन प्राप्त करते हैं और वे मृत्यु का भोजन बार-बार बनते हैं।'[४] तै० ब्रा० (३।२।८) में नचिकेता की गाथा कही गयी है जो कठोपनिषद् से मिलती है (कुछ मन्त्र दोनों में समान हैं।) तै० ब्रा० में आया है कि मृत्यु ने नचिकेता को तीन वरदान दिये, जिनमें तीसरा कठोपनिषद् से भिन्न है। वह तीसरा वरदान यह है---"मैं 'पुनर्मृत्यु' किस प्रकार दूर करूँ, इसकी मुझसे घोषणा करो।" मृत्यु ने उससे नाचिकेत अग्नि घोषित का उपदेश किया, जिससे नचिकेता पुनर्मृत्यु को दूर कर सका। और देखिए कौषीतकि ब्रा० (२५।१) एवं बृ० उप० (१।२।७, १।५।२, ३।२।१० एवं ३।३।२)।

दुष्कृत्यों के प्रतिकार की प्राचीन भावना से ही सम्भवतः अच्छे कर्मों की यह भावना उठ खड़ी हुई कि इनको (अर्थात् सत्कर्मों को) दुष्कर्मों के विरोध में रखा जाय और दोनों को मानो तराजू में तोला जाय। शतपथब्राह्मण (११।२।७।३३) में आया है---'अथ यह तराजू है, अर्थात् वेदी का दाहिना पार्श्व। वह वेदी का दाहिना पार्श्व छूकर बैठ जाय, क्योंकि, वास्तव में, वे उसे सामने के लोक में तराजू पर बैठाते हैं, और दोनों में जो ऊपर उठ जायेगा वह उसी का अनुसरण करेगा, चाहे वह अच्छा हो या बुरा। जो कोई इसे जानता है वह इस तराजू पर इस लोक में बैठता है और सामने के लोक में अर्थात् आगे के या परलोक में बैठने से छुटकारा पा जाता है, क्योंकि यह सत्कर्म ही है जो ऊपर उठता है बुरा कर्म नहीं।[५]

शतपथ इस निष्कर्ष पर पहुँच गया था कि मनुष्य की इच्छा (और उसी के अनुरूप उसका कार्य) पर ही यह निर्भर है कि उसे मृत्यु के उपरान्त कौन-सा लोक प्राप्त होगा। उसमें कथित है---'उसे ब्रह्म समझकर सत्य का ही ध्यान करना चाहिए। अब यह पुरुष (मनुष्य) ही अधिकतर इच्छा है और अपनी इच्छा के अनुसार ही जब वह इस लोक से चलेगा तो सामने के (अर्थात् आगे के) लोक में भी वैसी इच्छा रखेगा।'

शतपथब्राह्मण (१०।१।५।४) में एक विचित्र वचन आया है जिसका सम्बन्ध यज्ञों से उत्पन्न उन शक्तियों से है जो कि सामने के (आगे अर्थात् परलोक) लोक में प्रकट होती है। इसमें आया है कि जो व्यक्ति नियमित रूप

४. ते य एवमेतद्विदुर्ये वै तत्कर्म कुर्वते मृत्वा पुनः सम्भवन्ति ते सम्भवन्त एवामृतत्वमभि सम्भवन्त्यथ य एवं न विदुर्ये वै तत्कर्म न कुर्वते मृत्वा पुनः सम्भवन्ति त एतस्यैवान्नं पुनः पुनर्भवन्ति। शतपथब्रा० (१० ४।३।१०)।

५. अथ हैषैव तुला यद्दक्षिणो वेद्यन्तः स यत्साधु करोति तदन्तर्वेद्यथ यदसाधु तद्बहिर्वेदि। तस्माद्दक्षिणं वेद्यन्तमधिस्पृश्येवासीत। तुलायां ह वा ऽमुष्मिँल्लोक आदधति यतरद्यंस्यति तदन्वेष्यति यदि साधु वाऽसाधु वेति। अथ य एवं वेदास्मिन्हैव लोके तुलामारोहत्य मुष्मिँल्लोके तुलाधानं मुच्यते। साधुकृत्या हैवास्य यच्छति न पापकृत्या। शतपथब्राह्मण (११।२।७।३३)। यहाँ पर वेदि के दाहिने पार्श्व के किनारे को तुला का दण्ड कहा गया है।

से अग्निहोत्र करता है वह परलोक में प्रातः एवं सायं भोजन करता है, दर्श एवं पूर्णमास को करने वाला प्रत्येक पक्ष में भोजन करता है; चातुर्मास्यों (ऋतुओं वाले यज्ञ) को करने वाला सामने के लोकों में प्रति चार मासों के उपरान्त भोजन करता है; पशु-यज्ञ करने वाला प्रत्येक ६ मासों पर खाता है; सोम यज्ञ करने वाला एक वर्ष के उपरान्त भोजन करता है; अग्निचयन वेदिका का निर्माण करने वाला प्रत्येक सौ वर्षों पर इच्छा के अनुसार खाता है या एक बार खा लेने पर खाने की आवश्यकता नहीं समझता है।

शतपथब्राह्मण इस निष्कर्ष पर पहुँचा था कि प्रत्येक व्यक्ति अपने मन के अनुसार निर्मित लोक में जन्म लेता है। उसने यह दृढ़तापूर्वक व्यक्त किया है कि जो देवों के लिए यज्ञ करता है वह उस लोक को नहीं प्राप्त करता है जिसे आत्मा के लिए यज्ञ करने वाला पाता है और आत्मा के लिए यज्ञ करने वाला व्यक्ति अपने शरीर से, पाप से, उसी प्रकार मुक्ति पाता है जिस प्रकार सर्प अपने केंचुल से पाता है (११।२।६।१३-१४)।

यह मान लेना होगा कि कर्म एवं पुनर्जन्म सिद्धान्त सम्बन्धी स्पष्ट वक्तव्य का ऋग्वेद में अभाव है। ऋग्वेद का ७।३३ एक महत्त्वपूर्ण सूक्त है। प्रथम ९ मन्त्रों में वसिष्ठ ने अपने पुत्रों के विषय में कहा है। १०-१४ स्वयं वसिष्ठ के लिए प्रयुक्त हैं जो या तो उनके पुत्रों द्वारा कथित हैं या एक अन्य मत से इन्द्र के साथ हुई बातचीत का एक अंश हैं। ये मन्त्र देवताख्यान युक्त हैं, रहस्यवादी हैं और व्याख्या के लिए अति कठिन। १० वें मन्त्र में वसिष्ठ के जन्म की ओर इंगित है जब कि मित्र एवं वरुण ने उन्हें विद्युत् के अतितेज के पास पहुँचते हुए देखा, और ऐसा कहा गया है कि अगस्त्य उन्हें (वसिष्ठ को) लोगों के पास ले आये। यहाँ पर 'एकं जन्म' से ज्ञात होता है कि इस सूक्त में वसिष्ठ के अन्य जन्म की ओर भी संकेत है। ११वें मन्त्र में वसिष्ठ को उर्वशी से उत्पन्न मित्र एवं वरुण का पुत्र कहा गया है और ऐसा आया है कि सभी देवों ने उन्हें एक पुष्कर (अन्तरिक्ष या कमल) में रखा। १२वाँ मन्त्र लाक्षणिक एवं रहस्यवादी होने के कारण महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यम द्वारा फैलाये गये वस्त्र को बुनने की इच्छा करते हुए वसिष्ठ उर्वशी से उत्पन्न हो गये। १३वें श्लोक में आया है कि दोनों (मित्र एवं वरुण) ने बीज को एक घड़े में डाल दिया, जिसके मध्य से अगस्त्य निकले और वसिष्ठ भी उत्पन्न हुए। १४वाँ मन्त्र प्रतृदों को सम्बोधित है और उनसे कहा गया है कि वे वसिष्ठ के सम्मान में लग जायें जो उनके पास यज्ञ (कराने) के लिए आयेंगे। यह, ऐसा प्रतीत होता है, वसिष्ठ का दूसरा जन्म है।

प्रो० आर० डी० रानाडे ने अपने ग्रन्थ 'कांस्ट्रक्टिव सर्वे आव दि उपनिषदिक फिलॉसॉफी' (पृ० १४५-१४६) में ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों पर निर्भर हो कर यह कहने का प्रयास किया है कि वैदिक ऋषियों ने पुनर्जन्म की ओर संकेत किया है (पृ० १४७)। किन्तु प्रो० रानाडे ने (उसी पृष्ठ पर) स्वयं यह माना है कि ऋग्वेद के अधिकांश भाग में पुनर्जन्म की भावना का सर्वथा अभाव है। स्थानाभाव से हम उनके तर्कों की जाँच यहाँ नहीं कर पायेंगे। पूर्ण जानकारी के लिए देखिए मूल ग्रन्थ, पृ० १५३७-१५४८।

श्री जे० एस० करन्दीकर ने (पूना-निवासी, जो लोकमान्य तिलक के कट्टर शिष्य हैं) अपने ग्रन्थ 'गीता-तत्त्व मञ्जरी, (मराठी में, १९४७) में यह दर्शाया है कि पुनर्जन्म का सिद्धान्त वैदिक संहिताओं में पाया जाता है और इस विषय में उन्होंने ऋग्वेदीय चार ऋचाओं (१०।१४।८, १०।१६।३ एवं ५ तथा १०।१३५।६, का आश्रय लिया है। किन्तु उनकी धारणा निर्मूल है। उन्होंने ऋचाओं का जो अर्थ लगाया है, वह ठीक नहीं है। विशेष तर्क एवं विवेचन के लिए देखिए इस ग्रन्थ का मूल पृ० १५४२ से पृ० १५४४ (खण्ड ५)।

तै० सं० (२।६।१०।२) में एक मनोरम वचन आया है—'जो व्यक्ति किसी ब्राह्मण को धमकी देता है वह इसके लिए एक सौ वर्षों तक प्रायश्चित्त करेगा, जो उसे पीटता है वह एक सहस्र, वर्षों तक (प्रायश्चित्त करेगा), जो ब्राह्मण का रक्त गिरायेगा वह उतने वर्षों तक अपने पितरों के लोक को नहीं जानेगा जितने मिट्टी के कण

रक्त से सनकर एक पिण्ड के रूप में बन जायेंगे। अतः व्यक्ति न तो ब्राह्मण को धमकी दे, न पीटे और न उसके शरीर से रक्त गिरने दे, क्योंकि वैसा करने से उतना ही पाप होता है।' इस वचन से ऐसा नहीं प्रतीत होता है कि इस वचन के प्रणयन के काल तक केवल पितृलोक की भावना ही बन सकी थी, जैसा कि ड्यूशन ने अपने ग्रन्थ 'फिलॉसॉफी आव उपनिषद्' (पृ० ३२५) में लिखा है। वास्तव में, ऋग्वेद में **देवयान** एवं **पितृयाण** की कल्पना प्रबल हो चुकी थी। ऋग्वेद के अनुसार अधिक लोग यम के राज्य पितृलोक में जायेंगे, केवल थोड़े से देवयान द्वारा देवों के लोक में जायेंगे। यह वचन इस विषय में अधिक महत्त्वपूर्ण है कि एक अति घातक पाप के फलस्वरूप पापी को एक सहस्र वर्षों तक या कई सहस्रों वर्षों तक दुःख भोगना पड़ता था, अतः उसे कई जीवनों तक जन्म लेना पड़ता था, क्योंकि मानव की आयु सौ वर्ष होती है (ऋ० १०।१६१।४=अथर्व० ३।११।४; ऋ० १।८९।९=वाज० सं० २५।२२)। उपर्युक्त वचन के आधार पर गौतमधर्मसूत्र ने व्यवस्था दी है कि क्रोध में आकर ब्राह्मण को धमकी देने से सौ वर्षों तक स्वर्ग का द्वार अवरुद्ध हो जायेगा (या नरक में जाना होगा), उसे पीटने से एक सहस्र वर्षों तक तथा उसके शरीर से रक्त निकालने पर उतने वर्षों तक स्वर्ग-द्वार अवरुद्ध रहेगा जितने मिट्टी के कणों से एक रक्तरंजित पिण्ड बन जायेगा। मनु (११।२०६-७) ने इसे यों समझा है कि ब्राह्मण के विरुद्ध किये गये दुष्कर्मों से अभियोगी को क्रम से १००, १००० या सहस्रों वर्षों तक नरक में रहना पड़ेगा।

मनुष्य अपने कर्मों एवं आचरण से अपना भविष्य बनाता है, इस सिद्धान्त की शिक्षा बृह० उप० (४।४।५-७) में मिलती है[६]—"जो जैसा आचरण करता है, वह वैसा ही होगा, अच्छे कर्मों वाला अच्छा (जन्म) पायेगा, दुष्कर्मों वाला बुरा (जन्म) पायेगा; पुण्य कर्मों से पुण्य (पवित्र) होता है। दुष्कर्मों से बुरा। यहाँ वे कहते हैं—'मनुष्य काममय है, उसकी जैसी कामना होगी वैसी ही उसकी इच्छा-शक्ति होगी, उसकी जैसी इच्छा होगी वैसा ही उसका कर्म होगा, और जो कुछ कर्म वह करता है वैसा ही वह होगा वैसा ही फल वह प्राप्त करेगा।" इस पर एक श्लोक आया है—'जिस किसी से मनुष्य का मन एवं सूक्ष्म देह संलग्न रहता है उसी के पास अपने कर्मों के फलों के साथ वह जाता है, और जो कुछ कर्म वह इस लोक में करता है उसका फल प्राप्त करने के उपरान्त वह पुनः उस लोक से (जहाँ वह फल-प्राप्ति के कारण कुछ काल के लिए गया था), कर्मलोक में आ जाता है; इतनी बात उस व्यक्ति के लिए है जो **काममयमान** (अर्थात् जो कामनाओं या इच्छाओं में डूबा हुआ है) है; अब **अकाममयमान** के विषय में—; जो व्यक्ति कामरहित है, निष्काम है, जिसके काम शान्त हो गये हैं, जो स्वयं आत्मकाम (स्वयं अपनी इच्छा) है उसके प्राण कहीं और नहीं जाते, वह स्वयं ब्रह्म होने के कारण ब्रह्मलीन हो जाता है। इस बात पर एक श्लोक है—"जब मनुष्य के हृदय में स्थित सभी काम दूर हो जाते हैं, तो वह जो मर्त्य है, अमृत हो जाता है, यहीं इसी शरीर में वह ब्रह्म की प्राप्ति कर लेता है।" उपर्युक्त वचन में क्रम यों है—काम, इच्छा

६. स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमय ... इति। यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन। अथो खल्वाहुः। काममय एवायं पुरुष इति। स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते। तदेष श्लोको भवति। तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य। प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किंचेह करोत्ययम्। तस्माल्लोकात्पुनरैत्यस्मै लोकाय कर्मणे। इति नु कामयमानः। अथा कामयमानो "योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति। तदेष श्लोको भवति। यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥" बृ० उप० (४।४।५-७)।

एवं कर्म। इस विषय में देखिए ड्यूसन (फिलॉसॉफी आव दि उपनिषद्स, पृ० ३४८) एवं जेराल्ड हर्ड ('इज गॉड एविडेण्ट', पृ० ३४) की भावभीनी टिप्पणियाँ।

उपर्युक्त वचन के पहले एवं उपरान्त कई उदाहरण आये हैं, जिनमें दो यहाँ दिये जा रहे हैं, जिससे यह बात व्यक्त हो जायगी कि आत्मा किस प्रकार एक शरीर से दूसरे शरीर में जाता है। 'जिस प्रकार एक झिनगा घास के एक अंकुर के पोर पर पहुँचने के उपरान्त दूसरे अंकुर के पास पहुँचने की गति करता है, उसकी ओर अपने को खींच लेता है और उस पर अपने को अवस्थित कर लेता है, उसी प्रकार यह (जीव का) आत्मा मृत्यु पर अपने शरीर को त्याग कर, अविद्या को हटाता हुआ, दूसरे शरीर की ओर पहुँचता हुआ उसकी ओर अपने को खींच लेता है और उसी में अपने को अवस्थित कर लेता है' (बृ० उप० ४।४।३)। दूसरा उदाहरण यह है—'जिस प्रकार सर्प का केंचुल पिपीलिका के दूह पर मरा हुआ एवं फेंका हुआ रहता है, उसी प्रकार यह शरीर पड़ा रह जाता है और तब आत्मा, शरीर रहित, अमरात्मा हो जाता है और केवल ब्रह्म होता है।

यह सम्पूर्ण वचन (बृ० उप० ४।४।५-७) सबसे मुख्य, प्राचीन एवं स्पष्ट वचन है और उपनिषदों में पाये जाने वाले पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर प्रभूत प्रकाश डालता है। इसी प्रकार के अन्य वचन भी हैं। याज्ञवल्क्य एवं आर्त-भाग की कथा के अन्त में (जहाँ याज्ञवल्क्य ने आर्तभाग से एकान्त में मृत्यु के उपरान्त होने वाली अवस्था के विषय में बातें की हैं) उपनिषद में आया है—'उन्होंने जो कहा वह केवल कर्म था, उन्होंने जिसकी प्रशंसा की, वह कर्म ही है। व्यक्ति अच्छे कर्मों से अच्छा होता है और दुष्कर्मों से बुरा होता है' (बृ० उप० ३।२।१३)।

ये दोनों ऐसे मौलिक वचन हैं जो पुनर्जन्म के सिद्धान्त के आधार में पड़े तर्क एवं उद्देश्य की व्याख्या उपस्थित करते हैं।

उपर्युक्त दोनों उक्तियों का सारांश यह है कि इस जीवन में किये गये कर्म एवं आचारण मनुष्य के भावी जीवन का निर्माण करने वाले होते हैं और वर्तमान जीवन मनुष्य द्वारा अतीत जीवन या जीवनों में किये गये कर्मों या व्यवहार का फल है। किन्तु कर्म एवं आचरण (व्यवहार) मनुष्य की इच्छा (संकल्प) पर निर्भर रहते हैं और यह संकल्प (या इच्छा) कामनाओं के कारण ही जागता है। मनुष्य की कई कामनाएँ हो सकती हैं, वह उनमें कुछ को दबा सकता है, किन्तु कुछ कामनाओं की निष्पत्ति अथवा सिद्धि के लिए वह संकल्प ले सकता है। अतः कामनाएँ (अथवा केवल 'काम') संकल्प (या इच्छा), कर्मों एवं आचरण का आधार (मूल या जड़) है और अन्ततोगत्वा वही जन्मों एवं मरणों के चक्र (जिसे संसार कहा जाता है) के मूल में भी है। इसी से शंकराचार्य ने 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा' (बृ० उप० ४।४।७) का अनुसरण करते हुए कहा है—'कामो मूलं संसारस्य' अर्थात् काम संसार का मूल है।

बृहदारण्यकोपनिषद् (६।२) में एक अन्य महत्त्वपूर्ण वचन है। वहाँ आरुणि के पुत्र श्वेतकेतु के बारे में एक कथा आयी है। श्वेतकेतु अपनी विद्या के घमण्ड में चूर पञ्चालों के सभा-भवन में आये और वहाँ पर नौकरों द्वारा सेवा पाते हुए प्रवाहण जैवलि (एक क्षत्रिय या राजकुमार) को देखा। श्वेतकेतु को देख लेने पर राजकुमार ने उनसे पूछा—'क्या आपने अपने पिता से शिक्षा पायी है?' जब श्वेतकेतु ने 'हाँ' कहा तो राजकुमार ने उनसे पाँच प्रश्न किये; यथा—(१) क्या आप यह जानते हैं कि जब मनुष्य यहाँ से जाते हैं तो वे किस प्रकार विभिन्न दिशाओं को जाते हैं?; (२) क्या आप यह जानते हैं कि वे किस प्रकार यहाँ लौट आते हैं?; (३) क्या आप यह जानते हैं कि सामने वाला लोक किस प्रकार बहुत लोगों द्वारा बार-बार जाने पर भी भर नहीं पाता?; (४) क्या आप यह जानते हैं कि किस कृत्य की आहुति पर जल मानव वाणी से युक्त हो जाते हैं, उठ पड़ते हैं और बोल उठते हैं?; (५) क्या आप देवयान एवं पितृयाण नामक मार्गों की पहुँच को जानते हैं? (अर्थात् क्या आप उन कर्मों को

जानते हैं जिनके द्वारा मनुष्य **देवयान** एवं **पितृयाण** नामक मार्गों में जा सकते हैं ?), क्योंकि हमने एक ऋषि को यह कहते सुना है—'मैंने मनुष्यों के लिए दो मार्गों की बात सुनी है, जिनमें एक पितरों की ओर जाता है और दूसरा देवों की ओर; इन्हीं दोनों मार्गों पर सारा संसार जो कुछ भी पिता (आकाश) एवं माता (पृथिवी) के बीच रहता है, चलता है।'[७] इन सभी प्रश्नों के विषय में श्वेतकेतु ने कहा कि वे कुछ नहीं जानते। राजकुमार ने आतिथ्य दिया, किन्तु श्वेतकेतु दौड़ कर अपने पिता के पास गये और यह जानना चाहा कि कैसे उन्होंने कह दिया था कि उन्होंने सब कुछ पढ़ा दिया है, जब कि एक राजन्य द्वारा पूछे गये पाँच प्रश्नों में एक का भी उत्तर नहीं दिया जा सका। उनके पिता ने कहा कि उन्होंने सब कुछ, जो उन्हें ज्ञात था, पढ़ा दिया था, वे स्वयं इन प्रश्नों का उत्तर नहीं जानते। वे राजकुमार के पास गये, जिसने उन्हें दान से सम्मानित किया। आरुणि को धन नहीं चाहिए था, उन्होंने प्रश्नों का उत्तर चाहा। राजकुमार ने कहा—'शिष्य के रूप में आइए'। आरुणि (गौतम) ने कहा कि वे शिष्य के रूप में ही आये हैं। राजकुमार ने कहा कि जो विद्या मैं पढ़ाऊँगा वह किसी ब्राह्मण के पास इसके पूर्व नहीं थी।[८] इसके उपरान्त उन्होंने (राजन्य या क्षत्रिय अथवा राजकुमार ने) श्वेतकेतु को पाँचों प्रश्नों का उत्तर संक्षेप में दिया जो इस प्रकार है—पाँच अग्नियाँ (लाक्षणिक रूप में) हैं, **स्वर्ग, वर्षा के देव, पृथिवी, पुरुष** एवं **नारी** और पाँच आहुतियाँ हैं—**श्रद्धा, सोम** (चन्द्र), **वर्षा, अन्न** एवं **बीज**। यह चौथे प्रश्न का उत्तर हुआ। पहले एवं पाँचवें प्रश्नों का उत्तर इस वक्तव्य में है—'कुछ लोग देवों के मार्ग से, कुछ लोग पितरों के मार्ग से जाते हैं किन्तु अन्य (यथा—कीड़े-मकोड़े, मक्खियाँ आदि) लोगों के लिए कोई मार्ग नहीं है (वे केवल जीते हैं और मर जाते हैं)। देखिए बृ० उप० (६।२।१५-१६)। दूसरे एवं तीसरे प्रश्नों का उत्तर उसी प्रकार है, यथा—जो लोग पितृयाण से जाते हैं वे इस पृथिवी पर लौट आते हैं और जो ब्रह्म के पास जाते हैं वे लौट कर नहीं आते, इसी से वह लोक भर नहीं पाता।

छा० उप० (५।३।२) में ये प्रश्न कुछ भिन्न रूप से पूछे गये हैं—(१) क्या आप जानते हैं कि यहाँ से लोग किस स्थान को जाते हैं ?; (२) वे कैसे लौटते हैं ?; (३) क्या आप जानते हैं कि देवों का मार्ग एवं पितरों का मार्ग कहाँ अलग-अलग होता है ?; (४) लोक भर क्यों नहीं जाता ?; (५) पाँचवीं आहुति में जल को मनुष्य क्यों कहा जाता है ? इनके उत्तर बृह० उप० एवं छा० उप० में एक-से नहीं हैं, यद्यपि वे पर्याप्त रूप में एक-दूसरे से मिलते-जुलते हैं। अग्नि के पाँच अंग हैं, **ईंधन, धूम, ज्वाला, जलते कोयले** (अंगारे) एवं **स्फुलिंग**। छा० उप० (५।१०।४-८) एवं बृह० उप० (६।२।६-१३) में अग्नियाँ एक ही हैं, किन्तु उनके अंगों में थोड़ा

७. देवयान एवं पितृयाण के विषय में जो प्रश्न बृह० उप० (६।२।२) में पूछा गया है उसका रूप यों है : वेत्थो देवयानस्य वा पथः प्रतिपदं पितृयाणस्य वा। यत्कृत्वा देवयानं वा पन्थानं प्रतिपद्यन्ते पितृयाणं वा। अपि हि न ऋषेर्वचः श्रुतम्–द्वे सृती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्। ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च। इति। 'द्वे सृती...' नामक पद ऋ० (१०।८८।१५) एवं तै० ब्रा० (१।४।२–३) में पाया जाता है। द्यौः (स्वर्ग) एवं पृथिवी को क्रम से पिता एवं माता कहा गया है (ऋ० १।१६४।३३ एवं १।१६१।६)।

८. इस विद्या को 'पञ्चाग्निविद्या' कहा जाता है। इस उपनिषद में 'राजन्य' शब्द राजकुमार के लिए प्रयुक्त हुआ है, जिसका अर्थ है, केवल क्षत्रिय, जैसा कि पुरुषसूक्त, (१०।९०।१२) में आया है, न कि 'राजा'।

अन्तर है; मिलाइए, उदाहरणार्थ, बृह० उप० (६।२।११) एवं छा० उप० (५।३।६)। छा० उप० में प्रथम प्रश्न के उत्तर में दोनों मार्गों का उल्लेख है। दूसरे प्रश्न का उत्तर छा० उप० (५।१०।८) में है।[६] चन्द्र तक पहुँचने पर मार्ग पृथक्-पृथक् हो जाते हैं। (तीसरे प्रश्न का उत्तर), जैसा कि छा० उप० (५।१०।२ एवं ४-५) में आया है। चौथे प्रश्न का उत्तर छा० उप० (५।१०।८) में है। पाँचवें प्रश्न का उत्तर 'पंचाग्नि-विद्या' की उक्ति द्वारा दिया गया है।

आगे कुछ और कहने के पूर्व इस विषय में कुछ लिख देना आवश्यक प्रतीत होता है कि शरीर के मरने के उपरान्त क्या होता है अथवा क्या सम्भव हो सकता है। इस विषय में तीन सम्भावनाएँ हैं, यथा—(१) सम्पूर्ण विलोप, (२) स्वर्ग या नरक में अनन्त प्रतिकार (बदला, अर्थात् फल भोगना), एवं (३) पुनर्जन्म। जो लोग आत्मा की अमरता में विश्वास नहीं करते वे प्रथम मत का प्रतिपादन करते हैं। प्राचीन भारत में भी, जैसा कि कठोपनिषद् (१।२०) ने प्रमाण दिया है, कुछ लोग मृत्यूपरान्त आत्मा के अतिजीवन (जीते रह जाने) में शंकाएँ रखते थे। जो लोग अतिजीवन (सरवाइवल) में विश्वास नहीं करते वे अन्य प्रश्नों से व्यामोहित अथवा चिन्तित नहीं होते। अतः मृत्यु के उपरान्त वाला अति जीवन-सम्बन्धी प्रश्न सबसे महत्वपूर्ण है अर्थात् क्या भौतिक शरीर की मृत्यु के उपरान्त व्यक्ति (या उसका आत्मा या उसका कोई अपनापन) का कोई चिह्न बचा रहता है? श्वेताश्वतरोपनिषद् का प्रथम मन्त्र चार समस्याएँ उपस्थित करता है—(१) क्या ब्रह्म ही कारण है?; (२) हम कहाँ से आते हैं?; (३) हमें कौन पालता है? तथा (४) हम कहाँ जा रहे हैं? जो लोग ईश्वर, स्वर्ग एवं नरक में विश्वास करते हैं उनमें बहुत-से लोग आत्मा के पूर्वास्तित्व में विश्वास नहीं करते, वे केवल उत्तरास्तित्व (पश्चात् वाले अस्तित्व) में विश्वास करते हैं। वे ऐसा विश्वास करते हैं कि यदि व्यक्ति इस जीवन में सदाचारी है तो उसे स्वर्ग में आनन्द का अनन्त जीवन प्राप्त होगा, और जो पापमय जीवन बिताता है वह मृत्यु के उपरान्त नरक में सदा के लिए निवास करेगा। बाइबिल एवं कुरान में विश्वास करने वाले ऐसा विश्वास करते हैं, और उनकी दृष्टि में सुकृत (साधुता, धर्माचरण या सदाचार) केवल ईश्वर की इच्छा के प्रति श्रद्धा रखने में है (जैसा कि बाइबिल या कुरान में 'इलहाम' या अन्तःप्रेरणा के रूप में व्यक्त है)। बहुत कम लोग प्रथम सम्भावना, अर्थात् सम्पूर्ण नाश (विलोप) वाले सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं, क्योंकि इससे मनुष्य की कामनाओं से विरोध उठ खड़ा होता है, क्योंकि व्यक्ति सोचता है कि उसने इस जीवन में जो कुछ मानसिक एवं आध्यात्मिक रूप में कमाया है वह बिना कुछ चिह्न छोड़े सर्वथा विलुप्त नहीं हो सकता। दूसरी सम्भावना अनन्त पुण्यफल या पापफल भोगने की ओर इंगित करती है, और इसमें बहुत लोग विश्वास नहीं करते, विशेषतः जब वे सोचते हैं कि जीवन तो अल्प होता है और

६. छा० उप० (५।१०।४) : 'आकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षन्ति' एवं बृ० उप० (६।२।१६): 'ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति तांस्तत्र देवाः .. भक्षयन्ति'। वे० सू० (३।१।७) में इनका विवेचन है (भाक्तं वानात्मविरवात्तथाहि दर्शयति), उसमें आया है कि शब्दों (देव उन्हें खाते हैं, 'भक्षयन्ति') को शाब्दिक अर्थ में नहीं लेना चाहिए प्रत्युत लाक्षणिक अर्थ में। वास्तव में, कहने का तात्पर्य यह है कि देवों को उनका साथ अच्छा लगता है जो लोग यज्ञ करते हैं, क्योंकि छा० उप० (३।८।१) में स्वयं आया है कि देव लोग न तो खाते हैं और न पीते हैं, किन्तु वे अमृत को देख कर अवश्य सन्तुष्ट होते हैं।"

उसी में किये गये सत्कर्मों या दुष्कर्मों के लिए स्वर्ग या नरक में अनन्त वास करना पड़ता है। अतः अपेक्षाकृत अधिक लोग तीसरी सम्भावना में विश्वास करते हैं, क्योंकि इसमें भौतिक मृत्यु के उपरान्त किसी-न-किसी रूप में एवं किन्हीं वातावरणों में आत्मा के सतत अस्तित्व का संकेत मिलता है।

उपर्युक्त उपनिषद्-वचन यह प्रदर्शित करने के लिए पर्याप्त है कि पुनर्जन्म का सिद्धान्त किस प्रकार उपनिषद्-काल में अपना रूप धारण कर रहा था। ऋग्वेद में देवयान एवं पितृयान नामक दो मार्ग विदित थे और यह भी ज्ञात था कि स्वर्ग में आनन्द एवं आह्लाद प्राप्त होते हैं, किन्तु ऋग्वेद से यह नहीं ज्ञात हो पाता कि स्वर्ग के आनन्दों की क्या अवधि थी और न वहाँ पुनर्जन्म सम्बन्धी सिद्धान्त के विषय में कोई स्पष्ट एवं निश्चित उक्ति ही मिलती है। ब्राह्मण ग्रन्थों में दोनों मार्गों की ओर बहुधा संकेत किया गया है और इस धारणा की ओर भी निर्देश मिलता है कि मनुष्य को कई बार मरना होगा (पुनर्जन्म); किन्तु तथापि सत्कर्मों एवं दुष्कर्मों पर आधारित पुनर्जन्म के विषय में कोई स्पष्ट एवं निश्चित सिद्धान्त नहीं मिलता। अत्यन्त स्पष्ट (और सम्भवतः अत्यन्त आरम्भिक) वक्तव्य बृह० उप० के दो वचनों (३।३।१३ एवं ४।४।५-७) में है जो पुनर्जन्म के सिद्धान्त के उद्गम पर प्रकाश डालते हैं। ये दोनों वचन याज्ञवल्क्य से सम्बन्धित हैं और उन्होंने ही दृढ़तापूर्वक कहा है कि अपने कर्मों के फलस्वरूप ही मनुष्य नये जन्म ग्रहण करता है। इन दोनों वचनों में देवयान एवं पितृयाण का कोई उल्लेख नहीं है। किन्तु बृह० उप० (६।२।१६) एवं छा० उप० (५।१०) ने पुनर्जन्म के दो मार्गों की चर्चा की है और उनके लिए जो कीटों एवं मक्खियों के रूप में जन्म लेते हैं, तीसरे स्थान की बात कही है। यह दो मार्गों वाले सिद्धान्त के आगे का मार्ग है, क्योंकि इसमें एक और मार्ग जोड़ दिया गया है। एक अन्य अन्तर भी पाया जाता है। छान्दोग्योपनिषद् (५।१०।५) में आया है कि वैसे लोग, जो यज्ञ करते हैं, जन-कल्याण का कार्य करते हैं तथा दान देते हैं, चन्द्रलोक जाते हैं और जब उनके सत्कर्मों के फल समाप्त हो जाते हैं तो वे उसी मार्ग से लौट आते हैं जिससे वे चन्द्रलोक गये थे (अर्थात् चन्द्र से आकाश, तब वायु, धूम्र, कुहरा, बादल एवं वर्षा के मार्ग से लौटते हैं) और पुनः किसी माता के पेट से जन्म लेते हैं। इससे विदित होता है कि जो लोग यज्ञ आदि करते हैं उन्हें दो प्रतिकार (बदले) मिलते हैं, यथा—बहुत काल तक चन्द्रलोक में निवास तथा इस पृथिवी पर पुनर्जन्म।

छा० उप० की भाँति प्रश्न उ० में भी वही सिद्धान्त आया है, किन्तु यहाँ सूर्यलोक के निवास की भी बात आयी है, यथा—"संवत्सर वास्तव में प्रजापति का है, इसके दो मार्ग हैं—दक्षिणी एवं उत्तरी। जो लोग यज्ञ एवं जन-कल्याण के कार्य को आवश्यक समझ कर सम्पादित करते हैं वे चन्द्र को ही अपने भावी लोक के रूप में प्राप्त करते हैं, और वे ही इस लोक को फिर लौट आते हैं। अतः जो ऋषि सन्तान की कामना रखते हैं दक्षिणी मार्ग को अपनाते हैं। जो ऋषि तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा एवं ज्ञान के द्वारा आत्मा का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं वे उत्तरी मार्ग से सूर्य की ओर जाते हैं, जो प्राणों का आयतन है, अमृत है, भय से मुक्त है, यह सर्वोच्च एवं अन्तिम लक्ष्य है। यहाँ से वे लौटते नहीं, यहाँ अन्य पदार्थों के लिए निरोध है। इस पर एक श्लोक है (ऋ० १।१६४।१२)—"कुछ लोग उसे पाँच पाँवों वाले (पाँच ऋतुओं), बारह रूपों वाला (१२ महीनों) पिता कहते हैं, सर्वोच्च स्वर्ग में वर्षा का दाता कहते हैं, अन्य लोग कहते हैं कि ऋषि नीचे के अर्ध भाग में सात पहियों वाले (घोड़ों या सूर्य की किरणों) एवं छह तीलियों (अरों) वाले रथ में रखा जाता है।" ऋग्वेद का यह मन्त्र सम्भवतः उन दो मार्गों के लिए उद्धृत किया गया है जो प्रतीक के रूप में वर्ष के दो भागों को बताते हैं। ऋग्वेद के इस मन्त्र का प्रथम अर्ध भाग सूर्य की ओर संकेत करता है जो कि स्वर्ग के सर्वोच्च अर्धभाग में अवस्थित है और सम्भवतः दूसरा अर्धभाग स्वर्ग के उस भाग को बताता

है जो नीचे है और उसमें छः तीलियाँ हैं अर्थात् दक्षिणायन के ६ मास हैं) ड्यूशन (फिलॉसॉफी आव दि उपनिषद्स, पृ० ३३८) ने स्पष्ट रूप से कहा है कि ऋ० (१।१६४।१२) का दो मार्गों से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह द्रष्टव्य है कि ऋग्वेद के इस मन्त्र के पूर्व (१।१६४।११) ऋत (वर्ष या सूर्य) के पहिये को द्वादशार (१२ अरों या तीलियों वाला या १२ महीनों वाला) कहा गया है, अतः जब षडरे (छह अरों या तीलियों वाला) का उल्लेख ऋ० (१।१६४।१२) में हुआ है तो यह ६ महीनों का द्योतक हो सकता है।

कौषीतकि उप० (१।२-३) ने देवयान एवं पितृयाण का उल्लेख तो किया है किन्तु कीड़ों-मकोड़ों, पक्षियों आदि के तीसरे स्थल का नहीं, प्रत्युत ऐसा कहा है कि कीड़े-मकोड़े आदि उसी मार्ग से लौटते हैं जिस मार्ग से मनुष्य। बृह० उप० एवं छा० उ० ने चन्द्रलोक को ऐसा स्थल माना है जहाँ से दो मार्ग पृथक्-पृथक् हो जाते हैं, किन्तु कौषीतकि उप० ने अपने उल्लेख में देवयान के मार्ग के विश्राम-स्थलों (स्टेशनों) को पितृयाण-मार्ग के प्रतिलोमों के रूप में रख दिया है। कौषीतकि उप० ने चन्द्र तक के सभी आरम्भिक विश्राम-स्थलों को छोड़ दिया है और सभी पुनर्जन्म लेते हुए जीवों का चन्द्र तक जाना कहा है। अन्य अन्तर भी हैं, जिन्हें हम यहाँ नहीं दे रहे हैं।

ड्यूशन महोदय (फिलॉसॉफी आव दि उपनिषद्स, पृ० ३१८) ने लिखा है कि ऋग्वेद (१०।८८।१५) में उल्लिखित दो मार्ग दिन एवं रात्रि के द्योतक हैं, किन्तु बात वास्तव में ऐसी नहीं है। पितृयाण मार्ग का उल्लेख ऋ० (१०।२।७) में हुआ है (अग्नि पितृयाण मार्ग को भली-भाँति जानती है), और भी 'हे मृत्यु, अन्य मार्ग से जाओ, जो तुम्हारा है और देवयान से भिन्न है' (ऋ० १०।१८।१)। ये दोनों मंत्र स्पष्ट रूप से सिद्ध करते हैं कि ऋग्वेदीय ऋषियों को देवयान एवं पितृयाण के मार्गों का ज्ञान अवश्य था। अतः ऋ० (१०।८८।१५) में वर्णित दोनों मार्ग देवयान एवं पितृयाण हैं न कि दिन एवं रात्रि जैसा कि ड्यूशन महोदय ने लिखा है। देखिए शतपथब्राह्मण (१२।८।१।२१ एवं १।६।३।१-२)। देवयान कभी-कभी ऋग्वेद में बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है, यथा—३।५८।५, ७।३८।८, ७।७६।२, १०।५१।५, १०।९८।११। ऋ० (१०।१५।८) में ऐसा आया है कि यम ने ऋषि के पूर्वपुरुषों के साथ आहुतियों का आनन्द लिया और ऋ० (१।१५४।४) में यम से प्रार्थना की गयी है कि वे सदाचारी एवं तपस्वी पितरों में सम्मिलित हो जायँ। शत० ब्रा० (१३।८।१।५) में आया है कि पितरों का द्वार दक्षिण में है और देवों एवं मनुष्यों का उत्तर में (शत० ब्रा० १।२।५।१७ एवं १२।४।२।१५)। अथर्ववेद (१५।१२।५) ने देवयान एवं पितृयाण मार्गों का उल्लेख किया है।

कौषीतकि उप० (१) ने आरुणि के पुत्र श्वेतकेतु को चित्र गार्ग्यायणि द्वारा पढ़ायी गयी पञ्चाग्नि-विद्या के भाग के रूप में दो मार्गों के सिद्धान्त को निगूढ़ ढंग से व्यक्त किया है। हम इसे स्थानाभाव से यहीं छोड़ते हैं, केवल एक उक्ति को महत्वपूर्ण समझ कर उद्धृत किया जा रहा है—'उसने (चित्र ने) कहा कि वे सभी जो यहाँ से प्रस्थान करते हैं, चन्द्र को जाते हैं; शुक्ल पक्ष (पूर्व पक्ष) उनके प्राणों से आप्यायित हो जाता (बढ़ जाता) है, कृष्ण पक्ष में चन्द्र उन्हें पुनः जन्म लेने के लिए भेज देता है। सच है, चन्द्र ही स्वर्गिक लोक का द्वार है। यदि कोई चन्द्र को नहीं अपनाता है (अर्थात् यहाँ के जीवन से असन्तुष्ट है), चन्द्र उसे मुक्त कर देता है। किन्तु यदि कोई असन्तुष्ट नहीं है तो चन्द्र उसे वर्षा के रूप में यहाँ भेज देता है और अपने कर्मों एवं ज्ञान के अनुसार वह यहाँ पुनः कीट, पतंग, पक्षी, व्याघ्र सिंह या मछली या सर्प या मनुष्य या किसी अन्य के रूप में विभिन्न स्थानों में जन्म लेता है' (१।२)। पुनः (१।३) में देवयान का उल्लेख है, और (१।४) में ऐसा आया है—'सत्कर्मों एवं दुष्कर्मों से मुक्त हो कर वह जो ब्रह्मविद् है, केवल ब्रह्म की ओर बढ़ता है।'

कठोपनिषद् (५।६-७) में नचिकेता को यम ने ब्रह्मविद्या का रहस्य बताया है और यह भी बताया है कि मृत्यु के उपरान्त आत्मा का क्या हो जाता है—कुछ लोग दैहिक अस्तित्व के लिए माता के गर्भाशय में चले जाते हैं और अन्य लोग अपने कर्मों एवं विद्या के अनुसार वृक्षों की थून्हियों (स्थाणुओं) में परिवर्तित हो जाते हैं।

बृ० उप० (६।२।१५-१६) एवं छा० उप० (५।३।१० आदि) में देवयान एवं पितृयाण मार्गों से जाने वाले लोगों का उल्लेख है। सर्वप्रथम हम बृ० उप० को उद्धृत करते हैं—'ऐसे लोग जो (गृहस्थ भी) इसे (पञ्चाग्नि विद्या) जानते हैं और वे लोग जो (आश्रमवासी एवं संन्यासी) वन में श्रद्धा के साथ सत्य (ब्रह्म या हिरण्यगर्भ) की उपासना करते हैं अर्चि (प्रकाश) को जाते हैं, अर्चि से दिन (अहन्) को, दिन से पूर्ण होते हुए पक्ष (शुक्ल पक्ष) को, आपूर्वमाणपक्ष (पूर्ण होते हुए पक्ष) से छह मासों में जाते हैं, जिस अवधि में सूर्य उत्तर में गतिशील हो जाता है। उन छह मासों से देवलोक में जाते हैं, देवलोक से सूर्य को जाते हैं और सूर्य से विद्युत् को जाते हैं। जब वे विद्युत् के स्थल को पहुँच जाते हैं तो (ब्रह्मा के) मन से उत्पन्न पुरुष उनके पास आता है और उन्हें ब्रह्मा के लोकों को ले जाता है, इन लोकों में उच्च पद प्राप्त करके वे युगों तक रहते हैं और उनके लिए (इस संसार में पुनः) लौटना नहीं होता। किन्तु वे लोग जो यज्ञ, दान एवं तप द्वारा लोकों पर विजय प्राप्त करते हैं, धूम (मार्ग) को जाते हैं, धूम से रात्रि को, रात्रि से कृष्णपक्ष को, कृष्णपक्ष से छह मासों को जाते हैं जिनमें सूर्य दक्षिणायन होता है, इन मासों से पितरों के लोक में जाते हैं, पितृलोक से चन्द्र लोक को जाते हैं और चन्द्र तक पहुँच जाने पर वे अन्न हो जाते हैं और तब देवगण उन्हें उसी प्रकार खाते हैं जिस प्रकार यज्ञ करने वाले राजा सोम को खाते हैं (यह यज्ञ के अनुसार बढ़ता या घटता है)। किन्तु जब यह (पृथिवी पर किये गये कर्मों का फल) समाप्त हो जाता है वे आकाश को लौट आते हैं, आकाश से वायु, वायु से वर्षा और वर्षा से पृथिवी पर चले आते हैं; पृथिवी पर पहुचने पर वे अन्न (भोजन) हो जाते हैं। तब वे पुनः अग्नि में, जो मनुष्य कहलाती है, डाले जाते हैं। इससे (अर्थात् मनुष्य से) वे अग्नि में जो नारी कहलाती है, जन्म लेते हैं। ये लोग लोकों की प्राप्ति के लिए (यज्ञ आदि द्वारा) उद्योग करते हुए इस लोक में बार-बार आते हैं। वे लोग, जो इन दोनों मार्गों से अपरिचित हैं, कीटों, पतंगों, पक्षियों एवं मक्खियों के रूप में जन्म लेते हैं।'

छा० उप० (५।१०।१-२) में बृह० उप० (६।२।१५) के ही शब्द अधिकांश में आये हैं। कहीं-कहीं कुछ अन्तर पाया जाता है। स्थानाभाव से यहाँ अन्तरों पर प्रकाश नहीं डाला जा रहा है। भविष्य जीवन को रूप देने वाले आचरणों से सम्बन्धित अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वचनों में एक है छा० उप० का ५।१०।७-८ जो यों है—'जिनके आचरण रमणीय रहे हैं वे शीघ्र ही रमणीय योनि प्राप्त करेंगे, यथा ब्राह्मण योनि या क्षत्रिय योनि या वैश्ययोनि। किन्तु जिनके आचरण कपूय (बुरे) रहे हैं वे शीघ्र ही कपूय योनि प्राप्त करेंगे, यथा श्वयोनि, सूकरयोनि या चाण्डालयोनि। जो इन क्षेत्रों में से किसी मार्ग का अनुसरण नहीं करते वे ऐसे क्षुद्र जीव बनते हैं, जो सतत लौटते आ रहे हैं और उनके भाग्य (नियति) को हम यों कह सकते हैं—'जीना एवं मरना'। उनका तीसरा स्थल है। (उन दोनों मार्गों से भिन्न)। अतः सामने का लोक पूर्ण नहीं होता अतः इस संसार से जुगुप्सा उत्पन्न होती है।

यह द्रष्टव्य है कि भगवद्गीता (८।२३-२७) ने भी दो मार्गों का उल्लेख किया है, जिनमें एक वह है जिसके द्वारा जाने से योगी इस लोक में लौट कर नहीं आता और दूसरा वह है जिसके द्वारा जाने पर उसे पुनः यहाँ लौट आना पड़ता है। इन्हें शुक्ल एवं कृष्ण गति (८।२६) तथा सृति (८।२७) कहा गया है।

प्रथम है अग्नि, प्रकाश (ज्योति), दिन, मास का शुक्ल पक्ष एवं सूर्य का उत्तरायण मार्ग; वे लोग, जिन्होंने ब्रह्म की अनुभूति कर ली है, इस लोक से जाते समय ब्रह्मलोक की यात्रा करते हैं। दूसरा मार्ग है धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष, सूर्य के ६ मासों का दक्षिणायन मार्ग; योगी उस मार्ग से चन्द्र-प्रकाश को प्राप्त कर पुनः इस लोक में लौट आता है।

शान्तिपर्व (२६।८-१०; चित्रशाला संस्करण) ने उत्तरायण एवं दक्षिणायन मार्गों का उल्लेख किया है, जिनमें दूसरे की उपलब्धि दानों, वेदाध्ययन एवं यज्ञों से होती है (जैसा बृ० उ०६।२।१६ एवं छा० उ० ५। १०।८ में वर्णित है)। याज्ञवल्क्यस्मृति (३।१९७) ने भी इन मार्गों की ओर इंगित किया है, और देखिए याज्ञ० (३।१९५-१९६)।

वेदान्तसूत्र ने बहुधा पुनर्जन्म के सिद्धान्त की ओर संकेत किया है, किन्तु स्थानाभाव से हम सभी बातों का उल्लेख नहीं कर सकते। थोड़े ही सूत्रों की व्याख्या यहाँ उपस्थित की जायगी। वे० सू० के तीन सूत्र (२।१।३४-३६)[१०] पुनर्जन्म के सिद्धान्त के विषय में बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। विरोधी कहता है—'यह कहना कि ईश्वर संसार का कारण है, युक्तिसंगत नहीं जँचता, क्योंकि यदि ऐसा है तो ईश्वर पर व्यवहार-वैषम्य एवं अत्याचार का अभियोग लग जायेगा। वे कुछ ऐसे लोगों को उत्पन्न करते हैं जो (देवों आदि की भाँति) अत्यन्त आनन्द का उपभोग करते हैं। कुछ ऐसे लोगों को उत्पन्न करते हैं जो (भारवाही पशुओं की भाँति) अत्यन्त क्लेशयुक्त जीवन बिताते हैं तथा कुछ ऐसे लोगों को उत्पन्न करते हैं जो बीच की स्थिति प्राप्त करते हैं अर्थात् आनन्द का अल्पांश मात्र पाते हैं। अतः ईश्वर पर ऐसा अभियोग लगाया जा सकता है कि वे द्वेष एवं प्रेम की भावनाओं से (सामान्य लोगों की भाँति) परिपूर्ण हैं। ईश्वर भी क्लेश उत्पन्न करता है और अन्त में सब को नष्ट कर देता है। इस प्रकार का बड़ा अत्याचार दुष्ट लोगों की दृष्टि में भी घृणास्पद है।' इस पर उत्तर यों है—'यदि ईश्वर ने संसार में वैषम्य की रचना केवल अपने मन से की होती तथा किसी अन्य बात पर विचार न किया होता तो निस्सन्देह उन पर असमान व्यवहार एवं अत्याचार के दो अभियोग लगाये जाते। किन्तु ईश्वर ने सदाचार नामक वृत्ति को भी दृष्टि में रखा है। ईश्वर की स्थिति को हम वर्षा की स्थिति से तुलना करके देखें। वर्षा समान रूप से खेत पर होती है किन्तु अंकुर समान रूप से नहीं निकलते, कोई छोटा होता है, कोई बड़ा, कोई उत्तम होता है, कोई निकृष्ट, यह सब बीज की विशेषता पर निर्भर होता है। ईश्वर पशुओं, मनुष्यों एवं देवों की रचना का एक मात्र कारण है, जो विषमता दृष्टि-गोचर हो रही है वह है विभिन्न जीवों की अपनी-अपनी विशिष्ट वृत्तियाँ एवं शक्तियाँ।'

कर्म एवं पुनर्जन्म के विषय में अति प्राचीन काल से ही लोगों का मन प्रभावित था। आपस्तम्बधर्म-सूत्र (२।१।२।२-३, ५-६) में आया है—'विभिन्न वर्णों के लोग अपने व्यवस्थित कर्तव्यों के सम्पादन से सर्वोच्च एवं अपरिमित सुख का भोग करते हैं। (स्वर्ग में सुख भोगने के उपरान्त) कर्मफल शेष होने के कारण वे लौट आते हैं और यथोचित जाति (या कुल), रूप, वर्ण, बल, बुद्धि, प्रज्ञा, सम्पत्ति के साथ जन्म लेते हैं, धर्मानुष्ठान (कर्तव्य पालन) का लाभ उठाते हैं और यह सब आनन्द में परिणत होता है जो चक्र के समान दोनों लोकों में होता है। यही नियम दुष्कृत्य करने पर भी लागू होता है। सोने का चोर एवं ब्रह्महत्यारा अपनी

१०. वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात् तथाहि दर्शयति। न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात्। उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च। वे० सू० (२।१।३४—३६)।

जाति के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य के अनुसार कुछ अवधि तक नरक की यातनाएं सहकर क्रम से चाण्डाल पौल्कस या वैण बनता है (का जन्म पाता है)।' यही बात गौतमधर्मसूत्र (११।२६-३०) में भी आयी है।

कर्म का सिद्धान्त यह बताता है कि प्रत्येक अच्छा या बुरा कर्म विशिष्ट प्रकार का परिणाम उपस्थित करता है जिससे कोई बच नहीं सकता। इस भौतिक संसार में कार्य-कारण का एक सार्वभौम नियम है। कर्म का सिद्धान्त इस नियम को मानसिक एवं नैतिक धरातल पर भी ला देता है। कर्म का सिद्धान्त कोई यान्त्रिक कानून नहीं है, यह एक प्रकार से नैतिक एवं आध्यात्मिक आवश्यकता है। इसमें सन्देह नहीं कि यह सिद्धान्त वैज्ञानिक नहीं है, किन्तु इसे केवल काल्पनिक कह कर ही हम नहीं त्याग सकते। यदि कर्म एवं पुनर्जन्म का सिद्धान्त न होता तो हम इस लोक को अनियन्त्रित मानते और यह समझते कि स्रष्टा लोगों के कर्मों की चिन्ता नहीं करता है और मनमाने ढंग से लोगों को पुरस्कार आदि देता है। वास्तव में कर्म-सिद्धान्त तीन बातों पर बल देता है—(१) यह वर्तमान अस्तित्व को अतीत अस्तित्व अथवा अस्तित्वों में किये गये कर्मों का फल मानता है; एक प्रकार का प्रायश्चित्त मानता है, (२) बुरे कर्म का नाश सत्कर्म से नहीं हो सकता, दुष्कर्मों का भोग तो भोगना ही है, (३) दुष्कर्म के लिए जो दण्ड होता है वह व्यक्तिगत एवं स्वयं होने वाला होता है। यहाँ पर संयोग एवं भाग्य की बात ही नहीं उठती।

कर्म सिद्धान्त से ही हम पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर पहुँचते हैं। एक व्यक्ति के कर्मों के फल अचानक या वर्तमान जीवन में नहीं भी घटित हो सकते। आदिपर्व एवं मनु में आया है—'दुष्कर्म अपना फल गौ (जो खा लेने के पश्चात् ही पर्याप्त दूध दे देती है) के समान तुरन्त ही नहीं उपस्थित कर देता, किन्तु धीरे-धीरे वह अपने कर्ता की जड़ को ही कुतर डालता है।'[११] अतीत अस्तित्वों में किये गये कर्म वर्तमान अस्तित्व के रूप को निर्धारित एवं निश्चित करते हैं और वर्तमान अस्तित्व के कर्म पूर्व जन्मों (अस्तित्वों) के शेष कर्मों के साथ भावी अस्तित्व का रूप निर्धारित करते हैं। यही संक्षेप में, पुनर्जन्म के सिद्धान्त का आधार है। इसमें जो परिवर्तन हुए हैं उनसे सम्बन्धित वचनों, उक्तियों एवं प्रचलित दृष्टिकोणों पर हम आगे विचार करेंगे। भौतिक शरीर की मृत्यु के उपरान्त क्या होता है, इस विषय में जितने अनुमान हैं उनमें ही पुनर्जन्म का भी सिद्धान्त है जो अन्य अनुमानों के समान ही तार्किक है। सम्पूर्ण नाश वाले सिद्धान्त के अनुमान से (जो अनस्तित्ववादियों द्वारा घोषित है) तो यह अधिक सन्तोषजनक है। इतना ही नहीं, स्वर्ग या नरक में कर्मों के प्रतिकार के रूप में अनन्त काल तक रहने वाले सिद्धान्त से भी यह सिद्धान्त अपेक्षाकृत अधिक सन्तोषजनक है। अधिकांश धर्मों के नेता एवं प्रवर्तक लोग ऐसा विश्वास करते हैं कि ईश्वर उनके साथ है और उन्होंने १९वीं शती तक अपने धर्मों के बाहर कोई भला (व्यक्ति या घटना) नहीं देखा है। उपनिषदों एवं गीता का हिन्दू धर्म ही एक ऐसा धर्म एवं दर्शन है जिसने सहस्रों वर्ष पहले ऐसा उद्घोष किया कि सत्कर्मों वाला व्यक्ति ही भगवान् के अत्यधिक सन्निकट है और दुष्कर्मों वाला व्यक्ति भगवान के अनुग्रह एवं संग को नहीं पा सकता।

वेदान्तसूत्र (३।१) ने छा० उप० एवं बृ० उप० में पाये जाने वाले पञ्चाग्निविद्या-सम्बन्धी वचनों की जाँच की है। शंकर के भाष्य में पाये जाने वाले विशद विवेचन को यहाँ उपस्थित करना सम्भव नहीं है, अतः कुछ महत्त्वपूर्ण अन्तिम निष्कर्ष ही यहाँ उपस्थित किये जा रहे हैं—यह आत्मा (व्यक्ति का आत्मा) एक

११. नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव। शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति। आदिपर्व (८०।२) एवं मनु (४।१७२)।

शरीर से दूसरे शरीर में जाता हुआ सूक्ष्म तत्त्वों (भूतसूक्ष्म) के साथ अथवा उनसे घिरा हुआ चलता है; छा० उप० (५।९।१) में उल्लिखित आहुतियों की चर्चा 'आपः' के रूप में हुई है, क्योंकि मानव-शरीर अन्नरस, रक्त आदि के रूप में द्रव पदार्थों से परिपूर्ण है; क्योंकि अग्निहोत्र आदि पवित्र कृत्य मृत्यु के उपरान्त नये शरीर के कारण बनते हैं और उन कृत्यों में जो मुख्य पदार्थ (यथा—सोम रस, घृत, दुग्ध) प्रयुक्त होते हैं वे सभी मुख्यतः द्रव ही हैं। उस उक्ति या वक्तव्य में कि "जो यज्ञादि करते हैं वे पितृयाण मार्ग से चन्द्रलोक जाते हैं और श्राद्ध एक हव्य के रूप में अर्पित होता है जिसमें से सोम, जो देवों का भोजन है, निकलता है", 'देवों का भोजन' नामक शब्द लाक्षणिक रूप में प्रयुक्त हुए हैं (न कि साक्षात् भोजन करने के अर्थ में)। यज्ञ, जन-कल्याण कर्म, दान, आदि करने वालों का आत्मा चन्द्र के पास पहुँचने एवं अपने सत्कर्मों के फलों (जो चन्द्र में अर्थात् चन्द्रलोक में ही भोगे जा सकते हैं) को भोगने के उपरान्त उसी मार्ग से लौटता है, जिस मार्ग से गया था, किन्तु विश्राम-स्थल यहाँ उलटे पड़ जाते हैं, जिससे कर्मों के फल, जो केवल इस पृथिवी पर ही भोगे जा सकते हैं, भोगे जा सकें।[१२] इस दृष्टिकोण के अन्तर्गत दो बातें हैं—(१) इस जीवन से ऊपर एक जीवन (जिसकी ओर ऋग्वेद में बहुधा निर्देश मिलता है) तथा पुन-र्जन्म। इतना ही नहीं, इस दृष्टिकोण से अच्छे कर्मों के फलस्वरूप दो परिणाम भी प्रकट होते हैं—स्वर्ग के भोग तथा पुनः भौतिक साधनों एवं सांस्कृतिक वातावरणों से युक्त पुनर्जन्म की स्थिति, जैसा हम गौतमधर्मसूत्र (११। २९) एवं गीता (६।३७-४५) में पाते हैं। इसी के साथ यह भी जान लेना है कि दुष्कर्मों के लिए दो दण्ड हैं, नरक की यातनाएँ और उनके उपरान्त घृणित निम्न स्तर का जीवन।

वे० सू० (३।१।१३-१७) ने आगे व्याख्या की है कि सभी मनुष्य चन्द्रलोक नहीं जाते, किन्तु केवल वे ही लोग जाते हैं, जो यज्ञ आदि करते हैं, जो लोग यज्ञों या जन-कल्याण के कार्यों को नहीं सम्पादित करते, वे दुष्कर्मों के दोषी हैं और नरक (जो वे० सू० ३।१।१५ के मत से सात हैं) की यातनाओं को भोगने के लिए यमलोक जाते हैं और उसके उपरान्त इस पृथिवी पर लौट आते हैं। जो श्रद्धा एवं तप के मार्ग का अनुसरण करते हैं वे **देवयान मार्ग** (छा० उप० ५।१०।१ एवं मुण्डक उप० १।२।११) से जाते हैं, और जो यज्ञ, दान एवं जन-कल्याण के कर्मों का सम्पादन करते हैं वे **पितृयाण मार्ग** (छा० उप० ५।१०।३ एवं मुण्डक उप० १।२।१०) से जाते हैं, और जो इन दोनों में किसी भी मार्ग का अनुसरण नहीं करते वे तीसरे स्थल को जाते हैं और कीटों, पतंगों आदि के रूप में जन्म लेते हैं (छा० उप० ५।१०।८)। कौषीतकि उप० के (१।२) जैसे श्रुतिवचन में जो यह आया है कि जो यहाँ से प्रस्थान करते हैं वे सभी चन्द्रलोक जाते हैं, उसमें 'वे सभी' शब्द उनके लिए प्रयुक्त हैं जिन्हें चन्द्र के यहाँ जाने का अधिकार (योग्यता या समर्थता) है।

एक शब्द है 'संसार', जो वेदान्त एवं धर्मशास्त्र सम्बन्धी पश्चात्कालीन ग्रन्थों में बहुधा किन्तु उपनिषदों में बहुत कम प्रयुक्त हुआ है। इसका अर्थ है 'जन्मों एवं मृत्युओं के चक्र में आना-जाना'। कठोपनिषद् (३।७) में आया है—'जो व्यक्ति अविज्ञानवान् (बिना समझ का) है, अमनस्क (मन को संयमित नहीं रखता है) है, जो सदा अशुचि (अशुद्ध या अपवित्र) है, उसे वह सर्वोच्च-पद नहीं प्राप्त होता और संसार (जन्म एवं मरण) में आता-

१२. कृतात्ययेऽनुशयवान् दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च। वे० सू० (३।१।८)। शङ्कराचार्य ने 'अनुशय' शब्द का अर्थ बताया है: 'आमुष्मिकफले कर्मजाते उपभुक्तेऽवशिष्टमैहिकफलं कर्मान्तरजातमनुशयस्तद्वन्तो-ऽवरोहन्तीति।' 'अनुशय' का यहाँ पर अर्थ है 'अवशेष, बचा हुआ'। मिलाइये मेघदूत (३०): 'स्वल्पीभूते सुचरितफले स्वर्गिणां गां गतानां शेषैः पुण्यैर्हृतमिव दिवः कान्तिमत्खण्डमेकम्॥' यह वेदान्त सूत्र (३।१।८) के सिद्धान्त पर आधृत एक बहुत ही सुन्दर उत्प्रेक्षा है।

जाता (गुजरता) है।[13] श्वेताश्वतरोपनिषद् (६।१६) ने परमात्मा के विषय में यों लिखा है—'वह विश्व की रचना करने वाला, विश्व को जानने वाला, आत्मयोनि (स्वयं जन्म लेने वाला), ज्ञाता, कालकाल (काल को नष्ट करने वाला); सभी गुणों से युक्त, सर्वविद्य (सर्वज्ञ), प्रधान तथा क्षेत्रज्ञों (व्यक्तिगत आत्माओं) एवं गुणों (सत्त्व, रज, तम) का स्वामी है और संसार से मोक्ष देने, उसकी स्थिति एवं बन्धन का हेतु (कारण) है।' मैत्रायणी उपनिषद् (१।४) का कथन है—'जब संसार का ऐसा स्वरूप है तो (आनन्दों के) भोग से क्या लाभ?' मुक्तिका उपनिषद् (२।३७) का कथन है—'मन संसार रूपी वृक्ष की जड़ के रूप में अवस्थित है।' 'संसार' शब्द वे० सू० (४।२।८) में भी आया है। गीता ने इसका प्रयोग कई बार किया है (यथा—९।३, १२।७ आदि)। मनुस्मृति ने भी 'संसार' शब्द का प्रयोग कई बार किया है (यथा—१।११७ में तथा कई बार १२ वें अध्याय में)। सत, रज एवं तम नामक तीन गुणों की विशेषताओं का वर्णन करने (मनु० १२।२६-२९) तथा उनके प्रभावों पर प्रकाश डालने (मनु० १२।३०।३८) के उपरान्त मनु ने कहा है कि जिनमें सत्त्व, रज एवं तम की प्रधानता होती है वे क्रम से देव, मानव एवं निम्न श्रेणी के जीव होते हैं। मनु ने पुनः लोगों को नीच, मध्यम एवं उत्तम श्रेणियों में बाँटा है (१२।४०-५०)। मनु ने 'संसार' को बहुवचन में (१२।५२, ५४, ७०) तथा 'गति' या 'योनि' के अर्थ में प्रयुक्त किया है। विशेष रूप से देखिए मनु (६।४०-६०) जहाँ संसार का उल्लेख है, संन्यास धर्म की चर्चा है, नरक-यातनाओं, रोगों, व्याधियों आदि का वर्णन है। श्री संजन महोदय ने अपने ग्रन्थ 'डॉग्मा आव रीइन्कारनेशन' के पृ० १० पर कहा है कि मनु के अनुसार प्रत्येक जीव दस सहस्र लक्षों की संख्या में अस्तित्व ग्रहण करता है। किन्तु यह उक्ति पूर्णतया भ्रामक एवं त्रुटिपूर्ण है। मनु का इतना ही कहना है कि मोक्ष के लिए इच्छुक संन्यासी को इस सम्भावना पर सोचना चाहिए कि कुछ आत्मा लाखों जन्मों में परिभ्रमण कर सकते हैं। याज्ञ० (३।१६९)ने जन्मों के घेरे में आने-जाने के अर्थ में 'संसरति' क्रिया का प्रयोग किया है और कहा है—'कुछ लोगों द्वारा किये गये कर्मों का विपाक मृत्यु के उपरान्त ही उत्पन्न होता है (अर्थात् अन्य शरीरों में) या इसी जीवन में होता है (यथा कारीरी यज्ञ के विषय में) तथा कुछ लोगों के विषय में इस लोक में या परलोक में (अर्थात् यह कोई शास्त्रीय नियम नहीं है कि कर्मों का विपाक या फल उनके सम्पादन के उपरान्त शीघ्र ही प्रतिफलित हो जाता है)। याज्ञ० (३।१३३, १६२) में एक सुन्दर रूपक आया है—'जिस प्रकार एक अभिनेता विभिन्न अभिनय करने के लिए विभिन्न रंगों का प्रयोग करता है उसी प्रकार यह आत्मा विभिन्न कर्मों के अनुसार विभिन्न रूपों (छोटा, कुबड़ा आदि) एवं शरीरों को धारण करता है।[14] याज्ञ० (३।१४०) में स्वयं 'संसार' शब्द प्रयुक्त हुआ है। शान्तिपर्व (२०५।६; चित्रशाला संस्करण=१९८।११-१२) में आया है—'इसमें कोई सन्देह नहीं है कि इस जीवन में सुख से कहीं अधिक दुःख है।' पुराण बहुधा कहते हैं कि संसार अनित्य है, दुःखों एवं चिंताओं से परिपूर्ण है और केला के पातों के समान

१३. यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः। न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति॥ कठोपनिषद (३।७); 'तत्पदं' का संकेत कठो०(२।१५–१६) की ओर है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में आया है: 'स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकालोगुणी सर्वविद्यः। प्रधान क्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः संसारमोक्षस्थितिबन्ध हेतुः (६।१६)।

१४. विपाकः कर्मणां प्रेत्य केषांचिदिह जायते। इह वामुत्र चैकेषां भावस्तत्र प्रयोजनम्॥ यथा हि भरतो वर्णैर्वर्णयत्यात्मनस्तनुम्। नानारूपाणि कुर्वाणस्तथात्मा कर्मजास्तनूः॥ याज्ञ० (३।१३३, १६२)। 'नानारूपाणि कुर्वाणः को हम 'भरतः' के साथ भी ले सकते हैं। 'भरत' का अर्थ है अभिनेता।

क्षणभंगुर (अर्थात् शीघ्र ही झकोरों से फट कर जीर्ण-शीर्ण हो जाने वाला है)। देखिए ब्रह्मपुराण (१७८।१७९: संसारे... अनित्ये दुःखबहुले कदलीदलसंनिभे)। इस अत्यधिक कर्मवादी सिद्धान्त के कारण आगे चलकर भारतीय जीवन में भाग्यवाद का सिद्धान्त प्रतिपादित होने लगा और बहुत-से लोग प्रमादी, आलसी एवं कर्मजरू सिद्ध होने लगे। स्वयं सन्तों ने कर्म के सिद्धान्त को बहुत बढ़ावा दिया। सन्त तुकाराम का कथन है कि सुख तो राई के समान है और दुःख पहाड़ है।

उपनिषदों में आत्मा के पुनर्जन्म-सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन प्रामाणिक हैं और वे संसारावस्था या व्यवहारावस्था से सम्बन्धित हैं, किन्तु अद्वैत (मुण्डक १।१।५-६ की **परा विद्या** या बृ० उप० २।३।५-६ के **अमूर्त ब्रह्म**) के सर्वोच्च आध्यात्मिक दृष्टिकोण से विचार करने पर यह धराशायी हो जाता है, क्योंकि आत्मा परमब्रह्म से अभिन्न है। शंकराचार्य ने वेदान्तसूत्र (२।३।३०) की व्याख्या में इस बात पर बल दिया है। उनका कथन है[15]—'जब तक यह आत्मा संसारी है और जब तक यह सम्यक् दर्शन से (पूर्णज्ञान से) संसारिकता से दूर नहीं होता तब तक आत्मा एवं बुद्धि से सम्बन्ध (संयोग) नहीं टूट सकता। जब तक बुद्धि के साथ, आत्मा का यह सम्बन्ध चलता रहता है तब तक जीव संसारिकता से लिप्त बना रहता है। किन्तु सत्य तो यह है कि जीव की स्वयं अपनी कोई सत्ता नहीं है, जो है वह केवल बुद्धि की उपाधि से परिकल्पित सम्बन्ध मात्र है। क्योंकि, जब हम वेदान्त के अर्थ के निरूपण में लगते हैं तो हमें उस सर्वज्ञ ईश्वर के अतिरिक्त, जिसका स्वरूप ही नित्य मुक्ति (स्वतन्त्रता) है, कोई अन्य बुद्धिमान् धातु (द्रव्य या पदार्थ) दृष्टिगोचर नहीं होती।' इसके उपरान्त शंकराचार्य ने कुछ वचन उद्धृत किये हैं (यथा—बृ० उप० १।४७, ३।७।२३, छा० उप० ६।१।६, ६।८।७) और कहा है कि इस प्रकार के सैकड़ों वचन हैं। शंकराचार्य का कथन है कि स्वयं बादरायण ने, जो वेदान्तसूत्र के प्रणेता हैं, सर्वोच्च वेदान्तवादी दृष्टिकोण से तथा व्यवहारावस्था (या संसारावस्था) के दृष्टिकोण से कुछ सूत्रों की रचना की है। निम्नोक्त सूत्रों में वेदान्तसूत्रकार बादरायण ने जीव एवं परमात्मा में अन्तर स्पष्ट किया है, यथा—१।१।१६-१७, १।१।२१, १।२।२०, १।३।५, २।१।२१-२२, २।३।२१, २।३।४१, २।३।४३, आदि। किन्तु १।१।३३, २।१।१४ एवं ४।१३ व्यक्त करते हैं कि दोनों (जीवात्मा एवं परमात्मा) में अभिन्नता है।[16]

१५. यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात्। वे० सू० (२।३।३०); यावदयमात्मा संसारी भवति यावदस्य सम्यग्दर्शनेन संसारित्वं न निवर्तते तावदस्य बुद्ध्या संयोगो न शाम्यति। यावदेव चायं बुद्ध्युपाधिसम्बन्धस्तावज्जीवस्य जीवत्वं संसारित्वं च परमार्थस्तस्तु न जीवो नाम बुद्ध्युपाधिसम्बन्धपरिकल्पितस्वरूपव्यतिरेकेणास्ति। न हि नित्यमुक्तस्वरूपात्सर्वज्ञादीश्वरादन्यश्चेतनो धातुर्द्वितीयो वेदान्तार्थनिरूपणायामुपलभ्यते। नान्योतोस्ति द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता (बृ० ३।७।२३), नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ श्रोतृ मन्तृ विज्ञातृ (छा० ६।८।७), तत्त्वमसि (छा०, ६।१।६), अहं ब्रह्मास्मि (बृ० १।४।७) इत्यादिश्रुतिशतेभ्यः।...अपि च मिथ्याज्ञानपुरःसरोऽयमात्मनो बुद्ध्युपाधिसम्बन्धः। न च मिथ्याज्ञानस्य सम्यग्ज्ञानादन्यत्र निवृत्तिरस्तीत्यतो यावद् ब्रह्मात्मतानवबोधस्तावदयं बुद्ध्युपाधि सम्बन्धो न शाम्यति। शाङ्करभाष्य। इसी प्रकार वे० सू० (१।१।५) पर शाङ्करभाष्य का कथन है: 'सत्यं, नेश्वरादन्यः संसारी, तथापि देहादिसंघातोपाधिसम्बन्ध इष्यत एव, घटकरकगिरिगुहाद्युपाधि सम्बन्ध इव व्योम्नः।'

१६. तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः। वे० सू० (२।१।१४); सूत्रकारोपि परमार्थाभिप्रायेण तदनन्यत्वमित्याह व्यवहाराभिप्रायेण तु स्याल्लोकवदिति महासमुद्र स्थानीयतां ब्रह्मणः कथयति। अप्रत्याख्यायैव

पुनर्जन्म का सिद्धान्त यह स्वीकार करता है कि प्रत्येक जीवन पूर्व अस्तित्व या अस्तित्वों (जीवनों) के कर्मों का परिणाम या प्रतिफल है। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि हम अतीत की ओर बढ़ें और बहुत दूर तक निकल जायँ तो कोई अस्तित्व या जन्म प्रथम नहीं हो सकता। इसी से वेदान्तसूत्र को यह घोषणा करनी पड़ी कि (२।१।३५, 'न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात') संसार अनादि (आरम्भहीन) है। किन्तु यह उपनिषदों के कई वचनों के विरुद्ध पड़ जाता है, जो सृष्टि के विषय में उल्लेख करते हुए 'पूर्वे' या 'अग्रे' या 'आरम्भ में' नामक शब्दों का प्रयोग करती हैं (छा० उप० ६।२।१, बृ० उप० १।४, १।१० एवं १७, ५।५।१, तै० उप० २।७।१)। इस विरोध को दूर करने के लिए कल्पों की धारणा के अनुसार प्रलय के उपरान्त बार-बार विश्व की रचना की धारणा उपस्थित की गयी[१७], जिसका अर्थ यह है कि ब्रह्म द्वारा रचित विश्व एक कल्प तक चलता है, जिसके उपरान्त वह ब्रह्म में बिलीन हो जाता है। देखिए, शान्तिपर्व (२३१।२६-३२=२२४।२८-३१ चित्रशाला संस्करण)। गीता (८।१७-१६) में आया है कि ब्रह्मा का एक दिन एक सहस्र युगों के बराबर होता है (चार युगों का एक महायुग होता है) और ब्रह्मा की रात्रि की अवधि भी इतनी ही लम्बी है। ब्रह्मा के दिन के आगमन पर प्रकृति से सभी पदार्थ उत्पन्न हो जाते हैं, और रात्रि के आगमन पर वे सभी प्रकृति में समा जाते हैं। देखिए भगवद्गीता (६।७): 'कल्प के अन्त में सभी तत्त्व (जीव) उस प्रकृति में, जिसका मैं अधिष्ठाता हूँ, चले जाते हैं; किन्तु जब दूसरा कल्प आरम्भ होता है मैं उन्हें प्रकट कर देता हूँ।'

तर्क यह है—जिस प्रकार हम यह नहीं निश्चित कर सकते कि पहले कौन हुआ बीज या अंकुरित होने वाली ओषधि (पौधा)। उसी प्रकार यह कहना असम्भव है कि पहले कौन आता है, शरीर या कर्म, क्योंकि बिना कर्म के कोई शरीर नहीं और न बिना शरीर के कोई कर्म। छा० उप० (५।१३।२) में आया है—'उस प्राणी (देवता) ने, जिसने अग्नि, जल एवं पृथिवी की उत्पत्ति की, सोचा—इस जीवात्मा के साथ मैं इन तीनों जीवों (अग्नि, जल एवं पृथिवी) में प्रवेश करूँगा और तब नामों एवं रूपों को विकसित करूँगा।' इससे प्रकट होता है कि सृष्टि के समय जीव (आत्मा) का अस्तित्व था, जिससे यह संकेत मिलता है कि संसार आरम्भहीन (अनादि) है। ऋग्वेद (१०।१६०।३) ने स्पष्ट कहा है—"धाता यथापूर्वमकल्पयत्' अर्थात् विधाता ने पहले की भाँति व्यवस्थित किया (या रचा)।" इसी प्रकार गीता (१५।३) में आया है—'इस (संसार के वृक्ष) का वास्तविक रूप इस प्रकार नहीं जाना जाता, और न इसका अन्त न आदि और न आधार ही जाना जाता है; शक्तिशाली अनासक्ति से दृढ़ता से जड़ीभूत इस अश्वत्थ (पिप्पल) वृक्ष को काट कर उस स्थल की खोज की जानी चाहिए जिससे वे लोग, जो वहाँ पहुँच गये हैं, नहीं लौटते।'

भगवद्गीता (६।३७-४५) ने दृढतापूर्वक कहा है कि योग के मार्ग में व्यक्ति द्वारा श्रद्धा से किया गया व्यवसाय व्यर्थ नहीं जाता, भले ही उसे पूर्णता शीघ्र प्राप्त न हो सके। श्री कृष्ण ने (६।४० और आगे के

कार्यप्रपञ्चपरिणामप्रक्रियां चाश्रयति सगुणेषूपासनेषूपयोक्ष्यत इति। शाङ्करभाष्य ने अन्त में लिखा है। वे० सू० (२।१।१३) में आया है: 'भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत्स्याल्लोकवत्'।

१७. ब्रह्मा का एक दिन एक सहस्र महायुगों के बराबर होता है और इसे ही 'कल्प' कहा जाता है। कल्प, मन्वन्तर, महायुग एवं युग के लिए देखिए इसी खण्ड का अध्याय १६। प्राचीन उपनिषदों ने कल्पों आदि के सिद्धान्त की व्याख्या नहीं की है।

श्लोक में) कहा है कि ऐसा व्यक्ति जो पूर्णता प्राप्ति में असफल हो जाता है, किसी बुरे अन्त को नहीं प्राप्त होता, प्रत्युत वह सदाचारी लोगों के लोकों को जाता है और वहाँ पर बहुत वर्षों तक निवास करता है, समृद्ध एवं पवित्र लोगों के घरों में जन्म लेता है या विज्ञ योगियों के कुल में जन्म लेता है जहाँ पर वह अपने अतीत अस्तित्वों के मानसिक चिह्नों को पुनः प्राप्त करता है। वह पूर्णता की प्राप्ति के लिए पुनः उद्योगशील होता है और अपने पूर्व जीवनों में किये गये अभ्यासों (के फलस्वरूप) अनिवार्य रूप से आगे बढ़ता है और सभी पापों से मुक्त हो कर एवं बहुत से जीवनों द्वारा अपने को पूर्ण करता हुआ परम तत्त्व (लक्ष्य, ब्रह्मपद) को प्राप्त करता है। गीता (४।५) में श्रीकृष्ण कहते हैं—'मेरे बहुत-से जीवन हैं जो बीत चुके हैं, और तुम्हारे भी। मैं उन सभी को जानता हूँ, किन्तु तुम नहीं जानते।' कई स्थलों पर गीता ने पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्पर्श किया है (यथा—२।१२-१३ एवं २२-२७, ४।८-६, ७।१६, ८।६, १५-१६, ६।२१)।

वनपर्व के अध्याय ३०-३२ (चित्रशाला संस्करण) में द्रौपदी एवं युधिष्ठिर में एक वार्तालाप हुआ है। युधिष्ठिर ने कौरवों के साथ द्यूत खेल कर सारा राज्य खो दिया था और वन में बड़े कष्ट से जीवन-यापन कर रहे थे। द्रौपदी को इस बात का बड़ा आश्चर्य था कि युधिष्ठिर ऐसे सत्यवादी, उदार, ऋजु एवं मधुर व्यक्ति किस प्रकार द्यूत ऐसे निकृष्ट कार्य में संलग्न हुए (३०।१६) और भगवान सभी जीवों के साथ माता-पिता-सा समान व्यवहार नहीं करता। द्रौपदी को यह जान कर बड़ा आश्चर्य हुआ कि सदाचारी सम्मानित व्यक्ति दुःख उठा रहे हैं और दुराचारी एवं असम्मानित लोग आनन्दपूर्वक जीवन-यापन कर रहे हैं। अतः उसने सोचा कि भगवान् सामान्य मनुष्य की भाँति शीघ्रकोपी या चण्डस्वभाव वाले हैं (३०।३८-३६)। उसने कहा—'मानव प्राणी भगवान् की इच्छा के आधार पर ही अबोध तथा सुख एवं दुःख पर नियन्त्रण रख सकने के कारण स्वर्ग या नरक में जाते हैं।' इस पर युधिष्ठिर ने द्रौपदी को चेतावनी दी कि तुम नास्तिक लोगों की भाँति बातें कर रही हो। उन्होंने कहा कि मैंने कोई कर्म इसलिए नहीं किया कि उसका पुरस्कार मिले, मैंने दान दिया, यज्ञ किये, किन्तु इसलिए कि उन्हें सम्पादित करना अपना कर्तव्य माना। उन्होंने द्रौपदी से अनीश्वरवादी व्यवहार से दूर रहने को कहा और कहा कि वह अपनी भावनाओं से भगवान् का अनादर कर रही है। इस पर द्रौपदी की बुद्धि लौटी और उसने क्षमा याचना कर कहा कि दुःखित होने के कारण ही मैंने वैसी अनीश्वरवादी बात कही, वास्तव में, भगवान् का बहुत आदर एवं सम्मान करती हूँ। इसके उपरान्त द्रौपदी ने उस विषय पर विचार-विमर्ष करना आरम्भ किया, जिसे लोग **दिष्ट** (भाग्य) या **हठ** (संयोग) या **स्वभाव** कहते हैं और अन्त में यही निष्कर्ष निकाला कि व्यक्ति जो कुछ प्राप्त करता है वह पूर्व जन्मों के कर्मों का फल है।[१८]

यहाँ पर पुरुषकार (मानवीय उद्योग या व्यवसाय) तथा दैव पर कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं है। इस विषय में हम इस महाग्रन्थ के मूल खण्ड ३, पृ० १६८-१७० एवं पाद टिप्पणी २१४-२१६ में पढ़ चुके हैं, जहाँ प्राचीन एवं मध्यकालीन लेखकों के विभिन्न मतों का विवेचन उपस्थित किया गया है।

१८. तथैव हठदुर्बुद्धिः शक्तः कर्मण्यकर्मकृत्। आसीत न चिरं जीवेदनाथ इव दुर्बलः। अकस्मादिह यः कश्चिदर्थं प्राप्नोति पूरुषः। त हठेनेति मन्यन्ते स हि यत्नो न कस्यचित्॥ एवं हृयाच्च देवाच्च स्वभावात्कर्मणस्तथा। यानि प्राप्नोति पुरुषस्तत्फलं पूर्वकर्मणाम्॥ वनपर्व (३२।१५-१६, २०) नीलकण्ठ ने 'हठवादिकः' का अर्थ यों किया किया है : प्राग्जन्माभावादकृतमेवोपस्थास्यतीति वदन् चार्वाकः।'

अनुशासनपर्व के प्रथम अध्याय में गौतमी, उसके पुत्र की सर्प-दंश से मृत्यु, आखेटक से गौतमी का वार्तालाप तथा काल की बातें वर्णित हैं, जो कर्म सिद्धान्त पर प्रकाश डालती हैं। गौतमी को चित्त-संयम प्राप्त था। उसके पुत्र को एक सर्प ने काट लिया और वह मर गया। एक शिकारी (आखेटक) ने उस सर्प को बाँधकर गौतमी के समक्ष रख दिया और कहा कि मैं उस सर्प को मार डालूंगा, क्योंकि उसने एक अबोध बच्चे को काट लिया है। इस पर गौतमी ने उसे मना किया और समझाया कि सर्प को मार डालने से बच्चा लौट कर नहीं आ सकता। तब काल वहाँ आया और उसने व्याख्या उपस्थित की—'जिस प्रकार कुम्हार मिट्टी के खण्ड से जो चाहता है उसे बनाता है उसी प्रकार मनुष्य अपने द्वारा किये गये कर्मों का फल पाता है। बच्चे की मृत्यु के मूल में हैं उसके पूर्व जीवन के कर्मों के प्रतिफल।' इस बात को गौतमी ने माना और कहा कि उसका पुत्र अपने अतीत जीवन के कर्मों के कारण मरा और उसकी मृत्यु से उसे जो शोक प्राप्त हुआ है वह स्वयं उसके (गौतमी के) पूर्व जीवन के कर्मों का प्रतिफल है।[१९] और देखिए इस विषय में विराटपर्व (२०।१४), अनुशासनपर्व (७।२२=पद्मपुराण २।८१।४७–'यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्। एवमात्यकृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति॥), आश्वमेधिक पर्व (१८।१), शान्तिपर्व (३१६।२५ एवं ३५=चित्रशाला सं० ३२६।२५, ३५)।

कर्म एवं पुनर्जन्म के सिद्धान्त से हिन्दू समाज पूर्णतया प्रभावित हो उठा। संस्कृत के महान् कवियों ने भी इस विषय में संकेत किये हैं। रघुवंश (११।२२) में आया है कि जब राम वामन के आश्रम में पहुँचे तो (कालिदास ने टिप्पणी की है) वे मन से अस्थिर हो गये, वामन के रूप में अपने कर्मों का स्मरण नहीं कर सके। शाकुन्तल (अंक ५) में कवि ने टिप्पणी की है—'जब कोई व्यक्ति सुन्दर दृश्य देख कर, मधुर वचन सुन कर, आनन्दों से घिरे रहने पर भी अस्थिर (दुःखी) हो जाता है, तो वास्तव में बात यह है कि अचिन्त्य रूप से उसके मन में अतीत जीवनों के प्यार एवं मित्रता के चित्र खिंच आते हैं।' सातवें अंक में जब शकुन्तला एवं दुष्यन्त का पुनर्मिलन हो जाता है तो शकुन्तला अपने पति के पूर्वत्याग (या तिरस्कार) की ओर संकेत करती हुई कहती है—'अवश्य ही उस समय मेरे (पूर्व जीवन के) दुष्कृत्यों में सुकृत्यों को बाधित किया और वे स्वयं प्रतिफलित हुए।' और देखिए रघुवंश (१४।६२ एवं ६६) एवं मेघदूत (३०)।

कर्म एवं पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर स्वभावतः बहुत-से प्रश्न उठ खड़े होते हैं। एक प्रश्न को योगसूत्र (२।१३) के भाष्यकार व्यास ने विवेचित किया है। योगसूत्र (२।३) में पाँच क्लेशों (अविद्या आदि) का उल्लेख है और ऐसा आया है (२।१३) कि ये क्लेश जन्म, जीवन (लम्बा या छोटा), अनुभूति-प्रकार के द्वारा कर्मों के विपाक की ओर ले जाते हैं अर्थात् कर्मों का फल उपस्थित करते हैं। योगसूत्र (४।७) के अनुसार कर्म के चार प्रकार हैं, यथा—**१. कृष्ण** (दुष्ट लोगों में पाये जाने वाले), **२. शुक्लकृष्ण** (जो बाह्य साधनों से किये जाते हैं और उनसे किसी की हानि या किसी का लाभ होता है), **३. शुक्ल** (ऐसे लोगों के कर्म जो तप करते हैं, स्वाध्याय में लीन रहते हैं तथा ध्यान करते हैं, और इस प्रकार के बाह्य कारणों या साधनों से नहीं सम्पन्न होते और इनसे किसी की हानि या हिंसा नहीं होती), **४. अशुक्लाकृष्ण** (न तो शुक्ल और न कृष्ण, जो संन्यासियों में पाये जाते हैं, जिनके क्लेश दूर हो गये रहते हैं, और जिनके शरीर अब अन्तिम रहते हैं अर्थात् इसके उपरान्त वे जन्म नहीं लेते)। इन

१९. यथा मृत्पिण्डतः कर्ता कुरुते यद्यदिच्छति। एवमात्मकृतं कर्म मानवः प्रतिपद्यते। नैव कालो न भुजगो न मृत्युरिह कारणम्। स्वकर्मभिरयं बालः कालेन निधनं गतः। मया च तत्कृतं कर्म येनायं मे मृतः सुतः। यातु कालस्तथा मृत्युर्मुञ्चार्जुनक पन्नगम्। अनुशासनपर्व (१।७४, ७८–७९)।

चारों में केवल योगी के कर्म शुक्ल होते हैं, क्योंकि वह कर्मों के फलों का त्याग किये रहता है और वह अकृष्ण कर्म करता है, अर्थात् बुरे कर्म करता ही नहीं। योगसूत्र (२।१३) के भाष्य ने चार प्रश्न उठाये हैं, यथा—(१) क्या एक कर्म एक जन्म का कारण होता है?, या (२) क्या एक कर्म कई जन्मों का कारण होता है?, (३) क्या एक से अधिक कर्म से एक से अधिक जन्म होते हैं?, (४) क्या एक से अधिक कर्म से एक जन्म होता है? भाष्यकार ने प्रथम तीन प्रश्नों का विरोध किया है और चौथे को स्वीकार किया है, अर्थात् कई कर्मों से एक जन्म होता है। शान्तिपर्व (२८०।३३–३४ = २८०। ३३-३४ चित्रशाला संस्करण) ने आत्मा के छह रंग बताये हैं, यथा—**कृष्ण, धूम्र, नील, रक्त, पीत,** एवं **शुक्ल** और इन्हें एक-दूसरे के ऊपर रखा है, यथा कृष्ण को सबसे बुरा कहा है और शुक्ल को सर्वोत्तम। श्लोक ३६-४६ में इन प्रकारों का विस्तृत उल्लेख है।

हमारे वर्तमान जीवन की कतिपय समस्याओं पर पुनर्जन्म के सिद्धान्त से प्रकाश पड़ता है। सर्वथा अनजान दो व्यक्ति जब कभी एक-दूसरे से मिलते हैं तो उनमें मित्रता एवं वैर की भावना क्यों उमड़ पड़ती है? एक कल्पना की जा सकती है कि सम्भवतः पूर्व जीवन में वे एक-दूसरे के मित्र या वैरी रहे हैं। विश्व में देखने में आता है कि कुछ लोग बिना किसी योग्यता के आनन्दोपभोग करते हैं और कुछ ऐसे लोग, जो सभी प्रकारों से योग्य हैं, अथवा जिन्होंने त्याग एवं तपस्या का जीवन बिताया है, बड़े कष्ट में रहते हैं। इस दशा पर कर्म एवं पुनर्जन्म का सिद्धान्त प्रभूत प्रकाश डालता है। हम विश्व में ऐसी विषमता को देखकर विकल हो उठते हैं, इतना ही नहीं, हमारी न्यायप्रिय भावना एवं सुन्दर व्यवहार करने की क्षमता पर धक्का पहुँच सकता है, किन्तु जब हम इस सिद्धान्त पर मनन करते हैं तो सन्तोष मिल जाता है। इस अनुमान एवं विश्वास से कि सभी मानवीय प्रयत्नों एवं आचरणों का उचित फल एवं दण्ड प्राप्त होगा, हमारे वर्तमान जीवन को महत्त्वपूर्ण गुरुता प्राप्त हो जाती है और हम इस जीवन में सत्कर्म करने के लिए अनुप्राणित होते हैं और कुकर्मों, अत्याचारों एवं पापमय जीवन से दूर रहने का प्रयत्न करते हैं। मानवों में देखे जाने वाले सुख-दुःख-सम्बन्धी वैषम्य पर तो यह सिद्धान्त प्रकाश डालता ही है, साथ-ही-साथ हम इससे मानसिक कल्याण एवं अस्वस्थ शारीरिक दशाओं की पारस्परिक विभिन्नताओं को भी समझने में समर्थ हो जाते हैं। आज के विश्व में असद् वृत्तियों का राज्य क्यों है? इस भयंकर एवं महान् प्रश्न पर भी हमें कर्म एवं पुनर्जन्म के सिद्धान्त से प्रकाश प्राप्त होता है। कुछ लोगों में जो विलक्षण बुद्धि, योग्यता एवं समर्थता देखने में आती है, जिसके फलस्वरूप वे गणित, विज्ञान, संगीत तथा अन्य ललित कलाओं में विशेष योग्यता प्रदर्शित कर संसार को चकित कर देते हैं, उसके मूल में क्या है? सम्भवतः कर्म एवं पुनर्जन्म के सिद्धान्त से इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर प्रकाश पड़ता है। यदि सम्यक् ढंग से विचार किया जाय तो यह सिद्धान्त निराशावादी या भाग्यवादी नहीं है, प्रत्युत यह इस जीवन में पूर्ण रूप से मानवीय उद्योग करने पर बल देता है। हम देखेंगे कि कितने धर्मशास्त्र-ग्रन्थ या उनसे सम्बन्धित ग्रन्थ एवं विचार **पुरुषकार** (उद्योग) पर बल देते हैं और कुछ लोगों द्वारा प्रतिपादित दैव या **स्वभाव** या **काल** (समय) या इन सभी के सम्मिश्रण से सम्बन्धित विचारों (यथा—इसी जीवन में कर्मों के फल मिलते हैं) के विरोध में मत प्रकाशित करते हैं। कभी-कभी एक बहुत दरिद्र व्यक्ति राजा हो जाता है और अपनी प्रतिभा एवं योग्यता से लोगों को चकित कर देता है। यह सब क्या है? कुछ लोग राई से पर्वत हो जाते हैं और कुछ लोग पर्वत से राई। सम्भवतः इन सब के मूल में पूर्व जन्म के कर्म एवं संस्कार हैं।

विश्व के उद्गम एवं अन्य समान समस्याओं के विषय में उपनिषद्काल से ही कतिपय मत प्रकाशित होते रहे हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् (१।१) में प्रश्न आये हैं—'क्या ब्रह्म ही कारण है? हम कहाँ से जन्म लेते हैं? किसके द्वारा हम जीवित रहते हैं? हम कहाँ जा रहे हैं?, हे ब्रह्मविद्, हमें बताओ, किसके नियन्त्रण के भीतर हम सुख या दुःख की अनुभूति करते हैं?' आगे के पद्य में आया है—'क्या काल या स्वभाव या आवश्यकता या संयोग

या तत्त्वों को हम कारण मानें या उसे जो पुरुष (कहलाता) है? यह उनके एक साथ मिल जाने का भी परिणाम नहीं है, क्योंकि स्वयं आत्मा को सुख एवं दुःख पर अपना अधिकार नहीं है।' तीसरे मन्त्र के उत्तरार्ध में आया है—'वह अकेला ही इन कारणों, अर्थात्-काल, आत्मा आदि पर नियन्त्रण रखता है।' याज्ञ० (१।३५०) ने वाञ्छित एवं अवाञ्छित परिणामों के कारणों के प्रश्न के विषय में पाँच मत रखे हैं, यथा—कुछ लोग **दैव** को, कुछ लोग **स्वभाव** को, कुछ लोग **काल** को, कुछ लोग **पुरुषकार** (मानव उद्योग) को तथा कुछ लोग इन सभी के **सम्मिलित रूप** को कारण मानते हैं। किन्तु याज्ञ० (१।३४९, ३५१) का स्वयं अपना मत है कि अच्छे या बुरे परिणामों के कारण हैं **दैव** एवं **पुरुषकार,** जिनमें प्रथम तो पूर्व जन्मों (अस्तित्वों) का परिणाम है और अब प्रतिफलित हो रहा है। शान्तिपर्व (२३८।४-५=२३०।४-५ चित्रशाला संस्करण) ने तीन मतों की ओर इंगित किया है, यथा—**पुरुषकार या दैव** या **स्वभाव,** किन्तु ऐसा प्रतीत होता है, इसका अपना मत यह है कि **दैव** एवं **स्वभाव** मिल कर प्रतिफल उपस्थित करते हैं। मत्स्यपुराण (२२१।८) के मत से **दैव** एवं **काल** मिल कर कर्मों का फल देते हैं। ब्रह्माण्डपुराण (२।८।६१-६२) ने तीन मतों की ओर संकेत किया है, यथा—**दैव, पुरुषकार** एवं **स्वभाव**, किन्तु उसका अपना मत यह है कि दैव एवं पुरुषकार मिलकर कर्मों का फल उपस्थित करते हैं।

कर्म को तीन दलों में रखा गया है, यथा—**सञ्चित, प्रारब्ध एवं क्रियमाण** (या **सञ्चीयमान**)। प्रथम कर्म अतीत अस्तित्वों के कर्मों का योगफल है, जिसके प्रतिफलों की अनुभूति अभी नहीं की जा सकी है। प्रारब्ध कर्म वह है जो इस वर्तमान जीवन के आरम्भ होने के पूर्व सञ्चित कर्मों में सबसे प्रबल था, और जिसे ऐसा परिकल्पित किया गया है कि उसी के आधार पर वर्तमान जीवन निश्चित होता है। इस वर्तमान जीवन में व्यक्ति जो कुछ संगृहीत करता है वही क्रियमाण (या सञ्चीयमान, एकत्र होता हुआ) कर्म है। आगे आने वाला जीवन (अस्तित्व) सञ्चित एवं क्रियमाण के सम्मिलित कर्मों में अत्यन्त प्रबल (या कुछ लोगों के मत से सबसे आरम्भिक) कर्म द्वारा निर्धारित एवं निश्चित होता है। कर्म विभिन्न प्रकार के होते हैं[२०] और विभिन्न प्रकार के प्रतिफल उपस्थित करते हैं (सात्त्विक कर्मों से स्वर्ग, राजसिक कर्मों से पृथिवी या अन्तरिक्ष तथा तामसिक कर्मों से यातनाओं के स्थल प्राप्त होते हैं)। इसी प्रकार अस्तित्व (जन्म या शरीर) भी विभिन्न होते हैं और शरीर से आत्मा प्रभावित होता है अतः विभिन्न आत्मा नानारूप वाले होते हैं। एक विरोध उपस्थित किया जाता है कि सभी नैतिक मूल्यों का आधार इच्छा-स्वातन्त्र्य है और यदि मनुष्य के अतीत जीवनों के कर्म से वर्तमान जीवन निश्चित होता है तो वर्तमान जीवन केवल कर्म की शक्ति के हाथ में एक खिलौना मात्र है और व्यक्ति के लिए इतनी छूट नहीं रहती कि वह वही कर सके जिसे वह सर्वोत्तम समझता है। मनुष्य के इच्छा-स्वातन्त्र्य का प्रश्न अत्यन्त पेचीदा है और इस पर प्राचीन काल से ही महान् चिन्तकों ने सोचा-विचारा है और विभिन्न मत प्रकाशित किये हैं और आज तक हमें कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिल सका है। इस विषय में पाठक कुछ ग्रन्थों का अवलोकन कर सकते हैं, यथा—रैशडल कृत 'थ्योरी आव गुड एण्ड इविल' (जिल्द २, पृ० ३०२-३५५, सन् १९०७), बर्गसाँ कृत 'टाइम एण्ड फ्री

२०. देखिए पद्मपाद की विज्ञानदीपिका (श्लोक ५ एवं ८), 'कर्मणा फलवैचित्र्याद्वैचित्र्यं जन्मनामिह। देहवैचित्र्यतो जीवे वैचित्र्यं भासते तथा॥ संञ्चितं चीयमानं च प्रारब्धं कर्म तत्फलम्। क्रमेणावृत्तिरेतेषां पूर्वं बलवतोऽपि वा'॥ टीका में आया है: 'सञ्चितानां शुभाशुभकर्मणां मध्ये यस्य पूर्वकालिकत्वं तस्य पूर्वं प्रारम्भः। तत्समाप्तौ तदनन्तरजातस्यैवं वा क्रमेणामावृत्तिः। अपि च सञ्चितकर्मणां मध्ये पौर्वापर्यमनपेक्ष्य यस्य कर्मणो बलवत्तरत्वं तस्यैव पूर्वं प्रारम्भः।

विल" विस्काउण्ट सेमुएल कृत 'बिलीफ एण्ड ऐक्शन' (पृ० २०३-२२०) तथा एम० डेविड्सन कृत 'फ्री विल' (लण्डन, १६४८)। जहाँ तक भारतीय कर्म-सिद्धान्त का प्रश्न है, ऐसा प्रतीत होता है, इच्छा-स्वातन्त्र्य की बात इस जीवन (अस्तित्व) में अच्छे कर्म करने के लिए, नैतिक जीवन बिताने के लिए एवं श्लाघार्ह कर्म करने के लिए परिकल्पित की गयी है, किन्तु इस प्रकार के कर्म आदि इस जीवन की परिस्थितियों (वातावरणों) की सीमाओं पर निर्भर रहते हैं। महत्त्वपूर्ण क्रियाशील विश्वास यह है कि व्यक्ति को इच्छा-स्वातन्त्र्य प्राप्त है कि वह इस जीवन में अपने भावी जीवन (अस्तित्व) को श्लाघार्ह कर्मों द्वारा कोई रूप देने में स्वतन्त्र है। यही शान्तिपर्व (२८०।३ = २६१।३ चित्रशाला संस्करण) का सन्देश है।[21] गीता में श्री कृष्ण ने एक लम्बे विवेचन के उपरान्त अर्जुन को यह छूट दे दी कि 'जो चाहे सो करो' (१८।६३, 'यथेच्छसि तथा कुरु')। गीता (६।३०) का कथन है—'यदि कोई भ्रष्टचरित वाला व्यक्ति भी अविभक्त श्रद्धा से मेरी पूजा करता है, उसे सदाचारी अवश्य कहा जा सकता है, क्योंकि उसने दृढ़ प्रतिज्ञा कर ली है।' इसी प्रकार गीता (६।५) ने व्यवस्था दी है—'व्यक्ति स्वयं अपने को ऊपर उठाये, वह अपने को नीचे न गिराये, क्योंकि केवल आत्मा ही उसका सच्चा मित्र है और केवल आत्मा ही उसका शत्रु है।' प्राचीन भारतीय सिद्धान्त के अनुसार दोनों, अर्थात् **प्रारब्धवाद** (अग्रनिरूपित—निर्देश अथवा दैववाद) एवं **इच्छा-स्वातन्त्र्यवाद** को स्वीकार करना सम्भव है, प्रथम के अनुसार व्यक्ति किसी विशिष्ट वातावरण में जन्म लेता है और दूसरे के अनुसार व्यक्ति का इस जीवन (वर्तमान अस्तित्व) के कर्मों से सम्बन्ध है। **प्रारब्धवाद** (दैववाद) के अनुसार व्यक्ति का किसी विशिष्ट वातावरण में जन्म लेना निश्चित रहता है और इच्छा-स्वातन्त्र्यवाद के अनुसार व्यक्ति अपने उपस्थित जीवन के कर्मों के प्रति स्वतन्त्र रहता है। भगवद्गीता (६।५-६) तो पापी के लिए भी आशा बँधाती है कि सुधार करने के लिए देरी की चिन्ता नहीं करनी चाहिए अर्थात् देरी हो जाने पर भी सुधार का आरम्भ किया जा सकता है और पुनः कहा है (२।४०) कि सदाचार का अल्पांश भी महान् भय से व्यक्ति की रक्षा करता है और व्यवसाय (उद्योग या प्रयास) कभी नष्ट नहीं होता।

यद्यपि गीता का सामान्य झुकाव इच्छा-स्वातन्त्र्य के सिद्धान्त की ओर ही है तथापि कुछ ऐसी उक्तियाँ भी हैं जिनमें पूर्वनिर्धारणवाद (प्रारब्धवाद, अर्थात् वह सिद्धान्त जिसके अनुसार सब कुछ पहले से ही निश्चित रहता है—इस जीवन में क्या होगा, यह पहले से ही निश्चित है) की झलक मिलती है। यथा, 'प्रकृतिजन्य गुणों के फल-स्वरूप प्रत्येक व्यक्ति को असहाय रूप से कर्म करने पड़ते हैं' (३।३३)—"हठवादिता के कारण तुम सोचते हो, 'मैं युद्ध नहीं करूँगा', तुम्हारी यह प्रतिज्ञा व्यर्थ है; तुम्हारा स्वभाव तुम्हें वैसा करने को बाध्य करेगा; तुम अपने स्वभाव से उत्पन्न कर्मों से ही विवश होकर असहाय रूप में वह कार्य करोगे जिसे तुम करना नहीं चाहते हो (१८।५६-६०)।' यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि बचपन के वातावरण के विषय में इच्छा की स्वतन्त्रता की बात ही नहीं उठती।

रामायण ने इस विश्वास को व्यक्त किया है कि वर्तमान जीवन की चिन्ता या दुःख अतीत जीवन या जीवनों में किये गये ऐसे ही कर्मों का परिणाम है। जब कैकेयी द्वारा वरदान माँगने पर राजा दशरथ ने राम को बनवास दे दिया तो राम की माता कौशल्या रोती हुई कहती हैं—'मैं विश्वास करती हूँ कि मैंने पूर्व जन्म में बहुत-से लोगों को उनके पुत्रों से दूर कर दिया होगा या जीवित प्राणियों को हानि की होगी (या उन्हें मार डाला

२१. आयुर्न सुलभं लब्ध्वा नावकर्षेद् विशांपते। उत्कर्षार्थं प्रयतते नरः पुण्येन कर्मणा ॥ शान्ति० २८०।३ (२६१।३, चित्रशाला)।

होगा), इसी से यह दुःख मुझ पर घहरा पड़ा है', 'मैं बिना सन्देह के ऐसा मानती हूँ कि मैंने पूर्व जीवन में, उन गौओं (या माताओं) के स्तनों को काट दिया होगा जिनके बछड़े अपनी माँ का दूध पीना चाहते थे।'

पुराणों ने भी अच्छे एवं बुरे कर्मों की महत्ता पर बल दिया है। उनके कथनानुसार अच्छे या बुरे कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है, जब तक फलों का नाश नहीं हो जाता। सैंकड़ों जीवनों के उपरान्त भी कर्म का नाश नहीं होता।[22] पद्म पु० (२।८१।४८ एवं ९४।११८) में आया है—'बिना कर्मफल भोगे कर्म का नाश नहीं होता; अतीत जीवनों के कर्म से उत्पन्न बन्धन को कोई हटा नहीं सकता'; इसमें पुनः आया है—'मनुष्य अपने कर्मों द्वारा देवता बन सकता है, या मानव बन सकता है, पशु या पक्षी या क्षुद्र जीव या स्थावर (वृक्ष या पाषाण-खण्ड) बन सकता है; अपनी शक्ति या सन्तान के उत्पत्ति से कोई व्यक्ति पूर्व जन्मों में किये गये कर्मों के प्रभावों को दूर नहीं कर सकता।[23] उपनिषदों में वर्णित पुनर्जन्म की भावना बुद्ध के काल में सार्वभौम रूप धारण कर चुकी थी। बुद्ध ने नित्य व्यक्तित्व या आत्मा की बात को स्वीकार नहीं किया था। वे कोई आध्यात्मिक दार्शनिक नहीं थे, वे चाहते थे कि मानवता अबोधता (अज्ञान) एवं दुःख से मुक्ति पा सके और उसे निर्वाण प्राप्त हो जाये, इसी से उन्होंने आत्मा की नित्यता को अस्वीकार करते हुए भी पुनर्जन्म का सिद्धान्त ग्रहण किया था।

इसी सिलसिले में एक महत्वपूर्ण प्रश्न पर विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है, यथा—क्या वेदान्तवादी विचारों के मौलिक उद्भावक क्षत्रिय थे, ब्राह्मण नहीं? इस विषय में एक संक्षिप्त विवेचन इस महाग्रन्थ के खण्ड २ (पृ० १०५-१०७) में हो चुका है। ड्यूशन (डैस सिस्टेम डेस वेदान्त, १८८३, पृ० १८-१९, एवं फिलॉसॉफी आव दि उपनिषद्, पृ० १८-१९, गेडेन द्वारा अंग्रेजी में अनूदित) एवं डा० आर० जी० भण्डारकर (वैष्णविज्म एण्ड शैविज्म, पृ० ९) ने मत प्रकाशित किया है कि क्षत्रिय लोग ही वेदान्तवादी सिद्धान्तों के मौलिक उद्भावक थे। ड्यूशन महोदय मुख्यतः ६ उक्तियों एवं डा० भण्डारकर केवल दो उक्तियों (छा० उप० ५।३ एवं ११) पर निर्भर होते हैं। ड्यूशन महोदय का यह भी कथन है (फिलॉ० उप० पृ० १९) कि यह निष्कर्ष पूर्ण निश्चित नहीं है। उसमें केवल अधिक सम्भावना मात्र है। इस मत के विरोध में बार्थ (रिलिजिएन्स आव इण्डिया, पृ० ६५), हॉप्किन्स (एथिक्स आव इण्डिया, १९२४, पृ०

२२. अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्। नाभुक्तं क्षीयते कर्म ह्यपि जन्मशतैः प्रिय।। नारदीयपुराण (उत्तर भाग २९।१८)। 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म' का उद्धरण शांकरभाष्य की टीका भामती (वे० सू० ४।१।१३) में आया है।

२३. उपभोगादृते तस्य नाश एव न विद्यते। प्राक्तनं बन्धनं (बन्धकं?) कर्म कोन्यथा कर्तुमर्हति ।। पद्म० (२।८१।४८ एवं ९४।११८); देवत्वमथ मानुष्यं पशुत्वं पक्षिणां तथा। तिर्यक्त्वं स्थावरत्वं च याति जन्तुः स्वकर्मभिः।। पूर्वदेहकृतं कर्म न कश्चित्पुरुषो भुवि। बलेन प्रजया वापि समर्थः कर्तुमन्यथा ।। पद्म० (२।९४।१३, १५)। प्रथम पद्म० (२।८१।४३) में भी आया है। और देखिये ऋ० (५।४।१०), 'प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम' एवं मनु (९।१३७)—'पुत्रेण लोकाञ्जयति पौत्रेणानन्त्यमश्नुते'। पद्म० के अनुसार ये वचन मात्र प्रशंसात्मक हैं। न तु भोगादृते पुण्यं पापं वा कर्म मानवम्। परित्यजति भोगाच्च पुण्यापुण्ये निबोध मे। मार्कण्डेय (१४।१७); यादृशं वपते बीजं क्षेत्रे तु कृषिकारकः। भुनक्ति तादृशं वत्स फलमेव न संशयः।। यादृशं क्रियते कर्म तादृशं परिभुज्यते। विनाश हेतुः कर्मास्य सर्वे कर्मवशा वयम् ।। पद्म० (२।९४।७-८)।

६३), मैक्डोनेल एवं कीथ (वैदिक इण्डिया, जिल्द २, पृ० २०६) एवं टक्सेन (दि रिलिजिएन्स आव इण्डिया, कोपेनहैगेन, १६४६, पृ० ८८) ने अपने विचार व्यक्त किये हैं। ड्यूशन महोदय ने तो यहाँ तक कहा है (पृ० १६)—'आत्मा-सम्बन्धी यह शिक्षा उनसे (ब्राह्मणों से) जानबूझ कर पृथक रखी गयी थी, और यह क्षत्रियों की छोटी मण्डली में ही दी जाती थी।' हम यहाँ इस मत की परीक्षा करेंगे।

प्राचीन उपनिषदों के प्रमुख एवं महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त दो हैं, यथा—(१) जीवात्मा एवं परम ब्रह्म की अभिन्नता एवं (२) व्यक्ति के कर्त्तव्यों एवं आचरण पर आत्मा के आवागमन (पुनर्जन्म) का निर्भर होना। इन दोनों सिद्धान्तों को याज्ञवल्क्य ने राजा जनक को बताया है (बृ० उप० ४।४।४-७ तथा अन्य वचन जो नीचे दिये जा रहे हैं)। ड्यूशन ने औपनिषदिक बातों में इन बातों को सबसे अति गम्भीर सत्य एवं श्रेष्ठ कहा है। इसके अतिरिक्त याज्ञवल्क्य के शब्द, जो बृ० उप० (३।२।१३ 'जो अच्छा करता है, वह अच्छा जन्म पाता है'; ४।४।५ : 'जो अच्छा करता है, वह अच्छा जन्म पाता है, जो बुरा करता है, वह बुरा जन्म पाता है . . . जो पवित्र कार्य आदि. . करता है वह पवित्र हो जाता है') में पाये जाते हैं, उन्हें स्वयं ड्यूशन महोदय ने पुनर्जन्म सम्बन्धी सिद्धान्त के विषय में सबसे अधिक प्राचीन माना है। इसके साथ स्वयं ड्यूशन महोदय की उक्ति से सिद्ध हो जाता है कि उपनिषदों के दो प्रमुख मौलिक सिद्धान्तों का उद्घोष ब्राह्मण याज्ञवल्क्य द्वारा किया गया था, जिन्होंने उसी उपनिषद् (बृ० उप० २।४।१-१४) में अपनी पत्नी मैत्रेयी से आत्मा एवं तत्त्वों आदि का ब्रह्म से तादात्म्य बताया है (इदं सर्वं यदयमात्मा)। इतना ही नहीं, इन सिद्धान्तों की शिक्षा देने वाले अन्य शिक्षक भी थे। उदाहरणार्थ, उद्दालक आरुणि ने विस्तार के साथ अपने पुत्र श्वेतकेतु को 'तत्त्वमसि' (छा० उप० ६।८-१६) का अर्थ समझाया है।

अब हम उन उदाहरणों की जाँच करेंगे जिन पर ड्यूशन महोदय ने अपने निष्कर्ष आधृत किये हैं। छा० उप० (५।११।१) में एक कथा आयी है। पाँच ऐसे गृहस्थ, जो वेद के महान पाठक थे, आपस में मिले और 'आत्मा' तथा 'ब्रह्म' के विषय में उन्होंने चर्चा की। उन्होंने उद्दालक आरुणि के पास, जो 'वैश्वानर' नामक आत्मा के विषय में जानते थे, जाने को सोचा। जब वे उनके यहाँ पहुँचे तो उद्दालक आरुणि ने कहा कि मैं स्वयं सभी कुछ की व्याख्या नहीं कर सकूँगा अतः तुम लोगों को अश्वपति कैकेय (केकय देश के राजा) के पास जाना चाहिए, जो वैश्वानर नामक आत्मा की जानकारी रखते हैं। उद्दालक के साथ वे सभी गृहस्थ अश्वपति कैकेय के पास पहुँचे। जिन्होंने दूसरे दिन प्रश्न का उत्तर देने को कहा। दूसरे दिन वे छह व्यक्ति समिधा लेकर राजा के पास पहुँचे। अश्वपति कैकेय ने अन्य आरम्भिक कृत्यों को स्थगित कर दिया और उनसे पूछा कि उनमें प्रत्येक किसका ध्यान करता है। जब सब ने ध्यान के आधार, यथा—स्वर्ग, आदित्य, वायु, आकाश एवं पृथिवी (इसका नाम उद्दालक ने लिया) की बात बतला दी तो राजा ने बताया कि ये सभी वैश्वानर के अंश (भाग) हैं और उन्होंने उनसे अग्निहोत्र के सम्पादन की उचित विधि भी बतला दी।

दो बातें विचारणीय हैं। एक तो यह कि यहाँ पर उद्दालक आरुणि को वास्तविक 'वैश्वानरविद्या' में अनभिज्ञ कहा गया है, किन्तु दूसरे ही परिच्छेद (छा० उप० ६।८।७.....) में उन्हें 'तत्त्वमसि' नामक श्रेष्ठ सिद्धान्त का व्याख्याता (शिक्षक) कहा गया है। सम्भवतः ये दोनों उद्दालक एक ही नहीं हैं, वे दो व्यक्ति हैं या यह कथा ही कपोलकल्पित है। दूसरी बात यह है कि अश्वपति कैकेय ने जो कुछ सिखाया वह वैश्वानर के विषय में था, न कि ब्रह्मविद्या (जीवात्मा एवं परम ब्रह्म के तादात्म्य) के विषय में। यास्क के काल के पूर्व से ही वैश्वानर के विषय में कई मत थे, जिनका उल्लेख बहुधा ऋग्वेद (१।५२।६, १।६८।१) में हुआ है। निरुक्त (७।२१-२३) ने तीन विभिन्न मत उद्धृत किये हैं, यथा—वैश्वानर विद्युत् है, या आदित्य है

या लौकिक अग्नि है। छा० उप० (५।१८।२) ने निष्कर्ष निकाला है (५।१९-२४) और उसे पाँच प्राणों की आहुतियों (प्राणाय, स्वाहा, अपानाय, स्वाहा. .) की पंक्ति में रखा है। वे० सू० (१।२।२४-३२) में भी इसकी चर्चा है और यही निष्कर्ष है कि इसका अर्थ है **परमात्मा,** न कि जीवात्मा या अग्नि (एक तत्त्व के रूप में) या जठरानल।

इसके उपरान्त ड्यूशन महोदय ने गार्ग्य बालाकि की गाथा (बृ० उप० २।१) कही है। गार्ग्य बालाकि ने काशी के राजा अजातशत्रु को ब्रह्म की व्याख्या सुनानी चाही और राजा ने इस बात के लिए एक सहस्र गौएँ देने की बात कही और यह भी कहा कि लोग 'जनक, जनक' (अर्थात् जनक ही दाता तथा ब्रह्म की व्याख्या सुनने वाले हैं) का उद्घोष कर दौड़ते हैं। बालाकि ने ब्रह्मध्यान के लिए बारह पदार्थों की चर्चा की, किन्तु राजा ने उत्तर दिया कि मैं यह सब पहले से ही जानता हूँ और यह भी कहा कि ब्रह्म इन पदार्थों से भिन्न है और उसे आपके (अर्थात् बालाकि के) कहने के अनुसार समझा नहीं जा सकता। इस पर बालाकि मौन रह गये और शिष्य हो जाना चाहा। तब आजातशत्रु ने कहा—'यह तो प्रतिलोम है कि ब्राह्मण ब्रह्मज्ञानार्थ क्षत्रिय के पास शिष्य होने के लिए जाय। ऐसा कह कर राजा ने बालाकि का हाथ पकड़ लिया और अपने आसन से उठ पड़े। इस गाथा की कुछ बातें द्रष्टव्य हैं। इससे यह नहीं प्रकट होता कि ब्राह्मण जाति ब्रह्मविद्या को नहीं जानती थी और न यही व्यक्त होता कि इसका ज्ञान केवल क्षत्रियों को ही था दूसरी ओर जनक का विशिष्ट उल्लेख हुआ है कि वे गौओं के दाता हैं और ब्रह्मविद्या को सुनने के लिए तत्पर रहते हैं तथा लोग उनसे गौएँ प्राप्त करने एवं ब्रह्मविद्या का ज्ञान देने के लिए उनके यहाँ जाया करते हैं। हमें बृ० उप० (३।१) से विदित है कि विदेह के राजा जनक ने एक सहस्र गौएँ दी थीं और जब याज्ञवल्क्य ने उनको ले लिया तो राजा जनक की सभा में बैठे कतिपय लोगों, यथा अश्वल (राजा के होता पुरोहित), आर्तभाग, गार्गी, उद्दालक आरुणि, विदग्ध शाकल्य ने उनसे कई प्रश्न पूछे। और देखिए बृ० उप० (४।४।७—*जनक ने याज्ञवल्क्य को एक सहस्र गायें दी हैं*) ४।४।२३—*जनक याज्ञवल्क्य को विदेह का राज्य* तथा अपने को दास के रूप में देते हैं। अतः बालाकि की गाथा में यदि कोई बात व्यक्त की जा सकती है तो वह यह है कि जनक ऐसे क्षत्रिय ने ब्रह्मविद्या की शिक्षा ग्रहण कर ली थी किन्तु बालाकि को जो ब्राह्मण था, इसका ज्ञान न था (यद्यपि उसने ऐसा कह रखा था कि मुझे यह ज्ञात है) और उसको काशी के राजा अजातशत्रु से इसका ज्ञान प्राप्त हुआ तथा अजातशत्रु ने ऐसा कहा कि ब्राह्मण क्षत्रिय का शिष्य नहीं होता। सभी ब्राह्मण ब्रह्मविद्या में निष्णात नहीं हो सकते थे, क्षत्रियों की तो बात ही दूसरी है (अर्थात् उनमें तो इने-गिने ही ब्रह्मविद हो सकते थे)। अतः ड्यूशन महोदय त्रुटिपूर्ण सामान्यीकरण करने (व्यापक सिद्धान्त बनाने) के अपराधी हैं। यह द्रष्टव्य है कि इस कथा में काशी के राजा अजातशत्रु ऐसा नहीं कहते कि यह विद्या पहले ब्राह्मणों को नहीं ज्ञात थी (जैसा कि प्रवाहण जैवलि ने कहा था), प्रत्युत उन्होंने आश्चर्य प्रकट किया कि एक ब्राह्मण उनके पास यह विद्या ग्रहण करने को आया है।

यही कथानक कौषीतकि उप० (४।१-१९) में उन्हीं शब्दों में आया है। यहाँ बालाकि ने अपने ध्यान के विषयों के बारे में १६ व्याख्याएँ की हैं। और देखिए वे० सू० (१।४।१६-१८)। बृ० उप० (२।१) एवं कौ० उप० (४) में पुनर्जन्म के विषय में कुछ नहीं है, इन दोनों उक्तियों में केवल इतना ही व्यक्त है कि आत्मा से सभी प्राण, सभी लोक, सभी देव एवं सभी तत्त्व निष्पन्न होते हैं (बृ० उप० २।२।२०)। यह वैसा ही है जैसा कि बृ० उप० (४।४।७) एवं छा० उप० (४।१-१६) में आया है (ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं. . . . तत्त्वमसि)।

यह बड़े आश्चर्य की बात है कि ड्यूशन महोदय ने सनत्कुमार एवं नारद के संवाद को अपने इस तर्क की सिद्धि के लिए प्रयुक्त किया है कि क्षत्रिय लोग ही वेदान्त के महान् सिद्धान्तों के मौलिक उद्भावक थे। उन्होंने छा० उप० (७) का सहारा लिया है, जहाँ आया है कि नारद सनत्कुमार के पास गये और प्रार्थना की—'महोदय, मुझे पढ़ाइए। सनत्कुमार ने उनसे कहा—'बताइए, आप कितना जानते हैं, तब मैं बताऊँगा कि उसके आगे क्या है'। नारद ने बताया (छा० उप० ७।१-२) कि मैंने चार वेदों, इतिहास-पुराण का अध्ययन कर लिया है और उन्होंने विद्याओं की सूची उपस्थित की जिसमें देवविद्या, ब्रह्मविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या सम्मिलित थीं। नारद ने स्वीकार किया कि मुझे केवल मन्त्र ही ज्ञात हैं, आत्मा के बारे में नहीं जानता। उन्होंने कहा, 'मैंने आप के समान लोगों से सुना है कि आत्मविद् दुःख को जीत लेता है। मैं दुःख में हूँ, भगवन्, दुःख से पार होने में मेरी सहायता अवश्य करें।' सनत्कुमार ने कहा, 'आपने जो कुछ पढ़ा है, वह नाम मात्र है, कुछ नाम से बढ़ कर भी है। सनत्कुमार ने नाम से बढ़कर वाणी पर ध्यान करने को उत्तम कहा और शिक्षा दी कि मन वाणी से उत्तम है और आगे बहुत-सी बातों का उल्लेख किया जो अपने पूर्ववर्ती से उत्तम हैं, और इस प्रकार वे 'भूमन' (परमात्मा) का उल्लेख किया है, जिससे सभी कुछ की उद्भूति होती है। अन्त में (छा० उप० ७।२६।२) आया है—'भगवान् सनत्कुमार ने नारद को सब कुछ दिखाया, जिसके दोष जड़ से नष्ट हो गये हैं और जो अविद्या के ऊपर है; उसे लोग (सनत्कुमार) स्कन्द कहते हैं।

उपर्युक्त लम्बे वचन में ऐसा कहीं भी नहीं आया है कि सनत्कुमार एवं नारद ब्राह्मण थे या क्षत्रिय। संस्कृत साहित्य में स्कन्द को युद्ध का देवता (गीता, १०।२४, सेनानीनामहं स्कन्दः) कहा गया है और वनपर्व (२२६।२२-२३) में उसे देवों की सेनाओं का सेनापति कहा गया है तथा शान्तिपर्व (२७५=२६७) चित्र-शाला संस्करण) में आया है कि लोक की उत्पत्ति एवं प्रलय के ज्ञान की प्राप्ति के लिए नारद देवल के पास गये। इससे ड्यूशन महोदय खट से इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि सनत्कुमार क्षत्रिय थे और नारद ब्राह्मण। महाभारत, मनुस्मृति एवं पुराणों में उन्हें वर्ण या जाति के ऊपर अर्ध दैविक ऋषि कहा गया है। गीता (१०।१३) ने नारद को देवर्षि कहा है, वायुपुराण ने पर्वत एवं नारद को कश्यप के पुत्रों के रूप में तथा देवर्षियों में गिना है (६१।८५)। मनुस्मृति (१।२५) ने नारद को प्रथम दस प्रजापतियों में परिगणित किया है। ब्रह्म पु० (१।४६-४७) ने स्कन्द एवं सनत्कुमार को ब्रह्मा का पुत्र कहा है। नारदीय पु० (पूर्व भाग २।३) ने सनक, सनन्दन, सनत्कुमार एवं सनातन को ब्रह्मा का मानस पुत्र कहा है और सनत्कुमार को ब्रह्मवादी कहा है, जिन्होंने नारद को सभी धर्मों का ज्ञान दिया था। वामन पु० (६०।६८-६९) ने इन चारों को धर्म एवं अहिंसा का पुत्र तथा योग-शास्त्र का व्याख्याता कहा है। इन सभी बातों से बढ़ कर कूर्मपु० (१।७।२०-२१) में आया है कि ये चारों ऋतु के साथ विप्र (ब्राह्मण), योगी एवं ब्रह्मा के मानस पुत्र हैं।[२४] सनत्कुमार को शाब्दिक या लाक्षणिक रूप से स्कन्द कहा जा सकता है, क्योंकि उन्होंने अविद्या को उसी प्रकार आक्रमण करके जीत लिया जिस प्रकार स्कन्द देवता ने असुरों की सेनाओं को परास्त किया था।

२४. अग्रे ससर्ज वै ब्रह्मा मानसानात्मनः समान्। सनकं सनातनं चैव तथैव च सनन्दनम्। ऋतुं सनत्कुमारं च पूर्वमेव प्रजापतिः। पञ्चैते योगिनो विप्राः परं वैराग्यमाश्रिताः।। कूर्मपु० (१।७।१९-२१)।

छा० उप० (१।८) में उल्लेख है कि भारत के किसी भाग में (जिसकी चर्चा नहीं हुई है) तीन व्यक्ति, यथा—शिलक शालावत्य, चैकितायन दाल्भ्य एवं प्रवाहण जैवलि, ऐसे व्यक्ति थे जो उद्गीथ (अर्थात् ओम्) के गूढ़ अर्थ में निष्णात थे। वे उद्गीथ पर विचार करने के लिए बैठ गये। प्रथम दो (जो ब्राह्मण थे) ने एक-दूसरे से प्रश्नोत्तर किया। इस पर प्रवाहण जैवलि ने उन्हें बताया कि वे ऐसे विषयों के बारे में उत्तर दे रहे हैं जो नित्य नहीं हैं। इसके उपरान्त प्रवाहण जैवलि ने उनसे कहा कि इस विश्व का मूल आकाश है, प्राणियों की उत्पत्ति आकाश से हुई है और प्राणी पुनः वहीं लौट जायेंगे, तथा यह आकाश उद्गीथ है जो उच्च से उच्चतर है और अनन्त ....आदि है। ड्यूशन ने अपने सिद्धान्त की पुष्टि के लिए इस वचन का भी सहारा लिया है। उपनिषदों में उद्गीथ-विद्या कतिपय उपासनाओं में परिगणित है। अतः जो बात प्रकट होती है, वह यह है कि प्रवाहण जैवलि को वह विद्या ज्ञात थी और किसी स्थान (जिसका नामोल्लेख नहीं हुआ है) के दो ब्राह्मणों को वह अज्ञात थी। इस सिद्धान्त की, जो ब्राह्मणों को तादात्म्य (ब्रह्माद्वैतवाद) के केन्द्रीय सिद्धान्त से अनभिज्ञ ठहराता है, परीक्षा करके उसे ठीक मानना सम्भव नहीं है। इसी सन्दर्भ में (छा० उप० १।९।३) प्रवाहण जैवलि ने उल्लेख किया है कि अतिधन्वा शौनक ने उदरशाण्डिल्य को उद्गीथ-विद्या का ज्ञान दिया था। ड्यूशन ने बिना कोई प्रमाण उपस्थित किये कह दिया है कि यहाँ भी ब्राह्मण ने क्षत्रिय से शिक्षा ग्रहण की। वे सम्भवतः यह बात भूल गये कि 'शौनक' एवं 'शाण्डिल्य' दोनों ब्राह्मण नाम हैं। यह तथ्य यह सिद्ध करता है कि अपने सिद्धान्त की पुष्टि में आतुरतावश एक गम्भीर विद्वान् भी किस प्रकार त्रुटियाँ कर सकता है। उन्होंने स्वयं लिखा है कि शौनक ने, जो ब्राह्मण (अतिधन्वा नामक) था, एक अन्य ब्राह्मण (उदरशाण्डिल्य) को उस विद्या में शिक्षित किया। इसके अतिरिक्त, उद्गीथ विद्या कतिपय उपासनाओं में एक उपासना है और प्रवाहण ने जो पढ़ाया है वह यह है कि सभी भूत (प्राणी) आकाश से उत्पन्न होते हैं और उसी में पुनः समाहित हो जाते हैं, जिसका अभिप्राय यह है कि आकाश ब्रह्म की ओर संकेत करता है, जैसा कि वे० सू० (१।१।२२) भी कहता है। मिलाइए यह सिद्धान्त तै० उप० (३।६, जो वे० सू० १।१।२ का आधार है) आदि से। इतना ही नहीं, छा० उप० के इस वचन में पुनर्जन्म के विषय में कुछ भी नहीं है।

ड्यूशन एवं भण्डारकर के मतों का आधार है पञ्चाग्निविद्या के विषय में प्रवाहण जैवलि एवं श्वेतकेतु का संवाद (बृ० उप० ६।२ एवं छा० उप० ५।३-१०) तथा अश्वपति कैकेय एवं उद्दालक आरुणि के बीच वैश्वानर के विषय में हुई वार्ता (छा० उप० ५।११।२४)। दूसरी वार्ता के विषय में हम ऊपर पढ़ चुके हैं। प्रथम वार्ता वाला प्रसंग बड़ा महत्त्वपूर्ण है जिसे लोगों ने ठीक से समझा नहीं है। श्वेतकेतु एवं उसके पिता आरुणि गौतम को पञ्चाग्निविद्या बताने के पूर्व प्रवाहण जैवलि ने कहा है (छा० उप० ५।३।७)—'तुम्हारे पूर्व यह विद्या ब्राह्मणों के पास नहीं गयी; अतः सभी लोकों में अधिकार (शासन) केवल क्षत्रिय जाति के पास ही रह सका है।' बृ० उप० के वचन में शब्द आये हैं—'आज के पूर्व यह विद्या किसी ब्राह्मण में नहीं पायी जाती थी, किन्तु मैं तुम्हें इसे बताऊँगा, क्योंकि कौन व्यक्ति तुम्हें नहीं बतायेगा जो मुझे इस प्रकार सम्बोधित करते हो। (अर्थात् 'मैं आप के पास शिष्य-रूप में उपस्थित हुआ हूँ)।' कौषीतकि उप० (१) में देवयान एवं पितृयाण का सिद्धान्त चित्र गार्ग्यायणि द्वारा आरुणि (एवं उसके पुत्र श्वेतकेतु) को बतलाया गया है, किन्तु यह कथन कि केवल क्षत्रिय ही इस सिद्धान्त के उद्भावक एवं जानकार थे, वहाँ नहीं आया है और गार्ग्यायणि ब्राह्मण अध्यापक के सदृश प्रतीत होते हैं। प्रश्न यह है—"छान्दोग्य एवं बृहदारण्यक उपनिषदों के उपर्युक्त वचनों में 'इस विद्या' का क्या तात्पर्य है?" उपनिषदों (विशेषतः छान्दोग्य एवं बृहदारण्यक) में वैसे पुरुषों के लिए, जो ब्रह्मविद्या के मार्ग पर अधिक दूर नहीं जा सके हैं, ब्रह्म की उपासना के लिए कतिपय विद्याओं की विस्तृत चर्चा हुई है, यथा—उद्गीथविद्या (छा० उप० १।८-९, बृह० उप० १।३), दहरविद्या (छा० ८।१।१-२, बृ० उप० १।३, वे० सू० १।३।१४-२१), मधुविद्या (उप० छा०

३।१।१, बृ० उप० २।५।१-१५), संवर्गविद्या (छा० ४।३)। इसी प्रकार पञ्चाग्निविद्या भी एक उपासना है। ड्यूशन आदि ने इसे स्वीकार किया है कि जीवात्मा एवं परमात्मा की एकात्मता एवं कर्मों तथा आचरण पर आधृत आत्मा के पुनर्जन्म के विषय में महान् एवं मौलिक वचन याज्ञवल्क्य द्वारा कहे गये हैं जो बृ० उप० में पाये जाते हैं। पञ्चाग्निविद्या का सम्बन्ध पुनर्जन्म के केवल एक पक्ष से है, और वह पक्ष है वह मार्ग जिसका अनुसरण वे लोग करते हैं जो ग्राम में रहते हुए यज्ञ, जन-कल्याण-कार्य एवं दान करते रहते हैं। पाँच अग्नियों एवं पाँच आहुतियों का सम्बन्ध केवल पितृयाण मार्ग से है। इसमें उस गति या दशा की गूढ़, एवं अर्ध भौतिक व्याख्या पायी जाती है जिसके द्वारा व्यक्ति इस पथिवी पर बार-बार जन्म लेते हैं। अधिक-से-अधिक यही तर्क उपस्थित किया जा सकता है कि कुछ क्षत्रिय राजाओं या सामन्तों ने पवित्र लोगों द्वारा चन्द्रलोक से पुनः पथिवी लोक पर आने की विधि पर किसी गूढ़ या आध्यात्मिक व्याख्या करने का अधिकार प्राप्त कर लिया होगा। इस विषय में स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता कि प्रवाहण जैवलि किसी देश के राजा थे या मात्र एक क्षत्रिय (राजन्य, बृ० उप० ६।२।३ एवं छा० उप० ५।३।५), किन्तु इतना स्पष्ट रूप से कहा हुआ है कि अश्वपति केकय राज्य (भारत के उत्तर-पश्चिम में स्थित) के राजा थे, जब कि जीवात्मा एवं परमात्मा की एकात्मता एवं आत्मा की अमरता के मौलिक उद्घोषक थे याज्ञवल्क्य, जो विदेह (मिथिला, बिहार प्रदेश) के निवासी थे जो केकय से कम-से-कम एक सहस्र मील दूर था। याज्ञवल्क्य का दर्शन केकय ऐसे सुदूर देश में एक लम्बे काल के उपरान्त ही पहुँचा होगा। यदि यह बात तर्क के लिए मान भी ली जाय कि अश्वपति के समान कुछ शासक ऐसे थे जिन्होंने सर्वप्रथम पवित्र याज्ञिकों (यज्ञ करने वालों) के सम्मुख पुनर्जन्म के मार्ग की व्याख्या उपस्थित की, तब भी ड्यूशन महोदय की स्थापना किसी प्रकार भी उपर्युक्त पुष्ट प्रमाणों के समक्ष नहीं ठहरती।

(प्रकृत विषय की चर्चा अब पुनः आरम्भ होती है।) उपनिषदों ने एक ऐसा कठोर नियम बनाया है कि सभी प्रकार के अच्छे या बुरे कर्मों के फल भोगने ही पड़ते हैं और व्यक्ति के कर्मों एवं आचरण से ही आगे के जीवन निर्धारित एवं निश्चित होते हैं। किन्तु उपनिषदों के कुछ वचनों से प्रकट होता है कि उन्होंने इस विषय में कुछ अपवाद छोड़ रखे हैं। एक अपवाद यह है कि जब कोई व्यक्ति ब्रह्म की अनुभूति कर लेता है, उसके सभी अच्छे या बुरे कर्म जो ब्रह्मानुभूति के उपरान्त या भौतिक देह के मरने के पूर्व किये गये हों, कोई परिणाम नहीं उपस्थित करते। छा० उप० (६।१४।३) में सत्यकाम जाबाल ने अपने शिष्य उपकोसल से कहा है—'जिस प्रकार जल कमलदल से नहीं चिपक सकता, उसी प्रकार जो ब्रह्म को जानता है उसमें दुष्कर्म नहीं लगा रह सकता।' छा० उप० (५।२४।३) में पुनः आया है—'जिस प्रकार इषीका—तूल के सूत्र अग्नि में भस्म हो जाते हैं उसी प्रकार वैश्वानर (ब्रह्म) के अभिप्राय को जानने वाले अग्निहोत्री व्यक्ति के बुरे कर्म भस्म हो जाते हैं।' बृ० उप० (४।४।२२) में आया है—'जो इन दोनों को जानता है उसको ये अभिभूत नहीं करते, चाहे वह भले ही कहे कि किसी कारणवश उसने बुरा कर्म किया या किसी कारणवश अच्छा कर्म किया; वह इन दोनों को पार कर जाता है; उसे किया हुआ अथवा न किया हुआ, कोई भी कर्म नहीं तपाता।' मुण्डकोपनिषद् (२।२।८) ने व्यवस्था दी है—'जब कोई व्यक्ति सर्वोच्च (कारण) को देख लेता है (उसकी अनुभूति कर लेता है) और निम्नतम (कार्य) भी जान लेता है तो उसके कर्म नष्ट हो जाते हैं।'[२५] किन्तु यह उन्हीं कर्मों के लिए सत्य है जो ब्रह्मानुभूति के पूर्व किये गये थे

२५. यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त इति। छा० उप० (४।१४।३); तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति। छा० उप० (५।२४।३); एतमु हैवैते न तरत

तथा उनके लिए जो अनुभूति की प्राप्ति के उपरान्त शरीर द्वारा किये गये। किन्तु वह व्यक्ति उस प्रारब्ध कर्म को खण्डित नहीं कर सकता जिसने उसे वह जन्म दिया जिसमें उसने ब्रह्मानुभूति की प्राप्ति की। भावना यह है कि वे कर्म, जिनके फलस्वरूप व्यक्ति को वर्तमान स्वरूप प्राप्त हुआ, मृत्युपर्यन्त भोगे जाने चाहिए, इसके उपरान्त ही व्यक्ति भौतिक शरीर के बन्धन से मुक्त होता है। छा० उप० [२६] का कथन है कि उस व्यक्ति के लिए, जिसने किसी गुरु से परमात्मा का सत्य ज्ञान प्राप्त कर लिया है, केवल तब तक की देरी है जब तक वह इस शरीर से मुक्त नहीं हो जाता, तभी वह पूर्ण हो पाता है। वे० सू० (४।१।१३-१५) में इन सभी वचनों का आधार लिया गया है और शंकराचार्य ने उनके उद्देश्य की संक्षिप्त किन्तु सुस्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत की है। गीता (४।३७) में भी आया है कि ज्ञान की अग्नि से सभी कर्म भस्म हो जाते हैं। यहाँ पर 'कर्म' का तात्पर्य है **सञ्चित** एवं **सञ्चीयमान** न कि **प्रारब्ध** कर्म। विद्या की प्राप्ति एवं शरीरपात के बीच के कर्मों के विषय में शंकराचार्य ने धनुष से छूटे हुए तीर का उदाहरण दिया है, जो आरम्भिक वेग की समाप्ति पर हो सकता है। कुछ ग्रन्थों में ऐसा आया है कि जब इस जीवन में किये गये शुभ एवं अशुभ कर्म अपनी पराकाष्ठा को प्राप्त हो जाते हैं तो उनके फल इसी जीवन में प्राप्त हो जाते हैं [विज्ञानदीपिका, १०]।

उपनिषद्-सिद्धान्त यह है कि व्यक्ति को अच्छे या बुरे कर्मों का फल अवश्य भोगना चाहिए। किन्तु कभी-कभी कोई दुष्कर्म अनजान में भी हो जाता है, यथा अचानक हाथ की बन्दूक से गोली छूट जाय और कोई व्यक्ति मर जाय या बुरी तरह से घायल हो जाय। इस बात को लेकर धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों में एक विवेचन उठ खड़ा हुआ था और आगे चलकर प्रायश्चित्त का विधान बनाया गया। वैदिक काल से ही धार्मिक कृत्यों के होते समय किसी प्रकार की अनियमितताओं एवं दुर्घटनाओं के रक्षार्थ तथा दुर्निमित्तों या व्यक्तिगत आपत्तियों (यथा कुत्ते का काटना आदि) के लिए कुछ कृत्य सम्पादित किये जाते रहे हैं। इन विषयों में केवल व्यक्तिगत पवित्रता तथा किसी आपत्ति से रक्षा पाना ही उद्देश्य है, यहाँ पाप-सम्बन्धी कोई प्रश्न नहीं है। गौतमधर्मसूत्र में इस विषय में

इति। अतः पापमकरवमिति। अतः कल्याणमकरवमिति। उभे उ हैवैष एते तरति। नैनं कृताकृते तपतः। बृह० उप० (४।४।२२); क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे। मुण्डक उप० (२।२।८); एवमेवेहाचार्यवान् पुरुषो वेद। तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये ऽथ संपत्स्य इति। छा० उप० (६।१४।२)।

२६. तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्। इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु। अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः। वेदान्तसूत्र (४।१।१३-१५); शांकरभाष्य : 'ब्रह्माधिगमे सत्युत्तरपूर्वयोरघयोरश्लेषविनाशौ भवतः उत्तरस्याश्लेषः, पूर्वस्य विनाशः इतरस्यापि पुण्यस्य कर्मणः एवमघवदसंश्लेषो विनाशश्च ज्ञानवतो भवतः। अवश्यम्भाविनी विदुषः शरीरपाते मुक्तिरित्यवधार्यते।' बृ० उप० (१।४।१०) पर शांकरभाष्य में आया है : 'यावच्छरीरपातस्तावत्फलोपभोगांगतया विपरीतप्रत्ययं रागादिदोषं च तावन्मात्रमाक्षिपत्येव। मुक्तेषुवत्प्रवृत्तफलत्वात्तद्धेतुकस्य कर्मणः। तेन न तस्य निवर्तिका विद्या। अविरोधात्।... ज्ञानोत्पत्तेः प्रागूर्ध्वं तत्कालजन्मान्तरसंचितानां च कर्मणामप्रवृत्तफलानां विनाशः सिद्धो भवति।' पद्मपाद की विज्ञानदीपिका में आया है—'उभयोर्ज्ञानतो नाशो भोगात्प्रारब्धकर्मणः' (श्लोक ९)। टीकाकार का कथन है : "ज्ञान के दो प्रकार हैं, यथा—परोक्ष एवं अपरोक्ष। प्रथम का स्वरूप यों है : 'ब्रह्म का अस्तित्व है और मुझे उसकी उपासना अवश्य करनी चाहिए।' द्वितीय का स्वरूप इस प्रकार है : 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या। अतोहमपि ब्रह्मैवेत्याकारकं यज्ज्ञानं तदपरोक्षम्। अपरोक्षज्ञानं तावत्प्रारब्धेतरकर्मनाशकम्। एवं चात्र ज्ञानमपरोक्षमेव। तस्मादुभयोः *सञ्चितसञ्चीयमान योः कर्मणोर्नाशो लीजलोपः'।"**

एक विवेचन है, जो सम्भवतः इस प्रकार के अत्यन्त आरम्भिक पाप एवं प्रायश्चित्त-सम्बन्धी व्याख्या है। गौतम का कथन है कि पापों के शमन के लिए प्रायश्चित्तों के विषय में दो मत हैं, जिनमें एक यह है कि पापों के लिए प्रायश्चित्त नहीं किया जाना चाहिए, क्योंकि जब तक उनके फलों को भोग नहीं लिया जाता, उनका नाश नहीं होता; और दूसरा मत यह है कि प्रायश्चित्त किया जाना चाहिए, क्योंकि इस विषय में वैदिक वचन उपलब्ध हैं, यथा—'पुनःस्तोम नामक यज्ञ करने के पश्चात् व्यक्ति सोम यज्ञ करने के योग्य हो सकता है (अर्थात् वह सभी प्रकार के यज्ञ कर सकता है)', 'व्रात्यस्तोम करने के पश्चात् व्यक्ति वैदिक यज्ञों के सम्पादन के योग्य हो जाता है', 'जो अश्वमेध करता है वह सभी पापों, यहाँ तक कि ब्रह्म हत्या को भी लाँघ जाता है।'[२७] कुछ लोगों का ऐसा मत था कि केवल वे पाप प्रायश्चित्तों से दूर होते हैं जो अनजान में हो जाते हैं, किन्तु कुछ लोग ऐसा दृष्टिकोण रखते थे कि वे पाप भी प्रायश्चित्तों से शमित होते हैं जिन्हें जानबूझ कर किया जाता है, क्योंकि इस विषय में वैदिक संकेत प्राप्त होते हैं (मनु ११।४५)।[२८] इस विषय में हमने इस महाग्रन्थ के मूल खण्ड ४ पृ० १-१७८ में विस्तार के साथ पढ़ लिया है।

पापों के फलस्वरूप पुनर्जन्म पाने के विषय में पाठकों का ध्यान निम्नलिखित ग्रन्थों की ओर आकृष्ट किया जा रहा है—मनुस्मृति (१२।५४-६६), याज्ञवल्क्य स्मृति (३।१३१, १३५-१३६, २०७-२१५), विष्णुधर्मसूत्र (अध्याय ४४), अत्रिस्मृति (४।५-१४, १७-४४), मार्कण्डेयपुराण (१५।१-४१), ब्रह्मपुराण (२१७।३७-११०), गरुडपुराण (प्रेतकाण्ड, २।६०-८८, जहाँ याज्ञ० ३।२०६-२१५ ज्यों-का-त्यों रख दिया गया है), मिताक्षरा ३।२१६), मदनपारिजात (पृ० ७०१-७०२), पराशरमाधवीय (खण्ड २, भाग २, पृ० २४६, २५६, २६३ २६६)। स्थानाभाव के कारण इस विषय में हम विस्तार से विवेचन नहीं उपस्थित करेंगे, केवल थोड़े-से उदाहरण प्रस्तुत किये जायेंगे।

मनु (१२।५४-६६, जिनसे बहुत-सी बातों में याज्ञ० ३।२०६-२०८ की सहमति है) में आया है—'महापातकी लोग बहुत वर्षों तक भयंकर नरकों में रह कर निम्नलिखित जन्म प्राप्त करते हैं। ब्रह्महत्यारा कुत्ता, सूअर, गधा, ऊँट, कौआ (या बैल), बकरी, भेंड़, हरिण, पक्षी, चाण्डाल एवं पुक्कस के जन्मों को पार करता है; सुरा पीने वाला ब्राह्मण कीटों, मकोड़ों, पतंगों, मल खाने वाले पक्षियों, मांसभक्षी पशुओं के विभिन्न जन्मों को पाता है; ब्राह्मण के सोने की चोरी करने वाला ब्राह्मण मकड़ों, सर्पों, छिपकलियों, जलचरों, नाशक निशाचरों की योनियों में सहस्रों बार जन्म लेता है; गुरु के पर्यंक को अपवित्र करने वाला (गुरु-पत्नी के साथ संभोग करने वाला) घासों, गुल्मों, लताओं, मांसभक्षी पशुओं, फणिधरों तथा व्याघ्र ऐसे क्रूर पशुओं की योनियों में सैकड़ों बार जन्म लेता है। जो व्यक्ति लोगों को मारा-पीटा करते हैं वे कच्चा मांस खाने वालों की योनि में जन्म लेते हैं, जो व्यक्ति निषिद्ध भोजन करते हैं, वे कीट होते हैं; जो चोरी करते हैं, वे ऐसे जीव बनते हैं जो अपनी जाति के जीवों को खा डालते हैं, यथा मछली; जो लोग हीन जाति

२७. तत्र प्रायश्चित्तं कुर्यान्न कुर्यादिति मीमांसन्ते। न कुर्यादित्याहुः। न हि कर्म क्षीयत इति। कुर्यादित्यपरम्। पुनः स्तोमेनेष्ट्वा पुनः सवनमायान्तीति विज्ञायते। व्रात्यस्तोमैश्चेष्ट्वा। तरति सर्वं पाप्मानं तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते। अग्निष्टुताऽभिशस्यमानं याजयेदिति च। गौ० ध० सू० (१६।३-१०)। देखिए वसिष्ठधर्मसूत्र (२२।३-७), तै० सं० (५।३।१२।२) एवं शतपथब्राह्मण (१२।३।१।१)।

२८. अनभिसन्धिकृते प्रायश्चित्तमपराधे। अभिसन्धिकृतेप्येके। वसिष्ठ (२०।१-२)।

की नारियों से संभोग करते हैं, वे प्रेत होते हैं, जो व्यक्ति बहिष्कृत लोगों के साथ कुछ विशिष्ट अवधि तक रह लेता है, जो दूसरों की पत्नियों के साथ संभोग करता है, जो ब्राह्मण की सम्पत्ति (सोना के अतिरिक्त) को छीन लेता है, वह ब्रह्मराक्षस होता है। जो व्यक्ति लोभवश रत्नों, मोतियों, मूंगों या किसी अन्य प्रकार के बहुमूल्य पत्थरों को चुराता है, वह स्वर्णकारों के बीच जन्मता है; अन्न चुराने पर ब्राह्मण चूहा होता है, काँसा चुराने पर व्यक्ति हंस पक्षी होता है, दूसरे को जल से वंचित करने पर व्यक्ति प्लव नामक पक्षी होता है, मधु चुराने पर डंक मारने वाला जीव होता है, मीठा रस (ईख आदि का) चुराने पर कुत्ता होता है। मांस चुराने पर चील होता है, तेल चुराने पर तैलपक (तेलचट्टा) कीड़ा, नमक चुराने पर झिल्ली जीव तथा दही चुराने पर बलाका (बगला) पक्षी होता है; रेशम, सन-वस्त्र, कपास-वस्त्र चुराने पर क्रम से तीतर, मेढक एवं क्रौंच पक्षी का जन्म मिलता है; गौ चुराने पर गोधा, चोटा चुराने पर वाग्गुद (चमगादड़?) पक्षी, सुगंध चुराने पर गंधमूषक (छछूंदर), पत्तियों वाले शाक चुराने पर मोर, भाँति-भाँति के पक्वान्न चुराने पर शल्य (साही) तथा बिना पका भोजन चुराने पर शल्य (या झाड़ी में रहने वाला जीव विशेष) का जन्म मिलता है। अग्नि चुराने पर बगला (बक), बर्तनों के चुराने पर हाड़ा, रंगीन वस्त्र चुराने पर चक्रवाक पक्षी, हिरण या हाथी चुराने पर भेड़िया, घोड़ा चुराने पर बाघ, फलों एवं कन्द-मूलों के चुराने पर बन्दर, नारी चुराने पर भालू, पीने वाला पानी चुराने पर चातक, सवारी (यान) चुराने पर ऊँट, पालतू पशु चुराने पर बकरा का जन्म प्राप्त होता है। जो व्यक्ति किसी अन्य की कोई सम्पत्ति बलपूर्वक छीन लेता है या जो उस यज्ञिय सामग्री को, जिसका कोई अंश अभी यज्ञ में नहीं लगा है, खा लेता है तो वह निम्न श्रेणी का पशु होता है; जो नारियाँ उपर्युक्त प्रकार की चोरी करती हैं, वे भी पातकी होती हैं और वे ऊपर वर्णित जीवों की पत्नियों के रूप में जन्म ग्रहण करती हैं।

जब एक बार प्रायश्चित्तों के सिद्धान्त द्वारा उपनिषदों में वर्णित कर्म-सिद्धान्त ढीला कर दिया गया तो आरम्भिक कालों में भी पापों के परिणामों को दूर करने के अनेक प्रायश्चित्त-मार्ग व्यवस्थित हो गये। गौतम[२९] ने अपराधपूर्ण कर्मों के प्रभावों के शमन के लिए पाँच साधन बताये हैं, यथा—जप, तप, होम, उपवास एवं दान। देखिए इस महाग्रन्थ का खण्ड—४, जहाँ पृ० ४४-५१ में **जप**, पृ० ४२-४३ में **तप**, पृ० ४३-४४ में **होम**, पृ० ५१-५२ में **दान** तथा पृ० ५२-५४ में **उपवास** पर विशेष रूप से लिखा हुआ है। यहाँ कुछ लिखना आवश्यक नहीं है। किन्तु कुछ विशिष्ट परिमार्जनों एवं साधनों की ओर ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक है। शूद्रों एवं प्रतिलोम जातियों के सदस्यों को वेदाध्ययन की अनुमति नहीं थी, अतः मध्यकालीन ग्रन्थों, विशेषतः पुराणों ने यहाँ तक कह दिया कि कृष्ण के नाम का स्मरण सभी प्रायश्चित्तों एवं तपों से उत्तम है और यदि कोई व्यक्ति प्रातः, मध्याह्न, सायं, रात्रि या अन्य कालों में नारायण का स्मरण करता है उसके सभी पाप कट जाते हैं (विष्णुपुराण २।६।३९ एवं ४१, ब्रह्मपुराण २२।३९, जो प्रायश्चित्तविवेक पृ० ३१

२९. तस्य निष्क्रयणानि जपस्ततो होम उपवासो दानम्। गौ० ध० सू० (१९।११)। १९।१२ में गौतम ने वैदिक वचनों की एक लम्बी सूची दी है, जिनके पाठ से व्यक्ति पापों से मुक्त होता है। मनु (११।२४९-२५०) ने कुछ वैदिक सूक्त तथा मन्त्र निर्धारित किये हैं जिनके जप से ब्रह्महत्या, सुरापान, सोने की चोरी, गुरुतल्प-गमन (गुरु की पत्नी के साथ संभोग) तथा अन्य बड़े या हलके पाप नष्ट हो जाते हैं। मनु (११।२५९-२६०) ने अघमर्षण सूक्त (ऋ० १०।१९०।१-३) के जप की बड़ी प्रशंसा की है, क्योंकि उससे सभी पाप कट जाते हैं।

अपरार्क० पृ० १२३२ तथा प्रायश्चित्ततत्व पृ० ५२४ में उद्धृत है)। पापों की मुक्ति के लिए अन्य साधन भी थे, यथा--तीर्थयात्रा। देखिए इस महाग्रन्थ का खण्ड ४, पृ० ५५-५६ एवं पृ० ५५२-५८०। एक अन्य साधन था प्राणायाम-अभ्यास (देखिए वही, पृ० ४२)।

अत्यन्त आरम्भिक काल में भी सबके समक्ष पाप-निवेदन करना पापमोचन का एक साधन माना जाता था। वरुण-प्रघास नामक चातुर्मास्य यज्ञ में पत्नी को उसके द्वारा स्पष्ट प्रत्यक्ष रूप से या परोक्ष रूप से यह स्वीकार करने पर कि उसका किसी प्रेमी से शरीर-सम्बन्ध था, पवित्र मान लिया जाता था और उसे पवित्र कृत्यों में भाग लेने की अनुमति मिल जाती थी। देखिए इस महाग्रन्थ का खण्ड २, पृ० ५७५-५७६ एवं पृ० १०६८। और देखिए आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।६।२४।१५, १।१०।२८।१६ एवं १।१०।२६।१)। ब्रह्मचारी को संभोग करने के पाप के मोचनार्थ सात घरों में भिक्षा माँगते समय अपने दुष्कृत्य की घोषणा करनी पड़ती थी (गौतम० २३।१८; मनु ११।१२२)।

अनुताप--मनु (१२।२२७ एवं २३०) ने व्यवस्था दी है कि कोई भी पापी लोगों के समक्ष पाप-निवेदन करने से, अनुताप करने से, तपों द्वारा, वैदिक वचनों के जप द्वारा तथा (यदि वह तप न कर सके तो) दान द्वारा पाप के प्रतिफलों से मुक्त हो जाता है। व्यक्ति पाप करने के उपरान्त अनुताप करने से पापमुक्त हो जाता है और जब 'मैं ऐसा अब कभी न करूँगा' इस प्रकार प्रतिज्ञा करता है तो वह पवित्र हो जाता है। विष्णुपुराण (२।६।४०) में आया है कि यदि पाप करने के उपरान्त व्यक्ति अनुताप (पश्चात्ताप या परिताप) करता है तो सबसे बड़ा प्रायश्चित्त है हरिस्मरण। उपर्युक्त कथन वैदिक वचनों तथा धर्मशास्त्र-ग्रन्थों के वक्तव्यों एवं व्यवस्थाओं से यह प्रकट है कि हिन्दुओं के कर्म-सिद्धान्त में पाप-निवेदन की व्यवस्था थी। अतः स्काटलैण्ड के पादरी मैकनिकोल कृत 'इण्डियन थीइज्म' पृ० २२३ में लिखित यह वक्तव्य कि हिन्दुओं के कर्म-सिद्धान्त में अनुताप को कोई स्थान नहीं है, सर्वथा असत्य एवं भ्रामक है। वास्तव में, हिन्दुओं में ईसाइयों के समान सस्ता 'कन्फेशन' (पाप की स्वीकारोक्ति) नहीं है, प्रत्युत उनमें नरक की यातनाओं एवं दुःखदायी जन्मों की बातें भी पायी जाती हैं। पश्चात्कालीन पौराणिक लेखक बहुत सीमा तक ईसाइयों की सामान्य मान्यता के सन्निकट आ गये थे और हरिस्मरण से अपने को पाप-मुक्त समझने लगे। ईसाइयों में ऐसा विश्वास है कि ईसामसीह को पापमोचक समझ कर पापनिवेदन करके पाप से छुटकारा प्राप्त हो सकता है। आश्चर्य है, मैक्निकोल महोदय प्रसंगोचित वचनों एवं पौराणिक बातों को भी पढ़ लेना भूल गये और एक असत्य एवं भ्रामक वक्तव्य दे बैठे।

मैक्निकोल महोदय ने अपना ग्रन्थ 'इण्डियन थीइज्म' सन् १६१५ में लिखा था। उनके बहुत पहले से ही बहुत-से पाश्चात्य लेखकों ने, जो ईसाई धर्म के वातावरण में पले थे, ऐसा व्यक्त किया कि मृत्यु के पश्चात् मानव की नियति के विषय में प्राचीन भारतीय सिद्धान्त उसी विषय पर कही गयी बाइबिल की भावनाओं से अपेक्षाकृत बहुत अच्छे हैं और अधिक स्वीकार करने योग्य हैं। हम यहाँ केवल दो-तीन उदाहरणों से ही सन्तोष करेंगे। अर्बेरी महोदय ने अपने ग्रन्थ 'एशियाटिक जोंस' (पृ० ३७) में अर्लस्पेंसर को लिखे गये सर विलियम जोंस के एक पत्र का उद्धरण दिया है--'मैं हिन्दू नहीं हूँ, किन्तु मैं भविष्य जीवन से सम्बन्धित हिन्दुओं के सिद्धान्त को ईसाइयों द्वारा अनन्त दण्डों से सम्बन्धित मान्य धारणाओं से अपेक्षाकृत अधिक बौद्धिक, अधिक पवित्र तथा लोगों को दुष्कर्म से दूर रखने में अधिक समर्थ मानता हूँ।' लोवेस डिकिंसन ने अपने ग्रन्थ 'रिलिजिएन एण्ड इम्मौरैलिटी' (डेण्ट एण्ड संस, १६११, पृ० ७४) में लिखा है--'वास्तव में, यह सन्तोषप्रद भावना है कि हमारी वर्तमान समर्थताएँ हमारे गत जीवन के कार्यों द्वारा निर्धारित होती हैं और हमारे वर्तमान कर्म पुनः हमारे भावी चरित्र को निश्चित करेंगे।' ओवेन रटर ने, जो 'दि स्केल्स

आव कर्म' (लण्डन, १९२५) के लेखक हैं, लिखा है कि ईसाई धर्म ने उन बौद्धिक एवं नैतिक समस्याओं का समाधान करने में असफलता व्यक्त की है जिनसे वर्तमान संसार की विषमताओं में रहने वाले लोग ग्रस्त हैं। उन्होंने यह लिखा है कि कर्म एवं पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर लिखने के सात वर्ष पूर्व हमने उसका अध्ययन किया था, अतः जो कुछ उन्होंने लिखा है वह उनका व्यक्तिगत वक्तव्य है न कि कर्म पर एक लेख मात्र है (पृ० १२-१३)। जिन्होंने इस सिद्धान्त के विरोध में लिखा है उन्होंने यह स्वीकार करते हुये कि उपनिषद् का यह सिद्धान्त यद्यपि अति प्राचीन है और विश्व में न्याय एवं अन्याय के सम्बन्ध में एक अति गम्भीर विवेचन है, लिखा है कि यह (कर्म-सिद्धान्त) एक दुर्बल एवं कठिनाइयों से परिपूर्ण सिद्धान्त है। यहाँ पर एक प्रश्न किया जा सकता है—वे कौन-से धर्म एवं दर्शन-सम्बन्धी सिद्धान्त हैं जो कठिनाइयों से परिपूर्ण नहीं हैं ? हम ईसा के धर्म को उदाहरणस्वरूप ले सकते हैं। जो ईसाई नहीं हैं (और बहुत से आधुनिक ईसाई भी) उनकी दृष्टि में मौलिक पाप का सिद्धान्त, बिना बपतिस्मा लिये हुए शिशुओं की नरक-दण्ड-सम्बन्धी भावना, पूर्वनिश्चितवाद, जो इस बात पर आधृत है कि ईश्वर सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान स्वर्ग एवं पृथिवी का स्रष्टा है, विचित्र-सा एवं दोषपूर्ण लगेगा। एल० टी० हाबहाउस ने 'मॉरल्स इन इवल्यूशन' (भाग २, १९०६) में प्रदर्शित किया है कि किस प्रकार ईश्वर वाले सभी सिद्धान्त विशेषतः ईसाई धर्म, कठिनाइयों से परिपूर्ण हैं। ऐसा कहना कि ईसामसीह का धर्म विलक्षण है, इस धर्म के मानने वाले लोग विशिष्ट हैं। ईश्वर को अन्यायी सिद्ध करना होगा और इसीलिए प्रो० टायनबी (क्रिश्चियानिटी एमंग दि रिलिजियंस आव दि वर्ल्ड, आक्सफोर्ड युनि० प्रेस, १९५८) ऐसे लेखकों ने ऐसा सोचना एवं आग्रह करना आरम्भ कर दिया है कि ईसाई धर्म को इस प्रकार के विश्वासों से निर्मुक्त हो जाना चाहिए (पृ० १३ एवं ९५)।

कर्म का सिद्धान्त यह बताता है कि एक व्यक्ति के अच्छे या बुरे कर्म दूसरे में स्थानान्तरित नहीं हो सकते और न कोई व्यक्ति किसी अन्य के पापों को भोग सकता है। किन्तु ऋग्वेद में ऐसे विश्वास के संकेत हैं कि ईश्वर पिताओं के पापों के कारण उनके पुत्रों को दण्डित कर सकता है। ऋ० (७।८६।५) में वसिष्ठ वरुण से प्रार्थना करते हैं—'हम लोगों से हमारे पिताओं के उल्लंघनों को दूर कर दीजिए, और उन सबको भी जो हमने स्वयं अपने शरीर में किये हैं', 'हम लोग अन्य लोगों द्वारा किये गये पापों से दुःखी न हों और न हम लोग वह करें जिसके लिए आप दण्डित करते हैं' (यह विश्वेदेव को सम्बोधित है)। शान्तिपर्व (२७९।१५ एवं २१=२९०।१६ एवं २२, चित्रशाला संस्करण) में आया है—'चार प्रकार से यथा—आँख, मन, वचन एवं कर्म से व्यक्ति जो कुछ करता है, वह वैसा ही फल पाता है। दूसरे द्वारा किये गये अच्छे या बुरे कर्मों के फल को अन्य व्यक्ति नहीं भोगता, व्यक्ति वही पाता है जो स्वयं करता है।' और देखिए शान्तिपर्व (१५३।३८ एवं ४१)।

इस सिद्धान्त का परिमार्जन बहुत पहले ही हो गया। गौतमधर्मसूत्र (११।९-११) में आया है कि राजा को शास्त्र के अनुकूल वर्णों एवं आश्रमों की रक्षा करनी चाहिए, यदि वे कर्तव्यपालन से विचलित हों तो उन्हें कर्तव्यपालन में सचेष्ट रखना चाहिए क्योंकि राजा को उनके द्वारा किये गये धर्म का अंश प्राप्त होता है। मनु (८।३०४-३०५, ३०८) ने कहा है कि वह राजा, जो प्रजा की रक्षा करता है, प्रजा के आध्यात्मिक पुण्य का छठा भाग पाता है, यदि वह प्रजाजनों की रक्षा नहीं करता तो वह उनके पाप का छठा भाग पाता है। और देखिए मनु (९।३०१)। कालिदास ने शकुन्तला में यही बात कही है।[30] मनु

३०. सर्वतो धर्मषड्भागो राज्ञो भवति रक्षतः। अधर्मादपि षड्भागो भवत्यस्य ह्यरक्षतः॥ मनु (८।३०४); मिलाइए शाकुन्तल (२।१४) 'यदुत्तिष्ठति वर्णेभ्यो नृपाणां क्षयि तत्फलम्। तपःषड्भागमक्षय्यं ददत्यारण्यका हि नः॥

(८।३१६) में आया है कि यदि चोर राजा के पास आता है, पाप-निवेदन करता है और राजा से कहता है कि वह उसे भारी डण्डे या हथियार से मारे और राजा उसे मारता है या छोड़ देता है तो चोर पाप से मुक्त हो जाता है, किन्तु यदि राजा उसे दण्डित नहीं करता तो वह चोर के समान अपराधी सिद्ध होता है। और देखिए वसिष्ठ (१६।४६ एवं २०।४१)। मनु (३।१००) में आया है कि यदि उस व्यक्ति के घर में जो पवित्र एवं सादा जीवन व्यतीत करता है, खेत में पड़े अन्न को बीन कर अपनी जीविका चलाता है और पांच अग्नियों में होम करता है, कोई अतिथि बिना सम्मान पाये निवास करता है तो उसका सारा पुण्य अतिथि का हो जाता है। और देखिए इस विषय में शान्ति० विष्णुधर्मसूत्र तथा कतिपय पुराण।[31] यह सब सम्भवतः अर्थवाद है, अर्थात् केवल गृहस्थों को अतिथि-सत्कार के लिए प्रोत्साहन देना मात्र है। साक्ष्य देने वाले को न्यायाधीश ने इस प्रकार समझाया है—'तुमने जो कुछ सुकृत सैकड़ों जीवनों में किये होंगे वे सभी उस पक्ष को मिल जायेंगे जो तुम्हारे असत्य साक्ष्य से हार जायेंगे, (याज्ञ० २।७५)। मिताक्षरा एवं अपरार्क ने कहा है कि यह सब केवल डराने के लिए है। (फिर भी असत्य भाषण का पाप तो होगा ही। और देखिए मनु (८।६०), एवं १२।८१)।

भगवद्गीता ने, इस बात के रहते हुए भी कि वास्तविकता के ज्ञान (तत्त्वज्ञान) से सभी कर्मों के प्रभाव नष्ट हो जाते हैं, अन्त में ईश्वर-भक्ति पर बल दिया है, सब कुछ भगवान् के चरणों में अर्पित कर देने को कहा है—'सभी विभिन्न मार्गों को छोड़कर मेरी ही शरण में आओ; चिन्ता न करो, मैं तुम्हें सभी पापों के प्रतिफलों से मुक्त कर दूंगा।'[32]

पति एवं पत्नी के विषय में धर्मशास्त्र-ग्रन्थों में बहुत कुछ है। किन्तु वहाँ जो कुछ कहा गया है उसे ज्यों-का-त्यों नहीं ग्रहण करना चाहिए। मनु (५।१६४-१६६) ने कहा है—'पति से झूठा व्यवहार करके (किसी अन्य के साथ व्यभिचार करके) पत्नी इस जीवन में निन्दित तो होती ही है, वह (मृत्यु के उपरान्त) लोमड़ी हो जाती है और (कोढ़ ऐसे) भयंकर रोगों से ग्रसित होती है। वह स्त्री, जो विचार, वाणी एवं कर्म पर संयम रखती है, जो अपने पति के प्रति असत्य नहीं होती, वह अपने पति के साथ (स्वर्ग में) रहती है, और पतिव्रता नारी कहलाती है। मन, वचन एवं कर्म में संयमित नारी अपने आचरण द्वारा इस जीवन में सर्वोच्च यश कमाती है और परलोक में पति के साथ, निवास करती है।' देखिए इस महाग्रन्थ का खण्ड २, पृ० ५६७-५६८, जहाँ पतिव्रता के विषय में उल्लेख है। एक श्लोक इस प्रकार है—'जिस प्रकार मदारी सर्प को बिल से बलपूर्वक बाहर निकाल लेता है, उसी प्रकार पतिव्रता नारी यमदूत से अपने पति का जीवन खींच लेती है और पति के साथ परलोक जाती है।' यह भी एक अर्थवाद है, किन्तु सम्भवतः यह उन कालों की प्रचलित भावनाओं की ओर संकेत है।

३१. अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात्प्रतिनिवर्तते। स तस्मै दुष्कृतं दत्त्वा पुण्यमादाय गच्छति।। शान्तिपर्व (१८४।१२, चित्रशाला संस्करण); विष्णुधर्मसूत्र (६७।३३), विष्णुपुराण (३।६।१५ एवं ३।२।६८); वराहपुराण (१७०।४६)।

३२. सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः। भगवद्गीता (१८।६६)। यहाँ धर्म का अर्थ मार्ग है जिसके द्वारा व्यक्ति अपने लक्ष्य तक जाता है। बहुत-से मार्गों की ओर शान्तिपर्व (३४२।१०-१६=३५४।१०-१६० चित्रशाला) में संकेत है, यथा—मोक्षधर्म, यज्ञधर्म, राजधर्म, अहिंसाधर्म। उस अध्याय में अन्तिम श्लोक यों है—'एवं बहुविधैर्लोकैर्धर्मद्वारैरनावृतैः। ममापि मतिराविग्नामेघलेखेव वायुना।।'

महाभारत में आया है कि यदि पाप के प्रतिफल कर्ता के जीवन में नहीं देखे जाते तो वे पुत्रों एवं पौत्रों में अवश्य प्रकट हो होंगे। यह भी अर्थवाद ही है।[३३]

मनु (८।३१८=वसिष्ठ १९।४५) में ऐसा आया है कि (चोरी ऐसे) पापमय कर्म के लिए राजा द्वारा दण्डित हो जाने पर व्यक्ति पापमुक्त हो जाता है और वह पवित्र हो कर उसी प्रकार स्वर्ग जाता है जिस प्रकार अच्छे कर्म वाले व्यक्ति (राजभिः कृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः। निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥)।

कर्म एवं पुनर्जन्म के सिद्धान्त का श्राद्ध-सिद्धान्त से मेल बैठाना बड़ा कठिन है। श्राद्ध में श्राद्धकर्ता के तीन पूर्वपुरुषों को पिण्ड दिये जाते हैं। इस विषय में हमने इस महाग्रन्थ के खण्ड ४ (पृ० ३३५-३३९) में पढ़ लिया है। पितरों को पिण्डदान देने की प्रथा वेदकालीन है और सम्भवतः वह वेदों से भी प्राचीन है तथा कर्म एवं पुनर्जन्म का सिद्धान्त पश्चात्कालीन है। सामान्य लोग श्राद्ध के सिद्धान्त को नहीं छोड़ना चाहते थे और इसी से दोनों का प्रचलन साथ-साथ चलता रहा है।

उपनिषदों एवं उनकी टीकाओं, वेदान्तसूत्रों एवं भाष्यों तथा भगवद्गीता के अतिरिक्त कर्म एवं पुनर्जन्म से सम्बन्धित बहुत ही कम अन्य ग्रन्थ हैं। तुलनात्मक ढंग से पर्याप्त प्राचीन ग्रन्थ है पद्मपाद (सम्भवतः शंकराचार्य के अनन्य शिष्य) कृत विज्ञानदीपिका, जिसमें कुल ७१ श्लोक हैं और जिसका सम्पादन म० म० डा० उमेश मिश्र ने किया है (१९४०)। इस ग्रन्थ में **सञ्चीयमान कर्म** की तुलना खेत में खड़े अन्नों से की गयी है, **सञ्चित कर्म** की घर में रखे अन्नों से तथा **प्रारब्ध कर्म** की तुलना पेट में पड़े अन्नों से की गयी है। पेट में पड़ा भोजन पच जाता है, किन्तु इसमें कुछ समय लगता है। सञ्चित एवं संचीयमान कर्म का नाश सम्यक् ज्ञान से होता है। किन्तु प्रारब्ध कर्म का नाश कुछ काल तक उसके फलों के भोगने के उपरान्त ही होता है। इस पुस्तक ने इस पर बल दिया है कि **वैराग्य** से ही तत्त्व का सच्चा ज्ञान होता है, वासनाओं का नाश होता है, कर्म तथा पुनर्जन्म की समाप्ति होती है।

एक अन्य ग्रन्थ है भट्ट वामदेव कृत जन्म-मरण विचार, जो केवल २५ पृष्ठों में प्रकाशित है। यह कश्मीर के **शैव** सम्प्रदाय से सम्बन्धित है। इसमें आया है कि शिव की तीन शक्तियाँ हैं—**चित्शक्ति** (जो प्रकाश या चेतना के समान है), **स्वातन्त्र्य** (इच्छा-स्वातन्त्र्य) एवं **आनन्दशक्ति**। **छह कञ्चुक** (आवरण या म्यान) हैं—**माया, कला, शुद्ध विद्या, राग, काल** एवं **नियन्त्रण**। जब शरीर का यन्त्र टूट जाता है, तो चेतना प्राणन (साँस) पर अवरोध करके आतिवाहिक (सूक्ष्म) शरीर द्वारा दूसरे शरीर में ले जायी जाती है। आतिवाहिक (सूक्ष्म शरीर) मृत शरीर एवं आगामी भौतिक शरीर के बीच एक द्वार या यान का कार्य करता है। इस ग्रन्थ में अन्य बातें भी हैं, जिन्हें स्थानाभाव से हम यहाँ नहीं दे पा रहे हैं। इसमें आया है कि ईश्वर की कृपा से मनुष्य पवित्र होता है तथा दीक्षा एवं अन्य साधनों से वह वास्तविकता का परिज्ञान करता है और शिव के पास पहुँचता है। इसमें ऐसा कथित है कि सभी मनुष्य मुक्ति नहीं पाते, किन्तु वे, जो दीक्षा, मन्दिरों एवं सत्यज्ञान को घृणा की दृष्टि से देखते हैं, नरक में पड़ते हैं। कर्म के प्रकारों एवं उनके प्रभावों को दूर करने के विषय में बहुत ही कम विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

३३. नाधर्मश्चरितो... कृन्तति ॥ पुत्रेष वा नप्तृषु वा न चेदात्मनि पश्यति। फलत्येव ध्रुवं पापं गुरुभुक्तमिवोदरे ॥ आदि (८०।२-३)। और देखिए शान्तिपर्व (१३९।२२=१३७।१९): **'पापं कर्म कृतं किञ्चिद्यदि तस्मिन न दृश्यते। नृपते तस्य पुत्रेषु पौत्रेष्वपि च नप्तृषु ॥**

एक अन्य ग्रन्थ है अच्युतराय मोडक लिखित (१८१६ ई०) 'प्रारब्धध्वान्त-संहृति' (अर्थात् प्रारब्ध के विषय में अन्धकार या अज्ञान का नाश)। डा० एच० जी० नरहरि (न्यू इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, जिल्द ५, पृ० ११५–११८) ने इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि, तिथि एवं विषयानुक्रमणिका उपस्थित की है। अच्युतराय के अनुसार ग्रन्थ का अर्थ है 'प्रारब्ध-वाद–ध्वान्तसंहृति' अर्थात् 'प्रारब्ध सिद्धान्त के द्वारा उत्पन्न अन्धकार का नाश।' उन्होंने इस भावना की आलोचना की है कि गर्भाधान से लेकर मृत्युपर्यन्त तक के सभी मानवीय कर्म केवल अतीत जीवन के कर्मों द्वारा प्रशासित होते हैं। उनका कथन है कि सभी मानवीय क्रियाओं के मूल में **प्रारब्ध, संस्कार** (उपचेतन या अव्यक्त वृत्तियाँ) एवं **प्रयत्न** (मानवीय प्रयत्न) पाये जाते हैं। उनका कथन है कि देहपात के उपरान्त परमेश्वर द्वारा प्रेरित सञ्चित पुण्य एवं पाप फल देना आरम्भ कर देते हैं और उनमें जो पुण्य (अच्छा कर्म) या पाप (बुरा कर्म) या दोनों जो अत्यन्त प्रबल होता है यथोचित शरीर का आरम्भ कर देता है। जब मिश्र (अच्छे एवं बुरे कर्म मिलकर) कर्म अत्यन्त प्रबल होते हैं तो व्यक्ति ब्राह्मण जाति में जन्म लेता है, जब पाप कर्म अत्यन्त प्रबल होता है तो तिर्यक योनि में तथा जब पुण्य कर्म अत्यन्त प्रबल होता है तो देवत्व प्राप्त करता है। आयु सौ वर्ष की हो सकती है। भोग है अनुकूल एवं प्रतिकूल अनुभूति। सुख के तीन प्रकार हैं—**प्रातिभासिक, व्यावहारिक** तथा **प्रातिभासिक के कारण व्यावहारिक**। सुख पुनः **रम्य** या **प्रिय** हो सकता है। रम्य एवं प्रिय एक-दूसरे के पर्याय नहीं हैं, क्योंकि सोना सन्यासी को रम्य (सुन्दर) लग सकता है, किन्तु यह उसके लिए प्रिय (या प्यारा) नहीं है। पुनः प्रिय के तीन प्रकार और सुख के तीन प्रकार बताये गये हैं, जिन्हें स्थानाभाव से यहाँ नहीं दिया जा रहा है। अब तक के सुख **लौकिककार्य** (सामान्य) हैं, किन्तु अन्य सुख भी हैं, यथा—**वैदिक, प्रतीकोपासना, आहार्य** (मान लिया गया) एवं **वासनात्मक**। वासनात्मक सुख के तीन प्रकार हैं—सात्त्विक, राजस एवं तामस। इसी प्रकार दुःख के भी प्रकार बताये गये हैं, जिनका वर्णन यहाँ नहीं किया जा रहा है। अन्य बातों का उल्लेख भी नहीं किया जा रहा है।

बहुत-से विद्वानों ने कर्म एवं पुनर्जन्म के सिद्धान्त के विरोध में बातें कही हैं। अब हम बहुत ही संक्षेप में उन विरोधों की जाँच करेंगे। प्रथम विरोध है प्रिंगिल–पैटिसन का (आइडिया आव इम्मॉर्टैलिटी, आक्सफोर्ड, १९२२), पूर्व जीवन की कोई स्मृति नहीं होती, बिना स्मरण के अमरता व्यर्थ है। ऐसा ही विरोध मिस लिली डूगल (देखिए 'इम्मॉर्टैलिटी'), कैनन स्ट्रीटर आदि ने भी उपस्थित किया है। इसका उत्तर कई प्रकार से दिया जा सकता है। क्या कोई व्यक्ति अपने जीवन के प्रथम दो वर्षों की बातें स्मरण कर लेता है? यह भी विदित है कि अति वृद्धावस्था में लोग अपने पौत्रों के नाम तक ठीक से स्मरण नहीं कर पाते, अपने गत जीवन में दस वर्ष पूर्व व्यक्ति ने क्या-क्या किया, वास्तव में, ये सारी बातें स्मरण में नहीं आ पातीं। सचमुच, यह कारुणिक बात है कि हमें अतीत जीवनों की सुधि नहीं हो पाती। यदि अतीत जीवनों की सारी बातें स्मरण होने लगें तो हमारा मन व्यामोह में पड़ जाय। कर्म गुरुत्वाकर्षण के नियम के समान एक सार्वभौम कानून है, जो सम्पूर्ण विश्व में परिव्याप्त है। गुरुत्वाकर्षण को लोग सहस्रों वर्षों से नहीं जानते थे। किन्तु वह नियम पहले से ही विद्यमान था। बहुत से लोग अपने अतीत जीवनों को स्मरण करने की बात कहते रहे हैं। लाला देशबन्धु गुप्त, पं० नेकीराम शर्मा एवं ताराचन्द माथुर ने शान्तिदेवी की कहानी पर प्रकाश डाला है। शान्तिदेवी को अपना पूर्व जीवन स्मरण हो आया था। 'थियोसोफिस्ट मंथली' (जनवरी १९२५) में बहुत-सी गाथाएँ दी हुई हैं, जिनमें अतीत जीवनों के स्मरण हो आने की बात पायी जाती है। श्रीमती एनी बेसेण्ट एवं श्री लेडबीटर ने 'दि लाइव्ज आव अलसीओन (अद्यार, १९२४) ई० पू० ७०,०००

से ई० पू० ६२४ तक के ४८ जीवनों का उल्लेख किया है। जिनमें कुछ के चित्र भी हैं जो पूर्व जीवन से सम्बन्धित हैं।

एक अन्य विरोध है, जिसका सम्बन्ध है अनुवांशिकता (वंशानुक्रम) से। माता-पिता एवं सन्तानों में दैहिक एवं मानसिक समानुरूपता पायी जाती है। इस बात का उत्तर हम कैसे दे सकते हैं? एक ऐसा उत्तर दिया जा सकता है कि आत्मा, जिसे जन्म लेना रहता है, अपनी स्थिति के अनुकूल माता-पिता की सन्तान होता है। किन्तु बच्चे अपने माता-पिता के सर्वथा अनुरूप नहीं होते। उनमें व्यक्तिगत अन्तर तो पाया जाता ही है। कर्म यह नहीं स्पष्ट कर पाता कि व्यक्ति माता-पिता से क्या प्राप्त करता है, किन्तु वह इतना तो बता पाता है कि व्यक्ति अपने पूर्व जीवन से क्या प्राप्त करता है।

एक विरोध यह है कि इस कर्म एवं पुनर्जन्म के सिद्धान्त में विश्वास करने से लोग मानवीय दुःख के प्रति निर्मम हो जायेंगे और किसी दुःखित व्यक्ति को सहायता देना नहीं चाहेंगे और सोचेंगे कि दुःख तो पूर्व जन्मों का फल है और दुःखित व्यक्ति को इस प्रकार का दुःख भोगना ही चाहिए। किन्तु, वास्तव में, बात ऐसी नहीं है। अति प्रारम्भिक वैदिक काल से ही लोग दान एवं करुणा-प्रदर्शन के गुणों की प्रशंसा करते रहे हैं। ऋग्वेद (१०।११७।६) में आया है—'जो व्यक्ति केवल अपने लिए खाना पकाता है और केवल अकेला ही खाता है, वह पाप करता है' (केवलाघो भवति केवलादी)। बृ० उप० (५।२।३) ने सभी लोगों के लिए तीन कर्त्तव्य निर्धारित किये हैं—आत्म-संयम, दान एवं दया। यदि समर्थ व्यक्ति किसी की सहायता नहीं करता है तो वह कर्त्तव्यच्युत कहा जायगा। यह सम्भव है कि दुःख उठाने वाले व्यक्ति के कर्म का फल ही ऐसा रहा हो कि वह सहायता करने वालों की कृपा पायेगा।

एक अन्य विरोध निम्नोक्त है। पृथिवी की जन-संख्या बढ़ती जा रही है। प्रश्न उठता है—'अतिरिक्त जीव कहाँ से आते जा रहे हैं? देखिए इस विषय में जे० ई० संजन की पुस्तक 'डोग्मा आव री-इन्कारनेशन' (पृ० ८१) एवं बर्थेलौट का मत ('ट्रांसमाइग्रेशन आव सोल्स')। कतिपय प्राणियों की जातियाँ समाप्त हो गयी हैं और बहुत से जीव समाप्त होते जा रहे हैं, यथा– सिंह। जो लोग कर्म-सिद्धान्त में विश्वास करते हैं, ऐसा कह सकते हैं, कि जो जीव पशुओं के रूप में थे अब मानवों के स्वरूप में आ रहे हैं, क्योंकि उनके बुरे कर्म, जिनके फलस्वरूप वे निकृष्ट कोटियों में विचरण कर रहे थे, अब नष्ट हो रहे हैं।

कुछ पुराण ऐसा कहते हैं कि जो व्यक्ति अति पापी होता है वह निम्नतर अवस्थाओं को प्राप्त होगा वायुपुराण (१४।३४–३७) में आया है कि वह पहले पशु होगा, तब हिरण, उसके उपरान्त पक्षी, तब रेंगने वाला कीट और इसके उपरान्त जंगम (वृक्ष या पाषाण)। थियोसोफिस्ट तथा आजकल के कुछ अन्य विद्वान ऐसा कहते हैं कि एक बार मनुष्य हो जाने पर प्रत्यावर्तन नहीं होता, अर्थात् प्रतीपगमन (पीछे लौटना) नहीं होता। किन्तु कठोपनिषद् (५।६–७) में स्पष्ट आया है कि मृत्यु के उपरान्त कुछ लोग वृक्ष के तने हो जाते हैं और कुछ लोग विभिन्न शरीर-रूप धारण करते हैं, और यह सब उनके कर्मों एवं ज्ञान पर निर्भर होता है। और देखिए छा० उप० (५।१०–७), मनु (१२।६, १२।६२–६८), याज्ञ० (३।२१३–२१५=मनु १२।५३–५६) एवं योगसूत्र (२।१३)।

उपर्युक्त सभी प्रमाणों को हम केवल **अर्थवाद** कहकर छोड़ नहीं सकते, अर्थात् ऐसा नहीं समझ सकते कि वे केवल पापियों को डराने-धमकाने के लिए कहे गये हैं। डा० राधाकृष्णन् (ऐन आइडियलिस्ट व्यू आव लाइफ, सन् १६३२ का संस्करण) ने निर्देश दिया है कि यह सम्भव है कि पशुओं के रूप में पुनर्जन्म की बात उन लोगों के विषय में एक लाक्षणिक प्रयोग है जो मानवरूप में पाशविक गुणों वाले होते हैं (पृ० २६२)।

अध्याय ३६

हिन्दू संस्कृति एवं सभ्यता की मौलिक एवं मुख्य विशेषताएँ

अब हम इस परिच्छेद में धर्मशास्त्र के इतिहास के गत पृष्ठों में बिखरे सूत्रों को एकत्र कर हिन्दू (भारतीय) संस्कृति एवं सभ्यता की मौलिक एवं प्रमुख विशिष्टताओं पर प्रकाश डालेंगे।

भारत की महान् नदी सिन्धु के पश्चिम एवं पूर्व के निवासियों एवं भूमि क्षेत्र को फारस के सम्राट् दारा (५२२-४८६ ई० पू०) एवं जेक्सेंज (४८६-४६५ ई० पू०) [1] ने हिन्दू ('हिदु' के रूप में) के नाम से पुकारा है और यूनानियों ने इसी क्षेत्र के लोगों को 'इण्डोई' कहा, जिससे 'इण्डियन' शब्द बन गया है। अपने इतिहास (लोयेब ग्रन्थमाला) में हेरोडोटस ने कहा है कि भारतीयों के उपरान्त (ग्रन्थ ५, वाक्य-समूह ३, खण्ड—३, पृ० ५) संसार में थ्रैसियों का राष्ट्र सबसे बड़ा था और भारतीय लोग फारस साम्राज्य के बीसवें प्रान्त के निवासी थे और कर के रूप में ३६० टैलेण्ट दिया करते थे। केवल ऋग्वेद में 'सिन्धु' शब्द एकवचन एवं बहुवचन दोनों में दो सौ से अधिक बार प्रयुक्त हुआ है। एकवचन में 'सिन्धु' की अपेक्षा 'सिन्धवः' (बहुवचन) एवं 'सप्त सिन्धून्' बहुधा आया है। इन्द्र को कई बार ऐसा कहा गया है कि उसने सात सिन्धुओं को बहने के लिए छोड़ दिया है (ऋ० १।३२।१२, २।१२।१२, ४।२८।१, ८।९६।१, १०।४३।३)। इन वचनों में सिन्धु नदी एवं उसकी सहायक नदियों (या सम्भवतः इसके सात मुखों) की ओर संकेत किया गया है। ऋग्वेद के बहुत-से वचन, जहाँ एक वचन का प्रयोग हुआ है, केवल सिन्धु नदी की ओर इंगित करते हैं (ऋ० २।१५।६, ४।३०।१२, ५।४।९ आदि)। ऋ० (२।१५।६) में उल्लिखित है कि इन्द्र ने सिन्धु को उत्तर में बहने दिया। यह बात हिमालय से निकल कर बहने वाली नदी के प्रथम अंश की ओर संकेत करती है, जहाँ सिन्धु उत्तरवाहिनी है। पाणिनि ने 'सिन्धु' शब्द का प्रयोग देश के अर्थ में किया है (४।३।९३, जहाँ 'सैन्धव' का अर्थ है वह व्यक्ति या जिसके पूर्व पुरुष लोग सिन्धु देश में रहते हों)। आर्यावर्त की घटती-बढ़ती सीमाओं के विषय में देखिए इस महाग्रन्थ का मूल खण्ड २, पृ० ११-१६, तथा खण्ड ५, पृ० १५२५ या गत अध्याय ३४। खारवेल के हाथीगुम्फा अभिलेख में भी 'भारतवर्ष' शब्द आया है।[2] अशोक

१. देखिए डा० डी० सी० सरकार द्वारा सम्पादित 'सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस' (संख्या ४, पृ० १० एवं संख्या ५, पृ० १२) जिसमें दारय-उश (डेरियुस या दारा) के अभिलेख 'नक्श-ए-रुस्तम' एवं क्षयार्श (ज़ेर्क्सेज) के अभिलेख 'पर्सिपोलिस' का उल्लेख है। हमारे देश के कुछ भू-भागों में आज भी संस्कृत 'स' का 'ह' में परिवर्तन हो जाया करता है। प्राचीन पारसी शास्त्र वेण्डिडाड (सैक्रेड बुक आव दि ईस्ट, खण्ड—४, पृ० २) ने सोलह भू-खण्डों (क्षेत्रों) का उल्लेख किया है, जिनमें ९ नामों का पता चल गया है, १५ वें का नाम है हप्त हिन्दु (सप्त सिन्धु)।

२. देखिए एपीग्रैफिया इण्डिका, जिल्द २०, पृ० ७१-८९। हाथीगुम्फा अभिलेख की तिथि के विषय में विद्वानों में गहरा मतभेद रहा है। डा० जायसवाल के अनुसार इसकी तिथि ई० पू० दूसरी शती का प्रथम अर्ध है। किन्तु डा० एन० एन० घोष ने इसे ई० पू० प्रथम शती का अन्तिम चरण माना है।

ने एक अभिलेख में अपने राज्य को जम्बूद्वीप नाम से पुकारा है। आज भी धार्मिक कृत्यों में संकल्प के समय बहुत-से प्रान्तों (यथा महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश आदि) में 'जम्बूद्वीपे भारतवर्षे बौद्धावतारे ....' या जम्बू द्वीपे भारतखंडे, आर्यावर्ते...' बोला जाता है। इसी से अपने देश को हमें भारतवर्ष कहना चाहिए जो अत्यन्त प्राचीन है। ऐसा कहा जा सकता है कि हमारी संस्कृति एवं सभ्यता के पीछे अतीत युगों में एक भौगोलिक पृष्ठभूमि रही है। भारतीय संविधान की प्रथम धारा में 'भारत' शब्द आया है। किन्तु विदेशियों एवं हमारे कुछ लेखकों ने 'हिन्दू' एवं 'इण्डियन' शब्दों का प्रयोग किया है और हमारे देश को हिन्दुस्तान (हिन्दुस्थान) या इण्डिया कहा है। आज अधिक प्रचलित नाम हैं भारत, भारतवर्ष, इण्डिया एवं हिन्दुस्तान।

'संस्कृति' एवं 'सभ्यता' नामक शब्दों का प्रयोग बहुत विद्वानों द्वारा समानार्थक रूप में हुआ है, किन्तु कुछ लोग इन्हें एक-दूसरे से पृथक् मानते हैं। विद्वानों ने संस्कृति (कल्चर) एवं सभ्यता (सिविलिज़ेशन) की कई परिभाषाएं की हैं, किन्तु हम उनके चक्कर में नहीं पड़ेंगे। पाठक निम्नलिखित विद्वानों की पुस्तकें पढ़ सकते हैं---डा० टीलर (प्रिमिटिव कल्चर, भाग १, पृ० १ मरे, लण्डन, १८७१), मैथ्यू आर्नाल्ड (कल्चर एण्ड एनार्की, १८६६), प्रो० पी० ए० सोरोकिन (सोशल एण्ड कल्चरल डायनॉमिक्स, १९५७) प्रो० इ्डगर्टन ('डॉमिनेण्ट आइडियाज़ इन दि फार्मेशन आव इण्डियन कल्चर', अमेरिकन, ओरिएण्टल, सोसाइटी, जिल्द ६२, १९४२, पृ० १५१-१५६), प्रो० ट्वायन्बी ('सिविलिज़ेशन ऑन ट्रायल', १९४८), 'रीकंसीडरेशंस', जिल्द १२, पृ० ७६-७७), आर्चीबाल्ड (रेशनलिज्म इन थ्योरी एण्ड प्रैक्टिस, लण्डन, १९५४, पृ० ६२)। यदि दोनों शब्दों में कोई अन्तर किया जाय तो 'संस्कृति' को 'सभ्यता' अर्थात् 'कल्चर' को 'सिविलिज़ेशन' से अच्छा मानना चाहिए। सभ्यता (सिविलिज़ेशन) का प्रयोग बहुधा सामाजिक विकास के अति उच्च स्तर के लिए होता है और आदिम अवस्था के समाजों के लिए 'कल्चर' शब्द का प्रयोग होता है, यथा---प्रिमिटिव कल्चर। लोग 'प्रिमिटिव कल्चर' का प्रयोग करते हैं, किन्तु 'प्रिमिटिव सिविलिज़ेशन' का नहीं।[3]

मानव इतिहास के गत ६००० वर्षों में कतिपय संस्कृतियाँ एवं सभ्यताएं उठीं एवं गिरीं। स्पेंग्लर ने, जो सैनिक अथवा फौजी व्यक्ति रहे हैं और जिन्होंने अबौद्धिकता का प्रदर्शन किया है, धर्म, नैतिकता एवं राजनीतिशास्त्र को तिलाञ्जलि दे दी है और बड़ी निर्दयता के साथ तीस सभ्यताओं एवं संस्कृतियों की जाँच की है और मत प्रकाशित किया है कि उनमें अधिकांश (७ या ८ को छोड़ कर सभी) ने एक समान ढंग अपनाया है, यथा---उन्होंने जन्म लिया, वे बढ़ीं, अवनति को प्राप्त हुईं और मर गयीं और एक बार समाप्त हुई तो पुनः उठ न सकीं। प्रो० टवायन्बी ने, जो ईसाई हैं, फौजी नहीं हैं, अपने ग्रन्थ 'स्टडी आव हिस्ट्री' में स्पेंग्लर के प्रतिकूल निष्कर्ष निकाले हैं, यथा---संस्कृति एवं समाजों में बचपन, विवृद्धि (परिपक्वता), वार्धक्य एवं नाश के स्तर पाये जाते हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'स्टडी आव हिस्ट्री' के खण्ड ९, पृ० ७५८ में १९ सभ्यताओं की सूची दी है, जिसमें उनकी अभिव्यक्ति एवं अधःपतन तथा उनके विकास-क्रम को वर्षों में रख दिया गया है। उन्होंने 'इण्डिक' सभ्यता

३. डा० जी० एस० घुर्ये का ग्रन्थ 'कल्चर एण्ड सोसाइटी' (बम्बई यूनिवर्सिटी प्रकाशन, १९४७) एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें उन्होंने 'कल्चर' एवं 'सिविलिज़ेशन' पर महत्त्वपूर्ण विचार प्रकट किये हैं और इमर्सन, ऑर्नाल्ड, मोर्ले, ह्वाइटहेड, रसेल, लास्की, वेल्स आदि के दृष्टिकोणों की व्याख्या की गयी है। और देखिए प्रो० नॉर्थ्रॉप कृत 'मीटिंग आव ईस्ट एण्ड वेस्ट' (१९४६) एवं प्रो० सोरोकिन कृत 'सोशल फिलॉसॉफीज इन ऐन एज आव क्राइसिस' (लण्डन, १९५२)।

का आरम्भ ई० पू० १३७५ से माना है, अधःपतन ई० पू० ७२५ में माना है तथा 'हिन्दू सभ्यता' का आरम्भ ७७५ ई० से माना है तथा अधःपतन ११७५ ई० से। यह मत अत्यन्त आपत्तिजनक है। उन्होंने 'इण्डिक' तथा 'हिन्दू' सभ्यताओं में जो अन्तर बताया है तथा जो तिथियाँ उपस्थित की हैं वे उनकी अपनी इच्छा पर निर्भर हैं, उनके पीछे कोई प्रमाण नहीं हैं। हिन्दू सभ्यता ११७५ ई० में क्यों समाप्त हो गयी, इसका उत्तर नहीं मिल पाता और न यही पता चलता है कि ई० पू० ७२५ एवं ७७५ ई० के मध्य भारतीय सभ्यता का क्या स्वरूप एवं नाम है। दूसरी ओर जन्म लेने, बढ़ने, विवृद्धि या परिपक्वता को प्राप्त होने तथा नाश हो जाने के पीछे जो रूपक है उसे अन्य विद्वान् 'सभ्यताओं' के लिए अनुपयुक्त ठहराते हैं। जे० जी० डे बेडस ने 'फ्यूचर आव दि वेस्ट' (लण्डन, १९५३) में कहा है कि सभ्यताएँ न तो जन्म लेती हैं और न मरती हैं, प्रत्युत वे परिवर्तित होती हैं या समाहित हो जाती हैं (पृ० ६०)। और देखिए प्रो० सोरोकिन कृत 'सोशल एण्ड कल्चरल डायनॉमिक्स' (पृ० ६२७), लेयोनार्ड वूल्फ कृत 'क्वैक, क्वैक' (पृ० १३९-१६०)। श्री ए० एल्० क्रोयबर ने अपने ग्रन्थ 'स्टाइल एण्ड सिविलिजेशन' (न्यूयार्क, १९५७) में प्रो० सोरोकिन से सहमति तथा स्पेंगलर एवं ट्वायन्बी से असहमति प्रकट की है और कहा है—'सभ्यताओं का अध्ययन सत्य रूप से वैज्ञानिक या विद्वत्तापूर्ण तब तक नहीं हो सकता जब तक उनमें से संकट, नाश, संहार, विलयन एवं नियति के विषय में हम अपने संवेगात्मक सम्बन्ध को नहीं त्यागेंगे।

इस विश्व में जितनी संस्कृतियाँ एवं सभ्यताएँ उत्पन्न एवं विकसित हुई उनमें केवल दो (भारतीय एवं चीनी) ही ऐसी हैं जो पारसीकों (फारस वालों), यूनानियों, सिथियनों, हूणों, तुर्कों के बार-बार के बाह्य आक्रमणों तथा आन्तरिक संघर्षों एवं संक्षोभों के रहते हुए भी चार सहस्र (यदि और अधिक नहीं) वर्षों से अब तक जीवित रही हैं और अपनी परम्पराएँ अक्षुण्ण रख सकी हैं।[४] भारत ने इन सभी बाह्य आक्रामकों को आत्मसात् कर लिया और बहुत से यूनानियों, शकों एवं अन्य बाह्य लोगों को भारतीय आध्यात्मिक विचारधारा का पोषक बना लिया और उनके लिए भारतीय सामाजिक रचना में एक स्थान निर्धारित कर दिया। (इस विषय में हम आगे भी लिखेंगे)। इतना ही नहीं, भारत ने अपने साहित्य, धर्म, कला एवं संस्कृति का प्रचार एवं प्रसार आक्रमणों अथवा देशों को जीत कर अपने में मिलाकर नहीं किया, प्रत्युत यह कार्य उसने शान्तिप्रिय साधनों द्वारा किया, यथा—शिक्षा, संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद एवं प्रबोध (संशयच्छेद अथवा शंकानिवृत्ति) द्वारा और इस प्रकार श्रीलंका (सीलोन), ब्रह्मा (बरमा), सुमात्रा, मलाया, जावा, बाली, बोर्नियो, चीन, तिब्बत, जापान, मंगोलिया एवं कोरिया में अपनी सांस्कृतिक एवं सभ्यता-सम्बन्धी अनुप्रेरणाएँ भर दीं।[५] बाली का

४. देखिए प्रो० सोरोकिन कृत 'सोशल एण्ड कल्चरल डायनेमिक्स' (पृ० ६९७) एवं डा० राधाकृष्णन कृत 'रिलिजिन एण्ड सोसाइटी' (१९४७, पृ० १०१)।

५. 'सुदूर भारत' ('फर्दर इण्डिया' एवं 'ग्रेटर इण्डिया') में अर्थात् दक्षिण-पूर्वी एशिया एवं चीन में भारतीय संस्कृति के प्रसार के विषय में एक बड़ा साहित्य उत्पन्न हो गया है और अब भी कतिपय विद्वान् ग्रन्थ एवं निबन्ध लिखते ही जा रहे हैं। कुछ ग्रन्थों एवं निबन्धों के नाम यहाँ उपस्थित किये जा रहे हैं, यथा—डा० आर० सी० मजूमदार कृत 'एंश्येण्ट इण्डियन कॉलोनीज़' (खण्ड १ एवं २); श्री एच० जी० क्वारिछ वेल्स कृत 'टूअर्ड्स अंगकोर' (जिसमें ४२ चित्र हैं, १९३७) एवं 'मेकिंग आव ग्रेटर इण्डिया' (लण्डन, १९५१, इसमें एक अच्छी ग्रन्थ-सूची भी है); प्रो० के० ए० नीलकान्त शास्त्री कृत 'श्री विजय' (१९४९, जिसमें सन् ६८३ ई० से लगभग १४वीं शती

सुन्दर द्वीप अब भी हिन्दू है, उसमें चारों वर्णों के लोग हैं, उनके पुरोहित को **पेण्डड** (पण्डित) कहा जाता है, पूजा के जल को **तोय** (देखिए एस् लेवी कृत 'संस्कृत टेक्स्ट्स फ्राम बाली') कहा जाता है और पुरोहित अब भी गायत्री का एक चरण 'भर्गो देवस्य धीमहि' कहते हैं और अशुद्ध रूप में यज्ञोपवीत का मन्त्र (यज्ञोपवीतं परमं पवित्रम् . . .) कहते हैं।

भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता का इस प्रकार सैकड़ों शतियों तक चला जाना एक आवश्र्यजनक बात है। ऐसा क्योंकर सम्भव हो सका ? इसके उत्तर में हमें इस भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता से सम्बन्धित मौलिक विचार-धारणाओं, मूल्यों एवं विशेषताओं की व्याख्या करनी होगी, उन पर विचार करना होगा। भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता का अपना विशिष्ट व्यक्तित्व है, उसे केवल हम यूरोपीय मापदण्डों से नहीं जान सकते।

गत शतियों में कुछ देशों के लोगों को इसका अभिमान एवं गर्व रहा है कि वे अन्य देशों के लोगों से श्रेष्ठ हैं और अपने को प्रचारित एवं प्रसारित करने के लिए उन्होंने अपने को अधिकृत कर लिया। जब ब्रिटिश साम्राज्य अति विशाल हो गया और इतना विस्तृत हो गया कि उसमें सूर्य कभी भी अस्त नहीं होता था तो ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने सदम्भ एवं साधिकार ऐसा प्रचार करना आरम्भ किया कि वे अविकसित एवं पिछड़े लोगों के सुधार एवं कल्याण के लिए 'श्वेत मनुष्य का भार' ('ह्वाइट मैंस बर्डेन') ढो रहे हैं (जब कि ब्रिटिश साम्राज्यवादी अपने शासित भारतीयों को उपनिवेशवादी नीतियों के फलस्वरूप चूस रहे थे और उन्हें दरिद्र बना रहे थे)। दूसरी ओर रूस साधिकार गर्जना कर रहा है कि वह जन-साधारण को 'पूंजीवाद के शिकञ्जे' से छुड़ायेगा और इस पृथिवी पर ही स्वर्ग उतारेगा। हिटलर से शासित जर्मनों ने ऐसा विश्वास जताया था कि वे श्रेष्ठ नोरडिक जाति के हैं और वे 'साम्यवाद के शिकञ्जे' से संसार की रक्षा करेंगे। इस प्रकार का अभिमाव केवल पश्चिम तक ही सीमित नहीं था। आजकल कुछ भारतीयों ने भी साधिकार घोषणा की है कि आध्यात्मिकता का अस्तित्व केवल यदि कहीं है तो वह भारत में है। निस्सन्देह ऐसा कहना समीचीन ही है कि भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता महान् आध्यात्मिक मूल्यों पर आधृत है। किन्तु ऐसा कहना पूर्णतया असत्य है कि अन्य देशों के लोगों में आध्यात्मिकता नहीं पायी जाती। हम इतना ही कह सकते हैं कि हिन्दूवाद के लिए आध्यात्मिकता अपेक्षाकृत अधिक मौलिक रही है और यह हिन्दुओं में अपेक्षाकृत अधिक फैली हुई है और अन्य देशों में इस मात्रा में नहीं पायी जाती। मनुस्मृति में आया है कि केवल वे लोकाचार अथवा **प्रयोग** (प्रचलित आचार), जो विशेषतः ब्रह्मावर्त, कुरुक्षेत्र तथा मत्स्य, पञ्चाल एवं शूरसेन देशों के वर्णों एवं जातियों में परम्परानुगत प्रचलित रहे हैं, **सदाचार** कहे जाते हैं (२।१७-१९) और इन्हीं देशों के ब्राह्मणों से इस पृथिवी के लोगों को अपने कर्त्तव्यों की धारणा करनी चाहिए अथवा शिक्षा लेनी चाहिए। इस

तक के अभिलेख भी दिये हुए हैं); श्री देवें ग्रोसेट कृत 'सिविलिजेशंस आव दि ईस्ट' (फ्रेंच से अनुवाद कैथरिन ए० फिलिप्स द्वारा, २४९ चित्र, खण्ड २, भारत, सुदूर भारत एवं मलाया के बारे में, पृ० १-३४३ तक)। 'भारत पर चीन का ऋण' (चाइनाज डेट टु इण्डिया) के लिए देखिए प्रो० लियांग चि चाओ के निबन्ध विश्वभारती क्वार्टरली, खण्ड २, पृ० २५१-२६१, जहाँ ऐसा दिया हुआ है कि आठवीं शती से जो भारतीय विद्वान चीन गये उनकी संख्या चौबीस थी और जो चीनी सन् २६५ ई० से ७९० ई० तक गये उनकी संख्या १८७ थी (जिनमें १०५ नाम निश्चित-से हैं)। और देखिए प्रो० पी० सी० बागची कृत 'इण्डिया एण्ड चाइना' (हिन्द किताब्स, १९५०) विशेषतः अध्याय २ एवं ३।

प्रकार मनुस्मृति ने मध्यदेश (उनके द्वारा परिभाषित) के क्षेत्रों एवं आर्यावर्त को पृथक् कर रखा है (२।२१-२२) कुछ समय से कुछ लोग ऋ० (६।६३।५-६) में उल्लिखित 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' पर निर्भर होकर[६] ऐसा प्रतिपादित करने लगे हैं कि वेद ने हमारे देश को सारे संसार को आर्य बनाने के लिए नियुक्त किया है किन्तु इस प्रकार के अभिमान के लिए यहाँ कोई स्थान नहीं है। ये शब्द इन्द्र के लिए सोमरस अर्पण के लिए प्रयुक्त हुए हैं। इनका अर्थ यों है–'ये सोम-तर्पण, जो पिंगल वर्ण के हैं (सोम पौधे से निकाले हुए हैं), इन्द्र (की शक्ति) को बढ़ाते हैं, जलों को (आकाश) से गिराते हुए इन्द्र के पास आने वाले विरोधी लोगों को नष्ट करते हैं, सभी (सम्पूर्ण वातावरण) को सुन्दर बनाते हुए वे अपने उचित क्षेत्र में पहुँचते हैं।' यहाँ पर वैदिक लोगों द्वारा सम्पूर्ण विश्व को आर्य बनाने की चेष्टा की ओर कोई भी निर्देश नहीं है। यहाँ पर कोई भी ऐसा सदेश नहीं है जिसे आधुनिक भारतीय लोग अन्य लोगों को दे सकें या उसका प्रसार कर सकें। स्वयं सोम पौधा वैदिक काल में ही लुप्त हो गया और उसके प्रतिनिधि की आवश्यकता पड़ गयी। भारत में सम्भवतः कई शतियों से कदाचित् ही कोई वैदिक यज्ञ किया गया हो और यदि यज्ञ सम्पादित हुए भी हों तो उनमें सोमयज्ञों की संख्या बहुत ही कम रही होगी।

गत दो महायुद्धों के उपरान्त विश्व के आकाश में युद्ध के बादल उमड़-घुमड़ रहे हैं और अब विचारकों ने अणु-युद्ध से संकुल हो जाने की सम्भावना पर विचार करके यही उद्घोषित किया है कि बिना आध्यात्मिक मूल्यों के पुनर्जागरण के, बिना न्यायसंगत जीवनयापन के, बिना दलित लोगों के प्रति करुणा-दृष्टि फेरे तथा बिना मानव में भ्रातृभावना की स्थापना किये विश्व का कल्याण नहीं है और न मानव सभ्यता की रक्षा की जा सकती है। यद्यपि हमारे प्राचीन ऋषियों एवं विधान निर्धारकों ने आध्यात्मिक मूल्यों पर बहुत बल दिया है, तथापि अधिकांश लोग तथा हमारे तथाकथित नेतागण शतियों से इन मूल्यों के अभाव से ग्रसित रहे हैं और अब भी हैं। हमें आत्म-निरीक्षण करना चाहिए। केवल पूर्व गौरव की गाथा गाने से कार्य नहीं होने का। हमें अब सुस्थिर मन से विचार करना और वास्तविकता का परिज्ञान करना है। क्या कारण था कि १३वीं शती के उपरान्त हमने अपनी स्वतन्त्रता खो दी? इसी सन्दर्भ में हम कुछ प्रश्न रखते हैं (१) हिन्दू लोग आक्रामकों से, यथा—पारसीकों, यूनानियों, सिथियनों, तुर्कों, अंग्रेजों से तुलना में हीन क्यों सिद्ध हो गये, जब वे संख्या में अधिक थे और बहुत-से आक्रामक उनके साहस से प्रभावित थे और भारतीय सैनिकों की मृत्यु-सम्बन्धी उपेक्षा से परिचित थे? (२) हिन्दू लोग कई शतियों तक सम्पूर्ण भारत को एक सूत्र में क्यों नहीं बाँध कर रख सके अथवा वे एकछत्र राज्य की स्थापना करके एक स्थिर व्यवस्थित राज्य क्यों नहीं बना सके? (३) उन्होंने भारत में स्थित प्राकृतिक सामग्रियों का सदुपयोग करके वस्तु-निर्माण, व्यापार एवं औद्योगिक क्षेत्र में विकास क्यों नहीं किया? हमें इस विषय में एक बड़े पैमाने पर अपनी जाँच करनी चाहिए और पता लगाना चाहिए कि हमारे अधःपतन के क्या कारण थे और अपने दोषों को दूर करना चाहिए जिससे शतियों के उपरान्त प्राप्त की हुई स्वतन्त्रता की रक्षा हम प्राणपण से कर सकें। अंग्रेजों के शासन के पूर्व भारत में राजनीतिक एकता कभी नहीं थी। भारतीय राजाओं एवं राजकुमारों के मध्य सदैव युद्ध एवं

६. इन्द्रं वर्धन्तो अप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम्। अपघ्नन्तो अराव्णः।। सुता अनु स्वमा रजोऽभ्यर्षन्ति बभ्रवः। इन्द्रं गच्छन्त इन्दवः।। ऋ० (६।६३-५-६)। मिलाइए इसी सूक्त का चौदहवाँ श्लोक 'एते धामान्यार्या शुक्रा ऋतस्य धारया। वाजं गोमन्तमक्षरन्।। 'धामान्यार्या' का अर्थ है (देवों के) 'सुन्दर या भद्र निवास-स्थान या सुन्दर विधियाँ।'

संघर्ष चला करते थे, क्योंकि उदाहरणार्थं मराठों ने बंगाल पर आक्रमण किया था, अतः जब ब्रिटिशों द्वारा मराठे पराजित किये गये तो बंगालियों ने हर्ष मनाया। १९वीं शती के द्वितीय चरण के पूर्व हममें राष्ट्रीयता की भावना नहीं के बराबर थी, हम भारतीयों में भारतीयों के प्रति भावाकुल होने की कोई मानसिक, सामाजिक अथवा राजनीतिक परम्परा नहीं थी। इस अध्याय में हम राजनीतिक तथा अन्य क्षेत्रों में भारत के अधः-पतन के कारणों की जाँच विशद रूप से नहीं कर सकेंगे, किन्तु कुछ बातों की ओर संकेत कर देना विषया-न्तर नहीं होगा।

हिन्दू धर्म में बहुत-से सिद्धान्तों एवं धार्मिक विचारधाराओं का संगम पाया जाता है, यथा—वैदिक क्रिया-संस्कार, वेदान्तवादी विचार, वैष्णववाद, शैववाद, शक्तिवाद तथा अन्य आद्य सम्प्रदाय, जो बौद्धिक एवं आध्यात्मिक उपलब्धियों की बड़ी-बड़ी विषमताओं के साथ विभिन्न समुदायों एवं विभिन्न प्रकार के मनुष्यों की आवश्यकताओं के अनुसार अभिव्यक्ति पाते रहे हैं तथा फूलते-फलते रहे हैं। बहुत ही कम बातों ने हिन्दुओं को एक सूत्र में बाँध रखा है, यथा—कर्म एवं पुनर्जन्म का सिद्धान्त, विशाल एवं श्रेष्ठ संस्कृत साहित्य, जिसने क्रमशः क्षेत्रीय भाषाओं को समृद्ध बना दिया है, धार्मिक विषयों में सभी लोगों द्वारा वेदों में अटूट विश्वास, यद्यपि बहुत ही कम लोग ऐसे रहे हैं जिन्होंने वेदों का अध्ययन किया अथवा उन्हें समझा, हिमालय से कुमारी अन्तरीप तक भौगोलिक एकता, जिस पर पुराणों ने बल दिया है तथा मानसरोवर एवं बदरीनाथ से लेकर रामेश्वर तक तीर्थस्थानों की धार्मिक यात्राएँ। ये तत्त्व सभी हिन्दुओं को एकता के सूत्र में बाँध सकने में उतने समर्थ नहीं हो सके। आचार्यों एवं सन्तों में परलोक की साधना तथा वेदान्तवाद के प्रति अत्यधिक मोह था; उन्होंने लोगों के पारस्परिक कर्त्तव्यों की ओर, वर्गों तथा समाज के प्रति कर्तव्यों की महत्ता पर उतना या उससे अधिक बल नहीं दिया, जिसका दुःखद परिणाम यह हुआ कि अधिकांश में लोग, चाहे वे योग्य हों या न हों, परलोक साधनारत हो गये और सदाचार के साथ लौकिक कर्तव्यों या मूल्यों के सञ्चयन में सक्रिय न हो सके। एकता के अभाव एवं अधःपतन का एक अन्य कारण था वह विचार-वैषम्य जो इस प्रकार परिलक्षित था—एक ओर तो महान् विचारक इसका उपदेश करते थे कि सम्पूर्ण विश्व एक है और दूसरी ओर समाज में हीन जातियों एवं अस्पृश्य लोगों के प्रति उनका व्यवहार कुछ और ही था, उन्हें छूना अपवित्र कार्य माना जाता था, जो सचमुच एक विचित्र विरोधाभास था—एक ओर वह उच्च आध्या-त्मिक विचार कि सम्पूर्ण विश्व एक है और दूसरी ओर समाज का एक विशद अंग अस्पृश्य मान लिया गया! जन समुदाय की शिक्षा के ध्यान का अभाव था तथा उच्च जातियों के लोग इस बात की चिन्ता ही नहीं करते थे कि कौन राज्य कर रहा है, जब तक उनके जीवन की शांति न भंग हो जाय। महान् देशभक्त एवं क्रान्तिकारी सावरकर ने उन सात शृंखलाओं अथवा पाशों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है जिनसे हिन्दू समाज शतियों से बद्ध रहा है, और वे इस प्रकार हैं—(१) अस्पृश्यता; भाँति-भाँति के निषेध (वर्जनाएँ), यथा —(२) समुद्र-यात्रा, (३) सैकड़ों जातियों एवं उपजातियों में पारस्परिक भोजन, (४) अन्तर्जातीय विवाह, (५) कुछ जातियों द्वारा वेदाध्ययन; (६) कुछ विशिष्ट वृत्तियों का निषेध एवं (७) बल, कपट से तथा अबोधता के कारण दूसरे धर्मों में ले लिये गये हिन्दुओं को फिर से हिन्दुओं में मिला लेने का निषेध।

हमारे सांस्कृतिक इतिहास की कुछ मध्यगत विशेषताएँ एक स्थान पर उल्लिखित की जा सकती हैं। प्रथम बात यह है कि वैदिक काल से लेकर आज तक **एक अटूट धार्मिक परम्परा चली आयी है।** सभी ब्राह्मणों तथा अधिकांश क्षत्रियों एवं वैश्यों द्वारा धार्मिक क्रिया-संस्कारों एवं उत्सवों में वैदिक मन्त्रों का प्रयोग अब भी किया जा रहा है। वैदिक देवों को हम पूर्णतया नहीं भूल सके हैं। सभी कृत्यों के आरम्भ

में अब भी अग्नि स्थापित की जाती है; आज विष्णु (जो इन्द्र, अग्नि या वरुण की भाँति बहुधा अधिक प्रशंसित नहीं हैं। किन्तु ऋ० १।२२।१६-२१, १।१५४।१-६, १।१५५। १-६,६।६९।१-८ में प्रशंसित हैं; इन्द्र एवं विष्णु दोनों ऋ० ७।९९।१-७ में प्रशंसित हैं तथा अथर्ववेद ७।२७।४-९ में पूजित हैं) एवं शिव (ऋग्वेद के रुद्र, जो पहले से बहुत अंशों में परिवर्तित हैं, तथा पूज्य हैं ऋ० २।१।६, २।३३।९, १०।९२।९–जहाँ शिव नाम आया है)की मुख्य देवों के रूप में पूजा की जाती है। भारत के बहुत-से भागों में ब्राह्मण लोग प्रातः एवं सायं की पूजा में अब भी क्रम से मित्र (ऋ० ३।५९) एवं वरुण (ऋ० १।२५) के मन्त्रों का पाठ करते हैं। दूसरी विशेषता यह है कि भारत विशाल देश है (रूस को छोड़कर सम्पूर्ण यूरोप के समान) किन्तु सम्पूर्ण भूमि-भाग पर **एक राजनीतिक सत्ता कभी भी नहीं स्थापित हो सकी** (सम्भवतः अल्पकाल के लिए अशोक की राजनीतिक सत्ता के अतिरिक्त)। सम्राट् या चक्रवर्ती के एकछत्र राज्य का आदर्श तो था, किन्तु यदि किसी राजा ने आत्म-समर्पण कर दिया, उसने विजयी सम्राट् की शक्ति को स्वीकार कर लिया तथा कुछ कर दे दिया तो सम्राट् ने अपने साम्राज्य के अन्तर्गत अन्य शासकों के राज्यों के कार्य-कलापों की कोई चिन्ता नहीं की। इसी से बाह्य आक्रामकों के विरोध में कोई संयुक्त मोर्चा नहीं स्थापित हो सका, कानूनों अथवा विधि-विधानों, लोकाचारों तथा व्यवहारों में कोई एकरूपता नहीं प्रदर्शित की जा सकी और राजाओं तथा राजकुमारों में बहुधा युद्ध हुआ करते थे। तीसरी विशेषता यह रही है कि **संस्कृतियों से सम्बन्धित कोई भी गम्भीर संघर्ष नहीं हुआ**। विभिन्न विचारधाराओं एवं विश्वासों के विषय में सहिष्णुता विराजमान थी और अनेकता में एकता स्थापित करने की निरन्तर अनुकूलता विद्यमान थी।

यह जानकर अपार दुःख होता है कि जहाँ ११वीं शती से आगे बड़े-बड़े विद्वान् व्रत, दान एवं श्राद्ध पर सहस्रों पृष्ठों में ग्रन्थों के प्रणयन में लीन थे (जैसा कि विद्वान् मन्त्री हेमाद्रि ने किया था) या तर्कशास्त्र, वेदान्त, साहित्य-शास्त्र आदि अन्य मार्मिक विषयों के ऊपर साधिकार ग्रन्थ-प्रणयन, टीका-मीमांसा आदि करते थे, वहाँ एक भी ऐसा विद्वान् नहीं उत्पन्न हुआ जो अल्बेरूनी के समान आगे आता और महमूद गजनी की विजय तथा भारत की पराजय पर प्रकाश डालता और उन दोषों एवं दुर्बलताओं को दूर करने का प्रयत्न करता जिनके फलस्वरूप भारत को बाह्य आक्रामकों के समक्ष सदैव मुंह की खानी पड़ी। हिन्दुओं की पराजय के अन्य कारण भी थे। संसार में १५वीं शती से आगे विज्ञान एवं प्राविधिक क्षेत्रों में जो अनुसन्धान कार्य एवं आविष्कार हुए उनमें हमारे विद्वानों ने कोई भी सहयोग नहीं किया। शाहजी ने विदेशियों से आग्नेयास्त्र खरीदे। न तो उन्होंने और न उनके महान् पुत्र शिवाजी ने ही, जिन्होंने मराठा साम्राज्य स्थापित किया, कोई ऐसी फैक्टरी खोली जहाँ आग्नेयास्त्रों तथा गोलियों आदि का निर्माण किया जा सकता। इसी प्रकार हमारे देश-वासियों ने शक्तिशाली नौ-सेना के महत्त्व को भी नहीं समझा। यदि हिन्दुओं या उनके शासकों के पास नौ-सेना रही होती तो पुर्तगाल वालों, फ्रांसीसियों एवं अंग्रेजों की आकांक्षाओं पर तुषारपात हो गया होता।

अब हम हिन्दू संस्कृति एवं सभ्यता की महत्त्वपूर्ण विशेषताओं पर प्रकाश डालेंगे।

(१) ऋग्वेद के काल से अब तक चली आयी हुई अत्यन्त विलक्षण धारणा यह रही है कि **मूल तत्त्व एक है**, भले ही लोग उसे इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि आदि किसी नाम से क्यों न पूजित करें (ऋग्वेद १।१६४।४६, ८।५८।१, १०।१२९।२)। महाभारत, पुराण, संस्कृत काव्य के काल एवं मध्य-काल में जबकि विष्णु, शिव या शक्ति से सम्बन्धित बहुत से सम्प्रदाय थे, सभी हिन्दुओं में यह अन्तश्चेतना थी कि ईश्वर एक है, जिसके कई नाम हैं। देखिए वनपर्व (३९।७६–७७), शान्तिपर्व (३४३।१३१), ब्रह्मपुराण (१९२।५१), विष्णुपुराण (५।१८।५०), हरिवंश (विष्णुपुराण २५।३१), कुमारसम्भव (७।४४)।

(२) उपर्युक्त धारणा से एक **महान् सहिष्णुता** की उद्भूति हुई। हिन्दू धर्म ने सभी कालों में विचार-स्वातन्त्र्य एवं उपासना-स्वातन्त्र्य की भावनाओं की पूजा की। इस विषय में हमने इस महाग्रन्थ के खण्ड २ मूल पृष्ठ ३८८, पाद-टिप्पणी ६२८ एवं खण्ड ५, मूल पृ० ६७०–७१, १०११–१०१८ में विस्तार के साथ विवेचन उपस्थित किया है। देखिए गीता (७।२१–२२ एवं ९।२३)। संसार में कुछ धर्मों ने स्वधर्म-विरोधियों को, चाहे वे वास्तव में रहे हों या उन पर शंका मात्र रही हो, कितनी यातनाएँ दी हैं, इससे विश्व इतिहास के पन्ने भरे पड़े हैं।[7] हिन्दू धर्म में इस प्रकार की असहिष्णुता का पूर्ण अभाव है। हिन्दूवाद या हिन्दू धर्म किसी स्थिर धार्मिक पक्ष से बँधा नहीं है और न यह किसी एक ग्रन्थ या प्रवर्तक के रूप में किसी पैगम्बर को मानता है। वास्तव में, व्यक्ति को ईश्वर-भीरु होना चाहिए; सत्य विश्वासों की बात अलग है, जो बात अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, वह है नैतिक आचरण एवं सामाजिक व्यवहार। हिन्दू लोग किसी अन्य धर्म की सत्यता को अस्वीकार नहीं करते और न किसी अन्य व्यक्ति की धार्मिक अनुभूति को ही त्याज्य समझते हैं। एक श्लोक[8] ऐसा है जो भारतीय धार्मिक विशालता एवं उदारता की ओर सारे संसार का चित्त आकृष्ट करता है और धार्मिक विश्वासों एवं पूजा-उपासना के प्रति सामान्य हिन्दू-भावना का द्योतक है। श्लोक का अर्थ यों है :—'जो हरि त्रैलोक्यनाथ हैं जिनको शैव लोग शिव के रूप में पूजते हैं, वेदान्ती लोग ब्रह्म के रूप में, बौद्ध लोग बुद्ध के रूप में, प्रमाणपटु (ज्ञान के साधन में प्रवीण या दक्ष) नैयायिक लोग कर्ता के रूप में, जैन शासन में लीन (जैनधर्म को मानने वाले) लोग अर्हत् के रूप में और मीमांसक लोग कर्म (यज्ञ) के रूप में पूजते हैं, तुम्हें वे वाञ्छित फल प्रदान करें। महान् तर्कशास्त्री उदयन ने भी, जिन्होंने लक्षणावली शक संवत् ९०६ (९८४ ई०) में लिखी, अपनी न्यायकुसुमाञ्जलि (१८) में वही बात लिखी है। इस प्रकार हम देखते हैं कि **सहिष्णुता हिन्दूधर्म का सारतत्व है** और अनीश्वरवादी (नास्तिक) के साथ भी विनोद ही किया जाता है, न कि उसे किसी प्रकार की यातना दी जाती है।

७. बाइबिल-सम्बन्धी अर्थात ईसामसीह के धर्मावलम्बियों की असहिष्णुता की जानकारी के लिए देखिए जेरमिआह (२६।८-९), कोलोसियंस (२।८) एवं गलेशियंस (१।७-९)।

८. यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः
सोऽयं वो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः।।
—सुभाषितरत्नभाण्डागार (निर्णयसागर प्रेस संस्करण, १९३५, पृ० ५, श्लोक २७)

न्यायकुसुमाञ्जलि (१२) में इस प्रकार आया है—स्वर्गापवर्गयोर्मार्गमामनन्ति मनीषिणः। यदुपास्तिमसावत्र परमात्मा निरूप्यते।। इह यद्यपि यं कमपि पुरुषार्थमर्थयमानाः शुद्धबुद्धस्वभाव इत्यौपनिषदाः। आदि विद्वानसिद्ध इति कापिलाः। क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टो निर्माणकायमधिष्ठाय सम्प्रदाय प्रद्योतकोऽनुग्राहकश्चेति पातञ्जलाः लोकवेदविरुद्धैरपि निर्लेपः स्वतन्त्रश्चेति महापाशुपताः। शिव इति शैवाः। पुरुषोत्तम इति वैष्णवाः। पितामह इति पौराणिकाः। यज्ञपुरुष इति याज्ञिकाः। निरावरण इति दिगम्बराः। उपास्यत्वेन देशित इति मीमांसकाः। यावदुक्तेरुपपन्न इति नैयायिकाः। लोक व्यवहारसिद्ध इति चार्वाकाः। किंबहुना, कारवोऽपि यं विश्वकर्मेत्युपासते।।

(३) इस सिद्धान्त पर विश्वास करते हुए कि सार तत्त्व एक है या परमेश्वर एक है, उपनिषदों के ऋषियों ने निष्कर्ष निकाला कि जीवात्मा उस तत्त्व से अभिन्न है। बाहुल्य (या अनेकता) केवल अवास्तव है और यहाँ तक कि मछुआ लोग (मछली मारने वाले), दास, जुआरी लोग तथा निर्जीव पदार्थ सभी इससे अभिन्न हैं। यह वेदान्त-सिद्धान्त हिन्दू धर्म की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विशिष्टताओं में एक है और मानव के आध्यात्मिक विकास में भारत की एक उत्कृष्ट देन है, यद्यपि अन्य देशों में भी कुछ दार्शनिकों द्वारा उपस्थित इस सिद्धान्त के कुछ अंश बिखरे हुए मिलते हैं। **अनेक से एक एवं एक से अनेक** ही वेदान्त-सिद्धान्त का केन्द्रबिन्दु या अन्तर्भाग है। इस विषय में हमने अध्याय ३४ में विस्तार के साथ पढ़ लिया है। यूरोप में दर्शन का अध्ययन स्वयं अपने में लक्ष्य है। प्राचीन भारत में **अनेकता में एकता की भावना को शिक्षा एवं समाज-शास्त्र का आधार माना गया** और ऐसा विश्वास किया गया है कि व्यक्ति के जीवन में इस एकता की अनुभूति ही परम स्वतन्त्रता (मोक्ष) है।

उपनिषदों की शिक्षा एक सार्वभौम सिद्धान्त है जिसे सभी लोग, जो अच्छी इच्छा रखते हैं, स्वीकार कर सकते हैं; बचपन से चाहे जिस प्रकार के धर्म-प्रवाह में व्यक्ति रहा है वह इस सिद्धान्त के अनुसार मानस रूप से चलने पर धर्मच्युत नहीं हो सकता। व्यक्ति का आत्मा परमात्मा अथवा ब्रह्म से भिन्न नहीं है, यह निष्कर्ष एक महान् निष्कर्ष है और सभी प्रकार के उद्बुद्ध लोगों में विलक्षण उत्स भरने वाला है। बहुत-से उदाहरण उपस्थित किये जा सकते हैं, किन्तु यहाँ केवल दो पर्याप्त होंगे। मुण्डकोपनिषद् (३।२।८) में घोषित है—"जिस प्रकार नदियाँ (समुद्र की ओर) बहती हुई, अपने नामों एवं रूपों को छोड़ती हुई, समुद्र में समाहित हो जाती है, उसी प्रकार वह व्यक्ति जो अनुभूति कर लेता है (जानता है) नाम एवं रूप से स्वतन्त्र होकर उस दिव्य व्यक्ति को प्राप्त करता है जो उच्चतर से उच्चतम है।" यही बात गद्य में प्रश्नोपनिषद् (५।५) में कही गयी है। कठोपनिषद् (४।१५) में आया है—"जिस प्रकार शुद्ध जल शुद्ध जल में डाल दिये जाने पर वही रूप धारण कर लेता है, उसी प्रकार उस ऋषि का आत्मा, जिसने तत्त्वानुभूति कर ली है, साक्षात् परमात्मा हो जाता है।" देखिए ड्यूसन का वक्तव्य (जे० बी० बी० आर० ए० एस०, संख्या १८, १८९३, २० वाँ लेख, पृ० ३३०-३४०), वे०, सू० (२।३।४३—ब्रह्म दाशा ब्रह्म दासा ब्रह्मेमे कितवा उत)। यहाँ इतना ही पर्याप्त है। वेदान्त अपने सत्य रूप में नैतिकता के लिए सर्वोच्च आश्रय है और उसका सबसे बड़ा आधार है, जन्म एवं मरण के दुःख में सबसे बड़ा सन्तोष है...।

(४) आध्यात्मिक एवं धार्मिक रूप से प्रत्येक व्यक्ति पर तीन ऋण होते हैं, यथा— **देव-ऋण, ऋषि ऋण** एवं **पित-ऋण**। अति प्राचीन वैदिक कालों से ही यह धारणा भारतीय संस्कृति की मौलिक धारणाओं में परिगणित रही है। प्राचीन विद्या के अध्ययन, यज्ञ-सम्पादन एवं पुत्रोत्पत्ति से व्यक्ति क्रम से ऋषि-ऋण, देव-ऋण एवं पितृ-ऋण से मुक्त होता है। इस विषय में हमने इस महाग्रन्थ के मूल खण्ड २, पृ० २७०, ४२५, ५६०-६१, ६७६, खण्ड ३, पृ० ४१६ में विस्तार से पढ़ लिया है। इन तीन ऋणों में महाभारत एक चौथा ऋण जोड़ देता है, यथा—**मनुष्य ऋण**, जो अच्छाई अर्थात् लोगों के प्रति किये गये अच्छे व्यवहारों से चुकाया जाता है। यह सिद्धान्त केवल ब्राह्मणों तक ही नहीं सीमित है, प्रत्युत तीनों उच्च वर्णों को तीनों ऋणों से मुक्त होना आवश्यक है (जैमिनि ६।२।३१)। तै० सं० में 'ब्राह्मण' शब्द केवल उदाहरण के लिए है, वास्तव में सभी वर्णों के लिए तीनों ऋणों से मुक्त होना उनका महान कर्त्तव्य है।

(५) **पुरुषार्थ** की धारणा मानवीय प्रयास (मनुष्य के उद्योग) के ध्येयों अथवा लक्ष्यों की द्योतक है। पुरुषार्थ चार हैं,—**धर्म** (सदाचार), **अर्थ** (अर्थशास्त्र, राजनीति-शास्त्र एवं नागरिक शास्त्र), **काम** (आनन्दभोग एवं सौन्दर्यशास्त्र), **मोक्ष** (आत्मा द्वारा अपने वास्तविक स्वभाव की अनुभूति तथा हीन

इच्छाओं तथा ध्येयों के बन्धन से स्वतन्त्रता) । मोक्ष को **परमपुरुषार्थ** कहा गया है और अन्य तीनों को **त्रिवर्ग** की संज्ञा मिली है। धर्म की धारणा बहुत ही महत्त्वपूर्ण है और इस पर अति प्राचीन काल से ही बल दिया गया है। यह उन सिद्धान्तों की ओर इंगित करती है जिन्हें व्यक्तियों को जीवन भर तथा सामाजिक सम्बन्धों में अपने आचरणों में उतारना पड़ता है। हमने पुरुषार्थों पर विस्तार के साथ इस महाग्रन्थ के मूल खण्ड २, पृ० २–११, खण्ड ३, पृ० ८–१० एवं २३६–२४१ में पढ़ लिया है। अतः बहुत ही संक्षेप में कुछ बातें यहाँ कही जा सकेंगी। हमने इस खण्ड के आरम्भिक पृष्ठों में देख लिया है कि ऋग्वेद में तीन शब्द आये हैं, यथा–**ऋत** (जगत्सम्बन्धी व्यवस्था), **व्रत** (वे नियम या अनुशासन जो देवों द्वारा व्यवस्थित हुए हैं) तथा **धर्म** (धार्मिक कृत्य या यज्ञ या स्थिर सिद्धान्त)। इन तीनों में **ऋत** शब्द लुप्त-सा हो गया (पृष्ठभूमि में पड़ गया) और उसके स्थान पर **सत्य** शब्द आ गया और **धर्म** शब्द सबको स्पर्श करने वाली धारणा का द्योतक हो गया तथा **व्रत** केवल पवित्र संकल्पों एवं आचार-सम्बन्धी नियमों तक सीमित रह गया। समावर्तन के समय गुरु शिष्य से कहता था–'सत्यं वद, धर्मं चर' (तै० उप० १।११) । बृ० उप० (१।४।१४) ने सत्य को धर्म के बराबर माना है। संसार की अन्यतम एवं भद्रतम प्रार्थनाओं में एक है––'असत्य से सत्य की ओर ले चलो, अन्धकार से प्रकाश की ओर तथा मृत्यु से अमरता की ओर' (बृ० उप० १।३।२८)। इसी उपनिषद् (५।२।३) ने **दम** (आत्म-संयम), **दान** एवं **दया** नामक तीन प्रधान सुकृतों अथवा गुणों का माहात्म्य गाया है। छा० उप० (५।१०) ने एक श्लोक उद्धृत किया है–'जो सोना चुराता है, जो सुरापान करता है, जो गुरु के पलंग का अपमान करता है (अर्थात् गुरु-पत्नी के साथ संभोग करता है) तथा जो ब्राह्मण की हत्या करता है––वे चारों नरक में गिरते हैं, और पाँचवाँ वह जो ऐसे लोगों के संसर्ग में रहता है।' यह द्रष्टव्य है कि इस प्राचीन श्लोक में बाइबिल में उल्लिखित दस अनुशासनों (टेन कमाण्डमेण्ट्स) में से कुछ पाये जाते हैं। उपनिषदों के काल में धर्म की धारणा सर्वोच्च स्थान ग्रहण करने लगी। बृ० उप० (१।४।१४) में कथित है–'धर्म से उच्च कोई अन्य नहीं है।' तै० आरण्यक (१०।६३) में आया है–'धर्म सम्पूर्ण विश्व का आश्रय (आधार या शरण) है।' महाभारत एवं मनु ने बार-बार धर्म के उच्च मूल्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया है।[९] महाभारत ने माना है कि चारों पुरुषार्थों से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु इसमें अवस्थित है, इसमें जो उनके विषय में नहीं है, वह अन्यत्र नहीं है । उद्योगपर्व में आया है–'यह सभी जीवों को धारण करता है अतः धर्म कहलाता है।' वनपर्व एवं मनु दोनों में उद्घोषणा है–'जब धर्म का हनन (उल्लंघन) होता है तो वह हननकर्ता को मार डालता है, जब इसकी रक्षा होती है तो यह मनुष्य की रक्षा

९. धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा। लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति। धर्मेण पापमपनुदति धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति। तै० आ० (१०।६३), महानारायणोपनिषद; धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ। यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्।। आदि पर्व (६२।५३ स्वर्गारोहणपर्व ५।५०); और देखिए आदि पर्व (६२।२३); धारणाद्धर्म इत्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः। उद्योग० (८६।६७, १३७।६); धर्म एवहतो धर्मो हन्ति रक्षति रक्षितः। तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत्। मनु (८।१५)। वनपर्व (३१३।१२८) भीवही है, केवल तीसरा पाद यों है : 'तस्माद्धर्मं न त्यजामि; ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष नचकश्चिच्छृणोति माम्। धर्मादर्थश्चकामश्चस किमर्थं न सेव्यते।। न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्धर्मं जह्याज्जीवितस्यापि हेतोः। नित्यो धर्मः सुखदुःखेत्वनित्येजीवो नित्योहेतुरस्यत्वनित्यः।।स्वर्गारोहणपर्व (५।६२-६३)।

करता है, अतः धर्म का हनन (उल्लंघन) कभी नहीं होना चाहिए, नहीं तो धर्म हमें नष्ट कर देगा।' व्यास ने महाभारत का अन्त एक पवित्र प्रार्थना (या अपील) के साथ किया है—'मैं हाथ ऊपर उठा कर उच्च स्वर से कहता हूँ, किन्तु कोई नहीं सुनता है; धर्म से अर्थ एवं काम (सभी कामनाओं) की उत्पत्ति होती है, धर्म का आश्रय क्यों नहीं लिया जा रहा है। धर्म का त्याग किसी वाञ्छित उद्देश्य से नहीं करना चाहिए, न भय से, न लोभ से और न जीवन के लिए ही इसका त्याग करना चाहिए। धर्म नित्य है, सुख एवं दुःख अनित्य हैं, जीवात्मा नित्य है, किन्तु वे हेतु या परिस्थितियाँ (जिनके फलस्वरूप यह कार्यशील होता है) अनित्य हैं।' महाभारत में आया है कि तीन (धर्म, अर्थ एवं काम) सभी के लिए हैं, धर्म तीनों में श्रेष्ठ है, अर्थ बीच में आता है और काम सबसे नीचा है, इसलिए जब इनमें से किसी का विरोध होता है तो धर्म का अनुसरण करना चाहिए और अन्य दो को छोड़ देना चाहिए। इससे प्रकट होता है कि अर्थ एवं काम दोनों धर्म के अधीन हैं और तीनों (धर्म, अर्थ एवं काम) आध्यात्मिक लक्ष्य (अर्थात् मोक्ष) के अधीन हैं। हमारे शास्त्र सबके लिए संन्यास की व्यवस्था नहीं देते, किन्तु उन्होंने मूल्यों की एक सोपान-पद्धति निर्धारित की है। मनु (४।३ एवं १५) ने व्यवस्था दी है—'व्यक्ति को अपने (लक्ष्यों) वर्ण आदि की स्थिति के अनुकूल ही आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए तथा बिना किसी की हानि किये अर्थ संग्रह करना चाहिए। किसी को अत्यधिक विषयासक्त होकर तथा शास्त्र द्वारा गर्हित कहे हुए कर्मों द्वारा धन-संग्रह नहीं करना चाहिए और जब उसके पास पर्याप्त धन है, तब भी ऐसा नहीं करना चाहिए और न पापी लोगों से धन प्राप्त करना चाहिए, तब भी नहीं जबकि वह बड़ी कष्टमय अवस्था में पड़ा हुआ हो।' और देखिए आप० ध० सू० (२।८।२०।२२–२३), गौ० ध० सू० (९।४६–४७), याज्ञ० (१।११५) एवं भगवद्गीता (७।११)। किन्तु कौटिल्य के अर्थशास्त्र (१।७) में आया है—'अर्थ तीन पुरुषार्थों में प्रमुख है,' किन्तु कौटिल्य ने भी कहा है कि विषयों का उपभोग इस प्रकार करना चाहिए कि मनुष्य धर्म एवं अर्थ के विरोध में न पड़ जाय और न आनन्दरहित होकर ही जीवन यापन करना चाहिए। अनुशासन पर्व (३।१८–१९) में आया है कि धर्म, अर्थ एवं काम मानवजीवन के तीन पुरस्कार (फल) हैं, इनके लिए प्रयत्न करना चाहिए, किन्तु इस प्रकार कि धर्म के साथ विरोध न उपस्थित हो जाय। मनु (५।५६) ने घोषणा की है कि मांस खाना, मद्य पीना एवं मैथुन करना स्वयं पापमय नहीं है, क्योंकि सभी प्राणी इनकी ओर झुके हुए हैं, किन्तु इनसे दूर रहने से बड़े-बड़े पुण्य (उत्तम फल) प्राप्त होते हैं (और इसी से शास्त्र इनकी निवृत्ति या संयम पर बल देते हैं)। और देखिए अरण्यकाण्ड (९।३०) एवं स्वर्गारोहण (५।६२)।

आजकल जब कुछ सुधारों की चर्चा होने लगती है तो अनुदारवादी अथवा रूढ़िवादी या नव-विद्वेषी लोग ऐसा तर्क उपस्थित करते हैं कि हमारा धर्म 'सनातन धर्म है' [१०], अतः इसमें किसी

१०. 'सनातन धर्म' के अत्यन्त प्राचीन प्रयोगों में एक प्रयोग माधववर्मन के खानपुर पत्रक में है (एपि० इ०, जिल्द २७, पृ० ३१२)। इस पत्रक के सम्पादक डा० वी० वी० मिराशी का कथन है कि यह लेख लगभग छठीं शती का है। 'सनातनधर्म' शब्द यों आया है: 'यजनयाजनाध्ययनाध्यापनदानप्रतिग्रहाया (य ?) श्रुतिस्मृतिविहित सनातनधर्मकर्मनिरताय... आदि'। एक अन्य प्राचीन प्रयोग है ब्रह्माण्डपुराण (२।३३।३७-३८) : अद्रोहश्चाप्यलोभश्च तपो भूतदया दमः। ब्रह्मचर्यं तथा सत्यमनुक्रोशः क्षमा धृतिः। सनातनस्य धर्मस्य मूलमेतदुदाहृतम्।। 'सनातन धर्म' शब्द 'प्राचीन प्रयोग जो अब प्रचलित न हो' के अर्थ में आदिपर्व (१२२।१८, चित्रशाला संस्करण) में आया तथा

प्रकार का सुधार नहीं किया जाना चाहिए। किन्तु 'सनातन धर्म' शब्दों से यह अर्थ नहीं निकालना चाहिए कि धर्म (नियम) सदैव स्थिर रहता है और वह निर्विकार एवं नित्य है। उन शब्दों का अर्थ यही है कि हमारी संस्कृति अति प्राचीन है और इसके पीछे एक लम्बी परम्परा है, किन्तु वे यह नहीं कहते कि धर्म में परिवर्तन की गुंजाइश नहीं है। वास्तव में धारणाओं, विश्वासों एवं लोकाचारों (प्रयोगों) में परिवर्तन प्राचीनकाल से लेकर मध्यकाल तक विविध उपायों द्वारा हुए हैं। कुछ परिवर्तनों की ओर ध्यान आकृष्ट किया जा रहा है। अति प्राचीन काल में वेद ही सब कुछ था, किन्तु उपनिषदों में यह धारणा परिवर्तित हो गयी; यथा—मुण्डकोपनिषद् (१।१।५) ने चारों वेदों को **अपरा विद्या** के अन्तर्गत रखा है और परब्रह्म के ज्ञान को **परा विद्या** माना है। छा० उप० (७।१।४) में चारों वेद एवं ज्ञान की अन्य शाखाएँ सनत्कुमार (जिनके पास नारद शिक्षा लेने गये थे) द्वारा केवल **नाम** कही गयी हैं। प्रारम्भिक वैदिक काल में यज्ञों का सम्पादन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण धार्मिक कृत्य माना जाता था, किन्तु मुण्डकोपनिषद् ने यज्ञों को छिद्रयुक्त नौकाओं की संज्ञा दी है और उन लोगों को, जो उन्हें श्रेष्ठ कहते हैं, मूर्ख कहा है। और देखिए दृष्टिकोणों तथा मान्यताओं में अन्तर पड़ जाने के विषय में इस महाग्रन्थ के प्रस्तुत खण्ड का अध्याय २६, जहाँ अनुलोम विवाहों, कलिवर्ज्यों आदि की विस्तृत चर्चा हुई है। मनु, याज्ञवल्क्य, विष्णुधर्मसूत्र, विष्णुपुराण तथा अन्य पुराणों में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जब धर्म लोगों के लिए अरुचिकर हो जाय तथा कष्ट उत्पन्न करे तो उसका पालन नहीं होना चाहिए, प्रत्युत उसे छोड़ देना चाहिए। शान्तिपर्व (७८।३२) में स्पष्ट रूप से आया है कि जो कभी (किसी युग में) अधर्म था वह कभी धर्म हो सकता है, धर्म एवं अधर्म दोनों काल एवं देश की सीमाओं से आबद्ध हैं।[११] काम को भी नहीं त्यागा गया था, जैसा कि कामसूत्र (१।४) से व्यक्त है। भरत का नाट्यशास्त्र, जो ५००० श्लोकों का विशाल ग्रन्थ है, नृत्य, संगीत, नाट्य आदि ललित कलाओं पर अति सुन्दर प्रकाश डालता है और व्यक्त करता है कि प्राचीन भारत में कामजनित कलाओं से सम्बन्धित विषयों में लोगों की कितनी अभिरुचि थी।

धर्म, अर्थ एवं काम तीन पुरुषार्थों से सम्बन्धित भारतीय विचार यह था—'अपना कर्तव्य करो, प्रलोभनों में न पड़ो, कर्तव्य के लिए कर्तव्य करो (गीता २।४७, ३।१६), दूसरे के साथ वैसा ही व्यवहार करो जैसा तुम अपने लिए चाहते हो (गीता ६।३२, अनुशासनपर्व ११३।८-६, शान्तिपर्व २५६।२० = २५१।१६ चित्रशाला), धन कमाओ किन्तु उससे धर्म का विरोध न हो और न किसी की हानि हो, पवित्र ब्रह्मचर्य का जीवन बिताओ और सौन्दर्य सम्बन्धी आनन्दों का उपभोग करो। तीनों पुरुषार्थों में निहित विचारों का यही निष्कर्ष है। कहीं पर प्रमुख धर्मशास्त्र-ग्रन्थों में वास्तविक निराशावाद की झलक नहीं मिलती, किन्तु महाभारत में यत्र-तत्र कुछ झलक मिल जाती है। धर्मशास्त्र-ग्रन्थ जीवन को जीने योग्य ठहराते हैं जब कि सारे कर्म धर्मानुकूल होते रहें। मनु (१२।८८-८६) ने कहा है कि वेद द्वारा व्यवस्थित कर्म (आचरण या कार्य) के दो प्रकार हैं, यथा—**प्रवृत्त** एवं **निवृत्त**, जिनमें प्रथम से इस लोक में आनन्द एवं मृत्यु के उपरान्त **स्वर्ग** प्राप्त होना है और दूसरे से **निःश्रेयस** (मोक्ष) की प्राप्ति होती है, जिसमें ब्रह्म की अनुभूति के उपरान्त सभी प्रकार की अभि-

'कर्तव्य जो बहुत पहले मान लिया हो' के अर्थ में रामायण (अयोध्याकाण्ड, १६।२६, २१।४६ आदि) में प्रयुक्त हुआ है।

११. भवत्यधर्मो धर्मो हि धर्माधर्मावुभावपि। कारणाद्देशकालस्य देशकालः स ताद्दृशः।। शान्तिपर्व (७८। ३२)।

कांक्षाओं एवं ईहाओं का पूर्ण अभाव हो जाता है। अनुशासनपर्व (१४६।७६–८०) ने धर्म को **प्रवृत्ति-लक्षण** (जिसमें निरन्तर कार्यशीलता पायी जाती है) तथा **निवृत्ति लक्षण** (जिसमें लौकिक क्रियाओं एवं अभिकांक्षाओं या कामनाओं का अभाव पाया जाता है) नामक दो भागों में बाँटा है। जिसमें दूसरे का अनुसरण मोक्ष के लिए किया जाता है। अनुशासनपर्व ने कुछ व्यावहारिक एवं शुभंकर नियम बनाये हैं, यथा—मनुष्य को अपनी समर्थता के अनुसार सदा दान देते रहना चाहिए, सदा यज्ञ करते रहना चाहिए और समृद्धि के लिए कृत्य करते रहना चाहिए। उचित सम्पत्ति का संग्रहण करना चाहिए और इस प्रकार उचित ढंग अर्थात् सचाई (ईमानदारी) से प्राप्त धन को तीन भागों में विभाजित करना चाहिए—संगृहीत धन के एक-तिहाई से **धर्म** एवं **अर्थ** की प्राप्ति करनी चाहिए, एक तिहाई का व्यय **काम** के लिए होना चाहिए (अर्थात् पवित्र काम-सम्बन्धी जीवन एवं धर्मविहित अन्य आनन्दों में लगाना चाहिए) तथा एक तिहाई को और बढ़ाना चाहिए। मनु (७।६६ एवं १०१) ने भी इसी प्रकार के नियम राजा के लिए निर्धारित किये हैं। और देखिए अनुशासन पर्व (१४४।१०–२५)। ये व्यवस्थाएँ सामान्य जनों के लिए बनायी गयी हैं। रामायण ने एक प्रचलित श्लोक उद्धृत किया है कि मनुष्य असीम दुःख को भोगने के लिए नहीं गर्हित किया जाता, प्रत्युत यदि वह जीवित रहे, उसके पास सौ वर्षों के उपरान्त भी आनन्द आता है।[१२]

चौथा पुरुषार्थ **मोक्ष** बहुत ही कम लोगों द्वारा प्राप्त किया जाता है। यह धनुष नहीं है जिसे प्रत्येक व्यक्ति या कोई भी अपने कन्धे से लटका ले। यह छुरे की धार के समान बहुत ही कठिन मार्ग है (कठोपनिषद् ३।१४), यह भक्ति मार्ग की अपेक्षा बहुत कठिन मार्ग है (भगवद्गीता १२।५)। उपनिषदों द्वारा प्रतिपादित मोक्ष का सिद्धान्त यह है—मानव स्वभाव वास्तव में दिव्य है, मानव के लिए ईश्वरत्व की जानकारी प्राप्त करना तथा उससे तादात्म्य स्थापित करना सम्भव है, यही मानव का अन्तिम लक्ष्य होना चाहिए, इसकी प्राप्ति अपने उद्योगों एवं प्रयासों से ही सम्भव होती है, किन्तु इसकी प्राप्ति का मार्ग अत्यन्त कठिन है, इसके लिए अहंकार, स्वार्थपरता एवं सांसारिक विषयासक्ति से विमुख होना पड़ता है। इसके अतिरिक्त एक अन्य कठिनाई भी है। मोक्ष सम्बन्धी धारणा विभिन्न सम्प्रदायों, यथा—न्याय, सांख्य, वेदान्त आदि द्वारा विभिन्न ढंगों से व्यक्त की गयी है। यहाँ तक कि स्वयं वेदान्त में मोक्ष सम्बन्धी धारणा के विषय में विभिन्न आचार्य विभिन्न मत प्रतिपादित करते हैं। कुछ ने घोषित किया है कि मुक्ति की चार अवस्थाएँ हैं; यथा—**सालोक्य** (प्रभु के लोक में स्थान), **सामीप्य** (सन्निकटता), **सारूप्य** (प्रभु का ही स्वरूप धारण करना) एवं **सायुज्य** (समाहित हो जाना)।[१३] इन पर विशेष वर्णन यहाँ नहीं होगा।

१२. कल्याणी बत गाथेयं लौकिकी प्रतिभाति मे।
एति जीवन्तमानन्दो नरं वर्षशतादपि।।
—सुन्दरकाण्ड (३४।६)

१३. तै० सं० (५।७।५।७) में आया है—एतासामेव देवतानां सायुज्यतां गच्छति। किन्तु यह मोक्ष की धारणा से सर्वथा भिन्न है। सायुज्य, सारूप्य एवं सलोकता शब्द ऐ० ब्रा० (२।२४) में भी उल्लिखित हुए हैं। सायुज्य एवं सलोकता बृ० उप० (१।३।२२) में प्रयुक्त हुए हैं। सलोकता, सार्ष्टिता (वही सुख) एवं सायुज्य छा० उप० (२।२०।२) में आये हैं। सूतसंहिता (मुक्तिखण्ड, ३।२८) ने भी मोक्ष की इन अवस्थाओं का उल्लेख किया है। 'सायुज्य' शब्द सयुज् (एक में संलग्न या संयुक्त) से निष्पन्न हुआ है। 'सयुजः वाजान्' (एक में जुते अश्व) ऋ०

विभिन्न दृष्टिकोणों के अनुसार धर्म विभिन्न वर्गों में विभाजित हुआ है। एक विभाजन के अनुसार धर्म के दो प्रकार हैं--**श्रौत** (वेदों पर आधृत) एवं **स्मार्त** (स्मृतियों पर आधृत), एक अन्य अपेक्षाकृत अधिक व्यापक विभाजन के अनुसार धर्म के छः प्रकार हैं–(१) **वर्ण धर्म** (वर्णों के कर्त्तव्य एवं अधिकार), (२) **आश्रम धर्म** (आश्रमों के विषय में नियम), (३) **वर्णाश्रम धर्म** (ऐसे नियम जो किसी एक वर्ण के व्यक्ति के किसी विशिष्ट आश्रम से सम्बन्धित हों, यथा ब्राह्मण ब्रह्मचारी को पलाश दण्ड धारण करना चाहिए), (४) **गुणधर्म** (किसी पद पर आसीन व्यक्ति के लिए नियम, यथा राजा से सम्बन्धित नियम), (५) **नैमित्तिक धर्म** (किसी विशिष्ट अवसर पर किये जाने वाले कृत्यों से सम्बन्धित नियम आदि, यथा ग्रहण पर या प्रायश्चित्त सम्बन्धी) तथा (६) **सामान्य धर्म** (ऐसे कर्त्तव्य जो सबके लिए हों)। इस विवेचन से हम हिन्दू संस्कृति की एक अन्य विशेषता की ओर पहुँचते हैं, यथा–वर्ण एवं जातियाँ।

(६) **वर्ण एवं जातियाँ**। वर्णों की उत्पत्ति, विभाजन, जाति-प्रथा, चारों वर्णों के कर्त्तव्यों एवं अधिकारों के विषय में हमने विस्तार के साथ इस महाग्रन्थ के मूल खण्ड २, पृ० १६–१६४ में पढ़ लिया है। यह प्रदर्शित किया गया है कि 'वर्ण' शब्द (जिसका अर्थ है रंग) ऋग्वेद में आर्यों एवं दासों के लिए प्रयुक्त हुआ है और **आर्य** एवं **दास** एक-दूसरे के विरोधी दो पृथक् दल थे। ऋग्वेद में **ब्राह्मण** एवं **क्षत्रिय** शब्द प्रयुक्त हैं किन्तु 'वर्ण' शब्द स्पष्ट रूप से इनके लिए नहीं प्रयुक्त हुआ है। 'वैश्य' एवं 'शूद्र', शब्द ऋग्वेद में पुरुषसूक्त (ऋ० १०।९०।१२) को छोड़कर कहीं भी नहीं आये हैं किन्तु वहाँ भी इनके संदर्भ में 'वर्ण' शब्द नहीं प्रयुक्त हुआ है। बहुत से आधुनिक विद्वान् पुरुषसूक्त को पश्चात्कालीन क्षेपक मानते हैं। यह सत्य प्रतीत होता है कि पुरुषसूक्त के प्रणयन के समय समाज चार दलों में विभक्त था, यथा–**ब्राह्मण** (विचारक, विद्वान लोग, पुरोहित), **क्षत्रिय** (शासक एवं योद्धागण), **वैश्य** (साधारण लोग, जो कृषि एवं शिल्प में लगे हुए थे) एवं **शूद्र** (जो भृत्य थे या दासकर्म करते थे)। इस प्रकार का विभाजन अस्वाभाविक नहीं है और आज भी ऐसा विभाजन बहुत से देशों में विद्यमान है। इंग्लैण्ड में अभिजात कुटुम्ब हैं, मध्यम श्रेणी के लोग हैं तथा मिलों एवं फैक्टरियों में काम करने वाले लोग हैं। वे आवश्यक रूप से जन्म से ऐसे नहीं हैं, किन्तु अधिकांश में उसी प्रकार हैं। हमने देख लिया है कि याज्ञवल्क्य स्मृति के काल तक ब्राह्मणों तथा अन्य वर्णों के बीच अन्तर्विवाह प्रचलित था (देखिए अध्याय २९), जिसे इसने ठीक नहीं समझा है और तीन उच्च वर्णों को शूद्रा से विवाह करने को मना किया है। हमारे पास कोई ऐसा प्रमाण नहीं है जो यह सिद्ध कर सके कि वैदिक युग में चारों वर्णों के बीच अन्तर्विवाह या अन्तर्भोजन नहीं होता था। वाज० सं० (३०।६-१३), काठक सं० (१७।१३), तै० ब्रा० (३।४।२-३) में तक्षा, रथकार, कुलाल, कर्मार, निषाद सूत आदि शिल्पकारों का उल्लेख हुआ है, किन्तु यह नहीं पता चल पाता कि वे इन ग्रन्थों के काल में जातियों के रूप में बन गये थे कि नहीं। अथर्ववेद (३।५।६-७) में रथकार, कर्मार एवं सूत का उल्लेख है। यह सम्भव है कि छा० उप० (५।१०।७) के काल तक चाण्डाल लोग (कुत्तों एवं सूअरों की भाँति) अस्पृश्य हो गये थे और पौल्कस

(३।३०।११) में भी प्रयुक्त है तथा 'सयुजा' (अर्थात सयुजौ) शब्द ऋ० (१।१६४।२०) में आया है। सायण की पुरुषार्थसुधानिधि (मद्रास गवर्नमेण्ट ओरिएण्टल मैनस्क्रिप्ट सीरीज, श्री चन्द्रशेखरन द्वारा सम्पादित, १९५५) के मोक्ष स्कन्ध (२।२-३) में इस प्रकार आया है—'मुक्तिर्नाना विधा प्रोक्ता सायुज्यादिप्रभेदतः। तत्र सायुज्यरूपाया मुक्तेः साक्षात्तु कारणम्। सम्यग्ज्ञानं न कर्मोक्तं नानयोश्च समुच्चयः। कर्मणैव हि सिध्यन्ति पुंसामन्याश्च मुक्तयः।।

लोग चाण्डाल के समान ही थे (बृ० उप० ४।३।२२)। याज्ञवल्क्य एवं पराशर (दूसरी से छठीं शती तक) के कालों में ब्राह्मण जिन शूद्रों के घर में भोजन कर सकता था वे ये हैं—अपना दास, गोरखिया (गाय चराने वाला या चरवाहा), नाई तथा अधियरा (ऐसा आसामी जो अपनी भूमि जोतता-बोता हो और आधा भाग देता हो)। वर्ण केवल चार थे पाँच नहीं (मनु १०।४, अनुशासनपर्व, ४८।३०)। आज तक अस्पृश्य लोगों को बहुधा लोग पञ्चम कहते हैं, जो स्मृति-प्रयोग के विरुद्ध है। वैदिक साहित्य में 'जाति' शब्द अपने आज के अर्थ में कदाचित् ही प्रयुक्त हुआ हो, किन्तु निरुक्त (१२।१३) एवं पाणिनि (५।४।९ यथा 'ब्राह्मणजातीय' जिसका अर्थ है जो जाति से ब्राह्मण हो) में यह शब्द आया है। कभी-कभी 'जाति' एवं 'वर्ण' शब्दों में स्मृतियों (याज्ञ० २।६९, २६०) द्वारा भेद किया गया है, किन्तु प्राचीन काल से ही 'जाति' शब्द भ्रामक रूप में 'वर्ण' के अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है। मनु (१०।३१) में 'वर्ण' शब्द का प्रयोग वर्णसंकरों के अर्थ में किया है और इसी प्रकार, उलटे रूप में 'जाति' शब्द 'वर्ण' के अर्थ में मनुस्मृति (८।१७७, ९।८५-८६, १०।४१) में प्रयुक्त हुआ है।

कुछ अन्य देशों में, य ा—फारस, रोम एवं जापान में भी एक प्रकार की जाति-प्रथा का प्रचलन था, जो समाप्त हो गया, किन्तु वह भारतीय जाति-प्रथा की जटिलता को नहीं प्राप्त हो सका था।

आज भारत में सहस्रों जातियाँ एवं उपजातियाँ हैं। वे किस प्रकार उत्पन्न हो गयीं, यह एक अभेद्य समस्या है। शेरिंग ने अपने ग्रन्थ 'हिन्दू ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स' (१८८१, जिल्द ३, पृ० २३१) में यह प्रतिपादित किया है कि यह (ब्राह्मणों द्वारा किया गया) आविष्कार है। किस प्रकार एक इतनी विशाल प्रथा थोड़े से ब्राह्मणों द्वारा लाखों व्यक्तियों के ऊपर लादी गयी, यह समझ में नहीं आता, जब कि ब्राह्मणों के हाथ में कोई शारीरिक एवं राजनीतिक शक्ति नहीं थी ! उस पादरी महोदय के मन में यह बात नहीं आयी, बड़ा आश्चर्य है। विशेषतः ईसाई धर्म प्रचारक ऐसी ही त्रुटिपूर्ण एवं भ्रामक धारणाओं को लेकर मोटे-मोटे ग्रन्थ लिख डालते थे। शेरिंग महोदय का ग्रन्थ १९ शती के तीसरे चरण में प्रणीत हुआ था।

यह भली भाँति विदित है कि कम-से-कम ई० पू० छठीं शती से आगे भारत पर पारसीकों (पारसियों), काम्बोजों[१४], यूनानियों, सिथियनों (सामान्यतः शक लोगों) के आक्रमण होते रहे तथा पारदों, पह्लवों, चीनों, किरातों, दरदों एवं खशों का भारत में आना जारी रहा। मनु (१०।४३-४) ने इनके तथा पौण्ड्रकों, ओड्रों (उड़ीसावासियों), द्रविड़ों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि ये मूलतः क्षत्रिय थे, किन्तु उपनयन ऐसे संस्कारों से विहीन होने के कारण उनका ब्राह्मणों से संसर्ग टूट गया था। मनु (१०।४५) के समय में कुछ मिश्रित जातियाँ थीं जो म्लेच्छ बोलियाँ एवं आर्य भाषाएँ बोलती थीं, किन्तु दस्युओं (शूद्रों) में परिगणित थीं। गौतमधर्मसूत्र (४।१४-१७), मनु (१०।५-४०), याज्ञ० (१।९०-९५) आदि ने कहा है कि विभिन्न वर्णों के पुरुषों एवं नारियों के विवाहों

१४. अत्रि-स्मृति (७।२, गद्य) ने इन बाह्य जातियों एवं लोगों में कुछ का उल्लेख किया है। देखिए अनुशासनपर्व (३३।२१-२३)—'शका यवन-काम्बोजाः क्षत्रियजातयः। वृषलत्वं परिगता ब्राह्मणानां आदर्शनात्..।' एवं वही (३५।१७-१८)। महाभाष्य (पाणिनि (२।४।१०) ने शक एवं यवन को शूद्रों में परिगणित किया है अशोक ने अपने प्रस्तराभिलेख सं० ५ एवं १३ में योनों योनराज एवं काम्बोजों का उल्लेख किया है जो उसके साम्राज्य की सीमाओं पर रहते थे। ए० एम० टी० जैक्सन ने इण्डियन ऐण्टीक्वेरी (१९१०, पृ० ७७) में लिखा है—'हिन्दू सभ्यता की आकर्षक शक्ति ने, जिसने मुसलमानों एवं यूरोपवासियों को छोड़ कर सभी बाह्य आक्रामकों को अपने में खपा लिया, मध्य एशिया के खानाबदोशों (यायावर जातियों) को सभ्य बना दिया, यहाँ तक कि जंगली तुर्कों के दल अत्यन्त शक्तिशाली राजपूत राजघराने के सदस्यों में परिणत हो गये।

एवं सम्मिलनों से मिश्रित जातियों की उत्पत्ति हुई और आगे विभिन्न वर्गों एवं जातियों के पुरुषों एवं नारियों के विवाहों एवं सम्मिलनों से विभिन्न जातियों एवं उपजातियों की उद्भूति हुई। इसी को **वर्ण संकर** या केवल **संकर** कहा गया और इसी के विषय में अर्जुन ने शंका प्रकट की (गीता १।४१-४२) और इसी के विरोध में भगवद्गीता (३।२४-२५) ने कड़ा आक्षेप प्रकट किया है। गौतम (धर्मसूत्र ८।३) ने कहा है कि (जातियों एवं उपजातियों की) समृद्धि, (वर्णों की) रक्षा एवं शुद्धता (असंकरता) राजा एवं विद्वान् ब्राह्मणों पर निर्भर रहती है। राजा सिरी पुलुमायी (एपि० इं०, जिल्द ८, पृ० ६०, लगभग १३० ई०) के नासिक लेख में राजा की प्रशंसा की गयी है कि उसने वर्णसंकरता को रोक दिया है।

प्राचीन काल में भी वर्णसंकरता प्रकट हो गयी थी, वनपर्व (१८०।३१-३३) में युधिष्ठिर ने कहा है--'वर्णों के अस्तव्यस्त मिश्रण के कारण किसी व्यक्ति की जाति का पता चलाना कठिन हो गया है; सभी लोग सभी प्रकार की नारियों से सन्तान उत्पन्न करते हैं; अतः विज्ञ लोग चरित्र को ही प्रमुख एवं वांछित वस्तु मानते हैं।' वर्णों की मौलिक योजना स्वाभाविक थी और वह उस कार्य पर आधृत थी जिसे व्यक्ति सम्पूर्ण समाज के लिए करता था। यह जन्म पर आवृत नहीं थी। वैदिक काल में केवल वर्ग थे, आधुनिक अर्थ में जातियाँ नहीं। मौलिक वर्ण-व्यवस्था में उस समय के समाज के लिए एक ऐसी स्थापना थी जिसमें किसी प्रतिद्वन्द्विता-सम्बन्धी समानता की प्राप्ति का प्रयास नहीं था, प्रत्युत उसमें सभी दलों अथवा वर्गों की अभिरुचि अथवा स्वार्थ समान था। स्मृतियों में भी, जब कि बहुत-सी जातियाँ उत्पन्न हो चुकी थीं, अधिकारों एवं सुविधाओं की अपेक्षा कर्तव्यों पर ही सबसे अधिक बल दिया जाता था, तथा उच्च नैतिक चरित्र एवं व्यक्ति के प्रयास का मूल्य अधिक माना जाता था। इसी से गीता (४।१३) में कहा गया है कि चार वर्णों की व्यवस्था गुणों (सत्त्व, रज एवं तम) एवं कर्मों के आधार पर की गयी है और पुनः (१८।४२-४४) आया है कि मन की शान्ति (निर्मलता), आत्म-संयम, तप, शुद्धता, धैर्य (सहनशीलता), आर्जव (सरलता अथवा ऋजुता), ज्ञान (आध्यात्मिक ज्ञान), सभी प्रकारों का ज्ञान, विश्वास (या ईश्वर में श्रद्धा)--ये सब ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म (कर्तव्य) हैं; वीरता, क्रोध (आवेश), शक्ति, स्थिरता, समर्थता, युद्ध से न भागना, दया एवं शासन--ये सब क्षत्रिय के कर्तव्य हैं; कृषि, पशुपालन, व्यापार एवं वाणिज्य--ये सब वैश्य के स्वाभाविक कर्तव्य हैं; सेवा के रूप का कार्य शूद्र का स्वाभाविक कर्तव्य है। गीता के इन शब्दों को हम आधुनिक सहस्रों जातियों एवं उपजातियों के समर्थन में प्रयुक्त नहीं कर सकते। यदि जन्म को ही प्रमुख एवं एक मात्र आधार माना गया होता तो गीता के शब्द (४।१३) 'जाति-कर्म विभागशः' (या जन्म-कर्म) होते न कि 'गुणकर्म विभागशः'। यह द्रष्टव्य है कि ब्राह्मणों के लिए जो नौ कर्म रखे गये हैं उनमें कहीं भी जन्म पर बल नहीं दिया गया है। महाभारत के काल में कठोर जाति-व्यवस्था के विरोध में कोई बड़ी क्रान्ति या उपद्रव या आलोचना अवश्य हुई होगी। महाभारत में बहुधा वर्णों एवं जातियों की ओर संकेत किया गया है (देखिए वनपर्व अध्याय १८०, विराट पर्व ५०।४-७, उद्योगपर्व २३।२६, ४०।२५-२६, शान्तिपर्व १८८।१०-१४, अनुशासन पर्व अध्याय १४३)। कुछ वचन यहाँ उद्धृत किये जा रहे हैं। शान्तिपर्व (१८८।१०) में आया है--'वर्णों में कोई वास्तविक अन्तर्भेद नहीं है, (क्योंकि), सम्पूर्ण विश्व ब्रह्म का है, क्योंकि यह आरम्भ में ब्रह्मा द्वारा सृष्ट हुआ था, और इसमें (मनुष्यों के) विभिन्न प्रकार के कर्मों के कारण वर्णों की व्यवस्था थी, शान्तिपर्व (१८९।४ एवं ८) में पुनः कहा गया है--'वह व्यक्ति ब्राह्मण कहलाता है जिसमें सत्यता, उदारता, विद्वेष का अभाव, क्रूरता का अभाव, लज्जा (बुरा कर्म करने पर नियन्त्रण), करुणा एवं तपस्वी का जीवन पाया जाये; यदि ये लक्षण किसी शूद्र में दिखाई पड़ जायँ और किसी ब्राह्मण में उनका अभाव हो तो शूद्र शूद्र नहीं है (उसे शूद्र नहीं समझा जाना चाहिए) और वह ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं है। मिलाइए वनपर्व (२१६।१४-१५), धम्मपद (३९३)। जिन दिनों वैष्णवों तथा अन्य लोगों में झगड़े चल रहे थे और वे अपनी

चरमावस्था को पहुँच गये थे तब भागवतपुराण (७।६।१०) में कहा गया है कि वह चाण्डाल जो विष्णु का भक्त है उस ब्राह्मण से उत्तम है जो विष्णु का भक्त नहीं है। चारों वर्णों में प्रत्येक के सदस्यों को जो कुछ विशिष्ट गुण प्राप्त होने चाहिए उनमें नैतिक गुणों को धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में सबसे अधिक महत्त्व दिया गया है। मनु (१०।-६३), याज्ञ० (१।२२) गौतमधर्मसूत्र (८।२३-२५), मत्स्यपुराण (५२।८-१०) ने सभी वर्णों के लिए आचारों एवं गुणों की व्यवस्था कर दी है, यथा—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच (शुद्धता), इन्द्रिय निग्रह। देखिए मिताक्षरा (याज्ञ० १।२२)। विस्तृत अध्ययन के लिए देखिए इस महाग्रन्थ का मूल खण्ड—२, पृ० १०-११।

ब्राह्मणों के समक्ष बड़े उच्च आदर्श रख दिये गये थे। उन्हें कर्तव्य के रूप में वेद एवं वेदांगों का अध्ययन करना पड़ता था, उन्हें यज्ञ-सम्पादन करना पड़ता था, दान देना पड़ता था और उनकी जीविका के उचित साधन केवल तीन थे—वेद एवं शास्त्रों की शिक्षा देना, यज्ञों में पौरोहित्य का कार्य करना एवं धार्मिक तथा अन्य दान ग्रहण करना। वेदाध्ययन कितना कठिन कार्य था, इसका परिज्ञान इसी से हो सकता है कि एक वेद का ज्ञाता तथा कम-से-कम एक वेद को सम्पूर्ण कण्ठस्थ कर लेने वाला ब्राह्मण बड़ा विद्वान् गिना जाता था। मान लीजिए कोई ब्राह्मण ऋग्वेद का विद्यार्थी है तो उसे ऋग्वेद के दस सहस्र से अधिक मन्त्रों, उसके पद-पाठ, क्रमपाठ, ब्राह्मण, (सामान्यतः ऐतरेय), छह वेदांगों (यथा—आश्वलायन का **कल्प सूत्र**, पाणिनि का **व्याकरण** जिसमें लगभग ४००० सूत्र हैं, **निरुक्त** जो १२ अध्यायों में है, **छन्द, शिक्षा** एवं **ज्योतिष**) को कण्ठस्थ करना पड़ता था। छह वेदांगों में प्रथम तीन बहुत लम्बे एवं गूढ़ (दुर्बोध) ग्रन्थ हैं। बिना अर्थ समझे इतने लम्बे साहित्य को स्मरण रखना पड़ता था। इस शती के आरम्भ में इस प्रकार के लगभग सहस्रों ब्राह्मण थे, और आज भी इस प्रकार के सैंकड़ों ब्राह्मण हैं। उन्हें बिना शुल्क लिये वेद का अध्यापन करना पड़ता था (वेदाध्यापन करने पर शुल्क-ग्रहण पाप समझा जाता था और आज भी ऐसा ही है)। शिक्षा के अन्त में वे दिये जाने पर कुछ ग्रहण कर सकते थे। यज्ञों में पौरोहित्य कार्य से पर्याप्त दक्षिणा मिल जाती थी। किन्तु सभी ब्राह्मण पुरोहित नहीं होते थे, वे यदि चाहें तो हो सकते थे, किन्तु इसके लिए विद्वत्ता अनिवार्य थी। बहुत-से ब्राह्मण श्राद्ध-कर्म में पुरोहित होना स्वीकार नहीं करते (कम-से-कम मनुष्य की मृत्यु के उपरान्त तीन वर्षों तक)। पाणिनि (५।२।७१) में 'ब्राह्मणक' (वह देश या प्रान्त जहाँ ब्राह्मण आयुधजीवी होते थे) की व्युत्पत्ति बतायी है और कौटिल्य (६।२) ने भी ब्राह्मणों की सेना की चर्चा की है। ब्राह्मणों की आय का तीसरा स्रोत था योग्य सुपात्र एवं पापरहित व्यक्ति से धार्मिक दानों का ग्रहण। विपत्तियों में ब्राह्मण अन्य वृत्ति भी कर सकते थे, किन्तु इस विषय में भी बहुत-से निषेध थे। ब्राह्मणों के समक्ष दरिद्रता का जीवन, सादा जीवन एवं उच्च विचार का आदर्श था, वे धन के लोभी नहीं थे। उन्हें अपने और आर्य समाज के मूल्य को बढ़ाने की आवश्यकता पर बल देना पड़ता था, वे प्राचीन साहित्य एवं संस्कृति के अध्ययन, रक्षण, प्रसारण एवं वृद्धि में लगे रहते थे। यही उनके जीवन का प्रमुख आदर्श था। राजा, धनिक लोग, सामान्य जन भी विद्वान् ब्राह्मणों को भूमि-दान एवं गृह-दान किया करते थे और इस प्रकार दान-कर्म बड़ा पुण्यकारक माना जाता था। देखिए इस विषय में इस महाग्रन्थ का मूल खण्ड २, पृ० ११३। ब्राह्मण लोग शतियों से चले आये हुए इतने समृद्ध एवं विशाल साहित्य के संरक्षक थे, उनसे ऐसी आशा की जाती थी कि वे नित-नव-नूतन बढ़ते हुए साहित्य की भी रक्षा करें और उसे सम्यक् ढंग से औरों में बाँटें तथा सम्पूर्ण साहित्य का प्रचार करें। यद्यपि सभी ब्राह्मण इतने बड़े आदर्श तक नहीं पहुँच पाते थे, किन्तु तब ब्राह्मणों की बहुत बड़ी संख्या इस महान् कार्य में संलग्न थी। इन्हीं लोगों के कारण सम्पूर्ण ब्राह्मण-समाज को इतना बड़ा माहात्म्य प्राप्त हुआ। प्राचीन एवं मध्य काल में बहुत-से लोग अपने पूर्वजों की वृत्तियाँ करते थे। मनु (८।४-८) ने राजा के पद की बड़ी प्रशंसा की है और कहा है कि राजा में आठ देवों (यथा—इन्द्र, अग्नि, वरुण, सूर्य, चन्द्र, कुबेर, यम एवं वायु) का अस्तित्व पाया जाता है और राजा नर रूप में महान् देवत्व का रूप है। राजा

का पद आनुवंशिक था। कुछ अपवादों को छोड़कर ब्राह्मण कभी भी शासक नहीं बने। क्षत्रिय एवं शूद्र अवश्य राजा बने। इसी से एक सामान्यीकरण चल पड़ा कि किसी दल या कुटुम्ब में जन्म होने से उस दल-विशेष या कुटुम्ब के गुणों की प्राप्ति हो जाती है। ब्राह्मण अध्यापक थे, किन्तु वेतन नहीं पाते थे, बुलाये जाने पर पौरोहित्य का कार्य करते थे और दक्षिणा पाते थे, किन्तु लगातार उसके मिलने की कोई सुनिश्चितता या गारंटी नहीं थी। ब्राह्मणों का कोई धार्मिक संगठन नहीं था, जैसा कि ईसाइयों में देखा जाता है, यथा—आर्कविशप, विशप, पुरोहित, डीकन आदि। बौद्धों एवं ईसाइयों की भाँति उनके मठ नहीं थे। वे गृहस्थ थे, उन्हें पुत्र उत्पन्न करने पड़ते थे और उन्हें इस प्रकार शिक्षा देनी पड़ती थी कि वे भी उन्हीं के समान विद्वान् हों और अपनी संस्कृति एवं सभ्यता के अध्ययन, संवर्धन, रक्षण एवं प्रसारण में दत्तचित्त हों तथा अपने समाज के माहात्म्य को अक्षुण्ण रखे रहें।

किन्तु अब जाति-प्रथा एवं वर्ण-व्यवस्था समाप्त-सी हो रही है। लोग नाम मात्र के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र हैं। कानून द्वारा भी बहुत-से दोष दूर किये जा रहे हैं। किन्तु हो क्या रहा है? पुरानी जातियों के स्थान पर नयी जातियाँ न उत्पन्न हो जायें, इसका महान् डर उत्पन्न हो गया है। कहीं मन्त्रियों, नौकरशाही वालों, व्यावसायिक लक्षपतियों, शक्तिशाली मनुष्यों की पृथक्-पृथक् जातियाँ न बन जायें। ऐसा होने की अपेक्षा तो हमारी प्राचीन जाति-प्रथा ही अच्छी कही जायेगी। वास्तव में, राष्ट्रीयता की भावना के उद्रेक के साथ, निःशुल्क शिक्षा तथा सार्वभौम सुविधाओं आदि के द्वारा हम जाति-प्रथा के दोषों को दूर कर सकते हैं। जनता के बीच बचपन से राष्ट्रीयता की भावना को जगाना परम आवश्यक है। पूरे राष्ट्र के लिए एक शिक्षा-विधान होना चाहिए, निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए। जातिवाद को केवल गाली देने से काम नहीं चलेगा, नेता लोग स्वयं हीन स्वार्थवृत्तियों के ऊपर उठेंगे तभी आदर्शमय स्थिति की उत्पत्ति होगी। सार्वभौम आरम्भिक एवं माध्यमिक शिक्षा, अन्तर्जातीय-विवाह तथा संस्कृति विषयक प्रमुख तत्वों के प्रति बद्धमूलता (यद्यपि इस विषय में कुछ अन्तर्भेद तो रहेगा ही) से ही जातियों का विनाश हो सकता है। इसके लिए, उच्च चरित्र वाले, कर्तव्यशील एवं उत्सर्ग करने की प्रवृत्ति वाले व्यक्तियों की पर्याप्त संख्या की आवश्यकता पड़ेगी, क्योंकि ऐसे व्यक्ति ही निरपेक्ष होकर जाति-प्रथा की सड़ी-गली प्रवृत्तियों को दूर कर सकते हैं।

यह नहीं भूलना चाहिए कि उच्च आध्यात्मिक जीवन एवं मोक्ष से शूद्र लोग वञ्चित थे। यह सत्य है कि पूर्वमीमांसा ने शूद्रों के लिए वेदाध्ययन एवं यज्ञ-सम्पादन वर्जित ठहरा दिया था (६।१।२६)। किन्तु उन आरम्भिक कालों में भी ऋषि बादरि ऐसे लोगों ने प्रतिपादन किया था कि शूद्र भी वेदाध्ययन एवं यज्ञ-सम्पादन कर सकते हैं (पू० मी० सू० ६।१।२७)। यह द्रष्टव्य है कि शूद्र लोग आध्यात्मिक जीवन से वञ्चित नहीं थे, वे महाभारत (जिसमें मोक्ष-सम्बन्धी सहस्रों श्लोक हैं) के अध्ययन से, जिसे व्यास ने दया करके नारियों एवं शूद्रों के कल्याण के लिए लिखा था, जो अपने को धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र एवं मोक्षशास्त्र के नाम से पुकारता है (आदिपर्व ६२।२३), जैसा कि भागवतपुराण (१।४।२५) ने उद्घोषित किया है, मोक्ष की प्राप्ति कर सकते थे। एक बात निर्णीत थी कि शूद्र वेदाध्ययन से मोक्ष प्राप्ति नहीं कर सकते थे। शंकराचार्य (वे० सू० १।३।३८) ने व्यक्त किया है कि विदुर (आदिपर्व ६३।९६-९७ एवं ११४, १०६।२४-२८, उद्योगपर्व ४१।५) एवं धर्मव्याध (वनपर्व २०७) ऐसे शूद्र ब्रह्मविद्याविद् थे और ऐसा कहना असम्भव है कि वे मोक्ष प्राप्त करने के योग्य नहीं थे। यह द्रष्टव्य है कि वैदिक काल में भी रथकार (जो तीन उच्च जातियों में परिगणित नहीं था) को वैदिक अग्नि प्रतिष्ठापित करने की अनुमति थी और वह होम के लिए वैदिक मन्त्रों का पाठ कर सकता था तथा निषाद को (जो तीन उच्च वर्णों में नहीं था) रुद्र के लिए वैदिक मन्त्रों के साथ इष्टि करने की अनुमति प्राप्त थी। इससे स्पष्ट है कि सूत्रों एवं स्मृतियों के बहुत पहले वैदिक यज्ञों का प्रचार कुछ शूद्रों में भी था। भागवतपुराण (७।९।१०) यह मानने को सन्नद्ध है कि विष्णु भक्त जन्म से चाण्डाल, उस ब्राह्मण से जो विष्णु भक्त नहीं है, उत्तम है।

जाति-प्रथा के अन्तर्धान या तिरोहित हो जाने का (यह जब भी सम्भव हो सके) यह तात्पर्य नहीं है कि हिन्दू-धर्म में जो कुछ है और जो कुछ सहस्रों वर्षों से पूजित एवं श्लाघ्य रहा है अथवा जिसके लिए यह इतनी शतियों तक अवस्थित रहा है वह सब तिरोहित हो जायगा।

हमें अपने अधःपतन के मूल में केवल जाति-प्रथा को या इसे ही मौलिक कारण समझ कर लगातार एक ही स्वरालाप नहीं करते रहना चाहिए। मुसलमानों में कोई जाति-प्रथा नहीं है तब भी बहुत से ऐसे मुसलमानी देश हैं जो अब भी पिछड़े हुए हैं। चीन, जापान एवं दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों में हमारे देश की भाँति जाति-प्रथा नहीं है तथापि प्रथम दो देश आज से सौ वर्ष पूर्व पिछड़े हुए थे और दक्षिण-पूर्वी एशिया के बहुत-से देश एक बहुत छोटे देश हालैण्ड के (जिसकी जन-संख्या आज भी केवल सवा करोड़ है) अधीन थे। सन् १८१८ ई० से जब अंग्रेजों ने दक्षिण पर अपना अधिकार जमाया, लगभग १३० वर्षों तक जो भी भारत में राजकीय शक्ति विद्यमान थी वह लगभग ६०० छोटी-छोटी रियासतों में विभक्त थी, जिनमें क्षत्रियों एवं अन्य लोगों का आधिपत्य था, उन ६०० रियासतों पर लगभग एक दर्जन से अधिक ब्राह्मणों का आधिपत्य नहीं था। जो कुछ भी व्यापार एवं वाणिज्य था अथवा जो कुछ अंग्रेजों ने भारतीयों को इस विषय में अनुमति दे रखी थी, वह पारसियों, भाटियों, बनियों मारवाड़ियों, जैनों एवं लिंगायतों तक ही सीमित था, ब्राह्मणों को व्यापार एवं वाणिज्य में कोई भाग प्राप्त न था। तिलक ऐसे ब्राह्मण राजनीतिज्ञों ने ही स्वदेशी का नारा बुलन्द किया। बंगाल तथा उसके सन्निकट के अन्य भूमि-भागों को, जहाँ लार्ड कार्नवालिस द्वारा जमीन्दारी प्रथा प्रचलित की गयी थी, छोड़कर सभी स्थानों में कृषि तथा लेन-देन अधिकांशतः अब्राह्मण लोगों में पाया जाता था। शतियों तक अधःपतन के गर्त में जो हम पड़ते गये उसका एक प्रमुख कारण था हममें (चाहे हम उच्च हों या नीच) कुछ विशिष्ट गुणों एवं विचारधाराओं का अभाव। अतः अब हमें जाति-प्रथा को ही लेकर बार-बार अपने अधःपतन के कारण के लिए अपने को अपराधी नहीं सिद्ध करते रहना चाहिए, प्रत्युत इसके दोषों को दूर करने के लिए कटिबद्ध हो जाना चाहिए और कर्तव्य के लिए कर्तव्य करने की प्रवृत्ति, उच्च उद्योग, उच्च नैतिक चरित्र, राष्ट्रीयता, स्वतन्त्रता एवं न्याय ऐसे सद्गुणों को अपने में उत्पन्न करना चाहिए।

(७) **आश्रम**—हमारी संस्कृति की एक विशेषता है आश्रम-पद्धति, जो ईसा के पूर्व कई शतियों तक समाज में विद्यमान थी। वैदिक संहिताओं या ब्राह्मणों में 'आश्रम' शब्द नहीं आता। श्वेताश्वतरोपनिषद् (६।२१) में 'अत्याश्रमिभ्यः' शब्द आया है जिससे व्यक्त होता है कि 'आश्रम' शब्द उन दिनों प्रचलित था। एक व्यापक शब्द, जिसमें बहुत सारी बातें समन्वित होती हैं, तभी बन पाता है जब उसके अन्य सहयोगी अंग कई शतियों तक प्रचलित हो गये रहते हैं। 'श्राद्ध' शब्द प्राचीन वैदिक वचनों में नहीं पाया जाता, यद्यपि **पिण्डपितृयज्ञ** (अग्निहोत्री द्वारा प्रत्येक अमावास्या पर किया जाने वाला), **महापितृयज्ञ** (साकमेध नामक चातुर्मास्य कृत्य में सम्पादित होने वाला) एवं **अष्टका** कृत्य (ये सभी पितरों के सम्मान में किये जाते हैं), आरम्भिक वैदिक साहित्य में भली भाँति विदित थे। इसी प्रकार कुछ आश्रम निश्चित रूप से ऋग्वेद के काल में ज्ञात थे। सूत्र साहित्य के काल के बहुत पहले से आश्रमों की संख्या चार थी, यथा—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ्य या वैखानस (गौतम ३।२), संन्यास या मौन या परिव्राज्य या प्रव्रज्या या भिक्षु (गौतम ३।२)।[१५] आश्रमों का वर्णन इस महाग्रन्थ के मूल खण्ड २ के पृष्ठ ३४६-

१५. चत्वार आश्रमा गार्हस्थ्यमाचार्यकुलं मौनं वानप्रस्थ्यमिति। आप० ध० सू० (२।९।२१।१), शंकराचार्य द्वारा वे० सू० (३।१।४७) के भाष्य में उद्धृत।

३८२, ४१६-४२६, ८१८-८२८ तथा ८३०-८७५ में विस्तार के साथ हुआ है । ऋग्वेद (६।४।८; १०।७, १२।६, १७।१५, २४।१०—सभी में सौ वर्ष जो शीत ऋतु से द्योतित होते थे) के काल से ही मनुष्य की आयु सौ वर्षों की मानी जाती थी (ऋ० ७।१०१।६, १०।१६१।३ एवं ४, यहाँ 'शरद्' शब्द का उल्लेख हुआ है)। यह कोई नहीं कह सकता था कि मनुष्य कब तक जीवित रहेगा, अतः यह नहीं कहा जा सकता था कि प्रत्येक विभाग (आश्रम) २५ वर्षों का था, अतः इसका यही तात्पर्य था कि यदि व्यक्ति लम्बी आयु तक जीवित रहे तो वह चारों अवस्थाओं (आश्रमों) को पार कर सकता था। 'ब्रह्मचारी' शब्द ऋ० (१०।१०९।५) एवं तै० सं० (६।३।१०।११) में आया है, 'ब्रह्मचर्य' शब्द तै० सं० (६।३।१०।५) एवं तै० ब्रा० (३।१०।११) में प्रयुक्त हुआ है। ऋ० (६।५३।२) में 'गृहपति' शब्द आया है जिसका अर्थ है गृहस्थ। इन्द्र को मुनियों का मित्र कहा गया है (ऋ० ८।१७।१४) तथा यतियों के बारे में आया है कि उन्होंने इन्द्र की स्तुति की (ऋ० ८।६।१८)। कठोपनिषद् (४।१५) में प्रयुक्त 'मुनि' शब्द संन्यासी का द्योतक है। बृ० उप० (४।४।२२) में आया है कि परमात्मा विश्व का प्रभु है, ब्राह्मण लोग उसे वेदाध्ययन, यज्ञ-सम्पादन, दान, तप, उपवास से जानने का प्रयास करते हैं और उस ब्रह्म को जानने के उपरान्त व्यक्ति मुनि हो जाता है तथा इस अवस्था को चाहने वाला केवल भ्रमण करने वाला (संन्यासी) ही उसमें आता है (अर्थात् वही इस आश्रम में आता है)। यहाँ पर तप करने वालों को प्रव्रज्या से पहले ही रखा गया है। और देखिए छा० उप० (२।२३।१) जहाँ धर्म की तीन शाखाओं का उल्लेख है, इन तीन शाखाओं को तीन आश्रमों की संज्ञा दी जा सकती है तथा 'जो ब्रह्म में सुस्थिर रूप से अवस्थित है, वह अमरता प्राप्त करता है' को चौथे आश्रम का द्योतक माना जा सकता है। वानप्रस्थ्य एवं संन्यास के नियमों में बहुत समानता है, अन्तर केवल थोड़ी सी बातों में ही है। बृ० उप० (२।४।१ एवं ४।५।२) में जहाँ 'प्रव्रजिष्यन' शब्द का प्रयोग 'उद्यास्यन्' (२।४।१) के लिए हुआ है, उससे प्रकट होता है कि याज्ञवल्क्य गृहस्थ होने के उपरान्त संन्यासी (परिव्राजक) हो गये। आगे चल कर कलिवर्ज्य कर्मों में वानप्रस्थ का आश्रम भी सम्मिलित कर लिया गया। देखिए सभी प्रकार के विस्तृत अध्ययन के लिए इस महाग्रन्थ का मूल खण्ड २, पृ० ४२०, ४२४–४२५, ६४०–४१ तथा प्रस्तुत मूल खण्ड का पृ० १०२६–२७।

संन्यासाश्रम या यति का आश्रम अत्यन्त समादृत था, क्योंकि इससे मोक्ष की प्राप्ति होती थी। इसका फल यह हुआ कि बहुत से लोग, जो इस आश्रम अर्थात् संन्यासी होने के लिए सर्वथा अयोग्य होते थे, इसमें प्रविष्ट हो जाते थे और उनमें सभी बाह्य लक्षण , यथा—गेरुआ वस्त्र धारण करना, सिर मुँड़ा लेना, तीन दण्ड धारण करना एवं कमण्डलु धारण करना, पाये जाते थे। ऐसे लोगों की महाभारत में भर्त्सना की गयी है (शान्ति पर्व ३०८।४७=३२०।४७ चित्रशाला संस्करण)। याज्ञ० (३।५८) में आया है कि संन्यासी को सभी प्राणियों के लिए अच्छा होना चाहिए, शान्त रहना चाहिए, तीन दण्ड धारण करने चाहिए, कमण्डलु (जल-पात्र) रखना चाहिए और भिक्षा के लिए ही ग्राम में प्रवेश करना चाहिए। कुछ लोगों ने 'त्रिदण्डी' को 'तीन दण्ड' धारण करने वाले के अर्थ में लिया है, किन्तु मनु (१२।१०) एवं दक्ष (७।३०) के के अनुसार त्रिदण्डी वह है जो तीन प्रकार का संयम रखता है, यथा वाणी, मन एवं शरीर का संयम। संन्यासी का समाज में बड़ा आदर था और यदि धर्म सम्बन्धी कोई समस्या होती थी तो केवल एक संन्यासी परिषद् का कार्य कर सकता था और उसका निर्णय उचित ठहराया जाता था। देखिए इस महाग्रन्थ का मूल खण्ड २, पृ० ९६९। इतना ही नहीं, श्राद्ध में भोजन करने के लिए भी यति को बुलाने पर बड़ा बल दिया गया है (देखिए इस महाग्रन्थ का मूल खण्ड ४, पृ० ३८८, ३९९)। बृहज्जातक (अध्याय १५) में आया है कि यदि एक ही राशि में चार या अधिक शक्तिशाली ग्रहों के योग में विभिन्न प्रकार के संन्यासी उत्पन्न हों तो उन चार

या अधिक ग्रहों में यदि क्रम से मंगल, बुध, बृहस्पति, चन्द्र, शुक्र, शनि या सूर्य प्रबल होंगे तो उस कुण्डली वाला व्यक्ति क्रम से बौद्ध, आजीवक, भिक्षु (वैदिक संन्यासी), वृद्ध (कापालिक), चरक, निर्ग्रन्थ (जैन संन्यासी) या वह संन्यासी होता है जो वन में उत्पन्न होने वाले कन्द-मूल-फलों पर निर्वाह करता है। इससे सिद्ध होता है कि वराहमिहिर (छठी शती) के बहुत पहले से भारत में संन्यासियों के कई प्रकार प्रसिद्ध हो चुके थे।

वर्ण-पद्धति ने सम्पूर्ण समाज को कई दलों में बाँट दिया था और उसका सम्बन्ध पूरे जन-समुदाय से था, किन्तु आश्रम-सिद्धान्त समाज के सदस्यों को सम्बोधित था और उनके समक्ष एक ऐसा मापदण्ड था जिसके अनुसार वे अपने जीवन को व्यवस्थित क्रम में रख सकते थे और यह जान सकते थे कि विभिन्न लक्ष्यों के लिए किस प्रकार की तैयारियाँ करनी हैं। ड्यूशन ने अपने ग्रन्थ 'फिलॉसॉफी आव दि उपनिषद्स' (अंग्रेजी अनुवाद, १९०६ पृ० ३६७) में आश्रम-सिद्धान्त के विषय में लिखा है—'मानव-समाज के इतिहास की इतनी अधिक उपलब्धि नहीं है कि वह इस विचार (आश्रम व्यवस्था) की उत्कृष्टता के पास आ सके (अर्थात् इसकी श्रेष्ठता को प्राप्त कर सके)।'

(८) **कर्म एवं पुनर्जन्म का सिद्धान्त**—हिन्दू धर्म एवं दर्शन से सम्बन्धित जितने मौलिक सिद्धान्त हैं उनमें कर्म एवं पुनर्जन्म का सिद्धान्त भी अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है। यह बहुत-सी बातों में विलक्षण है, विशेषतः इस बात में कि आरम्भिक काल से ही इसका अपना विशिष्ट साहित्य निरन्तर गति से चलता एवं बढ़ता है। इस विषय में हमने विशद रूप से गत अध्याय में पढ़ लिया है। यहाँ पर कुछ और कहना आवश्यक नहीं है।

(९) **अहिंसा का सिद्धान्त**—इस विषय में उपनिषदों, महाभारत, धर्मशास्त्रों एवं पुराणों में जो कुछ कहा गया है उसे हमने इस महाग्रन्थ के मूलखण्ड २, पृ० १० एवं प्रस्तुत खण्ड के मूल पृ० ९४४–९४७ में लिख दिया है। कुछ बातें संक्षेप में यहाँ दी जा रही हैं। ऋग्वेद में क्रतु एवं **यज्ञ** शब्द सैकड़ों बार प्रयुक्त हुए हैं। दोनों में अन्तर इस प्रकार प्रकट किया जाता है कि 'यज्ञ' शब्द बड़े सामान्य ढंग से भी प्रयुक्त होता रहा है (इसके अन्तर्गत मनु ३।७० द्वारा व्यवस्थित प्रतिदिन के पाँच धार्मिक कृत्य भी सम्मिलित हैं), किन्तु क्रतु का सम्बन्ध सोमयाग ऐसे पवित्र वैदिक यज्ञों से है। पाणिनि (४।३।६८) ने दोनों को पृथक्-पृथक् उल्लिखित किया है और यही बात गीता (९।१६, अहं क्रतुरहं यज्ञः) में भी पायी जाती है। इन यज्ञों में पशु की बलि होती थी, किन्तु सभी यज्ञों में नहीं। क्रमशः यह ऋग्वेदीय काल में भी सोचा जाने लगा कि अग्नि की पूजा समिधा से की जा सकती है, या पके भोजन से या घृत से या वेदाध्ययन से या प्रणामों से या किसी पवित्र यज्ञ से की जा सकती है; इस विषय में ये सभी बराबर हैं और ऐसे उपासक को (शत्रुओं से युद्ध करने के लिए) तेज चलने वाले घोड़ों का पुरस्कार मिलता है, गौरव मिलता है और उसे किसी प्रकार की दैवी या मानवी विपत्ति का सामना नहीं करना पड़ता है (ऋ० ८।१९।५–६)। कुछ ब्राह्मण-ग्रन्थों की उक्तियाँ भी इसी प्रकार की हैं। ऐतरेय ब्रा० (६।९) में आया है— 'जो पुरोडाश से यज्ञ करता है वह पशुओं के मेध (यज्ञ) के समान ही यज्ञ करता है।'[१९] तै० ब्रा० (३।९।३।३) में आया है कि वन के यज्ञिय पशु अग्नि के चतुर्दिक घुमा दिये जाने के उपरान्त अहिंसा के विचार से छोड़

१९. **सर्वेषां वा एष पशूनां मेधेन यजते यः पुरोडाशेन यजते। ऐ० ब्रा० (६।९); पर्यग्निकृतानारण्यानुत्सृजन्त्यहिंसायै। तै० ब्रा० (३।९।३।३)।**

दिये जाते हैं। डा० ए० श्विट्ज़र ने अपने ग्रन्थ 'इण्डियन थॉट एण्ड इट्स डेवलपमेण्ट' (श्रीमती रसेल द्वारा अंग्रेजी में अनूदित, १९३६) में बड़े प्रयास के साथ अपनी धारणा के अनुसार 'भारतीय विचार के 'लोक एवं अभावात्मक जीवन' एवं ईसाई धर्म के 'लोक एवं भावात्मक जीवन' में अन्तर्भेद प्रकट किया है और विषयान्तर के रूप में टिप्पणी की है (पृ० ८०)–'अहिंसा सम्बन्धी धार्मिक अनुशासन करुणा की भावना का उद्रेक नहीं है, प्रत्युत यह व्यक्ति को अदूषित रखने की भावना से उत्पन्न हुआ है।' विद्वान् लेखक ने कतिपय बातों पर ध्यान नहीं दिया है:––(१) अहिंसा के विषय में छान्दोग्योपनिषद् एवं अन्य उक्तियों में पाये जाने वाले शौच के विषय में एक शब्द भी नहीं कहा गया है। (२) किसी व्यक्ति को पीड़ा न देने के बारे में जो व्यवस्था दी हुई है (छान्दोग्योपनिषद्) उसके पूर्व ही ऐसा आया है–'आत्मा में अपनी सभी इन्द्रियों को केन्द्रित करके।' इसका तात्पर्य यह है कि जो यह जानता है और इसकी अनुभूति करता है कि सभी कुछ ब्रह्म है, उसे अन्यों को पीड़ा नहीं देनी चाहिए, क्योंकि वे सभी ब्रह्म हैं, यह शौच या दूषण के आधार पर नहीं है। महाभारत एवं स्मृतियों में, जो उपनिषदों से बहुत दूर के ग्रन्थ नहीं हैं, अहिंसा एवं शौच (पवित्रता) पृथक्-पृथक् रूप से सभी वर्णों के लिए अन्य कर्त्तव्यों (धर्मों) के साथ उल्लिखित हैं। गौतमधर्मसूत्र (८।२३–२४) ने सभी द्विजों के लिए आठ गुणों का उल्लेख किया है, यथा––सभी जीवों के प्रति करुणा, सहिष्णुता, विद्वेष रहितता, (अपने प्रति) अत्यधिक हानि का अभाव, पवित्र कार्य-सम्पादन, कृपणता का अभाव तथा असन्तोष का अभाव। और देखिए मत्स्यपुराण (५२।८–१०), अत्रिस्मृति (३४–४१) । मनु (५।४६=विष्णुधर्मसूत्र ५१।६९) में व्यवस्था है–'जो जीवित प्राणियों को पिंजड़े में रखना या मारना या पीड़ा पहुँचाना नहीं चाहता, वह सर्वोच्च (अनन्त) सुख पाता है।' शौच बाह्य (शारीरिक) एवं आन्तरिक (मानसिक) दोनों होता है। मनु (५।१०६) ने स्पष्ट लिखा है कि जो रुपये-पैसे के विषयों में पवित्र है वह वास्तव में पवित्र है, किन्तु वह नहीं जो अपने को मिट्टी या जल से स्वच्छ करता है। यह द्रष्टव्य है कि शान्तिपर्व (१५६।४–५=१६२।४–५ चित्रशाला संस्करण) में सत्य को दिव्य रूप दिया गया है और उसे प्राचीन धर्म एवं स्वयं ब्रह्म कहा गया है और पुनः श्लोक ७–९ में सत्य को तेरह रूपों में व्यक्त किया गया है, यथा– **त्याग, समता, दम** (इन्द्रिय-संयम), **क्षमा, ह्री** (अपने कर्मों के विषय में अभिमान प्रकट करने में लज्जा का अनुभव करना), **अनसूया** (विद्वेष का अभाव), **दया**. . और अन्त में तेरहवाँ सत्य का प्रकार है **अहिंसा**।

जैन धर्म में अहिंसा की पूर्ण शिक्षा दी गयी है और उसे कार्यान्वित किया गया है। किंतु इस विषय में बुद्ध का विचार समन्वयवादी है। जब पशु का हनन प्रस्तुत व्यक्ति के उपयोगार्थ न किया गया हो अथवा उसके आतिथ्य के लिए न किया गया हो तो बुद्ध ऐसे मांस के खा लेने में कोई आपत्ति नहीं मानते थे।

(१०) **तीन मार्ग––कर्मयोग, भक्तियोग एवं ज्ञानमार्गः**–इन तीन मार्गों के विषय में हमने इस खण्ड के अध्याय २४ एवं ३२ में सविस्तार पढ़ लिया है। भगवद्गीता ने और आगे बढ़कर एक सिद्धान्त प्रतिपादित किया है जिसे **निष्काम-कर्मयोग** कहा जाता है, जिसकी व्याख्या इस खण्ड के अध्याय २४ में हो चुकी है। बिना फल की आकांक्षा किये अपने कर्त्तव्य को करते जाना ईश्वर की पूजा है।

(११) **अधिकार-भेद**––अति प्राचीन काल से इस बात की परख कर ली गयी थी कि धार्मिक उपासना एवं दार्शनिक सिद्धान्तों के विषयों में मनुष्यों के बीच विभिन्न श्रेणियाँ पायी जाती हैं। सभी लोग गूढ़ एवं दुर्ज्ञेय आध्यात्मिक सिद्धान्तों को समझ लेने एवं उपासना की उच्च प्रणालियों का अनुसरण करने में समर्थ नहीं होते। देखिए इस खण्ड का अध्याय २४ एवं ३२। गूढ़ दार्शनिक बातों को समझ लेने में सब लोग समर्थ नहीं हो पाते, अतः उपनिषदों में इस प्रकार की विज्ञप्तियाँ प्रकाशित होती रही हैं कि ब्रह्मज्ञान सबको

न दिया जाय और उसे गुप्त रखा जाय। देखिए इस खण्ड का अध्याय २६ एवं छान्दोग्योपनिषद् (३।२।५, इस खण्ड का अध्याय ३२), श्वेताश्वतरोपनिषद् (६।२२), कठोपनिषद् (३।१७), बृह० उप० (३।२।१३, याज्ञवल्क्य एवं आर्तभाग ने ब्रह्म के विषय में सबके समक्ष विवेचन नहीं किया)। 'उपनिषद्' शब्द का अर्थ ही 'गुप्त सिद्धान्त' हो गया (तै० उप० २।६ एवं ३।१०)। अन्य प्राचीन देशों में भी गूढ़ सिद्धान्तों को गुप्त रखने की परम्परा थी (देखिए सेण्ट मार्क ४।११, ३४–३५)। हठयोगप्रदीपिका (१।११) में भी इसी प्रकार की व्यवस्थाएँ पायी जाती हैं (अध्याय ३२) [१७]। आधुनिक काल में बहुत-से लेखक मूर्तिपूजकों की भर्त्सना करते हैं। इस विषय में देखिए इस खण्ड का अध्याय २४। गणेश या काली या सरस्वती या लक्ष्मी की मूर्तियों के पूजक पूजा या उत्सव के उपरान्त उन मूर्तियों को जल (नदी, तालाब, पुष्करिणी आदि) में प्रवाहित कर देते हैं। इससे स्पष्ट है कि पूजक लोग काष्ठ या मिट्टी की वस्तु की पूजा नहीं करते, प्रत्युत उनके मन में भगवान या किसी देवता के प्रति एक संवेगात्मक भावना होती है, जो उस वस्तु में कुछ समय के लिए प्रतिष्ठापित रहती है। यदि जन-साधारण से प्रश्न किया जाय तो यही उत्तर मिलेगा कि 'परमात्मा सभी स्थान में हैं, तुम में हैं, मुझ में हैं और काष्ठ की मूर्त्ति में हैं' —'हममें तुममें, खड्ग-खम्भ में, सबमें व्यापक राम' एक पुरानी कहावत है। नृसिंह पुराण (६२।५–६, अपरार्क द्वारा याज्ञ० १।१०१ की टीका में उद्धृत, पृ० १४०) में आया है कि मुनियों के अनुसार हरि की पूजा ६ प्रकार से की जा सकती है, यथा—जल में, अग्नि में, अपने हृदय में, सूर्य मण्डल में, वेदिका पर या मूर्ति में [१८]। विष्णुधर्मोत्तरपुराण को यह बात ज्ञात थी कि मूर्ति-पूजा का प्रचलन बहुत काल उपरान्त कलियुग में हुआ है (३।९३।५–७ एवं २०)। यूरोप में बहुत-से ईसाइयों के धर्म में मूर्ति-पूजा देखी जाती है [१९]। प्रस्तुत लेखक ने अपनी आँखों से देखा है कि यूरोप के बहुत-से चर्चों में मडोन्ना एवं सन्तों की मूर्तियाँ रखी रहती हैं, जिनकी पूजा की जाती है और जिनके समक्ष प्रार्थनाएँ की जाती हैं। अतः यदि यह कहा जाय कि यूरोप के बहुत से इसाई मूर्ति-पूजक हैं, तो इसे कोई असत्य नहीं सिद्ध कर सकता। चार्वाक को छोड़ कर सभी दर्शनों को लगभग सत्य के सन्निकट समझा गया है। सभी के मिथ्या तथा किसी एक के सत्य होने की बात ही नहीं उठती।

(१२) **विशाल संस्कृत साहित्य**—भारत ने कम-से-कम तीन सहस्र वर्षों के भीतर तलस्पर्शी विशाल संस्कृत साहित्य का निर्माण किया। साहित्य के विविध रूपों का जिस प्रकार संवर्धन भारत में हुआ है, वैसा संसार के किसी भी देश में सम्भव नहीं हो सका है। जीवन का कोई भी अंश ऐसा नहीं है, जिस पर संस्कृत

१७. हठविद्या परं गोप्या योगिना सिद्धिमिच्छता।
भवेद्वीर्यवती गुप्ता निर्वीर्या तु प्रकाशिता।। हठयोगप्रदीपिका (१।११)

१८. अप्स्वग्नौ हृदये सूर्ये स्थण्डिले प्रतिमासु च। षट्स्वेतेषु हरेः सम्यगर्चनं मुनिभिः स्मृतम्।। अग्नौ क्रियावतां देवो... योगिनां हृदये हरिः।। नृसिंहपुराण (६२।५-६)। देखिए स्मृतिचन्द्रिका (आह्निक, पृ० १९८, घर्पुरे द्वारा सम्पादित) जिसमें इसी विषय में हारीत एवं मरीचि की स्मृतियों के श्लोक उद्धृत हैं। देखिए विष्णुधर्मोत्तर पुराण (३।९३।५-७ एवं २०)।

१९. देखिए सर चार्ल्स इलियट कृत 'हिन्दूइज्म एण्ड बुद्धिज्म' (खण्ड–१), जहाँ इसी प्रकार का दृष्टिकोण व्यक्त किया गया है। और देखिए विलियम जेम्स कृत 'वेराइटीज आव रिलिजिएस एक्सपीरिएंस' (पृ० ५२५-५२७) एवं सर आलिवर लॉज कृत 'मैन एण्ड दि यूनिवर्स' (लण्डन, १९०८, पृ० २४६-२४७)।

में कुछ लिखा न गया हो। यह विशाल संस्कृत साहित्य अपनी बहुत-सी व्यापक एवं मार्मिक प्रवृत्तियों के साथ तिब्बत, चीन, जावा आदि देशों में चला गया था। भारत ने अपने साहित्य से मुसलमानों एवं यूरोप वालों के प्रबुद्ध संसार को प्रभावित किया। भारत विश्व का गणित-गुरु है। दशमलव-पद्धति, जिस पर आधुनिक गणित आधृत है, भारत की देन है। भारत की आख्यायिकाओं (प्रबन्ध-कल्पनाओं) एवं वेदान्त-पद्धति ने भी मुसलमानों एवं यूरोप वालों को प्रभावित किया। देखिए इस विषय में विण्टरनित्स कृत 'सम प्राब्लेम्स आव इण्डियन लिटरेचर' (रीडरशिप लेक्चर्स, कलकत्ता विश्वविद्यालय, पृ० ५६-८१), जहाँ उन्होंने पश्चिम के ऊपर पड़े संस्कृत साहित्य के प्रभाव का मार्मिक उल्लेख किया है। संस्कृत साहित्य का जो अध्ययन यूरोप-वासियों द्वारा १८ वीं शती के अन्त में तथा १९ वीं शती में हुआ उससे कई विज्ञानों के अध्ययन-अध्यापन की नींव पड़ी, यथा भाषा-शास्त्र, तुलनात्मक धर्म-विज्ञान, विचार-विज्ञान एवं प्राचीन आख्यायिका-विज्ञान आदि। वेबर, मैक्समूलर, विण्टरनित्ज, कीथ, एम० कृष्णमाचारियर ऐसे विद्वानों द्वारा लिखित संस्कृत साहित्य के कतिपय इतिहास हैं, जो विशाल संस्कृत साहित्य पर प्रभूत प्रकाश डालते हैं। भारत ने अपने एवं सारे संसार के लिए एक ऐसा विशाल साहित्य रख छोड़ा है, जिसके सबसे महत्त्वपूर्ण एवं उच्च भाग का प्रमुख आशय यह है कि व्यक्ति को इन्द्रियों को संयमित करने तथा नैतिकता एवं आध्यात्मिकता की उच्च से उच्च भूमिका तक पहुँचने का प्रयास कभी नहीं छोड़ना चाहिए। संस्कृत साहित्य की प्रशंसा में एच० एच० गोवेन ने अपने ग्रन्थ 'ए हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर' (१९३१, पृ० ८) में जो कुछ लिखा है उस की उक्ति पठनीय है :—'भारतीय साहित्य का एक यथार्थ सत्य मूल्य (लक्ष्य) है, जिसे काल की दूरी नष्ट नहीं कर सकती। पुनीतता, विविधता एवं अजस्रता में कोई भी अन्य साहित्य इसकी तुलना में खड़ा नहीं हो सकता, यह निश्चित है कि कोई भी इससे बढ़ कर नहीं है। पवित्रता में कोई अन्य (धार्मिक) शास्त्र, यहाँ तक कि बाइबिल भी, वेद से उसकी अजस्रता (लगातार चलते जाने) या सामान्य स्वीकृति में, तुलना नहीं कर सकता।' उन्होंने भारतीय साहित्य की विविधता एवं उसके महत्त्वपूर्ण अजस्र प्रवाह की भी विवेचना की है। परिनिष्ठित संस्कृत वाणी सर्वप्रथम कम-से-कम ई० पू० ५०० में पुष्पित हुई। पाणिनि ने कम-से-कम अपने दस पूर्ववर्तियों के नाम लिये हैं और उनके सूत्र ४।३।८७ एवं ८८ स्पष्ट रूप से व्यञ्जित करते हैं कि पाणिनि काल के पूर्व पर्याप्त मात्रा में अवैदिक साहित्य समृद्ध हो गया था।

(१३) **योग**—इसके विषय में एक लम्बा अध्याय लिखा जा चुका है। देखिए इस खण्ड का अध्याय ३२। अखिल विश्व में योग के समान कदाचित् ही कोई अन्य मानसिक एवं नैतिक अनुशासन इतने सुन्दर ढंग से आलोचित और बहु विस्तृत पद्धति वाला रहा हो। मर्सिया इलियाड ने अपने ग्रन्थ 'योग, इम्मॉर्टैलिटी एंड फ्रीडम' (विलियम आर० ट्रैस्क द्वारा अनूदित, १९५८, पृ० ३५९) में लिखा है—'योग भारतीय मन की विशिष्ट मात्रा का द्योतक है' यह आध्यात्मिक परिकल्पनाओं एवं रूढ़िबद्ध क्रिया-संस्कार विधि की प्रति-क्रिया है।' पाश्चात्य मन, जो आर्थिक समृद्धि के आधिक्य का अनुभव कर चुका है और आजकल के संकटों एवं मानसिक संक्षोभों से आक्रान्त है, योग एवं वेदान्त ऐसे दार्शनिक सिद्धान्त की ओर अधिक-से अधिक झुक रहा है। आजकल कुल लोगों पर उन्माद-सा छा गया है और वे योग सम्बन्धी विविध ग्रन्थों को पढ़ा-पढ़ा कर कुछ विलणक्षता की प्राप्ति के पीछे पड़ गये हैं। बहुत-सी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं और होती जा रही है। इनमें से कुछ ऐसी पुस्तकें हैं जो सच्चे व्यक्तियों द्वारा लिखित हैं, किन्तु उनमें व्यावहारिक अनुभूति, योग-सम्बन्धी व्यक्तिगत अनुभव या रहस्यवादी अनुभूति का बड़ा भारी अभाव पाया जाता है। कुछ ऐसी पुस्तकें हैं जो ऐसे लोगों द्वारा लिखत हैं जो योग के पीछे पागल बने लोगों की भावना से लाभ उठाते

हैं और सस्ती ख्याति कमाते हैं। क्रिस्टोफर ईशरवुड द्वारा सम्पादित 'वेदान्त फार दि वेस्टर्न वर्ल्ड' (एलेन एण्ड अन्विन, लण्डन, १६४८) में प्रसिद्ध लेखक आल्डुअस हक्सले ने रहस्यवाद एवं योग की पुस्तकों के बाहुल्य से लोगों को सावधान किया है (पृ० ३७६)

(१४) **दर्शन**—हमारे दर्शन के अधिकांश का केन्द्रीय बिन्दु छा० उप० (६।१) में पाया जाता है, जहाँ उद्दालक ने अपने अभिमानी पुत्र श्वेतकेतु से कहा है—'क्या तुमने उस शिक्षा के बारे में पूछा है जिसके द्वारा व्यक्ति वह सुनता है जो सुना नहीं जा सकता, जिसके द्वारा वह प्रत्यक्षीकृत किया जाता है जिसका प्रत्यक्षीकरण नहीं हो सकता तथा वह जाना जाता है जो नहीं जाना जा सकता;' और जब श्वेतकेतु ने उस शिक्षा के बारे में पूछा तो उद्दालक ने उसकी लम्बी व्याख्या की (६।१—१६) और अन्त में इन शब्दों में निष्कर्ष निकाला—'तत्त्वमसि' (तुम वह आत्मा हो)। भारतीय दर्शन बहुमुखी है और उसकी विविध शाखाओं में जो ज्ञान भरा पड़ा है वह संसार के किसी भी प्राचीन देश में नहीं पाया जाता। 'सर्व दर्शन संग्रह' में अद्वैत सिद्धान्त के अतिरिक्त पन्द्रह विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्त संक्षिप्त रूप से विवेचित हैं। मुख्य दर्शन छह हैं—सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्व मीमांसा एवं उत्तर मीमांसा (या वेदान्त), जिनके विषय में हमने प्रस्तुत खण्ड के कतिपय अध्यायों (२८—३२) में पढ़ लिया है, और देख लिया है कि उनका धर्मशास्त्र से क्या सम्बन्ध है। भारतीय दर्शन के विशिष्ट रूप ये हैं—यह आध्यात्मिकता पर विशेष ध्यान देता है, इसे जीवन में उतारना है न कि केवल विवेचन मात्र करना है, यह वास्तविक तत्त्व की खोज करता है, इसके लिए एक नैतिक भूमिका अनिवार्य है, सत्य की खोज के लिए तर्क का विस्तृत रूप से आश्रय लिया जाता है तथा परम्परा एवं प्रमाण को स्वीकार किया जाता है। चार्वाक के अतिरिक्त सभी दर्शनों का सम्बन्ध मोक्ष (जिसके कई नाम हैं, यथा—मोक्ष, कैवल्य, निर्वाण, अमृतत्व, निःश्रेयस, अपवर्ग) से है और सभी (चार्वाक को छोड़ कर) कर्म एवं पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं। भारतीय दर्शन के विषय में यहाँ पर कुछ और लिखना आवश्यक नहीं है।

(१५) **कलाएं, स्थापत्य, तक्षण, चित्रकारी**—इन विषयों पर बहुत-से ग्रन्थ लिखे गये हैं। भारत के प्राचीन स्मारकों में जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं उनमें साँची के स्तूप, अजन्ता की गुफाओं की चित्रकारी, एलोरा का कैलास मन्दिर एवं कोणार्क का मन्दिर अत्यन्त प्रभावशाली हैं।

कुछ पुराणों में इन विषयों का उल्लेख हुआ है। मत्स्यपुराण (२५२।२—४) ने वास्तुशास्त्र के १८ व्याख्याताओं के नाम लिये हैं, यथा—भृगु, अत्रि, वसिष्ठ, विश्वकर्मा, मय, नारद, नग्नजित्, विशालाक्ष, पुरन्दर, ब्रह्मा, कुमार, नन्दीश, शौनक, गर्ग, वासुदेव, अनिरुद्ध, शुक्र एवं बृहस्पति। अध्याय २५३—२५७ में प्रासादों एवं भवनों के निर्माण तथा अध्याय २५८—२६३ में देव-प्रतिमाओं के निर्माण का विवेचन है। और देखिए वायुपुराण (८।१०८, जहाँ राजधानी के निर्माण का उल्लेख है), अग्निपुराण (अध्याय ४२, १०४—१०६)। विष्णुधर्मोत्तर का तीसरा परिच्छेद **चित्रसूत्र** कहलाता है, क्योंकि नृत्य प्रमुख कला है और चित्र कला उस पर आधृत है। कहा गया है कि चित्रकला सभी कलाओं में श्रेष्ठ है (३।३३।३८), वह घर की सर्वोच्च शुभ वस्तु है तथा जो नियम चित्रकला में प्रयुक्त होते हैं वे धातुओं, पाषाण एवं काष्ठ की मूर्तियों के निर्माण में भी उपयोगी होते हैं। (३।४३।३१—३२)। और देखिए अध्याय ३६—४३ (चित्रकला), ४४—८५ (मूर्ति-निर्माण) तथा अध्याय ८६ (गृह-निर्माण)। वराहमिहिर (५००—५५० ई०) द्वारा प्रणीत बृहत्संहिता (म० म० सुधाकर द्विवेदी द्वारा सम्पादित, १८६५) में राजा, प्रमुख राजकुमार एवं अन्य लोगों के प्रासादों, भवनों एवं घरों के निर्माण का उल्लेख है। अध्याय ५२ में देव-मन्दिरों, अध्याय ५३ में देव-प्रतिमाओं,

अध्याय ५७ में राम, विष्णु, ब्रह्मा, इन्द्र, शिव, बुद्ध, जिन, सूर्य, लिंग, माता देवी, यम की मूर्तियों तथा अध्याय ६८ में पाँच प्रकार के मनुष्यों, यथा—हंस, शश, रुचक, भद्र एवं मालव्य की मूर्तियों तथा उनके शारीरिक रूपों का विवेचन है। ऐसे अन्य ग्रन्थ भी हैं, यथा—भोज का युक्तिकल्पतरु, सोमेश्वर की अभिलषितार्थचिन्तामणि (अन्य नाम मानसोल्लास), शिल्परत्न (त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सीरीज) एवं मयमत (त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज)। भारतीय कला की अपनी विशेषताएँ हैं। प्राचीन चित्रकारियाँ अजन्ता की गुफाओं, ग्वालियर की बाघ-गुफाओं एवं श्रीलंका में सिगिरिय की गुफाओं में पायी जाती हैं। स्थानाभाव से हम भारतीय कला, विशेषतः चित्रकारी एवं तक्षण-शिल्प के विषय में कुछ विशेष नहीं लिख सकेंगे।

वास्तुकला, मूर्तिनिर्माण कला, चित्रकला आदि के विषय में बहुत से ग्रन्थ प्रकाशित हैं, कुछ के नाम नीचे दिये जाते हैं—

(१) **ई० बी० हैवेल** कृत 'इण्डियन स्कल्पचर एण्ड पेंटिंग (लण्डन, १९०८)।

(२) **वी० ए० स्मिथ** कृत 'हिस्ट्री आव फाइन आर्ट इन इण्डिया एण्ड सीलोन' १९११।

(३) **ए० फ़ाउचर** कृत 'बिगनिंग्स आव बुद्धिस्ट आर्ट' (१९१७)।

(४) **आनन्द के० कुमारस्वामी** कृत 'हिस्ट्री आव इण्डियन एण्ड इण्डोनेशियन आर्ट' (१९२७)

(५) औंध के प्रमुख शासक **बालासाहब पन्त प्रतिनिधि** कृत 'एलोरा'

(६) **जेम्स फर्ग्यूसन** कृत 'हिस्ट्री आव इण्डियन एण्ड ईस्टर्न आर्कीटेक्चर' खण्ड १ एवं २, लण्डन १९१०

(७) **टी० ए० गोपीनाथ राव** कृत 'ऐलिमेण्ट्स आव् हिन्दू इकोनोग्रैफी', खण्ड १ एवं २, मद्रास (१९१४, १९१६)।

(८) **डा० मिसक्रैमिश्च** कृत 'दि आर्ट आव इण्डिया' (स्कल्प्चर, पेंटिंग, आर्कीटेक्चर), लण्डन, फैडन प्रेस, १९५४।

(९) **डा० मिस क्रैम्रिश्च** 'इण्डियन स्कल्प्चर' (१९३३)।

(१०) **रेने ग्रौसेट** कृत 'दि सिविलिजेशन आव दि ईस्ट' जिल्द २ (इण्डिया)।

(११) **ए० वी० टी० अय्यर** कृत 'इण्डियन आर्कीटेक्चर', तीन खण्डों में (मद्रास)।

(१२) **आनन्द के० कुमारस्वामी** कृत 'एलिमेण्ट्स आव बुद्धिस्ट आइकोनोग्रैफी' एवं 'डांस आव शिव।'

(१३) **डी० बी० तारपोरवाला एण्ड संस** द्वारा प्रकाशित 'इण्डियन आर्कीटेक्चर'।

(१४) **बेंजामिन रोलैण्ड** कृत 'दि आर्ट एण्ड आर्कीटेक्चर आव इडिया' (बुद्धिस्ट, हिन्दू, जैन), १९५६।

(१५) **हीनरिख जिम्मर** कृत 'मिथ्स एण्ड सिम्बल्स आव इण्डियन आर्ट एण्ड सिविल्जेशन'।

(१६) **अल्फ्रेड नवरफ** कृत 'इम्मॉर्टल इण्डिया', १९५६।

(१७) **एच्० गोट्ज** कृत 'फाइव थाउजेण्ड इयर्स आव इण्डियन आर्ट', १९५९।

(१८) **सर जॉन मार्शल** कृत 'बुद्धिस्ट आर्ट आव गान्धार', खण्ड १, मेम्वायर्स आव आर्क्यालॉजिकल डिपार्टमेण्ट आव पाकिस्तान, १९६०, 'टैक्सिला' तीन खण्डों में, 'गाइड टु टैक्शिला' १९६० (चौथा संस्करण)।

दक्षिण भारत की वास्तुकला एवं मूर्तिकला की अपनी विशेषताएँ हैं। तत्सम्बन्धी कुछ विशिष्ट ग्रन्थ ये हैं—**जी० जे० डुब्रेइल** कृत 'ड्रैविडियन आर्कीटेक्चर', १९१७, **सी० शिवराममूर्ति** कृत 'महाबलिपुरम्', **ओ० सी० गांगुली** कृत 'आर्ट आव पल्लवज़।'

संगीत पर भी कुछ ग्रन्थ हैं, यथा—**ए० एच्० फॉक्स स्ट्रैंग्वे** कृत 'म्यूजिक आव हिन्दुस्थान' (१९१४, आक्सफोर्ड), **ऐलैन डैनिलो** कृत 'नार्दर्न इण्डियन म्यूज़िक'। खण्ड १ एवं २ (लण्डन, १९४९, १९५४), **एच० ए० पोप्ले**

कृत 'दि म्यूजिक आव इण्डिया' (कलकत्ता, १६५०), **ओ० गोस्वामी** कृत 'दि स्टोरी, आव इण्डियन म्यूज़िक (बम्बई, १६५७), **जी० एच्० रानाडे** कृत 'हिन्दुस्तानी म्यूज़िक एण्ड आउटलाइन आव इट्स फिज़िक्स एण्ड एस्थेटिक्स' (पूना, १६५१)।

भारतीय वास्तुकला एवं मूर्तिकला-सम्बन्धी प्रतीकवाद जावा, बाली तथा इण्डोनेशिया के अन्य भू-भागों में फैला। इस विषय में बहुत-से ग्रन्थ लिखे गये हैं, यथा—**पाल मुस** कृत 'बराबुदोर', **जी० गोरेर** कृत 'बाली एण्ड ऐंग्कोर', **कुआरिश वेल्स** कृत 'टुअर्ड्स ऐंग्कोर' तथा **डब्ल्यू० एफ्०स्टटरहीम** कृत 'इण्डियन इंफ्लुएन्सेज इन बालीनीज़ आर्ट' (लण्डन, १६३५)।

भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता की कुछ अन्य विशेषताओं पर भी प्रकाश डाला जा सकता था, किन्तु सूची लम्बी हो चुकी है और जो कुछ कहा जा चुका है, पर्याप्त है। यह नहीं प्रदर्शित किया गया है कि किसी अन्य संस्कृति में इतनी विशेषताएँ नहीं हैं। किन्तु इतना तो कहने का अधिकार है ही कि कोई अन्य संस्कृति ऐसी नहीं हैं जिसमें इतनी विशेषताएँ अब भी पायी जाती हों, या अतीत में पायी गयी हों। कुछ अनुपम विशेषताएँ तो ऐसी हैं—मनुष्य निम्न कोटि के प्राणियों एवं निर्जीव पदार्थों में समाहित रहने वाले एक तत्त्व से सम्बन्धित वेदान्त की अद्भुत एवं सुन्दर धारणा, धार्मिक एवं दार्शनिक दृष्टिकोणों में विभेद रहते हुए भी सभी युगों में महान् सहिष्णुता की भावना तथा सत्य एवं अहिंसा पर बल देना। ये अद्भुत स्थापनाएँ हैं और अन्यत्र नहीं पायी जातीं।

अध्याय ३७

भावी वृत्तियाँ

सन् १७५७ में प्लासी के युद्ध के उपरान्त बंगाल, बिहार एवं उड़ीसा का शासन जिस पर अंग्रेजों का दबाव मात्र सन् १७६५ से ही पड़ रहा था, सीधे अंग्रेजी आधिपत्य के अन्तर्गत आ गया। सन् १८१८ में जब बाजीराव पेशवा द्वितीय पराजित होकर वृत्तिभोगी (पेंशनयाफ्ता) हो गया तो अंग्रेजों का प्रभुत्व सम्पूर्ण भारत में हो गया, केवल पंजाब अभी स्वतन्त्र था, किन्तु वह भी सन् १८४५ में अंग्रेजी राज्य में मिला लिया गया। अंग्रेजों ने भारत को सन् १९४७ में छोड़ दिया। इस प्रकार अंग्रेजों ने भारत के अधिक भाग पर १८० वर्षों तक, पंजाब को छोड़कर सम्पूर्ण भारत पर लगभग १३० वर्षों तक तथा पंजाब पर लगभग १०० वर्षों तक राज्य किया। इन अवधियों में हिन्दू-समाज पर ब्रिटिश आधिपत्य का प्रभाव अत्यधिक पड़ा। शारीरिक, मानसिक एवं नैतिक क्षेत्रों में हिन्दू-समाज विदेशी प्रभाव से आक्रान्त हो उठा। ब्रिटिश राज्य के इन वर्षों में जो परिवर्तन प्रकट हुए वे इसके पूर्व की कई शतियों के परिवर्तनों से कहीं अधिक एवं कई गुने बड़े थे। अंग्रेजी राज्य के आगमन के साथ सम्पूर्ण भारत में एक नये प्रकार का शासन स्थापित हुआ, पाश्चात्य ढंग के न्यायालय स्थापित हुए, सभी भारतीयों पर समान रूप से एक ही प्रकार के व्यवहार (कानून) व्यवस्थित किये गये, आधुनिक व्यक्तिवादी स्वातन्त्र्य की भावना का प्रवेश हुआ, नगरों एवं बड़ी-बड़ी बस्तियों में पाश्चात्य जीवन के ढंग निखरने लगे, एक ऐसी शिक्षा-व्यवस्था स्थापित हुई जिसने सभी भारतीयों को समभूमि पर रख दिया, समाचार-पत्रों, आवागमन के विकसित अच्छे साधनों, आधुनिक विज्ञान, अंग्रेजी साहित्य तथा कलाओं आदि के अध्ययन आदि ने एक नये जीवन की छटा उपस्थित की।

इस अध्याय में हम उपर्युक्त परिवर्तनों के विषय में कुछ लिखने का उद्देश्य नहीं रखते। बहुत ही संक्षेप में हम केवल उन प्रभावों की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करेंगे जो आधुनिक विज्ञान एवं नये विचारों, भारतीय लोकतान्त्रिक संविधान, धर्म निरपेक्ष राज्य की भावना, समाजवादी समाज के ढाँचे, आर्थिक योजना, विधान-निर्माण, जनसंख्या की वृद्धि एवं उसको रोकने के साधनों के फलस्वरूप हिन्दू समाज तथा इसके प्राचीन आदर्शों एवं जीवन-मूल्यों पर पड़ रहे हैं या पड़ सकते हैं।

किन्तु उपर्युक्त विषयों पर प्रकाश डालने के पूर्व हम अति संक्षेप में उन बातों का उल्लेख करेंगे जो स्वतन्त्रता की प्राप्ति के पूर्व ब्रिटिश भारत में घटी थीं। लार्ड रिपन ने सन् १८८२ में स्थानीय शासन की नींव डाली, जिसके फलस्वरूप नगरों एवं जनपदों में क्रम से नगरपालिकाओं एवं स्थानीय निकायों की स्थापना हो सकी। इस प्रकार सन् १७६५ के लगभग १२० वर्षों के उपरान्त, जब ब्रिटिश राज्य की स्थापना सर्वप्रथम भारत के अधिकांश भागों में हो चुकी थी, अंग्रेजों ने ऐसा सोचा कि शासित लोगों को अपने (अमहत्त्वपूर्ण एवं हलके-फुलके) कार्यों को सँभालने का अवसर दिया जाय। तब तक ब्रिटिश लोगों की उपनिवेशवादिता अपनी चरम सीमा तक पहुँच गयी थी। अंग्रेज लोग भारत से कपास जैसा कच्चा माल इंगलैण्ड भेजने लगे और उससे मैनचेस्टर आदि स्थानों में वस्तुएँ तैयार करके पुनः भारत में ही खपाने लगे। अंग्रेज निर्माताओं के

पक्ष में बहुत-से कानून बनाये गये थे। अंग्रेज व्यापारी भारत में बने रेशमी एवं सूती कपड़ों को नहीं बेच सकते थे। इस प्रकार लगभग एक शती से अधिक काल तक भारत का रक्त चूसा जाता रहा और वह संसार के अत्यन्त दरिद्र देशों में परिगणित होने लगा। दादाभाई नौरोजी ने अपने ग्रन्थ 'पावर्टी एण्ड अन्-ब्रिटिश रूल इन इण्डिया' (लण्डन, १९०१, ६७५ पृष्ठों) में इस विषय पर बड़ी योग्यता से प्रकाश डाल है। अंग्रेजों के उपनिवेशी राज्य के प्रमुख तत्त्व ये थे--पूर्ण राजनीतिक अधीनता, प्रमुख आर्थिक क्रियाशीलता विदेशियों के हाथों में थी, भारत में विदेशी पूँजी का ही प्रयोग होता था, कुछ विषयों में, यथा--रेलवे आदि में भारत में अंग्रेजी शासकों द्वारा विदेशी पूँजी के लाभ एवं ब्याज के बारे में प्रतिभूति (गारण्टी) थी, भारतीयों से उगाहे गये करों से ही उसका भुगतान होता था, बड़े-बड़े व्यवसायों की बागडोर विदेशियों के हाथों में थी तथा उनसे केवल विदेशियों का ही लाभ होता था एवं भारत की भूमि एवं जनता ब्रिटेन के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए मानो एक यन्त्र थी। अत्यधिक दारिद्र्य एवं क्लेश का मूल्य चुकाने के फलस्वरूप भारत को शान्ति एवं राजनीतिक एकता प्राप्त हुई। स्पष्ट है, आज के भारत की बहुत-सी आर्थिक समस्याओं का मूल ब्रिटेन की भयंकर उपनिवेशिक नीतियों में ही पाया जाता है।

लगभग एक शती से अधिक काल तक भारतीय शासन की सेना अंग्रेज अधिकारियों द्वारा प्रशासित थी। बीसवीं शती में लगभग सात सहस्र अधिकारी (लेफ्टिनेण्ट, कैप्टेन, मेजर, कर्नल) थे, जिनमें एक भी भारतीय प्रथम महायुद्ध तक 'किंग कमीशन' नहीं पा सका। फिर कुछ व्यक्ति प्रतिवर्ष इंगलैण्ड में प्रशिक्षण के लिए भेजे जाने लगे। 'इण्डियन सिविल सर्विस' (आई० सी० एस०) की परीक्षा इंगलैण्ड में होती थी, यद्यपि सन् १८९३ में ही 'हाउस आव कामंस' (इंगलैण्ड की लोकसभा) ने ऐसा प्रस्तावित कर दिया था कि तत्संबंधी परीक्षाएँ एक-साथ इंगलैण्ड एवं भारत में हों। १९ वीं शती के अन्तिम चरण में बहुत ही थोड़े लोग इस स्वर्गोत्पन्न नौकरी की परीक्षा में बैठने के लिए इंगलैण्ड जाते थे और अपने को उस योग्य सिद्ध करने में समर्थ होते थे। कलक्टर, जनपद के न्यायाधीश, पुलिस अधीक्षक, मेडिकल आफिसर अधिकांश में सभी ब्रिटिश थे। कालेजों में सभी प्रोफेसर तथा यहाँ तक कि कुछ स्कूलों के हेडमास्टर भी अंग्रेज ही होते थे। स्कूलों की पुस्तकें डी० पी० आई० द्वारा निर्धारित होती थीं, और ऐसे उच्चाधिकारी विदेशी ही होते थे। जब अंग्रेजों ने सन् १९४७ में भारत छोड़ा तो उन दिनों प्रायमरी शिक्षा भी थोड़े ही बच्चों को दी जाती थी। इन बातों की ओर जो संकेत किया जा रहा है वह इसलिए कि हम लोग आपस में एकता के साथ रहें, ऐसा न हो कि हमारे गृह-कलह से तथा पारस्परिक ईर्ष्या एवं विरोधी तत्त्वों के फलस्वरूप कुछ बाह्य तत्त्व पुनः शक्तिशाली हो जायें और हमारी स्वतन्त्रता पर आघात पहुँचे। हमें अपने वैरी पड़ोसियों से सदैव सतर्क रहना है।

मोर्ले ने सन् १९०९ में यह उद्घोषित किया कि भारत में लोकनीतिक व्यवस्था न स्थापित की जाय और उसने मुसलमानों के लिए पृथक निर्वाचन की पद्धति निकाल कर हिन्दू-मुस्लिम के संघर्ष को आगे बढ़ाया। किन्तु माण्टेग्यू ने मोर्ले की स्थापना का विरोध किया और ऐसा उद्घोष किया कि ब्रिटिश शासन की इच्छा है कि भारत क्रमशः ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर नियमानुमोदित शासन का अनुभव करता हुआ स्वायत्त संस्थाओं का विकास करे। इसी प्रकार कई प्रकार के विरोधी एवं अन्तर्विरोधी प्रयत्न चलते रहे। माण्टेग्यू द्वारा स्थापित द्वैध शासन, रौलट कानून, पंजाब की अशान्ति, जनरल डायर के अत्याचार एवं जलियाँवाला बाग की दुर्धर्ष घटनाएँ जिनमें सरकारी आँकड़ों के अनुसार ३०० व्यक्ति मारे गये तथा १२०० घायल हुए, डायर को बलवश अवकाश देना तथा उसके अंग्रेज पक्षपातियों द्वारा उसको ३० सहस्र पौण्डों की भेंट

आदि क्रियाएँ भारतीय स्वतन्त्रता के संग्राम की बलिवेदी पर होने वाले यज्ञों की महान् आहुतियाँ एवं विरोधी घटनाएँ हैं।

लार्ड मेकाले ने अपने 'मिनट ऑन इण्डियन एडूकेशन' में अंग्रेजी माध्यम द्वारा शिक्षा की व्यवस्था की वकालत की। उसने लिखा है :--'हमें इस समय एक ऐसे वर्ग की स्थापना करनी है, जो हमारे और उन करोड़ों लोगों के बीच में, जिन पर हम शासन करते हैं, व्याख्याता का काम करें, यह ऐसे लोगों का वर्ग हो जो जन्म एवं रंग से तो भारतीय हों, किन्तु प्रवृत्ति , सम्मति, नैतिकता एवं प्रज्ञा में अंग्रेजीयत रखते हों'[1]। फलत: सभी विषयों को इंगलिश के माध्यम से पढ़ने में समय एवं उद्योगों का व्यर्थ क्षय होता रहा, यहाँ तक कि संस्कृत भी उसी माध्यम से पढ़ायी जाती रही है; इस प्रकार की प्रणाली के अपनाने से अध्ययन-अध्यापन में समानुपात की स्थापना नहीं हो पाती थी, विज्ञान एवं प्राविधिक ज्ञान का अध्ययन नाम मात्र को हो पाया और पढ़े-लिखे लोगों तथा अपढ़ लोगों के बीच एक लम्बी-चौड़ी खाई खुद गयी। इस प्रणाली ने पाश्चात्य संस्कृति को गौरव प्रदान कर दिया और भारतीयों को अपनी संस्कृति को पढ़ने एवं मूल्यांकन करने की ओर प्रवृत्त नहीं किया। पढ़े-लिखे लोग, विशेषत: अंग्रेजी शिक्षा के आरम्भिक काल में, पाश्चात्य संस्थाओं के प्रति अतिशयोक्तिपूर्ण सम्मान की भावना रखते थे और अपनी धार्मिक एवं सामाजिक प्रणालियों की भर्त्सना किया करते थे।

ब्रिटिश राज्य ने भारतीय शिक्षा (विशेषत: उच्च शिक्षा) में उदासीनता प्रदर्शित की। सारे भारत के लिए सन् १८५७ में केवल तीन विश्वविद्यालय (बम्बई, कलकत्ता, एवं मद्रास) स्थापित किये गये और वे भी केवल परीक्षा लेने वाले विश्वविद्यालय मात्र थे। कुछ वर्षों पूर्व तक एक भारतीय दर्शन में एम० ए० परीक्षा तो उत्तीर्ण करता था, किन्तु उसे भारतीय दर्शन नहीं पढ़ाया जाता था ! किन्तु इतना सब होने पर भी अंग्रेजी शिक्षा की प्रणाली ने सरकार एवं ईसाइयों के प्रयत्नों एवं इच्छाओं के विरुद्ध परिणाम प्रस्तुत किये। ईसाई पादरियों को कुछ भी सफलता नहीं प्राप्त हुई, बहुत थोड़े-से और वे भी हीन जाति के लोग, ईसाई बन सके। सरकार को भी यह विदित हो गया कि इंगलिश साहित्य के अध्ययन से, यथा--बर्क, स्पेंसर, मिल आदि की कृतियों के अध्ययन से पढ़े-लिखे लोगों के मन में राष्ट्रीयता की भावना घर करने लगी, अत: उन्हें अपनी अधम राजनीतिक स्थिति के विषय में परिज्ञान होने लगा। क्रमश: राजनीतिक उद्वेग उठने लगा। अंग्रेजों ने लोकमान्य तिलक को 'दि फादर आव इण्डियन अन्रेस्ट' ('भारतीय अशान्ति का जनक') कहा। सन् १९२० में तिलक का देहावसान हो गया। किन्तु अब सारा भार महात्मा गांधी की ओर झुक गया, जिन्होंने राजनीतिक शक्ति एवं तज्जनित स्वतन्त्रता के लिए विद्रोह करते हुए सत्याग्रह की प्रणाली अपनायी।

१. देखिए 'मिनट आन इण्डियन ऐडूकेशन' के साथ मेकाले के भाषण (जी० एम्० यंग द्वारा सम्पादित, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५२)! पृ० ३५५-३६१ पर मिनट है। पृ० ३४९ पर निम्नलिखित वक्तव्य है: 'मैंने यहाँ एवं अपने देश में उन लोगों से बातें की हैं, जो पूर्वी भाषाओं के ज्ञाता होने के कारण प्रसिद्ध हैं। उनमें एक भी ऐसा नहीं मिला जिसने यह न स्वीकार किया हो कि किसी एक अच्छे यूरोपीय पुस्तकालय की केवल एक आलमारी में जितनी पुस्तकें पायी जाती हैं वे भारत एवं अरब के सम्पूर्ण साहित्य के बराबर हैं।' ऊपर दिया हुआ उद्धरण पृ० ३५९ पर है।

सन् १६१६ से १६४७ तक के भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम की घटनाओं का वर्णन यहाँ अनावश्यक है। भारत के दो टुकड़े हो गये। अंग्रेज यहाँ से चले गये। धर्म के आधार पर देश का विभाजन बड़ा भयंकर सिद्ध हुआ। लाखों हिन्दू-मुस्लिम मर गये, लाखों के घर-बार लुट गये, लाखों निर्वासित हो गये, उनकी करोड़ों की सम्पत्ति लुट गयी। पारस्परिक कलह अपनी सीमा को पार कर गया। परिणामतः आज भारत एवं पाकिस्तान दो पृथक-पृथक देश हैं। भारत के लम्बे इतिहास में सत्ता परिवर्तन की यह अद्भुत घटना थी। एक लम्बे साम्राज्य को पारस्परिक परामर्श से, बिना किसी युद्ध के या बिना रक्त बहाये, छोड़ देना सम्पूर्ण संसार में एक विलक्षण एवं अभूतपूर्व घटना है। ग्रेट ब्रिटेन के राजा का सन्देश, जो वायसराय लार्ड माउण्ट-बेटन द्वारा संविधान सभा के सदस्यों के समक्ष पढ़ा गया था, बहुत ही भद्र एवं अनुकूल शब्दों से विज-ड़ित था –"अनुमोदन (मन्त्रणा) द्वारा शक्ति का हस्तान्तरण उस महान् लोकनीतिक आदर्श का परिपालन है, जिसके ऊपर ब्रिटिश एवं भारतीय जनता सर्वसो भावेन न्योछावर है।" राजा के इस सन्देश का उत्तर डा० राजेन्द्र प्रसाद ने उतनी ही सुन्दर एवं भद्र भाषा में दिया था–'जहाँ हमारी यह उपलब्धि हमारे अति महान् क्लेशों एवं बलिदानों का परिणाम है, वहीं यह संसार की शक्तियों एवं घटनाओं का परिणाम भी है, और अन्त में, जो किसी अन्य तत्त्व से किसी भी दशा में कम महत्त्वपूर्ण नहीं है, यह ब्रिटिश जाति की ऐतिहासिक परम्पराओं एवं लोकनीतिक आदर्शों का, समापन (निष्पत्ति) एवं परिपालन भी है' (देखिए, वी० पी० मेनन कृत 'ट्रांसफर आव पावर इन इण्डिया', ओरिएण्ट लांगमैंस, १६५७, पृ० ४१५)।

भारतीय स्वतन्त्रता का कानून (विधान) [२] ब्रिटिश पार्लियामेण्ट द्वारा पारित किया गया और १८ जुलाई १६४७ को इसे राजकीय स्वीकृति मिली। कैबिनेट मिशन (जिसमें पैथिक लारेंस, स्टैफोर्ड क्रिप्स एवं ए० वी० अलेक्जैण्डर नामक तीन ब्रिटिश मंत्री, सम्मिलित थे) द्वारा एक संविधान सभा (कांस्टीचुएण्ट असेम्बली) की स्थापना की गयी थी, जिसकी प्रथम बैठक दिसम्बर सन् १६४६ में हुई। इसकी अन्य बैठक अगस्त सन् १६४७ में हुई और उसमें स्वतन्त्र भारत के विधान बनाने का निर्णय लिया गया। इस सभा का कार्य दो वर्षों से अधिक काल तक चलता रहा और २६ जनवरी १६५० को इसके द्वारा पारित विधान कार्या-न्वित हुआ। इस विधान में ३६५ धाराएँ हैं और ६ परिशिष्ट हैं (१५ धाराएँ तत्क्षण कार्यान्वित हो चुकी थीं (देखिए धारा संख्या ३६४)।

स्वतन्त्रता के उपरान्त आधुनिक भारत एवं इसके नेताओं की कुछ उपलब्धियाँ अति संक्षेप में निम्नलिखित हैं। (१) एक ऐसे व्यापक लोकनीतिक विधान की उत्पत्ति, जिसके द्वारा भाषण एवं उपासना की स्वतन्त्रता तथा प्रकाशन की स्वतन्त्रता प्राप्त है, अल्पसंख्यकों के अधिकारों की सुरक्षा है, व्यवहार (कानून) की दृष्टि में सभी बराबर हैं, स्त्रियों की स्थिति में समानता प्राप्त है और न्याय व्यवस्था को स्वाधीनता प्राप्त है; (२) अस्पृश्यता का उच्छेद (धारा १७); (३) बिना किसी प्रकार के युद्ध के भारत में राजनीतिक एकता की स्थापना, जिसमें ५०० से ऊपर भारतीय रियासतों का एकीकरण हुआ, (इन रिया-

२. देखिए 'ट्रांस्फर आव पावर इन इण्डिया'; परिशिष्ट संख्या ११ में १६४७ का भारतीय स्वतन्त्रता का कानून है (पृ० ५१६-५३२) और परिशिष्ट संख्या १२ में भारतीय स्वतन्त्रता की बिल पर कांग्रेस की टिप्प-णियाँ हैं जिनके साथ दिनांक जुलाई ३, १६४७ को नेहरू द्वारा किये गये सुधार भी हैं, जिन पर उन्होंने अपने हस्ताक्षर भी जड़ दिये हैं।

सतों ने भारत के क्षेत्रफल का १।३ भाग घेर रखा था, इनकी जनसंख्या भारत की जनसंख्या की १।४ थी, देखिए वी० पी० मेनन कृत 'स्टोरी आव दि इण्टीग्रेशन आव स्टेट्स'); (४) भारत का १५ प्रदेशों एवं ६ संघीय राज्यों में विभाजन किया गया, यह विभाजन अधिकांशतः भाषा एवं प्रशासन की सुविधा को दृष्टि में रख कर किया गया; (५) वयस्क मताधिकार के आधार पर अब तक पाँच चुनाव हो चुके हैं, प्रत्येक व्यक्ति (पुरुष या नारी) [3] को, जो २१ वर्ष का है, विधान द्वारा या किसी कानून द्वारा जो अयोग्य नहीं ठहराया गया है, लोक-सभा एवं प्रदेशों की विधान सभाओं के चुनाव में मत देने का अधिकार प्राप्त है; (६) समाजवादी ढंग के समाज का निर्माण अपना उद्देश्य है (धारा ३८, ३९); (७) चार पंचवर्षीय योजनाएँ कार्यान्वित हो चुकी हैं और चौथी प्रकाशित हो रही है (परिशिष्ट सं० ७, सूची ३, विषय २० के अन्तर्गत)।

संविधान के विरोध में कुछ आलोचनाएँ की जा सकती हैं। पहली बात यह है कि यह बहुत बड़ा है, बहुविस्तृत है और बहुत-से सूत्रों एवं स्रोतों से प्राप्त व्यवस्थाओं का एक सम्मिश्रण है। इंग्लैण्ड, आयरलैण्ड तथा अन्य यूरोपीय देशों के संविधानों से बहुत-सी व्यवस्थाएँ ले ली गयी हैं सन् १९३५ के भारतीय कानून की कुछ व्यवस्थाएँ भी ले ली गयी हैं। इनमें से कुछ बातों को छोड़ा जा सकता था और सामान्य व्यवहारों द्वारा उन्हें कार्यान्वित किया जा सकता था। विस्तृत होने पर भी इसमें बहुत-सी बातें छूट गयी हैं। राजनीतिक दलों, व्यावसायिक निगमों, धर्मों एवं राज्य के सम्बन्ध के विषय में कोई स्पष्ट बात नहीं कही गयी है। हमारी परम्पराओं से हमारे संविधान का कोई सम्बन्ध नहीं है। धर्मसूत्र एवं स्मृतियाँ वर्णों एवं आश्रमों के धर्मों (कर्त्तव्यों) से आरम्भित होती हैं। स्वयं प्रथम प्रधानमंत्री स्व० पं० जवाहरलाल नेहरू ने 'आजाद मेमोरिएल लेक्चर्स', 'इण्डिया टु-डे एवं टुमारो' (१९५९, पृ० ४५) में कहा है—'हम सभी आज अधिकारों एवं स्वत्वों के विषय में बात करते हैं और उनकी माँग करते हैं, किन्तु प्राचीन धर्म की शिक्षा कर्त्तव्यों एवं उपकारों के विषय में थी। अधिकार तो किये गये कर्तव्यों का अनुसरण करते हैं।' अभाग्यवश हमारे संविधान में इस विचार का अभाव है।

भारत के जीवन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात है जनता द्वारा शक्ति की प्राप्ति, जो न केवल राजनीतिक है, प्रत्युत वह सामाजिक, आर्थिक, बौद्धिक एवं नैतिक भी है। संविधान ने जन-साधारण में एक भावना का उद्रेक कर दिया है कि उन्हें मानो केवल अधिकार प्राप्त है और कर्त्तव्यों से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है और वे अपने घरों एवं चाय-काफी की दुकानों में बैठकर जो भावनाएँ बनाते हैं, अर्थात् अपने अधिकारों का जो चित्र खींचते हैं, उन्हें कानून का रूप मिलना चाहिए, उन्हें कानून की शक्ति प्राप्त होनी चाहिए और होना चाहिए उन विषयों में पूर्ण न्याय।

भारतीय संविधान में देश के प्रति या लोगों के प्रति पालनीय कर्त्तव्यों के विषय में कोई अध्याय नहीं है। १९वीं धारा ने सात प्रकार की स्वतन्त्रताओं का उल्लेख किया है, जिनमें एक है संघों का निर्माण। उपधारा (४) ने राज्यों को लोक व्यवस्था या नैतिकता के हित में लोगों पर नियन्त्रण स्थापित करने के लिए कानून बनाने की छूट दी है। संविधान बनाने वाले यह बात भूल गये कि कभी ऐसा

३. प्रथम महायुद्ध तक ग्रेट ब्रिटेन में नारियों को मताधिकार नहीं प्राप्त था और आज तक भी स्विटज़रलैण्ड में नारियों को यह अधिकार नहीं प्राप्त हो सका है (देखिए ज्यार्ज सोलोवेय-चिक कृत 'स्विटज़र लैण्ड इन पर्स्पेक्टिव', पृ० ३१, सन् १९५४ में प्रकाशित)।

समय उपस्थित हो सकता है जब देश का सारा कार्य ही ठप्प हो जाये । ऐसा होते-होते बचा भी। रेलवे, डाक एवं तार विभाग की जो देश व्यापी हड़ताल हुई, उससे लोगों की आँखें खुल गयीं। संघों के निर्माण तथा हड़ताल पर रोक लगाने की बात पर उदाहरण के लिए एक प्रयोग के रूप में संविधान-निर्माताओं को सोचना चाहिए था।

एक अन्य आलोचना यह है कि इसमें अब तक बहुत-से सुधार हो चुके हैं। सन् १९५० से अब तक कम-से-कम २८ सुधार हो चुके हैं, जबकि संयुक्त राज्य अमेरिका में १७० वर्षों के भीतर केवल २२ सुधार किये गये हैं। प्रथम सुधार डेढ़ वर्ष के भीतर ही किया गया, जिसके फलस्वरूप लगभग १२ धाराओं पर प्रभाव पड़ा, जिनमें तीन तो ऐसी हैं जो मौलिक अधिकारों से सम्बन्धित हैं, यथा—१५, १९ एवं ३१। लगभग ढाई वर्षों तक संविधान के निर्माण के विषय में विचार-विनिमय होता रहा तब भी डेढ़ वर्षों के भीतर ही मौलिक अधिकारों के विषय में परिवर्तन करना पड़ा ! इससे तो 'मौलिक अधिकार' शब्दों का अर्थ समझने में गड़बड़ी उत्पन्न हो सकती है। ३१वीं धारा में जो सुधार हुआ है उसके अनुसार यदि किसी की सम्पत्ति अनिवार्य रूप से ले ली जाय तो उसकी क्षति-पूर्ति के विषय में वह किसी न्यायालय में दावा नहीं कर सकता। यह व्यक्तिगत सम्पत्ति पर एक गम्भीर आक्रमण है और इसमें अपहरण एवं स्वेच्छाचारिता की गन्ध मिलती है। लोकसभा में निर्दिष्ट संख्या (कोरम) ५० की है, यदि ५० सदस्य उपस्थित हों और उनमें, मान लीजिये, २६ सदस्य यह तय कर दें कि किसी व्यक्ति की कतिपय सम्पत्तियों की अनिवार्य प्राप्ति के लिए निश्चित धन निर्धारित किया जाये जो सम्भवतः बहुत ही कम हो, तो उस व्यक्ति को न्याय का आश्रय लेने का अधिकार नहीं है।

एक अन्य आलोचना है कि विश्वविद्यालयों को सूची सं० २ (परिशिष्ट ७, राज्य सूची सं० ११) में रख दिया गया है, जबकि उन्हें समवर्ती (कॉन्-करेण्ट) सूची में रखना चाहिए था। श्रम-सम्बन्धी व्यावसायिक एवं प्राविधिक (विशेष कला या विज्ञान-सम्बन्धी) प्रशिक्षण को कॉन-करेण्ट सूची (सं० २५) में रखा गया है। क्या विश्वविद्यालयी शिक्षा श्रम-प्रशिक्षण के समान सारे देश के लिए महत्त्वपूर्ण नहीं है? केवल ६२ से ६६ (सूची सं० १, केन्द्रीय सूची) तक के विषय केन्द्रीय प्रशासन के अन्तर्गत हैं। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय एवं शान्ति निकेतन को क्यों केन्द्रीय प्रशासन के अन्तर्गत रखा गया है ? क्या अन्य विश्वविद्यालय समवर्ती (कॉन-करेण्ट) सूची में नहीं रखे जा सकते थे ?

आठवें परिशिष्ट में भारत की चौदह भाषाओं को राष्ट्रीय भाषा कहा गया है, किन्तु धारा ३४३ (१) में हिन्दी को संघ की भाषा घोषित किया गया है और धारा ३४३ की उपधारा २ में अंग्रेजी को १५ वर्षों तक सहगामिनी भाषा के रूप में स्वीकार किया गया है और उपधारा ३ में ऐसी व्यवस्था है कि सन् १९६५ के उपरान्त भी लोकसभा-अंग्रेजी को उस रूप में रख सकती है ।[४] भारत की राष्ट्र-भाषा की समस्या का अभी शान्तिमय समाधान नहीं प्राप्त हो सका है। सभी प्रबुद्ध नागरिकों में राष्ट्रीय एकता की भावना एवं आदर्श भरने के लिए एक बड़े पैमाने पर कार्यक्रम निर्धारित किया जाना चाहिए। उस कार्यक्रम

४. पाठकों को ज्ञात है कि सन् १९६४-६५ में हिन्दी के प्रश्न को लेकर दक्षिण में बड़े पैमाने पर उपद्रव खड़े किये गये। द्रविड़ मुनेत्र कजगम नामक राजनीतिक दल के लोगों ने राजनीतिक चालें चलीं, जन-साधारण को उभाड़ा, जुलूस निकाले, बसें, ट्रकें एवं रेलगाड़ियाँ जला डालीं। इतना ही नहीं, ३-४ व्यक्तियों ने बहकावे में आकर अपने को जला भी डाला। इस प्रकार हिन्दी राष्ट्र-भाषा को लेकर धन-जन की हानि हुई। इन राजनीतिक

में भारत के अतीत, हमारी समान अभिरुचियों, समान भविष्य, संस्कृत में पाये जाने वाले ज्ञान एवं विचार के तत्वों, क्षेत्रीय भाषाओं तथा युगों से चली आयी सहिष्णुता की भावना का समावेश होना चाहिए। आरम्भिक पाठशालाओं से ही भारत की सांस्कृतिक एकता से सम्बन्धित मौलिक बातों का अध्ययन-अध्यापन आरम्भ कर देना चाहिए, जिससे बच्चों में राष्ट्रीयता की भावना का उद्रेक हो। प्रत्येक नागरिक के मन में ऐसी धारणा बँध जानी चाहिए कि हम सदा से एक देश के नागरिक रहे हैं, विदेशियों ने सदा से इस देश को एक माना है, हम सभी सदा से भारत के विशाल ज्ञान एवं आध्यात्मिक संस्कृति के अधिकारी रहे हैं, हमें इस संस्कृति के संरक्षण एवं संवर्धन में प्राण-प्रण से लग जाना चाहिए। यह कार्य १४ वर्षों तक निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा द्वारा सम्पादित किया जा सकता है।

संविधान ने सातवें परिशिष्ट में जो विषय रखे हैं और उनका संघ, राज्य एवं समवर्ती (कॉन-करेण्ट) सूचियों में जिस प्रकार विभाजन हुआ है, वह त्रुटिपूर्ण है। उदाहरणार्थ, मादक पेय पदार्थों का उत्पादन, निर्माण, प्राप्ति, क्रय एवं विक्रय राज्य की सूची में हैं (राज्य सूची, सूची—२ में आठवाँ विषय)। इसका परिणाम यह हुआ है कि कुछ राज्यों में मादक पेय पदार्थों पर प्रतिबन्ध है तो कहीं पूर्ण छूट है। इससे हमारे चरित्र पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा है। कहीं-कहीं धन-वृद्धि के लिए प्रतिबन्ध हटा लिये गये हैं। ऐसी स्थिति अशोभनीय है। चाहिए तो यह था कि इसे हम संघ की सूची में रखते और देश के नागरिकों के चरित्र-निर्माण के लिए आवश्यक नियम-प्रतिबन्ध बनाते।

उपर्युक्त बातों से प्रकट होता है कि हमारा संविधान जो दो वर्षों के सुविचार से निर्मित हुआ और जिसके निर्माण में दिग्गज बुद्धिशाली लोगों का साहाय्य प्राप्त था, कई बातों में असंतोषप्रद है।

हमारा जनतन्त्र लोकनीतिक है। लिंकन ने लोकनीति की जो परिभाषा की है, वह अत्यन्त प्रसिद्ध है, यथा—'वह शासन जो लोक का है, लोक द्वारा होता है तथा लोक के लिए होता है। ये तीनों बातें, यथा लोक (जनता या प्रजा या देशवासियों) का शासन, लोक (जनता या प्रजा या देशवासियों) द्वारा शासन तथा लोक (जनता या प्रजा या देशवासियों) के लिए शासन, एक सम्यक् लोकनीति में पायी जाती हैं। यूनान के नगर-राज्यों में सभी वयस्क नागरिक (उन दासों को छोड़ कर जो नागरिकों से कहीं अधिक थे) एक स्थान पर एकत्र हो सकते थे, वाद-विवाद में भाग ले सकते थे तथा विधि-विधान के निर्माण में सक्रिय सहयोग दे सकते थे। किन्तु यह बात वहाँ असम्भव है जहाँ एक विशाल देश में करोड़ों मतदाता नागरिक फैले हों। अतः लिंकन महोदय की परिभाषा के एक अंश पर पानी फिर गया। करोड़ों व्यक्ति अपने पर शासन नहीं कर सकते, यह एक असम्भावना है। वे केवल कुछ लोगों को अपने शासक के रूप में चुन सकते हैं। प्राचीन काल में जब सत्ता राजा के हाथ में रहती थी तो राजा उत्तराधिकार के द्वारा या विजय के द्वारा या विरोधियों के मुण्ड (सिर) फोड़ कर शासक हो पाता था। किन्तु लोकनीति में शासक या शासक लोग मुण्ड गिनकर चुना जाता है या चुने जाते हैं। डा० राधाकृष्णन् ने अपने ग्रन्थ 'कल्किन् और दि फ्यूचर आव सिविलिजेशन' (चौथा संस्करण, १९५६) में लिखा है—'वास्तव में, लोकनीति कार्यरूप में किसी देश को उसके

उपद्रवों के कारण अंग्रेजी को सहगामिनी भाषा के रूप में अनिश्चित काल के लिए मान लिया गया है। दक्षिण के कुछ मन फिरे लोगों की भाँति बंगाल के कुछ लोगों ने भी उपद्रव किये थे, किन्तु अब संविधान में सुधार हो जाने से उपद्रव में नर्मी आ गयी है (रूपान्तरकार)।

योग्यतम व्यक्तियों द्वारा शासित होने का अवसर बहुत कम देती है। जो थोड़े-से विचारवान् होते हैं उन पर विशाल जनता के मत छा जाते हैं। हमें मानव-व्यापारों को चलाने के लिए बैलट बॉक्स की लाटरी से अपेक्षाकृत कोई अधिक अच्छा ढंग अपनाने का प्रयास करना चाहिए' (पृ० २०-२२)। रेने गुइनॉन ने अपने ग्रन्थ 'क्राइसिस आव दि माडर्न वर्ल्ड' (आर्थर आस्बॉर्न द्वारा अनूदित, लण्डन, १९३२) में लिखा है—'कानून का निर्माण बहुमत द्वारा परिकल्पित किया गया है, किन्तु जिस बात पर लोग ध्यान नहीं देते वह यह है कि यह मत (अर्थात् बहुत से लोगों का मत) बड़ी सरलता से प्राप्त किया जाता है या परिमार्जित हो सकता है, अर्थात् मत को हम बना सकते हैं। बहुमत में अधिकतर अयोग्य लोग होते हैं और उनकी संख्या उन लोगों की अपेक्षा बहुत होती है, जो विषय के पूर्ण ज्ञान के उपरान्त ही अपनी सम्मति दे सकते हैं (पृ० १०८)।

उपर्युक्त शब्द यूरोप के उन देशों के विषय में हैं जहाँ पर कई दशाब्दियों से पढ़े-लिखे (साक्षर) लोगों की संख्या एक प्रकार से शत-प्रतिशत है। लोकतन्त्रीय व्यवस्था का तात्पर्य है कि मतदाता विभिन्न दलों की नीतियों एवं कार्यक्रमों से भली भाँति परिचित हैं और उन्हीं के अनुसार मतदान करते हैं। यह व्यवस्था पहले से ही मान लेती है कि देश में शिक्षा है, नागरिक लोग बुद्धिमान् हैं, वे विधि-विधानों का सम्मान करते हैं, उनमें सहिष्णुता है, कम-से-कम अपने देशवासियों के प्रति उनमें भ्रातृ-भाव पाया जाता है और समाज में अधिक या कम एकरूपता पायी जाती है। किन्तु जब, जैसा कि आज के भारत में पाया जाता है, अधिक संख्या में लोग अपढ़ होते हैं तो स्थिति भयंकर हो उठती है। अच्छे दिनों की आशा में हमें आज की स्थिति को सह लेना चाहिए, यद्यपि बहुत-से विदेशी अपनी असहिष्णुता का प्रदर्शन कर हमारी लोकनीतिक व्यवस्था की खिल्ली उड़ाते हैं।[५] सन् १९६१ की जन-संख्या के आंकड़ों से प्रतीत होता है कि सन् १९५१ में पढ़े-लिखों की जन-संख्या, जो १६.६% थी अब वह २३.७% हो गयी है। डीन इंज ने अपने ग्रन्थ 'क्रिश्चियन एथिक्स' (१९३०) में उस इंगलैण्ड की राजनीति के विषय में टिप्पणी की है, जहाँ के मतदाता अधिकांशतः साक्षर हैं—'हमारी राजनीति इतनी भ्रष्टाचार-संकुल है कि बहुत-से लोग तानाशाही का स्वागत करेंगे।' ब्लेयर बॉलेस ने अपने ग्रन्थ 'कॉरप्शन इन वाशिंगटन' (गोलांज़, लण्डन, १९६०) में लिखा है कि संयुक्त राज्य अमेरिका की स्थिति विलक्षण है, वहाँ पर ईमानदार अथवा सच्चा व्यक्ति जिसके हाथ में शक्ति है वह अपने को भयंकर नैतिक संकीर्णावस्था में पाता है, एक ओर उसके समक्ष जनता के प्रति उत्तरदायित्व है और उसे ईमानदारी बरतनी है तो दूसरी ओर उसे अपने मित्रों एवं सहयोगियों के प्रति वफ़ादारी (विश्वासभाजनता) प्रदर्शित करनी है। हमारे देश की दशा के विषय में न-कुछ कहना ही उचित है। हमारे मन्त्रियों एवं राज्यकर्मचारियों के समक्ष उसी प्रकार की विषम अवस्थाएँ हैं, विशेषतः जब कि परमिटों एवं लाइसेंसों को बाँटने के लिए बहुत-से नियम एवं व्यवस्थाएँ विद्यमान हैं!

राज्य-नीति के सूचक सिद्धान्त (अथवा तत्त्व) धारा ३७ से ५१ में लिखित हैं और धारा ३७ में ऐसी व्यवस्था है कि उनका कार्यान्वय किसी न्यायाधिकरण द्वारा नहीं होना चाहिए, किन्तु वे देश के शासन में मौलिक हैं। धारा ४५ में ऐसा व्यवस्थित है कि राज्य संविधान लागू हो जाने के दस वर्षों के भीतर १४ वर्ष की अवस्था

५. ए० कोयेस्टलर ने अपने ग्रन्थ 'लोटस एण्ड रॉबॉट' (लण्डन, १९६०) में लिखा है: 'भारत में डेमॉक्रेसी (लोकनीति) केवल नाम की है, इसे बापूक्रेसी (बापूवाद) कहना अधिक ठीक होगा' (पृ० १५६)। लेखक महोदय खिल्ली उड़ाते हुए बापू (महात्मा गान्धी) के प्रभाव की ओर संकेत करते हैं, क्योंकि आरम्भिक दिनों में लोग कांग्रेस को न कह कर गांधी जी को वोट देते थे!

तक के बच्चों के लिए निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था करने का प्रयास करेगा। आज १५ वर्षों से अधिक की अवधि समाप्त हो गयी और ऐसी व्यवस्था को गन्ध नहीं मिल पा रही है। दो-एक राज्यों में कन्याओं के विषय में निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था हुई है, किन्तु अनिवार्य शिक्षा अभी खटाई में पड़ी हुई है। चौथी पंचवर्षीय योजना चल रही है, इसके पूर्व तीन पंचवर्षीय योजनाएँ कार्यान्वित हुई, जिनमें अरबों की धन-राशि स्वाहा हो गयी, आगे पाँचवीं पंचवर्षीय योजना लागू होने जा रही है, किन्तु शिक्षा को अभी वह महत्त्व नहीं प्राप्त हो पा रहा है जो इसके लिए उपादेय है। अभी ११ वर्ष तक के लिए निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था नहीं हो पा रही है, १४ वर्ष तक की बात तो अभी बहुत दूर है। पंचवर्षीय योजनाओं में अनुमान से अधिक धन-राशि लग रही है, जिससे शिक्षा-सम्बन्धी प्रतिवचन की पूर्ति नहीं हो पाती। जब धन-राशि की कमी की पूर्ति नहीं हो पाती तो सर्वप्रथम शिक्षा-योजना की ही हत्या की जाती है। दुःख की बात है कि स्वतन्त्रता के उपरान्त भी उस जनता की शिक्षा की समुचित व्यवस्था नहीं हो पा रही है जो मत देने वाली है और परोक्ष रूप से शासक होने वाली है! देखें, हमारे योजना-नायक इस महान् कमी की पूर्ति कब कर पाते हैं।

यह द्रष्टव्य है कि राज्य नीति के निदेशक सिद्धान्त (या तत्त्व) जनता के जीवन-स्तर को ऊपर उठाने के लिए आर्थिक प्रणाली में कतिपय व्यवस्थाएँ उपस्थित करने की बातें उठाते है (देखिए धारा ४३, ४७ आदि), अर्थात् लोगों के भौतिक पदार्थों एवं उपादानों पर बहुत अधिक बल दिया गया है। लगता है कि भौतिक उन्नति एवं समृद्धि के उपरान्त राज्य को और कुछ नहीं सम्पादित करना है। क्या ही अच्छा हुआ होता यदि उसी प्रकार नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों की प्राप्ति के लिए भी बल दिया गया होता। संविधान में ऐसा लिखित होना चाहिए था कि राज्य को लोगों में उच्च नैतिकता, आत्म-संयम, सहकारिता, उत्तरदायित्व-वहन, करुणा एवं उच्च प्रयास करने की भावनाओं के विकास के लिए साधन एकत्र करने चाहिए। मानव कई पक्षों वाला प्राणी है। केवल भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति ही पर्याप्त नहीं है। मनुष्य में बौद्धिक, आध्यात्मिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक आकांक्षाएँ भी होती हैं। भविष्य का सामाजिक एवं आर्थिक स्वरूप हमारी परम्पराओं के सर्वोत्तम अंश पर आधारित होना चाहिए, और वह है धर्म का नियम, अर्थात् वे कर्तव्य जो सबके लिए समान हैं और जो मनु (१०।६३) एवं याज्ञ० (१।१२२) द्वारा उद्घोषित हैं। धर्म निरपेक्ष राज्य का अभिप्राय यह नहीं होना चाहिए और न ऐसा है कि राज्य ईश्वर विहीन हो या उसका सम्बन्ध नैतिक एवं आध्यात्मिक जीवन-मूल्यों से नहीं है। हमारे प्रथम प्रधानमन्त्री स्व० पं० नेहरू ने इस बात पर बल दिया है--'धर्म आवश्यक हो या न हो, हमारे जीवन में कुछ तत्त्व या सार भरने के लिए तथा हमें एक-सा बाँध रखने के लिए किसी उचित आदर्श में हमारा विश्वास होना परम आवश्यक है। अपने आह्निक जीवनों की भौतिक एवं शारीरिक माँगों के ऊपर हमें उद्देश्य का ज्ञान रखना ही होगा' (देखिए टु-डे एण्ड टुमारो, पृ० ६)। यह कहा जा सकता है कि अधिकांश पुरुषों एवं नारियों के लिए धर्म ही एक ऐसा तत्त्व है जो उचित आदर्शों को उपस्थित करता है।

लिंकन महोदय द्वारा उपस्थित लोक नीति की परिभाषा में तीसरा सूत्र है 'लोक (जनता या प्रजा या देशवासियों) के लिए,' (शासन), जिसका अर्थ है शासन सभी लोगों की भलाई पर ध्यान दे, न कि किसी विशिष्ट वर्ग या सम्प्रदाय का ही ध्यान रखे। आधुनिक लोकनीति पार्टियों अर्थात् दलों पर निर्भर रहती है और उसे बहुमत के निर्णयों के अनुसार कार्यशील होना पड़ता है। ऐसा बहुधा होता है कि कई दलों की उपस्थिति के कारण किसी एक दल को सब दलों को मिला कर उनसे अधिक मत नहीं प्राप्त हो पाते। ऐसा हो सकता है कि एक दल को दिये गये मतों का ४०% मिले और अन्य दलों के (जो विचारधाराओं में एक-दूसरे से भिन्न हैं) क्रम से २५%, २०% एवं १५% मिले। ऐसी स्थिति में ४०% मत पाने वाला दल राज्य करता है, किन्तु उसे जनता का

बहुमत नहीं प्राप्त रहता है। दलीय पद्धति से सामान्यतः शक्ति के लिए संघर्ष उठ खड़ा होता है और जनता का नैतिक स्तर गिर जाता है, विशेषतः उस देश में जहाँ जनता का केवल १/६ भाग (पुरुष एवं स्त्री दोनों) केवल, अपनी क्षेत्रीय भाषा में लिख-पढ़ सकता है। प्रस्तुत लेखक ऐसा नहीं मानता कि निरक्षरता का अर्थ बुद्धि का अभाव है। किन्तु जब तक व्यक्ति स्वयं नहीं पढ़ पाता और अपने पढ़े हुए पर सोच-विचार नहीं कर पाता, वह कदाचित् ही उस विषय के पक्ष या विपक्ष में अच्छी प्रकार से निर्णय ले सके, जो मतदाताओं के समक्ष योजना या किसी नीति के रूप में उपस्थित किया जाता है। कानून अंग्रेजी में लिखे जाते हैं। लोक-सभा में अधिकांश वक्ता अंग्रेजी में भाषण करते हैं (केवल थोड़े-से लोग हिन्दी में बोलते हैं) और जटिल कानून यों ही बहुमत से, या जैसा अवसर रहा, सर्वसम्मति से पारित हो जाते हैं। जो देश अत्यन्त कम शासित होता है वह अत्युत्तम रूप से शासित होता है। लोक-सभा में कानूनों की बाढ़ देखने में आती है। सन् १९५० से १९५६ के बीच केवल सात वर्षों में ४५० कानून लोक-सभा में पारित हुए। इनमें से कुछ कानून हिन्दुओं को उनके कौटुम्बिक सम्बन्धों एवं अन्य स्वरूपों में मार्मिक रूप से प्रभावित करते हैं। कुछ उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं। हिन्दू पुत्रीकरण (दत्तक) कानून तो प्राचीन हिन्दू सिद्धान्तों से बहुत आगे चला गया। प्राचीन काल में दो सिद्धान्त थे, यथा—आध्यात्मिक कल्याण एवं हित के लिए केवल लड़का ही अपनाया जाता है, जो अवस्था एवं अन्य बातों में पुत्र के समान हो। स्त्रियाँ गोद नहीं ली जा सकती थीं, केवल विधवा अपने पति के आध्यात्मिक लाभ के लिए किसी को गोद ले सकती थी। ये सिद्धान्त अब हवा में उड़ा दिये गये हैं। एक बात उल्लेखनीय है। हिन्दू व्यवहार (कानून) को प्रभावित करने वाले कुछ कानूनों द्वारा लोकाचारों को धता बता दिया गया है, देखिए, हिन्दू विवाह कानून (१९५५ का २५ वाँ कानून, विभाग ४), हिन्दू उत्तराधिकार कानून (१९५६ का ३० वाँ कानून, विभाग ४ का १)। १९५६ के ७८ वें कानून हिन्दू पुत्रीकरण एवं भरण (पालन-पोषण) कानून द्वारा व्यवस्था दी गयी है कि गोद लिया जाने वाला व्यक्ति १५ वर्ष से अधिक का नहीं होना चाहिए और गोद लिये जाने वाले व्यक्ति एवं गोद लेने वाली स्त्री तथा गोद ली जाने वाली लड़की एवं गोद लेने वाले पुरुष में २१ वर्षों का अन्तर होना चाहिए। इस विषय में देखिए विभाग १०, विषय ४ तथा विभाग ११, विषय ४। किन्तु विभाग १० में ऐसी व्यवस्था है कि लोकाचार के विरुद्ध ऐसा नहीं होना चाहिए। यह आश्चर्य है और समझ में नहीं आता कि इस मामले में लोकाचार को क्यों मान्यता दे दी गयी है जब कि अन्य विषयों (मामलों) में लोकाचारों पर कोई ध्यान नहीं दिया गया है। सन् १९५५ के २५ वें कानून (हिन्दू विवाह कानून) ने बड़े-बड़े परिवर्तन कर दिये हैं, जिनके विषय में अधिकांश हिन्दू कुछ भी नहीं जानते। इस कानून के पूर्व एक हिन्दू सिद्धान्ततः (किन्तु व्यवहारतः बहुत कम) दो या अधिक नारियों से विवाह कर सकता था और अनुलोम विवाह (एक उच्च वर्ण के पुरुष का किसी हीन वर्ण की नारी से विवाह) कुछ उच्च न्यायालयों द्वारा (यथा—इलाहाबाद एवं मद्रास) अवैध माना जाता था। किन्तु अब १९५५ के कानून द्वारा विवाह एक पत्नीत्व का द्योतक हो गया (अब एक पुरुष एक से अधिक स्त्री के साथ विवाह नहीं कर सकता) और किसी जाति का व्यक्ति किसी भी जाति की नारी से विवाह कर सकता है तथा हिन्दू, सिख, बौद्ध या जैन धर्मों के व्यक्तियों के विवाह अब वैध मान लिये जाते हैं। जिन दिनों यह कानून बन रहा था, कुछ लोगों ने एक स्त्री विवाह कानून द्वारा मुसलमानों (जो कुरान के अनुसार एक साथ चार नारियों को पत्नी के रूप में रख सकते हैं) को भी बाँधना चाहा, किन्तु उनकी बात इससे काट दी गयी कि ऐसा करने से मुसलमान नाराज हो सकते हैं। अन्य व्यवस्थाएँ, यथा विवाह के विषय में बौद्ध, जैन एवं सिख हिन्दू हैं, जहाँ एक ओर सब को एक साथ ले जाने वाली हैं, वहीं वे अपढ़ लोगों के मन में द्विधा उत्पन्न करने वाली हैं और अन्ततोगत्वा उनसे हिन्दू-समाज में छिन्न-भिन्नता उत्पन्न हो जाने की सम्भावना है। कट्टर लोग (अर्थात् रूढ़िवादी) इस प्रकार के मिश्र विवाहों को घृणा की दृष्टि से

देखते हैं। यह सम्भव है कि रूढ़िवादी लोग अबोध लोगों के साथ मिलकर इस नयी व्यवस्था को उखाड़ फेंकें। किन्तु यह तभी सम्भव हो सकता है जबकि गांधी-युग के उज्ज्वल व्यक्तित्व धीरे-धीरे कम हो जायेंगे।

हिन्दू-समाज की महत्त्वपूर्ण विशेषताओं में एक है संयुक्त परिवार का प्रचलन जो सहस्रों वर्षों से चला आ रहा है। यह प्रचलन **मिताक्षरा** कोटि का है जो बंगाल (जहाँ **दायभाग** का प्रचलन है) को छोड़कर सारे भारत में पाया जाता है। संयुक्त परिवार प्रणाली की विशेषता यह है कि परिवार (कुटुम्ब) के सभी सदस्य समांशी (रिक्थाधिकारी) होते हैं, अर्थात् यदि कुटुम्ब का कोई सदस्य मर जाता है तो उसका धन सभी सदस्यों, जिनमें उसका पुत्र भी सम्मिलित है (यदि कोई हो तो) को प्राप्त हो जाता है, स्त्रियों को कुटुम्ब की सम्पत्ति में कोई अधिकार नहीं होता, उन्हें केवल विवाह के व्यय एवं भरण-पोषण का अधिकार प्राप्त होता है, संयुक्त परिवार का कोई भी व्यक्ति इच्छापत्र (यहाँ तक कि पिता भी नहीं) या बिक्री या बन्धक द्वारा संयुक्त सम्पत्ति हस्तान्तरित नहीं कर सकता, केवल कुटुम्ब की परम्परा के अनुसार कुछ आवश्यकताओं के लिए कुछ छूट मिल सकती है। बाह्य आक्रमणों एवं कुशासनों के रहते हुए भी कई शतियों तक संयुक्त परिवार पद्धति एवं जाति प्रथा ने ही हिन्दू समाज को विच्छिन्न होने से बचा रखा था। हिन्दू उत्तराधिकार कानून (सन् १९५६ का ३०वाँ) ने मिताक्षरा संयुक्त परिवार में दो अतिक्रमणकारी परिवर्तन कर दिये हैं। कानून के ३०वें विभाग की व्याख्या ने यह व्यवस्था दी है कि कोई भी पुरुष सदस्य अपने इच्छापत्र द्वारा रिक्थाधिकार को समाप्त कर सकता है। यह एक बहुत बड़ा परिवर्तन है। दूसरा परिवर्तन विभाग ६ में संक्षेपतः इस प्रकार है। यदि मिताक्षरा पद्धति वाला कोई समांशी इस कानून के लागू हो जाने के उपरान्त मर जाता है और उसको कोई पुत्र नहीं है, केवल एक पुत्री है या किसी मृत पुत्र की पुत्री है या किसी मृत पुत्री की पुत्री है तो उसकी सम्पत्ति किसी अन्य समांशी (या रिक्थाधिकारी) को नहीं प्राप्त होगी, प्रत्युत उपर्युक्त वंशजों को होगी और उनको वही अंश प्राप्त होगा जो विभाजन होने पर उस व्यक्ति को मरने के पूर्व मिलता। इस कानून के पूर्व उपर्युक्त उल्लिखित व्यक्तियों को यदि व्यक्ति पुत्रहीन मर जाता तो कोई अंश न प्राप्त होता। इन दो परिवर्तनों के फलस्वरूप मिताक्षरा पद्धति केवल खोखली रह गयी है। जब यह कानून पारित हो रहा था तो कुछ लोगों ने वक्तव्य दिया कि मिताक्षरा पद्धति को सर्वथा समाप्त कर देना चाहिए, किन्तु वैसा नहीं किया गया। प्राचीन हिन्दू कानून में इस प्रकार के परिवर्तनों से स्त्रियों के प्रति उदारता का प्रदर्शन किया गया है। किन्तु कुछ विषयों में, ऐसा लगता है, मानो विधायकों ने बदला (प्रतिहिंसा) लिया है। स्थानाभाव से केवल एक उदाहरण उपस्थित किया जा रहा है। हिन्दू उत्तराधिकार कानून के विभाग ८ एवं उत्तराधिकारियों के परिशिष्ट वर्ग १ एवं २ के अन्तर्गत यदि कोई सम्पत्तिवान् व्यक्ति केवल माता एवं पिता को छोड़ कर मर जाता है (अर्थात् यदि उसके पुत्र न हों, न पत्नी हो और न कोई अन्य व्यक्ति हों) तो माता को उसकी (पुत्र की) सारी सम्पत्ति मिल जाती है और पिता को कुछ भी नहीं, क्योंकि माता वर्ग १ के अन्तर्गत रखी गयी है और पिता वर्ग २ के अन्तर्गत और विभाग ८वें (क एवं ख) में नियम ऐसा है कि वर्ग २ के उत्तराधिकारी तभी अधिकार पाते हैं जब वर्ग १ में कोई शेष न हो। याज्ञ० (२।१३५) के अनुसार पुत्रहीन व्यक्ति के मर जाने पर क्रम से विधवा, तब पुत्री, उसके उपरान्त पुत्री का पुत्र (या जितने पुत्र हों सभी), उसके उपरान्त पितरौ (माता एवं पिता दोनों, द्विवचन का प्रयोग हुआ है) उत्तराधिकार प्राप्त करते हैं। कुछ टीकाकारों के मतानुसार माता को पिता की अपेक्षा वरीयता दी जानी चाहिए, किन्तु कुछ लोग पिता को वरीयता देते हैं और कुछ लोग दोनों को समान रूप से उत्तराधिकारी घोषित करते हैं। राज्यसभा (कौंसिल आव स्टेट्स) में पिता को माता के साथ ही वर्ग १ में रखा गया। किन्तु लोक-सभा में माता को वर्ग १ में तथा पिता को वर्ग २ में रखा गया। संविधान की धारा १५ में लिंग, धर्म एवं जाति आदि के आधार पर भेद करना निषिद्ध माना गया है। माता एवं पिता में जो अन्तर यहाँ प्रकट है, वह लिंग-

भेद ही तो है ! सम्भवतः विधायक लोगों ने इस प्रकार के अन्तर द्वारा शतियों से चले आये हुए स्त्री-सम्बन्धी अन्याय की क्षतिपूर्ति करनी चाही है। सन् १९५६ का हिन्दू उत्तराधिकार कानून मुस्लिम कानून से भी आगे बढ़ गया है, क्योंकि इसने परिशिष्ट वर्ग १ में १२ प्रकार के व्यक्तियों को रखा है जो एक-साथ ही उत्तराधिकार प्राप्त करते हैं। कुछ उदाहरण ऐसे हैं जहाँ मृत व्यक्ति की सम्पदा को पाने वाले वर्ग १ के व्यक्ति २० या इससे भी अधिक होते हैं, यथा मृत के ५ पुत्र, ५ कन्याएँ तथा पहले से मृत पुत्रों एवं पुत्रियों की संतानें। सम्भवतः संसार में कोई अन्य देश ऐसा नहीं है, जहाँ किसी के मरने पर इतने व्यक्ति एक साथ ही उत्तराधिकारी हो उठें। इसका परिणाम यह होगा कि सम्पत्ति के बहुत से टुकड़े हो जायेंगे और लगातार झगड़े एवं मुकद्दमे में लगे रहेंगे। इससे दरिद्रता का विभाजन (बँटवारा) होता जायेगा। सन् १९५६ के पूर्व हिन्दू कानून के अन्तर्गत स्त्रियों को पुरुषों से उत्तराधिकार के रूप में सामान्यतः एक सीमित सम्पत्ति (अर्थात् केवल जीवन भर के लिए) प्राप्त होती थी। उदाहरणार्थ, यदि कोई व्यक्ति अपनी पत्नी एवं एक भाई या भतीजे (भाई के पुत्र) को छोड़कर मर जाये (और उसका कोई पुत्र न हो) तो उसकी सम्पत्ति उसकी पत्नी को जीवन-काल के लिए मिल जाती थी और उसकी मृत्यु के उपरान्त सम्पत्ति मृत व्यक्ति के भाई (यदि जीवित हो तो) को या उसके पुत्रों आदि को मिल जाती थी। किन्तु अब (सन् १९५६ के उपरान्त) विधवा को उस सम्पत्ति पर पूर्ण अधिकार प्राप्त हो गया है अर्थात् अब वह उसे बेच सकती है, उसका दान कर सकती है या उसके लिए इच्छा-पत्र बना सकती है। देखिए १९५६ के हिन्दू उत्तराधिकार कानून का विभाग १४। इतना ही नहीं, यह विभाग उन विधवाओं को जो १९५६ के पूर्व सीमित रूप में उत्तराधिकारिणी हुई थीं गतकाल-सापेक्ष पूर्ण अधिकार देता है। इसे यों समझिए, मान लीजिए कोई व्यक्ति सन् १९५० में मर गया और उसके पीछे उसकी विधवा एवं भाई बचे हैं। ऐसी स्थिति में विधवा को सीमित रूप से उत्तराधिकार प्राप्त होगा अर्थात् वह अपने पति की सम्पत्ति को न तो बेच सकती है और न किसी को दे सकती है, और यदि वह १९५६ के पूर्व मर गयी होती तो उसके मृत पति के भाई को उत्तराधिकार प्राप्त हो जाता। किन्तु मान लीजिए जब १९५६ का कानून पारित हुआ वह जीवित है और मृत पति की सम्पत्ति पर उसका अधिकार प्राप्त है। कानून के पारित हो जाने पर उसका अधिकार अचानक विस्तृत हो जाता है। अब वह उस सम्पत्ति को किसी को दे सकती है या इच्छा-पत्र द्वारा अपने भाई को ही दे सकती है या उसे सर्वथा वञ्चित कर सकती है। स्त्रियों का यह स्थानाधिकार प्रति-हिंसा की भावना से ओत-प्रोत है। अभी सामान्य जनता इस विषय में विशेष नहीं जानती। किन्तु आगे चल-कर भयंकर विवाद खड़े हो सकते हैं। ऐसे लोगों को कुटुम्ब की सम्पत्ति प्राप्त हो सकती है। जिनसे उस कुटुम्ब के लोग भारी लड़ाई ठान सकते हैं, क्योंकि कुटुम्ब की सम्पत्ति के प्रति सदस्यों का स्वाभाविक मोह होता है और जब मृत व्यक्ति की विधवा नये कानून के अनुसार अपने पति की सम्पत्ति को कुटुम्ब में ही किसी सदस्य को न देकर किसी बाहरी व्यक्ति को बेच देती है, या दान दे देती है या उसे इच्छा-पत्र दे देती है तो कुटुम्ब के सदस्यों को बहुत बुरा लग सकता है और पाठक कल्पना कर सकते हैं कि किस प्रकार के भूमि-युद्ध जन्म ले सकते हैं। सन् १९५४ से लेकर सन् १९५६ तक जितने कानून पारित हुए हैं और उनसे जो बातें समाज में आयीं, यथा— एकस्त्री-विवाह को मान्यता प्राप्त हुई, अनेक पत्नीनता दण्डित मानी गयी, लड़कियों एवं लड़कों के लिए विवाह करने की अवस्था क्रम से १५ एवं १८ मानी गयी, पुरुषों एवं पत्नियों, दोनों को समान नियमों के आधार पर विवाहोच्छेद (तलाक) का अधिकार दिया गया, पुत्री एवं उसकी संतानों को उत्तराधिकार का पूर्ण अधिकार दिया गया, पति या विधवा दोनों को, मृत व्यक्ति द्वारा पहले से ही पुत्रीकरण न कर लेने पर भी, पुत्र या पुत्री को गोद लेने का अधिकार दे दिया गया—उनसे स्त्रियों की स्थिति में बड़े-बड़े परिवर्तन हो गये हैं और ये परिवर्तन स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त सभी कानून सम्बन्धी परिवर्तनों की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली बन गये हैं।

कुछ राज्यों ने भूमि का सीमा-निर्धारण किया है। सूखी (बिना सिंचाई की) या सिंचाई वाली भूमि के आधार पर व्यक्ति को कतिपय एकड़ से अधिक भूमि रखने का अधिकार नहीं दिया गया है। अभी यह स्थिति सभी राज्यों में नहीं स्थापित की जा सकी है। किन्तु इस प्रकार के कानून को लोग पक्षपातपूर्ण ठहराते हैं, क्योंकि सामान्य जनता की दृष्टि में भूमि-सम्बन्धी सीमा-निर्धारण तो स्थापित कर दिया गया है, किन्तु बड़े-बड़े उद्योगपतियों की अन्य प्रकार की सम्पत्तियों का सीमा-निर्धारण अभी नहीं किया गया है, जो सचमुच अन्यायपूर्ण एवं पक्षपातपूर्ण है। तर्क यह दिया जाता है कि बड़े-बड़े, सेठ-साहूकारों आदि को आय-कर तथा अन्य कर देने पड़ते हैं, किन्तु कृषि करने वाले कहते हैं कि वे भी कर देते हैं और महँगी से सामानों के मूल्य बहुत ऊँचे उठ गये हैं।

हमारे संविधान की धारा ४७ में ऐसी व्यवस्था की गयी है कि राज्य लोगों को पौष्टिक पदार्थ की उपलब्धि कराये, लोगों के सामान्य जीवन-स्तर को ऊपर उठाये, लोगों का स्वास्थ्य सुधारे और ऐसे पदार्थों, द्रव्यों एवं वस्तुओं का प्रयोग निषिद्ध करे जो स्वास्थ्य के लिए हानिकर हैं। कुछ राज्यों ने मादक द्रव्यों एवं पदार्थों के सेवन के विरोध में कानून नहीं बनाये और न कोई योजनाएँ ही उपस्थित कीं, क्योंकि ऐसा करने से राज्य की आय पर दो प्रकार से प्रभाव पड़ता था, यथा— मादक वस्तुओं पर लगाये गये कर की हानि तथा लोगों को मादक द्रव्यों के निर्माण से रोकने के लिए एक लम्बे कर्मचारी-दल की स्थापना का व्यय। धारा ४५ के अनुसार चौदह वर्षों तक निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था तो नहीं की गयी, किन्तु कुछ राज्यों में धारा ४७ को पूर्णरूपेण कार्यान्वित करने का प्रयास किया गया। सारे भारत में मद्य निषेध का कानून नहीं अपनाया गया। कहीं एक पाप अपराध है तो वही दूसरे राज्य में पालित व्यवस्था है! एक नगर में लोग नशे में झूम रहे हैं तो दूसरे स्थान में लोगों के हाथों में हथकड़ी है। सम्भवतः निषेधाज्ञा निकालने वाले मानव-मनोविज्ञान की एक प्रमुख बात भूल जाते हैं। जब किसी वस्तु का निषेध किया जाता है और वह बहुत कम मात्रा में प्राप्त होने लगती है तो लोग कानून तोड़ कर उसे प्राप्त करना चाहते हैं। ऐसी स्थिति में अत्यन्त गन्दे स्थानों में बनाये गये मादक द्रव्यों का गुप्त व्यापार चलने लगता है और जानते हुए भी लोग पुलिस को समाचार नहीं देते, क्योंकि उन्हें इसका डर रहता है कि सेवन करने वाले एवं बनाने वाले लोग उनकी हत्या कर देंगे। मादक द्रव्यों के व्यवहार पर निषेध लगाने से भयंकर परिणाम उपस्थित हुए हैं। घुड़दौड़ एवं दावँबाजी पर प्रतिबन्ध नहीं है, क्योंकि ऐसा करने से धनिक लोग सरकार से रुष्ट हो जायेंगे। मद्यपान एवं द्यूत वेदकाल से ही अपराध एवं पाप माना जाता रहा है (ऋ० ७।८६।६))। अतः लोगों में इस प्रकार के दुराचरणों को रोकने के लिए मध्यम मार्ग अपनाना चाहिए और क्रमशः पीने के आचरणों में कमी का उपदेश करते रहना चाहिए, नहीं तो दमन करने से अत्यन्त भयंकर दुर्गुणों के उत्पन्न हो जाने का भय है। दहेज प्रथा के विरोध में सन् १९६१ में एक कानून बना जो वास्तव में, एक प्रकार से व्यर्थ है। जहाँ रुपये के लेन-देन को अपराध माना गया है, वहीं भेंट, अलंकार, वस्त्र आदि को वैध माना गया है। इसका परिणाम सामने है। भेंट और दान के नाम पर सहस्रों रुपये दहेज के रूप में लिये-दिये जा रहे हैं और व्यवस्था ज्यों-की-त्यों बनी पड़ी है। आज (१९६५ में) चार वर्ष हो गये, किन्तु कोई भी मुकद्दमा अदालत में नहीं आया।

बहुत ही संक्षेप में संविधान से सम्बन्धित कतिपय बातों पर ऊपर प्रकाश डाला गया है। देश की आर्थिक एवं सामाजिक उन्नति के लिए पञ्चवर्षीय योजनाएँ लागू की गयी हैं। उन्नति एवं विकास के लिए हमने जो लम्बी-लम्बी योजनाएँ बनायी हैं, उनके कार्यान्वयन में विदेशी पूंजी लगायी गयी है। हम पर कतिपय देशों

का भारी ऋण लद चुका है। इन योजनाओं की जाँच हम स्थानाभाव से यहाँ नहीं कर सकेंगे। हमारी वर्तमान लोकनीतिक सरकार लोकनीतिक समाजवाद (डेमॉक्रेटिक सोशलिज्म) की स्थापना में लगी है। कुछ लोग इसकी सफलता में शंका प्रकट करते हैं। कुछ लोग ऐसी विचारधारा प्रकट करते हैं कि बिना सर्वतन्त्र स्वतन्त्रवाद (टोटैलिटेरियनिज्म) के सच्चा समाजवाद स्थापित नहीं हो सकता। चाहे जो हो, स्थानाभाव से इन बातों पर हम यहाँ विचार नहीं उपस्थित करेंगे। हितकारी राज्य (वेलफेयर स्टेट) की कल्पना की गयी है और उसके लिए समाज के समाजवादी ढाँचे का आदर्श सामने रखा गया है। ऐसे समाज की कल्पना की गयी है जिसमें सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक न्याय की व्यवस्था हो और राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाएँ न्याययुक्त व्यवस्था से ग्रथित एवं गठित हों।

हितकारी या कल्याणकारी राज्य सिद्धान्ततः 'सर्वोदय' (सबका उदय अर्थात् सबकी समृद्धि) का उद्देश्य सम्मुख रखता है।[९] अभी कुछ काल पहले तक प्रजा के प्रति राज्य के प्रमुख कर्त्तव्य थे—देश का शासन, देश एवं इसकी समुद्र-सीमाओं की बाह्य आक्रमणों से रक्षा करना, नियम एवं व्यवस्था की रक्षा करना तथा आरम्भिक एवं उच्च शिक्षा की व्यवस्था करना। हमारे संविधान के निर्माताओं एवं नेताओं की अभिकांक्षा रही है हितकारी राज्य की स्थापना करना, अभियोजित आर्थिक व्यवस्था के आधार पर देश में समाजवादी ढाँचे की सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था उपस्थित करना। आज बहुत-से महत्वपूर्ण व्यवसाय राज्य के लिए सुरक्षित हैं और सरकार ने कतिपय वस्तुओं के निर्माण, उनके मूल्य-निर्धारण आदि पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया है। इसने राज्य व्यापार निगम (स्टेट ट्रेडिंग कारपोरेशन) स्थापित कर डाला है। बड़ी-बड़ी योजनाओं को चलाने के लिए राज्य ने बड़े-बड़े कर लगाने की व्यवस्था कर डाली है। इनकम टैक्स (१९२२ का कानून जो पुनः १९६१ में सुधारा गया और जिसमें समय पड़ने पर बड़े-बड़े परिवर्तन होते रहते हैं) के अतिरिक्त हमारी लोकनीतिक सरकार ने एक-के-उपरान्त चार कानून पारित कर डाले हैं, यथा—इस्टेट ड्यूटी ऐक्ट (१९५३), वेल्थ टैक्स (१९५७), एक्स्पेण्डीचर टैक्स (१९५७) एवं गिफ्ट टैक्स (१९५८)। इन टैक्सों के विवेचन में जाने की आवश्यकता नहीं है। इन टैक्सों के कारण आज की सरकार को 'नयी निरंकुशवादी' सरकार कहा जाता है। हितकारी या कल्याणकारी राज्य के नाम पर हमारे नेताओं द्वारा सम्पूर्ण शक्ति नौकरशाही शासन के रूप में परिणत की जा रही है। स्थानाभाव से हम इस विषय पर अधिक नहीं लिखेंगे।

योजनाओं पर अपार सम्पत्ति व्यय की जा रही है, जिसके कारण महँगाई बढ़ती जा रही है और बेकारी की समस्या द्रुत वेग से देश के सिर पर चढ़ी आ रही है। सर डबल्यू बेवरिज महोदय ने अपनी पुस्तक 'पिलर आव सेक्योरिटी' (१९४४) में उन पाँच राक्षसों के नाम लिये हैं जिनसे मानवता को युद्ध करना है, यथा—**कमी, रोग, अज्ञान, गन्दगी एवं बेकारी**। यह अन्तिम ऐसा है जिससे हमें सबसे पहले लड़ना है। हमारे संविधान की धारा ४१ में काम करने, शिक्षा पाने का अधिकार है एवं बेकारी की दशा में, वार्धक्य में, बीमारी में तथा कुछ अन्य बातों में हमें राज्य-सहायता का भी अधिकार प्राप्त है। सबको पूर्ण

९. 'सर्वोदय' का आदर्श निम्नलिखित विख्यात श्लोक से भिन्न नहीं है: 'सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात्॥ जिसका अर्थ यों है: 'यहाँ (इस लोक में) सभी सुखी हों, सभी रोगों से मुक्त हों। सभी समृद्धि को देखें (प्राप्त होवें) और कोई दुख न पाये॥'

रूप से नौकरी देना सरल नहीं है। राज्य को चाहिए कि वह बेकारी की समस्या का हल उपस्थित करे, वह न केवल साहित्यिक शिक्षा का प्रबन्ध करे, प्रत्युत वह व्यावसायिक एवं प्राविधिक प्रशिक्षण के कार्य को कई गुने वेग से बढ़ाये। इन बातों पर हम यहाँ अधिक नहीं लिख सकेंगे।

अब हम हिन्दू समाज एवं धर्म के सुधार एवं पुनर्व्यवस्था पर विचार करेंगे। पुर्तगाली १५वीं शती के अन्त में यहाँ आये और उन्होंने भारत के पश्चिमी तट पर कुछ भूमि प्राप्त कर ली। किन्तु धार्मिक अत्याचार एवं असहिष्णुता के कारण उन्होंने हिन्दू समाज पर कोई अधिक प्रभाव नहीं डाला। किन्तु अंग्रेजों के साथ बात दूसरी थी, वे तो व्यापार, धन एवं शक्ति के इच्छुक थे। सन् १७६५ से अंग्रेजों का जो प्रभाव जमा और भारत के अधिक भागों पर उनका जो आधिपत्य स्थापित हुआ, उससे भारतीय क्रमशः अंग्रेजी साहित्य एवं आधुनिक विज्ञान के सम्पर्क में आने लगे। आधुनिक काल में सर्वप्रथम सुधारक थे राजा राममोहन राय (१७७२–१८३३), जो बंगाली थे। उन्होंने सन् १८२८ में ब्रह्म-समाज की स्थापना की। भारतीय समाज एवं धर्म में सुधार की व्यवस्था करने वालों में, कुछ विशिष्ट नाम ये हैं—देवेन्द्रनाथ ठाकुर (१८१७–१९०५) केशवचन्द्र सेन (१८३८–१८८४), ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, दयानन्द सरस्वती (१८२४–१८८३, जिन्होंने सन् १८७७ में आर्य समाज की स्थापना की और केवल वेदों को ही प्रमाण माना), रामकृष्ण परमहंस (१८३४–१८८६) एवं उनके महान् शिष्य स्वामी विवेकानन्द (१८६३–१९०२, जिन्होंने वेदान्त के प्रचार के लिए रामकृष्ण मिशन की स्थापना की और दरिद्रों की सहायता के लिए मिशन द्वारा एक महान् अभियान चलाया), महादेव गोविन्द रानाडे (१८४२–१९०१, जो बम्बई के प्रार्थना-समाज से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित थे), आगरकर, फुले, रवीन्द्रनाथ ठाकुर (१८६१–१९४१), गान्धीजी (१८६९–१९४८), डा० कर्वे (जिन्होंने सन् १९१६ में नारियों का विश्वविद्यालय स्थापित किया)। इस विषय में अधिक जानकारी के लिए देखिए एस० नटराजन कृत 'ए सेंचुरी आव सोशल रिफार्म' (एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई), जी० एन० फर्कुहर कृत 'माडर्न रिलिजिएस मूवमेण्ट्स इन इण्डिया' (मैकमिलन, १९१७), डब्ल्यू० टी० डी० वर्य कृत 'सोर्सेज आव इण्डियन ट्रेडिशन' (न्यूयार्क १९५८, पृ० ६०४–६४९)।

आजकल भारत में विचारों की बाढ़ आ गयी है और भाँति-भाँति की विचारधाराओं का उद्गार हो रहा है। आज के बहुत-से-देशवासी अपने धर्म से प्रेरणा नहीं ग्रहण करते। यह धर्म का दोष नहीं है, यह हमारे पूर्ववर्ती लोगों एवं हमारा दोष है कि हमने अपनी संस्कृति एवं धर्म के सारतत्त्व को सबके समक्ष प्रकट नहीं किया और अंधविश्वासों एवं भ्रामक अवधारणाओं से उत्पन्न अनावश्यक तत्त्वों को पृथक् करके प्रमुख सार-तत्त्वों पर बल नहीं दिया। आज के सामान्य जन प्राचीन रूढ़िगत विश्वासों एवं आधुनिक वैज्ञानिक ज्ञान के बीच पाये जाने वाले विभेदों से व्यामोहित से हो गये हैं। इसका दुःखद परिणाम यह हुआ है कि सदाचार के परम्परागत जीवन-मूल्य विच्छिन्न होते जा रहे हैं और कतिपय विचारधाराएँ हमें बाँधती जा रही हैं, पुराने पाश टूट रहे हैं और नये पाशों से हम बँधते जा रहे हैं। आज धार्मिक एवं आध्यात्मिक बातों पर बहुत-सी स्पष्ट विवेचित धारणाएँ उपस्थित हो गयी हैं। समाज का एक वर्ग अपने को **सनातनी** कहता है और विश्वास रखता है कि परम्परानुगत सदाचार-संहिता की स्थापना हमारे विचारशील ऋषियों-मुनियों द्वारा हुई है और आज के अधकचरी बुद्धि वाले लोगों को किसी प्रकार का परिवर्तन करने का साहस नहीं करना चाहिए। एक अन्य वर्ग (सनातनियों से सम्बद्ध) ऐसा है, जिसके लोगों ने आज के जीव-विज्ञान एवं उन शास्त्रों का अध्ययन किया जो मनुष्य जाति की उन्नति से सम्बन्धित है। ऐसे लोगों का कथन है कि हमारी परम्पराएँ एवं रूढ़ियाँ, जो जाति व्यवस्था एवं विवाह सम्बन्धी प्रतिरोधात्मक नियमों पर

आधृत हैं, अत्यन्त वैज्ञानिक हैं और उनमें किसी भी प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है, प्रत्युत परिवर्तन करने से भयंकर परिणामों की उत्पत्ति हो सकती है। एक अन्य वर्ग भी है, जिसके लोग कहते हैं 'हमारे साथ क्यों झगड़ा करते हो? काल स्वयं आवश्यक परिवर्तनों को लायेगा।' कुछ ऐसे लोग भी हैं जो दूसरी सीमा तक जाते हैं और संसार में दैवी या आध्यात्मिक तत्त्वों एवं जीवन-मूल्यों के अस्तित्व को अस्वीकार करते हैं। कुछ लोग वाञ्छित परिवर्तनों के लिए नियमों के निर्माण की आवश्यकता पर बल देते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि भारतीय संस्कृति के आवश्यक मूल्यों को नींव के रूप में ले लीजिए और उस पर आज के काल की आवश्यकताओं के अनुसार ढाँचा खड़ा कीजिए।' हिन्दू धर्म सदैव विकसता आया है और परम्पराओं में सदैव परिवर्तन होते रहे हैं। देखिए इस विषय में इस खण्ड के अध्याय २६ एवं ३३। जो परिवर्तन होते रहे वे किसी विधायिका-सभा द्वारा नहीं होते थे, प्रत्युत उनके पीछे टीकाकारों एवं निबन्ध लेखकों के ग्रन्थ एवं वक्तव्य होते थे, जिनके फलस्वरूप भारत के विभिन्न भागों में विधि-विधानों, लोकाचारों, प्रयोगों, धार्मिक एवं आध्यात्मिक मतों के विविध स्वरूप प्रकट हो गये। अंग्रेजों के आगमन के पूर्व भारत विविध राज्यों में बँटा था और कोई ऐसी विधायिका सत्ता नहीं थी जो सम्पूर्ण देश के लिए एक समान व्यवहार (कानून) स्थापित कर सके। प्राचीन एवं मध्यकालीन धर्मशास्त्र-लेखकों का मत था कि राजा को वर्णों एवं आश्रमों से सम्बन्धित शास्त्रीय विधियों के विरोध में जाने का अधिकार नहीं है। इस विषय में देखिए इस महाग्रन्थ का मूल खण्ड ३ (पृ० ९८–१०१)। व्यवहारों एवं विश्वासों के विषय में परिवर्तन सदैव होते रहे, किन्तु ये परिवर्तन विद्वान् भाष्यकारों द्वारा ही उद्भूत हो पाते थे, क्योंकि वे समाज में बैठ गये परिवर्तनों का उल्लेख कर उन्हें शास्त्रीय रूप दे देते थे। आज स्पष्टतः समाज में तीन वर्ग पाये जाते हैं–(१) **सनातनी** लोग या ऐसे लोग जो परिवर्तन नहीं चाहते, (२) **कट्टर सुधारवादी**, यथा मूर्ति-पूजा विरोधी आदि तथा (३) **समन्वयवादी**, जो प्राचीन एवं नवीन बातों का समावेश चाहते हैं।

अब प्रश्न यह है कि प्राचीन प्रयोगों अथवा आचारों में किनको सुरक्षित (या पालित) करना चाहिए या किनको हटा देना चाहिए तथा किन नये आदर्शों एवं जीवन-मूल्यों को अपना लेना चाहिए। जीवन-मूल्यों के विषय में यहाँ पर स्थानाभाव से अधिक नहीं कहा जा सकता। मूल्यों (लक्ष्यों) का निर्धारण अधिकांशतः वातावरण जन्य होता है। अभी एक या दो शती पूर्व दासता या जातीय वैषम्य एवं गर्व, फैक्टरियों में छोटी-छोटी अवस्था वाले बच्चों को पसीने से लथपथ देखना मानो ईसाई देशों में नैतिक तटस्थता का द्योतक था। किन्तु आज उन देशों में कुछ लोग इसे सामान्यतः घृणित एवं अनैतिक मानते हैं। किसी काल में पशु यज्ञों को बड़ी महत्ता प्राप्त थी और उसे परलोक सम्बन्धी महान् लक्ष्य का रूप दिया जाता था। किन्तु उपनिषद्काल में अहिंसा को प्रमुख महत्त्व दिया गया। फिर भी हमारी संस्कृति के कुछ ऐसे विशिष्ट मूल्य हैं, जो तीन सहस्र वर्षों से आज तक चले आये हैं, यथा–इसकी चेतना कि सम्पूर्ण लोक अनन्त, नित्य तत्त्व (परम ब्रह्म) की अभिव्यक्ति है, इन्द्रिय-निग्रह, दान एवं दया। आज का युग लोकनैतिक है और लोकनीति के महत्त्वपूर्ण मूल्य हैं–न्याय, स्वतन्त्रता, समानता एवं भ्रातृभाव। किन्तु अभाग्यवश उन लोकनायकों में जो आज लोकनीति का जय-घोष करते हैं, बहुत-से ऐसे हैं जो स्वार्थ एवं ईर्ष्या की मुट्ठी में हैं। लार्ड ऐक्टन ने लिखा है—"सभी प्रकार की सत्ता व्यक्ति को भ्रष्ट करती है, पूर्ण एवं अनियंत्रित सत्ता व्यक्ति को पूरी तरह भ्रष्ट कर देती है।" कौटिल्य ने दो सहस्र वर्षों से अधिक पहले कहा कि शक्ति मन को मत्त कर देती है। देखिए इस महाग्रन्थ का मूल खण्ड ३ (पृ० ११४, जहाँ पाद-टिप्पणी १५१ में उद्धरण दिये हुए हैं)।

आज के बहुत-से युवा लोगों में कदाचित् ही ऐसी बात पायी जाती हो जिसके लिए वे उत्सर्ग के साथ प्रयत्न करें, अतः उनके समक्ष कोई भी आदर्श नहीं है। हमें सामान्य जनों पुरुषों एवं नारियों में धार्मिक भावना का संरक्षण करना ही है और विज्ञान तथा सामान्य ज्ञान के मार्ग में पड़े अन्ध विश्वासों के रोड़ों को क्रमशः दूर करना है। हमारे प्राचीन धर्म के सिद्धान्त दोषी नहीं हैं, प्रत्युत हमें आधुनिक हिन्दू समाज को फिर से गठित एवं व्यवस्थित करना है, विशेषतः जबकि आज हमारे देश में लोकनीतिक जनतन्त्र स्थापित है। महान् आर्थिक विषमता के बीच समानता रखने के लिए बहुत वर्षों तक हमारे नेताओं को महान् प्रयास करने हैं, शक्तिशाली दलों एवं सामाजिक सम्प्रदायों से हमें स्वतन्त्रता की रक्षा करनी है, दुर्जनों एवं खलों के नायकों से लोकनीति को बचाना है तथा धनिक लोगों के प्रभुत्व से भी अपने जनतन्त्र की रक्षा करनी है।

हमें अपने देश की विलक्षण एवं दारुण कठिनाइयों से विमुख नहीं होना है,। हमें आँखें खोलकर इस विस्तृत एवं अति विशाल भारत की जानकारी प्राप्त करनी है । आधुनिक भारत में आठ प्रमुख धर्म हैं (हिन्दू, बौद्ध, जैन, सिख, मुस्लिम, पारसी, ईसाई एवं यहूदियों का धर्म); कुछ ऐसी जातियाँ हैं, जिनके अपने विशिष्ट आदिम आचार हैं; विभिन्न राज्य हैं जो १४ विभिन्न भाषाओं पर आधृत हैं, ६ संघीय प्रदेश हैं और लगभग २०० परिगणित बोलियाँ हैं। इनसे पूर्ण प्रादेशिक स्वतन्त्र सत्ता और सांस्कृतिक पृथकत्व की संभावना हो सकती है। भारतवासियों में महान् विषमताएँ भी हैं, एक ओर आदिम जातियाँ एवं ऐसे लोग हैं जो अस्पृश्य कहे जाते रहे हैं और दूसरी ओर अति पढ़े-लिखे लोग हैं और इन दोनों के बीच में अशिक्षित लोगों की वह विशाल संख्या है जो पूरे देश की जन-संख्या की लगभग ७७ प्रतिशत है। बाह्य लोगों द्वारा शतियों तक विजित होने के उपरान्त हमारे देश ने स्वतन्त्रता पायी है। स्पष्ट है, यह सब हमें बड़ी गंभीरता से सोचने के लिए एवं कार्यरत रहने के लिए उद्वेलित करता है। हमें हिन्दू धर्म के आधारभूत सिद्धान्त नहीं छोड़ने हैं, किन्तु नयी एवं जटिल दशाओं से संघर्ष करने के लिए हमें उनका नवीनीकरण करना होगा और एक परिवर्तित सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करना होगा। प्रत्येक व्यक्ति यही कहता है कि हममें राष्ट्रीय एकतानुभव के लिए भावात्मक एकता की परम आवश्यकता है और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कुछ लोगों ने निर्देश किया है, जाति-प्रथा को उखाड़ फेंकना। यदि जाति-प्रथा कोई विभाव्यमान अथवा स्पर्शवेद्य (स्पृश्य या प्रकट) वस्तु हो तो उसे सुकरता एवं शीघ्रता से तोड़ा जा सकता है। किन्तु बात वास्तव में वैसा नहीं है। कानून द्वारा हम इसे नष्ट नहीं कर सकते। लगातार बहुत दिनों के प्रयासों के फलस्वरूप हृदय परिवर्तन से ही यह सम्भव हो सकता है, केवल लम्बी-लम्बी एवं चिकनी-चुपड़ी बातों से कुछ नहीं होगा ।

जाति-प्रथा, संयुक्त परिवार पद्धति एवं उत्तराधिकार एवं रिक्थाधिकार के नियम केवल हिन्दुओं की अपनी विशेषताएँ हैं और वे सामाजिक विषय हैं न कि धार्मिक। हमारे संविधान ने इन सभी को स्पर्श कर लिया है। ये तीनों विषय वास्तव में सामाजिक हैं, यदि ये धार्मिक होते तो संविधान इन्हें छू नहीं सकता था। जैसा कि हमने देख लिया है, संविधान ने अस्पृश्यता का नाश कर दिया, हिन्दू-विवाह-कानून ने कतिपय अवरोधों को दूर कर दिया है, अब विभिन्न जातियों के लोग एक-दूसरे से विवाह कर सकते हैं और अब एक हिन्दू किसी भी हिन्दू (बौद्धों, जैनों एवं सिखों सहित) से विवाह-सम्बन्ध स्थापित कर सकता है, केवल सपिण्डता एवं निषिद्ध पीढ़ियों पर ध्यान देना होता है। जैसा कि हमने ऊपर देख लिया है, हिन्दू-

उत्तराधिकार कानून ने संयुक्त परिवार-पद्धति का नाश कर दिया है, यद्यपि स्पष्टतः कानून द्वारा इसका विघटन नहीं किया गया है।

आज हमें न केवल जाति-प्रथा के विरोध में आक्षेप या वाक्ताण्डव प्रदर्शित करने हैं और सभी भारतीयों की भावात्मक एकता के लिए प्रयत्न करने हैं, प्रत्युत हमें एक ऐसी आचार-संहिता का निर्माण करना है जो हममें दिन-प्रति-दिन के आचरणों में तद्विषयक सचेतता लाये। हम यहाँ पर आचार-संहिता के विस्तृत विवेचन में नहीं पड़ सकते, क्योंकि, उसके लिए एक पृथक् ग्रन्थ की आवश्यकता पड़ेगी। कुछ आवश्यक प्रत्यक्ष निर्देश एवं प्रस्ताव रखे जा सकते हैं जिनके आधार पर कुछ योग्य लेखक ग्रन्थ उपस्थित कर सकते हैं। हममें विचारों का मन्थन होना चाहिए। यह सम्भव है कि आरम्भ में दारुण एवं महान् कठिनाइयों का सामना करना पड़े, जैसा कि देवों एवं असुरों द्वारा किये गये समुद्र-मन्थन में करना पड़ा था किन्तु समुद्र-मन्थन के उपरान्त विष के साथ अमृत भी उत्पन्न होता ही है।

हमें अपनी कठिनाइयों के समाधान में निराशा नहीं प्रदर्शित करनी है। निराशा का अर्थ है नाश एवं मृत्यु। शतियों से हमारे देश की जो दशा रही है उससे हमें साहस नहीं छोड़ना है। हमें गत तीन सहस्र वर्षों की अपनी विलक्षण उपलब्धियों पर ध्यान देना है और धर्मशास्त्रों के प्राचीन ऋषियों की निम्नलिखित सम्मतियों को स्मरण रखना है। मनु (४।१३७) में आया है [७] —"गत असफलताओं के कारण अपने को गर्हित नहीं करना चाहिए, मृत्युपर्यन्त समृद्धि की आकांक्षा करनी चाहिए और उसे दुर्लभ नहीं समझना चाहिए।" ऐसा ही याज्ञवल्क्य (१।१५३) ने भी कहा है—'किसी विद्वान ब्राह्मण, सर्प, क्षत्रिय एवं अपने को गर्हित नहीं समझना चाहिए। (इन लोगों की अवमानना नहीं करनी चाहिए), मृत्यु पर्यन्त समृद्धि (श्री) की आकांक्षा करनी चाहिए और किसी के मर्म को स्पर्श नहीं करना चाहिए (अर्थात् किसी के कर्मों या छिद्रों का उपहास नहीं करना चाहिए।)" हम अपने पूर्व पुरुषों की उपलब्धियों पर गर्व करते हैं। यदि हम अपने देश के उच्चतम विकास के लिए स्वार्थ की भावना एवं यश की प्राप्ति की इच्छा से रहित होकर वर्षों तक एकता के साथ प्रयत्न करते रहें तो कोई कारण नहीं है कि हमारा देश भी संसार में अन्य देशों से आगे न बढ़ जाये या कम से कम उनके समकक्ष में न आ जाये। ईशोपनिषद् (२, वाज० सं० ४६०।२) में सामान्य जनों के लिए ऐसा आदेश है—'इस लोक में शास्त्र द्वारा विहित) कर्मों को करते हुए व्यक्ति को सौ वर्षों तक जीने की आकांक्षा करनी चाहिए।' ऐतरेय ब्राह्मण (३३।३) ने शुनःशेप की गाथा में कहा है कि लोगों को सदा कर्त्तव्य करते रहना चाहिए और इस पर बल दिया है कि जो कर्म नहीं करता है, उसके पास श्री (समृद्धि) नहीं आती है (नानाश्रान्ताय श्रीरास्तीति)। स्वयं ऋग्वेद (४।३३।११) में आया है कि देव लोग उनसे मित्रता नहीं करते जो अपने को कर्म करके थका नहीं डालते (न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः)।

भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता का मुख्य उद्देश्य था अन्य देशों एवं लोगों पर सैनिक एवं राजनीतिक शक्ति की प्राप्ति न करना, इसने भारतीयों को आक्रमणात्मक एवं सुरक्षात्मक उद्योगों के प्रति उदासीन रखा और धन की प्राप्ति के लिए विशाल परिमाण में संघों के निर्माण के लिए भी लोगों को उत्साहित नहीं किया। किन्तु आज हमें वास्तविकता से मुख नहीं मोड़ना है। आज विश्व में प्रतिद्वन्द्विता का साम्राज्य है, चतुर्दिक् संघर्ष-ही-संघर्ष दृष्टिगोचर

७. नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः। आ मृत्योः श्रियमन्विच्छेन्नैनां मन्येत दुर्लभाम्॥ मनु० (४।१३७); विप्राहिक्षत्रियात्मानो नावज्ञेयाः कदाचन। आ मृत्योः श्रियमाकांक्षेन्न कंचिन्मर्माणि स्पृशेत॥ याज्ञ० (१।१५३)।

हो रहे हैं। हमें एक ओर अपनी संस्कृति के अमर सिद्धान्तों को नहीं छोड़ना है, किन्तु यह भी सोचना है कि हमारे देशवासी सांसारिक सुख की उपलब्धि में प्रतिद्वन्द्विता में पीछे भी न पड़ जायें। हमारे देश में बहुधा कुछ लोग बहुत अल्प अवस्था में ही वैराग्य धारण कर लेते हैं और यह स्थिति आज भी है, उधर पाश्चात्य देशों में अत्यन्त कार्यशीलता से लोगों ने कुछ शतियों के भीतर अपार सम्पत्ति एकत्र कर डाली है। अतः जब आज हमारे नेता हमारे समाज को नवीन रूप देना चाहते हैं तो उन्हें ऐसे गुणों की उपलब्धि करनी चाहिए, जिनके द्वारा वे स्थितप्रज्ञ (पूर्णरूपेण विकसित या आदर्शमय आत्मा) हो जायें (भगवद्गीता २।५५-६८) या भगवान् के व्यक्ति (वही १२।१३-१८) हो जायें। हमारे प्राचीन धर्म एवं दर्शन के आधार पर ही सामाजिक सुधारों एवं राजनीति के उपदेश होने चाहिए। यदि हमारे देश के अधिक लोग एवं हमारे नेता धर्म एवं आध्यात्मिकता को छोड़ देंगे तो सम्भावना इसकी है कि हम लोग आध्यात्मिक जीवन एवं सामाजिक उत्थान को खो बैठेंगे। इस विषय में यहाँ अधिक कहना सम्भव नहीं है। देखिए, गत अध्याय—३३। अति प्राचीन काल से ही भारत के सभी धर्मों ने (बौद्ध एवं जैन को छोड़ कर) एक तत्त्व अर्थात् परमात्मा पर तथा आत्मा की अमरता पर विश्वास किया। विज्ञान एवं उसके चमत्कारों के कारण कुछ लोग दम्भ एवं अहंकार में आ गये हैं और परमात्मा की भावना का उपहास करते हैं। किन्तु उन्हें जानना चाहिए कि विज्ञान केवल गौण कारणों पर ही प्रकाश डालता है, वह मनुष्य की अन्तिम परिणति एवं कारण के विषय में मूक ही रहता है। यह जीवन के उद्देश्य पर प्रकाश नहीं डाल सकता और न यह नैतिक मूल्यों के विषय में ही कुछ बता सकता है। आज की और आने वाली पीढ़ियों को ऐसे वातावरण में प्रशिक्षित करना है जहाँ आध्यात्मिक जीवन, सत्य-प्रेम, भ्रातृभावना, शान्ति-प्रेम एवं दलित के प्रति करुणा एवं सहानुभूति आदि परम पुनीत गुणों को सभी लोग प्राप्त करने का उद्योग करें।

भारत के करोड़ों लोगों के लिए थोड़े-से शब्दों में आचरण-संहिता उपस्थित करना अत्यन्त कठिन है। किन्तु उनके लिए जो सीमित ढंग से शिक्षित हैं और व्यस्त जीवन बिताते हैं, उदाहरणस्वरूप कुछ निर्देश दिये जा रहे हैं। अन्य जातियों के स्पर्श से उत्पन्न अपवित्रता तथा कुछ लोगों की छाया से उद्भूत अपुनीतता की भावना का परित्याग होना चाहिए। स्वामी विवेकानन्द ने क्रोध में आकर कहा था—"आज के भारत का धर्म है 'मुझे न स्पर्श करें'" (वर्क्स, खण्ड ५, पृ० १५२)। प्राचीनता पर आधारित परम्पराओं एवं रूढ़ियों की जाँच तर्क एवं विज्ञान के आधार पर की जानी चाहिए। विश्व के मूल, ग्रहणों के कारण, आदि के बारे में जो पौराणिक गाथाएँ हैं उन्हें आज के वैज्ञानिक ज्ञान के प्रकाश में त्याग देना चाहिए और अब उन्हें आज की धर्मिक बातों से सर्वथा हटा देना चाहिए, अब उन्हें केवल कपोल कल्पित ही मानना चाहिए। बहुत से क्रिस्तान (ईसाई) एवं हिन्दू-मुसलमान ऐसा विश्वास करते हैं कि स्वर्ग ऊपर है और नरक नीचे। किन्तु भाष्यकार शबर ने प्रथम शती में ऐसा उद्घोष कर दिया कि स्वर्ग कोई स्थल नहीं है। अतः आज के लोगों के लिए प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में उल्लिखित स्वर्ग एवं नरक से सम्बन्धित धारणाएँ विश्वास की बातें नहीं हो सकतीं। आधुनिक विज्ञान, पाश्चात्य साहित्य एवं विचारधारा ने मूल्यों, ध्येयों एवं संस्थागत धारणाओं के मुख को मोड़ दिया है। प्राचीन विश्वास टूट रहे हैं और नये घर कर रहे हैं। प्राचीन ढाँचे गिरकर चूर-चूर हो रहे हैं और नये आदर्श खड़े होते जा रहे हैं। किन्तु हो चाहे जो, हमें समाज को इस प्रकार नियमित करना है कि कुटुम्ब एक सामाजिक इकाई के रूप में अवस्थित रहे, प्रत्येक बच्चे को, वह चाहे जिस वर्ग या जाति का हो, शिक्षा के क्षेत्र में समान अवसर प्राप्त हो, मनुष्य का आह्निक कर्म दैवी कर्म एवं पूजा की संज्ञा पाये तथा धन-सम्बन्धी विषमताएँ दूर हो जायें।

स्वामी विवेकानन्द ने बहुत पहले कहा है—'अबोध भारतीय, दरिद्र एवं हीन भारतीय, ब्राह्मण भारतीय, नीच जाति का भारतीय मेरा भाई है।' "दुहराओ एवं रात-दिन प्रार्थना करो—'हे गौरीश, मुझे मनुष्य बना

दो," (डब्ल्यू० टी० डी० बारी द्वारा 'सोर्सेज आव इण्डियन ट्रेडिशन' में उद्धृत, न्यू यार्क, १९५८, पृ० ६५६)। देखिए अथर्ववेद (१२।१।४५) जहाँ सभी मनुष्यों के, जिनकी माता पृथिवी है, सार्वभौम भ्रातृत्व के विषय में उक्ति है।

धर्मशास्त्र के इतिहास के अन्तिम खण्ड की परिसमाप्ति कठोपनिषद् एवं रवीन्द्रनाथ ठाकुर की गीताञ्जलि के उद्धरण से की जा रही है—

उत्तिष्ठति जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधक। क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्या दुर्गंपथस्तत्कवयो वदन्ति ॥ (३।१४)

"उठो, जागो तथा श्रेष्ठ (गुरुओं) को प्राप्त कर (सत्य को) समझो; छुरे की तीक्ष्ण धार को पार करना कठिन है; इसी प्रकार विज्ञजन कहते हैं कि (आत्मानुभूति का) मार्ग बड़ा कठिन है।"

जहाँ मन निर्भय हो और सिर ऊँचा हो;
जहाँ ज्ञान स्वतन्त्र है;
जहाँ विश्व संकीर्ण घरेलू दीवारों से विभिन्न टुकड़ों में न बँट गया हो;
जहाँ शब्द सत्य की गहराई से प्रस्फुटित होते हैं;
जहाँ श्रान्तिहीन प्रयास अपने बाहुओं को पूर्णता की ओर बढ़ाते हैं;
जहाँ तर्क की निर्मल धारा मृत आचरण की निर्जन मरुभूमि की बालुका में अपना पथ भूल न गयी हो;
जहाँ पर तुम्हारे द्वारा मन सतत विशाल होते हुए विचार एवं कर्म की ओर ले जाया जाता है—
उसी स्वतन्त्रता के स्वर्ग में, हे पिता, मेरा देश जगे !

● ● ●